

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उद्योतकरकृत

न्यायवात्तिक

(न्यायसूत्र तथा वात्स्यायन भाष्य सहित)

भाग ? (प्रथम अध्याय)

Soyou Soyou

डाँ० श्रीनिवास शास्त्री

R662, NIV-N

इण्डो-विजन प्राइवेट लिमिटेड

II ए-220 नेहरू नगर, गाजियाबाद-२०१००१

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकाशक:
इण्डोविजन प्राइवेट लिमिटेड
II ए-220 नेहरू नगर
गाजियाबाद-२०१००१

662 NIV-N

१६८६

डाँ० श्रीनिवास शास्त्री

मूल्य : १२५ रु०

मुद्रक :

आशु प्रिंटिंग प्रेस

पंचानील गली, नं० १,
गढ़ रोड, मेरठ — २५०००२

न्यू अग्रवाल प्रिंटिंग प्रेस

५४ हनुमानपुरी, सूरजकुण्ड रोड, मेरठ।

फोन नं० ७३१६७

विषय-सूची

प्रस्तुत ग्रन्थ के विषय में	
न्यायसूत्र, न्यायभाष्य तथा न्यायवात्तिक (प्रथम अध्याय)	१—४३४
प्रथम आह्निक	8-385
शास्त्र का उद्देश	8-48
प्रमाण का सामर्थ्य	?
चार प्रकार के पुरुष	2
प्रमाण का लक्षण	3
अर्थग्रहण का प्रयोजन	x-83
प्रमाण का विषय (सत् तथा असत्)	86-77
तत्त्व का स्वरूप	२३—२६
सूत्र में संशय आदि के पृथक् ग्रहण का प्रयोजन	२७—५२
न्याय का स्वरूप प्रवृत्ति तथा प्रयोजन	30-37
वाद, जल्प तथा वितण्डा की उपयोगिता	33-38
इष्टान्त आदि के पृथक् निर्देश का प्रयोजन	38-85
आन्वीक्षिकी तथा उसका महत्त्व	8E-45
आत्मादिविषयक मिथ्याज्ञान तथा संसार	४३—४७
तत्त्वज्ञान तथा अपवर्ग	४८—६२
शास्त्र की त्रिविध प्रवृत्ति	६३—६६
प्रमाण उनका विभाग तथा विभाग का प्रयोजन	£ - 00
प्रमाणों या संप्लव तथा व्यवस्था	90-08
प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण	33-50
इन्द्रियों का प्राप्यकारित्व	७७—५३
मन का इन्द्रियत्व	58-87
प्रत्यक्ष का समस्त लक्षण है या व्यस्त	83-53
बौद्धों के प्रत्यक्ष-लक्षणों का निराकरण	33-23
अनुमान प्रमाण का लक्षण	800-930
त्रिविध पद की व्याख्या	804-883
[दिशा के प्रत्यक्ष की समीक्षा]	888-888
पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतो दृष्ट की व्याख्या	383-888
समवाय की स्वतन्त्रता	१२०-१२२
बौद्धों के अनुमान-लक्षणों का खण्डन	१२३—१३०
उपमान का लक्षण	१३१-9३३
शब्द-लक्षण तथा भेद (दृष्टार्थ और अद्ष्टार्थ)	638-680

(6)

	880-	-838
प्रमय प्रकरण	585-	
प्रमेयों का उद्देश		- 4
आत्मा १४६-१५६ (विज्ञानात्मवाद का निराकरण १४६-१५६)	- 1910	
गरीर १५७-१५६, इन्द्रिय १६०-१६४, अर्थ १६५ (गुण तथा गुणी		
का केट १६८-१८०) बद्धि १८१-१८२, मने: १८३-१८६, अवार		
१८०-१८६ होष १८५-१८६, प्रत्यभाव (पूनजन्म) १६०-१६५, फल		
०००,००३ हास्त १६३-१६४, अपवर्ग (मक्षि) १६५-२०६ (मार्	Total Service	
में सुख नहीं १९६-२०६ बौद्ध के मोक्षसम्बन्धी मत का निर	T	
करण २०६]।		
संशय का लक्षण [अन्यों के संशयलक्षण २३४-२३५, बौद्ध के	200-	-235
संशय-लक्षण की समीक्षा २३५-२३६]		
प्रयोजन का लक्षण	२३६-	389-
हिटान्त का लक्षण		- 288
		-747
सिद्धान्त का लक्षण [सर्वतन्त्र २४५, प्रतितन्त्र २४६, अधिकरण २४७, अभ्युपम २४८		
सवतन्त्र २४५, प्राततन्त्र २०५, जावकरण २००, जन्दुर्गर र अवयव का लक्षण तथा भेद	र्भ३-	-377
[प्रतिज्ञा २५६-२७३ (प्रतिज्ञादोषों का विचार २६४-२६८), बौद्ध	ì	
के प्रतिज्ञालक्षण की समीक्षा २६६-२७३, वादविधानटीका तथ	II ·	
वादिविधि २७१-२७३] [हेतु २७४-३०५, साधम्यं हेतु २७४-२८१, वैधम्यं हेतु २८२-२८७	9,	
बिद्धों के हेतु-लक्षणों का निराकरण २८६-३०५, उदाहरण ३०६	-	
३१४, उपनय ३१५-३१६, निगमन ३१७-३२२]		
तर्क का लक्षण	३२३-	- 333
तिक का लक्षण निर्णय का लक्षण		-388
प्रथम अध्याय, द्वितीय आह्निक		-838
वाद का लक्षण		—३७३
[बौद्धों के वादलक्षण का निराकरण ३५३-३७३]		
जल्प का लक्षण	. ३७३-	- ३७५
वितण्डा का लक्षण	308	- 350
हेत्वाभास का स्वरूप तथा भेद	342	-880
अनैकान्तिक ३६८-४०३, विरुद्ध ४०४-४०७, प्रकरणसम ४०	5-	1
४११, साध्यसम, ४१२-४१३, कालातीत ४१४-४१७ (अन्यों		
लक्षण का निराकरण ४१६-४१७]।	SWEET.	
छल का लक्षण तथा भेद	885	-825
जाति का लक्षण तथा भेद		— % 3°
निग्रहस्थान का लक्षण तथा भेद	838	-838
	The state of the s	1000

प्रस्तुत ग्रन्थ के विषय में

न्यायसूत्र, न्यायभाष्य तथा न्यायवात्तिक की यह हिन्दी व्याख्या पाठकों की सेवा में प्रथमतः प्रस्तुत की जा रही है। यहाँ इन ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। व्याख्या में इन ग्रन्थों के पाठ सम्पादित किये गये हैं। प्रथम अध्याय में चतुर्ग्रन्थिकोपेत न्यायदर्शन (मिथिला विद्यापीठ, मुजफ्फरपुर १६६७ क) का विशेष रूप से आधार लिया गया है, कहीं-कहीं पूना (१६३६) से प्रकाशित न्यायसूत्र तथा न्यायभाष्य का और सरस्वतीभवन बनारस (१६१६) न्यायवात्तिक (ख) का भी आश्रय लिया गया है।

व्याख्या में मूलग्रन्थ का शब्दशः अनुवाद दिया गया है, वहाँ स्पष्टता तथा अविकलता का पूर्ण ध्यान रक्खा गया है। यत्र-तत्र कुछ शब्द तथा ब्युत्पत्तियाँ कोष्ठक में भी रख दी गई हैं, जिनसे अर्थ की स्पष्टता में सहायता मिल सकती है। नीचे टिप्पणियाँ दी गई हैं, जिनमें सूत्र, भाष्य तथा वार्त्तिक की ग्रन्थियों को खोलने का प्रयास किया गया है, कहीं-कहीं भाष्य और वार्त्तिक के मतभेदों को भी दिखलाया गया है तथा अन्य दर्शनों के मन्तव्यों का भी निर्देश कर दिया गया है। यहाँ वाचस्पति मिश्र की तात्पर्यटीका का विशेषकर आश्रय लिया गया है; न्यायपञ्चानन विश्वनाथ की वृत्ति, भट्ट वागीश्वर-प्रणीत न्याय-वार्त्तिकतात्पर्य दीपिका तथा म० म० गङ्गानाथझाकृत टिप्पणियों का आधार भी लिया गया है। संक्षेप में यह प्रयास किया गया है कि मूलग्रन्थ का अभिप्राय स्पष्ट होने के साथ-साथ विषय का तुल-नात्मक अनुशीलन भी किया जा सके।

१. संस्कृत विद्या की प्रसारक इण्डियन थाँट नामक त्रैमासिक पत्रिका (Vol. IV-XI) ने क्रमणः द वर्षों (१६१२-१६१६) में 'न्यायसूत्र ऑफ गौतम' नाम से न्यायसूत्र, न्यायभाष्य तथा न्यायवात्तिक का म० म० डाँ० गङ्गानाथ झा कृत अंग्रेजी अनुवाद प्रकाणित किया था। डाँ० झा ने उसकी टिप्पणियों में वाचस्पतिमिश्रकृत न्यायवात्तिकतात्पर्यटीका, उदयनाचार्यकृत तात्पर्यपरिणुद्धि तथा रघुनाथकृत भाष्य-चन्द्र के उपयुक्त अंग्र भी ले लिये थे। उस अंग्रेजी अनुवाद का दूसरा संस्करण मोतीलाल बनारसीदास (दिल्ली, वाराणसी, पटना, मद्रास) ने १६५४ में प्रकाणित किया।

उस ग्रन्थ में न्यायसूत्र, न्यायभाष्य तथा न्यायवात्तिक का केवल अंग्रेजी अनु-वाद है। इन ग्रन्थों का मूल पाठ वहाँ नहीं है। प्रस्तुत ग्रन्थ में मूल पाठ के साथ-साथ हिन्दी अनुवाद दिया गया है। आवश्यक टिप्पणियों से भी ग्रन्थ को उपयोगी बनाया गया है। कृतज्ञता-प्रकाशन के अवसर पर लेखक सर्वप्रथम उन गुरुजनों का आभार स्वीकार करता है जिनके चरणों में बैठकर उसने न्याय वैशेषिक के ग्रन्थों का अध्ययन किया है। इस व्याख्या में जो भी ग्राह्य है वह उन्हीं गुरुजनों की कृपा का प्रसाद है। यहाँ जो अग्राह्य है वह लेखक का बुद्धि-दोष ही कहा जा सकता है।

इस व्याख्या तथा भूमिका आदि में अनेक ग्रन्थों से सहायता ली गई है। उन ग्रन्थों के प्रणेताओं के प्रति कृतज्ञता प्रकट करना लेखक का परम कर्त्तव्य है। उनके अतिरिक्त जिन सज्जनों से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में कुछ भी सहायता मिली है वे सभी हार्दिक धन्यवाद के भाजन हैं। इस ग्रन्थ के प्रकाशक तथा मुद्रक के प्रति साधुवाद प्रकट करना भी हमारा कर्त्तव्य है। वस्तुतः उन्हीं के परिश्रम और प्रयास से यह ग्रन्थ प्रकाशित हो पाया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ को पूर्ण उपयोगी बनाने का शक्तिभर प्रयास किया गया है फिर भी यदि कुछ किमयाँ रह गई हैं, स्नेह्शील सज्जनों के सुझावों से उन्हें दूर करने का प्रयत्न किया जाता रहेगा। अन्त में यही कहना है कि यदि इस व्याख्या से पाठकों का कुछ भी उपकार हो सकेगा तो हमारा यह प्रयास किसी अंश में सफल हो जायेगा।

न्याय-वैशेषिक को समानतन्त्र माना जाता है। यह भी कहा जाता है कि दोनों माहेश्वर दर्शन हैं; किन्तु न्यायसूत्र तथा न्यायभाष्य से इस कथन की पुष्टि नहीं होती। यहाँ कोई मङ्गल नहीं किया गया। यद्यपि उद्योतकर को पाणुपताचार्य कहा जाता है तथापि उन्होंने महेश्वर की स्तुति नहीं की। वाचपित मिश्र ने अवश्य ही 'पिनाकी' की स्तुति से न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका का प्रारम्भ किया है जिसकी उदयनाचार्य ने यथावत् व्याख्या भी की है। सम्भवतः उत्तरकाल में न्याय को माहेश्वर दर्शन कहा जाने लगा होगा।

न्यायभाष्य तथा वार्त्तिक में न्याय-वैशेषिक दोनों के सिद्धान्तों का मिश्रण प्रतीत होता है। हाँ, दोनों में तत्त्व की दिष्ट से तथा ज्ञानसिद्धान्त की दिष्ट से कुछ भेद भी है। उदाहरणार्थ वैशेषिक को पीलुपाकवाद अभीष्ट है किन्तु न्याय पिठर-पाकवाद को मानता है। इसी प्रकार प्रमाणों की संख्या आदि के विषय में भी दोनों में भेद पाया जाता है। अन्य दार्शनिकों के मन्तव्यों का भी इन दोनों के विकास पर प्रभाव देखा जा सकता है।

न्यायसम्प्रदाय न्यायसूत्रों पर आधारित है। ये न्यायसूत्र गौतम के नाम से प्रसिद्ध हैं। न्यायसूत्रों के कर्ता का नाम गोतम है या गौतम, इस विषय में विद्वानों का विवाद है। साथ ही कुछ विद्वानों के मत में न्यायसूत्रों के कर्ता के ही अक्षपाद या अक्षचरण इत्यादि नाम भी हैं। दूसरे विद्वान् गौतम और अक्षपाद को भिन्न-भिन्न व्यक्ति मानते हैं। इस विषय में एक और भी विवाद है: भास के प्रतिमा नाटक में 'मेधातिथेन्यांयशास्त्रम्' यह वाक्यांश आया है। इससे प्रतीत होता है कि न्यायशास्त्र के कर्ता मेधातिथि थे। मेधातिथि कोई भिन्न व्यक्ति थे अथवा मेधा-तिथि और गौतम एक ही व्यक्ति के नाम हैं, यह विद्वानों के विवाद का विषय है।

न्यायसूत्र के कर्नृ त्व पर विचार करने के अनन्तर उसके काल पर विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में प्रयुक्त 'आन्वीक्षिकी' शब्द से विद्वानों ने 'न्याय' का ग्रहण नहीं किया। इससे प्रकट होता है कि कौटिल्य न्यायशास्त्र से परिचित नहीं थे। दूसरी ओर 'अध्यायन्यायोद्यावसंहाराश्च' (3.3.122) पाणिनि सूत्र के आधार पर गोल्डस्टकर का मत है (Panini P. 116) कि पाणिनि मुनि पञ्चावयव-वाक्य के समान अर्थ वाले 'न्याय' शब्द से परिचित थे। इसके अतिरिक्त 'कतूष्थादिसूत्रान्ताट्ठक् (पा० ४.२.५६) इस सूत्र में आये उक्थादिगण में 'न्याय' शब्द भी है जिससे 'तदधीते' आदि अर्थ में नैयायिक शब्द निष्पन्न होता है। इससे भी गोल्डस्टकर के मत की पुष्टि होती है।

न्यायसूत्रों में शून्यवाद का निराकरण देखकर कुछ विद्वानों ने उन पर
नागार्जुन के माध्यमिक सूत्र का प्रभाव स्वीकार किया है और न्यायसूत्र का समय
नागार्जुन के बाद माना है। नागार्जुन का समय ईसा की द्वितीय शती का प्रारम्भ
माना जाता है। अन्य विद्वानों का कथन है कि न्यायसूत्रों में विज्ञानवाद का भी
निराकरण उपलब्ध होता है। इससे न्यायसूत्र का समय विज्ञानवाद के भी पश्चात्
सिद्ध होगा। किन्तु यदि ऐसा मान लिया जाये तो न्यायभाष्य आदि न्यायग्रन्थों और
उनका खण्डन करने वाले दिङ्नाग आदि के बौद्ध ग्रन्थों के कालक्रम का सामञ्जस्य
करना कठिन है। इसीलिये प्रो० याकोबी आदि ने इसे स्वीकार नहीं किया। वस्तुतः
न्यायसूत्र में विज्ञानवाद या गून्यवाद का निराकरण नहीं किया गया तथा इनका
निराकरण मानकर न्यायसूत्र का समय भी निर्धारित नहीं किया जा सकता।
संभवतः यहाँ किसी प्राचीन मत का निराकरण किया गया है अथवा न्यायसूत्रों में ये
अंश उत्तरकाल के प्रक्षेप हैं।

न्यायसूत्रों के कर्ता तथा समय आदि के विषय में म० म० गङ्गानाथ झा ने सात मतों का उल्लेख किया है (इन्ट्रोडक्शन पृ० xii) तथा अपने ढंग से उनका विवेचन मी किया है;

(१) चीनी स्रोत के आधार पर म० म० हरप्रसाद शास्त्री का कथन है कि न्याय सम्प्रदाय का संस्थापक महात्मा बुद्ध का पूर्ववर्ती है; किन्तु जो सूत्र हमारे सामने हैं उनका समय बाद का है। उन्हें ईसा की द्वितीय शती में रक्खा जा सकता है।

(२) डा॰ सतीशचन्द्र विद्याभूषण मानते हैं कि न्यायसूत्रों का कर्ता तथा गौतम-धर्मसूत्र का कर्ता एक ही त्यक्ति है, जो महात्मा बुद्ध के समकालीन है। उन्होंने न्याय का प्रथम अध्याय लिखा होगा, शेष की कालक्रम से रचना हुई होगी।

(३) प्रो० याकोबी के अनुसार न्यायसूत्र शून्यवाद के पश्चात् लिखे गये तथा विज्ञानवाद के पूर्व । न्यायसूत्र और न्यायभाष्य में एक पीढ़ी का अन्तर रहा होगा।

(10)

(४) प्रो॰ श्चेरवात्स्की का विचार था कि न्यायसूत्र बौद्धों के विज्ञानवाद से परिचित प्रतीत होते हैं अतः ये ईसा की पाँचवी शती के बाद के ही हो सकते हैं। प्रो॰ याकोबी ने इस मत का निराकरण किया है।

(५) बोडास का निश्चित मत है कि गौतम के सूत्र ४०० ई० पूर्व की

कृति हैं।

(६) प्रो॰ सुआली का कथन है कि प्रो॰ याकोबी के अनुसार न्यायभाष्य का समय मान लेने पर भी सूत्रकार गौतम का समय सन्देहास्पद है, क्योंकि सूत्र तथा भाष्य में एक पीढी का अन्तर बहुत कम है, इनमें कम से कम १०० वर्ष का अन्तर मानना होगा। फलतः सूत्रों का समय ३०० तथा ३५० ई० के मध्य रहा होगा।,

(७) प्रो० गार्वे ने र्न्यायसूत्रों का समय १०० तथा ३०० ई० के मध्य माना है।

इन मतों पर म० म० गङ्गानाथ की समीक्षा है: न्यायसूत्र जो आज उपलब्ध होते हैं उनमें कुछ प्रक्षेप हुए होंगे। किन्तु न्यायसम्प्रदाय के मन्तव्य अत्यन्त प्राचीन हैं, इनमें सन्देह नहीं। म० म० हरप्रसाद शास्त्री की यह सम्मति स्वीकार योग्य है कि न्यायसूत्र वुद्धपूर्व की कृति है। न्यायसूत्र के चतुर्थ अध्याय में जो एकान्तवादी मतों का निराकरण किया गया है, वे सभी मत भारतीय वाङ्मय में किसी न किसी रूप में मिलते रहे हैं। यहाँ सृष्टि की उत्पत्ति स्वभाव से, अभाव से अथवा ईश्वर से हुई इत्यादि के विषय में विवाद रहा है। इसी प्रकार सर्वानित्यतावाद तथा सर्वनित्यतावाद भी दिखाई पड़ते हैं। विचारों की समानता होने के कारण कुछ मन्तव्य परवर्ती वाङ्मय में भी उसी प्रकार के प्रतीत होते हैं । वस्तुतः ये कृतियाँ शैली की दिण्ट से भी प्राचीन प्रतीत होती हैं।

न्यायसूत्रों का विभाजन ५ (पाँच) अध्यायों में किया गया है। प्रत्येक अध्याय में दो आह्निक हैं। ग्रन्थ के उद्देश रूप में बतलाया गया है कि प्रमाण आदि पोडश पदार्थों के तत्त्व ज्ञान से निःश्रेयस (मोक्ष) की प्राप्ति होती है, फिर दुःख से लेकर अपवर्ग (मोक्ष) पर्यन्त प्रमेयों की गणना की गई है। आगे प्रमाण आदि का लक्षण तथा विभाजन दिखलाया गया है और उनके भेद-प्रभेदों का विशद वर्णन किया गया है। समस्त शास्त्र उद्देश, लक्षण तथा परीक्षा इन तीन विभागों में समाप्त हो जाता है। न्यायसूत्रों की विषय-व्यवस्था, क्रमबद्धता तथा शास्त्रीय गठन सभी वैज्ञानिक कहा जा सकता है।

वात्स्यायन का न्यायभाष्य

न्यायसूत्रों के भाष्यकार वात्स्यायन नाम से प्रसिद्ध हैं। वाचस्पति मिश्र ने न्यायवात्तिक तात्पर्यटीका (पृ० १) में इनका नाम 'पक्षिलस्वामी' (पक्षिल स्वामिन्) बतलाया है । सम्भवतः वात्स्यायन इनका गोत्र रहा होगा, इसी नाम से इनकी प्रसिद्धि हो गई। कतिपय जर्मन विद्वानों के अनुसार न्यायभाष्य भी उसी समय का है जब व्याकरण पर महाभाष्य लिखा गया। वह समय २०० ई० पू० के लगभग जाता है। किन्हीं के मत के अनुसार कामसूत्र के कर्ता वात्स्यायन

(11)

न्यायभाष्य के रचयिता वात्स्यायन एक ही हैं किन्तु ऐतिहासिक प्रमाणों के अभाव में यह स्वीकार-योग्य नहीं।

आज जो न्याय के मन्तव्यों का विकसित रूप हमारे समक्ष है, वह न्याय-भाष्य के आधार पर ही हुआ है। न्यायभाष्य की व्याख्या और उस पर किये गये आक्षेप तथा परिहार ही उस विकास का आश्रय हैं। न्यायसूत्रों के स्पष्टीकरण का मुख्य साधन न्यायभाष्य ही है।

उद्योतकर का न्यायवात्तिक

जैसा कि कहा जा चुका है पाशुपताचार्य उद्योतकर भारद्वाज ने न्यायभाष्य की दिङ्नाग आदि बौद्ध विद्वानों द्वारा की गई आलोचना को देखकर न्यायभाष्य की न्यायवात्तिक नामक व्याख्या की। वात्तिक एक वाङ्मय की विशेष विधा है। उसका लक्षण इस प्रकार किया जाता है,

उक्तानुक्तद्विरुक्तानां विचारस्य निबन्धनम् ।

हेतुभिश्च प्रमाणैश्च एतद्वात्तिकलक्षणम् । (न्यायवात्तिकभूमिका १४०) इसमें भी भाष्य के समान अपने संक्षिप्त सारर्गाभत वाक्य लिखकर उनकी व्याख्या की जाती है।

उद्योतकर का समय ईसा की छठी शताब्दी माना जाता है। सुबन्धु ने वासवदत्ता नामक आख्यायिका में उद्योतकर का उल्लेख किया है, न्यायिस्यितिभिवोद्योतकरस्वरूपाम् (हाल, पृ० २३५)। उद्योतकर का समय दिङ्नाग और धर्मकीर्ति के मध्य में है, इसमें सन्देह का अवकाश नहीं: उन्होंने दिङ्नाग के प्रत्यक्ष लक्षण का निर्देश किया है धर्मकीर्ति के प्रत्यक्षलक्षण का नहीं। हाँ, एक उल्लेख को देखकर अवश्य सन्देह होता है; वाचस्पित मिश्र ने न्यायवात्तिकतात्पर्यटीका के मङ्गलश्लोक में कहा है उद्योतकरगवीनामितजरतीनां समुद्धरणात्।
यहाँ प्रयुक्त 'अतिजरतीनाम्' शब्द से यह प्रतीत होता है कि वाचस्पित मिश्र के समय
उद्योतकर की वाणी अत्यन्त पुरानी हो चुकी थी, वह अतिजरती थी। जैसा कि
आगे दिखलाया जा रहा है, वाचस्पित मिश्र ने न्यायसूचीनिबन्ध नामक ग्रन्थ के
अन्त में अपना समय लिखा है, जिसे विक्रम संवत् मानना अधिक युक्त प्रतीत होता
है तदनुसार उनका समय ५४०-४१ ई० है (द्र० वाचस्पित मिश्र द्वारा, वौद्धदर्शन
का विवेचन, कुरक्षेत्र विश्वविद्यालय, १६६५ पृ० १)।

उद्योतकर ने प्रवाहमयी प्राञ्जल सरल भाषा में न्यायभाष्य की व्याख्या की है। उन्होंने दिङ्नाग आदि वौद्ध आचार्यों के आक्षेपों का परिहार करने का पूर्ण प्रयास किया है और सूत्र तथा भाष्य की युक्तिसंगत व्याख्या प्रस्तुत की है। उन्होंने न्यायभाष्य की व्याख्या को छोड़कर कहीं-कहीं नवीन मत भी अपनाया है तथा यथास्थान यह दिखला दिया है कि युक्ति के आधार पर उनकी व्याख्या ही ठीक है। उद्योतकर ने बौद्धमतों को उद्घृत किया है और उनका निराकरण भी किया है किन्तु यह स्पष्ट नहीं किया कि किस बौद्ध आचार्य का यह मत है। उनके समक्ष वसुबन्धु और दिङ्नाग ये दो बौद्ध आचार्य विशोष रूप से रहे, इनकी आलोचना ही

उन्होंने विशेषकर की है। म० म० गङ्गानाथ झा का विचार है कि उद्योतकर ने बौद्ध दर्शन का गहन तथा विशद अध्ययन किया था, उनकी कृति में सर्वत्र उनके विद्वत्तापूर्ण एवं भावपूर्ण व्यक्तित्व की छाप है (इन्ट्रोडक्शन, P. yxvl)।

वाचस्पति मिश्र की न्यायवात्तिकतात्पर्यटीका

उद्योतकर के न्यायवार्त्तिक पर वाचस्पितिमिश्र ने न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका लिखी। इससे हमें विदित होता है कि उद्योतकर ने कहाँ किस बौद्ध आचार्य अथवा किसी साँख्य आदि के आचार्य के मत का निराकरण किया है। वाचस्पित मिश्र ने आचार्य का नामोल्लेख करते हुए उसके मन्तव्य को भी स्पष्ट दिखलाने का प्रयास किया है। वस्तुतः न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका के अनुशीलन के विना न्यायवार्त्तिक का अध्ययन अधूरा है।

वाचस्पति मिश्र ने सभी वैदिक दर्शनों के विविध ग्रन्थों पर व्याख्याएँ लिखी हैं। न्यायदर्शन पर उनका कार्य सर्वोपिरिकहा जा सकता है। न्यायसूत्रों पर लिखे गये 'न्यायसूचीनिवन्ध' नामक ग्रन्थ से उनके समय पर भी प्रकाश पड़ता है। तद-नुसार उनका समय ५४०-५४१ ई० माना जा सकता है।

वाचस्पित मिश्र की प्रतिभा अनूठी थी। उन्हें सर्वतन्त्रस्वतन्त्र कहा जाता है। उनकी अनूठी प्रतिभा का प्रकाश केवल वैदिक दर्शनों पर ही नहीं पड़ा था, अपि तु बौद्धदर्शन पर भी उसका प्रकाश पड़ा था। उनका बौद्धदर्शन सम्बन्धी ज्ञान उच्च कोटि का था। उन्होंने अपने ग्रन्थों में बौद्धदर्शन के अनेक मन्तव्यों की ऐसी सूक्ष्म तथा गहन व्याख्या प्रस्तुत की है कि स्वयं बौद्ध आचार्य भी वैसा स्पष्टीकरण न कर सके (द्र० वाचस्पितिमिश्र द्वारा बौद्धदर्शन का विवेचन, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, १६६८)। धर्मकीर्ति और धर्मोत्तर के अनेक आक्षेपों का परिहार उनके ग्रन्थों में मिल सकता है। उन्होंने अपने गहन अध्ययन के आधार पर बौद्ध मन्तव्यों का निराकरण किया है। संभवतः इससे बौद्ध विद्वानों को भी अपने मन्तव्य परिष्कृत करने की प्रेरणा मिली होगी।

उदयनाचार्य की न्यायवातिकतात्पर्यपरिशुद्धि टीका.

वाचस्पति मिश्र की न्यायवात्तिकतात्पर्यटीका पर उदयनाचार्य ने न्यायवात्तिक-तात्पर्यपरिशुद्धि नामक टीका लिखी¹, इसमें न्यायवात्तिकतात्पर्यटीका की स्पष्ट व्याख्या की गई है। वात्तिककार ने जहाँ भाष्य से मतभेद प्रकट किया है। वह भी दिखलाया गया है।

उदयनाचार्य ने लक्षणावली नामक ग्रन्थ की समाप्ति पर अपना समय दिखलाया है जो शक संवत ६०६ तदनुसार ६८४ ई० है। इन्होंने न्याय तथा वैशेषिक पर अनेक ग्रन्थ लिखे हैं प्रशस्तपाद भाष्य पर इनकी किरणावली नामक टीका है। इनके अतिरिक्त ये कई स्वतन्त्र ग्रन्थों के रचियता हैं। न्यायकुसुमाञ्जलि

१ बिब्लोथिका इन्डिका कलकत्ता १६११ में प्रकाशित, प्रथमाध्यायमात्र मिथिला विद्यापीठ, मुजफ्फरपुर (बिहार १६६७) प्रकाशित।

(13)

तथा आत्मतत्त्वविवेक (बौद्धधिक्कार) आदि इनमें विशेष प्रसिद्ध हैं। इन्होंने अपने सभी ग्रन्थों में यथावसर बौद्ध मन्तव्यों की आलोचना की है। न्यायभाष्य की इस टीका-परम्परा में वर्धमानोपाध्याय (पुत्र तथा शिष्य श्री गङ्को शोपाध्याय की न्याय-वात्तिकतात्पर्यपरिशुद्धिप्रकाश (न्यायनिवन्धप्रकाश), श्री पद्मनाभित्र का वर्धमानेन्द्र तथा शङ्करमिश्र का न्यायतात्पर्यमण्डन उल्लेखनीय हैं।

न्यायसूत्रों तथा न्यायभाष्य पर समय-समय पर अनेक ग्रन्थ रचे गये, कुछ स्वतन्त्र ग्रन्थ भी लिखे गये जिनमें न्यायसम्प्रदाय के मतों का विश्लेषण किया गया। उदाहरणार्थ सूत्रों पर न्यायतात्पर्यदीपिका (भट्टवागीश्वरप्रणीता, गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, इलाहाबाद, १६,७६ ई०)' विश्वनाथन्यायपञ्चाननकृत न्यायसूत्रवृत्ति (विद्याविलासप्रेस बनारस १६२०)। यह न्यायसूत्रवृत्ति, कई बार कलकत्ता से भी प्रकाशित हो चुकी है। साथ ही सूत्रविवरण तथा भाष्यचन्द्र आदि का म० म० गङ्गानाथ ने उल्लेख किया है, उनसे पूर्व म० म० विन्ध्येश्वरीप्रसाद द्विवेदी ने न्यायवार्त्तिक की विशद भूमिका में कुछ उल्लेख किये हैं।

स्वतन्त्र गन्थों में जयन्तभट्ट की न्यायमञ्जरी, गङ्गेशोपाध्याय की तत्त्व-चिन्तामणि तथा उसकी विविध टीकाएँ, न्याय-वैशेषिक के प्रकरण ग्रन्थ तथा विश्व-नाथ न्यायपञ्चानन का भाषा-परिच्छेद और उसकी लेखक की स्वनिर्मित टीका न्यायसिद्धान्तमुक्तावली विशेष उल्लेखनीय हैं।

जयन्तभट्ट की न्यायमञ्जरी

जयन्तभट्ट के समय के विषय में कुछ विवाद है। सम्भवतः जयन्तभट्ट वाचस्पित मिश्र के पूर्ववर्ती या उत्तरवर्ती समकालीन हैं। उन्होंने जो न्यायसूत्र के अन्यपदेश्य तथा न्यवसायात्मक पदों की न्यायमञ्जरी में न्याख्या की है वह वाच-स्पितिमिश्र की न्याख्या से नितान्त भिन्न है, जिससे प्रतीत होता है कि ये दोनों एक दूसरे से परिचित नहीं थे।

जयन्तभट्ट ने न्यायसूत्रों पर कोई किमक व्याख्या नहीं लिखी, किन्तु न्याय के प्रथम सूत्र को लक्ष्य कर प्रमाणप्रकरण तथा प्रमेयप्रकरण की विशद व्याख्या की है। अपने कथन के समर्थन के लिये अन्य न्यायसूत्रों का उपयोग भी किया है। जयन्तभट्ट नवीन शैली के प्रवर्तक हैं। इन्होंने रोचक काव्यमयी भाषा में न्याय के सभी पदार्थों का विवेचन किया है। दर्शन के गहन तत्त्वों की रोचक शैली एवं प्राञ्जल काव्यमयी भाषा में व्याख्या करना उनकी निजी विशेषता है। न्यायमञ्जरी सुन्दर संस्कृत गद्य के उदाहरण रूप में प्रस्तुत करने योग्य एक सुन्दर ग्रन्थ है।

न्यायमञ्जरी की एक और विशेषता है। यहाँ भारतीय दर्शन के प्राय: सभी मन्तव्यों का विवेचन करते हुए सिद्धान्त रूप में न्याय के मन्तव्य की स्थापना की गई है। उदाहरणार्थ प्रामाण्यवाद के विषय में भारतीय दर्शन के विविध मन्तव्यों का विश्लेषण करते हुए न्याय के परतः प्रामाण्य की स्थापना की गई है। यहाँ बौद्धमत

(14)

का स्पष्ट विवेचन उपलब्ध होता है। जहाँ तक न्याय के मन्तव्यों का प्रश्न है यहाँ एकदेशी तथा सिद्धान्ती के मतों का स्पष्टतः निर्देश किया गया है; जैसे

तत्र प्रत्यक्षमात्मानमौपवर्षाः प्रपेदिरे ।

अहंप्रत्ययगम्यत्वात् स्वयूथ्या अपि के चन ।। (न्यायमञ्जरी २, पृ०३)।

वस्तुतः न्यायमञ्जरी न्यायसम्प्रदाय का ही नहीं अपि तु समस्त भारतीय दर्शन का ऐसा शोध ग्रन्थ है जिसमें भारतीय दर्शन के विविध मन्तव्यों का स्वरूप देखा जा सकता है। भारतीय दर्शन का यह अनूठा ग्रन्थ है।

विश्वनाथ न्यायपच्चानन का भाषापरिच्छेद तथा न्याययुक्तावली;

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है विश्वनाथ न्यायपञ्चानन की न्यायसूत्रवृत्ति है जो न्यायसूत्रों पर कम से लिखी गई है। इस वृत्ति में न्यायसूत्रों का शब्दशः अर्थ मिलता है। यहाँ सूत्रों की परस्पर संगति भी लगाई गई है। वस्तुतः यह वृत्ति अत्यन्त गहन है जो सूक्ष्मवृद्धि वाले विद्वानों के लिये लिखी गई है, विदुषामितसूक्ष्मिध्याम-मत्सराणां मुदे भवतु। (मञ्जलश्लोक)। विश्वनाथ न्यायपाञ्चानन का समय १७ वीं शताब्दी माना जाता है।

इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ न्यायकारिकावली है जिसका नाम भाषा-परिच्छेद है। यह न्याय-वैशेषिक का द्वार समझा जाता है। इस पर लेखक की अपनी न्यायसिद्धान्त-मुक्तावली नामक व्याख्या है जो एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें न्याय-वैशेषिक के पदार्थों का विशद विवेचन किया गया है, अन्य मतों की समीक्षा की गई है तथा यथावसर नवीन और प्राचीन न्यायमतों का भी उल्लेख किया गया है। इस ग्रन्थ पर अनेक विद्वत्तापूर्ण टीकाएँ तथा उपटीकाएँ लिखी गई है।

नव्यन्याय के ग्रन्थ

न्यायसूत्र तथा न्यायभाष्य की टीका-परम्परा के साथ ही न्यायसम्प्रदाय में स्वतन्त्र ग्रन्थ लेखन की प्रवृत्ति वढ़ती गई। एक ओर नव्य नैयायिक माने जाने वाले शिश्वर, मणिकण्ठ और शिवादित्य आदि आचार्य हुए, जिनका गम्भीरता में गङ्गे - शोपाध्याय ने अतिक्रमण किया। उनकी तत्त्वचिन्तामणि के समक्ष प्राचीनतर ग्रन्थों का प्रचलन समाप्तप्रायः हो गया और गङ्गे शोपाध्याय को ही नव्यन्याय का जन्मदाता माना जाने लगा।

नव्य न्याय की कुछ विशेषता रहीं। यहाँ भाव और भाषा का नवीन रूप अपनाया गया। शैलीगत विशेषताओं के साथ इसकी कुछ विषयगत विशेषताएँ भी हैं। इसमें तर्क की प्रधानता है, प्रमाणों के अन्तर्गत ही तत्त्व का विवेचन उप-लब्ध होता है। प्रमाणविवेचन को ही दर्शन का साध्य मान लिया गया है, तत्त्वज्ञान से मोक्षप्राप्ति (अध्यात्मविद्या) गौण हो गई है। नव्यन्याय को सच्चा तर्कशास्त्र कहा जा सकता है। जल्प और वितण्डा में विजय प्राप्त करने के लिये इसकी शैली विशेष महत्त्व रखती है। इसके प्रभाव से न्याय-वैशेषिक की गित तत्त्व-विवेचन में अवरुद्ध हो गई और प्राचीन न्याय-वैशेषिक का पठन-पाठन रुक सा गया।

(15)

न्याय-वैशेषिक के प्रकरण ग्रन्थ

दूसरी ओर टीका-परम्परा को छोड़कर विद्वज्जन स्वतन्त्र ग्रन्थलेखन की ओर प्रवृत्त हुए। शास्त्र के स्वाङ्गीण परम्परागत विवेचन की अपेक्षा उसके किसी अङ्ग का विवेचन अधिक उपयोगी समझा जाने लगा। फलतः एक विशेष प्रकार के ग्रन्थों का प्रचलन हो गया जिन्हें प्रकरण ग्रन्थ कहा जाता है। इनमें शास्त्र के समस्त विषय का विवेचन न करके केवल कुछ विषय का प्रतिपादन किया गया है अथवा शास्त्र के विषय का अत्यन्त संक्षेप में विवेचन किया गया है। इन विषयों का विवेचन शास्त्र से कुछ भिन्न प्रकार का है, वह कुछ सूक्ष्म, गहन तथा संक्षिप्त है। वेदान्त इत्यादि में भी ऐसे प्रकरण ग्रन्थ लिखे गये हैं। बौद्धदर्शन में भी ऐसे ग्रन्थों का प्रचलन उपलब्ध होता है। सम्भवतः न्याय-वैशेषिक के प्रकरणग्रन्थ उनसे प्रभावित हुए हैं। कुछ भी हो, न्यायसम्प्रदाय की टीका-परम्परा की समाप्ति हो जाने पर इन प्रकरण ग्रन्थों में ही न्याय के पदार्थों का विवेचन किया गया और इन्हीं में न्याय-सम्प्रदाय की इतिश्री हो गई।

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न्यायसूत्रं न्यायभाष्यं न्यायवात्तिकःच

• न्यायसूत्रम्

प्रमाण-प्रमेय-सं शय-प्रयोजन-हृष्टान्त-सिद्धान्तावयव-तर्कः-नि-ण य-वाद-जल्प-वितण्डा-हेत्वाभास-च्छल-जाति-निग्रहस्थानानां तत्त्व-ज्ञानान् निःश्रेयसाधिगमः ।१।१।१॥

न्यायवात्तिकम्

यदक्षपादः प्रवरो मुनीनां शमाय शांस्त्रं जगतो जगाद । कुर्ताकिकाज्ञाननिवृत्तिहेतुः करिष्यते तस्य मया निबन्धः ॥ प्रमाणादिपदार्थतत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः इत्येतच्छास्त्रस्यादिसूत्रं तस्यामिस-म्बन्धवाक्यम ।

हिन्दी अनुवाद तथा टिप्पणियां

१. प्रमाण २. प्रमेय ३. संशय ४. प्रयोजन ५. ह्ण्टान्त ६. सिद्धा-न्त ७. अवयव ८. तर्क ६. निर्णय १०. वाद ११. जल्प १२. वितण्डा १३. हेत्वाभास १४. छल १५. जाति १६. निग्रहस्थान के तत्त्वज्ञान से निः श्रोयस की प्राप्ति होती है। १।१।१॥

[मुनीनां प्रवरः अक्षपादः जगतः शमाय यत् शास्त्रं जगाद, तस्य निबन्धः कुर्ताकिकाज्ञाननिवृत्तिहेतुः मया करिष्यते, इत्यन्वयः]

मुनियों में श्रेष्ठ अक्षपाद ने संसार के दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति के लिये (=शमाय) जिस शास्त्र का प्रवचन किया था उसका व्याख्यान (निवन्धः) कुर्ताकिकों (द्वारा उत्पादित) अज्ञान की निवृत्ति के लिये मेरे (उद्योतकर के) द्वारा (सहज ही) किया जायेगा (द्व० भूमिका)।

प्रमाण आदि पदार्थों के तत्त्वज्ञान से निःश्रेयस (मोक्ष) की प्राप्ति होती है, यह न्याय शास्त्र का आदिम सूत्र है जो उसका (तस्य = शास्त्रस्य) अभीष्ट सम्बन्ध दिखलाता है।

अक्षपाद: किन्हों के मत में यह गौतम का ही दूसरा नाम है, कोई इन्हें गौतम से भिन्न आचार्य मानते हैं (द्र० भूमिका)

कुताकिक o -- कुतार्किकैः दिग्नागप्रभृतिभिराहितम् अज्ञानम्, टी०; यहां दिग्नाग आदि को कुताकिक कहा गया है।

अभिसम्बन्धवाक्यम् अभीष्ट सम्बन्ध को ब्रतलाने वाला वाक्य । इससे अनुबन्धचतुष्ट्य की व्याख्या की गई है । विषय, प्रयोजन, सम्बन्ध और अधिकारी ये चार अनुबन्ध हैं । इस शास्त्र का (१) विषय है प्रमाण आदि सोलह पदाथों के यथार्थ ज्ञान (तत्त्वज्ञान) का वर्णन, (२) प्रयोजन है तत्त्वज्ञान

न्यायभाष्यम्

प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्तौ प्रवृत्तिसामर्थ्याद् अर्थवत् प्रमाणम् । प्रमाण-मन्तरेण नार्थप्रतिपत्तिः । नार्थप्रतिपत्तियन्तरेण प्रवृत्तिसामर्थ्यम् । प्रमाणेन खल्वयं ज्ञातार्थमुपलभ्य तमीप्सिति वा जिहासिति वा । तस्येप्साजिहासा-प्रयुवतस्य समीहा प्रवृत्तिरित्युच्यते । सामर्थ्यं पुनरस्याः फलेनाभिसम्बन्धः । समीहमानस्तमर्थमभीप्सन् जिहासन् वा तमर्थमाप्नोति जहाति वा । अर्थस्तु सुखं सुखहेतुरुच, दुःखं दुःखहेतुरुच ।

न्यायवात्तिकम्

प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्तावित्येवमादि तस्यानुसन्धानवाक्यम्, शास्त्रस्य पुरुषश्रेयोऽ-भिधायकत्वात् । शास्त्रं पुनः प्रमाणादिवाचकपदसमूहो व्यूहविशिष्टः । पदं पुनर्वर्णसमूहः हः । पदसमूहः सूत्रम् । सूत्रसमूहः प्रकरणम् । प्रकरणसमूह आह्निकस् । आह्निकसमूहो-

प्रमाण से अर्थ का (यथार्थ) ज्ञान होने पर प्रवृत्ति की सफलता (सामर्थ्य) होती है अतः प्रमाण सप्रयोजन (अर्थवत्) है। प्रमाण के विना वस्तु का यथार्थ ज्ञान नहीं होता। वस्तु के यथार्थ ज्ञान के विना प्रवृत्ति की सफलता नहीं होती। वस्तुतः (खलु) यह ज्ञाना प्रमाण से अर्थ को जानकर उसे लेने की इच्छा करता है (अभि + ईप्सित = आप्तुम् इच्छात) अथवा छोड़ने की इच्छा करता है (जिहासित = हातुस् इच्छिति)। लेने की इच्छा अथवा छोड़ने की इच्छा करता है (जिहासित = हातुस् प्रवृत्ति कहलाती है। और (पुनः) उस (प्रवृत्ति) का सामर्थ्य है, फल से भर्लाभाँति सम्बन्ध होना। चेष्टा करता हुआ (व्यक्ति) उस अर्थ को लेने की इच्छा करता हुआ ले लेता है अथवा छोड़ने की इच्छा करता हुआ छोड़ देता है। सुख तथा सुख का साधन और दुःख तथा दुःख का साधन अर्थ है।

प्रमाणतः इत्यादि (भाष्य का वचन) उस (शास्त्र) का निःश्रेयस प्राप्ति से (पुनः) सम्बन्ध दिखलाने वाला (अनुसन्धान) वाक्य है; क्योंकि शास्त्र पुरुष के श्रेय का कथन करने वाला है। और, विशेष रचना (ब्यूह) से विशिष्ट प्रमाण आदि के वाचक पदों का समूह ही शास्त्र है। वर्णों का समुदाय पद है। पदों का समुदाय सूत्र है। सूत्रों का समुदाय प्रकरण है। प्रकरणों का समुदाय आह्निक है। आह्निकों

से निःश्रेयस की प्राप्ति दिखलाना । जब तत्त्वज्ञान शब्द का अर्थ तत्त्व का प्रतिपादक अर्थात् (शास्त्र, तत्त्वं ज्ञायतेऽनेन) लिया जाता है तो शास्त्र ही निःश्रेयस का हेतु कहा जाता है, शास्त्रनिः श्रेयसयी हेतुहेतुमद्भावः, टी० । वस्तुतः प्रमाण आदि का तत्त्वज्ञान प्रतिपाद्य है; शास्त्र उसका प्रतिपादक है तथा तत्त्वज्ञान निःश्रेयस का हेतु है, यही सम्बन्ध है; इस प्रकार प्रमाण आदि का तत्त्वज्ञान अवान्तर व्यापार है (टी०) । इस शास्त्र का अधिकारी ऐसा शिष्य है जिसने प्रत्यक्ष तथा अनुमान से वस्तु तत्त्व को नहीं जाना किन्तु आध्यात्मिक शवित से युक्त है ।

(भाष्ये) प्रमाणम्—प्रमाण के दो अर्थ हैं—यथार्थ ज्ञान का साधन तथा यथार्थ ज्ञान। यहां यह प्रथम अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। (परि० पृ० ७६) समीहा—चेष्टा, प्रयत्नपूर्वक किया। साम-र्थ्यम्— सफलता, फल से सम्बन्ध।

न्यायवात्तिकम्

ऽध्यायः । पञ्चाध्यायी शास्त्रम् । तत्पदार्थाः प्रमाणादयः । तस्य श्रिष्ट्रस्य पदानामर्थाः प्रमाणादयः षोडशात्मानः । तच्छास्त्रं श्रेयोऽभिषत्ते । प्रत्यक्षानुमानाधिगतवस्तुत-त्यान्याख्यानं शास्त्र-धर्मः । तस्य विषयः प्रत्यक्षानुमानाधिगतवस्तुतत्त्व आध्यात्मिक-शक्तिसम्पद्युऽक्तोन्तेवासी ।

पुरुषः पुनश्चतुर्धा भिद्यते—प्रतिपन्नोऽप्रतिपन्नः सन्दिग्धो विपर्यस्तश्चेति । तत्र प्रतिपन्नः प्रतिपाद्यिता । इतरे सापेक्षाः सन्तः प्रतिपाद्याः । ते यदेन्द्रियार्थसन्निकर्षमपेक्षन्ते तदा प्रत्यक्षेण, यदा लिङ्गदर्शनस्मृत्याद्यपेक्षन्ते तदानुमानेन । यदा पुनरुपदेशमपेक्षन्ते तदा शास्त्रं प्रवर्तते । श्रेयः पुनः सुखमहितनिवृत्तिश्च । तच्छ्रेयो भिद्यमानं द्वेधा व्यवित्व्वते हेष्टाहष्टभेदेन । हष्टं सुखम् । अहष्टमहितनिवृत्तिः । अहितनिवृत्तिरात्यन्तिक्षी चानात्यन्तिकी च । अनात्यन्तिकी कण्डकादेर्षुःखसाधनस्य परिहारेण । आत्यन्तिकी

का समुदाय अघ्याय है। यह शास्त्र पाँच अघ्यायों का है। प्रमाण आदि उस शास्त्र के पदार्थ हैं—उस शास्त्र के पदों के अर्थ प्रमाण आदि सोलह हैं। वह शास्त्र कल्याण (श्रेयस्) का कथन करता है। प्रत्यक्ष तथा अनुमान से जाने गये वस्तुतत्त्व की व्याख्या करना शास्त्र का कार्य है। उसका अधिकारी (विषयः) प्रत्यक्ष तथा अनुमान से वस्तु-तत्त्व को न जानने वाला, आघ्यात्मिकशक्ति (शुश्रूषादि) से युक्त शिष्य (अन्तेवासी) है।

और (पुनः) पुरुष चार प्रकार के हैं; ज्ञानयुक्त, ज्ञानरहित, सन्देहयुक्त तथा भ्रान्तियुक्त । उनमें ज्ञानयुक्त व्यक्ति प्रतिपादन करनेवाला (उपदेशक) होता है। दूसरे ता जिज्ञासायुक्त होकर (= सापेक्षाः, अपेक्षा = जिज्ञासा-टी०) उपदेश के लक्ष्य (प्रति-पाद्याः) होते हैं। वे जब इन्द्रिय तथा अर्थ के सिन्नकर्ष की अपेक्षा करते हैं तब प्रत्यक्ष से; जब लिङ्गदर्शन तथा स्मृति आदि की अपेक्षा करते हैं तब अनुमान से बोधनीय होते हैं (प्रतिपाद्याः)। किन्तु (पुनः) जब उपदेश को अपेक्षा करते हैं तब शास्त्र की प्रवृत्ति होती है। और, (पुनः) श्रेय है सुख तथा अहित की निवृत्ति। उस श्रेय के भेद किय जाने पर दृष्ट और अदृष्ट के भेद से दो प्रकार के होते हैं। दृष्ट सुख है, अहित की निवृत्ति अदृष्ट है। अदृष्ट की निवृत्ति भी आत्यन्तिकी तथा अनात्यन्तिकी होती है। कण्टक आदि दुःख के साधन को दूर करने से (परिहारेण) अनात्यन्तिकी होती है और इक्कीम भेदों से युक्त दुःख के नाश से आत्यन्तिकी (दुःखनिवृत्ति) होती ज्ञास्त्रधर्मः—शास्त्रकार प्रत्यक्ष तथा अनुमान से ज्ञात अर्थ को कहते हैं (दृ० योगभाष्य तथा

आध्यात्मिकशक्ति:--आध्यात्मिकी शक्तिः शुश्रूषादिः, टी॰ ।

तत्त्ववैशारदी १-७)।

श्रेयः पुनः — त्याय की दृष्टि से सुख ही श्रेयस् नहीं है अपितु दुःख की निवृत्ति भी श्रेयस् है। श्रेयस् के दो भेद हैं दृष्ट तथा अदृष्ट । सुख तो दृष्ट श्रेयस् है और अहित की निवृत्ति अदृष्ट है। यों तो दृष्ट उपायों से भी दुःख की निवृत्ति हो जाती है। किन्तु अत्यन्त निवृत्ति नहीं होती (अनात्यन्तिकी)। इसी प्रकार स्वर्ग आदि में भी दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं होती। अहित की आत्यन्तिक निवृत्ति तो अपवर्ग (सोक्ष) ही है।

न्यायवात्तिकम्

पुनरेर्कावंशितप्रभेदिभन्नदुःखहान्या । एकविशितप्रभेदिभन्नः पुनर्दुःखम्, शरीरं षिडिन्द्रि-याणि षिड्वियाः षड्बुद्धयः सुलं दुःखं चेति । शरीरं दुःखायतनत्वाद् दुःखम् । इद्धि-याणि विषया बुद्धयश्च तत्साधनभावात् । सुलं दुःखानुषङ्गात् । दुःखं स्वरूपत इति । तस्य हानिर्धर्माधर्मसाधनपरित्यागेन । अनुत्पन्नयोर्धर्माधर्मयोरनुत्पादेन, उत्पन्नयोश्चोपभो-गात् प्रक्षयेणेति ।

पुरुषा रागादिमन्तो वीतरागाश्च । तत्र रागो विषयाभिष्वङ्गलक्षणः । स येषामस्ति ते रागादिमन्तः । वैराग्यं पुनर्भोगानिभष्वङ्गलक्षणम् । तद् येषामस्ति ते
वीतरागाः । प्रवृत्ते ग्वैविध्यं पुरुषभेदानुविधानेन—तेषां पुरुषाणां याः प्रवृत्तयस्ताः पुरुषभेदमनुविधीयमाना उभयरूपा भवन्ति । वीतरागप्रवृत्तिरेकधा-तत्र या वीतरागणां
प्रवृत्तिः सा खल्वेकरूपा, अनिष्ट्यतिषधार्था, अनिष्टं हास्याम इत्येवमेव प्रवर्तन्ते, न
पुनरेषां क्वचिद् अभिष्वङ्गो उस्तीति । रागादिमत्प्रवृत्तिस्तु द्विरूपा—य एते रागादिमन्तस्तेषां याः प्रवृत्तयस्ता द्विविधा भवन्ति, इष्टानिष्टविषयाधिगमप्रतिषधार्थाः; इष्टमाप्रयामीति रागात् प्रवर्तते, अनिष्टं हास्यामीति द्वेषान्निवर्तते । प्रवृत्तेरिष द्वैविध्यं भवित

है। इक्कीस भेदों से युक्त दु:ख तो (पुनः) यह है; शरीर + छह इन्द्रियाँ + छह विषय + उनके ज्ञान तथा मुख और दु:ख। शरीर दु:खों का आयतन (भोगस्थान) होने से दु:ख है। इन्द्रियाँ, (उनके) विषय और (उनके) ज्ञान उस (दु:ख) का साधन होने से। सुख (तो) दु:खों के साथ मिला होने से (अनुषङ्गात् = अविनाभावात्) और दु:ख स्वरूप से ही दु:ख है। धर्म और अधर्म के साधनों का त्याग करने से उस (दु:ख) का नाश होता है। उत्पन्न न हुए धर्म तथा अधर्म का नाश उनकी उत्पत्ति न होने से तथा उत्पन्न हुओं का भोग से क्षय हो जाने के कारण होता है।

पुरुष राग आदि से युक्त होने हैं और राग-रहित (वीतराग) भी। यहाँ विषयों में आसिक्त (अभिष्वज्ज) स्वरूप (लक्षण) ही राग है। वह जिनमें है वे रागादि से युक्त है। भोगों में आसिक्त न होना वैराग्य है। वह जिनमें है वे वीतराग हैं। पुरुष के भेदों का अनुसरण करने के कारण प्रवृत्ति के भी दो प्रकार हैं—उन पुरुषों की जो प्रवृत्तियाँ हैं वे पुरुष के भेदों का अनुसरण करती हैं तथा दो प्रकार की होती हैं। वीतरागों की प्रवृत्ति एक प्रकार की होती हैं; उनमें जो वीतरागों की प्रवृत्ति है वह अनिष्ट से बचने के लिये (प्रतिविधार्था) एक प्रकार की है; अनिष्ट का त्याग कर देंगे, इस प्रकार ही (वीतराग जन) प्रवृत्त होते हैं; किन्तु (पुनः) उनकी कहीं आसिक्त नहीं होती। राग आदि से युक्त ज़नों की प्रवृत्ति तो दो प्रकार की होती हैं—जो ये रागादि से युक्त हैं उनकी जो प्रवृत्तियाँ है वे दो प्रकार की होती हैं; इष्ट की प्राप्ति (अधिगम) के लिये और अनिष्ट की निवृत्ति के लिये, 'इष्ट को प्राप्त करूंगा' इस प्रकार देष से (किसी पदार्थ से) निवृत्त हो जाता है। प्रवृत्ति के भीं दो प्रकार होते हैं सफल

8-8-8]

1 4

न्यायवात्तिकम्

समर्यासमर्थभेदात् —या खलु रागादिमत्प्रवृत्तिः सा समर्था चासमर्था च भवति । इष्ट-माप्स्यामीति प्रवंमानो यदा प्राप्तोति तदा समर्था, अनिष्टं हास्यामीति प्रवर्तमानो यदा जहाति तदापि समर्था । यदा विपर्यग्रस्तदासमर्थेति । तत्पुनः प्रवृत्ते विष्यं प्रमाण-स्यार्थवदनर्थकत्वात् ।

प्रमाणं ताववर्थपरिच्छेदकम्। प्रमाणसामान्यात् प्रमाणप्रतिरूपकमपि प्रमाणमित्युपचर्यते। किं पुनः प्रमाणसामान्यं प्रसाणभासस्य? सामान्यपरिच्छेदकरवम् प्रमाणेनापि सामान्यं परिच्छिद्यते, प्रमाणाभासेनापि। सोऽयं प्रमाता यदा प्रमाणेनार्थमवधार्यं प्रवर्तते तदास्य प्रवृत्तिः समर्था भवति। यदा पुनः प्रमाणाभासेनावधार्यं प्रवर्तते तदास(समर्थ) और असफल के भेद से। वस्तुतः (खलु) जो राग आदि से युक्त की प्रवृत्ति होती है वह सफल या (च) असफल होती है। 'इष्ट को प्राप्त करूँगा' इस प्रकार प्रवृत्त होता हुआ जब (इष्ट को) प्राप्त कर लेता है तब प्रवृत्ति सफल होती है, 'अनिष्ट का त्याग करूँगा' इस प्रकार प्रवृत्त होता हुआ जब (अनिष्ट का) त्याग कर देता है तब भी सफल होती है। जब इसके विपरीत हो जाता है तब (प्रवृत्ति) अस-फल होती है। किन्तु (पुनः) वे प्रवृत्ति के दो प्रकार प्रमाण के सार्थक एवं अनर्थक होने के कारण होते हैं।

प्रमाण तो अर्थ का निश्चायक (परिच्छेदक) ज्ञान होता है। प्रमाण की समानता से प्रमाणाभास (प्रमाणप्रतिरूपकम्) को भी उपचार से प्रमाण कह दिया गया है (उपचर्यते)। (प्रश्न) प्रमाणाभास की प्रमाण से क्या समानता है ? (उत्तर) सामान्य का निश्चय कराना—प्रमाण से भी सामान्य का निश्चय होता है, प्रमाणाभास से भी। वह यह प्रमाता जब प्रमाण से अर्थ का निश्चय करके प्रवृत्त होता है तब उसकी प्रवृत्ति सफल होती है। किन्तु जब प्रमाणाभास से (अर्थ का) निश्चय करके प्रवृत्त होता है तव (प्रवृत्ति) असफल होती है। उस प्रवृत्ति की सफलता से प्रमाण

प्रमाणस्यार्थवदनर्थव त्दात्—प्रमाण के सार्थक तथा अनर्थक होने से । यद्यपि प्रमाण अनयक नहीं होता तथापि यहां प्रमाणाभास को प्रमाण कह दिया गया है । (द्र० आगे न्यायवात्तिक) । सामान्यपरिच्छेदकत्दस्—सामान्य का बोधक होना । उदाहरणार्थ रजत में 'यह रजत है, इस प्रकार का (प्रमाण) ज्ञान सामने उपस्थित वस्तु में 'यह शुक्लभास्वर सत् द्रव्य है' इस रूप में बोध कराता है, शुक्तिका में रजत का ज्ञान (भ्रान्ति, प्रमाणाभास) भी । प्रमाण और प्रमाणाभास का भेद प्रवृत्ति की सफलता तथा असफलता से किया जाता है, तस्याः समर्थायाः प्रवृत्ते हेंतोः पुनः प्रमाण-स्यायंवरत्वमर्थाव्यभिचारित्वम्, टी० । वस्तुतः 'अर्थवत्त्व' के स्थान में 'अर्थवत्त्व' पाठ युक्त प्रतीत होता है—उस प्रवृत्ति के सफल होने के विषय में प्रमाणतः इत्यादि भाष्य है, यह अर्थ होगा ।

परस्परापेक्षित्वात्—यहाँ (पृ० २६) तात्पर्यटीका में प्रामाण्यवाद का संक्षेप में निरूपण किया गया है: अर्थ का निश्चय प्रवृत्ति का हेतु है। यह अर्थ का निश्चय प्रामाण्य के निश्चय के विना नहीं होता और प्रामाण्य का निश्चय समर्थ प्रवृत्ति के विना नहीं होता तथा समर्थ प्रवृत्ति उन दोनों (अर्थका निश्चय तथा ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय) के विना नहीं होती, अतः इतरेतराश्रय दोष होता है (टी० २८)।

[शास्त्रस्योद्देशः

٤]

न्यायवात्तिकम्

मर्था । तस्याः पुनरर्थवत्त्वम् [अर्थवत्त्वे] प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्तावित्यादि भाष्यम् परस्परापेक्षित्वाद् उभयासिद्धिरिति चेत्; न अनादित्वात्—पदि प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्तौ प्रवृत्तिसामर्थ्यम्, यदि वा प्रवृत्तिसामर्थ्यात् प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्तिः, कि पूर्वं कि वा पश्चादिति वाच्यम् । यदि तावत् प्रमाणतः पूर्वमर्थप्रत्तिपत्तिः, प्रवृत्तिसामर्थ्यमन्तरेण किमिति प्रतिपद्यते ? अथ पूर्वं प्रवृत्तिसामर्थ्यम्, अनवधार्यार्थे किसिति प्रवर्तते ? तस्मात् प्रवृत्तेः प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्ते वा पूर्वापरभावो न कल्पत इति ।

तच्च नैवम् । कस्मात् ? अनादित्वात्—अनादिरयं संसार इति पूर्वाभ्यस्त-सूत्रे (न्या० सू० ३. १. १६) प्रतिपादियष्यामः । आदिमति च संसारे एष दोषः, किं पूर्वं प्रमाणतोऽर्थाप्रतिपत्तिः, उताहो पूर्वं प्रवृत्तिसामर्थ्यमिति । प्रमाणप्रवृत्त्योवी बलाबलिजज्ञासायाम् उभयसामर्थ्यप्रदर्शनार्थं वाक्यम् — लोकः खलु प्रवर्तमानः प्रमाणे-नार्थमवधार्य प्रवर्तते । स च तथा प्रवर्तमानः फलभुपलभते । तत्रे दं चिन्त्यते; कि प्रधा-

की यथार्थता होती है। इसी से 'प्रमाणतो ऽ र्थप्रतिपत्तों' इत्यादि भाष्य है। (शङ्का समाधान वार्त्तिक) यदि एक दूसरे पर आश्रित होने के कारण दोनों की ही सिद्धि नहीं होगी तो ऐसा नहीं अनादि होने से। (शङ्का की व्याख्या) यदि प्रमाण से पदार्थ का ज्ञान होने पर प्रवृत्ति की सफलता होती है, अथवा यदि प्रवृत्ति की सफलता से अर्थ का ज्ञान प्रमाण से हुआ जाना जाता है तो इन (प्रवृत्ति तथा प्रमाण) में से कौन पहले है कौन बाद में यह वतलाना होगा (वाच्यम्)। यदि तो पहले प्रमाण से अर्थ का ज्ञान होता है तब प्रवृत्ति की सफलता के विना (यह प्रमाण से होने वाला ज्ञान है) यह कैसे जान लिया जाता है। यदि पहले प्रवृत्ति की सफलता होती है तब निश्चय न करके अर्थ में प्रवृत्ति कैसे (किमिति) हो जाती है। इस लिये प्रवृत्ति का अथवा प्रमाण से अर्थबोध का पूर्वापरभाव नहीं वनता।

(समाधान की व्याख्या) और वह ऐसा नहीं है। क्यों? अनादि होने से; यह संसार अनादि है, यह पूर्वाभ्यस्तसूत्र (३. १. १९) में प्रतिपादित करेंगे। संसार को आदिमान् मानने में ही यह दोष है कि क्या पहले प्रमाण से अर्थ का बोध होता है अथवा पहले प्रवृत्ति की सफलता होती है। (दूसरा समाधान) अथवा प्रमाण और प्रवृत्ति में कौन बलवान है कौन नहीं (बलावल), इस जिज्ञासा के होने पर दोनों का सामर्थ्य दिखलाने के लिये (भाष्य का) यह वाक्य है। वस्तुतः प्रवृत्त होता हुआ लोक प्रमाण से अर्थ का निश्चय करके प्रवृत्त होता है और वह उस प्रकार प्रवृत्त होकर फल को प्राप्त करता है। उसमें यह विचार किया जाता है कि क्या प्रमाण से होने वाला अर्थ-बोध

प्रामाणप्रवृत्योर्वा यह भाष्य के वाक्य का दूसरा तात्पर्य है, तात्पर्यान्तरमाह, प्रमाणप्रवृत्त्योर्वेति, टी॰ ३०)

लोकवृत्तानुवादो वा-यह भाष्य के वाक्य का अन्य तात्पर्य बतलाया गया है।

{-**?**-**?**]

न्यायवात्तिकम्

णतोऽर्थं प्रतिपित्तः समर्था, उताहो प्रवृत्तिरिति । उभयं समर्थं म्, तन्नान्तरीयकत्वात् फलस्य । अस्य चार्थं स्त्रोपदर्शनार्थं वाक्यमिति । लोकवृत्तानुवादो वा—सर्वः प्रमाता प्रमाणेनार्थं मवधार्य प्रवर्तमानः फलमुपलभत इति लोकवृत्तं तद् वाक्येनानूद्यत इति ।

हेयहानोपायाधिगन्तव्यभेदाच्चत्वार्यथंपदानि । हेवं दुःखं तद्धे पुश्च । दुःखनुक्तम् दुःखहेतुरिवद्यातृष्णे धर्माधर्माविति । हानं तत्यज्ञानम् । तत्युनर्यथाविश्यतपदार्थाधिगतिः, तच्च प्रमाणम् । उपायः शास्त्रम् । तदप्युक्तम् । अधिगन्तव्योऽपवर्गः । स पुनरात्यन्तिको दुःखाभावः । एस्मिश्च चतुर्वर्गे प्रमाणस्य प्राधान्यप्रदर्शनार्थं चेति । कथं पुनरनेन वाक्येन प्रमाणादिचतुर्वर्गः प्रदर्शत इति । प्रमाणप्रयेयाधिगतयः श्रुतिगम्याः, प्रमाता तन्नान्तरीन्यकत्वात् । न हि प्रमातारमन्तरेण प्रमाणं संभवति ।

सफल होता है अथवा प्रवृत्ति सफल होती है। (वस्तुतः) दोनों ही सफल होते हैं; क्योंकि फल दोनों के अनन्तर होता है (नान्तरीयकरवात्)। और इस भाव (अर्थ) को दिखलाने के लिये यह वाक्य है। अथवा यहाँ लोकाचार का पुनः कथन (अनुवाद) किया गया है; लोकाचार यह है कि सभी प्रमाता प्रमाण के द्वारा पदार्थ का निश्चय करके प्रवृत्त होते हुए फल को प्राप्त करते हैं। उसे (यहाँ) वाक्य से फिर कहा गया है (अनुदाते)।

त्याज्य (हेय) त्याग (हान) उपाय तथा प्रापणीय (अधिगन्तन्य) ये चार अर्थ हैं। दुःख और उसका हेतु त्याज्य (हेय) हैं। दुःख ऊपर वतलाया जा चुका है। अविद्या तथा तृष्णा, धर्म एवं अधर्म दुःख के हेतु हैं। त्याग (हान) है तत्त्वज्ञान और वह है पदार्थों का यथार्थ ज्ञान, वही है प्रमाण। उपाय है शास्त्र, वह भी कहा जा चुका है। प्रापणीय है मोक्ष और वह है दुःखों का अत्यन्ताभाव। इस चतुर्वर्ग में प्रमाण की प्रमुखता दिखलाने के लिये भी यह (वाक्य) है। (प्रश्न) किन्तु इस वाक्य के द्वारा प्रमाण आदि चतुर्वर्ग कैसे दिखलाया जाता है। (उत्तर) प्रमाण, प्रमेय, प्रमिति (अधिगति) शब्द (अ्ति) से जानी जा सकती हैं, उनके अविनामावी होने से प्रमाता जान लिया जाता है; क्योंकि प्रमाता के विना प्रमाण नहीं हो सकता।

अनू इते—पुनर्वचन को अनुवाद कहा जाता है। यहां कारण दिखलाते हुए लोकाचार का अनुवाद किया गया है, कारणप्रदर्शनद्वारेणानू द्यते, टी० ३१।

हेय o — यह भी भाष्य के वाक्य का अन्य तात्पर्य है, अस्यैव भाष्यस्य तात्पर्यान्तरं वक्तुं भूमिका-मारचयित, टी० ३१।

एतिहमंदच यहाँ 'च' (और) से प्रमाण, प्रमा, प्रमाता तथा प्रमेय इस दूसरे चतुर्वगं को भी सचित किया गया है, चेन प्रमाणप्रमात्रमात्प्रमेयरूपं चतुर्वर्गान्तरमिष स्चयित, टी॰ ३१।

प्रमाणतइति तिसर्वेचनम् प्रमाण शब्द से तिस प्रत्यय होकर 'प्रमाणतः' शब्द बनता है। पञ्चम्यास्तिसल् ५. ३. ७ सूत से सामान्य रूप में पञ्चमी विभक्ति को तिसल् आदेश कहा गया है। यहाँ यह निमित्त अर्थ में पञ्चमी है। प्रश्न यह है कि फिर 'प्रमाणात्' ऐसा ही क्यों नहीं कह

[शास्त्रस्यो हेश:

5]

न्यायवात्तिकम्

तिदं वाक्यमवयवश उपन्यस्य वर्ण्यते । तत्र प्रमाणत इति तिसर्वचनं वचनिप्रिक्तिव्याप्तिज्ञानार्थम् । प्रमाणत इतीयं निमित्त उञ्चमी । अस्याभिधानं वचनव्याप्यथं विभक्तिव्याप्यर्थं च । कथं पुनः पञ्चनीव्यितरेकेण तिसर्वभ्यते ? लभ्यत
इत्याह, आद्यादावृपसंख्यानादिति । तत् किं सिद्धं भवित ? वचनव्याप्त्या संप्तवो ।
व्यवस्था च । प्रमाणेन प्रमाणाभ्यां प्रमाणैः प्रतिपत्तिरिति संप्तवो गम्यते,
प्रमाणेनैवेति व्यवस्था । विभक्तिव्याप्त्या हेनुकरणभावः । प्रमाणादर्थीधगितर्भवतीति हेनुत्वम् । प्रमाणेनार्थं साध्यतीति साधकतमत्वात् क्ररणार्थः । संप्तवानुपपत्तिविशिष्टविषयत्वादिति चेत्; न, अनभ्युपगमात्—स्यान्मितरेषा विशिष्टविषयाणि

इस बाक्य की एक-एक अवयव लेकर व्याख्या की जाती है (वर्ण्यते)। वहाँ 'प्रमाणतः' यहाँ 'तसि' प्रत्यय (एकवचन आदि) वचनों तथा (प्रथमा आदि) विभक्तियों की व्याप्ति का बोध कराने के लिये है। 'प्रमाणतः' यह निमित्त अर्थ में पञ्चमी विभक्ति है। इसका कथन वचनों की व्याप्ति के लिये तथा विभक्तियों की व्याप्ति के लिये है ? (आक्षेप) किन्तू पञ्चमी के विना तसिप्रत्यय कैसे प्राप्त होता है ? (परि-हार) प्राप्त होता है 'आदि' इत्यादि में उपसंख्यान से, यह कहते हैं। तब क्या सिद्ध होता है ? वचनों की व्याप्ति से संप्लव और व्यवस्था (सिद्ध) होती है; एक प्रमाण से दो प्रमाणों से, बहुत से प्रमाणों से ज्ञान होता है, इस प्रकार प्रमाण-संप्लव जान लिया जाता है और एक ही प्रमाण से इस प्रकार व्यवस्था भी। विभक्तियों की व्याप्ति से (प्रमाणों का) हेतु होना तथा करण होना (जाना जाता है।) प्रमाण से अर्थ-बोध होता है, इस प्रकार प्रमाणों का हेतु होना और (प्रमाता) प्रमाण के द्वारा अर्थ को सिद्ध करता है, इस प्रकार विशेष साधक होने से करण अर्थ (जाना जाता है)। (शङ्का-समाधान) प्रमाणों का संप्लव नहीं बन सकता क्योंकि (प्रमाण) विशिष्ट विषय वाने होते हैं, यदि ऐसा कहो तो ठीक नहीं; क्योंकि ऐसा स्वीकार नहीं किया जाता। दिया गया ? उत्तर है कि वचन-व्याप्ति के लिये तथा ।वभिक्त-व्याप्ति के लिये तिस का प्रयोग किया गया है। 'प्रमाणत ' ऐसा कहने से एकवचन, द्विवचन तथा बहुवचन सभी का ग्रहण हो जाता हैं तथा हेतु और करण (प्रमाणादर्थाधिगतिः, प्रमाणेनार्थाधिगतिः) दोनों अर्थों की वोधक विभक्तियों का भी। फिर प्रश्न है कि 'तिसि' प्रत्यय तो पञ्चमी विभक्ति का आदेश है फिर दोनों विभक्तियों का ग्रहण कैसे होगा। उत्तर है कि यहाँ 'आद्यादिम्य उपसंख्यानम्' वास्तिक ५. ४. ४४, से तिस होता है।'

वचनव्याप्त्या संप्लवो व्यवस्था च-नैयायिक को संप्लव अभिमत है और बीद्ध को व्यवस्था इन दोनों की आगे भाष्य तथा वार्त्तिक में व्याख्या की जायेगी।

स्यान्मितिरेषा—इति-यह बौद्ध मत है। तदनुसार दो ही विषय हैं स्वलक्षण (विशेष) और सामान्य लक्षण (सामान्य), दो ही प्रमाण हैं प्रत्यक्ष तथा अनुमान; स्वलक्षण का ग्रहण प्रत्यक्ष से ही होता है और सामान्व लक्षण का अनुमान से ही। यही व्यवस्था है। इन्द्रियवत्—इसे आगे वार्तिक में स्पष्ट किया गया है।

3

2-2-2

न्यायवात्तिकम्

प्रमागानि, विशेषविषयं प्रत्यक्षं सामान्यविषयमनुमानिमिति, एतावच्वाधिगन्तव्यम्; यदुतं सामान्यं विशेषविष्यं, न च सामान्यविषयं प्रत्यक्षं न जात्वनुमानं विशेषविषयमिति। एतच्व न, अनभ्युगगमात्—न तावत् प्रमागद्वयं प्रतिपद्यामहे, न विषयद्वयम्, नाष्यसंकरम् । कि कारणम् ? प्रमाणानि तावच्चत्वारि, विषयश्च सामान्यविशेषतद्वद्भेदात् त्रेथा, संकरो उष्येकस्य सर्वैः प्रमाणैरिधिगतेरिनिद्वयवदिति - इन्द्रियं खलु अर्थप्रकाशकत्वात् प्रमाणम् । तस्य व्यवस्या संकरश्च । व्यवस्या गन्यादिषु । संकरः पृथिव्यादिषु द्वीन्द्रियप्राह्यत्वात् । सत्तायां गुणत्वे च सार्वेन्द्रियं ज्ञानिमिति ।

(शङ्का की व्याख्या) यदि यह विचार हो कि प्रमाणों के भिन्न-भिन्न विषय होते हैं, प्रत्यक्ष का विषय विशेष (स्वलक्षण) है और अनुमान का विषय सामान्य (सामान्य लक्षण); इतना ही ज्ञेय या प्रमेय (अधिगन्तच्य) है जो सामान्य है और विशेष है और प्रत्यक्ष का विषय सामान्य नहीं होता तथा कभी (जानु) अनुमान का विषय विशेष नहीं होता। (समाधान की व्याख्या) और यह ठीक नहीं, क्योंकि इसे स्वीकारा नहीं जाता—प्रथम तो (तावन्) हम दो (ही) प्रमाण नहीं मानते, न दो (ही) विषय और न (प्रमाणों के) सांकर्य का अभाव ही। (प्रश्त) क्या कारण है ? (उत्तर) प्रमाण तो चार हैं और विषय विशेष, सामान्य एवं सामान्य-विशेष वाला (तद्वन्) के भेद से तीन प्रकार का है, एक (विषय) का सब प्रमाणों से ज्ञान होने के कारण संकर भी होता है, जैसे इन्द्रियों का; निश्चय ही इन्द्रिय अर्थ की प्रकाशक होने से प्रमाण है। उसकी व्यवस्था तथा संकर होता है: गन्ध आदि में व्यवस्था है (गन्ध का ग्रहण झाण से ही होता है चक्षु आदि से नहीं); पृथिवी आदि में संकर है; क्योंकि वे दो-दो इन्द्रियों के ग्राह्य हैं (पृथिवी का ग्रहण चक्षु तथा त्वक् से होता है) और सत्ता तथा गुणत्व (सामान्य विशेष) में सभी इन्द्रियों से ज्ञान होता है।

सत्तायां गुणत्वे च सत्ता (पर सामान्य) तथा गुणत्व (अपर सामान्य, सामान्य-विशेष) न्या॰-वै॰ के मत में सत्ता (पर सामान्य)तथा गुणत्व (अपर सामान्य) का ग्रहण भी इन्द्रिय से होता है। उत्तरवर्ती न्या॰ वै॰ का मत है—येनेन्द्रियेण यद् गृह्यते तेनेन्द्रियेण तद्गतं सामान्यं तत्समवायस्तदभावश्च गृह्यते, जिस इन्द्रिय से जिसका ग्रहण होता है उसी से उसमें स्थित सामान्य का समवाय का तथा उसके अभाव का ग्रहण होता है।

अधिगतत्वात् प्रथमतः जो प्रमाण से जर्थ का ज्ञान (अधिगम) हो जाता है उससे ही मानव की प्रवृत्ति हो जाती है तथा अर्थ को प्राप्त करा दिया जाता है फिर जो अन्य प्रमाण से उसी अर्थ का ज्ञान होगा वह व्यर्थ ही होगा। प्रमाण का प्रयोजन है अर्थ में प्रवृत्ति तथा उसकी प्राप्ति (न्यायिबन्दुटीका, पृ० ११)!

T

एकेन प्रमाणेनाधिगते ऽर्थे — दौढ के मत में प्रमाण अनिधगत अर्थ का बोधक होता है किन्तु उचीब कर बतलाते हैं कि प्रत्येक प्रमाण द्वारा ज्ञात अर्थ का अपनी रीति से दूसरे प्रमाण द्वारा बोज हो सकता है। यही प्रमाणों का संप्लव है।

१०] [शास्त्रस्योद्देशः

न्यायवात्तिकम्

अधिगतत्वाद् वैयर्ध्यमिति चेत्; न, अन्यथा तदिधगतेः—स्याग्मतम्, यदि संकीर्येरन् प्रमाणानि, नन्वेकेन प्रमाणेनाधिगतेऽध दितीयं प्रमाणं व्यर्थमापद्येत । अधिगतं चार्थ-मधिगमयता प्रमाणेन पिष्टपेषणं स्यात् । न, अन्यथा तदिधगतेः—न जूषो यथा प्रत्यक्षेणा-थाँऽधिगम्यते तथानुमानादिभिरपीति; अन्यथा प्रत्यक्षेणेन्द्रियसंबद्धः, इन्द्रियासंबद्धोऽनुमा-नेन, संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तिरूपमानेन, शब्दोल्लेखेनागमेनेति । दिषयान्तरे व्यवस्थान्य दर्शनाच्च—न च सर्वस्मिन्नथ संप्तवोऽस्तीत्यतो न वैयर्थ्यमिति । नस्माद् व्यवस्थितमेतत् तसिर्वचनं वचनविभक्तिव्याप्तिज्ञापनार्थामिति ।

प्रमाणस्वरूपावधारणं कर्तव्यम् । किं पुनः प्रमाणस्य प्रमाणत्वम् । कि चोक्तं भवित प्रमाणित ? उपलब्धिहेतुः प्रमाणम्, उपलब्धिहेतुःवं प्रमाणत्वम्, यदुपलब्धि-निमित्तं तत्प्रमाणिमिति । समानत्वाद् अलक्षणिमिति चेत्–यद्युपलब्धिहेतुः प्रमाणम्, तनु प्रमातृप्रमेययोरप्युपलब्धिहेतुत्वात् प्रमाणत्वं प्रसच्चेत, विशेषो वा वक्तव्य इति । अयं

(राङ्का-समाधान) यदि कहो कि ज्ञान हो जाने से (दू वरे प्रनाण द्वारा जानना) व्यर्थ होगा तो ठीक नहीं (न); क्योंक (दूसरे प्रमाण द्वारा) अन्य प्रकार से जाना जाता है। (शङ्का की व्याख्या) यदि यह विवार हो कि प्रमाणों का साङ्कर्य होगा तो एक प्रमाण द्वारा ज्ञात अर्थ में दूसरा प्रमाण व्यर्थ हो जायेगा, और ज्ञात अर्थ का बोध कराने वाले प्रमाण से पिष्टपेषण (पिसे को पीसना) मात्र होगा। (समाधान की व्याख्या) यह ठीक नहीं; (दूसरे प्रमाण से उस विषय का) अन्य प्रकार ज्ञान होने से—हम यह नहीं कहते कि जैसे प्रत्यक्ष से अर्थ का बोध होता है उसी प्रकार अनुमान आदि से भी। (वस्तुतः) अन्य प्रकार से प्रत्यक्ष से बोध होता है इन्द्रिय से सम्बद्ध अर्थ का, अनुमान से इन्द्रिय से असम्बद्ध अर्थ का, उपमान से संज्ञा और संज्ञी के संबन्ध का बोध (प्रतिपत्ति) होता है और आगम से शब्द-निर्देश के साथ। इसके अतिरक्ति (च) दूसरे विषय में व्यवस्था भी देखी जाने से—और, सभी विषयों में संप्लव नहीं होता अतएव (दूसरे प्रमाण द्वारा अर्थ-बोध की) व्यर्थता नहीं होती। इसलिये यह निश्चित हो गया कि 'तसि' (अत्यय) का प्रयोग (वचनम्) एकवचन, द्विवचन तथा बहुवचन एवं प्रथमा आदि विभक्तियों की व्याप्ति का बोध कराने के लिये है।

प्रमाण के स्वरूप का विचार (अवधारणम्) करना है: (प्रक्रन) प्रमाण का प्रमाणपन क्या है ? और, प्रमाण (इस शब्द) से क्या कहा जाता है ? (उत्तर) (यथार्थ) ज्ञान का हेतु प्रमाण है और उसका भाव (उपलब्धिहेतुत्वम्) प्रमाणपन है। जो (अर्थ-वत्) ज्ञान का निमित्त होता है वह प्रमाण होता है। (शङ्का) यदि कहो कि (प्रमाण-भिन्न में भी) समान होने से यह लक्षण (ठीक) नहीं—यदि यथार्थ ज्ञान का निमित्त (ही) प्रमाण है तो ज्ञान का निमित्त होने से प्रमाता और प्रमेय भी प्रमाण होने लगेंगे अथवा कोई भेद (विशेष) बतलाना होगा। (समाधान) यह भेद है; प्रमाण में

2-2-5

न्यायवात्तिकम्

विशे त्रः; प्रमागे प्रमातृष्रमेययोक्चिरितार्थंत्वात् प्रमाणे प्रमाता प्रमेयं च चिरितार्थम्, अ-चिरितार्थं तु प्रमाणमः, अतस्तदेवोपलिब्धसाधनिमित । अकरणा प्रमाणोत्पितिरिति चेत्; न, इन्द्रियार्थसिन्तिकर्षस्य करणभावात्—यदि प्रमातृष्रमेयाभ्यां प्रमाणं जन्यते, अकरणा तिह प्रमाणोत्पितः प्राप्नोति; न इन्द्रियार्थसिन्तिकर्षस्य करणभावात्, नाकरणा प्रमाणो-त्पितः—प्रमाणोत्पत्तािविद्वियार्थसिन्तिकर्षम् अपेक्षमाणाभ्यां प्रमातृष्रमेयाभ्यां प्रमाणं जन्यत इति ना करणप्रमाणोत्पत्तिप्रसङ्गः । यदि तिह प्रमाणोत्पत्ताविन्द्रियार्थसिनिकर्षम-पेक्षेते प्रमातृप्रमेये, अथ तिह इन्द्रियार्थसिनिकर्षोत्पत्ती विभवेक्षेते इति ? तिस्मन्नपीन्द्र-यिसत्यनादिः कर्नृकरणभावः । यद्यत् पश्चाद् भवित तत्तत् पूर्वमाविनम् अपेक्षत इत्यनादिः कर्नृकरणभावो द्रष्टव्य इति ।

प्रमाता और प्रमेय का कार्य समाप्त हो जाने से (चरितार्थत्वात्)-प्रमाण में प्रमाता और प्रमेय का कार्य समाप्त हो जाता है, किन्तु (उनमें) प्रमाण का कार्य समाप्त नहीं होता (अचरितार्थम); इसलिये वही (यथार्थ) ज्ञान का साधन है। (शङ्का-समाधान) यदि कहो कि (इस प्रकार) प्रमाण (यथार्थ ज्ञान) की उत्पत्ति विना करण के होगी, तो ठीक नहीं, इन्द्रियार्थसिक्षकर्ष के करण होने से। (शङ्का की व्याख्या) यदि प्रमाता और प्रमेय के द्वारा प्रमाण उत्पन्न होता है तो प्रमाण की उत्पत्ति विना करण के प्राप्त होती है। (समाधान की व्याख्या) यह ठीक नहीं; क्योंकि इन्द्रिय और अर्थ का सन्नि-कर्ष करण होता है अतः प्रमाण की उत्पत्ति विना करण के नहीं होती। जब प्रमाण की उत्पत्ति में इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष की अपेक्षा करने वाले प्रमाता और प्रमेय के द्वारा प्रमाण को उत्पन्न किया जाता है तब प्रमाण की उत्पत्ति विना करण के होती है, यह प्रसङ्ग नहीं आता । (प्रश्न) यदि प्रमाता और प्रमेय प्रमाण की उत्पत्ति में इन्द्रिय और अर्थ के सिन्नकर्ष की अपेक्षा करते हैं तव तो इन्द्रिय तया अर्थ के सिन्नकर्ष की उत्पत्ति में किसकी अपेक्षा करते हैं ? (उत्तर) उसमें भी इन्द्रिय की (अपेक्षा करते हैं) अतः कर्तृत्व तथा करणत्व अनादि हैं, जो जो पीछे होता है वह वह पहले होने वाले की अपेक्षा करता है, इस प्रकार कर्त्तृत्व और करणत्व को अनादि समझना चाहिये।

अन्यथा तदिधगते:—अन्य प्रकार से उस (ज्ञात विषय) का ज्ञान होने के कारण । प्रत्यक्ष जािंद से कैसे एक ही विषय का भिन्न प्रकार मे ज्ञान होता हैं , यह वािंतिक में आगे दिखलाया गया है। अवधारणम्—अवधार्यतेऽनेनेत्यवधारणं विचारः, टी० ३४।

प्रमाणे प्रमातृप्रमेयोश्चिरितार्थत्वात्—सभी कर्ताओं का ब्यापार करण के विषय में होता है। उनका ब्यापार साक्षात् फल में नहीं होता। करण दो प्रकार का होता है, सिद्ध तथा असिद्ध; ज्ञान की उत्पत्ति में इन्द्रिय सिद्ध करण है, इन्द्रिय तथा अर्थ का सन्तिक पं असिद्ध है। इस सन्तिक पं आदि को कराने वाला कर्ता करण (प्रमाण) में ही चिरतार्थ हो जाता है। करण जो इन्द्रिय आदि तथा सन्तिक पं आदि हैं वे ज्ञान रूप फल के अतिरिक्त अन्यत्न चिरतार्थ नहीं। प्रमेय तो प्रत्यक्ष के

१२]

[शास्त्रस्योदेशः

न्यायवात्तिकम्

यदि प्रमातृप्रमेयाभ्यां सद्भ्यां प्रमाणं जन्यते ततः प्रमाणमन्तरेण प्रमातृप्रमेयभावस्यासिद्धत्वात् प्रमातृत्वं प्रमेयत्वं चातुपपन्नमिति। कथम् ? प्रमाणमिति यथा
कारकशब्दोऽयं तथा प्रमेयं प्रमातेति च। न च कारकशब्दाः किरासम्बन्धनन्तरेणात्मानं लभन्त इति। न च द्रव्यमात्रं कारकत्, न च किरामात्रमिति। कारकशब्दो
हि प्रवर्तमानः किरासाधने कियाविशेषपुक्ते प्रवर्तते। प्रमातृप्रमेयशब्दौ च कारकशब्दौ तावन्तरेण किरां न प्रवर्तेथातामिति। न, पाचकादिशब्दवत् त्रिकालविषयत्वात्—न बूमः कियासम्बन्धनैव कारकशब्दाः प्रवर्तन्त इति। अपि तु त्रिकालविषया
एते। यदि कियासम्बन्धनिमिता एव स्युः, न कियामन्तरेण प्रवर्तरन्। कियासम्बन्धमन्तरेण तु प्रवर्तन्ते। कि पुर्नानमित्तम् ? सामध्यम्। तच्च त्रिष्विष कालेष्वस्तीति।
तस्मादुपपन्नं प्रमातृत्रमेयाभ्यां प्रमाणं जन्यते, तदुपलब्धिसाधनमिति।

(आक्षेप) यदि प्रमाता और प्रमेय के द्वारा विद्यमान होकर (सद्म्याम्) प्रमाण को उत्पन्न किया जाता है तो प्रमाण के विना प्रमाता होना और प्रमेय होना ही नहीं बन सकता। कैसे? जिस प्रकार प्रमाण यह कारक शब्द अपने रूप को (आत्मानम्) प्राप्त नहीं करते। द्रव्यमात्र कारक है नहीं और न ही कियामात्र । वस्तुतः कारक शब्द प्रवृत्त होता हुआ कियाविशेष से युक्त किया के साधन में प्रवृत्त होता है। और, प्रमाता तथा प्रमेय (दोनों) शब्द कारक शब्द हैं अतः किया के चिना प्रवृत्त नहीं होंगे। [परिहार] यह ठीक नहीं क्योंकि पाचक आदि शब्द के समान इन (कारक शब्दों के प्रयोग) का विषय तीनों काल हैं—हम यह नहीं कहते कि कारक शब्द किया के सम्बन्ध से ही प्रवृत्त होते हैं। किन्तु इनका विषय तीनों काल हैं। यदि ये किया के सम्बन्ध के निमित्त से ही होवें तो किया के विना न प्रवृत्त हुआ करें। किया के सम्बन्ध के विना भी (तु) ये प्रवृत्त होते हैं। (प्रश्न) फिर (इनकी प्रवृत्त का) क्या निमित्त है ? (उत्तर) सामर्थ्य (शक्ति)। वह (सामर्थ्य) तीनों ही कालों में है। इसलिये यह युक्तियुक्त हो (उपपन्न) गया कि प्रमाता और प्रमेय के द्वारा प्रमाण उत्पन्न होता हैं वह (यथार्थ) ज्ञान का साधन है।

अतिरिक्त स्थलों पर ज्ञान का निमित्त ही नहीं होता । प्रत्यक्ष में भी केवल इन्द्रिय-सिन्निकर्ष में ही उसका उपयोग है। वह साक्षात् रूप से प्रमा (फल) का हेतु नही होता। इस प्रकार प्रमा तथा प्रमाय बरितार्थ होते हैं प्रमाण नहीं, वहीं फल का हेतु होता है।

प्रमाणोत्पत्तिः प्रमाण = यथार्थ ज्ञान 'यदा ज्ञानं प्रमाणं तथा ज्ञानस्य = प्रमाणस्य उत्पत्तावित्यर्थः दि ३६।

कियासाधने कियाविशेषयुक्ते प्रवतंने वाचस्पति मिश्र के अनुसार इसका अर्थ है,जो प्रधान किया का हेतु हो तथा सहायक किया विशेष से युक्त हो उसे कारक कहा जाता है,प्रधान-कियासाधने हेतौ अवान्तरिकयाविशेषयुक्ते कारकशब्दः प्रवर्तते, टी०, ३७। उदाहरणार्थं काष्ठ के कटने (छिदा) में करती (पुरुष) कर्म (काष्ठ) तथा करण (परशु) कारक हैं। यहां प्रधान किया है

न्यायबात्तिकम्

साधकतमत्वाद् वा न प्रसङ्गः—न चायं प्रसङ्गोऽस्ति प्रमाता च प्रमेयं चोपलविधिनिमित्तत्वात् प्रमाणं प्रसज्यत इति । कस्मात् ? साधकतमत्वात् । साधकतमं
प्रमाणम्, न तु प्रमातृप्रमेथे । कः खलु साधकतमार्थः ? साधकतमं प्रमाणिमिति
केवलं वाक्यमिभिधीयते नार्थ इति । भावाभावयोस्तद्वत्ता—न प्रमातिर प्रमेथे वा ऽ
सिति प्रमा भविति, सिति तु भविति । न पुनः सिति भवत्येव । प्रमाणे तु सिति भवन्ती
भवत्येव । स चायमितिशयः साधकतमत्वमुच्यते ।

यद्वान् वा प्रमिमीते सोऽतिशयः। किंबान् प्रसिमीते ? प्रमाणवान् — अयं

अथवा साधकतम होने से यह अनिष्ट की प्राप्ति (प्रसङ्ग) नहीं होती—और यह प्रसङ्ग नहीं होता कि प्रमाता और प्रमेय भी उपलब्धि के निमित्त होने से प्रमाण होने लगेंगे। क्यों ? साधकतम होने से, जो विशिष्ट साधक (साधकतम) है वह प्रमाण होता है, प्रमाता और प्रमेय नहीं, क्योंकि वे साधकतम नहीं हैं'। (प्रश्न) तव (खल्) 'साधकतम' शब्द का क्या अर्थ है ? साधकतम प्रमाण होता है' केवल यह वाक्य कहा गया है इसका अर्थ तो नहीं (वतलाया गया)। (उत्तर) प्रमाण के होने (भाव) और नहोंने (अभाव) पर प्रमा का होना तथा नहोंना (तद्वत्ता) [साधकतम का अर्थ है]— प्रमाता अथवा प्रमेय के नहोंने पर प्रमा नहीं होती उनके होने पर ही (तु) होती है, किन्तु उनके होने पर नियम से नहीं होती (भवत्येव)। प्रमाण के होने पर तो होने वाली प्रमा (भवन्ती) होती ही है। और, वह यह अतिशय (विशेषता) साधकतमत्व कहा जाता है।

(२) अथवा जिससे युक्त हुआ (यद्वान्) (प्रमाता) प्रमिति करता है वह अति-शय है। किससे युक्त हुआ प्रमिति करता है ? प्रमाण से युक्त हुआ—यह (प्रमाता)

िछदा (कटना)। ये सभी उसके हेतु हैं, इनमें अपनी-अपनी विशेष किया भी रहती है जो छिदा में सहायक है; कर्त्ता में परशु को उठाने गिराने की किया है, काष्ठ में छिदा के अनुकूल संयोग है जिससे द्वैधीभाव को प्राप्त होता है तथा परशु में उठने तथा गिरने की किया होती है। अन्तरेण कियाम—प्रधान किया के विना, प्रधानिकयामित्यर्थ: टी० ३७।

साधकतमत्वाद् वा—यह प्रमाण का प्रमाता तथा प्रमेय से भेद दिखलाने वाला अन्य उत्तर है। 'तमप्' प्रत्यय बहुतों में से एक की विशेषता (अतिशय) को प्रकट करता है अतिशायने तमंबिष्टनौ४.३.४४) प्रमाण में गमाता आदि की अपेक्षा क्या अतिशय है, इसे दिखलाने के लिये आगे हेतु दिये गय है।

तद्वत्ता-प्रमाण के होने या न होने पर प्रमा का होना या न होना यह साधकतम का तात्पर्य है; प्रमायाःकार्यस्य भावाभाववत्ता साधकतमार्थः ; टी० ३७।

अतिशय: विशेषता, प्रकर्ष। 'साधकतम' शब्द में तमप् प्रत्यय का अर्थ अतिशय है, जैसा कि उपर दिखलाया जा चुका है। यद्यपि प्रमाता, प्रमेय तथा प्रमाण तीनों ही प्रमा के साधक हैं तथापि प्रमाण साधकतम है, अतिशयविशिष्ट है। क्यों ? इसके लिये सात कारण प्रस्तुत किये गये हैं जिनमें से एक ऊपर दिया जा चुका है, छह कारण प्रस्तुत अवतरण में दिखलाये गये हैं। यह वात्तिक प्रमाण का अतिशय दिखलाता है।

न्यायवात्तिकम्

प्रमाणे सित प्रिव्मिति, नासतीति । सतीर्वा ऽ कर्तृत्वं यदसादात्—यस्य चाभावात् प्रमातृप्रमेये न प्रमां कुरुतः सो ऽ तिरायः । संयोगवच्चरमभाविता वा—यथा वा संयोगः परचाद्भावी द्रव्यशक्तिर्भवित तथा प्रमाणं चरमभावि प्रमातृप्रमेययोः प्रमाशक्तिभैवतीति परचाद्भावोऽतिशयः । प्रतिपत्ते रानन्तर्यं वा—यद्वा प्रमाणानन्तरं प्रतिपत्ते र्जन्म, स चायमितिशय इति । असाधारणकारणता वा—प्रमाता तावत् साधारणं कारणं प्रत्यक्षादिज्ञानानाम् । सर्वप्रतिपत्तीनां प्रमेयमिति, अशेषपुरुषसाधारणत्वात् तथाभूतम् । प्रमाणं त्वसाधारणकारणत्वात् प्रधानम् । प्राधान्याच्च साधकतम्त्वेनाभिष्ठीयत इति । प्रमाकारणसंयोगिविशेषकत्वं वा—यो वा प्रमाकारणं संयोगः, तस्य प्रमाणमनुग्रहे वर्तमानमितशयशब्दवाच्यम् ।

अर्थग्रहणं प्रमाणविषयप्रतिपत्तिप्रतिषेधार्थम् — यतो न प्रमाणविषया प्रतिपत्तिः प्रमाण के होने पर प्रमिति करता है, न होने पर नहीं ((३) अथवा जिसके अभाव से विद्यमानों (प्रमाता तथा प्रमेय) का (प्रमा के प्रति) कर्त् भाव नहीं होता—जिसके अभाव से प्रमाता और प्रमेय (दोनों) प्रमिति (उत्पन्न) नहीं करते वह अतिशय है। (४)अथवा संयोग के समान अन्त में होना (अतिशय है)—जिस प्रकार संयोग अन्त में होने वाली द्रव्य की शक्ति होती है (तन्तुओं का संयोग होने पर पट की उत्पक्ति हो जाती है) उसी प्रकार प्रमाण अन्त में होने वाली प्रमाता और प्रमेय की प्रमा शक्ति है, अन्त में होना ही अतिशय है। (५) अथवा प्रमा (प्रतिपत्तेः) का उसके अनन्तर हो जाना (आनन्तर्यम्) अतिशय है-अथवा प्रमाण के अनन्तर प्रमिति की उत्पत्ति होती है, वह यह (प्रमाण का) अतिशय है। (६) अथवा असाधारण कारण होना (प्रमाण का) अतिशय है—प्रमाता तो प्रत्यक्ष आदि ज्ञानों का साधारण कारण है, सब ज्ञानों का प्रमेय भी साधारण कारण है (तथाभूतम्) क्योंकि वह सब (अशेष) पुरुषों के लिये साधारण है । किन्तु प्रमाण तो असाधारण होने से प्रमुख है और प्रमुख होने से साधकतम कहा जाता है, (७) अथवा प्रमा का कारण होने वाले संयोग में विशेषता उत्पन्न करना (अतिशय है)— या जो प्रमाका (असमवायी) कारण संयोग है उसका उपकार (अनुग्रह) करने वाला प्रमाण (ही) अतिशय शब्द का वाच्य होता है।

(अर्थप्रतिपत्ती में) अर्थ शब्द का ग्रहण प्रमाण के (प्रमाणिविषयक) ज्ञान का प्रतिपेध करने के लिये हैं—क्योंकि प्रमाण का ज्ञान पुरुष को कार्य करने में (इति-अर्थग्रहणम्—अर्थ शब्द का प्रयोग। यहां इसके दो प्रयोजन दिखलाये गये हैं:—(१)यि अर्थ शब्द का ग्रहण न किया जाता तो प्रमाण का ज्ञान (प्रमाणिविषयक ज्ञान) भी प्रवृत्ति का कारण मान लिया जाता; किन्तु उसे प्रवृत्ति का कारण मानना अभीष्ट नहीं; (१) उपेक्षणीय वस्तु का बोधक प्रमाण प्रवृत्ति का हेतु नहीं होता, हेय तथा उपादेय वस्तु के ज्ञान से ही प्रवृत्ति होती हैं जो अर्थ शब्द से प्रकट होते हैं; अर्थ्यंत इत्यर्थः, तोयकण्टकादिः टी० ३६। तथा अर्थन्यः अर्थनीयता, अर्थ वह है जिसकी अर्थना की जाती है

प्रमाणग्रहणम् प्रमाण शब्द के ग्रहण के दो प्रयोजन दिये गये हैं (१) प्रमाण विशेष का ज्ञान तथा

ात्

1-

Ý-

ì-

णं

हे

7:

से

व

П

Ĥ,

न्यायवात्तिकम

पुरुषिमितिकर्तव्यतायां प्रयोजयित, कि त्वर्शस्य तथाभाविवयया । यदायमर्थस्य तथाभावं प्रतिपद्यते, अथ प्रवर्त । इति । उपेक्षणीयवस्तुप्रतिपेधार्थं वा—न ह्यु पेक्षणीयवस्तुविषया प्रतिपत्तिः पुरुषिमितिकर्त्तं व्यतायां प्रयोजयित, कि त्वर्थस्य सुख-दुःख हेनुभावविषया—यदायमर्थस्य सुख-दुःखहेनुभावं प्रतिपद्यते, अथ प्रवर्तत इति । प्रमाणाग्रहणं गम्यमानत्वादिति चेत्; न, प्रमाणिवशेषज्ञापनार्थत्वात् । अर्थप्रतिपत्तौ प्रवृत्तिसामर्थ्याद् दत्यभिधीयमाने गम्यत एवंतत् प्रमाणत इति । न हि काचिदर्थप्रतिपत्तिः प्रमाणमन्तरेण संभवतीति । तच्य नैवम्, प्रमाणिवशेषज्ञापनार्थत्वात्—अस्त्ययं प्रयाणमन्तरेण संभवतीति । तच्य नैवम्, प्रमाणिवशेषज्ञापनार्थत्वात्—अस्त्ययं प्रयाणकाव्यः प्रमाणे वर्तमानः, अस्ति च प्रमाणसामान्यात् प्रमाणाभासे ऽ पीति, तद् येह प्रमाणेन प्रतिपत्तिः, सा प्रवृत्तिसामर्थ्यं प्रतिपादयातं प्रमाणम्, नेतरदिति'। न च प्रमाणग्रहणसन्तरेण निमित्तवञ्चस्यभिधानं लभ्यते । तेन च प्रयोजनम् । अतस्व प्रमाणग्रहणं कृतिमितः ।

कर्त्तव्यतायाम् = अटुष्ठाने टी०) नहीं प्रवृत्त करता; किन्तु किसी अर्थ के अर्थनीय होने (तथाभाव) का ज्ञान; जब यह (व्यक्ति) अर्थ के अर्थनीय होने (उपादेय या हेय होने) को जान लेता है तब प्रवृत्त हो जाता है। (दूसरे) अथवा उपेक्षा योग्य वस्तु में (प्रवृत्ति का) प्रतिषेध करने के लिये (अर्थ शब्द का ग्रहण किया गया है)-वस्तुतः (हि) उपेक्षा-योग्य वस्तु का ज्ञान पुरुष को कार्य करने में प्रवृत्त नहीं करता; किन्तू पदार्थ के सुख का हेतु या दु:ख का हेतु होने का ज्ञान-जब यह (व्यक्ति) पदार्थ को सुख या दु:ख का हेतु जान लेता है तय प्रवृत्त होता है। [शङ्का-समाधान] प्रमाण शब्द का ग्ररुण न करना चाहिये; क्योंकि वह (प्रमाण) तो विना कहे ही (अर्थ शब्द के द्वारा) प्रतीत हो रहा है (गम्यमानत्वात्): यदि ऐसा कहो तो ठीक नहीं; प्रमाग विशेष का बोध कराने के लिये हाने से; (शङ्का की व्याख्या) 'अर्थप्रतिपत्तौ प्रवृत्तिसा-मर्थ्यात्' इतना कहा जाने पर प्रमाण से (प्रमाणतः) यह समझ ही लिया जाता है (गम्यत एव) क्योंकि (हि) कोई (यथार्थ) ज्ञान प्रमाण के विना हो नहीं सकता। (समाधान की व्याख्या) और वह ऐसा नहीं है; क्योंकि प्रमाणविशेष का बोध कराने के लिये यह है—यह प्रमाण शब्द प्रमाण के लिये होता है और प्रमाण की समानता (ज्ञान का राधन होना) से प्रमाणाभास के लिये भी। तब जो यहाँ प्रमाण से ज्ञान होता है वह (प्रतिपत्ति) प्रमाण को प्रवृत्ति-सामर्थ्य प्रदान करता है, अन्य नहीं। किञ्च, प्रमाण शब्द के विना निमित्त-पञ्चमी का कथन नहीं प्राप्त <mark>होता और</mark> उससे प्रयोजन है। इसलिये प्रमाण शब्द का ग्रहण किया गया है।

⁽२) निमित्तपञ्चमी का अभिधान ।
सा प्रभाणम् — सा प्रमाणं प्रवृत्तिसामध्यं प्रतिपादयित, यह अन्वय है । यहां 'सा प्रयोजक कर्ता और 'प्रमाण प्रयोज्यकर्ता' है, प्रमाण से जो ज्ञान (प्रतिपत्ति) होता है वह प्रमाण को प्रवृत्ति में सफलता प्रदान करता है।

न्यायवात्तिकम्

अर्थं ग्रहणेन सुखदुः खतद्धेतुत्वेन सर्वसंग्रहोऽर्ध्यमानत्वाच्च—सर्वः प्रमाणादिरर्थः सुखदुः खहेतुः सर्वश्चार्ध्यते, अर्थ्यमानत्वादर्थं इति । न, व्याघाताद्, अविवक्षितत्वाच्च सर्वः, प्रमाणादिरर्थः सुखदुः खहेतुरिति बुवतो हेयादिभेदाच् चत्वार्यर्थं पदानोति व्याह-न्येत । न च प्रमाणादिहानं शक्यं कर्तुम्, न च प्रमाणादिहानं विवक्षितम् । तस्मादप-व्याद्ध्यानमेतत् । कं तु सुखदुः खत्वेन तद्धेतुत्वेन च यावतां संग्रहस्तेऽभिद्यीयन्तेऽधिकारात् न संविद्ये ग्रहणम्, अनिधि हारात् अकर्मत्वाच्च—न संविद्धेया, असुखदुः खत्वात् अतद्धेतुत्वाच्च । नाप्यर्थ्यतेऽफलत्वात् ।

[एकदेशी की व्याख्या] अर्थ शब्द के ग्रहण से सुख-दुःख तथा उसका हेतु होने के कारण सब (पदार्थों) का संग्रह हो जाता है और अर्थना (चाहना) का विषय होने से भी—सभी प्रमाण आदि पदार्थ सुख तथा दुःख के हेतु हैं ओर सभी की अर्थना (चाह, कामना) की जाती है, जिसकी अर्थना की जाती है वह अर्थ है। [एकदेशी-व्याख्या का निराकरण] यह ठीक नहीं, (१) व्याघात होने से तथा (२) विवक्षित न होने से—सब प्रमाण आदि पदार्थ सुख-दुःख के हेतु होते हैं, यह कहते हुए 'हेय' आदि के भेद से चार प्रकार के अर्थ होते हैं, इस कथन का व्याघात होगा। किञ्च, प्रमाण आदि का त्याग किया भी नहीं जा सकता और न ही प्रमाण आदि का त्याग (हान) (सूत्रकार या भाष्यकार को) विवक्षित है। इसलिये यह व्याख्या अयुक्त है (अपव्याख्यान्म्)। वस्तुतः सुख-दुःख रूप से और उनके हेतु रूप से जिनका संग्रह होता है समर्थ होने से (अधिकारात्) उन्हें (अर्थ शब्द से) कहा गया है। सामर्थ्य न होने से अनुभूति (संविद्) का ग्रहण नहीं होता, कर्म न होने के कारण भी—अनुभूति (संवित्) त्याग के योग्य (हेय) नहीं है; क्योंकि वह न सुख है न दुःख है और न ही इनका हेतु होती है, उसकी अर्थ ना भी नहीं की जाती; क्योंकि वह फल रूप नहीं होती (?)

च्याघात । द्—भाष्य में आगे कहा गया है 'हेयं तस्य निर्वर्तकं हानमात्यन्तिकं तस्योपायो ऽधिग तथ इत्येतानि खलु चत्वायं थंपदानि सम्यन्बुद्ध्वा निः श्रेयसमधिगच्छिति' (सूत्र १.१.१ भाष्य) यदि अर्थ शब्द से सब का संग्रह हो जायेगा तो उसका व्याघात होगा; क्यों कि सब ही सुख-दुःख या उनके हेंद्र के रूप में होने से हेय होंगे। प्रमाणशास्त्र और अपवर्गभी उपादेय न रहेंगे।

अविविक्षितत्वाच्च—यहां 'च' (और) से प्रमाण आदि का त्याग नहीं किया जा सकता इस हेतु का समुच्चय किया गया है, च शब्दसमुच्चितमशक्यहानत्वं हेत्वन्तरमादशेयित—न च प्रमाणादिहानिर्मित, टी॰ ३६।

यावतां संग्रह: सुख-दुःख तथा उनके हेतु रूप में जितनों का संग्रह हो सकता है।

अधिकारात —योग्यता, सामर्थ्य से, प्रवृत्तिसामर्थ्याधानयोग्यत्वमधिकारः, टी०४०। अधिकारी योग्यता । सा चात्र प्रकृतत्वात् प्रवृत्ति प्रतीत्यर्थः, परिणुद्धि १९८ ;

न संविदः सबका संग्रह नहीं होता जैसे योग्यता न होने से तथा अर्थना का कर्म च होने से अनुभूति (संविद्) का संग्रह नहीं होता।

१. अर्थग्रहणम्, कः; अर्थग्रहणेन, ख।

2.2.2

₹-

T-

त्

तु

T

Ţ

1 30

न्यायभाष्यम्

सीऽयं प्रमाणार्थोऽपरिसंख्येयः, प्राणभृर्भेदस्यापरिसंख्येयस्वात् । अर्थवित च प्रमाणे प्रयाता प्रमेषं प्रमितिरित्यर्थवित भवन्ति । कस्मात् ? अन्यतमापायेऽर्थस्यानुपपत्तेः । तत्र यस्येप्साजिहासाप्रयुक्तस्य प्रवृत्तिः स प्रभाता । स येनार्थं प्रमिणोति विजानाति तत्प्रमाणम् । योऽर्थः प्रमीयते ज्ञायते तत्प्रमेयम् । यत् तदर्थविज्ञानं सा प्रमितिरिति । चतसृषु चैवं विधासु तत्त्वं परिसमाण्यते ।

न्यायवात्तिकम्

सोऽयं प्रमाणार्थोऽपरिसंख्येयः । इयानयं प्रमाणविषय इति न परिसंख्यातुं शक्यम्, आनन्त्यात् । न, उभयस्य परिसंख्यातत्वात्—एतावानयं प्रमाणार्थो यवुत सुख-दुःखे तद्घेतुश्चेति । तच्चोभयं परिसंख्यातम् । अतो न युक्तमानन्त्यान्न परिसंख्यायत इति । प्राणसृद्भेदस्य चापरिसंख्येयत्वाद्, अपरिसंख्येयः प्रमाणार्थं इत्यसंबद्धमुक्तमिति ।

वह-यह प्रमाण का अर्थ असंख्य होता है; क्योंकि प्राणधारियों के भेद असंख्य है। और प्रमाण के सार्थ क होने पर (अर्थ वित) प्रमाता, प्रमेय तथा प्रमिति सार्थ क होते हैं। क्यों ? क्योंकि इनमें से एक (अन्यतम) के न होने पर (अपाये) अर्थ की सिद्धि नहीं होती (अनुपपत्ते:)। उनमें (तत्र) ईप्सा और जिहासा से युक्त होने वाले जिस व्यक्ति की प्रवृत्ति होती है वह प्रमाता है। वह जिससे अर्थ का यथार्थ ज्ञान करता है (प्रमिणोति स्भनी-भांति जानता है) वह प्रमाण है। जो अर्थ यथार्थ रूप में जाना जाता है (प्रभीयते स्भनी-भांति जाना जाता है) वह प्रमेय है। जो उस अर्थ का ज्ञान है वह प्रमा है। और इन चारों वर्गों में (विधासु) तत्त्व समाप्त हो जाता है।

(एकदेशी-व्याख्या) वह यह प्रमाण का अर्थ असंख्य है, प्रमाण का विषय (=अर्थ) इतना ही है, यह गणना करना संभव नहीं है; वयोकि वह अनन्त है। [एकदेशी-व्याख्या का दोप] यह(ठीक) नहीं (न); दोनों का परिगणन कर दिये जाने से—इतना यह प्रमाण का विषय (अर्थ) है जो थे मुख और दुःख हैं और उनके हेतु हैं; और वे दोनों परिगणित कर दिये गये हैं। इसलिये यह कहना युक्तियुक्त नहीं कि अनन्त होने से उनकी गणना नहीं की जाती। और, प्राणधारियों के भेद के असंख्य होने से प्रमाणों का विषय (अर्थ) असंख्य है, यह भी असम्बद्ध कथन है। अतः

उभयस्य—सुख-दुःख और इनका हेतु । यद्यपि ये चार हो जाते हैं तथापि कार्य तथा कारणरूप में दो ही हैं, कार्यकारणाभ्यामुभयत्वमिति, टी० ४० ।

प्रमाणप्रयो प्रनर् अर्थ शब्द प्रयोजन के अर्थ में है, चन्दनादिविषयक प्रमाण का प्रयोजन सुख ही है, कण्डकादिविष क प्रमाण का प्रयोजन दुःख ही है, यह नियत नहीं किया जा सकता (न परिसाल्यान शब्द)। प्रमाण का प्रयोजन नियत नहीं, इस विषय में टीकाकार ने अनुमान प्रस्तुत किया है (जिल्डिक)।

न्यायवात्तिकम्

न, अर्थ शब्दस्य प्रयोजनवाचित्वात् । प्रमाणार्थोऽपरिसंख्येय इति, प्रमाणप्रयोजनमपरि-सख्येयमित्ययं वाक्यार्थः । कथम् ? स एवार्थः केषाञ्चित् सुखहेतुर्भवति, केषाञ्चित् दुःखहेतुरिति ।

अर्थवित च समये प्रमाणे, अर्थविन्त भवन्ति समयिनि इति । अन्यतमत्वार्थः साधकतमत्वार्थो द्रष्टव्यः प्रकरणात्—प्रकरणं हि चतुर्वगे प्रमाणं प्रधानिमिति वर्तते। यदि पुनर्यथाश्रुति वाक्यमर्थवत् स्यात् ? कि प्रमाणसामध्ये विणतं स्यात् । तस्माद् यथोक्तं न्याय्यमिति ।

प्रमाता स्वतन्त्रः । कि पुनः स्वातन्त्र्यम् ? कारकफ गोपभोक्तृत्वम् — यस्मात् कारकाणां फलेनायमभिसंबध्यते । तत्समवायो वा — यद् वाऽशेषकारकनिष्पाद्यायाः क्रियायाः पुरुष आश्रयो भवति । तत्प्रयोक्तृत्वम् इतराप्रयोज्यता वा — यद वा परिस्ट-सामर्थ्यानि कारकचकाणि प्रयुङ्क्ते, तैश्च न प्रयुज्यत इति । तत्त्वपरिसमाप्तः =

ऐसी व्याख्या ठीक नहीं। वस्तुतः यहाँ अर्थ शब्द प्रयोजन का वाचक है; प्रमाणार्थ अपरिसंख्येय है, इस वाक्य का अर्थ है प्रमाण का प्रयोजन असंख्य है। कैसे ? वही पदार्थ किन्हीं के सुख का हेतु होता है किन्हीं के दु:ख का हेतु।

'अर्थवित च' का अर्थ है सफल या सप्रयोजन होने पर (समर्थे) प्रमाण के सफल होने पर (प्रमाता आदि) सफल होते हैं (=समर्थानि=अर्थविन्त)। (अन्यत-मापाये इस भाष्य में) अन्यतम का अर्थ साधकतम (प्रमा का साधकतम=प्रमाण) जानना चाहिये; क्योंकि उसका प्रकरण है; प्रकरण यह है कि चतुर्वर्ग (प्रमाता, प्रमेय, प्रमिति और प्रमाण) में प्रमाण प्रधान है, किन्तु यदि शब्दों के अनुसार वाक्य का अर्थ किया जाये तो प्रमाण का क्या सामर्थ्य दिखलाया जायेगा। इसलिये जैसा (हमारे द्वारा) कहा गया है वही युक्तिसंगत (न्याय्यम्) है)

प्रमाता वह है जो स्वतन्त्र है। किन्तु स्वतन्त्रता क्या है? कारकों के फल का उपभोक्ता होना—क्योंकि कारकों के फल से यह (कर्ता) भली भाँति सम्बद्ध होता है। अथवा (कारकों की) किया का आश्रय होना (तत्समवायः = तस्याः समवायः) स्वतन्त्रता है—सब (अशेष) कारकों द्वारा की जाने वाली किया का चेतन (पुरुष) ही आश्रय होता है। अथवा उन (कारकों) का प्रयोजक होना दूसरे के द्वारा प्रयोज्य न होना (स्वतन्त्रता है)—या वह उन कारकचकों को प्रयुक्त करता है जिनका (कार्य की उत्पत्ति में) सामर्थ्य देखा जा चुका है (परिदृष्ट सामर्थ्य येषाम्) और उनके द्वारा प्रयुक्त नहीं होता। तत्त्वपरिसमाप्ति का अर्थ है काम में लाने (विनियोग) की योग्यता अन्यतमत्वार्थः—बहुतों में से एक के लिये 'अन्यतम' शब्द का प्रयोग होता है, किन्तु यहां प्रमाता आदि चारों में प्रमाण की प्रधानता दिखलाने का प्रकरण है अतः अन्यतम का अर्थ है—साधकतम; प्रकरणादि से सामान्य शब्द भी विशेष अर्थ का वाचक हो जाता है। यदि यहां 'अन्यतम' शब्द का यथाश्रुत अर्थ लिया जाये तो प्रमाण की प्रधानता न दिखाई जा सकेगी।

प्रमाता स्वतन्त्र:—वाचस्पति मिश्र के अनुसार भाष्यकार ने 'प्रमाता' को उपलक्षित किया है, जिसते

8-8-8]

ग:

₹-

बद

i:

ाद्

ात्

11:

ਰ-

र्थ

के

T)

Τ,

य

T

ल

T

न

र्य

T

M

ţİ

त

38]

न्यायभाष्यम्

कि पुनस्तत्त्वम् ? सतश्च सद्भावोऽसतश्चासद्भाव इति सत् सदिति गृहयमाणं यथाभूतमिवपरीतं तत्त्वं भवति । असच्च, असिविति गृहयमाणं यथाभूतमिवपरीतं तत्त्वं भवति ।

न्यायवात्तिकम

विनियोगयोग्यता, उपेक्ष्यता वा । याऽसाविवसंवादिता साऽवधारितस्यार्थस्य विनियोग-योग्यता । सुखसाधनं वा दुःखसाधनं वाऽयमर्थं इति ज्ञात्वा विनियोगः ? कसमाप्तिः तत्त्राप्तिस्तत्त्रतिषेधश्च, यद् वा न सुखसाधनं न दुःखसाधनं वेत्यूपेक्षेति ।

कि पुनस्तत् ? सदसती तत् । तस्य भावस्तत्त्विमिति । अत्र तद् वाच्यं यस्य भाव इति । सदसती तत्, प्रमाणिविषयत्वेनाधिकारात्—सदसती प्रमाणस्य विषया-वित्यधिकृतम् । तस्मात् सदसती तिविति । तद्भावः सदसत्त्वम्, सदसतोः प्रमाण-विषयता तत्-प्रतिषेधश्च । तयोः खलु सदसतोर्भावो द्विरूपः, विधीयमानः प्रतिषिध्य-

फिर तत्त्व क्या है ? सत् का सत् रूप में ज्ञात होना (सद्भावः) और असत् का असत् रूप में ज्ञात होना—'सत्' तो यह सत् है, इस प्रकार गृहीत होकर अपने रूप में होता हुआ उससे विपरीत न होकर तत्त्व होता हैं और 'असत्' यह असत् है, इस प्रकार गृहीत होकर अपने रूप में होता हुआ उससे विपरीत न होकर तत्त्व होता है।

या उपेक्षा की योग्यता। जो यह उपर्दाशत अर्थ को प्राप्त कराने का सामर्थ्य (अवि-संवादिता) है वह (ही) निश्चित अर्थ के विनियोग की योग्यता है, यह अर्थ सुख का साधन है या दुःख का साधन है, ऐसा जानकर उसे काम में लिया जाता है (विनि-योगः)। समाप्ति है उस (वस्तु) को प्राप्त कर लेना या उसका निषेध कर देना, अथवा न (वह) सुख का साधन है, न दुःख का साधन, इस प्रकार उपेक्षा कर देना।

(तत् का भाव तत्त्व है) फिर 'तत्' क्या है ? सत् (भाव) तथा असत् (अभाव) ही तत् (वह) है। उसका भाव तत्त्व है। यहां उस 'तत्' (वह) को वतलाना होगा जिसका भाव (तत्त्व) है। भाव (सत्) तथा अभाव (असत्) ही तत् है, प्रमाण का विग्य होने से उसका प्रकरण (अधिकार) होने के कारण—सत् और असत् प्रमाण के विषय हैं' यह प्रकरण है अतः सत् और असत् ही 'तत्' है। उन सत् और असत् का भाव सत्त्व और असत्त्व है, सत् तथा असत् प्रमाण के विषय होते हैं और उनका प्रतिषेध भी। वस्तुतः (खलु) सत् और असत् का भाव दो रूप में होता है (एक) विधान किया गया और (दूसरा) प्रतिषेध किया गया। जिसका एक स्थल पर विधान

नहीं किया। ईप्सा-जिहासा में या प्रवृत्ति में स्वतन्त्र होना प्रमाता का लक्षण नहीं है। अपि तु प्रमा में स्वतन्त्र होना है। ईप्सा आदि में स्वतन्त्रता से पूर्वकाल में होने वाली प्रमाविषयक स्वतन्त्रता दिखलाई गई है। द्र० टी० ४१।

कारकफलोपभोक्तृत्वम् — यह भी कर्ता का उपलक्षण है जो कर्तृत्व के उत्तर काल में होता है। टी० ४२।

१. सा समाप्तिः, कः, समाप्तिः, ख।

न्यायवात्तिकम्

मानक्त । यदेकत्र विधीयते तदन्यत्र प्रतिषिघ्यते, तद्यथा गन्धवती पृथिवी, अगन्धा आप इति । प्रमाणविषयत्वात् सदसतोरिवधेषप्रसङ्ग इति चेत्; न, अनेकान्तात्, तत्र भनेदेवा बुद्धिर्यदि प्रमाणेन सदसती गन्धेते ततः प्रमाणिवषयत्त्रात् उमयोरिविधेषः प्राप्त इति । तच्च न, अनेकान्तात् — सर्विधिदं गोघटादि ब्रव्यजातं प्रमाणगम्यं भेदवच्च, तस्मादनेकान्तोऽयमिति । स्वतन्त्रपरतन्त्रोपलिधिकारणभावाच्य विशेषः — सत् खलु प्रमाणस्यानम्बनं स्वतन्त्रं भवति । असत् नु परतन्त्रं प्रतिवेधमुखेन प्रतियद्यते ।

किया जाता है उसका अन्य स्थल पर प्रतिजेब हो जाता है; जैसे पृथिवी गन्धवाली है (यहां गन्धवत्त्व का विधान किया गया है) जल गन्धरहित है। (यहां गन्धवत्त्व का निपेध हो जाता है)। [शङ्का-समाधान] सन् और असन् दोनों के प्रमाण का विषय होने से दोनों में समानता (अविशेष) होने लगेगी, यदि ऐसा कहो तो ठीक नहीं अनेकान्त होने से। (शङ्का की व्याख्या) यह विचार (वृद्धि) हो सकता है, यदि प्रमाण के द्वारा भाव और अभाव दोनों का बोध होता है तो प्रमाण का विषय होने के कारण दोनों का अभेद प्राप्त होता है। (समाधान की व्याख्या) और, वह ठीक नहीं, क्योंकि सव्यभिचारी (अनैकान्तिक) है; यह सभी गौ तथा घट आदि द्रव्य प्रमाण से जाने जाते हैं और इनमें भेद है, इसलिये यह (कथन) व्यभिचारी है। किञ्च, उपलब्धि का स्वतन्त्र कारण होने से और परतन्त्र कारण होने से (सन् और असन् में) भेद है—सन् तो प्रमाण का स्वतन्त्र रूप से विषय है (आलम्बनम्), असन् तो परतन्त्र रूप से अर्थान् प्रतिपेध के द्वारा जाना जाता है।

तत्समवायों वा—टीका के अनुसार यह स्वातन्त्र्य का प्रथम लक्षण है —स्वातन्त्र्य-लक्षणमाह, टी॰ ४१। क्योंकि धातु तथा प्रत्ययद्वारा अभिहित व्यापार के साथ मुख्य रूप से सम्बन्ध होना ही समवाय है —प्राधान्येन धातुप्रत्ययाभिधीयमानव्यापारसम्बन्ध एव तत्समवाय:, परि० ११६।

तत्त्रयोदतृत्वम् - यह स्वातन्त्रता का अन्य लक्षण है (टी० ४२)।

विनिद्योगयोग्यता—यहां विनियोग का अर्थ है किसी वस्तु का त्याग अथवा ग्रहण (तच्छब्देन हानो-पादानलक्षणं विनियोगं परामृश्वित, टी० ४२)। कभी-कभी ईिस्सत वस्तु को जानने पर भी किसी बाधा के कारण उसका ग्रहण नहीं किया जाता, वहां भी तत्त्व की परिसमाप्ति हो ही जाती है, यह दिखलाने के लिये यहां 'योग्यता' शब्द का प्रयोग किया गया है। विनियोग की योग्यता ही अर्थ की अविसंवादिता है। 'अविसंवादिता' शब्द (पृ० १६) का प्रयोग विचारणीय है, वया इसका बौद्ध आचार्य धर्मकीर्ति से कोई सम्बन्ध है?

तः सादने का तो उपिमिति — अतः यह हेतु व्यभिचारी है कि प्रमाण का विषय होने से सत् तथा असत् दोनों में अभेद हो जायेगा; क्योंकि गी, घट आदि सभी पदार्थ प्रमाण का विषय होते हैं किर भी उनमें भेद होता ही है।

स्वतन्त्र विशेष: सद्वस्तु का प्रमाण द्वारा विधिमुख से (भावरूप में) ज्ञान हीता है किन्तु

2.2.2]

T:

II

₹,

ल्

7

Ŧ

T

ζ

1 33

न्यायभाष्यम्

कथं पुनक्तरस्य प्रमाणेनोपलिक्षिरिति ? सत्युपलम्यमाने तद्वदनु-पलक्षेः प्रदोपवत् —यथा दर्शकेन प्रदोपेन दृश्ये गृह्यमाणे तदिव यन्त गृह्यते तन्तास्ति । यद्यभविष्यदिद्यमिव व्यज्ञास्यतः, विज्ञानाभावान्नास्तीति । एवं प्रमाणेन सति गृह्यमाणे तदिव यन्त गृह्यते तन्तास्ति । यद्यभविष्यदिद्यमिव व्यज्ञास्यतः, विज्ञानाभावान्नास्तीति ।

तदेवं सतः प्रकाशकं प्रमाणमसद्यपि प्रकाशयतीति न्यायवात्तिकम्

प्रदीपवंदिति । तद् यथा प्रदीपः खलु अपवरकादिस्थितं घटादिकसर्थं प्रति-पादयित, तद्वद् असदिप प्रतिपादयित । न ह्यसत्प्रतिपत्तावृपायान्तरम्मस्थीयते । दृश्यमाने हि घटादिकेऽथं नातेन समानजातीयं दृश्यान्तरत्रस्ति । यद्यमविष्यदिदिनिवाद्रक्ष्यतं, न च दृश्यते, तस्पाद् दर्शनासावान्नास्तीति गम्यते । एवं प्रमाणेनापि सति प्रमीयमाणे नानेन समानजातीयं प्रवेयान्तरसस्ति, यद्यभविष्यदिदिनिवामास्यतं, न तु मीयते तस्यानमानाभावान्नास्तीति ।

(प्रश्न) किन्तु (पुनः) अग्रिम (उत्तरस्य = असत् या अभाव) की प्रमाण से उपलब्धि कैसे होती है ? (उत्तर) भाव ही उपलब्धि होने पर उसके समान उपलब्धि न होने से प्रदीप के समान; जैसे दिखलाने वाले प्रदीप के द्वारा दृश्य का ग्रहण होने पर उसके समान जो गृहीत नहीं होता, वह नहीं है । यदि होता तो दृश्य के समान (इदिमव) जाना जाता । ज्ञान न होने से वह नहीं है; इसी प्रकार प्रमाण के द्वारा भाव पदार्थों का ग्रहण होने पर उसके समान जिसका ग्रहण नहीं होता, वह नहीं है। यदि होता तो इसके समान जाना जाता । ज्ञान न होने से वह नहीं है।

तो इस प्रकार भाव का ज्ञान कराने वाला प्रमाण अभाव का भी ज्ञान करा देता है।

प्रदीपविदिति— जैसे दीपक कक्ष या कमरा आदि (अपनरकादि) में रक्ली घट आदि वस्तु को दिखला देता है उसी प्रकार अभाव का भी बोध करा देता है। अभाव के ज्ञान के लिये अन्य उपाय का आश्रय नहीं लेना होता। घट आदि पदार्थ के दिखलाई देने पर इसके समान दिखलाई देने वाला अन्य दृश्य (पदार्थ) नहीं है, यदि होता है तो इसके समान दिखलाई देता। और, दिखलाई नहीं दे रहा इसलिये दिखलाई न देने के कारण वह नहीं है, ऐसा समझ लिया जाता है। इसी प्रकार प्रमाण के द्वारा भी भाव पदार्थ की प्रभित्त हो जाने पर, 'इसके समान जाति वाला अन्य प्रमेय नहीं हैं,' यदि होता तो इसके समान जाना जाता, किन्तु जाना नहीं जाता, इसलिये (उसकी सत्ता में) प्रमाण न होने से वह नहीं है।

चतुर्वर्गान्तर्भाशात्—यहां टीका में 'चतुवृगीनन्तर्भावात्' यह पाठ है । उसी के अनुसार वहां .स्यास्या

असत् वस्तु का निपेधम्ख से (अभाव रूप में) जैसे यहां घट है, यह सद्वस्तु का ज्ञान है, 'यहां घट नहीं है' यह असद् (घटाभाव) का ज्ञान है।

न्यायभाष्यम्

सच्च खलु षोडराधा व्यूढमुपदेक्ष्यते । तासां खल्वासां सिद्धधानाम् प्रमाण तत्त्वज्ञानान्नि श्रेयसाधिगमः ।१।१।१। निर्देशे ययावव नं विप्रहः । चार्थे द्वन्द्वःसमासः । प्रमाणादीनां तत्त्विमिति शैषिकी षष्ठी । तत्त्वस्य ज्ञानं निःश्रेयसस्याधिगम इति च कर्मणि षष्ठ्यौ । ते एतावन्तो विद्यमानार्थाः । एषामविपरीतज्ञानार्थमहोपदेशः । सोऽयमनवयवेन तन्त्रार्थ उद्दिष्टो वेदि-तव्यः ।

न्यायवात्तिकम्

और निश्चय ही सत् (पदार्थ) सोलह प्रकार का है जिसका सक्षेप में (ब्यूढम्) उपदेश किया जायेगा। उन सत् पदार्थ के प्रकारों में प्रमाण आदि से निग्रहस्थान (तक) के तत्त्वज्ञान से निःश्रेयस (अपवर्ग) की प्राप्ति होती है। (सूत्र में किये गये) निर्देश में जिस (प्रमाण आदि पदार्थ) का जो वचन होता है उसी वचन में (यथावचनं) विग्रह होता है। यहाँ 'च' (और) के अर्थ में द्वन्द्व समास है। प्रमाण आदि का तत्त्व' यहाँ शैषिकी षष्ठी (विभक्ति) है। तत्त्व का ज्ञान और निःश्रेयस का अधिगम (प्राप्ति), ये (दोनों) कर्म में षष्ठी (विभक्ति) हैं। वे इतने विद्यमान पदार्थ हैं, इनके यथार्थ (अविपरीत) ज्ञान के लिये यहाँ उपदेश किया गया है। वह यह पूर्ण रूप से (अनवयवेन) शास्त्र का प्रतिपाद्य विषय (तन्त्रार्थः) कह दिया गया है, यह जानना चाहिये।

इस प्रकार भाव का बोध कराने वाला प्रमाण अभाव का भी बोध करा देता है। उनमें अभाव के भेद स्वतन्त्र रूप से प्रकट नहीं होते अतः उन्हें नहीं कहा जाता है। अथवा चतुर्वर्ग (प्रमाता, प्रमेय, प्रमिति और प्रमाण) में अन्तर्भाव होने से भाव (पदार्थी) के निरूपण (प्रपञ्च) के समान अभाव का निरूपण भी कर दिया गया है (उद्दिष्टः) यह जानना चाहिये। भाव (पदार्थ) के उपदेश से ही अभाव का उपदेश हो जाता है। अतः (अभाव के भेद का निरूपण) नहीं किया जा रहा है।

की गई है, निःश्रेयसानुपयोगिनि भावप्रपञ्चे यथा चतुर्वर्गानन्तर्भावः, एवमभावप्रपञ्चेऽपि, टी० ४४। परिषुद्धि में भी इसी की व्याख्या है।

प्रपञ्च:—व्याख्या, विस्तार, निरूपण, अभावप्रपञ्च-अभाव का विस्तार या निरूपण।

त एते सद्भेदाः —ये प्रमाण आदि निःश्रेयस के उपयोगी भाव पदार्थ हैं। यद्यपि अन्यभी भाव पदार्थ विद्यमान हैं तथिप निःश्रेयस के उपयोगी ये ही हैं।

शैषिकी षष्ठी—पष्ठी शेषे (पा० २.३.५०) पर व्याकरण ग्रन्थ द्रष्टव्य हैं। कारकार्थ:—प्रधान किया, जिसको उद्देश्य करके सब कारकों की प्रवृत्ति होती है। 8-8-8]

T:

73

न्यायवात्तिकम

तत्र सच्च खलु षोडशथा ब्यूढमुपदेश्यते इति । ब्यूहः संक्षेपः । त एते सब्मेदा इति सूत्रम् ।

सर्वपदार्थप्रधानः समासो द्वन्द्वः । किमुक्तं भवति ? सर्व एते प्रमाणादयो विज्ञेया इति । अन्यथा हि समासान्तरपरिग्रहात् विशेषणत्वेनोपयुक्तानां प्रमाणादीनामविज्ञेयता स्यात् । यथावचनं विग्रह इति । यदेव निर्देशे वचनभेदोपादानं प्रयोजनं तदिहापि द्वष्ट-च्यम् इति । प्रमाणादीनां तत्त्वमिति शैषिकी षष्ठी । कः पुनः शेषः ? कारकाणामविवक्षा शेष इति ; यत्र न कारकं कारकार्थी वा विवक्ष्यते, सः शेषः । तद्यथा ब्राह्मणस्य कमण्ड- लुरिति ।

तत्त्वस्य प्रमाणादिभ्योऽन्यानन्यत्वे दोषः—यदि तावत् प्रमाणादिव्यतिरिक्तं तत्त्वम्, न प्रमाणादिकानान्निः श्रेयसाधिगम इति प्राप्तम् । कं कारणम् ? तत्त्विवशेषणत्वेनोपा-दानात्, राजपुरुषानयनिकयावदिति । अथाभेदः ? तत्त्वप्रहणनर्यं ध्यम् –यदि प्रमाणा-दिव्यतिरिक्तं तत्त्वं न प्रतिपद्यसे, एवं तिहं तत्त्वग्रहणमनर्थकं संपद्यत इति । नोभयथा-प्यदोषादित्येके—यदि तावत् प्रमाणादिव्यतिरिक्तं तत्त्वं स्यात्, तस्यास्वतन्त्रत्वात् प्रमाणा-

उनमें से भाव पदार्थ सोलह प्रकार का है जिसका संक्षेप में उपदेश किया जायेगा। व्यूह का अर्थ है संक्षेप। वे ये भाव (पदार्थ) के प्रकार हैं, यह सूत्र है। सब पदों का अर्थ जिसमें प्रधान होता है ऐसा यहाँ द्वन्द्व समास है। क्या अभित्राय है? ये सभी प्रमाण आदि जानने योग्य हैं। यदि ऐसा न मानें (अन्यथा) तो अन्य समास मानने से विशेषण रूप में सम्बद्ध (उपयुक्त) प्रमाण आदि ज्ञेय न होंगे। यथाव वनं विग्रहः का भाव है—जो (अग्रिम सूत्रों के) निर्देश में (एक वचन, द्विवचन, बहुवचन) वचनभेद ग्रहण करने में (उपादाने) प्रयोजन है, वह यहाँ भी समझना चाहिये। प्रमाणादीनां तत्त्वम् यहाँ शेष अर्थ में पण्ठी (विभक्ति) है। किन्तु शेष क्या है? कारकों को न कहने की इच्छा —जहाँ कारक या कारक का अर्थ कहने की इच्छा न हो वह शेष है; जैसे ब्राह्मण का कमण्डलु।

(आक्षेप) तत्त्व को प्रमाण आदि से भिन्न अथवा अभिन्न मानने में दोष होगा:—
यदि तत्त्व प्रमाण आदि से भिन्न है तो प्रमाण आदि के ज्ञान से निःश्रेयस की प्राप्त होती है, यह (अर्थ) नहीं प्राप्त होता । क्या कारण है ? क्योंकि यहाँ तत्त्व के विशेषण रूप में (प्रमाण आदि का) ग्रहण होता है, राजपुरुष को लाने की किया के समान (राजपुरुषमानय' ऐसा कहने पर राजा को नहीं लाया जाता अपितु पुरुष को ही लाया जाता है) । यदि (प्रमाण आदि और तत्त्व में) अभेद है तो तत्त्व शब्द की अनर्थकता होगी-—यदि प्रमाण आदि से भिन्न तत्त्व को नहीं मानते हो, इस प्रकार तो 'तत्त्व' शब्द का ग्रहण अनर्थक हो जाता है । [एकदेशी द्वारा परिहार]—नहीं, दोनों प्रकार भी दोष नहीं, ऐसा कोई (एकदेशी) कहते हैं; यदि तो प्रमाण आदि से भिन्न तत्त्व होवे तो उस (तत्त्व) के स्वतन्त्र न होने से प्रमाण आदि भी जान लिये

न्यायवात्तिकम्

दगोऽिय गम्यन्त इति, कुण्डे बदरवृत्तिविदिति—यथोक्तं कुण्डे बदराणां वृत्तिरिति सावे वेशिते सावन्ति निर्मादवतन्त्रत्वात् कुण्डे बदराणि वर्तन्त इत्युक्तं सविति, तथेहािप तत्त्वज्ञानािनः श्रेयसाधिगम इति प्रमाणादीनां प्रहणं सावस्थास्वतन्त्रत्वादिति । अभेदेऽपीषुस्थितिवत् सद्यावप्रतिषेषो नार्थान्तरिति न प्रमाणादियात्र गुच्यते, अपि तवर्थान्तरं प्रतिषिध्यते । प्रथेषोः स्थितिरिति नेषुमात्रं स्थितिः, अपि तु गतिसदर्थान्तरं न सवतीित । तत्र स्वर्थान्तरः ।

तत्त्वज्ञानान्तिःश्रेयसाधिगम इति तत्त्वं ज्ञायमानं कर्म संपद्यते, निःश्रेयसं चाधिगस्य-मानं कर्म भवतीति । कि पुनस्तत्त्वम् । कि वा निःश्रेयसमिति ? तत्त्वं पदार्थानां यथा-ब्यवस्थितात्मप्रत्ययोत्पत्तिनिमित्तत्वम्—या यथाव्यवस्थितः पदार्थः, स तथाभूतस्य प्रत्य-यस्योत्पत्तिनिमितं भवतीत्वेतत् तत्त्वम् । निःश्रेयसं पुनः हव्या-हव्यभेवाद् द्वेधा भवति । तत्न प्रमाणाविषवार्थतत्त्वज्ञानाद् हव्यं निःश्रेयसम् ? न हि कश्चित् पदार्थो ज्ञायमानो हानो-

जाते हैं; कुण्ड में वेरों की स्थित (वृत्ति) के समान; जैसे कहा जाता है 'कुण्ड में वेरों की वृत्ति है' यह कहने पर (देशिते) वृत्ति के (भावस्य) स्वतन्त्र न होने के कारण 'कुण्ड में वेर हैं' यह प्रकट होता है, उसी प्रकार यहाँ भी 'तत्त्व के ज्ञान से नि:श्रेयस की प्राप्ति होती है', इससे प्रमाण आदि का भी ग्रहण हो जायेगा; क्योंकि धर्म (भाव = तत्त्व) स्वतन्त्र नहीं है। (प्रमाण आदि तथा तत्त्व का) अभेद मानने पर भी बाण की स्थिति के समान उसके धर्म (भाव) का प्रतिपेध न तो उससे भिन्न (पदार्थ) ही है और न प्रमाण आदि मात्र ही कहा जाता है, अपि तु अन्य अर्थ का प्रतिपेध किया जाता है; जैसे 'बाण की स्थिति' इस में स्थिति केवल बाणमात्र नहीं है अपि तु गतिवाला अन्य अर्थ नहीं है (यह जाना जाता है)। [सिद्धान्ती] वह ठीक नहीं, तत्त्व और प्रमाण भिन्न अर्थ नहीं (अभिन्न हैं) यह असिद्ध होने से।

तत्त्वज्ञान से निःश्रेयस की प्राप्ति होती हे, इस कथन से जाना गया 'तत्त्व' कमं होता है तथा प्राप्त किया जाता हुआ 'मोक्ष; (निःश्रेयस) कमं होता है । फिर तत्त्व क्या है ? और निःश्रेयस क्या है ? पदार्थों के यथार्थ (यथावस्थित) स्वरूप (आत्म) के ज्ञान की उत्पत्ति का निमित्त तत्त्व है—जो पदार्थ जैसा है (जव) वह उसी प्रकार के ज्ञान की उत्पत्ति का निमित्त होता है, यही तत्त्व है । निःश्रेयस तो दृष्ट तथा अदृष्ट के भेद से दो प्रकार का होता है । उनमें प्रमाण आदि पदार्थों के तत्त्वज्ञान से दृष्ट निःश्रेयस होता है; क्योंकि कोई पदार्थ जाना गया होकर हान, उपादान,

भावस्थास्वतन्त्रत्वात्—धर्म (भाव) के स्वतन्त्र न होने मे; यहां तत्त्व प्रमाण आदि का धर्म है और गतिनिवृत्ति वाण का धर्म है।

अनर्थान्तरत्वासिद्धोः-प्रमाण आदि से तत्त्व अभिन्त है इत्यादि असिद्ध है। यहां एकदेशी के मत का निराकरण किया गया है।

2.2.2

[२५

न्यायभाष्यम्

आत्मादेः खलु प्रमेषस्य तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिमयः, तच्नैतदुत्तर-सूत्रेगानूछते । हेवं तस्य निर्वर्तकं हानमात्यन्तिकं तस्योपायोऽधिगन्तव्य इत्येतानि खलु चत्वार्यर्थपदानि सम्यन्बुद्ध्वा निःश्रेयसमधिगच्छति ।

न्यायवात्तिकम्

पादानोपेक्षावृद्धिनिमित्तं न भवतीति । एवं च कृत्वा सर्वेऽपि पदार्था च यतयोपिक्षप्यन्त इति । परं तु निःश्रेयसमात्मादेः प्रमेयस्य तत्त्वज्ञानाद् सवतीति । इष्टं प्रमाणादिवरिज्ञानात्, अद्युद्धं पुनरात्मादेः प्रमेयस्य तत्त्वपरिज्ञानादिति न प्रमाणमस्ति । न नास्ति, अर्थस्य तथाभावात्; अर्थ एवायं तथाभूतो यदात्मादेः प्रमेयस्य तत्त्वज्ञानाद्धिःश्रेयसम्बिगस्यते यदा ह्यमात्मादि प्रमेयं विपर्ययेणाध्यवस्तितो भवति, अथ संशारं नातिवर्तत इति । एनं जार्थं द्वितीयसूत्रे प्रतिपादिष्यामः ।

आत्मा आदि प्रमेय के तत्त्वज्ञान से ही निःश्रेयस की प्राप्ति होती है और यह अग्नि सूत्र (१, १, २) से अनुदित किया जा रहा है; त्याज्य (हेय) दुःस और उसके उत्पादक (निर्वर्तक अविद्या तथा तृष्णा), आत्यन्तिक नाश (तत्त्वज्ञान), उस (प्रमाण या. तत्त्वज्ञान) का उपाय (ज्ञास्त्र) और प्राप्य (अधिगन्तव्य = अपवर्ग) इन चारों पुरुषार्थ के स्थानों (टी० ४७) को सम्यक् जानकर निःश्रेयस को प्राप्त होता है। तथा उपेक्षा बुद्धि का निभित्त नहीं होता, ऐसा नहीं। इस प्रकार (एवं च इत्वा) सभी पदार्थ ज्ञेय रूप हैं, यह संकेत कर दिया गया है (उपिक्षप्यन्ते)। पर (अद्युट) निःश्रेयस तो आत्मा आदि प्रभेय के तत्त्वज्ञान से अद्युट (निःश्रेयस होता है), इसमें तो कोई प्रमाण नहीं। [परिहार] ऐसा नहीं कि (इसमें) प्रमाण नहीं है; अर्थ के वैसा होने से; यह अर्थ (आत्मादि विषय) ही वैसा है कि आत्मा आदि प्रभेय के तत्त्वज्ञान से निःश्रेयस की प्राप्ति होती है। जब यह आत्मा आदि प्रमेय विपरीत रूप में जान लिया जाता है तब (प्राणी) जन्म मरण के चक (संसार) को नहीं अतिकान्त करता और, इस अर्थ का द्वितीय सूत्र में प्रतिपादन करेंगे।

परं तिक्षति—यह पर निश्रेयस सूचकार का अभिमत है । प्रमाण आदि का तत्त्वज्ञान इसमें परम्परया हेतु होता है (टी० ४६) ।

न प्रमाणमस्ति—तात्पर्य टीका के अनुसार आक्षेप का अभिप्राय है दृष्ट निःश्रेयस में तो दर्गन ही प्रमाण है किन्तु अदृष्ट निःश्रेयस है इसमें कोई प्रमाण नहीं।

न नास्ति—इत्यादि परिहार का भाव है कि आगम तथा अनुमान के द्वारा अदृष्ट निःश्रेयस जाना जाता है (टी० ४६)।

अर्थस्य तथाभावात्—अर्थं आत्मादिः । तस्य आगमानुमानसहकारिणा कारणाभावेन कार्याभावानुमानभेवात्रार्थे प्रमाणिमिति भावः, टी० ४६ ।

न्यायभाष्यम्

तत्र संशयादीनां पृथ्यवचनमनर्थकम्; संशयादयो हि यथासम्भवं प्रमाणेषु प्रमेयेषु चान्तर्भवन्तो न व्यतिरिच्यन्त इति । सत्यमेवैतत्, इमास्तु चतस्रो विद्याः पृथ्यप्रस्थानाः प्राणभृतामनुग्रहायोपदिश्यन्ते, यासां चतुर्थीय-न्यायवात्तिकम्

यदि पुनः प्रमाणादिणदार्थतत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसं स्यात् न मोक्षयाणा मोक्षाय घटेरन्; न हि कस्यिवत् क्विचिच्च तत्त्वज्ञानं नास्तीति । तस्माद् आत्माद्येव प्रमेयं मुमुक्षुणा ज्ञेयमिति । पृथगुपदेशाच्च—यदि च प्रमाणाद्येव प्रमेयं स्यात्, तस्य च परिज्ञानान्निःश्रेयसं भवेत्, नात्मादि प्रमेयं पृथगुपदिष्टं स्यात् । प्रमेयावधारणार्थायां चौत्तरस्त्रप्रक्रियायां प्रमेयस्य विहितत्वादाद्येन सूत्रेणाजुङ्गालः सूत्रकारः स्यात् । तच्चैतदुत्तर-सूत्रेणान्द्यत इति भाष्यम् । हेयिमिति । हेयहानोपापाधिगन्तव्यभेदाच्चत्वार्यर्थपदानि सम्यग्बुद्ध्वा निःश्रेयसमधिगच्छतीति । हेयं दुःखम्; तस्य निर्वर्तकम् अविद्यातृष्णे धर्मीधर्माविति । हानं तत्त्वज्ञानम् । उपायः शास्त्रम् । अधिगन्तव्यो मोक्षः ।एतानि चत्वार्यर्थपदानि सर्वस्वध्यात्मविद्यासु सर्वाचार्यर्वण्यन्त इति ।

(शङ्का) उनम संशय आदि का पृथक् कथन अनथक है; क्योकि स्शय आदि का यथासम्भव प्रमाण और प्रमेयों में अन्तर्भाव हो जाता है, वे उनसे अतिरिक्त नहीं हैं। [समाधान] यह ठीक ही है; किन्तु इन चार विद्याओं का जिनके मार्ग (प्रस्थान) पृथक्-पृथक् हैं, जीवधारियों के हित (अनुग्रह) के लिये उपदेश किया गया है। उनमें

(१) किन्तु (पुनः) यदि प्रमाण आदि पदार्थों के तत्त्वज्ञान से मोक्ष हुआ करे तो मुमुक्षुजन मोक्ष के लिये प्रयत्न न करें (घटेरन्); क्योंकि किसी को कहीं भी तत्त्वज्ञान नहीं है, ऐसा नहीं। इसलिये आत्मा आदि प्रमेय ही मुमुक्षु को जानने चाहियें। (२) और पृथक् उपदेश से भी—यदि प्रमाण आदि ही प्रस्य होता और उसके सम्यग्ज्ञान से निःश्रेयस हो जाया करता तो आत्मा आदि प्रमेय का पृथक् उपदेश न किया जाता। किञ्च, प्रमेयों का अवधारण करने के लिये अग्रिम (१.१.२) सूत्र की रचना (प्रक्रिया) करने वाला सूत्रकार अकुशल हो जाता। क्योंकि प्रथम सूत्र से ही प्रमेय का विधान किया जा चुका है (विहितत्वात्)। और वह यह अग्रिम सूत्र से किर कहा जाता है (अनूद्यते), यह भाष्य है। हेयमिति हेय, हान, उपाय तथा अधिगन्तव्य के भेद से चार पुरुषार्थ के स्थानों को सम्यग् जानकर निःश्रेयस को प्राप्त होता है। हेय दुःख है उसके उत्पादक अविद्या तृष्णा और धर्म अवर्म हैं, नाश (हानम्) तत्त्वज्ञान (प्रमाण फल) है, उपाय शास्त्र है और प्राप्त करना है मोक्ष। ये चार पदार्थ सभी अध्यात्म-विद्याओं में सब आचार्यों द्वारा विणत किये जाते हैं।

यदि पुन:—जिनकी दृष्टि में प्रमाण आदि पदार्थों का तत्त्वज्ञान ही अदृष्ट निःश्रयस का हेतु है उनके प्रति युक्तियां दी गई हैं तथा सूत्रकार का मन्तव्य दिखलाया गया है।

सूत्रकार:—इस प्रकार युक्ति से तथा सूत्रकार के मत से भी आत्मा आदि प्रमेशों का तत्त्वज्ञान ही पर निःश्रेयस का निमित्त है, तस्माद् यद्युपपत्तिः यदि च सूत्रकाराभिमतमुभयथापि प्रमेयतत्त्वपरिज्ञानं 2-2-3]

T:

ि २७

न्यायभाष्यम्

मान्वोक्षिकी न्यायविद्या । तस्याः पृथक्प्रस्थानाः संशयादयः पदार्थाः । तेषां पृथावचनमन्तरेणाध्यात्मविद्यामात्रनियं स्यात्, यथोपनिषदः । तस्मात् संश-यादिभिः पदार्थेः पृथक् प्रस्थाप्यते ।

न्यायवात्तिकम्

संज्ञयाद्यग्रहणं पृथक् प्रमेवान्तर्भावादिति चेत्; न विद्याप्रस्थानग्रभेदज्ञापनार्थन्वादिति; संज्ञ्ञयादयः प्रमेवेऽन्तर्भवन्तीति पृथक् ते न वाच्याः । न, विद्याप्रस्थानग्रभेदज्ञापनार्थत्वात्—चतस्र इमा विद्या भवन्तीति, ताश्च पृथक्षप्रस्थानाः । अग्निहोत्रहयना-दिप्रस्थाना त्रयी, हलक्षकटादिप्रस्थाना वार्ता, स्वाम्यमात्यादिभेदानुविधायिनी वण्डनीतिः, संज्ञ्यादिभेदानुविधायिनी आन्वीक्षिकीति । तस्याः संज्ञ्यादिप्रस्थानमन्तरेणाध्यात्म-विद्यामात्रस्यं स्थात् । ततः कि स्यात् ? अध्यात्मविद्यामात्रत्याद् उपनिषद्विद्यावत् त्रय्यान्मवान्तर्भाव इति चतुष्टवं निवर्तते । तस्मात् पृथगुच्यन्त इति ।

तत्र संशयस्तावद् वस्तुस्वरूपानवधारणात्मकः प्रत्ययः। अनवधारणात्मकद्व

से चतुर्थी यह आन्त्रीक्षिकी या न्यायिवद्या है। उसके पृथक् मार्ग (प्रस्थात) संशय आदि पदार्थ हैं। उनके पृथक् कथन के विका यह अध्यादन विद्या मात्र रह जायेगी, जैसे उपनिषदें हैं। इसलिये इस (न्यायिवद्या) का संशय आदि पदार्थों से पृथक् उपदेश किया जा रहा है।

[शक्का समाधान] संशय आदि का पृथक् ग्रहण नहीं करना चाहिये, प्रमेय में अन्तर्भाव हो जाने से, यदि ऐसा कहें तो ठीक नहीं, विद्याओं के मार्ग-भेद बतलाने के लिये होने से—(शक्का-व्याख्या) संशय आदि का प्रमेय में अन्तर्भाव हो जाता है अतः उनका पृथक् कथन न करना चाहिये। [समाधान-व्याख्या] यह ठीक नहीं; क्योंकि विद्याओं की भिन्न-भिन्न पद्धितयों का बोध कराने के लिये यह है: ये चार विद्याएँ होती हैं और वे पृथक्-पृथक् प्रस्थान वाली हैं; त्रयी विद्या अग्निहोत्र हवन आदि के उपदेश की पद्धित वाली है, वार्ता हल शकट (गाड़ी) आदि के बारे में कहती है, दण्डनीति तो स्वामी, मन्त्री आदि के भेद के अनुसार कर्तव्य का विधान करती है और आन्वीक्षिकी (न्यायविद्या) संशय आदि भेदों का अनुसरण करती है। उसके संशय आदि प्रकारों के विना यह (न्यायविद्या) केवल अध्यात्मविद्या रह जायेगी। उससे क्या होगा? अध्यात्मविद्या मात्र होने से उपनिषद् विद्या के समान त्रयीविद्या में ही इसका अन्तर्भाव हो जायेगा, जिससे (विद्या के) चार भेद न रहेंगे। इसलिये संशय आदि को पृथक् वतलाया जा रहा है।

उनमें संशय तो वस्तु के स्वरूप का निश्चय न करने वाला ज्ञान है (प्रश्न) अनिश्चयात्मक और ज्ञान इन दोनों का परस्पर विरोध है (व्याहन्यते)। (उत्तर) परस्पर

परस्य निःश्रेयसस्य हेतुः, टी० ४६।

चतस्रो विद्याः—आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता, दण्डनीतिश्चेतिविद्याः, कौ० जर्यशास्त्र १. २. १। प्रस्थानाः—प्रस्थान = उपदेश की पद्धति, गमन, मार्ग । प्रस्थानं व्यापारः, टी० ४७, प्रस्थानं प्रकार इत्थंभाव, परि० १२ ६।

[शास्त्रस्योदेशः

25]

न्यायभाष्यम्

तत्र नानुपलम्धे न निर्णातेऽर्थे न्यायः प्रवर्तते । कि तर्हि ? संज्ञायितेऽर्थे । तथा चोकतन्, विन्ध्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यानयीवधारगं निगयः (१. १. ४१) इति । विनर्शः संज्ञायः । पक्षप्रतिपक्षी न्यायप्रवृत्तिः । अर्थावधारणं निर्णय-

न्यायवात्तिकम्

प्रस्वयश्विति व्याहम्बते । न व्यावातः स्वरूपावधारणात्—स्वरूपमस्यावधार्यते अस्ति मे संवाद्यानिवित । वस्तुस्वरूपं तु नातेन परिविद्यते, तदुस्यमनवधारणात्मकश्च प्रस्य-पश्चिति । त कथं न्यायस्याङ्गः भवतीति ? यस्त्रात् नानुपलव्ये न निर्णातेऽये न्यायः प्रवर्तते । उपलब्धोऽनिर्णातश्चेति व्याधातः—प्रद्युपलव्धो नानिर्णातः अधानिर्णातश्चेति व्याधातः—प्रद्युपलव्धो नानिर्णातः अधानिर्णात व्योति व्याहतस् । नास्ति व्याधातः, सामान्येनोपलब्धो विशेष्वितः, प्रत्यापित्वविद्यात् प्रति व्यावतानिवृत्तिः । नानि वृत्तिः, प्रथा तथेतिव्यपदेशात्—सर्वथा निर्णाते यथा निर्णातस्तथोपलब्ध इत्यनर्वकं

अब (तत्र) में अज्ञात या निश्चित पदार्थ में न्याय की प्रवृत्ति नहीं होती। तब किसनें होती है ? संशययुक्त पदार्थ में ; जैसाकि कहा गया है—संशय करके (विमृश्य) पक्ष और प्रतिनक्ष के द्वारा अर्थ का निश्चय करना ही निर्णय है। यहाँ विमर्श (का अर्थ) है संशय। पक्ष तथा प्रतिपक्ष में ही न्याय की प्रवृत्ति होती हैं। अर्थ का निश्चय

वरोध नहीं, स्वरूप का निश्चय किये जाने से—(मानस प्रत्यक्ष से संशय के) स्वरूप का निश्चयं किया जाता है कि मुझे संशय ज्ञान हो रहा है। वस्तु के स्वरूप का तो इससे निश्चयं निश्चयं नहीं किया जाता (न परिच्छिद्यते); अतः वह दानों है अनिश्चयात्मक भी और ज्ञान भी। वह न्याय का अङ्ग कैसे है? (उत्तर) क्योंकि (भाष्य०) अज्ञात तथा निश्चित अर्थ में न्याय की प्रवृत्ति नहीं होती (आक्षेप) ज्ञात है और निश्चत नहीं, यह परस्पर विरोध (व्याधात) है—यदि ज्ञात है तो अनिश्चित नहीं, यदि अनिश्चत है तो ज्ञात नहीं, ज्ञात है और अनिश्चित है, यह तो परस्पर विश्व है। (परिहार) विरोध नहीं है; सामान्य रूप से ज्ञात होता है और विश्व रूप से निश्चित नहीं होता। (शङ्का) इस प्रकार भी जैसे ज्ञात होता है, वैसे निश्चित नहीं किया जाता; अतः विरोध की निवृत्ति नहीं होती (व्याधात + अनिवृत्तः)। [समाधान] विरोध की निवृत्ति नहीं होती, ऐसा नहीं (नाऽनिवृत्तः); (जैसा जाना गया वैसा निश्चित नहीं किया गया) यथा तथा यह कहा जाने से—यदि सब प्रकार से

अध्यात्मविद्या—आत्मिन इति अध्यात्मम् (अन्ययीभाव), आत्मा (स्वरूप) विषयक ज्ञान । अवधारणात्मकः—ज्ञान, अवधारण, प्रत्यय—ये समानार्थक हैं, ऐसा मानकर प्रश्न किया गया है। न व्यावातः—अवधारण ज्ञान का समानार्थक नहीं, अपि तु निम्प्यात्मक ज्ञान का समानार्थक है अत. व्यावात नहीं।

एवमपि - उपलब्ध और निर्णीत दोनों का सामानाधिकरण्य किया गया है अतः व्याधात है।

न्यायभाष्यम

स्तत्त्वज्ञानिमिति । स चायं किस्विविति वस्तुविमर्शमात्रमनवधारणं ज्ञानं संख्यः स च प्रमेषेऽन्तर्भवन्नेवसर्थं पृथगुच्यत इति ।

अथ प्रयोजनम् । येन प्रयुक्तः प्रवर्तते तत् प्रयोजनम्; यमर्थमभीष्मन् जिहासन् वा कर्मारमते । तेनानेन सर्वे प्राणिनः सर्वाणि कर्माणि सर्वाश्च विद्या व्याप्ताः । तदाश्यश्च न्यायः प्रवर्तते ।

न्यायवात्तिकम्

स्यात् । तस्मात् सामान्यत उपलब्धो विशेषतोऽनिर्णीत इति । स स्रायं संशय एवंमूतः इ.सेयेऽन्तर्भवन्नेवसर्थं पृथगुच्यते ।

अध प्रयोजनम् । कि पुनः प्रयोजनिविति ? येन प्रयुक्तः प्रवर्तते तत् प्रयोजन-सिति लौकिकोऽयमर्थः । केन पुनः प्रयुज्यते ? धर्मार्यकामभोकौरिति केचित् । वयं तु पश्यामः लुखदुः बाध्तिहानिभ्यां प्रयुज्यतं इति । सृखदुःखसाधनभावात् तु सर्वेऽधीश्चेतनं प्रयोजयन्ति । तदिवं प्रयोजनं न्यायस्याश्रयः । क आश्रयार्थः ? आधारार्थस्तावन्न भवति । उपकारकत्वयाध्यार्थः, तन्मूलत्वात् परीक्षाविधेः । प्रयोजने सित परीक्ष्यत इति, प्रयोजनं परीक्षां प्रवर्तयति । का पुनिष्यं परीक्षा ? न्यायः ।

करना निर्णय अर्थात् तत्त्वज्ञान है। और यह क्या है' इस प्रकार वस्तु का विभर्ण मात्र जो अनिब्चय त्मक ज्ञान है वह संजय है। और, वह प्रमेय में अन्तर्भूत होते हुए भी इसीलिये पृथक् कहा गया है।

अव प्रयोजन है। जिससे प्रयुक्त होकर (व्यक्ति किसी कार्य में) प्रवृत्त होता है वह प्रयोजन है; जिस पदार्थ की प्राप्ति की इच्छा करता हुआ या छोड़ने की इच्छा करता हुआ कार्य करना आरम्भ करता है। उस इस (प्रयोजन) से सब प्राणी, सब कार्य और सब विद्याएँ व्याप्त हैं और, उसके आश्रित होकर ही न्याय की प्रवृत्ति होती है।

निश्चित हो जाये तो जैसे निश्चित किया वैसे जाना गया, यह (कथन) व्यर्थ हो जाये। अतः सामान्य रूप से ज्ञात किन्तु विशेष रूप से अनिश्चित यह अर्थ है। और वह इस प्रकार का संशय प्रमेय में अन्तर्भूत होता हुआ (भी) इसीलिये पृथक् कहा गया है।

अथ प्रयोजनम् । किन्तु प्रयोजन क्या है ? जिससे प्रेरित होकर (व्यक्ति) प्रवृत्त होता है वह प्रयोजन है, यह लौकिक अर्थ है । फिर किससे प्रेरित होकर (प्रवृत्त होता है) ? 'धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष (नामक पुरुपार्थोः) से ऐसा कोई (कहते हैं) । हम तो देखते हैं कि सुख की प्राप्ति और दुःख के नाश (के भाव) से प्रयुक्त होता है । सुख या दुःख का साधन होने से ही (तु) सब पदार्थ चेतन को प्रेरित करते हैं । वह यह प्रयोजन न्याय का आश्रय है । (प्रवन) यहाँ आश्रय का क्या अर्थ है, आधार अर्थ तो है नहीं ? (उत्तर) आश्रय का अर्थ है, 'उपकारक होना'; क्योंकि परीक्षा की प्रवृत्ति उस (प्रयोजन) के आधार पर होती है (तन्मूलत्वात्) । वस्दुतः प्रयोजन होने पर परीक्षा की जाती है अतः प्रयोजन परीक्षा को प्रवृत्त करता है । (प्रश्न) किन्तु यह परीक्षा की जाती है अतः प्रयोजन परीक्षा को प्रवृत्त करता है । (प्रश्न) किन्तु यह परीक्षा क्या है ? (उत्तर) न्याय (ही परीक्षा है) ।

30]

न्यायभाष्यम्

कः पुनरयं न्यायः ? प्रमाणैर्थपरीक्षणम्; प्रत्यक्षागमाश्रितं चानुमा-नम्, सान्वीक्षा—प्रत्यक्षागमाभ्यामीक्षितस्यार्थस्यान्वीक्षणमन्वीक्षा, तया प्रवर्तत इत्यान्वीक्षिकी न्यायविद्या न्यायशास्त्रम् ।

न्यायवात्तिकम्

कः पुनरयं न्यायः ? प्रमाणैरर्थंपरीक्षणं न्यायः । किमुक्तं भवित ? समस्त-प्रमाणव्यापारादर्थाधिगतिन्याय इति । नैकैकं प्रमाणमर्थंपरिच्छेदहेतुभ।वेन व्यवतिष्ठ-मानं न्याय इत्युच्यते कि तु समस्तानि । सोऽयं विप्रतिपन्नपुरुषप्रतिपादकत्वात् परमो न्याय इति वक्ष्यामः । 'प्रत्यक्षागमाश्चितं चानुमानिमिति' । प्रत्यक्षागमाश्चितमिति प्रत्यक्षागमाविरोधि । यदि ह्यनुमानाधिगतोऽर्थः प्रत्यक्षागमाभ्यां प्रतिसन्धीयेत, अथ स्फुटतरः प्रत्ययो भवित । यत्र पुनरेतानि प्रमाणानि इतरेतराप्रतिसंहितानि व्यावृत्तानि प्रयुज्यन्ते, न्यायविष्त्वोऽसौ लाभपूजाख्यातिकामैस्तीर्थप्रतिरूपकः प्रवादो दर्ण्यते ।

फिर यह न्याय क्या है ? प्रमाणों द्वारा अथं की परीक्षा करना । प्रत्यक्ष और आगम के आश्रित अनुमान है वह अन्वीक्षा (पुनिवचार) है—प्रत्यक्ष और आगम द्वारा प्रदर्शित (ईक्षित) अर्थ का पुनिवचार ही अन्वीक्षा है, उससे जो प्रवृत्त होती है वह आन्वीक्षिकी है; अर्थात् न्यायविद्या या न्यायशास्त्र ।

फिर यह न्याय क्या है ? प्रमाणों द्वारा अर्थ की परीक्षा न्याय है (यह भाष्य है) । क्या अभिप्राय है ? सब प्रमाणों के व्यापार से अर्थ का निश्चय करना ही न्याय है । एक-एक प्रमाण अर्थ के बोधक हेतु के रूप में व्यवस्थित होकर न्याय नहीं कहलाता; किन्तु सब प्रमाण मिलकर । वह यह नाना विरोधी ज्ञानों से युक्त (विप्रतिपन्न) व्यक्ति का बोधक होने से परम न्याय है, यह कहेंगे । [भाष्य में जो] 'प्रत्यक्षागमाश्रितं चानुमानमिति' कहा गया है उसका तात्पर्य है, प्रत्यक्ष और आगम का अविरोधी (उनके विपरीत न होने वाला) । वस्तुतः जब अनुमान से जाने गये अर्थ का प्रत्यक्ष तथा आगम से मिलान कर लिया जाता है (प्रतिसन्धीयते) तब अधिक स्पष्ट ज्ञान हो जाता है । किन्तु जहाँ इन सब प्रमाणों का एक दूसरे के साथ मेल न रखते हुए (अप्रतिसंहितािन), पृथक् पृथक् (व्यावृत्तािन) प्रयोग किया जाता है वह न्याय की भ्रष्टता (विष्लवः, न्यायाभास) है जो लाभ, पूजा और ख्याित की कामना करने वालों (जनों के) द्वारा दर्शन (ठीर्थ) की प्रतिकृति (प्रतिरूपक) के रूप में प्रवाद प्रचलित कर दिया जाता है (वर्ण्यते)।

यथातथेति-व्यपदेशात् — यहि सामान्य तथा विशेष का सामानाधिकरण्य किया गया है जो सामान्य रूप से (यथा) निश्चित किया जाता है। वह विशेष रूप से (तथा) अनिश्चित भी हो सकता है। (इ० टी० ४८)।

केचित्-एकदेशी, वयंत्-सिद्धान्ती।

प्रमाणेरर्थपरीक्षणं न्याय:—प्रतिज्ञा आदि पांच अवयव प्रत्यक्षादिमूलक हैं, उन्हें ही सूचित करते हैं, ये तो प्रमाणों का ही अवान्तर व्यापार हैं अतः प्रमाणों द्वारा ही अर्थपरीक्षा होती

2.2.9]

138

न्यायभाष्यम् यत्पुनरनुमानं प्रत्यक्षागमिक्दहः व्यायभासः स इति । न्यायवात्तिकम

यत्तुनरनुमानं प्रत्यक्षागमिवरुद्धं न्यायाभासः स इति । प्रत्यक्षिवरुद्धं तावद् अनुष्णोऽग्निः कृतकत्वाद् घटविद्धित । कः पुनरस्यानुमानस्य विषयः ? अनुमानाविषये प्रयोगः—नायमनुमानस्य विषये प्रयोगः, नायमनुमानस्य विषयः, यस्मिन् विषये एत-त्रयुज्यते स प्रत्यक्षणापहृत इति । अपरे पुनरक्षावणः शब्द इति प्रत्यक्षविरोधं वर्ण-यन्ति । तैस्तु न प्रत्यक्षस्य विषयो ज्ञातो नानुमानस्य विषय इति । किं कारणम् ? इन्द्रियवृत्तीनामतोन्द्रियत्वात—श्रावणत्वं चेन्द्रियवृत्तिः । सा कथं प्रत्यक्षा भवित । आगमविरुद्धम्,शुचि नरिश्चरः कपाल प्राण्यङ्गत्वात् शङ्खशुवितवद् इति । कथिमदम्मागमविरुद्धम् ? शुचि नरिश्चरः कपालिति बुवता शुच्यर्थे वाच्यः, किमुक्तं भवित शुचीति ? यदि स्प्रष्टुः प्रत्यवायाभावः, स कस्येति वाच्यम् । यद्यात्मन इति बूयात्, तदागमानुष्ठानतात्वर्येणावस्थानाद् एवमेतत् । अथ त्रयीविद्यामिति बूयात् त्रय्यभ्यप्रगामाद् विरोध इति वाच्यम् । शुचि नरिश्चरः कपालितित च कोऽर्थः ? विशेषविधानमेन

किन्तु जो अनुमान प्रत्यक्ष तथा आगम के विरुद्ध है, वह न्यायाभास है। (यत्युनिरत्यादि भाष्य है)। प्रत्यक्षविरुद्ध अनुमान तो यह है-अग्नि उष्ण नहीं कृतक होने से घट के समान । (प्रश्न) इस अनुमान का (प्रत्यक्ष से) क्या विरोध है ? (उत्तर) अनुमान के अविषय (जो विषय नहीं) में प्रयोग—यह अनुमान के विषय में प्रयोग नहीं है, यह अनुमान का विषय नहीं है; क्योंकि जिस विषय में इसका प्रयोग किया गया है वह विषय प्रत्यक्ष के द्वारा दूर कर दिया गया है (अपहृतः)। और, दूसरे (दिग्नाग आदि टी० ५१) शब्द श्रोत्र का विषय नहीं (अश्राव गः शब्रः) यहाँ प्रत्यक्ष का विरोव वतलाते हैं। उन्होंने तो न प्रत्यक्ष का विषय जाना है, न अनुमान का विषय। (शङ्कां) क्या कारण है ? (समावान) इन्द्रियों की वृत्ति (व्यापार) अतीन्द्रिय होने से —और, श्रावणत्व (श्रोत्र से सुना जाना) इन्द्रिय का व्यापार है, वह कैसे प्रत्यज्ञ हो सकता है ? आगमविरुद्ध है-मनुष्य के सिर का कपाल (खोपड़ा) पवित्र है, प्राणी का अङ्ग होने से, शङ्ख की सीपी के समान। (प्रश्न) यह आगमविरुद्ध कैसे है ? (उत्तर) मनुष्य के सिर का कपाल शुचि (पवित्र) है, यह कहने वाले को 'शुचि' शब्द का अभिप्राय बतलाना होगा कि 'शुचि' शब्द से क्या कहा गया है ? यदि छूने वाले को पाप (प्रत्यवाय) का अभाव (यह अर्थ) है तो वह किसे होता है, यह कहना होगा। यदि कहो कि अपने आपको (आत्मनः) तो उस आगम के

है (द्र० टी० ४६)। तीर्थप्रतिरूपक:—तीर्थं = दर्शनं तस्य प्रतिरूपक: वह अपवर्ग का साधन नहीं होता (द्र० टी०)

आगमिवरुद्धम् — मनु आदि ने नरकंकाल के स्पर्श का निषेध किया है। कथिमदम् ? यह काप-लिक का प्रश्न है।

[शास्त्रस्योदेशः

37]

न्यायवात्ति कम्

तत्, विशेविवधानं च शेवं प्रतिषेधित । यदि शुचि नरशिरः क्यालं किमशुचीति वाच्यम् । अथ सर्वभेव शुचि, हण्टान्तो नास्ति सर्वं स्य पक्षीकृतत्वात् । अथानुमान-विरुद्धं कस्मावनुमानं न भवति ? एकस्मिश्चनुमानद्वयसमावेशासंभवाश्च विरोध- म ह्यान्वयव्यतिरेकसंपन्ने उनुमाने एकस्मिन् वस्तुनि समाविज्ञतः, तस्माज्ञानुमानविरुद्धम् । प्रत्यक्षविरोध्यपि तर्ति न प्राप्नोति ? न, न प्राप्नोति, अन्वयव्यतिरेकोपधन्नस्य प्रत्यक्षेण वाधितावात् । अयोपमानविरुद्धं कस्माञ्च भवति ? नोपमानविरुद्धं पूर्वप्रमाण-विरोधानुविधानात्---उपमानविरोधः पूर्वप्रमाणविरोधानुविधायो, आगमाहित-संस्कारस्मृत्यपेक्षं च सारूष्यज्ञानम् उपमानिनिति वश्यामः । प्रत्यक्षागमधोविरोधानुक्तं तिविति ।

अनुष्ठान के अभिप्राय से निश्चित किये जाने के कारण (अवस्थानात्) यह ऐसा ही है। यदि यह कहो कि (वेद) त्रयी को जानने वालों के (पाप का अभाव है) तब तो त्रयी को स्वीकार करने से (आपके आगम का) विरोध होगा, यह कहा जा संकता है। और, मनुष्य के सिर का कपाल पिवत्र है, इसका क्या अभिप्राय है ? यह तो विशेष का विधान है और विशेष का विधान तो शेष का प्रतिषेध करता है, यदि मनुष्य के सिर का कपाल पवित्र है तो अपवित्र क्या है ? यह बतलाना होगा। यदि कहो सभी पिबत्र है, तब तो दृष्टान्त नहीं होगा; क्योंिक सभी को पक्ष बना लिया गया है। (प्रश्न) फिर अनुमान के विरुद्ध अनुमान क्यों नहीं होता ? (उत्तर) एक में दो अनुमानों का समावेश न हो सकने से (एक अनुमान का दूसरे से) विरोध नहीं होता-अन्वय और व्यतिरेक से युक्त दो अनुमान (अनुमाने) एक वस्तु में समाविष्ट नहीं होते अतः अनुमान के विरुद्ध (अनुमान) नहीं होता। तब तो प्रत्यक्षविरोधी अनुमान भी नहीं प्राप्त होगा। नहीं प्राप्त होगा, ऐसा नहीं; क्योंकि अन्वय-व्यतिरेक से युक्त अनुमान का प्रत्यक्ष से बाध हो जाता है। (प्रश्त) तय उपमानविरुद्ध अनुमान वर्धों नहीं होता ? (उत्तर) उपमानविरुद्ध नहीं होता, पूर्व प्रमाण (प्रत्यक्ष तथा आगम) के विरोध का अनुसरण करने से - उपमान का विरोध पूर्व प्रमाणों (प्रत्यक्ष तथा आगम) के विरोध का अनुसरण करता है; क्योंकि (च) आगम से उत्पन्न संस्कार से होने वाली स्मृति की अपेक्षा से जो सादश्य ज्ञान होता है वह उपमान है यह (अभे १. १. ६) कहेंगे। अतः प्रत्यक्ष तथा आगम के विरोध से वह (उपमान विरोधी अनुमान) भी कह दिया गया।

आत्मनः—अपना, कापालिक का । तदागम इत्यादि में उपहास से युक्त उत्तर है (द्र० टी०) । पर्काकृतत्वात्—इस प्रन्थ में उसके मत का निराकरण किया गया है जो आगम कौ प्रमाण न मानकर अनुमान के द्वारा आक्षेप करना है ।

न्यायभाष्यम

तत्र वादजल्पौ सप्रयोजनौ, वितष्डा तु परीक्ष्यते । वितण्डया प्रवर्तयानो वैतण्डिकः । स प्रयोजमनुयुक्तो यदि प्रतिपद्यते, सोऽस्य पक्षः सोऽस्य
सिद्धान्त इति वैतण्डिकत्वं जहाति । अथ न प्रतिपद्यते नायं लौकिको न
परीक्षक इत्यापद्यते । अथापि परपक्षप्रतिषधज्ञापनं प्रयोजनं ब्रवीति एतदिष
तादृगेव । यो ज्ञापयित, यो जानाति, येन ज्ञाप्यते, यच्च ज्ञाप्यते, एतच्च
प्रतिपद्यते यदि, तदा वैतण्डिकत्वं जहाति । अथ न प्रतिपद्यते, परपक्षप्रतिषधज्ञापनं प्रयोजनिमत्येतदस्य वाक्यमनर्थकं भवति । वाक्यसमूहश्च
स्थापनाहीनो वितण्डा । तस्य यद्यभिधेयं प्रतिपद्यते, सोऽस्य पक्षः स्थापनीयो भवति । अथ न प्रतिपद्यते प्रलापमात्रमनर्थकं भवति वितण्डात्वं
निवर्तत इति ।

न्यायवात्तिकम्

तत्र वादजल्पौ सप्रयोजनाविति भाष्यम् । तस्य कुत उत्थानम् ? तेनानेन प्रयो-जनेन सर्वे प्राणिनः सर्वाणि कर्माणि सर्वाश्च विद्या व्याप्ता इति । तत्र वादजल्पौ किं प्रयोजनाविति युक्तो विचार इत्यत आह, तत्र वादजल्पौ सप्रयोजनाविति । तस्मिन्

उस (न्यायभास) में वाद और जल्प के प्रयोजन होते हैं (यह स्पष्ट ही है), वितण्डा की तो परीक्षा करनी है (कि वह सप्रयोजन है या निष्प्रयोजन)। वितण्डा से प्रवृत्त होने वाला वैतण्डिक है। वह प्रयोजन पूछने पर (अनुयुक्तः) यदि स्वीकार कर लेता है (प्रतिपद्यते), वही उसका पक्ष है, वह इसका सिद्धान्त है, अतः वह वैतण्डिकता को छोड़ देता है। यदि नहीं स्वीकारता तो न यह लोकिक है न परीक्षक, ऐसा प्राप्त होता है (आपद्यते)। और भी, यदि दूसरे के पक्ष का प्रतिपेध दिखलाना (ज्ञापनम्) ही प्रयोजन वतलाता है, यह भी वैसा ही है—(१) जो बोध कराता है (ज्ञापयित), (२) जो बोध करता है (प्रतिपक्षी), (३) जिससे बोध कराया जाता है (युक्ति, पञ्चावयव वाक्य), (४) और जिसका बोध कराया जाता है, इसका यदि स्वीकार करता है तब वैतण्डिकता को छोड़ देता है। यदि नहीं स्वीकरता तो दूसरे के पक्ष का प्रतिपेध दिखलाना प्रयोजन है, इसका यह वाक्य अनर्थक हो जाता है। किञ्च, (पक्ष की) स्थापना से रहित वाक्यसमूह (ही) वितण्डा है। उस (वाक्यसमूह) के यदि अर्थ (अभिधेयम्) को स्वीकार करता है तो वह इसका स्थापनीय (स्थापना योग्य) पक्ष हो जाता है। यदि नहीं स्वीकारता तो उसका कथन केवल वक्वास (प्रलापमात्र) अनर्थक होता है। इस प्रकार वितण्डापन समाप्त हो जाता है। वक्वास कराया हो जाता है। इस प्रकार वितण्डापन समाप्त हो जाता है।

तत्र वादजल्पी सप्रयोजनी, यह भाष्य है। (शङ्का) उस भाष्य का कैसे उत्थान हो गया (यहाँ वादजल्प आदि का विचार कैसे किया जाने लगा, उनका ऋम तो है नहीं)।

तत्र—तस्मिन् न्यायाभासे (वा॰ १६, टी॰ ४४) यह ग्रन्थ प्रयोजन की ब्याख्या (न्यायाभास) में ही है।

प्रतिपत्ति:-अभ्युपगमः टी० ५५ प्रतिपद्यते-स्वीकार करता है।

[शास्त्रस्योद्देशः

38]

न्यायभाष्यम्

अथ इल्टान्तः । प्रत्यक्षविषयोः थाँ दृष्टान्तः, यत्र लौकिक-परीक्षकाणां दर्शन न न्याहन्यते । स च प्रमेयम् । तस्य पृथग्वचनं च तदा-श्रयावनुमानाग्मौ, तस्मिन् सति स्यातामनुमानागमौ, असति च न स्याताम् । न्यायवात्तिकम

न्यायाभास इति । वितण्डा तु परीक्ष्यते सप्रयोजना निष्प्रयोजना वेति । एके तावद् बु-वते निष्प्रयोजना, दूषणमात्रत्वादिति । तच्च नैयम्, न दूषणमात्रं वितण्डा । कि तहि अभ्युपेत्य पक्षं यो न स्थापयित स वैतण्डिक इत्युच्यते । अथ पक्षमि न प्रतिपद्यते , उन्मलवदुपेक्षणीयो भवति । अथ परपक्षप्रतियेधज्ञापनं प्रयोजनिमिति, ताद्योवैतत् । एतिस्मन्निप चतुर्वर्गं चेत् प्रतिपद्यते, सोऽस्य पक्षः । चतुर्वर्गो भाष्य उक्तः । अथ न प्रतिद्यपते पूर्ववद् उपेक्ष्यः । प्रतिपक्षस्थापनाहीनं च वाक्यं वितण्डेत्युच्यते । तस्याभिधेयं यद्यर्थं प्रतिपद्यते , सोऽस्य पक्षः । अथ न प्रतिपद्यते पूर्व-वद् दोषः । इत्युक्तं प्रयोजनम् ।

अब स्प्टान्त है। प्रत्यक्ष का विषय होने वाला अर्थ स्प्टान्त है, जहाँ लौकिक जनों तथा परीक्षकों की स्प्टि में विरोध न हो (न व्याहन्यते)। और, वह प्रमेय है। उसे पृथक इसलिये कहा गया है क्योंकि (१) उसके आश्रित ही अनुमान तथा आगम हैं, अनुमान और आगम उसके होने पर होते हैं, न होने पर नहीं होते। (२) उसके

इस प्रयोजन से सब प्राणी, सब कर्म तथा सब विद्याएँ व्याप्त हैं (इस प्रसङ्ग से) । हाँ यह विचार करना युक्तिसंगत है कि वाद और जल्प का क्या प्रयोजन है। इसी से कहते हैं उस (न्यायाभास) में वाद जल्प तो सप्रयोजन हैं तत्र = तिस्मन्, न्यायाभास में। वितण्डा की तो परीक्षा की जाती है कि वह प्रयोजन सहित है या प्रयोजन रहित। किन्हीं (एके) का तो कथन है कि प्रयोजनरहित; क्योंकि उसमें केवल परपक्ष का दोष दिखलाया जाता है। (निराकरण) और, वह ऐसा नहीं है, वितण्डा केवल दूपण ही नहीं है। तो क्या? स्वीकार करके जो पक्ष की स्थापना नहीं करता वह वैतण्डिक कहलाता है। यदि (वह) पक्ष को भी नहीं स्वीकारता तो पागल (उन्मत्त) के स्मान उपक्षा के योग्य है। यदि परपक्ष का प्रतिषेध दिखलाना (ही) प्रयोजन है, यह भी वैसा ही है। इसमें भी चतुर्वर्ग (बोधक, बोध्य, युक्ति तथा बोध का विषय) को स्वीकारता है, वह इसका पक्ष है। चतुर्वर्ग भाष्य में कह दिया गया है। यदि नहीं स्वीकारता तो पहले के समान उपेक्षा के योग्य है। किञ्च, प्रतिपक्ष की स्थापना से रहित वाक्य

यो ज्ञापयति—इस भाष्य में चतुर्वर्ग बतलाया गया है बोधक, बोध्य, युक्ति या अनुमान बाक्य, बोध का विषय, यही चतर्वर्ग है।

न्यायाभासे भाष्य में जो न्यायाभास का उल्लेख किया गया है उसके उदाहरण रूप में ही बाद तथा जल्प को प्रस्तुत किया गया है बाद और जल्प में वादी- प्रतिवादी दोनों के साधन समीचीन नहीं हो सकते अतः एक का न्याय दूसरे का न्यायाभास होगा (द्र० टी० ५४)।

माध्य उक्तः चतुर्वर्गं का क्या अभिप्राय है ? यह 'यो ज्ञापयित' आदि भाष्य में बतला दिया गया है।

| 34

2.2.2

न्यायभाष्यम

तदाश्रया न्यायप्रवृत्तिः । दृष्टान्तिवरोधेन च परपक्षप्रतिषेधो वचनीयो मवित । दृष्टान्तसमाधिना च स्वपक्षः साधनीयो भवित । नास्तिकश्च दृष्टान्तसम्यप्रगच्छन् नास्तिकत्वं जहाति । अनम्युपगच्छन् किसाधनः परसुपालभेत ? निष्कतेन च दृष्टान्तेन शक्यमिधातुम् साध्यसाधम्यांत् तद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहरणम् (१।१।३६) तद्विपर्ययाद् विपरीतम् (१।१।३७) इति ।

न्यायवात्तिकम्

प्रत्यक्षविषयोऽथीं दृष्टान्तः । किमुक्तं भवति ? लौकिकपरीक्षकाणां दर्शना-विघातहेतुरिति । एवं चात्मादिव्याप्तिरिति—दर्शनाविघातहेतुत्वेन दृष्टान्ते वृष्यं-माने आत्मादिव्याप्तं भवति । प्रत्यक्षादिविषयतायां चात्मादि त्यक्तं भवति । ततश्चो-दाहरणसत्रं व्यान्येत ।

आश्रित ही न्याय की प्रवृत्ति होती है। दृष्टान्त के विरोध से ही (च) परपक्ष का प्रतिभेध कहा जा सकता है और दृष्टान्त की अनुकूलता से (समाधिना) अपने पक्ष की स्थापना की जा सकती है। (३) और, नास्तिक दृष्टान्त को स्वीकार करता हुआ नास्तिकता को छोड़ देता है, न स्वीकार करता हुआ किस साधन से दूसरे का खण्डन (उपालम्भ) करेगा। किञ्च, निर्वचन किये गये दृष्टान्त से यह कहा जा सकता है कि साध्य के समान धर्म के कारण उसके धर्म वाला दृष्टान्त उदाहरण है (१।१।३६) और उसके विपरीत होने से विपरीत (वैधम्यं) उदाहरण होता है (१।१।३७)।

वितण्डा कहलाता है, उस (वाक्य) के वाच्य अर्थ (अभिघेय) को यदि स्वीकारता है वह इसका पक्ष है। यदि नहीं स्वीकारता तो पहले के समान दोप है। इस प्रकार प्रयोजन कह दिया गया।

प्रत्यक्ष का विषय होने वाला अर्थ इंट्टान्त है, इसका क्या अभिप्राय है ? लौक्षिक और परीक्षक जनों की दिष्ट (दर्शन) में अविरोध का निमित्त । और, इस प्रकार (प्रत्यक्ष शब्द का अर्थ 'दर्शन' करने पर) आत्मा आदि में भी (लक्षण की) व्याप्ति हो जायेगी—दिष्ट में अविरोध का हेतु इंप्टान्त है, ऐसी व्याख्या करने पर (यह कथन) आत्मा आदि में भी व्याप्त हो जाता है। और, प्रत्यक्ष के विषय को (इंड्टान्त) मानने में आत्मा आदि छूट जाते हैं ? और उससे उदाहरण सूत्र (तथा भाष्य) का विरोध होगा।

दर्शनाविधात हेतु:—भाष्य में 'प्रत्यक्षविषयः' यह कहा गया है। वात्तिककार ने प्रत्यक्ष का अर्थ दर्शन किया है। उनका आश्य है कि आत्मा, परमाणु आदि तो प्रत्यक्ष के विषय नहीं उनमें यह लक्षण नहीं जायेया और सूत्रकार ने इन्हें भी उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया है (२.१.६६,४.१.६७ इस पर टीकाकार ने बतलाया है कि यहां उदाहरणसूत्र का अर्थ उदाहरणलक्षणसूत्र नहीं अपितु सूत्रकार द्वारा दिये गये उदाहरण हैं।

न्यायभाष्यम्

अस्त्ययसित्यभ्यनुज्ञायमानोऽर्थः सिद्धान्तः । स च प्रमेयम् । तस्य पृथ्यवस्यनम्, सत्सु सिद्धान्तभेदेषु वादजल्यवितण्डाः प्रवर्तन्ते, नातोऽन्यथेति । न्यायवात्तिकम्

सोऽयं इष्टान्तः प्रभेयम्, उपलब्धिविषयत्वात् तस्य पृथगुपदेशो न्यायस्य तन्मूल-त्वात् । सित तस्मिल्लनुमानागमौ स्याताम्, असित च न स्यातामितिः पूर्वप्रत्यक्षमर्थम-नुमिमीते, पूर्वज्ञातं चार्यं परस्मायाचष्ट इति । नास्तिकस्य च व्यादातोऽभ्युपगमे, अन-भ्युपगमे वा । तदुक्तं भाष्य इति ।

अभ्युपगमव्यवस्था सिद्धान्तः । अभ्युपगम इदिमत्त्थम्भूतं चेति । इदिमिति सामान्यतः, इत्थम्भूतिमिति विशेषतः । तस्य व्यवस्था इदं सांख्येष्येय, इदं योगेष्वेवेति । सर्वतन्त्रसिद्धान्तस्ति न सिद्धान्तः, अव्यवस्थानात्—न ह्ययं क्विचिद् व्यवित्वत्त इति । तच्च न, योऽयं सर्वेत्रभ्युपगम इयमेव व्यवस्था । तस्य प्रमेयेऽन्तर्भू तस्य पृथग्वचनं वादा-विविषयत्वात्—सिद्धान्तभेदे सित वादजलपिवतण्डाः प्रवर्तन्त इति ।

यह है, इस प्रकार स्वीकार किया गया अथे सिद्धान्त है। और वह प्रमेय है, उसका पृथक् कथन (इसलिये) है (क्योंकि) सिद्धान्त का भेद होने पर ही वाद, जल्प, वितण्डा प्रवृत्ता होते हैं, इसके विना नहीं।

वह यह दण्टान्त प्रमेय है; व्योंकि प्रमा (उपलब्धि) का विषय है। उसका पृथक् कथन इसलिये किया गया है क्योंकि (१) (पञ्चावयव से युक्त) न्याय उसके आधार पर होता है, (२) उसके होने पर अनुमान तथा आगम हो सकते हैं, और न होने पर नहीं हो सकते; (अनुमाननिमित्तता), पहले प्रत्यक्ष किये गये अर्थ का (व्यक्ति) अनुमान करता है और (शब्दिनिमित्तता) पूर्व ज्ञात अर्थ का दूसरे को उपदेश करता है। (३) और, दण्टान्त को स्वीकारने या अस्वीकारने में नास्तिक (के मतों) का विरोध होता है। जैसा कि भाष्य में कहा गया है।

[सिद्धान्त] स्वीकृति की व्यवस्था सिद्धान्त है। स्वीकृति अर्थात् यह है और ऐसा है (यह मानना)। 'यह है', ऐसा सामान्य रूप से और 'ऐसा है' यह विशेष रूप से। उसकी व्यवस्था है, यह सांख्य के अनुयायियों में ही, यह योग के अनुयायियों में ही (माना जाता है)। (आक्षेप) तब सर्वतन्त्र सिद्धान्त (कोई) सिद्धान्त न होगा; व्यवस्था न करने से—क्योंकि वह कहीं व्यवस्थित नहीं होता। और, वह (कथन) ठीक नहीं; क्योंकि जो यह सबके द्वारा स्वीकृति है, यही व्यवस्था है। प्रमेय में अन्तर्भूत होने वाले उसका पृथक् कथन वाद आदि का विषय होने से (किया गया है)—सिद्धान्त का भेद होने पर वाद जल्प तथा वितण्डा प्रवृत्त होते हैं।

इदिमित्थम्भूतं चेति — तारपर्यंशिका में इसकी व्याख्या कुछ भिन्न प्रतीत होती है जिसका परिशुद्धि में सामञ्जस्य दिखाया गया है। यह सभी विचारणीय है।

प्रतिसन्धीयमानः-प्रतिपदं सन्धानं घटनं प्रतिसन्धानम्, टी॰ ५८।

(3.5.8]

न्यायभाष्यम्

साधनीयस्यार्थस्य यावति शब्दसमूहे सिद्धिः परिसमाप्यते, तस्य पञ्चावयवाः प्रतिज्ञादयः, समूहमपेक्ष्यावयवा उच्यन्ते । तेषु प्रमाणसमवायः । आगमः प्रतिज्ञा, हेतुरनुमानम्, उदाहरणं प्रत्यक्षम्, उपमानमुपनयः, सर्वेषा-मेकार्थसमवाये लामर्थ्यप्रदर्शनं निगमनिष्ठति ।

न्यायवात्तिकम्

अथावयवाः । अवयवा वाक्यैकदेशाः । कि पुनर्शाक्यम् ? पूर्वपदस्मृत्यपेक्षोऽन्त्य-पदप्रत्ययः स्मृत्यनुप्रहेण प्रतिसन्धीयमानो विशेषप्रतिपत्तिहेनुर्वाक्यम् । तस्य भागा एक-देशा इति । ते कियन्तः ? यावद्भिः सिद्धिः परिसमाप्यत इति । का पुनरियं सिद्धिः ? पदार्थस्य तथाता । का परिसमाप्तिः ? विशेषप्रत्ययः । ते समाख्याशब्दैरमिवीयन्ते प्रतिज्ञादय इति । तत्र 'आगमः प्रतिज्ञेति' न युक्तम्; आगमस्य तत्त्वव्यवच्छेदकत्वात्, प्रतिज्ञार्थस्य च प्रतिपाद्यत्वात् । आगमाधिगतस्य प्रतिपाद्यत्वादागमः प्रतिज्ञेति न दोषः —य एवार्थ आगमेनाधिगतः, तमेव परस्मायाच्चदे, इत्यागमः प्रतिज्ञेत्युच्यते ।

एवं लिङ्गदर्शनमात्रे हेतूपचारात् हेतुरनुमानमिति; यत् तद् द्वितीयं लिङ्ग-

सिद्ध करने योग्य (साध्य) अर्थ की जितने शब्दसमूह में सिद्धि पूर्ण होती है (परिसमाप्यते), उसके पांच अवयव हैं प्रतिज्ञा इत्यादि, वे समूह की अपेक्षा से अवयव कहलाते हैं। उनमें प्रमाणों का समन्वय (सलवायः) होता है: प्रतिज्ञा आगम है, हेतु अनुमान है, उदाहरण प्रत्यक्ष है, उपनय उपमान है और सब का एक अर्थ के समन्वय में सामर्थ्य दिखलाना निगमन है।

अव अवयव (कहे जाते) हैं। अवयव (अनुमान) वाक्य के एकदेश होते हैं। फिन्तु वाक्य क्या हैं? पहले पद की स्मृति की अपेक्षा करता हुआ अन्तिम पद का ज्ञान जो (पदार्थों की) स्मृति के सहकार (अनुग्रह) से प्रतिपद जुड़ता हुआ (प्रति-सन्धीयमानः) विशेष ज्ञान का निमित्त होता है, वह वाक्य है। उस (वाक्य) के अंश (भाग) अर्थात् एकदेश हैं। वे कितने हैं? जितनों से (अर्थ की) निद्धि पूर्ण हो जाती है (परिसमाप्यते) किन्तु यह सिद्धि क्या है? पदार्थ की तद्रपता या यथार्थता (तथाता)। पूर्णता क्या है। विशिष्ट प्रतीति (विशेषप्रत्ययः)। उन्हें प्रतिज्ञा आदि नामों से (समाख्याशब्दैः) कहा गया है। (शङ्का) उनमें प्रतिज्ञा आगम है, यह कहना युक्तियुक्त नहीं; वयोंकि आगम तो तत्त्व का निश्चायक (व्यवच्छेदक) होता है किन्तु (च) प्रतिज्ञा का विषय (अर्थ) साध्य (प्रतिपाद्य) होता है। (समाधान) आगम द्वारा जाना गया (अर्थ) प्रतिज्ञा द्वारा साध्य होने से प्रतिज्ञा आगम है, इस कथन में दोष नहीं—जो अर्थ आगम के द्वारा जान लिया जाता है उसे ही दूसरे के लिये कहता है। अतः प्रतिज्ञा आगम है यह कह दिया जाता है।

इसी प्रकार लिङ्गदर्शनमात्र में औपचारिक रूप से (हेतु शब्द का प्रयोग करने से) हेतु अनुमान है; जो वह द्वितीय लिङ्गदर्शन है उसे सम्बन्ध की स्मृति

वाक्यम्—तदेवमेकस्मृतिसमारोहेण एकार्यावच्छेदेन च पदानां समूहो वाक्यम्, टी० ५८ । पदार्थस्य तथाता—पदार्थं का साध्यधर्मं से विशिष्ट होना, धार्मिणः सिषाधिवतधर्मेविशिष्टत्वं ३८]

न्यायवात्तिकम्

दर्शनं तत् सम्बन्धस्मृतिव्यक्तिहेतुभावाद्धेतुरित्युच्यते। स्मृतिविषयस्य प्रत्यक्षतः पुनरुपदर्शनाद् उदाहरणं प्रत्यक्षम्; यस्मात् पूर्वानुभूतमर्थं स्मरति रैस्मृतं च विषयमुदा-हरणत्वेनादत्ते,इति, तेन पूर्वानुभवप्रसिद्धमनुविधीयमानं प्रत्यक्षमिव प्रत्यक्षमिति। कः पुनरुपमानार्थः ? अविप्रतिपत्तिः—यथा प्रत्यक्षे न विप्रतिपद्यते, एवमुदाहरणेऽपीति। यथा तथेत्युपमानैकदेशे उपमानोपचाराद् उपमानमुपनय इति—उपमानं खलु यथा तथेत्युपदेशोपयोगे सति प्रत्यक्षागमस्मृतिपूर्वकं सारूप्यज्ञानमुपमानिमिति, तत्नोपमानैकदेशे उपमानिमत्युपचरित्। सर्वेषामेकार्थसमनाये सामर्थ्यप्रदर्शनं निगमनिमिति। कः पुनः एकार्थसमवायः ? एकवाक्याच्यारोपः। कि पुनः सामर्थ्यम् ? इतरेतरसंप्रत्यायितार्था-पेक्षित्वम्। एतच्च वक्ष्याम इति। निगम्यन्तेऽनेन प्रतिज्ञादय एकार्थे संबध्यन्त इति।

(=संस्कार, टी॰) प्रकट करने (व्यक्ति) का हेतु होने के कारण हेतु कह दिया जाता है; स्मिति के विषय को फिर प्रत्यक्ष रूप में दिखलाने के कारण उदाहरण प्रत्यक्ष (ही) है; क्योंकि पूर्व अनुभव किये गये अर्थ का स्मरण करता है और याद किये विषय को उदाहरणरूप में लेता है; इसलिये पूर्व अनुभव से ज्ञात (प्रसिद्ध) का अनुसरण करता हुआ वह प्रत्यक्ष के समान अर्थात् प्रत्यक्ष है। फिर (यहाँ) उपमा का क्या अर्थ है ? वैमत्य (विप्रतिपत्ति) न होना, जैसे प्रत्यक्ष में मत-भेद नहीं होता (न-विप्रतिपद्यते), इसी प्रकार उदाहरण में भी। यथा-तथा (यथा गौ: तथा गवयः) इस उपमान के एक अंश में उपमान शब्द का उपचार करके उपनय को उपमान कहा गया है; वस्तुत: उपमान है-यथा (गी:) तथा (गवय:), इस उपदेश का उपयोग होने पर (गवय का) प्रत्यक्ष, शब्द तथा (अतिदेश वाक्य की) स्मृति के निमित्त से जो साद्दश्य ज्ञान होता है वह उपमान है, यहाँ उपमान के एक अंश (यथा-तथा) में उपमान शब्द का उपचार कर लेते हैं ! निगमन है, इन सबका एक अर्थ में संगति या समन्वय (समवाय) दिखलाना । किन्तु एक अर्थ में संगति क्या है ? एक वाक्य के रूप में समझना (अध्यारोप: बृद्धचा प्रतिसन्धानम्, टी०)। फिर सामर्थ्य क्या है ? एक दूसरे द्वारा बोधित (संप्रत्यायित) अर्थ की अपेक्षा होना (आकांक्षा) और इसे आगे कहेंगे। निगमन वह है जिससे प्रतिज्ञा आदि (अवयवों) की एक अर्थ में संगति दिखलाई जाती है।

वास्तवमित्यर्थः, टी० ५६।

लिङ्गदर्शनमात्रे हेतूपचारात — दितीय लिङ्गदर्शन जो व्याप्तिस्मृति का हेतु है, उसे ही यहां उप-चार से हेतु कह दिया गया है (द्र० टी० ५६-६०)।

प्रत्यक्षित्र— उदाहरण को प्रत्यक्ष के समान होने से प्रत्यक्ष कहा गया है, समानता है (१) यह (प्रत्यिभज्ञा प्रत्यक्ष के समान) पूर्वानुभव का अनुसरण करता है (२) प्रत्यक्ष के समान यहां भी सन्देह का अवकाश नहीं।

उपयोगः-तदर्थविषयोऽनुभवः (टी० ६०)।

एकार्थसमवाये — एक अर्थ से सम्बन्ध होने में, समवायः = सम्बन्धः, टी० ६०। भिन्न-भिन्न अवयबों १. तं च स्मृतिविषयम्, कः, स्मृतं च विषयम्, ख। 2.2.2]

38

न्यायभाष्यम्

सोऽयं परमो न्यायः इति । एतेन वादजलपवितण्डाः प्रवर्तन्ते, नातो-ऽन्यथेति । तदाश्रया च तत्त्वव्यवस्था । ते चैतेःवयवाः शब्दिवशेषाः सन्तः प्रमेयेऽन्तर्भू ता एवमर्थं पृथगुच्यन्त इति ।

न्यायवात्तिकम्

सोऽयं परमो न्यायः, इति । कः पुनः परमार्थः ? विप्रतिपन्नपुरुषप्रतिपादकत्वम्एकंकाः प्रमाणानि 'प्रवृत्तानि न विप्रतिपन्न पुरुषं प्रतिपादयन्ति, वाक्यभावापन्नानि पुनविप्रतिपन्नम्, अतोऽयं परम इति । कि पुनरवयवाः प्रमाणान्तरम्, उत तेष्वेवान्तर्भवन्तीति ? कि चातः ? यदि प्रमाणान्तरम्, परिसंख्यानमयुक्तम् । अथ तेष्वेवान्तर्भवन्ति, पृथगिभधानानर्थक्यमवयवानामिति । न प्रमाणान्तरमिति ब्रूमः; संहतानामेतेषां वाक्यपरतन्त्राणां विप्रतिपन्नपुरुषप्रतिपादकत्वेन पृथगुपादानिमिति । त एतेऽवयवाः प्रयाणेभ्यः पृथग् भवन्तो वादजल्पवितण्डानां प्रवृत्तिहेतवो भवन्ति, तत्त्वव्यवस्थायाश्चाश्रया भवन्तीति । क आश्रयार्थः ? विशेषप्रतिपादकत्विमिति ।

वह यह परम न्याय है। इससे वाद, जल्प और वितण्डा प्रवृत्त होते हैं, इसके विना नहीं। और, तत्त्व की व्यवस्था भी इनके आश्रित है। वे ये अवयव शब्द-विशेष हैं अतः प्रमेय में अन्तभूत हो जाते हैं किन्तु इस प्रकार के प्रयोजन (अर्थ) के लिए पृथक् कहे जाते हैं।

वह यह परम न्याय है (भाष्य) (प्रश्न) किन्तु परम शब्द का क्या अर्थ है ? (उत्तर) विवादों से ग्रस्त (विप्रतिपद्म) पुरुष को समझाना—एक एक प्रमाण उपस्थित होकर विवादों से ग्रस्त पुरुष को वोध नहीं कराता; किन्तु वाक्यरूप को प्राप्त होकर विवादों से ग्रस्त को (बोध करा देते हैं)। अतः यह (पञ्चावयव वावय) परम (न्याय) है। (प्रश्न) किन्तु अवयव पृथक् प्रमाण हैं अथवा उन्हीं (प्रमाणों) में अन्तर्भूत ही जाते हैं ? इस विचार से क्या होगा ? यिद (ये) अन्य प्रमाण हैं तो (चार ही प्रमाण हैं, यह) परिगणन युक्तियुक्त नहीं। यदि उनमें अन्तर्भाव हो जाता है तो अवयवों का पृथक् कथन व्यर्थ है। (उत्तर) ये अन्य प्रमाण नहीं हैं, यह हम कहते हैं, इनका पृथक् ग्रहण (उपादानम्) इसलिये किया गया है—(१) मिले हुए (पञ्चावयव) वाक्य के अधीन होकर विवादों से ग्रस्त पुरुष को बोध कराने वाले होते हैं; (२) वे ये अवयव प्रमाणों से पृथक् होते हुए वाद, जल्प और वितण्डा की प्रवृत्ति के हेतु होते हैं अतएव तत्त्व-व्यवस्था के आश्रय होते हैं। यहाँ आश्रय का क्या अर्थ है ? धर्मविशिष्ट धर्मी (विशेष) का बोध कराना।

की परस्पर आकांक्षा या एकवाक्यता (सामर्थ्य) दिखलाना ।

न प्रमाणान्तरिमिति ब्रूमः—यहां पञ्चावयव के पृथक् उपदेश के दो प्रयोजन कहे गये है (१) संहतानामित्यादि (२) त एते इत्यादि ।

विशेषप्रतिपादकत्वम् धर्मं से युक्त धर्मी विशेष कहलाता है। अवयव विशेष अर्थ के बोधक हैं इसीलिये तत्त्वव्यवस्था के आधार कहे गये हैं।

१. एकैकणः प्रमाणानि वर्त्तं मानान्यविष्रतिपन्नम्, क ।

[शास्त्रस्योद्देशः

80

न्यायभाष्यम्

तकों न प्रसाणसंगृहीतः, न प्रमाणान्तरम्, प्रमाणानायनुप्राहक-स्तत्त्वज्ञानाय कल्पत । तस्योदाहरणम्; किमिदं जन्म कृतकेन हेतुना निर्वर्त्यते, आहोस्विदकृतकेन, अथाकस्मिकमिति ? एवमविज्ञाततत्त्वेऽथें कारणोपपत्या उहः प्रवर्तते; यदि कृतकेन हेतुना निर्वर्ट्यते, हेतूच्छेदादु-पपन्नोऽयं जन्मोच्छेदः, अथाकृतकेन हेतुना, ततो हेतूच्छेदस्याशक्यत्वादनुषपन्नो जन्मोच्छेदः, अथाकस्मिकन्, ततोऽकस्मान्निर्वर्ट्यमानं न पुनिर्वरस्यितित् निवृत्तिकारणं नोपपद्यते; तेन जन्मानुच्छेद इति । एतस्मिस्तर्कविषये कर्मनिमित्तं जन्मिति प्रमाणानि प्रवर्तमानानि तर्कणानुगृह्यन्ते । तत्त्वज्ञान-विषयस्य च विभागात् तत्त्वज्ञानाय कल्पते तर्क इति । सोऽयमित्त्थम्भूतस्तर्कः प्रमाणसिहतो वादे साधनायोपालम्याय चार्यस्य भवतीत्योवमर्थं पृथगुच्यते प्रमेयान्तर्भू तोऽपीति ।

न्यायवात्तिकम्

तर्को न प्रमाणसंगृहीतो न प्रमाणान्तरम्, अपरिच्छेदकत्वात्—प्रमाणं परिच्छेद-कम्, न तर्कः, तस्मान्न प्रमाणम्, न प्रमाणान्तरमप्यत एव । प्रमाणविषयविभागात् तु प्रमाणानामनुग्राहकः, यः प्रमाणानां विषयस्तं विभजते ।

तर्क का न (उक्त) प्रमाणों से संग्रह होता है, न यह अन्य प्रमाण है। यह प्रमाणों का उपकारक (अनुग्राहकः) है और तत्त्वज्ञान में समर्थ होता है (कल्पते)। उसका उदाहरण है; क्या यह जन्म कार्यरूप (कृतक) हेतु से किया जाता है अथवा नित्य (अकृतकेन) से या अकस्मात् हो जाने वाला है? इस प्रकार जिसका वास्तविक स्वरूप (तत्त्व) नहीं जाना गया उस विषय में कारणों की युक्तता (उपपित्त) से ऊहा (ऊहः) होती है: यदि कार्यरूप हेतु से किया जाता है तो हेतु के नाश से जन्म का नाश बन जाता है, यदि नित्य हेतु से (किया जाता है) तो हेतु का नाश न हो सकने से जन्म का नाश भी नहीं वन सकता; और यदि (यह) अकस्मात् हो जाता है तो अकस्मात् उत्पन्न होने वाला फिर न उत्पन्न होगा, अतः (इसकी) समाप्ति (निवृत्ति) का कारण नहीं बन सकता, उससे जन्म का नाश न होगा। इस तर्क के विषय में 'कर्म के निमित्त से जन्म होता है' इसके लिये प्रवृत्त हुए प्रमाण तर्क के द्वारा अनुग्रहीत हो जाते हैं। और तत्त्वज्ञान के विषय की युक्तता-अयुक्तता का विचार करने के कारण (विभागात्) यह तर्क तत्त्वज्ञान के लिये (समर्थ) होता है। वह यह इस प्रकार का तर्क प्रमाणों के साथ वाद में (एक) अर्थ की सिद्धि और (दूसरे) मत के निराकरण (उपालम्भ) के लिये होता है। इसीलिये प्रमेयों में अन्तर्भूत होकर भी पृथक् कहा गया है।

तर्क का न (चार) प्रमाणों में संग्रह होता है न (यह) अन्य प्रमाण है; क्योंकि यह (अर्थ का) निश्चायक नहीं होता (अपिरच्छेदकत्वात्)। प्रमाण (अर्थ का) निश्चायक होता है, तर्क नहीं; अतः यह प्रमाण नहीं है। इसीिलये यह पृथक् प्रमाण भी नहीं है 8.8.8

न्यायवात्तिकम्

कः पुर्नावभागः ? युक्तायुक्तिविचारः—इदं युक्तिमिवमयुक्तिमिति । यत् तत्र युक्तं भवित तदनुजानाति, न त्ववधारयित । अनवधारणात्र प्रमाणं भवित । तस्रोदाहरणं भाष्ये; कर्मनिमित्तं जन्मेति । कथं पुनः कर्मनिमित्तता जन्मनः ? भेदवत्त्वात् । कः पुनर्भदः ? सुगतिर्दु गंतिश्चेति । सुगतौ देवो मनुष्य इति । ननुष्यत्वे पुमान् इतर इति । पुंस्त्वे ब्राह्मणोऽन्य इति । ब्राह्मणत्वे पिट्विन्द्रयो मृद्धिन्द्रय इति । पिट्विन्द्रयतायामुच्चान्त्रम् नीचाभिजन इति । उच्चाभिजनतायां सकतो निष्कल इति । साक्त्ये विद्वान् सूर्खं इति । विद्वताय समाद्वासी पिरत्रस्त इति । समाश्वासे वशी परायस इति । दुर्गताविप तिर्यग्नारक इति । नारकःवेऽपि कूट्यात्मल्यामयःकुम्भ्यामिति । तिर्यक्तान्यां गौरितर इति । सोऽयं भेदोऽनेकभवस्थितमित्यमेकद्रव्यं प्रत्यात्मित्यतं निमित्तमन्तरेण न युक्तः । किं कारणम् ? पृथिच्यादीनां सर्वपुष्यसाधारणत्वात्, पृथिच्यादिगतस्य च नियमहेतोरभावात् सर्व पर्वात्मकं प्रसज्येत । दृष्टदश्च नियमभेदः । तस्मात् कर्म नियामक्विति । सोऽयित्वस्यम्भूतस्तर्कं उपलाव्यविषयत्वात् प्रमेयम् ।

किन्तु प्रमाणों के विषय का विभाग करने से प्रमाणों का उपकारक है; जो प्रमाणों का विषय है उसका यह (तर्क) विभाग करता है।

किन्तु विभाग क्या है ? युक्त होने और युक्त न होने का विचार—यह युक्त है यह युक्त नहीं (ऐसा विचार) । वहाँ जो युक्त होता है उसका यह समर्थन करता है (अनुजानाति), निश्चय नहीं कराता । निश्चय न कराने से प्रमाण नहीं होता । उसका उदाहरण भाष्य में है (कर्मनिमित्तं जन्म आदि) । (प्रश्न) किन्तु जन्म का निमित्त कर्म कैसे है ? (उत्तर) भेद वाला (भेद का निमित्त) होने से। फिर भेद क्या है ? सद्गति और दुर्गति । सद्गति में देव तथा मनुष्य होता है मनुष्य होकर पुरुष या अन्य (स्त्री), पुरुव होकर ब्राह्मण या अन्य (ब्राह्मणेतर), ब्राह्मण होकर कुराल (पटु) इन्द्रियों वाला अथवा मन्द इन्द्रियों वाला, कुशल इन्द्रियों वाला होने में उच्च कुल वाला या नीच कुल वाला, उच्च कुल वाला होने में कला सहित या कलारहित (सकलो निष्कलः)। कलासहित होने में विद्वान् या मूर्ख, विद्वत्ता होने पर भली भाँति आश्वस्त (समाश्वासी) अथवा डरा सा (परित्रस्त), आश्वस्त होने पर स्वाधीन (वशी) या पराधीन। दुर्गति में भी पशु-पक्षी या नारकीय प्राणी, नारकीय प्राणी होने पर भी कूटशाल्मली में या अयः कुम्भी में, पशु-पक्षी होने पर गौ या अन्य । वह यह भेद एक न होने वाले स्थिर किन्तु अनित्य, एक द्रव्य में होने वाले प्रत्येक आत्मा में पृथक्-पृथक् स्थित निमित्त के विना युक्तिसंगत नहीं, क्या कारण है ? (१) पृथिवी आर्दि के सभी आत्माओं (पुरुष) के लिये समान होने से (२) और पृथियी आदि में स्थित नियम क हेतु अपरिच्छेदकत्वात्—अनिश्चायकत्वात्, टी० ६१। प्रमाणों के विषय का विभाग करने के कारण

तर्क अनिश्चयात्मक होता है, टी॰ ६१।
कर्मिनिमित्तं जन्म (भा॰) कर्म से अपूर्व (धर्म-अधर्म) उत्पन्न होता है और वह जन्म का निमित्त
होता है। यहां कार्य (धर्म तथा अधर्म) के लिये कारण (कर्म) का प्रयोग किया गया है (टी॰६२)।

्रं शास्त्रस्योद्देशः

न्यायशाष्यम्

82]

निर्णयस्तत्त्वज्ञानं प्रमाणानां फलम् । तदवसानो वादः । तस्य पाल-नार्थं जल्पवितण्डे । ताबेतौ तर्कनिर्णयौ लोकयात्रां वहतः। सोऽयं निर्णयः प्रमेयान्तर्भूत एवमर्थं पृथगुद्दिष्ट इति ।

न्यायवात्तिकम्

'निर्णयस्तत्त्वज्ञानं प्रमाणानां फलम्'। कदा पुर्नीनर्णयः प्रमाणानां फलं भवति ? यदा वस्त्वन्तरपरिच्छेदहेतुभावेन नोपादीयते तदा फलम्, यदा तेन परिच्छिनत्ति तदा प्रमाणमिति, न व्यवतिष्ठते प्रमाणफलभावः। एतच्च नक्ष्यामः प्रमेया च तुलाप्रामाण्य-वत् २। १। १६ इत्येतस्मिन् सूत्रे; निमित्तद्वयसमावेशादेकं वस्तु द्विशब्दवाच्यमिति। 'तावेतौ तर्कनिर्णयौ लोकयात्रां वहत' इति। बुद्ध्वा बुद्ध्वा लोकः प्रवर्तमानः तर्कनिर्ण-याभ्यां हेयं जहाति, उपादेयं चोपादत्ते। अस्यान्तर्भावः प्रमाणेषु प्रमेयेषु वा। यदा फलं तदा प्रमेयम्, यदानेन परिच्छिद्यते तदा प्रमाणम्।

न होने से सभी (कार्य) सब आत्माओं में होने लगेंगे। किन्तु (च) नियम का भेद देखा गया है, इसलिये कर्म नियामक है। वह यह इस प्रकार का तर्क प्रमा का विषय होने से प्रमेय है।

निर्णय तत्त्वज्ञान है, यह प्रमाणों का फल है। वाद उसमें समाप्त हो जाता है (तदवसानः = तद् अवसानं यस्य)। उस (तत्त्वज्ञान, निर्णय) की रक्षा के लिये जल्प और वितण्डा होते हैं। वे ये तर्क और निर्णय लोकयात्रा का निर्वाह करते हैं। वह निर्णय प्रमेय के अन्तर्गत होता हुआ भी इस लिये पृथक् बतलाया गया है।

निर्णय इत्यादि (भाष्य है)। (प्रश्न) किन्तु निर्णय प्रमाणों का फल कव होता है ? (उत्तर) जब अग्य वस्तु का निश्चय कराने के निभित्त के रूप में नहीं लिया जाता, तब फल होता, जब उससे कोई निश्चय करता. है तब प्रमाण होता है, इस प्रकार (निर्णय का) प्रमाण होना या फल होना नियत नहीं (न व्यवतिष्ठते = व्यव-स्थित नहीं)। और, यह हम' प्रमेया च तुलाप्रामाण्यवत् (२. १. १६) सूत्र (के वार्त्तिक) में कहेंगे कि दो निमित्तों का समावेश होने से एक (ही) वस्तु दो शब्दों का वाच्य हो जाती है। [तर्क और निर्णय को साथ रखने का प्रयोजन] वे ये तर्क और निर्णय लोकयात्रा का निर्वाह करते हैं: भली भाँति जानकर प्रवृत्त होता हुआ लोक तर्क तथा निर्णय के द्वारा त्यागने योग्य का त्याग कर देता है, ग्रहणयोग्य का ग्रहण कर लेता

निर्णय: - तर्कपूर्वक तत्त्व का निश्चय ही निर्णय है। यह प्रमाण और फल दोनों हैं धूम से अग्नि के

भेदवत्त्वात -- जन्मधारियों में भेद होने से।

सोऽयं भेदों ं न युक्तः एक निमित्त से विचित्रता नहीं हो सकती अतः 'अनेकम्' कहा गया हैं। इसी प्रकार वह धर्म-अधर्म अवस्थित है किन्तु अनित्य है, सुख दुःख को उत्पन्न करके नब्ट हो जाता है, वह प्रत्यात्मनियत है और प्रत्येक आत्मा में पृथक् पृथक् पूर्ण रूप से रहता है (एकद्रव्यम्)।

सुगति हुँगितिश्च सुगति के ६ प्रकार तथा दुर्गति के ३ प्रकार दिखलाये गये है। नारकीय गति (दुर्गति) के सन्दर्भ में कूटशाल्मली तथा अयः कुम्भी दो नरकों का उल्लेख किया गया है।

2.2.8

न्यायभाष्यम्

वादः खलु नानाप्रवक्तृकः प्रत्यधिकरणसाधनोऽन्यतराधिकरणनिर्णया-वसानो वाक्यसमूहः, पृथगुद्दिष्ट उपलक्षणार्थम्, उपलक्षितेन व्यवहार-स्तत्त्वज्ञानाय भवतीति ।

83

न्यायवात्तिकम्

'वादो नानाप्रवक्तृक' इति । सिद्धान्तभेदानुविधानात् नानाप्रवक्तृकः । 'प्रत्यधिकरणसाधनोऽन्यत् राधिकरणनिर्णयादकान' इति—अधिकरणमधिकरणं प्रति प्रत्यधिकरणम् । अस्य साधनम् । किमुक्तं भवति ? उभाभ्यां साधनं वक्तव्यमिति । अन्यत्ररिसम्ब्रधिकरणे निर्णयः । एतच्चं वक्ष्यामः । सोऽयं किरूपो वादः वाक्यसमूह इत्याह । ननु च प्रमाणतर्मसाधनोपालम्भ इति श्रूयते । प्रमाणानि च ज्ञानात्मकानिः 'इन्द्रियार्थसिक्तिकषोत्पन्नं ज्ञानम्' (१.१.४) इत्येवमादिना प्रक्रमेण प्रमाणानि ज्ञानात्म-कानीत्युक्तम् । तर्कश्चोहः । स चोहो ज्ञानात्मक एव । तस्माद् वाक्यसमूहो वाद इति न युक्तम् । न, प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भशब्दस्य अन्यथाव्याख्यानात् । तच्च सूत्रं वर्णयिष्यन्तो वक्ष्यामः ।

है। इस (निर्णय) का अन्तर्भाव प्रमाणों अथवा प्रमेयों में हो जाता है। जब यह फल होता है तब प्रमेय है, जब इससे (किसी अर्थ का) निश्चय किया जाता है तब प्रमाण होता है।

वाद तो वह वाक्यसमुदाय है, जिसमें अनेक वक्ता होते हैं, प्रत्येक साघ्य अथं (प्रत्यधिकरण) के लिये साधन दिखलाये जाते हैं, दो में से किसी एक अर्थ का अन्त में निश्चय हो जाता है। (अन्यतराधिकरणनिर्णयावसान: अन्यतरस्य अधिकरणस्य निर्णय: अवसान यस्य, किसी एक साघ्य के निर्णय से जिसका अन्त होता है)। भली भाँति दिखलाने के लिये (उपलक्षणार्थम्) उसका पृथक् नाम लिया गया है। भली भाँति देख गये से जो व्यवहार होता है वह तत्त्वज्ञान के लिये (समर्थ) होता है।

वादो नानाप्रवक्तृकः, यह भाष्य है, सिद्धान्त के भेद का अनुसरण करने के कारण इसमें अनेकवक्ता होते हैं। प्रत्यधिकरणसाधनः आदि भाष्य है। अधिकरण अधिकरण के प्रति = प्रत्यधिकरण, उसका साधन प्रत्येक साध्य की सिद्धि का साधन जिसमें होता है। क्या अभिप्राय है? दोनों (वादी तथा प्रतिवादी) को (अपने पक्ष की सिद्धि का) हेतु कहना होता है। फिर दोनों में से किसी एक (अन्यतर) साध्य का निर्णय होता है, यह आगे (१.२१) कहेंगे। उस इस वाद का क्या स्वरूप है? वाक्यों का समुदाय यह कहा गया है। शङ्का है (ननु च) प्रमाण तथा तर्क द्वारा (एक पक्ष की) सिद्धि और (दूसरे पक्ष का) निराकरण (उपालम्भ) जिसमें किया जाता है वह वाद है ऐसा (सूत्र १.२.१) सुना जाता है और प्रमाण तो ज्ञानस्वरूप हैं इन्द्रिय तथा अथं के सिन्न-कर्ण से उत्पन्न ज्ञान प्रत्यक्ष है (१.१.४) इत्यादि प्रकरण (प्रक्रमेण) से प्रमाण ज्ञानरूप

अनुमान में धूमविषयक निश्चय प्रमाण है अग्निविषयक निश्चय फल है। वादो नानाप्रवक्तृकः —यह भाष्य का अर्थानुवाद है, शब्दानुवाद नहीं।

न्यायभाष्यम्

तिहृद्दोषौ जल्पवितण्डे तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थिमित्युक्तम् । निग्रहस्थानेभ्यः पृथगुद्दिष्टा हेत्वाभासाः वादे चोदनीया भविष्यन्ति, जल्पवितण्डयोस्तु निग्रहस्थानानीति ।

न्यायवात्तिकम्

'तिद्विशेषौ जल्पवितण्डे' इति । कः पुनिवशेषः ? अङ्गाधिक्यमङ्गहानिश्चेति । छलजातिनिग्रहस्थानप्रयोगादधिको जल्पः । स प्रतिपक्षस्थापनाहीनस्तु वितण्डा । एतावता च विशेषेण कथामार्गभेद इति । विषयभेदाच्च भेदः शिष्यादिविषयो वादः, शिष्यमाणविषये जलपवितण्डे ।

हैं, यह कहा गया है और तर्क है ऊहा। वह ऊहा भी (च) ज्ञानरूप है। इसलिये वाक्यों का समुदाय वाद है, यह कहना युक्तियुक्त नहीं। [समाधान] यह ठीक नहीं; क्योंकि 'प्रमाणतर्कसाधनोपालम्स झब्द की अन्य प्रकार की व्याख्या है और वह सूत्र (१.२.१) का व्याख्यान करते हुए कहेंगे।

उस (वाद) के विशेष रूप (ही) जल्प तथा वितण्डा हैं, जो तत्त्व के निश्चय (अध्यवसाय) की रक्षा के लिथे होते हैं, यह कहा गया है (न्यायसूत्र ४.२.५०)।

निग्रहस्थानों से पृथक् हेत्वाभास कहे गये हैं; ये बाद में भी दिखलाने योग्य (चोदनीयाः) होते हैं। निग्रहस्थान तो जल्प तथा वितण्डा में दिखलाये जाते हैं।

वाद के भेद (वादिवशेष) जलप तथा वितण्डा हैं। किन्तु भेद क्या है ? कुछ अङ्गों की अधिकता और कुछ अङ्गों की न्यूनता। छल, जाति, निग्रहस्थान का प्रयोग होने से जला (वाद की अपेक्षा) अधिक है किन्तु (तु) वह (जल्प) प्रतिपक्ष की स्थापना से हीन होकर वितण्डा है। इतने भेद से (विशेषण) कथा का मार्ग—भेद होता है। और, विषय के भेद से भी (इनमें) भेद है—वाद का विषय (क्षेत्र) (गुरु) शिष्य आदि है और जल्प तथा वितण्डा के विषय अत्यन्त भ्रान्त, अल्पज्ञान से गर्विल (शिष्यमाण) जन हैं।

नानाप्रवक्तृक: नानाप्रवक्तारो यस्मिन् स तथा, अधिकियत इत्यधिकरणं साध्यम्, प्रत्यधिकरणं साधनं यस्मिन् वादे स तथोक्तः (टी० ६४)। इस विशेषण से वाद का वितण्डा से भेद हो जाता है; क्योंकि वितण्डा में प्रतिपक्ष की स्थापना नहीं की जाती। अन्यतर० इत्यादि विशेषण से वाद का जल्प से भेद हो जाता है, क्योंकि जल्प तो विजय की इच्छा से किया जाता है उसमें तत्त्व का निर्णय हो जाये, यह अनिवायं नहीं, टी० ६४।

अन्यथान्याख्यानात्—उस (१.२.१) सूत्र में साधन तथा उपालम्भ का विषय शब्द कहा गया है, यह समझना चाहिये, स्वपक्ष साधन तथा परपञ्जखण्डन शब्दों द्वारा होते हैं अतः कोई विरोध नहीं; साधनोपालम्भग्रहणस्य शब्दविषयत्वादविरोधः, टी० ६४।

कथामार्गभेद:—वाद, जल्प और वितण्डा तीन कथाएँ होती हैं। तीनों की प्रक्रिया (मार्ग) में भेद है तथा विषय में भी, यह आगे दिखलाया गया है।

शिष्यमाणे विषये—वाद तो गुरु-शिष्य आदि में होता है, जल्प में प्रत्येक (वादी-प्रतिवःदी) विजय की इच्छा रखता है उसमें छल जाति निग्रहस्थानों का प्रयोग किया जाता है, वितण्डा में 2.8.8]

1 8%

न्यायवातिकम्

अन्यतमिल्ङ्गधर्मानुविधानेन प्रवर्तमाना अहेतवः सन्तो हेतुवदामासन्त इति हेत्वाभासाः । ते च निग्रहस्थानम् । निग्रहस्थानपाप्तानां पुनरेषां पृथगुपदेशो वादे चोदनीयत्वाद् इति-भाष्यम् । यस्मात् किलेते वादे चोद्यन्ते अतः पृथग् उपिदश्यन्त इति । न, उभययाप्यसम्बन्धात्—न वादे चोदनीयत्वं पृथगुपदेशोवाः मावि, पृथगुपदेशो वा वादे चोदनीयत्वाविनाभावीति । यदि तावद् यः पृथगुपदिश्यते स वादे चोद्यत इति, सर्वे पदार्था वादे चोदनीयाः प्रसज्यन्त इति । कि कारणम् ? सर्वे पृथगुपदिष्टा इति । अय वादे चोद्यन्ते ये ते पृथगुपदिश्यन्त इति । तदिष न, अनेकान्तात्—न ताविन्नग्रहस्थानेभ्यो न्यूनाधिकथोः पृथगुपदेशः, अथ च चोद्यते वाद इति । तस्माद् वादे चोदनी-यत्वात् पृथगुपदेश इति, यत्किञ्चिदेतत् । एतदेव तु न्याय्यम्, पृथगुपदेशप्रयोजनं विद्या-प्रस्थानभेदज्ञायनार्थत्वादिति ।

लिङ्ग (हेत्) के किसी एक (अन्यतम) धर्म का अनुसरण करके प्रवृत्त होने वाने हेत् न होकर भी हेत् के समान भासित होते हैं अतः हेत्वाभास (कहलाते) हैं। और वे निग्रहस्थान ही हैं। किन्तु इन निग्रहस्थानों का पृथक् उपदेश किया गया है, क्यों ? बाद में दिखलाने योग्य होने से, यह भाष्य है। (एकदेशी) क्योंकि ये वाद में भी दिखलाये जाते हैं अत: इनका पृथक् उपदेश किया गया हैं। [एकदेशी का दोप] यह ठीक नहीं (न) दोनों प्रकार से भी सम्बन्ध न होने के कारण; न तो बाद में दिखलाया जाना पृथक् उपदेश का अविनाभावी है; अथवा न पृथक् उपदेश वाद में दिखताये जाने का अविनाभावी है। यदि तो जिसका पृथक् उपदेश है वह वाद में दिखलाया जाता है तब सारे पदार्थ वाद में दिखलाये जाने योग्य होने लगेंगे। क्या कारण है ? क्योंकि सबका पृथक् उपदेश किया गया है । फिर यदि जिनको बाद में दिखलाया जाता है उनका पृथक् उपदेश किया गया है । वह भी नहीं, सव्यभिचार होने से: न्यून और अधिक का तो निग्रहस्थानों से पृयक् उपदेश नहीं किया गया; किन्तु उन्हें वाद में दिखलाया जाता है। इसलिये वाद में दिखलाने योग्य होने से पृथक् उपदेश किया गया है यह अनर्थक (यत्किञ्चित्) है । [वात्तिककार की अभीष्ट व्याख्या] यह कहना तो युक्ति-युक्त है कि पृथक् उपदेश का प्रयोजन है विद्या (वाद, जल्प, वितण्डा) के व्यापार (प्रस्थान) के भेदों का बोध कराने के कारण। (अर्थात् पृथक् उपदेश विद्या के मार्ग भेद का बोध कराने के लिये किया गया है)।

प्रतिपक्ष की स्थापना ही नहीं की जाती, किसी प्रकार दूसरे के पक्ष का निराकरण करना ही अभिन्नेत होता है। इसलिये जल्पवितण्डा का विषय ज्ञिष्यमाण जन है, शिष्यमाणोऽत्यन्तविषयंतः दुर्ज्ञानाव-लेपदुविदम्ध इति यावत, टी० ६४।

हैत्वाभासा:—न्याय की दृष्टि से सद्हेतु के पांच या चार अङ्ग होते हैं, पक्षसत्त्व, सपक्ष-सत्त्व, विपक्षच्यावृत्ति, अवाधितविषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्व । अन्वय-व्यतिरेकी हेतु में ये पांचों रूप होते हैं, केवलान्वयी तथा केवलव्यतिरेकी में चार-चार रूप होते हैं । केवलान्ययी में विपक्षव्यावृत्ति नहीं होती, केवलव्यतिरेकी में सपक्षसत्त्व नहीं होता । उन पांच या चार रूपों में से किसी एक लिङ्ग रूप का अनुसरण करने वाला अहेतु ही हेत्वाभास होता है (द्र० टी० ६५) ।

[शास्त्रस्योहेशः

88]

न्यायवात्तिकम्

अथ कत्मात् निग्रहस्थानभावापन्नानां हेत्वामासानां पृथगुपदेश इति । प्रमाण-सामान्यात् पृथगुपदेशः । अथ कस्माद् वादे देश्यन्ते ? प्रमाणसामान्यात्—प्रमाणानि वादेऽभिधीयन्ते, प्रमाणसामान्यं च हेत्वाभासेष्वस्ति अतः प्रमाणसामान्याद् वादेऽिमधी-यन्त इति ।

अथ वादे निग्रहस्यानानि कानिचित् सन्ति कानिचित्रे ति; किमयं पदार्थानां नियोगः, अथ तथाभूतानामन्वाख्यानिमिति ? किं चातः ? यदि ताविन्नयोग एवं भवतैवं मा भूतेति पदार्थान् नियुञ्जानो भवानुपेक्षणीयः । अथ स्वरूपत एवाविस्थताः पदार्थाः, ताननुजानाति भवानिति कस्मान्निग्रहस्थानानि कानिचिद् वादे भवन्ति, कानिचित्नेति वक्तव्यम् । न, लक्षणपरतन्त्रत्वाद् अर्थतथाभावस्येति बूमः—न पदार्था वक्तुनियोगमनुविधीयन्ते, यथा तु भवन्ति तथाभूता एव अर्था अन्वाख्यायन्ते । सोऽयं-लक्षणपरतन्त्रं तत्त्वयन्वाचक्षाणो नाभ्याख्येयः पदार्था भवता नियुज्यन्त इति ।

तब निग्रहस्थान होने वाले (भावापन्नानाम्) हेत्वाभासों का पृथक् उपदेश क्यों किया गया है ? [परिहार] प्रमाणों से समानता होने के कारण पृथक् उपदेश किया गया है। (प्रश्न) और ये वाद में क्यों दिखलाये जाते हैं (उत्तर) प्रमाणों से समानता होने के कारण—प्रमाण वाद में कहे जाते हैं और हेत्वाभासों में भी प्रमाणों की समानता है इसलिये प्रमाणों की समानता होने से ये वाद में प्रयुक्त कर दिये जाते हैं।

(आक्षेप) अब वाद में कुछ निग्रहस्थान हैं, कुछ नहीं; क्या यह पदार्थों की नियुक्ति (=िनयोगः=िनयमन) है अथवा वैसे होने वालों (पदार्थों) की यह व्याख्या मात्र (अन्वाख्यानम्) है ? इससे क्या ? यदि यह नियोग है तो 'ऐसे हो जाओ' ऐसे मत होओं इस प्रकार पदार्थों का नियोग करने वाले आप उपेक्षा के योग्य हैं। और यदि सभी पदार्थ स्वरूप से स्थित हैं तो क्यों कुछ निग्रहस्थान वाद में होते हैं कुछ नहीं ? यह आपको वतलाना होगा। [परिहार] यह ठीक नहीं; क्योंकि हम कहते हैं कि पदार्थों की व्यवस्था (तथाभावो व्यवस्था टी० ६६) लक्षण के अधीन है, पदार्थ कक्ता के नियोग का अनुसरण नहीं करते, किन्तु जैसे होते हैं वैसे होते हुए ही उनकी व्याख्या की जाती है। वह यह लक्षण के अधीन होने वाले तत्त्व की व्याख्या करने वाला है उस पर यह प्रश्न नहीं किया जा सकता (नाभ्याख्येयः) कि आपके द्वारा पदार्थों का नियोग किया जा रहा है।

एतदेव तु न्याय्यम्—यह वार्तिककार का मत है (टी० ६५)। यहां विद्या शब्द का अर्थ है—वाद, जल्प, वितण्डा (कथा), वे परम्परा से निःश्रेयस के उपयोगी हैं। प्रस्थान का अर्थ है व्यापार (टी० ६५)। जिस प्रकार न्यायविद्या के सम्पण् ज्ञान के लिये षोडश पदार्थों का पृथक्-पृथक् उपदेश किया गया है उसी प्रकार वाद आदि का भेदपूर्वक ज्ञान कराने के लिये हेत्वाभासों का पृथक् उपदेश किया गया है। यह पृथक् उपदेश का प्रयोजन है। हेतु नहीं (द्र० परि० १४५)।

2.2.2.

[83

न्यायवात्तिकम्

वादस्य शिष्याविविवयत्वात्—न च शिष्यादिभिः सह वादं कुर्वाणेनापि अप्रतिभादिचो-दना कार्या तावदस्याभिवेयं यावदसौ बोधितो भवतीति । प्रमाणप्रतिरूपकत्वात् नु हेत्य-भासानामिवरोधः इति । कि कारणम् ? भ्रान्तेः पुरुषधर्मत्वात्—पुरुषधर्मं एव भ्रान्ति-रिति । सोऽयं भ्रान्त्या प्रमाणं ब्रुवन् प्रमाणाभासमिषि ब्रूते अतोऽस्य निग्रह इति । कः पुनः शिष्यावार्ययोनिग्रह इति ? विवक्षितार्थाप्रतिष्यदक्त्वम् । न्यूनाधिकापसिद्धान्तानां वादे कथमवतारः ? प्रमाणसामान्यादेवः न्यूनस्यापि प्रमाणसामान्यम्, अधिकस्यापि प्रमाणसामान्यमस्ति, अवयवहीनता चावयवाधिकता च वाक्यस्य भ्रान्त्या भवत इस्त्यव-तारः । 'जल्पवितण्डयोस्तु निग्रहस्थानानीति'—विजिगीषुर्जल्पवितण्डाभ्यां प्रत्यवस्थेयः । तस्य यथासंभवं निग्रहस्थानानि वक्तव्यानीति नोपेक्षणीयः ।

किञ्च, वाद का विषय शिष्य आदि होने से—और शिष्य आदि के साथ वाद करने वाले को भी 'अप्रतिभा' इत्यादि निग्रहस्थान नहीं दिखलाना चाहिये क्योंकि उसका कथनीय (अिमधेय) उतना ही है जितने से उस (शिष्य आदि) को बोध हो जाता है। प्रमाण के समान (प्रतिरूपक) होने से हेत्वाभासों का तो वाद में विरोध नहीं है। क्या कारण है? भ्रान्ति होना पुरुष का स्वभाव (धर्म) होने से—भ्रान्ति होना पुरुष का धर्म ही है. वह यह प्रमाण का कथन करता हुआ प्रमाणामास भी कह देता है, इसलिये इसका निग्रह हो जाता है। (प्रश्न) किन्तु शिष्य और आचार्य का निग्रह क्या है? (उत्तर) जो अर्थ कहना अभीष्ट है (विविक्षत) उसे न कहना (अप्रतिपादकत्वम्)। (प्रश्न) न्यून, अधिक तथा अपसिद्धान्त (नामक निग्रहस्थानों) का वाद में प्रयोग (अवतारः) कैसे हो सकता है? (उत्तर) प्रमाणों के समान होने से ही; न्यून की भी प्रमाणों से समानता है, अधिक की भी प्रमाणों से समानता है; वाक्य के अवयवों की न्यूनता तथा अवयवों की अधिक की भी प्रमाणों से समानता है; वाक्य के अवयवों की न्यूनता तथा अवयवों की अधिकता भ्रान्ति से हो जाती है इसलिये (न्यून अधिक आदि का) प्रयोग हो जाता है। जल्प और वितण्डा में तो निग्रहस्थानों का प्रयोग होता है—जो विजय की इच्छा वाला (विजिगीपु) है उसका जल्प और वितण्डा से सामना करना होता है (प्रत्यवस्थेयः)। उसके लिये यथासंभव निग्रहस्थानों का प्रयोग करना होता है (प्रत्यवस्थेयः)। उसके लिये यथासंभव निग्रहस्थानों का प्रयोग करना होता, वह उपेक्षा के योग्य नहीं है।

निग्रहस्थानभावापन्नानाम् अक्षेप है,हेत्वाभास भी निग्रहस्थान ही हैं फिर इनका पृथक् उपदेश क्यों किया गया है। परिहार है, प्रमाणसामान्यात् — निग्रहस्थान के रूप में इनका प्रयोग नहीं किया जाता अपि तु हेतु समझकर प्रयोग कर दिया जाता है। इसलिये वाद में भी इनका प्रयोग हो जाता है (टी० ६४-६६)।

कि कारणम्—टीका के अनुसार यह आक्षेप है कि निश्चित कर लेने वाले ही वाद करते हैं और निश्चय प्रमाण का फल है, फिर वाद में अप्रमाण का अवकाश कहां। परिहार है—

भारते:— भारित से वाद में हेरवाभासों का प्रयोग संभव है (पृ०६६) । वस्तुतः वाद में हेरवाभास क्यों होते हैं ? यह स्पष्ट करना ही ग्रन्थ का आशय प्रतीतहोताहै ।

१. ०मवरोध इति, क,० मिवरोध इति, ख।

न्यायभाष्यभ्

छलजातिनिग्रहस्थानानां पृथगुपदेश उपलक्षणार्थः। उपलक्षितानां स्व-वाक्ये परिवर्जनं छलजातिनिग्रहस्थानानां परवाक्ये पर्यनुयोगः। जातेस्तु परेण प्रयुज्यसानायाःसुलभः समाधिः स्वयं च सुकरः प्रयोग इति। न्यायवात्तिकम्

छलजातिनिग्रहस्थानानां स्ववाक्ये परिवर्जनम्, परवाक्ये 'पर्यंनुयोगः' परिज्ञानार्थमेव केवलम् । छलजातिनिग्रहस्थानानि स्वयं न प्रयोज्यानीति । जातेस्तु 'स्वयं' च सुकरः
प्रयोग इति । न व्याघातात्—स्वाक्ये परिवर्जनम् । सुकरश्च प्रयोग इति व्याहतम् ।
यदि सुकरः प्रयोगः, न स्ववाक्ये परिवर्जनम्, अथ स्ववाक्ये परिवर्जनम् न सुकरः प्रयोग
इति व्याघातः । न व्याघातः, प्रश्नापाकरणार्थत्वात्—स्वयं च सुकरः प्रयोग इति किमुक्तं भवति ? परेण जातौ प्रयुक्तायां प्राहिनकान् ब्रवीति जातिरनेन प्रयुक्तेति । त एवं
पर्यनुयुञ्जीरन्, कथं जातिः, कतंमा जातिरिति ? अतो जात्यभिज्ञः सुखं शक्नोति वक्तुम्
एवं जातिः, इयं च जातिरिति । एवं च सुकरः प्रयोग इति । तस्मादेते संज्ञयादयः
पदार्थाः प्रमाणे प्रमेथे चान्तर्भवन्तो विद्याप्रस्थानभेदज्ञापनार्थं पृथगुपदिष्टा इति ।

छल जाति तथा निग्रहस्थानों का पृथक् उपदेश भली-भाँति ज्ञान कराने (उप-लक्षण = परिज्ञान वा०) के लिये किया गया है। भली भाँति जाने गये छल जाति निग्रह-स्थानों का अपने वाक्य में त्याग और दूसरे के वाक्य में दिखलाना (पर्यनुयोगः) (संभव है); दूसरे (प्रतिपक्षी) के द्वारा प्रयुक्त की गई जाति का (तो) समाधान करना (समाधिः) सुलभ होता है और स्वयं प्रयोग करना सरल है।

छल जाति और निग्रहस्थानों का अपने वाक्य (पञ्चावयव वाक्य) में छोड़ना और प्रतिवादी के वाक्य में दिखला देना (पर्यनुयोगः), केवल इसको भली भांति जानने के लिये (ही उपदेश किया गया है)। (आक्षेप) छल, जाति और निग्रहस्थानों का (वादी को) स्वय प्रयोग नहीं करना चाहिये, जाति का तो स्वयं भी प्रयोग करना सरल है (यह कथन) ठीक नहीं, परस्पर विरोध होने से (व्याघातान्)—अपने वाक्य में छोड़ना और स्वयं प्रयोग करना सरल है, यह परस्पर विरुद्ध है: यदि प्रयोग करना सरल है तो अपने वाक्य में त्याग नहीं होगा, और यदि अपने वाक्य में त्याग करना सरल है तो प्रयोग करना सरल न होगा; इस प्रकार परस्पर-विरोध है। [परिहार] परस्पर विरोध नहीं, प्रश्नों का उत्तर देने के लिये होने से (प्रश्नानाकरणार्थत्वान्)—स्वयं प्रयोग करना सरल है इससे क्या कहा गया है? दूसरे (प्रतिपक्षी) के द्वारा जाति का प्रयोग किया जाने पर सभ्यों (प्राध्निकान्) से (वादी) कहता है, इसने जाति का प्रयोग किया है वे (सभ्य) यदि इस प्रकार पूछें, जाति कैसे है? कौन-सी जाति है। इस पर जातियों को भली माँति जानने वाला सुखपूर्वक कह सकता है कि इस प्रकार जाति है और यह जाति है। इस प्रकार प्रयोग करना

उपलक्षणार्थम् —परिज्ञानार्थम् , टी० ६६ । पर्यनुयोगः —परवाक्ये चोद्भावनम् , टी० ६६, । प्रक्तापाकरणार्थत्वात् = प्रश्न | अपाकरणार्थत्वात् = प्रश्नों का उत्तर देने के लिये । प्रादिनकान् —सभ्यान् , टी० ६७, प्रश्न करने वालों को ।

न्यायभाष्यम

सेयमान्वीक्षिकी प्रमाणादिभिः पदार्थेविभज्यमाना, प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम् । आश्रयः सर्वधर्माणां विद्योद्देशे प्रकीर्तिता ॥ इति ।

न्यायवात्तिकम्

सेयमान्वीक्षिकी न्यायिवद्या 'प्रमाणादिभिः पदार्थेविभज्यमाना प्रदीपः सर्व-विद्यानां' भवति, प्रकाशकत्वात् प्रदीपः । प्रमाणादिप्रतिपादितमर्थमितरा विद्याः प्रतिपद्यन्त इति । किमितरासु विद्यासु प्रमाणादीनि न सन्ति ? न सन्तीत्याह । कथं न सन्ति ? अनिधकारात् । न ता विद्याः प्रमाणादिपरिज्ञानेनाधिकियन्त इति, प्रमाणादिप्रकाशिते त्वर्थे ताः प्रवर्तन्त इति । 'उपायः सर्वकर्मणामिति', प्रमाणप्रका-शितानां करणादुपायः—यस्मात् प्रमाणप्रकाशितमर्थमितरा विद्याः कुर्वन्ति । 'आश्रयः सर्वधर्माणामिति'—सर्वविद्योपकारकत्वादाश्रयः सर्वासां विद्यानामियमुपकरोति, उपका-रित्वादाश्रयो राजभृत्यवदिति ।

सरल है। इसलिये ये संशय आदि पदार्थ प्रमाण में तथा प्रमेय में अन्तर्भूत होकर भी विद्या के व्यापार (कार्य = प्रस्थान) का भेद दिखलाने के लिये पृथक् कहे गये हैं। वह यह न्यायिवद्या (आन्वीक्षिकी) प्रमाण आदि पदार्थी द्वारा विभक्त की

गई--

सव विद्याओं का प्रदीप है, सब कर्मों का उपाय है। सब धर्मों का आधार है, विद्याओं के उल्लेख में कही गई है।। इति।

वह यह आन्वीक्षिकी अर्थात् न्यायिवद्या प्रमाण आदि पदार्थों के द्वारा विभक्त की गई, सब विद्याओं का प्रदीप होती है—प्रकाशक होने से यह प्रदीप है। भाव यह है कि प्रमाण आदि द्वारा बतलाये गये अर्थ को अन्य विद्याएँ स्वीकार लेती हैं। (प्रश्न) क्या अन्य विद्याओं में प्रमाण आदि नहीं होते? (उत्तर) नहीं, यह कहते है। (शङ्का) क्यों नहीं हैं? (समाधान) अधिकार (प्रकरण, प्रारम्भ) न होने से—वे विद्याएँ प्रमाण आदि के बोधक रूप से आरम्भ नहीं होतीं; किन्तु वे प्रमाण आदि से प्रकाशित अर्थ में प्रवृत्त होती हैं। सब कर्मों का उपाय है, प्रमाण द्वारा प्रकट किये गये (कार्यों) को करने से (यह विद्या) उपाय है—क्योंकि प्रमाणों द्वारा प्रकाशित अर्थ (कार्य) को अन्य विद्याएँ करती हैं (अतः न्यायिवद्या सब कार्यों का उपाय है)। सब धर्मों का आधार है; सब विद्याओं की उपकारक होने से यह (न्यायिवद्या) आधार है—यह सबविद्याओं का उपकार करती है, उपकारक होने से आश्रय है जिस प्रकार राजा के भृत्य (सेवक) (आश्रय होते हैं)।

आश्रयः सर्वधर्माणाम् सव विद्याओं में पुरुष की प्रवृत्ति कराने वाले धर्म होते हैं। उनका आश्रय न्यायिवद्या है। वात्तिककार की व्याख्या के अनुसार धर्मों के द्वारा यह सव विद्याओं का आधार है। किसी विद्या से प्रवृत्ति कराने में यह सहकारी होती है सर्वासां विद्यानां पुरुषप्रवर्तना धर्माः तेषामाश्रयः। वात्तिककारस्तु धर्मद्वारेण विद्यानामेवाश्रय इति व्याचष्टे......। विद्यमा

न्यायभाष्यम्

'तिददं तत्त्वज्ञानं निःश्रेयसाधिगमश्च यथाविद्यं वेदितव्यम् । न्यायवात्तिकम्

'तिददं तत्त्वज्ञानं निःश्रेयसाधिगमश्च यथाविद्यं वेदितच्यम्'; सर्वासु विद्यासु तत्त्वज्ञानमस्ति निःश्रेयसाधिगमश्चेति । त्रय्यां तादत् किं तत्त्वज्ञानं कश्च निःश्रेयसाधिगम इति ? तत्त्वज्ञानं तावदिग्नहोत्रादिसाधनानां स्वागतादिग्रिज्ञानमनुपहतादिश्रिज्ञानं च । निःश्रेयसाधिगमोऽिष स्वर्गप्राप्तिः । तथा ह्यद्व स्वर्गः फलं श्रूयत इति । अथ वार्तायां किं तत्त्वज्ञानं को वा निःश्रेयसाधिगम इति ? भूम्यादिग्रिज्ञानं तत्त्वज्ञानम्; भूमिः कण्टकाद्यत्रपहतेत्येतत् तत्त्वज्ञानम्, निःश्रेयसं सस्याधिगमस्तत्फलम् । दण्डनीत्यां किं तत्त्वज्ञानं को वा निःश्रेयसाधिगम इति ? सामदानभेददण्डानां यथाकालं यथादेशं यथाद्यक्ति विनियोगस्तत्त्वज्ञानम्, निःश्रेयसमिष् पृथिवीविजय इति । इह त्वध्यात्म-विद्यायामात्मादिज्ञातं तत्त्वज्ञानम्, निःश्रेयसाधिगमोऽपवर्गप्राप्तिरिति ।

उस इस तत्त्वज्ञान को और निःश्रेयस की प्राप्ति को विद्याओं के अनुसार (यथाविद्यम्) जान लेना चाहिये ।

उस तत्त्वज्ञान को और निःश्रेयस की प्राप्ति को विद्याओं के अनुसार जानना चाहिये; सब विद्याओं में तत्त्वज्ञान होता है और निःश्रेयस की प्राप्ति मी। (प्रश्न) तब त्रयी विद्या में क्या तत्त्वज्ञान है और क्या निःश्रेयस की प्राप्ति है? (उत्तर) तत्त्वज्ञान तो अग्निहोत्र आदि के साधनों का विशुद्ध जीविका से आजत होने (स्वागत) आदि का ज्ञान और और किसी के द्वारा विकृत न होने (अनुपहत) आदि का ज्ञान है. निःश्रेयस की प्राप्ति भी स्वर्ग की प्राप्ति है; क्योंकि यहाँ (त्रयी में) स्वर्ग फल सुना जाता है। (प्रश्न) और, वार्ता में क्या तत्त्वज्ञान है अथवा क्या निःश्रेयस की प्राप्ति है? (उत्तर) भूमि आदि का भली भाँति ज्ञान तत्त्वज्ञान है—भूमि कण्टक आदि से विकृत नहीं है (अनुपहता), यह तत्त्वज्ञान है; निःश्रेयस है फसल की प्राप्ति जो उस (तत्त्वज्ञान) का फल है। (प्रश्न) दण्डनीति में क्या तत्त्वज्ञान है अथवा क्या निःश्रेयस की प्राप्ति है? (उत्तर) साम, दान, भेद और दण्ड (चारों उपायों) का समय और देश के अनुसार यथाशक्ति काम में लाना (विनियोगः) तत्त्वज्ञान है और पृथिवी की विजय निःश्रेयस है। यहाँ अध्यात्मिवद्या में तो आत्मा आदि का ज्ञान तत्त्वज्ञान है और मोक्ष की प्राप्ति निःश्रेयसाधिगम है।

प्रवर्तनायां कर्तव्यायामियं सहकारितयोपकरोतीत्यर्थः, टी० ६८ ।

सर्वासु....च तत्त्वज्ञान और निःश्रेयस दोनों यौगिक शब्द हैं अतः चारों विद्याओं (लयी, वार्ता, दण्डनीति और आन्वीक्षिकी) में भिन्न-भिन्न होते हैं, जिनकी व्याख्या वार्त्तिक में की गई है। है स्वागतादि:—विशुद्धे नार्जनेन होमसाधनस्य द्रव्यस्य प्राप्तिः स्वागतम् । आदिग्रहणेन क्रमपर्यन्ता क्रग्रामसाकल्यं गृह्यते, टी० ६८।

अनुपहत - श्वमार्जारादिभिरनुपवातः = अनुपहतत्वम् । आदिग्रहणाद् विण्दोऽभिसन्धिरिति, टी०६=।

न्यायवात्तिकम्

यत्पुनः प्रभाणादितत्त्वज्ञानात्रिःश्रेयसम् न तद् विवक्षितम् । मदमानादिनिमित्तत्वाद् वादादिपरिज्ञानस्य नाभिसम्बन्धो निःश्रेयसेनेति केचित् । न चानश्रिसम्बद्धं प्रतिपादयतीति, अयुक्तयुक्तं प्रमाणादितत्त्वज्ञानान्निः श्रेयसमिति ? न, सूत्राश्रापरिज्ञानात्—सूत्रार्थं नो न व्यज्ञासीः, यत एवं प्रत्यपत्याः । क एवं सूत्रार्थं वर्णयन्ति
प्रमाणादिपदार्थतत्त्वज्ञानान्निः श्रेयसमिति ? अपि नु यत्परिज्ञानान्निःश्रेयसं तदनन्तरसूत्रे
वश्यायः । उक्तं च आत्मादेः खलु प्रभेयस्य तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगम इति । यच्चेदमुच्यते, मदमानादिनिमित्तभूता वादादय इति । एतच्च न, असित भावात् सित
चाभावात्—असित वादादिज्ञाने रागादयः सनकादीना भवन्ति, सित च तत्त्वविदां न
भवन्ति । तस्मान्न निमित्तं वादादिएरिज्ञानं रागादीनामिति । १.१.१।।

न तत्त्वपरिज्ञानादपवर्ग उभयथा दोषात् । यदि तावत् तत्त्वज्ञानानन्तरमेवापवर्गः

[णङ्का-समाधान] जो (कहा गया है कि) प्रमाण आदि के तत्त्वज्ञान से निःश्रेयस होता है । वह तो सूत्रकार को कहना अभीष्ट (विवक्षित) नहीं है । (शङ्का की व्याख्या) वाद आदि का भली भाँति ज्ञान मद-मान आदि का निमित्त होने से उसका निःश्रेयस (अपवर्ग) से सम्बन्ध नहीं होता, यह कोई कहते हैं (केचित्) । और असम्बद्ध (अनिभ-सम्बद्धम्) का (सूत्रकार) प्रतिपादन नहीं करता, अतः यह युक्तिविरुद्ध कहा है कि प्रमाण आदि के तत्त्वज्ञान से दि:श्रेयस होता है। [समाधान की व्याख्या] यह ठीक नहीं, सूत्र का अर्थ भली भांति न जानने से -- हमारे (नो) सूत्र का अर्थ तुमने नहीं जाना जिससे ऐसा समझ लिया। कौन ऐसा सूत्र का अर्थ कहते हैं कि प्रमाण आदि पदार्थों के तत्त्वज्ञान से निःश्रेयस होता है। वस्तुतः जिसके सम्यग् ज्ञान से निःश्रेयस होता है वह अग्रिम (अनन्तर) सूत्र में कहेंगे और (भाष्य में) कह भी दिया है 'आत्मा आदि प्रमेय के तत्त्वज्ञान से ही निःश्रेयस की प्राप्ति होती है'। और जो यह कहा गया है कि वाद आदि मद, मान आदि के निमित्त होते हैं। यह भी (च) नहीं; न होने पर हो जाने से और होने पर न होने से—वाद आदि का ज्ञान न होने पर सनक आदि (मुनियों) को राग आदि हो जाते हैं और (वाद आदि का ज्ञान) होने पर भी तत्त्वज्ञानियों को नहीं होते। इसलिये वाद आदि का ज्ञान राग आदि का निमित्त नहीं। १।१।१॥

(पूर्वपक्ष) तत्त्वज्ञान से अपवर्ग नहीं होता, दोनों प्रकार से दोष होने के कारण यदि तत्त्वज्ञान के एकदम पश्चात् ही अपवर्ग हो जाये तो तत्त्वज्ञान वालों (तद्वताम्)

सूत्रार्थापरिज्ञानात्—यह सूत्र का अर्थ नहीं कि प्रमाणादि सभी का तत्त्वज्ञान साक्षात् अपवर्ग का उपयोगी होता है; किन्तु आत्मा आदि का तत्त्वज्ञान साक्षात् निःश्रेयस का निमित्त है, अन्यों का ज्ञान परम्परया। उनमें जल्प आकि के द्वारा दूसरे के अहङ्कार की शान्ति करना अवान्तर व्यापार है अतः वे भी नि श्रेयस के विरोधी नहीं अपितु अनुकूल हैं।

अतः व भा ति श्रयस के विरोधा नहा जानपु अपुरूष है। एतच्च न-वाद आदि मदमान आदि के निमित्त हैं, यह हेतु असिद्ध है।

इति—यह शब्द सूत्र की समाप्ति का सूचक है।

न्यायसूत्रं भाष्यं च

तत् खलु वै निःश्रेयसं किं तत्त्वज्ञानानन्तरमेव भवति ? नेत्युच्यते । किं तर्हि ? तत्त्वज्ञानाद्

दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषिमध्याज्ञानानामुत्तरीत्तरायाये तदनन्तरा-भावादयवर्गः ।१।१।२।।

न्यायवातिकम्

स्यात्, तद्वतामवस्थानं न स्यात् । तद्वतां चावस्थानं दृष्टम् । कुतः? शास्त्रसम्प्रदा-याविच्छेदात् । सम्प्रदायो नाम शिष्याचार्यसम्बन्धस्याविच्छेदेन शास्त्रप्राप्तिः । यदि तत्त्वज्ञानादनन्तरमपवर्गःस्यात्, शास्त्रसम्प्रदायो विच्छिद्येत । यस्य यदा तत्त्वज्ञान मृत्पन्नं स तदैशापत्रृक्तं इति । अयोत्पन्नतत्त्वज्ञानोऽवितष्ठिते, न तत्त्वज्ञानं कारणम्, सत्यप्यभावात्—सत्यिव तत्त्वज्ञाने यस्याभावान्नापवृज्यते, सोऽन्योऽर्थं इति । कारणं हि नाम तस्य तद् भवति यस्मिन् सति यद् भवति, यस्मिश्चासित यन्न भवति, अनिधा-तार्थपूर्वकृत्वं वा शास्त्रस्य स्यात्; अथ तत्त्वज्ञानानन्तरमपवर्गो वातपुत्रीयं शास्त्रं प्राप्नो-ति, न तत्त्वदृक्पूर्वकिमिति ।

(प्रक्रन) वह निःश्रेयस (अपवर्ग) क्या अवश्य ही (खलु वै) तत्त्वज्ञान के एक-दम पण्चात् ही हो जाता है ? (उत्तर) नहीं, यह कहा जाता है। तो क्या होता है ? तत्वज्ञान से—

दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष और मिथ्या ज्ञान में से अग्निम-अग्निम का नाज होने पर उससे एकदम पहले का अभाव हो जाने से मोक्ष (अपवर्ग) होता है।१।१।२।

की संसार में स्थित न रहे, किन्तु (च) तत्त्वज्ञानियों की स्थित देखी जाती है। कैसे ? शास्त्र की परम्परा (सम्प्रदायों) का नाश (विच्छेद) न होने से, परम्परा (सम्प्रदाय) है शिष्य तथा आवार्य का सम्बन्ध निरन्तर होने से (अविच्छेदेन) शास्त्र की प्राप्ति । यदि तत्त्वज्ञान के एकदम परचात् अपवर्ग हो जाये तो शास्त्र का सम्प्रदाय (परम्परा) टूट जाये । जिसको जब तत्त्वज्ञान हो जाये वह तभी मुक्त हो जाये (अपवृक्तः अपवर्ग प्राप्तः), यदि जिसे तत्त्वज्ञान उत्पन्न हो जाये वह स्थित रहे तो तत्त्वज्ञान (अपवर्ग का) कारण न होगा; क्योंकि उसके होने पर भी (अपवर्ग का) अभाव रहता है, तत्त्वज्ञान के होने पर भी जिसके न होने पर भी (अपवर्ग का) अभाव रहता है, तत्त्वज्ञान के होने पर भी जिसके न होने पर जो होता है (अन्वय) और जिसके न होने पर जो नहीं होता (व्यतिरेक) । अथवा शास्त्र ऐसा हो जायेगा जिसके अर्थ को पहले जाना नहीं गया (अनिधगतः अर्थः पूर्व यस्य तादृशं तस्य भावः) । और यदि तत्त्वज्ञान के एकदम पश्चात् अपवगं हो जाये तो शास्त्र प्रलापमात्र (=वातपुत्रीयम्-वातपुत्रेणोक्तम्, वातपुत्र से कहा गया) हो जाता है, तत्त्व-द्रष्टा द्वारा उक्त (तत्त्वदृक्पूर्वकम्) नहीं ।

दुःखजन्म —प्रथम सूत्र में ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय तथा प्रयोजन आदि बतला कर यहाँ तत्त्वज्ञान का अपवर्ग से सम्बन्ध दिखलाया गया है। १.१.२]

न्यायभाष्यम्

तत्रात्माद्यपवर्गपर्यन्ते प्रमेये मिथ्याज्ञानमनेकप्रकारकं वर्तते । आत्मिनि ताबन्नास्त्रीति, अनात्मन्यात्मेति ।

न्यायवात्तिकम्

न निःश्रेयसस्य परापरभेदात् । यत्तावदारं निःश्रेयसं तत् तत्त्वज्ञानानन्तरमेव भवति तथा चोक्तम् जीवन्नेव हि विद्धान् संहर्षायासाभ्यां विश्रमुच्यते' इति । अयं शास्त्रार्थं इति । पर तु निःश्रेयसं तत्त्वज्ञानात्, क्रमेण भवति । क्रमप्रतिपादनार्थं चेदं सुद्यम्,—दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिश्याज्ञानानामित्येवमादि ।

एतत्सम्बन्धेनैवार्थवत् । पदार्थस्तु वक्तव्यः । तत्रात्माद्यपवर्गपर्यन्तं प्रमेयं ज्ञेयम् । तस्मिन् मिथ्याज्ञानमनेकप्रकारकं वर्तते । को वृत्त्यर्थः ? विषयार्थः । तत्रायं भेदः । तत्र आत्मिनि तावल्लास्तीति—आत्मा तावदस्तित्वेन प्रमाणसामर्थ्यात् समधिगतः । अस्तित्वेन

उनमें से आत्मा आदि अपवर्ग पर्यन्त प्रमेय में मिथ्याज्ञान अनेक प्रकार का होता है। आत्मा में तो (आत्मा) नहीं है। जो आत्मा नहीं है उसमें 'यह आत्मा है'।

[सिद्धान्त] ऐसा नहीं, निःश्रेयस क पर तथा अपर (दो) भेद होने से—जो अपर निःश्रेयस है वह तो (तावत्) तत्त्वज्ञान के एकदम परचात् ही हो जाता है; जैसा कि कहा गया है— तीवित रहते ही तत्त्वज्ञानी (विद्धात्) सुख (सहर्ष) और दुःख (आयास) से मुक्त हो जाता है। यह शास्त्र का निनित्त है। किन्तु पर निःश्रेयस तत्त्वज्ञान से कमशः होता है और कम को वतलाने के जिये यह सूत्र है—दुःखजन्म इत्यादि।यह (सूत्र) सम्बन्ध-कथन से ही सप्रयोजन है [इस सूत्र का प्रयोजन (=अर्थ) है शास्त्र-प्रतिपाद्य तत्त्वज्ञान का अपवर्ग से सम्बन्ध दिखलाना]। पदों का अर्थ तो कहना है। यहाँ आत्मा से लेकर अपवर्ग-पर्यन्त प्रमेय जानना चाहिये।

उसमें अनेक प्रकार का मिथ्याज्ञान है। यहाँ होना (वृत्ति, वर्तते) का क्या अर्थ है। विषय अर्थ है (अत्माआदि के विषय में अनेक प्रकार का मिथ्याज्ञान है)। उसमें यह भेद है; आत्मा के अिपय में तो '(आत्मा) नहीं है' (यह मिथ्याज्ञान है)—आत्मा को तो प्रमाणों के सामर्थ्य से 'यह है' (अस्तित्वेन) इस रूप में भली भाँति जाना गया है।

तत्वज्ञानानन्तरमेवापवर्गः यह मानने में दो दोष हैं सम्प्रदाय का विच्छेद और शास्त्र की अप्रामाणिकता; तच्चेत् तत्त्वज्ञानानन्तरम्, सम्प्रदायोच्छेदो वातपुत्नीयता च शास्त्रस्य स्थाताम्, दी० १५५। यदि माना जाये कि तत्त्वज्ञान के अनन्तर मोक्ष गहीं होता तो शास्त्र का कथन मिण्या होगा।

ामय्या होगा।
न, परापरभेदात्—िनःश्रेयस दो प्रकार काहै अपर (जीवन्मुक्ति की अवस्था) और पर

(दुःख का अत्यन्त नाग, अपवर्ग) । यह उद्योतकर की नवीन उद्भावना है । तत्त्वज्ञानम्—तत्त्वसाक्षात्कारः (टी० १४६), **संहर्षः**—सुख, **आयासः**—दुःख ।

तत्त्रज्ञानम्—तत्त्वसावात्मारः (जार १८०) रहिष्य अयं शास्त्ररचना करते हैं। अर्थशब्दो निमित्ते । अयं शास्त्ररचना करते हैं। अर्थशब्दो निमित्ते । अपरिनःश्रयसं शास्त्रस्य निमित्तम्, टी॰ १५६।

पू४] [प्रमेयम्

न्यायवात्तिकम्

समिधाते नास्तीति विज्ञानं मिथ्याप्रत्ययः । तस्यानुपपितः सदसतोः सारूप्याभावादिति चेत्; न, प्रमाणगम्यतोपपत्तेः; न हि सदसती सक्ष्ये यतोऽसत्साम्यादसद्धर्माध्यारो-पेणात्मिन मिथ्याप्रत्ययः स्यात् । तच्च नैवम्, प्रमाणगम्यतोपपत्तेः—सदसतोः प्रमाण-गम्यत्वं सारूप्यम्; क्रियागुणव्यपदेशः तद्रहितता च विशेषः । सोऽयमसद्धर्मान् सत्या-तमिन समारोप्य विपर्येति नास्त्यात्मेति ।

एवम् 'अनात्मिन' शरीरे 'आत्मेति'। कि पुनरनात्मनः शरीरादेरात्मना साधम्यं यत एतद् भवति 'अनात्मन्यात्मेति'? अहङ्कारिविषयत्वं सामान्यम्, इच्छा-द्याधारतानाधारतेति विशेषः— यथैवात्मा अहङ्कारस्य विषयः, तथा शरीरादयोऽपि। कथं पुनः शरीरे अहङ्कारः ? शरीरवाचकशब्दसामानाधिकरण्यात् शरीरेऽहङ्कारो गौरोऽहमित्येवमादिः। इच्छाद्याधार आत्मा न शरीरादय इति विशेषः। एतच्चोपरि-इटात् प्रतिपादयिष्यामः। सोऽयशात्मधर्मान् इच्छादीन् शरीरादिष्वध्यारोध्य विपर्गेति

'यह है' इस प्रकार सम्यक् जाने गये में 'यह नहीं हैं इस प्रकार का ज्ञान मिथ्याज्ञान है। (शङ्का समाधान) यिद सत् और असत् में समानना (सारूप्य) न होने से वह नहीं वन सकता तो ठीक नहीं, प्रमाणों से बोध होना (समानता)होने से; (शङ्का की व्याख्या) सत् और असत् समान रूप वाले नहीं जिससे असत् की समानता से असत् (आत्माभाव) के धर्मों का अध्यारोप करके आत्मा में मिथ्याज्ञान हो जाये। [समाधान की व्याख्या] और वह ऐसा नहीं है, (सत् और असत् की समानता है) प्रमाण के द्वारा बोध होना— सत् और असत् की समानता है प्रमाण से बोध होना और किया तथा गुण का व्यवहार होना (सत् में) किन्तु (च) किया-गुण (तद्) से रहित होना (असत् में) उनका भेद (विशेषः) है। वह यह (व्यक्ति) असत् के धर्मों को सत् आत्मा में आरोपित करके मिथ्या प्रतीति कर लेता है (विपर्योति) कि आत्मा नहीं है।

इसी प्रकार आत्मा से भिन्न शरीर में यह आत्मा है (यह मिध्याज्ञान होता है) (प्रक्त) किन्तु आत्मा से भिन्न शरीर आदि का आत्मा से क्या समान धर्म है, जिससे अनात्मा में 'यह आत्मा है' यह (ज्ञान) हो जाता है। (उत्तर) अहंकार का विषय होना समानता है और (आत्मा का) इच्छा आदि का आधार होना (अनात्मा = शरीर आदि का) आधार न होना भेद है — जिस प्रकार आत्मा अह शब्द का विषय है उसी प्रकार शरीर आदि भी हैं। (शङ्का) किन्तु शरीर में अहंकार कैसे होता है? (समाधान) शरीरवाचक शब्द के साथ सामानाधिकरण्य होने से शरीर में अहंकार हो जाता है जैसे 'में गौरा हूँ' इत्यादि। इच्छा आदि का आधार आत्मा है, शरीर आदि नहीं, यह भेद है, यह आगे दिखलायेंगे। वह यह (मिध्याज्ञानी) आत्मा के धर्म इच्छा आदि को शरीर आदि में आरोपित करके विपरीत जान लेता है कि मैं शरीर आदि

एतत्सम्बन्धेनैवार्थवत् एतत् = सूत्र, सम्बजेनैव = सम्बन्ध दिखलाने से ही अर्थवत् = सार्थक सप्रयोजनः सूत्र का प्रयोजन है शास्त्रप्रतिपाद्य तत्त्वज्ञान का निःश्रेयस से सम्बन्ध दिखलाना।

सदसतोः सारूप्याभावात् जहां भ्रम होता है, वहां कुछ समानता होती है - गत्न भ्रमस्तता-वश्यं कथि चत् सारूप्यमिति टी० १४६। १.१.२]

न्यायभाष्यम्

दुः खे सुखमिति, अनित्ये नित्यमिति, अत्राणे त्राणमिति, सभये निर्भयमिति, जुगुण्सितेऽभिमतिमिति, हातन्ये अप्रतिहातन्यमिति। प्रवृतौ नास्ति कर्म, नास्ति कर्मफलमिति। दोषेषु नायं दोषनिमित्तः संसार इति। प्रेत्यभावे नास्ति जन्तुर्जीवो वा सत्त्व आत्मा वा यः प्रेयात् प्रेत्य च भवेदिति, अनिमित्तं जन्म, अनिमित्तो जन्मोपरम इति, आदियान् प्रेत्यभावोजनन्तर्थेति, नैमित्तिकः सन्नकमंनिमित्तः प्रेत्यभाव इति। देहेन्द्रियबुद्धिवेदनासन्तानो-च्छेदप्रतिसन्धानाभ्यां निरात्मकः प्रेत्यभाव इति। अपवगं भीष्मः खल्वयं सर्वकार्योपरमः, सर्वविप्रयोगेऽपवर्गे बहु भद्रकं लुप्यत इति कथं बुद्धिमान् सर्वस्थाच्छेदमचैतन्यममुमपवर्गं रोचयेदिति।

न्यायवात्तिकम्

'अहमेते' इति । एवं सामान्यविशेषधर्मपरिज्ञाने सति तद्विपरीतधर्माध्यारोपेण विपर्ययः सर्वत्र भवतीति । कः पुनरयं विपर्ययः ? अतिस्मस्तिदिति प्रत्ययः । शेषं भाष्ये ।

दु:ख में 'यह सुख है'. अनित्य में 'यह नित्य है', र आ-रहित में 'यह रक्षण है' भयसहित में 'यह निर्भय है', घृणित में 'यह अभीष्ट है', त्यागने योग्य में 'यह त्यागने योग्य नहीं', प्रवृत्ति के विषय में 'कर्म नहीं है', 'कर्मफल नहीं होता',। दोषों के विषय में 'यह संसार दोषों (राग आदि) के निमित्त से होने वाला नहीं' । प्रेत्यभाव (पुनर्जन्म) के विषय में 'जन्तु — जीव या सत्त्व या आत्मा नहीं है जो यहाँ से (परलोक) जाये और मरकर (प्रेत्य) फिर जन्म ले, जन्म विना किसी निमित्त के होता है, जन्म की विश्रान्ति (अपवर्ग) निमित्त के विना हो जाती है, पुनर्जन्म का आदि होता है किन्तु (च) अन्त नहीं, पुनर्जन्म निमित्त से होता हुआ (भी) कर्म के निमित्त से नहीं होता, शरीर, इन्द्रिय. ज्ञान (युद्धि) सुख-दु:ख के अनुभव (वेदना) की परम्परा (सन्तान) के नाश (उच्छेद) तथा पुनग्रहण (प्रतिसन्धान) के द्वारा विना आत्मा के ही प्रेत्यभाव (मर कर फिर जन्म) हो जाता है। अपवर्ग (मोक्ष) के विषय में (मिथ्या ज्ञान है) निरुचय ही यह सब कार्यों की विश्रान्ति भयङ्कर है, सब से पृथक् होकर अपवर्ग में बहुत-सा कल्याण (भद्रकम्) नष्ट हो जाता है अतः (कोई) बुद्धिमःन् समुस्त सुखों के नाश-रूप चेतना-रहित इस अपवर्ग को कैसे अच्छा समझेगा (रोचयत्)। (एते) हूँ। इस प्रकार सामान्य, विशेष धर्म का ज्ञान होने पर (परिज्ञाने) उसके विपरीत धर्म का आरोप करके सर्वत्र विपर्यय होता है। किन्तु यह विपर्यय क्या है। जो वह नहीं है उसमें (अतस्मिन्) 'वह है' ऐसी प्रतीति होना। शेष भाष्य में है।

कियागणव्यपदेश:—यहां सत् तथा असत् का भेद दिखलाया गया है सद्वस्तु में किया तथा गुण का व्यवहार होता है, यह गौ काली है, चल रही है यहां 'चलना' किया और कालापन (कृष्णता) गुण का व्यवहार होता है। असद् वस्तु या अभाव में न किया होती है है न गुण ही। 'घटाभाव' आदि में किया तथा गुण का व्यवहार नहीं होता। प्रकाश के अभाव रूप अन्यकार में जो नीलं तमश्चलांत आदि में किया तथा गुण का व्यवहार देखा जाता है वह न्या०-वै० की दृष्टि से ध्रान्ति ही है।

ांक

11-

४६]

[प्रमेयम्

न्यायभाष्यम्

एतस्मान्मिश्याज्ञानाद् अनुकूलेषु रागः, प्रतिकूलेषु च द्वेषः । रागद्वेषाधिकाराच्चासत्येर्ध्यास्यामानलोभादयो दोषा भवन्ति । दोषैः प्रयुक्तः
शरीरेण प्रवर्तमानो हिंसा-स्तेय-प्रतिषिद्धमैथुनान्याचरित । वाचा अनृतपरुषः
सूचनासम्बद्धानि । मनसा परद्रोहं परद्रव्याभीप्सां नास्तिक्यं चेति । सेयं
पापात्मिका प्रवृत्तिरधर्माय । अथ शुभा-शरीरेण दानं परित्राणं परिचरणं च ।
वाचा सत्यं हितं त्रियं स्वाध्यायं चेति । सनसा दयामस्पृहां श्रद्धां चेति । सेयं
धर्माय । अत्र प्रवृत्तिसाधनौ धर्माधर्माः प्रवृत्तिशब्देनोक्तौ, यथान्नसाधनाः
प्राणाः, 'अन्तं व प्राणिनः प्राणाः' इति ।

इस मिथ्याज्ञान से अनुफूल पदार्थों में राग होता है, प्रतिकूलों में द्वेष हा जाता है और राग-द्वेष के होने से (अधिकारात्) असत्य, ईर्ष्या, गुणों में दोपदर्शन (असूया), मान, लोम आदि दोष हो जाते हैं। दोषों से प्रेरित होकर शरीर से प्रवृत्त होता हुआ हिंसा, चौरी (स्तेय), प्रतिषिद्ध मैथुन का आचरण करता है। वाणी से असत्य, कठोर भाषण (परुष), चुगली (सूचन) असम्बद्ध (वचन), मन से दूसरों के साथ वैर, दूसरों के धन को प्राप्त करने की इच्छा और नास्तिकता (का आचरण करता है), वह यह प्रवृत्ति अधर्म के लिये होती है। और, अच्छी प्रवृत्ति है—शरीर से दान, रक्षण तथा सेवा करना (परिचरणम्), वाणी से सत्य, हितकारी और प्रिय वचन तथा स्वाध्याय, मन से दया, तृष्णा रहित होना (अस्पृहा) तथा श्रद्धा। वह यह धर्म के लिये होती है। यहाँ प्रवृत्ति है साधन जिनका (प्रवृत्ति: साधनं ययोः) उन धर्म तथा अधर्म को प्रवृत्ति शब्द से कहा गया है जिस प्रकार प्राणों का साधन अन्त है और कह दिया गया है कि निश्वय ही अन्त प्राणियों का प्राण है।

अतिस्मन् तिदिति प्रत्यय: — उत्तरवर्ती न्याय-वैशेषिक में मिथ्याज्ञान या भ्रान्ति का यही स्वरूप प्रचलित रहा। यहां वाचस्पिति मिश्र ने मिथ्याप्रतीतिविषयक विविध मतों का विवेचन करत हुए न्याय के मन्तव्य के रूप में अन्यया-ख्याति की स्यापना की है।

अधिकारात्-प्रकरण होने से, विशेष द्रष्टब्य 'कारके' (का। शका १. ४. २३)।

असूया--- गुगों में दोष दिखलाना--- गुणेषु दोषाविष्करणमसूया, काशिका १. ४. ३.।

प्रतिषिद्धसैयुन ० — यह एक शब्द है। इसका अभिप्राय है जिन भैथुनों का प्रतिवेध किया गया है। इससे यमों में स्थित ब्रह्म वर्य की ओर संकेत है।

नास्तिक्यम्-—नःस्तिक का भाव, नास्तिक शब्द का यौगिक अर्थ है—नास्ति इति मतियंस्य (अस्ति-नास्तिदिष्टं मतिः ४.४•६०) इसके अनेक अभिप्राय हैं जैसे ईश्वर को न मानने वाला, वेद को या आत्मा को न मानने वाला,

प्रवृतितसाधनी धर्माधर्मो — गुभ प्रवृत्ति से धर्म होता है, जगुभ प्रवृत्ति से अधर्म होता है। प्रवृत्ति तो मन, वचन तथा गरीर की चेष्टा है किन्तु धर्म अधर्म आत्मा के गुण हैं अतः प्रवृत्ति धर्म तथा अधर्म को सूत्र में प्रवृत्ति शब्द से कह दिया गया है।

8.8.2

न्यायभाष्यम्

1 23

सेयं प्रवृत्तिः कुत्सितस्याभिपूजितस्य च जन्मनः कारणम् । जन्म पुनः शरीरेन्द्रियबुद्धिवेदनानां निकायविशिष्टः प्रादुर्भावः । तस्मिन् सित दुःखन्, तत्पुनः प्रतिकूलवेदनीयं बाधना पीडा ताप इति । त इमे मिथ्याज्ञानादयो दु.खान्ता धर्मा अविच्छेदेन प्रवर्तमानाः संसार इति ।

न्यायवात्तिकम्

त इसे दुःखादयो मिथ्याक्तानपर्यवसाना अधिक्छेदेन प्रवर्तमानाः संसार इति । कः पुनरयं संसारः ? दुःखादीनां कार्यकारणभावः । स चानादिः, पूर्वापरकालभावस्या-नियमात्—न च शक्यं वक्तुं पूर्वं दुःखादयः पश्चात् मिथ्याक्तानम्, पूर्वं वा मिथ्या-ज्ञानं पश्चाद् दुःखादय इति ।

'यदा तु तत्त्वज्ञानान्मिथ्याज्ञानमपैति' इति । कथमपायः ? समाने विषये

वह यह प्रवृत्ति बुरे (कुन्सितस्य) या भले (अभिपूजितस्य) जन्म का निमित्त होती है। शरीर, इन्द्रिय, ज्ञान और सुख-दुःख का अनुभव तथा उसके संस्कार (वेदना) का समुदाय से विशिष्ट (निकायविशिष्टः) रूप में प्रकट होना (प्रादुर्भाव) ही जन्म है। उस (जन्म) के होने पर दुःख होता है और वह (दुःख) तो प्रतिकूल अनुभव होना है जो बाधना, पीडा, ताप आदि कहा जाता है। वे ये मिथ्याज्ञान आदि दुःख पर्यन्त धर्म निरन्तर प्रवृत्त होते रहते हैं यही संसार (जन्ममरण प्रवन्य) है।

वे ये दुःख से लेकर मिथ्याज्ञान पर्यन्त निरन्तर प्रवृत्त होते हुए संसार (जन्म-मरण-परम्परा) कहे जाते हैं। फिर यह संसार क्या है? दुःख आदि का कार्यकारण भाव (ही संसार है) तथा वह (संसार) अनादि (जिसका आदि नहीं) है; यूर्व तथा अपर काल में होने का नियम न होने से—यह नहीं कहा जा सकता कि पहले दुःख आदि होते हैं वाद में मिथ्याज्ञान होता है अथवा पहले मिथ्याज्ञान होता है बाद में दःख आदि होते हैं।

जब तत्त्वज्ञान से मिथ्याज्ञान नष्ट हो जाता है (यह भाष्य है)। नाश कैसे हो जाता है? एक (समान) विषय में उन दोनों (तत्त्वज्ञान और मिथ्याज्ञान) का त इमे दुःखादयो मिथ्याज्ञानपर्यवसानाः—यह भाष्य के 'मिथ्याज्ञानादयो दुःखान्ताः' पर वात्तिक है। यहां सूत्रकार के कम की अपेक्षा विपरीत कम से भाष्य में कहा गया है और भाष्यकार की अपेक्षा विपरीत कम से वात्तिककार ने कहा है। वस्तुतः मिथ्याज्ञान से दुःख आदि होते हैं और दुःख-आदि-पूर्वक मिथ्याज्ञान होता है, यही संसारचक है जो अनादि है। इसकी अनादिता दिखलाने के लिये यह कमभेद किया गया है, (मि॰ टी॰ १६४)।

कार्यकारणभाव: - दुःख आदि स्वरूपतः संसार नहीं है किन्तु मिथ्याज्ञान से लेकर दुःखपर्यन्त का

जो कार्यकारणभाव है वह संसार है।

स च अनादि: वह संसार (या संसारचक्र) अनादि है। यह सूत्र, भाष्य यथा वार्त्तिक के कमव्यतिकम से प्रकट होता है। वार्त्तिक में 'पूर्वापरकालभावस्थानियमात्' आदि में संसार की अनादिता
दिखलाई गई है।

५५]

[प्रमेयम

न्यायभाष्यम

यदा तु तत्त्वज्ञानान् मिण्याज्ञानमपैति, तदा मिण्याज्ञानापाये दोषा अपयन्ति, दोजापाये प्रवृत्तिरपैति, प्रवृत्त्यपाये जन्मापैति । जन्मापाये दुःखम-पैति । दुःखापाये चात्यन्तिकोऽपवर्गो निःश्चे यसिमिति ।

न्यायवात्तिकम्

तयोविरोधात्—यस्मान्मिथ्याज्ञानं तत्त्वज्ञानं चैकस्मिन् विषये विरुध्येते, वस्तुनो है-रूप्यासंभवात्—न ह्योकं वस्तु हिरूपं भवति । तस्मान्मिथ्याज्ञानं तत्त्वज्ञानेन निवर्त्यतं इति । कथं पुनः पूर्वोत्पक्षं मिध्याज्ञानं पश्चाद्भाविना तत्त्वज्ञानेन निवर्त्यते ? मिथ्याज्ञानस्यासहायत्वात्—मिथ्याज्ञानमसहायमतो निवर्तत इति । सम्यग्ज्ञानस्य पुनविषयः सहायीभवति । कस्मात् ? तथात्वेनावस्थानात—तथाभू-तोऽसौ विषयो यथा तव तत्त्वज्ञानमिति । प्रमाणान्तरानुग्रहाच्च—आगमानुमा-

किन्तु जब तत्त्वज्ञान से मिथ्याज्ञान नष्ट (दूर) हो जाता है (अपैति) तब मिथ्याज्ञान का नाश होने पर दोषों का नाश हो जाता है। दोषों का नाश होने पर प्रवृत्ति नष्ट हो जाती है। प्रवृत्ति न होने पर जन्म नहीं होता। जन्म न होने पर दुःख का नाश होने पर आत्यन्तिक मोक्ष अर्थात् निःश्रेयस होता है।

विरोध होने से; क्योंकि मिध्याज्ञान और तत्त्वज्ञान दोनों के एक विषय में होने का विरोध है, वस्तु के दो रूप न हो सकने से—वस्तुतः एक वस्तु दो रूप वाली नहीं होती। इसलिये मिध्याज्ञान की तत्त्वज्ञान से निवृत्ति हो जाती है। (प्रश्न) किन्तु पहले उत्पन्न हुआ मिध्याज्ञान बाद में होने वाले तत्त्वज्ञान से कैसे निवृत्त हो जाता है? (उत्तर) भिध्याज्ञान के सहायक रहित होने से—मिध्याज्ञान का कोई सहायक (राग आदि दोष) नहीं रहता इमलिये वह निवृत्त हो जाता है किन्तु सम्यग्ज्ञान (तत्त्वज्ञान) का तो विषय सहायक होता है। वयों? (क) उस रूप में स्थित होने से—वैसा ही वह विषय होता है जैसा वहाँ (उसमें) तत्त्वज्ञान होता है (ख) अन्य प्रमाण द्वारा अनुगृहीत होने से—आगम और अनुमान आदि प्रमाण भी तत्त्वज्ञान में सहायक होते हैं। जब वह (साधक) आगम तथा अनुमान द्वारा प्रतिसन्धान किये गये (प्रतिसंहितम्) विषय का वार-वार ध्यान करता है (भावयित्), एकाग्र होकर या समाधिस्थ होकर (समाहित) दूसरी ओर न जाने वाले मन से चिन्तन करता है, तब इसके घ्यान के परिपक्व होने पर (विषच्यमाने) ध्यान-भावना के स्फुट हो जाने पर (विविक्त याम्) उस विषय में तत्त्व का बोध करानेवाला साक्षारकारी ज्ञान उरुष्त्र हो जाता

विषय: सहायीभवति-विषय सम्यक्तान का सहायक होता है, इसमें दो हेतु दिये गये हैं-

⁽१) अवाध्यत्व (तथात्वेनावस्थानात्) और (२) दृढमूलत्व (प्रमाणान्तरानुग्रहाच्च) 'यदा इत्यादि' में आगम, अनुमान तथा साक्षात्कार द्वारा एक विषय की अनुभूति होने पर तत्त्वज्ञान की दढता दिखलाई गई है। इस विषय में बौद्धों का मत भी दिया गया है, द्र० टी० १६६।

8.8.2]

न्यायवात्तिकम्

नादि च प्रमाणं तत्त्वज्ञानस्य सहायी प्रवितः यदा ह्ययमागमानुमानयोः प्रतिसंहितयोविषयं आवयित समाहितोऽनन्यमनािइचन्तयित, ततोऽस्य विषच्यनाने ध्याने विविक्तायां
ध्यानभावनायां तिस्मन्नयं तत्त्वप्रतिबोधि ज्ञानं प्रत्यक्षमुत्वच्चत इति । सोऽयमागमानुमानप्रत्यक्षाणां विषयं प्रतिपद्यमानस्तत्त्वमेतिदिति प्रतिपद्यते । तत्त्वप्रतिपत्ते रस्य मिथ्याज्ञानं निवर्तत इति । निवृत्ते च सिथ्याज्ञाने न पुनस्तद्वित्य निथ्याज्ञानमुत्पद्यते विरोधादित्युक्तम् । कः पुनिवरोधः ? सहासम्भवः । भिथ्याज्ञानाभावे रागादयोऽपयन्तीित
कार्यकारणभावादेव—कारणं मिथ्याज्ञानम्, कार्या रागादयः; न हि कारणे असित कार्यमुत्पत्त महंतीित । ये तावदगुत्पत्ता रागायस्ते कारणाभादान्या भूयन्, ये तृत्पन्नास्ते कथम् ?
तेषामिष वैराग्यान्निवृत्तिः । कि पुनर्वेराग्यम् ? भोगानिभव्वङ्गलक्षणमित्युक्तम्, असिक्तः
च सिक्तं वाधते । तत्पुनर्वेराग्यं कथं भवति ? तत्त्वज्ञानाव् विषयदोषदर्जनदिति ।
दोषाभावे प्रवृत्त्यभावः —यदास्य सम्यग्ज्ञानवतो दोषा अपयन्ति, अथ दोषाभावे प्रवृचिनिवर्तते । का पुनरियं प्रवृत्तिः ? धर्माधमौ , जन्मसाधनःवात्, नास्मिन् सूत्रे निया
प्रवृत्तिव्यते, अपि तु धर्माधमौ , तत्साधनःवात् । जन्मसाधनं धर्माधमौ न प्रवृत्तिः
क्षणिकत्वात् । धर्माधर्मयोस्तु प्रवृत्तिः प्रवृत्तिः प्रवृत्तिसाधनत्वात् ।

है। वह यह (साधक) आगम, अनुमान तथा प्रत्यक्ष के विषय को जानता हुआ यह मान लेता है (प्रतिपद्यते) कि यह तत्त्व है। तत्त्वज्ञान से इसका निथ्याज्ञान दूर हो जाता है। और, मिथ्याज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर किर उस विषय में मिथ्याज्ञान नहीं उत्पन्न होता; क्योंकि यहा जा चुका है कि (तत्त्वज्ञान और मिथ्याज्ञान का) विरोध है। किन्तु (पुनः), क्या विरोध है ? साथ न रह सकना। मिथ्याज्ञान के अभाव में राग आदि नष्ट हो जाते हैं, कार्यकारणभाव होने से ही-मिथ्याज्ञान कारण है और राग आदि कार्य हैं, वस्तुत: कारण के न होने पर कार्य उत्पन्न नहीं हो सकता। (प्रश्न) जो जत्पन्न नहीं हुए, वे राग आदि कारण (मिथ्याज्ञान) के न होने से न भी होंवे; किन्तु जो उत्पन्न हो चुके हैं उनका क्या होगा (ते कथम्) ? (उत्तर) उनकी भी वैराग्य से निवृत्ति हो जायेगी। (प्रव्न) यह वैराग्य क्या है ? (उत्तर) भोगों में अनासिक-रूप (अनभिष्वङ्गलक्षणः), यह कहा जा चुका है। और अनासक्ति आसक्ति की वाधक है। फिर वह वैराग्य कैसे होता है ? तत्त्वज्ञान से; विषयों में दोष-दर्शन से। दोषों का अभाव होने पर प्रवृत्ति का अभाव होता है-जब इस सम्यग्ज्ञान वाले (सा-धक) के दोष(राग आदि) नष्ट हो जाते हैं सब दोषों के अभाव में प्रवृत्ति नहीं होती। (प्रश्न) किन्तु यह प्रवृत्ति क्या है ? (उत्तर) धर्म तथा अधर्म, जन्म का निमित्त हाने से-इस सूत्र में त्रिया (याग आदि) को 'प्रवृत्ति शब्द से नहीं कहा जाता अपि तु धर्म

भावयित—यहाँ 'समाहिता' शब्द से चित की एकाग्रता (धारणा), 'अन्यमनाः' शब्द से प्रत्याहार और 'चिन्तयित' शब्द से ध्यान की परिपक्वता कही गई है। तात्पर्य टीका पर बौद्धदर्शन की छाया प्रतीत होती है (द्र० टी० १६६)

सहासंभव: विरोध दो प्रकार का है- १. सहानवस्थान (सहासंभव) जैसे शीतस्पर्ध और उष्ण

स्पर्भ का २. परस्परपरिहार; जैसे नील और पीत का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

3,4]

E0]

[प्रमेयम्

न्यायवात्तिकम्

यौ तावदनागतौ धर्माधर्मा तयोर्दोषाभावादभावो युक्तः । यौ वर्तमानौ तयोर्ने युक्तः । कि कारणम् । निर्दोषस्यापि भावात्-निर्दोषोऽप्ययभवित्रिष्ठते धर्माधर्मयोश्च फल-मुपभुङ्कत इति । न, अनागतयोः साधनाभावेनेषृत्वात्—न बूमो यौ वर्तमानौ वर्माधर्मौ तौ दोषाभावास्त्र भवत इति । अपि तु यावनागतौ तौ कारणाभावानोत्पद्येते इति । वर्तमानयोः पुनः कार्यावसायात् प्रक्षयः, यौ तु वर्तमानौ धर्माधर्मौ तयोर्यदादसानिकं कार्यं तेन व्यावृत्तिः । प्रवृत्त्यभावे जन्माभावः; अत्रापि धर्माधर्मयोः व्यावृत्त्तयोर्यद्वय-च्छरीरं तस्त्र भवति, न पुनर्वर्तमानं न भवतीति । अथ वर्तमानस्य कथं निवृत्तिः ? संस्कारक्षयात्—यावदस्य स्थितिहेतुः संस्कारो धर्माधर्मसमाख्यातोऽवितिष्ठते, तावत् तिष्ठतीति । जन्माभावे दुःखाभावः, इति । निरायतनस्यानुत्पत्तः—न हि निरायतनं दुःखमुत्पत्तु मर्हतीति । एतच्च तदाहुः' यावदात्मिन धर्माधर्मौ तावदायुः शरीरिमिन्द्रियाणि विषयाश्चेति । सोऽयं मिथ्याज्ञानादिना कलापेन सर्वतो वियुक्त विमुक्त इत्युच्यते ।

तथा अधर्म को (कहा जाता है) क्योंकि वह (प्रवृत्ति) धर्म तथा अधर्म का साधन है। जन्म के साधन धर्म तथा अधर्म हैं, प्रवृत्ति नहीं; क्योंकि वह नश्वर (क्षणिक) है। धर्म और अधर्म के लिये तो प्रवृत्ति शब्द (का प्रयोग किया गया) है क्योंकि उनका निमित्त प्रवृत्ति है।

(आक्षेप) जो अनागत धर्म तथा अधर्म हैं उनका तो दोषों के अभाव से अभाव होना युक्तियुक्त है, जो वर्तमान हैं उनका (अभाव होना) युक्तियुक्त नहीं। क्या कारण है ? निर्दोष (व्यक्ति) के भी (धर्माधर्म) होने से-दोषरहित होकर भी यह (तत्त्वज्ञानी) स्थित रहता है और धर्म तथा अधर्म का फल भोगता है। [परिहार] ऐसा नहीं, अनागत (धर्म-अधर्म का अभाव) कारण (साधन) के अभाव में इष्ट होने से-हम यह नहीं कहते कि जो वर्तमान धर्माधर्म है वे दोधों के अभाव से नहीं होते अपि तू जो अनागत (धर्माधर्म) हैं वे कारण के अभाव से उत्पन्न नहीं होते ? ओर, वर्तमानों (धर्म, अधर्म) का कार्य की समाप्ति से नाश हो जाता है-किन्तु जो वर्तमान धर्म तथा अधर्म हैं उनका जो अन्तिम (आवसानिकम्) कार्य है उससे निवृत्ति (व्यावृत्तिः) हो जाती है। प्रवृत्ति के अभाव में जन्म का अभाव होता है। यहाँ भी धर्म तथा अधर्म की निवृत्ति हो जाने पर जो अन्य गरीर होता वह नहीं होता, ऐसा नहीं कि वर्तमान (शरीर) नहीं रहता। तब वर्तमान शरीर की कैसे निवृत्ति होती है ? संस्कार के नाश से - जब तक इसकी स्थिति का निमित्त धर्माधर्म नामक संस्कार रहता है तब तक (यह) रहता है। जन्म के अभाव में दु:ख का अभाव होता है; आयतन रहित दु:ख की उत्पत्ति न होने से-अधिष्ठान (आयतन) के विना दु:ख उत्पन्न नहीं हो सकता। और, यह वह है जो कहते है, 'जब तक आत्मा में धर्माधर्म है तब तक आयू है, शरीर है इन्द्रिय है और विषय हैं'। वह यह मिथ्याज्ञान आदि के समुदाय (कलाप) से पूर्णतया (सर्वतः) रहित होकर 'विमुक्त' कहलाता है।

न्यायभाष्यम

तत्त्वज्ञानं तु खल निश्याज्ञानविपर्ययेण व्याख्यातम । आत्मनि तावत् अस्तीति अनात्त्रन्यनामेति । एवं दःखेऽनित्येऽत्राणे सभये जुगूप्सिते हातव्ये च यथाविषयं वेदितव्यम । प्रवत्तौः अस्ति कर्म, अस्ति कर्मफलमिति । दोषनिमित्तोऽयं संसार इति। प्रेत्यमावे खलः अस्ति जन्तुर्जीवः सत्त्व आत्सा वा यः प्रेयात् प्रेत्य च भवेदिति । निमित्तवज्जन्म निमित्तवान् जन्मोपरम इति, अनादिः प्रेत्यभावो ज्वर्गान्त इति, नैमित्तिकः सन् प्रेत्य-भावः प्रवित्तिनिधित्त इति । सात्मकः सन् देहेन्द्रियबृद्धिवेदनासन्तानोच्छेद-प्रतिसन्धानाभ्यां प्रवर्तत इति । अपवर्गे, शान्तः खल्वयं सर्वविष्रयोगः सर्वौ-परमोऽपवर्गः, बहु च कुच्छं घोरं पापकं लुप्यत इति कथं बुद्धिमान् सर्वदुःखो-च्छेदं सर्वदुः खासंविदमपवर्गं न रोचयेदिति । तद् यथा, मध्विषसंपृक्तमन्न-मनादेयमिति, एवं सुखं दुःखानुषक्तमनादेयमिति ॥१।१।२॥

तत्त्वज्ञान की तो मिथ्याज्ञान के विपरीत रूप में ही (खलु) व्याख्या हो गई। आत्मा में तो 'यह आत्मा है' अनात्मा में 'यह आत्मा नहीं है । इसी प्रकार दुःख में अनित्य में, अरक्षक में, भययुक्त में, घृणित में त्याज्य में भी विषय के अनुसार जान लेना चाहिये। प्रवृत्ति के विषय में (तत्त्वज्ञान है) कर्म होता है, कर्मफल होता है। दोवों के विषय में, यह संसार दोषों के निमित्त से होता है। प्रेत्यभाव के विषय में भी जन्तु, जीव, मत्त्व या आत्मा है जो मृत्यु को प्राप्त होगा (प्रेयात्) और मरकर फिर होगा। जन्म (किसी) निमित्त से होने वाला है, जन्म का विराम (किसी) निमित्त से होने वाला है, प्रेत्यभाव अनादि है अपवर्ग उसका अन्त है, निमित्त से होने वाला प्रेत्यभाव प्रवृत्ति (धर्म-अधर्म) के निमित्त से होता है। आत्मा-युक्त होकर (ब्यक्ति) शरीर, इन्द्रिय, ज्ञान और वेदना के प्रवन्ध (सन्तान) के नाश (उच्छेद) तथा पुनर्ग्रहण (अनुसन्धान) से प्रवृत्त होता है। अपवर्ग के विषय में (तत्त्वज्ञान है) निश्चय ही यह, जिसमें सब (शरीरादि) का वियोग हो जाता है सब की विश्रान्ति हो जाती है अपवर्ग शान्तिमय है, इसमें बहुत से कष्ट, भयंकर पाप नष्ट हो जाते हैं; अतः बुद्धिमान् (त्र्यक्ति) ऐसे अपवर्ग को क्यों न पसन्द करेगा जिसमें सब दु:खों का नाश होता है, किसी दुं:ख का संवेदन नहीं होता। इमलिये जिस प्रकार मधु तथा विषयुक्त अन्न ग्राह्य नहीं होता, दु:ख का अविनाभावी (अनुपक्तम्) सुख भी ग्राह्य नहीं है।

ये ताबत् गृत्पन्नाः—अनागत राग आदि का मिथ्याज्ञान (कारण) के न हौने से अभाव होता है

और वर्तमान राग आदि का विषयों में दोषदर्शन (वैराग्य) से ।

प्रवृत्तिः = धर्माधर्म, वस्तुतः धर्माधर्म जन्म का निमित्त होते है और धर्माधर्म का निमित्त प्रवृत्ति होती

है अतः धर्माधर्म के लिये 'प्रवृत्ति' शब्द का औपचारिक प्रयोग है ।

सर्वत: सर्वेण (टी० १६८), प्रलश्वस्था में सबसे वियोग नहीं होता। तब कर्म और अविद्या की

वीतनाओं का नाण नहीं होता, मुक्ति में उनका भी नाण हो जाता है। तदाहु: - यह किसका वचन है ? यह ज्ञात नहीं टीका में 'अर्त्व व वृद्धसम्मतिमाह' यह लिखा है। विपर्ययेण—विपरीत रूप में; जैसे आत्मा के विषय में 'आत्मा है' यह ज्ञान।

न्यायवात्तिकम्

'तत्तवज्ञानं तु खलु मिश्वाज्ञानविपर्ययेण व्याख्यातम्'। स्वरूनतस्तु यथाव्यवस्थितपदा-थांधिगितिरित्युक्तस् । कस्मात पुनरयं हाता सुखदुःखे जहाति, न पुनः सुखमादाय दुःखं जहातीति ? विवे प्रहानस्याशक्यत्वात्—विवेकहानम् अशक्यं कर्तुम् । अतः सुखमुय-भोक्तुकामेन दुःखनिष भोक्तव्यम् दुःखं वा जिहासता सुखनि हातव्यम्, सविषान्न-विदिति । मुखं दुःखानुषक्तमनादेयिमिति'; अनुषङ्गोऽविनाभावः, यत्रैकं तत्रोतरिदिति । समानिमित्तता वानुषङ्गः, यानि वा सुखसाधनानि तान्येव दुःखसाधनानीति । समानाधारता वानुषङ्गः, यत्र सुखं तत्र दुखःभिति । समानोपलभ्यता वानुषङ्गः, येन सुखमुपलभ्यते तेन दुःखमपीति । १ । १ । २ ॥

तत्त्वज्ञान की तो मिथ्याज्ञान के विपरीत रूप में ही व्याख्या हो गई। स्वरूप से तो अपने रूप में स्थित पदार्थ का ज्ञान (तत्त्वज्ञान) है, यह कहा गया है। (आक्षेप) फिर यह त्यागने वाला (हाता) सुख-दुःख दोनों को क्यों छोड़ देता है, और (पुनः) सुख का ग्रहण कर हे (आदाय) दुःख को क्यों 'नहीं छोड़ देता ? [परिहार] विवेक से त्याग करना (हान) संभव न होने से—विवेक से (सुख और दुःख को पृथक् करके) त्याग नहीं किया जा सकता इसलिये सुख भोगने की कामना वाले को दुःख भी भोगना होगा अथवा दुःख को छोड़ने की इच्छा वाले को सुख भी छोड़ना होगा, विषयुक्त अन्न के समान। दुःख का अविनाभावी (अनुपक्तम्) सुख भी ग्राह्म नहीं (अप्य) अनुपङ्ग का अर्थ है; अविनाभाव अर्थात् जहाँ एक हो वहाँ दूसरा भी होता है अथवा (१) समान निमित्तवाला होना अनुपङ्ग है; अर्थात् जो सुख के सावन हैं, अथवा (२) समान आधार वाला होना अनुपङ्ग है; अर्थात् जहाँ सुख है वहाँ दुःख (भी) है। अथवा (३) समान व्यक्ति द्वारा प्राप्त करने योग्य होना अनुपङ्ग है; अर्थात् जिसके द्वारा सुख उपलब्ध किया जाता है उसके द्वारा दुःख भी। १।१।२।

अपवर्गे— ''शान्त' से लेकर 'रोचयेद्' पर्यन्त अपवर्ग का स्वरूप दिखलाते हुए बतलाया गया है कि बुद्धिमान् व्यक्ति अवश्य ही ऐसे अपवर्ग की कामना करते हैं।

दुःखानुष्यतम्—दुखों के अनुषङ्गः से युक्त, अनुषङ्गः = अविनाभा व, जहां सुख होता है वहां दुःख अवश्य होता है अतः सुख और दुःख का अविनाभाव है, विना दुःख के सुखनद्दीं होता।

स्वरूपतस्तु-भाष्योक्त सभी विषयो में तत्त्वज्ञान का एक अनुरत लक्षण जो स्वरूप को बतलाता है, वह है पदार्थ का अपने रूप में ज्ञान ।

कस्मात्—यह आक्षेप चार्वाक की ओर से किया गया है, यह प्रतीत होता है।

विवेकहानस्याशक्यत्वात्—यद्यपि सुख तथा दुःख भिग्न-भिन्न हैं तथापि इनका पृथक्-पृथक् त्याग और ग्रहण नहीं किया जा सकता।

समाननिमित्तता वाऽनुषद्भः-मुख और दुख में अविनाभाव दिखलाया गया है। वह अविनाभाव किसी सम्बन्ध के विना नहीं होता। जैसे धूम जौर अग्नि में कार्यकारणभाव सम्बन्ध है अतः उसके लिये सम्बन्ध दिखलाये गये हैं। यह 'बा' शब्द सम्बन्धों का विकल्प दिखलाता है, वाशब्दश्च वक्ष्यमाण-सम्बन्धान्तरापेक्षया न तु पूर्वापेक्षया, टी० १६८।

न्यायभाष्यम्

त्रिविधा चास्य शास्त्रस्य प्रवृत्तिरुद्देशो लक्षणं परीक्षा चेति । तत्र नाम-धेयेन पदार्थनात्रस्याभिधानमुद्देशः । तत्रोद्दिष्टस्य तत्त्वव्यवच्छेदको धर्मः लक्षणम् । लक्षितस्य यथालक्षणमुपपद्यते न वेति प्रसाणैरवधारणं परीक्षा । तत्रोद्दिष्टस्य लक्षणमुच्यते, यथा प्रमाणानां प्रभेयस्य च । उद्दिष्टस्य लक्षि-तस्य च विभागवचनम्, यथा छलस्य, वचनविधातोऽर्थविकल्पोपस्या छलम् (१.२.१०) तत् त्रिविधन् (१.२.११) इति । अथोद्दिष्टस्य विभागवचनम् । न्यायवात्तिकम्

त्रिविधा चास्य शास्त्रस्य प्रवृत्तिरिति भाष्यम् । प्रवृत्ते स्त्रैविध्यं कुतः ? अर्थस्य तथाभावात्—नामी पदार्था वक्ता त्रेधा व्यवस्थाप्यन्ते एवं भवतेति । कि त्वर्थ एवायं तथाभूनो येन त्रेशा भवतीति । 'नामथेयेन पदार्थमात्रस्याभिधानमुद्देशः' इत्यपुक्तम्, प्राणादिसूत्रव्याघातात्—प्राणरसनचक्षुस्त्क्क्शोत्राणीन्द्रियाणि (१.१.१२) इति लक्षण-मुक्तम् न चेदं नामधेयेनोद्देशमात्राद् भिद्यते । मात्रग्रहणसामध्यदिप्रसङ्गः—पदार्था-भिधानमात्रित्युक्तम्, न च प्राणादीनां पदार्थाभिधानमात्रत्वम् । कारकशब्दत्वात्—कारकशब्दा एते प्राणादीनीति, तस्माहोद्दं शत्वप्रसङ्गः।

इस शास्त्र की प्रवृत्ति तीन प्रकार की है—उद्देश, लक्षण और परीक्षा। उनमें नाम लेकर पदार्थमात्र का कथन उद्देश है, कथित (पदार्थ) के स्वरूप (तन्त्र) का व्यावर्त्तक धर्म लक्षण है, लक्षित का कहा गया (यथा) लक्षण युक्तियुक्त है (उपपद्यते) अथवा नहीं, यह प्रमाणों से निश्चय करना परीक्षा है।

उनमें (कहीं) निर्दिष्ट का विभाग किया जाने पर (प्रविभक्तस्य) लक्षण कहा जाता है; जैसे इमाणों का और प्रमेय का, और (कहीं) निर्दिष्ट का लक्षण किया जाने पर विभाग किया जाता है; जैसे छल का 'वननविद्यातोऽर्थिनिकल्पोपपत्त्या छलम् (१.२.१०) अर्थात् अर्थ का विकल्प होने से वचन का विरोध दिखलाना छल है, तत् 'त्रिनियम्' (१.२.११) वह तीन प्रकार का है। अब निर्दिष्ट का विभाग कहा जाता है;

इस शास्त्र की तीन प्रकार की प्रवृत्ति है, यह माण्य है। प्रवृत्ति के तीन प्रकार क्यों हैं? अर्थ के वैसा होने से—ये पदार्थ वक्ता के द्वारा तीन प्रकार से व्यवस्थित नहीं किये जाते कि ऐसा हो जाओ; किन्तु अर्थ ही यह वैसा है जिससे तीन प्रकार का हो जाता है। (आक्षेप) नाम से पदार्थ मात्र का कथन उद्देश हैं, यह कहना अयुक्त है; द्वाण आदि सूत्र का विरोध होने से—द्वाणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्राणीन्द्रियाण (१.१.१२) यह लक्षण कहा गया है; किन्तु (च) यह नाम से किये गये उद्देशमात्र से भिन्न नहीं है। (परिहार) मात्र शब्द के ग्रहण के सामर्थ्य से यहाँ (उद्देश होने का) प्रसङ्ग नहीं होता—पदार्थ मात्र का कथन, यह (उद्देश के लक्षण में) कहा गया है और द्वाण आदि के पदार्थ मात्र का कथन नहीं है कारक शब्द होने से—ये घाण आदि कारक शब्द हैं अतः (उस सूत्र के) उद्देश होने का प्रसंग नहीं है ?

न्यायसूत्रं भाष्यं च प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि ॥१।१।३॥

न्यायवात्तिकम्

उद्दिष्टस्य विभागो द्वेषा भवति, लक्षितस्यालक्षितस्य च । लक्षितस्य छलादेः । अलक्षितस्य प्रमाणादेरिति । अथोद्दिष्टविभागद्वारेण सूत्रम्, 'प्रत्यक्षानुमानोपमानश्वदाः प्रमाणानीति' । सूत्रार्थो निगदेनैव व्याख्यातः । उद्दिष्टस्य विभागानर्थक्यम् व्याघातात् — 'त्रिविधा चास्य शास्त्रस्य प्रवृत्तिः' इत्युक्तम्, उद्दिष्टविभागश्च न त्रिविधायां शास्त्रप्रवृत्तावन्तर्भवति । तस्मादुद्दिष्टविभागो न युक्तः । न, उद्दिष्टविभागस्य उद्देश एवान्तर्भवति । कस्मात् ? लक्षणसामान्यात् — समानं लक्षणं नामधेयेन पदार्थोभिधानमुद्देश इति ।

कि पुर्नावभागेन प्रयोजनम् ? नियमः—यदि प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि (१. १. ३) इति विभागो न कियेत नियमो न गम्थेत, चत्वार्येव प्रमाणा-

प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द चार प्रमाण हैं ॥१-१-३॥

उद्देश किये गये का विभाग दो प्रकार का होता है, लक्षण कर दिये गये का और विना लक्षण किये का; (जैसे) लक्षण कर दिये गये छल आदि का और (पहले) लक्षण न किये गये प्रमाण आदि का। अब उद्देश किये गये का विभाग करने वाला सूत्र है, प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द (चार) प्रमाण हैं। सूत्र का अर्थ (ग्रन्थ के) पाठ से (निगदेन) ही वह दिया गया है। (आक्षेप) उद्देश किये गये का विभाग करना अनर्थक है, विरोध होने से—इस शास्त्र की प्रवृत्ति तीन प्रकार की है, यह कहा गया है, और नाममात्र से उक्त (उद्दिष्ट) का विभाग करना युक्तियुक्त नहीं। [परिहार] यह ठीक नहीं उद्दिष्ट के विभाग का उद्देश में (ही) अन्तर्भाव हो जाने से —उद्दिष्ट के विभाग का उद्देश में ही अन्तर्भाव हो जाता है। कैसे ? लक्षण की समानता होने से—समान (ही) लक्षण है वि नाम से पदार्थमात्र का कथन उद्देश है।

(प्रश्न) फिर विभाग करने से क्या प्रयोजन है ? (उत्तर) नियम करना—यदि प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द. ये प्रमाण होते हैं, यह विभाग न किया जाये, तो नियम न जाना जाये (गम्येत) कि (न्याय के मत में) चार ही प्रमाण हैं। शिङ्का-

त्रिविधा—नामधेयमात्र से प्रमाण आदि का तत्त्वज्ञान नहीं होता अपि तुलक्षण तथा परीक्षा से होता है जतः अग्निम ग्रन्थ का उपयोग है, यह भाष्य का अभिप्राय है (टी० १८६)। श्रीधर का कथन है कि यहां 'अस्य' शब्द के प्रयोग से न्यायशास्त्र की प्रवृत्ति तीन प्रकार की है प्रत्येक शास्त्र की नहीं (न्यायकन्दली)।

अर्थस्य-पदार्थ, प्रयोजन, यहां तत्त्वज्ञान का ।

तस्मान्नोह् शत्वप्रसङ्गः— 'पदार्थमान्न' में मान्न शब्द से विदित होता है कि जहां केवल पदार्थ का नाम से कथन किया जाता है वहां उद्देश है। 'घ्राण' आदि सूत्र में पदार्थ-कथन के साथ घ्राण आदि का कारक होना (जिन्निति अनेन) भी विवक्षित है; किन्तु 'प्रत्यक्ष' आदि का कारकत्व विवक्षित नहीं। 2.2.3]

६४

न्यायभाष्यम

अक्षस्याक्षस्य प्रतिविषयं वृत्तिः प्रत्यक्षम् । वृत्तिस्तु सन्निकर्षो ज्ञानं वा । यदा सन्निकर्षस्तदा ज्ञानं प्रमितिः । यदा ज्ञानं तदा हानोपादानोपेक्षा-बुद्धयः फलम् ।

न्यायवात्तिकम्

नीति । लभगतश्चतुष्ट्वाधिगतिरिति चेत्; न, लक्षणस्य इतरेतरच्यवच्छेदहेतुत्वात्—स्यादेवा बुद्धिर्लक्षणतः प्रमाणचतुष्ट्वं गम्यत इति, यसमात् चतुणां लक्षणमुक्तमिति । न, लक्षणस्येतरेतरच्यवच्छेदहेतुत्वात्—लक्षणं खलु लक्ष्यं पदार्थं समानासमानजातीयभ्यो व्यवच्छिनत्ति, नियमं तु नं शक्तिति कर्तुं मन्यार्थत्वात् । अन्यासंभवस्य ततोऽनिधगतेः— नः ति अलक्षणतोऽन्यासंभवोऽधिगम्यते । ततश्चतुर्णामनिभधाने चतुर्णां लक्षणोपदेशात् स्यात् संशयः—कि विद्यमानानि न लक्षितानि, आहोस्विद् अविद्यमानानीति । तस्मात् संशयनिष्ट्यर्थं युक्तो विभागोद्देश इति ।

एक-एक इन्द्रिय की (अक्षस्य अक्षस्य) प्रत्येक विषय में जो वृत्ति है वह प्रत्यक्ष है। यहाँ 'वृत्ति' का अर्थ है सिन्नकर्म अथवा ज्ञान। जब सिन्नकर्ष (अर्थ लिया जाता) है तत्त्वज्ञान (प्रमाण का) फल (प्रमिति) है और जब ज्ञान (अर्थ लिया जाता) है, तब त्याग, ग्रहण और उपेक्षा की मित (बुद्धि) फल है।

समाधान] यदि लक्षणों से प्रमाणों के चार होने (चतुष्ट्व) का बोध होगा तो ठीक नहीं, लक्षण के एक दूसरे से भेद (व्यावृत्ति) का निमित्त होने से—यह विचार हो सकता है कि लक्षण से (ही) प्रमाण चार हैं, यह जान लिया जाता है, क्योंकि चार (प्रमाणों) का लक्षण कहा गया है, यह ठीक नहीं, लक्षण के एक दूसरे से भेद (व्यावृत्ति) का निमित्त होने से—निश्चय ही लक्षण तो लक्ष्य पदार्थ को समानजातीय तथा असमानजातीय से पृथक करता है, वह नियम तो नहीं कर सकता; उसके अन्य प्रयोजन के लिये (अर्थ) होने से उस (लक्षण) से अन्य (प्रमाणों) का न होना, नहीं जाना जा सकता। वस्तुतः (हि) लक्षण से अन्य (प्रमाणों) का न होना, नहीं जाना जाता। इसलिये चार का कथन न करने पर चारों के लक्षण कथन से संशय हो सकता है कि 'क्या विद्यमान होते हुओं (अन्य प्रमाणों) का लक्षण नहीं किया गया, अथवा विद्यमान न होते हुओं का''। इसलिये संशय की निवृत्ति के लिये विभाग-कथन युक्तियुक्त है।

लक्षणतश्चतुष्ट्वाधिगति:—शङ्का का भाव यह है:—चार प्रमाणों का ही सूत्रकार ने लक्षण किया है जिससे विदित होता है कि सूत्रकार के मत में चार ही प्रमाण हैं। 'न' इत्यादि समाधान का आश्य है कि लक्षण का प्रयोजन है समानजातीय तथा असमानजातीय पदार्थों से व्यावृत्ति कराना, अतः वह (लक्षण) नियम नहीं कर सकता। इस प्रकार यदि यहां चारों प्रमाणों का नामतः उल्लेख न किया जायेगा तो संशय हो जाया करेगा।

वृत्तिस्तु सिन्निकर्ष: —वृत्ति का अर्थ है व्यापार (टी०१८८) इसका परिष्कृत अर्थ है, तज्जन्य स्तज्जन्यजनकोऽवान्तरच्यापारः (तर्कभाषा ५८)। भाष्य में 'वृत्ति' के सिन्निक्ष और ज्ञान दो अर्थ कहे गये हैं और प्रमिति तथा हानोपादानोपेक्षावृद्धि दो ही फल। वाचस्पति मिश्र ने इसकी व्याख्या में (१८८) इन्द्रिय को भी प्रमाण बतलाया है तथा प्रत्यक्ष प्रमा के दो प्रकार दिखलाये हैं निर्विकल्पक

E [

[प्रमाणानि

न्यायभाष्यम्

मितेन लिङ्गिने लिङ्गिनोऽर्थस्य पश्चान्मानमनुमानम् । न्यायवात्तिकम्

अक्षस्याक्षस्य प्रतिविषयं वृत्तिः प्रत्यक्षमिति । अयं च सूत्रविवक्षायाम् अव्य-योभावः समासः, अन्यथा तु वस्तुनिर्देशो न समासः । समासे हि अक्षस्येति षष्ठी न श्रूयेत । कः पुनरत्र समासः ? प्रादिसमासोऽयं द्रष्टव्यः 'प्रतिगतमक्षं प्रत्यक्षमिति'; यथोपगतो गोभिष्ठपगुरिति । एवमनुमानादिष्यपि द्रष्टव्यम् ।

मितेन लिङ्कोन लिङ्किनोऽर्थस्य पश्चात्मानमनुमानमिति न युक्तम्, फलाभावात्। एतस्मिन् व्याख्यानेऽफलम् अनुमानं प्राप्नोति । किं कारणम् ? अर्थस्य मितत्वात्। नैष दोषः; मितेन लिङ्कोन अर्थस्य पश्चात्मानं यतो मवतीति ब्र्मः। भवतु वायमर्थी लैङ्किको प्रतिपत्तिरन्मानिमिति ननु च फलाभावो दोष उक्तः ? न दोषः; हानोपादानो-पेक्षाबुद्धीनां फलत्वात्।

ज्ञात लिङ्ग (साधन) से लिङ्गी (साध्य) का पश्चात् ज्ञान करना अनुमान है।
एक-एक इन्द्रिय का प्रत्येक विषय के प्रति होने वाला व्यापार (वृत्ति) प्रत्यक्ष
है यह (भाष्य है)। और यह (प्रत्यक्ष शब्द) सूत्र की विवक्षा में अव्ययीभाव समास
(अक्षमक्षं प्रति वर्तते) है, अन्य प्रकार से तो केवल अर्थ (वस्तु) का निर्देश है समास
(विग्रह) नहीं; क्योंकि (अव्ययीभाव) समास में अक्षस्य (= इन्द्रिय का) यह पष्ठी
विभक्ति न सुनाई देगी। फिर यहाँ क्या समास है ? प्रादि समास है, यह जानना चाहिये
'प्रतिगतम् अक्षं प्रत्यक्षम्' (विषय के प्रति गई हुई इन्द्रिय); जैसे'गोभिः उग्गतः'
(गौओं के द्वारा प्राप्त किया गया) उपगु होता है।

(आक्षेप) ज्ञात (मितेन) लिङ्ग से लिङ्गी (साध्य) का बाद में ज्ञान करना अनुमान है. यह (भाष्य) युक्तियुक्त नहीं, फल न होने से—इस व्याख्या में अनुमान फलरहित है, यह प्राप्त होता है। क्या कारण है? अर्थ के ज्ञात हो जाने से। [परि-हार] यह दोष नहीं है, (i) ज्ञात लिङ्ग से बाद में अर्थ का ज्ञान जिससे (यतः) होता है, यह हम कहते हैं (ii) अथवा इसका यह अर्थ है कि लिङ्ग से होने वाला ज्ञान अनुमान है। शङ्का है (ननु च) फल का न होना दोष कहा गया है? (समाधान) दोष नहीं है, त्याग, ग्रहण तथा उपेक्षा बुद्धि के फल होने से।

(आलोचनमात्र) और सिवकल्पक। इस प्रकार तीन फल हो जाते हैं उत्तरवर्ती न्यायपरम्परा में यही मन्तव्य प्रसिद्ध रहा है (द्र० तर्कभाषा)।

अयं च....समास:—सूत्र में 'प्रत्यक्ष' शब्द अव्ययीभाव समास है 'अक्षम् अक्षं प्रति' अन्यत्र प्रादि समास है 'प्रतिगतम् अक्षम्' इसीलिये 'प्रत्यक्षोऽर्थः, प्रत्यक्षं ज्ञानम्, प्रत्यक्षा बुद्धः' यहाँ अभिवेय के समान लिङ्गवचन होते हैं।

वस्तुनिर्देश: - यदि सूत्र में अव्ययीभाव समास है तो भाष्यमें 'अक्षस्याक्षस्य' यह विग्रह वयों किया

2.8.3]

न्यायभाष्यम

६७

उपमानं सामीप्यमानम्, यथा गौरेवं गवय इति। सामीप्यं त सामान्ययोगः । शब्दः शब्दचतेऽनेनार्थं इत्यभिधीयते विज्ञाप्यत इति ।

न्यायवात्तिकम

सर्वं च प्रमाणं स्वविषयं प्रति भावसाधनम्, प्रमितिः प्रमाणमिति । विषया-न्तरं प्रति करणसाधनम् 'प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणम्' । यदि भावसाधनः प्रमाणशब्दः कि फलम् विषयस्याधिगतत्वात्? उक्तं फलं हानादिबुद्धय इति; ज्ञाते तद्भावात्—ज्ञाते खत्वर्थे त्रिविधा बुद्धिर्भवति हेयो वोपादेयो वोपेक्षणीयो वेति ।

केचित् सन्निकर्षमेव प्रत्यक्षं वर्णयन्ति, न तन्न्याय्यम्, प्रमाणाभावात्—सन्नि-कर्ष एव प्रमाणिमिति न प्रमाणमस्ति, उभयं तु युक्तम्, परिच्छेदकत्वात् — उभयं परि-

च्छेदकं सन्निकर्षो ज्ञानं च । एकान्तवादिनस्त दोष इति ।

अउपमान है सादश्य (सामीप्य) ज्ञान; जैसी गाय वैसी नीलगाय इत्यादि। सामीप्प का अर्थ है साद्द्यसम्बन्ध। जिससे अर्थ का कथन किया जाता है (शब्दय-ते = अभिधीयते), बोध कराया जाता है (शब्द्यते = विज्ञाप्यते) वह शब्द है।

वस्तुत: सभी प्रमाण अपने विषय की दिष्ट से भावार्थक हैं, प्रमिति ही प्रमाण है (प्रमीयते इति, प्रमाणं प्रमितिः), अन्य विषय की दृष्टि से करणार्थंक हैं, जिससे प्रमिति की जाती है वह प्रमाण है (प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणम्)। (शङ्का) यदि प्रमाण शब्द भाव अर्थ में है तो फल क्या है; क्यों कि विषय तो ज्ञात (अधिगत) ही है ? (समाधान) फल कह दिया गया है, त्याग आदि की बुद्धि (ही फल है); ज्ञात में उस (त्याग आदि वृद्धि) के होने से—अर्थ के ज्ञात होने पर ही तीन प्रकार की वृद्धि होती है, यह त्याज्य है, ग्राह्य है या उपेक्षा के योग्य है।

कोई (नियमवादी टी० १९१) तो सन्निकर्ष को ही प्रत्यक्ष कहते हैं। वह युक्तियुक्त नहीं, प्रमाण न होने से—सन्निकर्ष ही प्रमाण है, इसमें कोई प्रमाण नहीं, दोनों (सन्निकर्ष और ज्ञान का प्रमाण कहलाना) युक्त है परिच्छेदक (अर्थ का बोधक) होने से—दोनों ही अर्थ के बोधक हैं सन्निकर्ष और ज्ञान। एक को ही प्रमाण मानने वाले (एकान्तवादी) के मत में तो दोप है।

गया है ? इसके उत्तर में कहा गया है कि भाष्य में अर्थ (बस्तृ) दिखलाया गया है, समास-विग्रह नहीं अन्यथा यहां पष्ठी (अक्षस्य) न होगी । 'समासे हि प्रत्यक्षस्येति पष्ठी न श्रूयेत' यह पाठ है । यदि सर्वत्र अव्ययीभाद समास माना जाये तो 'प्रत्यक्षस्य' में षष्ठी न होगी।

अर्थस्य मितत्वात्—धर्मी (अग्नि आदि) के प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञात होने से, धर्मिणः प्रत्यक्षगोचरत्वात् नैष दोष: आदि में इसका परिहार है। प्रथम परिहार का आशय है अन्ति का ज्ञान अनुमान है,

अग्नि ही अर्थ नहीं किन्तु जिज्ञासित धर्मविशिष्ट अग्नि अर्थ है (टी० १६०)।

केचित्तु सन्निकर्षमेव ---भाष्य में जो कहा गया है 'वृत्तिस्तु सन्निकर्षो ज्ञानं वा' डा० गङ्गानाय झाने उसी भाष्य के प्रसङ्ग में इस वार्त्तिक का अनुवाद किया है। वस्तुतः यह अग्निम अनुसन्धान की अपेक्षा रखता है। यहां वात्तिककार ने नियमवादी (केवल सन्निकर्प को प्रमाण मानने वाले) के मत को दोषयुक्त माना है (टी॰ १६१)।

न्यायभाष्यम्

उपलब्धिसाधनानि प्रमाणानीति समाख्यानिर्वचनसामर्थ्याद् बोद्-धन्यम् । प्रमोयतेऽनेनेति करणार्थाभिधानो हि प्रमाणशब्दः । तिद्वशेषसमा-ख्याया अपि तथैव न्याख्यानम् ।

न्यायवात्तिकम्

सानीप्यमानमुपमानमिति न युक्तम्, उपमानस्यान्यथाव्याख्यानात् । समाख्यासं-बन्धप्रतिपत्तिरुपमानार्थः (भा० १.१.६) इत्युक्तम्ः, इदानीं तूच्यते सामीप्यमानमुपमान-मिति । ननु व्याघातः ? नास्ति व्याघातः; सामीप्यमानेन समाख्यासम्बन्धप्रतिपत्ते रिष्ट-त्यात्— यस्मादयमुपयुक्तोपमानो गोदर्शी आगमप्रत्ययाहितस्मृतिपूर्वकं गदा सादश्यं प्रत्यक्षेण प्रतिपद्य अस्य गवयशब्दः संज्ञोति संज्ञासंज्ञिसम्बन्धं प्रतिपद्यते । तस्मादव्याघात इति ।

शब्दविषया प्रतिपत्तिः शाब्दं प्रमाणम् । फलं तदेव ।

ज्ञान (प्रमिति) के साधन प्रमाण होते हैं, यह संज्ञा (समाख्या) की निरुक्ति के सामर्थ्य से जान लेना चाहिये। इससे प्रमिति की जाती है (प्रमीयतेऽनेन) इस प्रकार करण अर्थ को कहने वाला प्रमाण शब्द है। उस (प्रमाण) की विशेष संज्ञा (प्रत्यक्ष आदि) की भी उसी प्रकार व्याख्या होगी।

(आक्षेप) सादृश्य (सामीप्य) का ज्ञान उपमान है, यह युक्तियुक्त नहीं, उपमान की अन्य रूप में व्याख्या होने से; संज्ञा (संज्ञी) के सम्बन्ध का ज्ञान उपमान का प्रयोजन है (१.१.६ भा०), यह कहा गया है, अब तो कहा जा रहा है सादृश्यज्ञान उपमान है, यह विरोध है। [परिहार] विरोध नहीं है, समीप्यज्ञान से संज्ञा-संज्ञी के सम्बन्ध का ज्ञान अभीष्ट होने से—क्योंिक उपमान (सादृश्य सम्बन्ध) का उपयोग करने वाला गौ को देखने के पश्चात् आगम ज्ञान से उत्पन्न स्मृति के द्वारा प्रत्यक्ष से गौ के साथ सादृश्य जानकर 'इसकी गवय शब्द संज्ञा है' इस प्रकार संज्ञा-संज्ञी के सम्बन्ध को जानता है, इसलिये विरोध नहीं है।

शब्द से अर्थ का ज्ञान शाब्द प्रमाण है। इसका फल वही (हानोपादानोपेक्षा-बुद्धि) है।

नास्ति व्याघात: जपमान शव्द की प्रमाण एवं फल की दृष्टि से दो प्रकार की निरुवित है उपमानम् = सामीप्यज्ञानम्, उपमीयतेऽनेन इति उपमानम्, जिससे संज्ञा तथा संज्ञी के सम्बन्ध का ज्ञान होता है वह प्रमाण उपमान है। यहां भाष्य में इसी अर्थ में 'उपमान' शव्द है किन्तु उपमान का प्रयोजन बतलाते हुए भाष्य में दूसरे प्रकार से कहा गया है (समाख्या॰ इत्यादि) वहां समाख्या-सम्बन्धश्रतिपत्ति में उपमानम् = उपमिति, उपमीयते इति उपमानम्, यह फल की दृष्टि से निर्ववन है। अतः विरोध नहीं, संज्ञा एवं संज्ञी के सम्बन्ध का ज्ञान सामीप्यज्ञान से होता है।

शाब्दं प्रमाणम्—वाचस्पति मिश्र ने शब्द प्रमाण में भी दो प्रकार से प्रमाणफलव्यवस्था दिखलाई है; वानयज्ञान या वाक्यार्थज्ञान प्रमाण है। जव वाक्यज्ञान प्रमाण है तो वाक्यार्थज्ञान फल (प्रमिति) है और जब वाक्यार्थज्ञान प्रमाण है तो हानादि बुद्धि फल है (द्र० टी० १.१.७) पृ० ३६७।

8.8.3

[48

न्यायवात्तिकम

केचितु किने प्रयोजनं वर्णयन्ति, आदौ प्रत्यक्षप्रहणं प्राधान्यात् तदनन्तरम् अनुमानं तत्पूर्वकत्वात्, तदनन्तरम् उपमानं तत्साधम्यात्, तदनन्तरं शब्दो महाविषय-त्वादिति । तच्चायुक्तियिति अपरे मन्यन्ते, कमाभिधानस्य न्यायश्राप्तत्वात्—न्याय-प्राप्तं कमाभिधानं, कमवर्णवृत्तित्वाद् वाच इति । महाविषयतायां च शब्दस्यादाविभधान-प्रसङ्ग इति । एतच्चायुक्तम्; कमवर्णवृत्तित्वाद् वाचोऽपुगपदिभिधानं युक्तम्, पूर्वा-पराभिवाने तु न सावनमेतत्; तस्मादन्यो न्यायो वक्तव्यः । स चार्यं न्यायः, प्रत्यक्षं पूर्वं प्राधान्यात् । महाविषयत्वादादौ शब्दोपदेश इति । न, उभयं महाविषयं शब्दः प्रत्यक्षं च । कथमिति ? प्रत्यक्षेणापि सामान्यविशेषतद्वतां ग्रहणम्, शब्देनापीति । तत्र कि शब्दस्यादायुपदेशो भवतु, आहोस्वित् प्रत्यक्षस्येति ? प्रत्यक्षस्येति युक्तम् । कि कारणम् ? सर्वप्रमाणानां प्रत्यक्षपूर्वंकत्वादिति ।

कोई (एकादेशी) तो (प्रत्यक्ष आदि के) कम में प्रयोजन बतलाते हैं; आदि में प्रधान होने से प्रत्यक्ष का ग्रहण है, उसके पश्वात् प्रत्यक्ष (तत्) पूर्वक होने से अनुमान का, उसके पश्चात् उस (अनुमान) के समान धर्म वाला होने से उपमान का, उसके पश्चात् विस्तृत विषय वाला होने से शब्द का। और वह युक्तियुक्त नहीं, यह अन्य (दूसरे एकदेशी) मानते हैं कमशः कथन करना न्यायप्राप्त होने से-कम से कथन करना न्याय से प्राप्त है; क्योंकि वाणी की कमशः (ही) वर्णों में वृत्ति (व्यापार) होती है (कमवर्णवृत्तित्वाद्)। किञ्च, शब्द के बिस्तृत विषय वाला होने पर (तो) उसका आदि में कथन होने लगेगा। यह (दूसरे एकदेशी का मत) भी अयुक्त है; वाणी की क्रमशः वर्णों में वृत्ति (व्यापार) होने से एक साथ न कहा जाना युक्तिसंगत है किन्तु पहले और बाद में कहने में तो यह निमित्त (साधन) नहीं, इसलिये अन्य न्याय कहना होगा और वह यह न्याय है, (वात्तिककार का मत) प्रधान होने से पहले प्रत्यक्ष है। (शङ्का) विस्तृत विषय वाला होने से पहले शब्द का उपदेश होना चाहिये। (समाधान) ऐसा नहीं, दोनों (ही) विस्तृत विषयवाले हैं शब्द और प्रत्यक्ष । कैसे ? प्रत्यक्ष के द्वारा भी सामान्य, विशेष और सामान्य-विशेष से युक्त का (तद्वताम्) ग्रहण होता है, शब्द से भी । उन में (तत्र) क्या शब्द का उपदेश आदि में हो अथवा प्रत्यक्त का ? प्रत्यक्ष का (आदि में हो), यह युक्तियुक्त है । क्या कारण है ? क्योंकि सब प्रमाण प्रत्यक्षपूर्वक होते हैं।

केचित् - यह एकदेशी का मत है, एकदेशिमतमुपन्यस्यति 'केचित् त्वित', टी० १६१।

अपरे — यह दूसरे एकदेशी का मत है, तदेतर् एकदेशिमतम् एकदेश्यन्तरम ोन दूषयित 'तच्चायुक्त-

मित्यपरे' इति, टी० १६१।

एतच्च यह दूसरे एकदेशी के मत का निराकरण है, अनन्तरमतं दूषवित 'एतच्च' इति, टी०१६१।

तस्मादन्य:—यह वात्तिककार का मत है, संप्रति विमर्शगूर्वकं स्वाभिमतकमनियमहेतुमवधारयन्ने व पूर्वेकदेशिमतमपाकरोति 'तस्मादन्य' इति, टी० १६१ ।

प्रमाणानि 90]

न्यायभाष्यम्

कि पूनरेतानि प्रमाणानि प्रमेयसिमसंप्लवन्ते, अथ प्रतिप्रमेयं व्यव-तिष्ठन्त इति ? उभयथा दर्शनम्'-अस्त्यात्मेत्याप्तोपदेशात् प्रतीयते । अत्रा-नुमानम्, इज्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम् (१.१.१०) इति प्रत्यक्ष युञ्जानस्य योगसमाधिजम्, आत्मन्यात्ममनसोःसंयोगविशेषा-दातमा प्रत्यक्षः (वै० सू०६.१.११) इति । अग्निराप्तोपदेशात् प्रतीयते 'अमु-त्राग्निरिति' प्रत्यासीदता धूमदर्शनेनानुमीयते, प्रत्यासन्नेन च प्रत्यक्षत उप लभ्यते । व्यवस्था पुनः, अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इति लौकिकस्य स्वर्गे न लिङ्गदर्शनम्, न प्रत्यक्षम् । स्तनधित्नुशब्दे श्रूयमाणे शब्दहेतोरन्-मानम्। तत्र न प्रत्यक्ष नागमः। पाणौ च प्रत्यक्षत उपलभ्यमाने नानुमानं नागम इति।

न्याथवात्तिकम्

कि पुतरेतानि प्रमाणानि संप्लवन्ते, अथ प्रतिप्रमेयं व्यवतिष्ठन्त इति ? उभ-यथादर्शनम्, तन्व प्रमाणत इत्यंत्रैव दिशतम्

(प्रश्न) किन्तु क्या इन प्रमाणों का प्रमेय सामान्य होता है (प्रमाणःनि संव्लवन्ते) अथवा पृथक् पृथक् एक-एक प्रमेय होता है (ब्यवतिष्ठन्ते) ? (उत्तर) दोनों प्रकार से देखा जाता है: 'आत्मा है' यह आप्तोपदेश से प्रतीत होता है। इस विषय में (अत्र) अनु-मान है, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दु:ख और ज्ञान आत्मा के बोधक (लिङ्ग) हैं (१.१. १०)। युज्जान नामक योगी को योग-समाधि से प्रत्यक्ष होता है, (जैसा वै० सूत्र ६. १.११ में बतलाया गया है) आत्मा में आत्मा और मन के संयोगिवशेष (योग ग-सिन्नकर्ष) से आत्मा प्रत्यक्ष होता है। अग्नि का आप्तोदेश से ज्ञान होता है कि यहाँ (अमुत्र) अग्नि है, कुछ समीप जाने वाले को धूमदर्शन से (अग्नि का) अनुमान होता है और समीप गये हुए को (प्रत्यासन्ने न) प्रत्यक्ष से उपलब्वि होती है। और (प्रमाणों की) व्यवस्था (भी) है: (शास्त्र वचन है) स्वर्ग की कामना वाला अग्निहोत्र (होम) करे। यहाँ लौकिक जन को स्वर्ग के विषय में न तो लिङ्गदर्शन (अनुमान) होता है, न प्रत्यक्ष । (इसी प्रकार) मेघ-गर्जना (स्तनयित्नु) का शब्द सुना जाने पर शब्द के हेतु (मेव-गर्जना) का अनुमान कर लिया जाता है, उसमें न प्रत्यक्ष है, न आगम है, और, हाथ के प्रत्यक्षतः उपलब्ध होने पर न अनुमान है, न आगम ही।

'कि पूनरेतानिः उभयथादर्शनम्' इत्यादि माष्य है, और वह (विषय) 'प्रमाणती

ऽर्थप्रतिपत्तौ' इत्यादि के प्रसङ्ग में ही (इत्यत्रैव) दिखला दिया गया है।

अमिसंप्लवन्ते o---प्रमाणसंप्लव जौर प्रमाण-व्यवस्था के लिये द्र o भाष्य १.१.३ का अन्तिम भाग, वात्तिक ग्रन्थ के आदि में (प्रमाणतः' आदि में)।

उभयया दर्शनम् — न्याय को प्रमाणसंप्लव और प्रमाण-व्यवस्था दोनों अभीष्ट, हैं वौद्धदर्शन केवल प्रमाण-व्यवस्था को ही मानता है,। यह दिखलाया जा चुका है।

युज्जानस्य-समाधि में तत्पर ।

न्यायभाष्यम

सा चेयं प्रमितिः प्रत्यक्षपराः जिज्ञासितमर्थमाप्तोपदेशात् प्रतिपद्य-मानो लिङ्गदर्शनेनापि बुभुत्सते । लिङ्गदर्शनेनानुमितं च प्रत्यक्षतो दिदक्षते । प्रत्यक्षत उपलब्धेऽर्थे जिज्ञासा निवर्तते । पूर्वोक्तमुदाहरणमग्निरिति । प्रमा-तुःप्रमातन्येऽर्थे प्रमाणानां संकरोऽभिसंग्लवः, असंकरो व्यवस्थेति ॥१।१।३॥ इति त्रिसूत्रीभाष्यम्।।

न्यायवात्तिकम

सेयं प्रमितिः प्रत्यक्षपरेति । प्रत्यक्षेणाधिगतेऽर्थे आकाड्काभावात् तत्परा । ययायं लौकिकोऽमुत्राग्नित्याप्तोपदेशादोंग्न प्रत्याहितप्रत्ययस्तं देशं गच्छति । प्रत्यासीदन् पुनर्ध् सिवशेषणं धूमाङ्गत्वेन व्यवस्थितं हुतभुजं प्रतिपद्यते । आसन्नतरस्त्विदानीमिन्द्रि-यार्थसिन्निकर्षवद्यादग्नाविग्निप्रत्ययं करोति । तदा निराकाड्को भवति । तस्मात् प्रधानं प्रत्यक्षमिति । यत्र संप्लवस्तत्र वस् । यत्र पुनर्व्यवस्था तत्र प्रधानगुणभावो न चिन्त्यत इति । १।१।३॥ 'इति त्रिसूत्रीवात्तिकम्' ॥

और वह यह प्रमिति प्रत्यक्षपरक होती है (अर्थात् प्रमाणसंप्लव के स्थलों पर पदार्थ का प्रत्यक्ष हो जाने पर प्रमिति की पूर्णता हो जात्ती है)। जिस अर्थ को जानने की इच्छा होती है (जिज्ञासित) उसे आप्तोपदेश से जानता हुआ लिङ्गदर्जन (अनुमान) से भी जानने की इच्छा करता है। लिङ्गद न से अनुमित किये गये को प्रत्यक्ष से देखने की इच्छा करता है (दिदृक्षते)। प्रत्यक्ष से अर्थ के उपलब्ध होने पर जिज्ञासा (जानने की इच्छा) निवृत्त हो जाती है। पहले कहा गया उदाहरण है-अग्निराप्तोप-देशात् प्रतीयते आदि । प्रमाता के प्रमित करने योग्य अर्थ में कई प्रमाणों का जाना (=संकर) अभिसंप्लव है और पृथक् पृथक् प्रवृत्ति (असंकरः) व्यवस्था है । १।१।३॥ सेयं प्रमितिः प्रत्यक्षपरा' यह भाष्य है। प्रत्यक्ष से जाने गये अर्थ में आकांक्षा

न रहने के कारण यह प्रत्यक्ष (तत्) परक है, जैसे कोई लौकिक 'वहाँ अग्नि है' इस आप्तोपदेश से अग्नि के विषय में निश्चय करके (आहितप्रत्ययः = आहित उत्पादितः प्रत्ययो निश्चयो यस्य, टी० १६२) उस देश में जाता है। फिर समीप जाता हुआ घूम के विशेषण अर्थात् घूम के व्यापक रूप से (धूमाङ्गत्वेन) निश्चित आँग्न को जान-लेता है। और अधिक समीप गया हुआ (आसन्नतरः) तो ईस समय इन्द्रिय और अर्थ (अग्नि) के सिन्नकर्ष के कारण अग्नि में 'यह अग्नि है' ऐसा निश्चय करता है। तब अकांक्षा रहित हो जाता है। इस लिये प्रत्यक्ष प्रधान है। जहाँ (प्रमाणों का) संप्लव होता है वहाँ ऐसा होता है; किन्तु जहाँ व्यवस्था होती है वहाँ प्रधानता और अप्र-धानता (गुणभाव:=गौणता) का विचार नहीं किया जाता। १।१।३॥

प्रत्यक्षपरा--प्रत्यक्षं परं यस्याः सा, पर-प्रधान । जब प्रमाणों का संप्लव होता है तो प्रत्यक्ष होने पर ही आकांक्षा की निवृत्ति होती है। वहाँ प्रत्यक्ष प्रधान है अन्य प्रमाण अप्रधान होते हैं प्रमाण-व्यवस्था में तो एक ही प्रमाण होता है अत. प्रधानता तथा अप्रधानता नहीं होती। धूमाङ्गत्वेन - यहाँ अङ्ग का अर्थ है व्यापक । व्यप्य घूम है, वह व्याप्ति किया में कर्म है अतः

प्रधान है। इसी से उसके व्यापक अग्नि को अङ्ग कहा गया है, (टी० १६२)।

न्यायसूत्रं भाष्यं च

अथ विभक्तानां लक्षणिमिति— इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमय्यपदेश्यमध्यभिचारि व्यवसा-यात्मकं प्रत्यक्षम् । ।१।१।४।।

न्यायवात्तिकम्

अथ विभक्तानां लक्षणवचनिमिति, लक्षणमुच्यते । तल इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नमित्येवमादि सूत्रम् । सूलार्थस्तु समानासमानजातीयविशेषकत्वम् । अथ पदानामर्थः कः ? ?
इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नमिति, इन्द्रियेणार्थस्य सन्निकर्षाद् यदुत्पद्यते ज्ञानं तत् प्रत्यक्षम्
इति । इन्द्रियाणि पुनर्वक्ष्यमाणकािम्, सर्याद्यः । सन्निकर्षः पुनः षोढा भिद्यते; संयोगः
संयुक्तसम्बायः संयुक्ततम्बेतसम्बायः समवायः समवेतसम्बायो विशेषणिवशेष्यभावद्यतेति,
तत्र चक्षुरिन्द्रियम्, रूपवान् घटादिरर्थः । तेन सन्निकर्षः संयोगः, तयोर्द्रव्यस्वभावत्वात् ।
अद्रव्येण तु तद्गतरूपदिना संयुक्तसमवायः, यस्मात् चक्षुष्यः संयुक्ते द्रव्ये रूपादिः
वर्तते इति । वृत्तिश्च समवायः, एवं रूपादिवृत्तिना सामान्येन संयुक्तसमवितसमवायः
सन्निकर्षः । एवं व्रागदिषु गन्धवदादिद्वव्येण संयोगः । तत्समवेत् पु गन्धादिषु संयुक्तसमवायः । तद्वृति यु च सामान्येषु संयुक्तसमवतसमवायः ।

अव विभक्त किये गये (प्रमाण) का लक्षण कहा जाता है— इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्प से उत्पन्न होने वाला ज्ञान जो शब्द से नहीं बतलाया जाता, व्यभिचार-रहित तथा निश्चयात्मक होता है, प्रत्यक्ष है । १।१।४॥

अव विभक्तों का लक्षण कहा जाता है, लक्षणवचनम् = लक्षणमुच्यते । उस विषय में 'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नम्' इत्यादि सूत्र है। सूत्र का प्रयोजन (अर्थः) तो समान-जातीय (प्रमाणरूप से समान जाति वाला अनुमान आदि) तथा असमानजातीय (प्रत्य-क्षाभास आदि) से भेद कराना (विशेषकत्वम्) है। (प्रश्न) तव (अथ) (सूत्र के) पदों का अर्थ क्या है ? (उत्तर) इन्द्रियार्थनिनकर्गीत्पन्नम् = इन्द्रिय के साथ अर्थ के सन्नि-कर्ष से जो ज्ञान उत्पन्न हीता है वह प्रत्यक्ष है। और, इन्द्रियाँ आगे कही जायेगी तथा अर्थ भी। सन्निकर्ष तो छह प्रकार के हैं—संयोग, संयुक्तसमवाय, संयुक्तसमवेत-समवाय, समवाय, समवेतसमवाय तथा विशेषणविशेष्यभाव । उनमें चक्षु इन्द्रिय है, रूप वाला घट आदि अर्थ (विषय) है। उस घट के साथ संयोग सन्तिकर्ष (सम्बन्ध) है; क्यों कि वे दोनों (च्क्षुः तथा घट) द्रव्य-स्वरूप होते हैं। द्रव्य से भिन्न उस (घट) के रूप आदि के साथ तो संयुक्तसमवाय है; क्योंकि चक्षु से संयुक्त द्रव्य (घट) में रूप आदि हैं। यहाँ वृत्ति है समवाय [अर्थात् समवाय सम्बन्ध से घट में रूप आदि रहते हैं) इसी प्रकार रूप आदि में समवेत (वृत्तिना) सामान्य (रूपत्व) के साथ संयुक्तसम-वेतसमवाय सन्निकर्प है। इसी प्रकार झाण आदि में गन्ध-युक्त आदि द्रव्य के साथ संयोग है, उनमें समवाय से रहने वाले गन्ध आदि में संयुक्तसमवाय है और उस (गन्ध आदि) में रहने वाले सामान्य (गन्धत्व आदि) में संयुक्तसमवेतसमवाय है।

१. अथेदानीम्, क।

२. अर्थः , कथमिन्द्रिया० क, अर्थः कः ? इन्द्रिया० ख।

न्यायवात्तिकम

शब्दे च समवायः । अयं खनु शब्दः संयोगिवभागयोतिराद्यः । तत्र कतमः शब्दः संयोगयोतिः कतमश्च विभागयोत्तिरिति ? आकाशगुणत्वात् शब्दस्य, आकाशवृत्तः संयोगः
कारणम् । गुणकर्मस्वारब्धव्येषु सापेक्ष इति सापेक्षो न निरपेक्ष इति । किमपेक्षते ?
भेर्याकाशसंयोगस्तावत् शब्दस्यासमत्रायिकारणम्, तस्यानुग्रहे भेरीदण्डसंयोगो दण्डगतवेगापेक्ष इति । यदि पुनर्भेरीदण्डसंयोग एव शब्दस्य कारणं स्यात्, व्यविकरणः सयोगः शब्दकारणिमिति सर्वत्र शब्दस्योत्पत्तिप्रसङ्गः । विभागाच्छव्दः—वंशदलिवभागानुगृहीताद्
वंशदलाकाशिवभागाच्छव्द इति । स उत्पन्नः शब्दः सर्वदिक्कानि शब्दान्तराणि करोति ।
तान्यपि प्रत्येकं शब्दान्तराणि तावत् यावत् कर्णशब्कुलीमान् आकाशदेश इति । यः कर्णशब्कुलीमत्याकाशदेशे समवैति, स समवायादुपलभ्यते । तद्गतेषु च सामान्येषु समवेतसमवायादिति । समवाये चाभावे च विशेषणिवश्चेष्यमावादिति । सोऽयं सन्निकर्षशब्दः
संयोगसमवायविशेषणिवशेष्यभादव्यापकत्वादुपात्त इति । सोऽयं सन्निकर्षः प्रत्यक्षस्य कारणं
भवतीति लक्षणत्वेनोच्यते ।

और शब्द में समवाय सन्निकर्ष है। संयोग तथा विभाग से उत्पन्न होने वाला ता आद्य शब्द (कहलाता) है। (प्रश्न) उनमें कौन-सा शब्द संयोग से उत्पन्न होता है, कौन-सा विभाग से ? (उत्तर) शब्द के आकाश का गूण होने से आकाश में होने वाला (वृत्तिः) संयोग शब्द का (असमवायी) कारण है। (वै० सृत्र) गुणों तथा कर्मों को उत्पन्न करने में (संयोग) सापेक्ष (कारण) होता है, अपेक्षा-रहित नहीं। किसकी अपेक्षा करता है ? शब्द का असमवायी कारण तो भेरी तथा आकाश का संयोग है, उसके उपकार (अनुग्रह) में भेरी और दण्ड का संयोग दण्ड के वेग की अपेक्षा से होता है। (शङ्का) किन्तू यदि भेरी और दण्ड का संयोग ही शब्द का कारण हो जाये। (समाधान) तब भिन्न आधार में रहने वाला (व्यधिकरणः) संयोग शब्द का कारण होगा अतः सभी स्थलों पर शब्द की उत्पत्ति होने लगेगी। शब्द विभाग से (भी) उत्पन्न होता है (उत्पद्यते यह शेप है) वाँस के दो दलों के विभाग से होने वाले (अनुगृहीताद्) बाँस के दल तथा आकाश के विभाग से शब्द (उत्पन्न) होता है। वह (संयोग तथा विभाग से) उत्पन्न हुआ शब्द सब दिशाओं में अन्य (शब्दज) शब्दों को उत्पन्न करता है। वे (शब्दज शब्द) भी सब दिशाओं में अन्य शब्दों को तब तक उत्पन्न करते हैं जब तक कर्णविवर वाला आकाश देश आता है जो (शब्द) कर्णविवर वाले आकाशदेश में समवाय से रहता है उसकी समवाय (सन्निकर्ष) से उपलब्धि होती है और उसमें स्थित रामान्यों की समवेतसमवाय (सन्निकर्ष) से। समवाय और अभाव में विशेषण-विशेष्य-भाव से। वह यह सन्निकर्पशब्द संयोग, समवाय, विशेषण-विशेष्य-भाव में व्यापक होने के कारण गृहीत किया गया है (उपात्तः) । वह यह सन्निकर्ष प्रत्यक्ष का कारण होता है इसलिये लक्षणरूप में कहा गया है।

सन्निकर्षः पुनः घोढा— त्या० वै० की दृष्टि में यह सन्निकर्ष ६ प्रकार का है। तीन प्रकार का सन्निकर्ष मानने वालों का टीका में निराकरण किया गया है। प्रभाकर के अनुयायी तीन प्रकार क १. विभागजविभागाच्य शब्द , क, विभागाच्छव्दः, ख-;

न्यायभाष्यम्

इन्द्रियस्यार्थेन सन्निकर्षादुत्पद्यते यज्ज्ञानं तत् प्रत्यक्षत् । न तिह् इदानीमिदं भवति, आत्मा मनसा सयुज्यते, सन इन्द्रियेण, इन्द्रियमर्थेनेति ? नेद कारणावधारणम् एतावत्प्रत्यक्षे कारणमिति, किन्तु विशिष्टकारण-वचनिमिति । यत् प्रत्यक्षज्ञानस्य विशिष्टकारणं तदुच्यते, यत्तु समानम् अनु-मानादिज्ञानस्य, न तन्निवर्यत इति ।

न्यायवात्तिकम्

यदीदिन्द्रियार्थसिन्निकर्षः प्रत्यक्षस्य कारणत्वादुपिदिश्यते, अत्यल्पिसिदमुख्यते, अन्यान्यिप प्रत्यक्षस्य कारणानि बहूनि सन्ति, तान्यिप वक्तव्यानि । तद्यथा-आत्ममनः संयोगः, इन्द्रियमनः संयोगः, विषयप्रकाशसंयोगः, विषयस्थं रूपम्, विषयसंयोगिस्थं च, महत्त्वम्, अनेकद्रव्यवस्यम्, उपलब्धिफलः संस्कार इति । कस्मात् ? तद्भावे भावात् तदभावे चाभावादिति । तद् यदि कारणभावादिन्द्रियार्थसिन्निकर्षप्रहणम्, एतान्यिप कारणान्तराणि वक्तव्यानि ।

इन्द्रिय का अर्थ के साथ सन्तिकर्प होने से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह प्रत्यक्ष है। (शङ्का) तब तो इस समय यह नहीं होता कि आत्मा का मन से संयोग होता है, मन का इन्द्रिय से और इन्द्रिय का अर्थ से? [समाधान] यह कारण का नियतीकरण (अववारण) नहीं है कि इतना ही प्रत्यक्ष में कारण होता है। वस्तुतः यह विशिष्ट कारण का कथन किया गया है, जो प्रत्यक्ष का विशिष्ट कारण है वह कहा जा रहा है किन्तु जो अनुमान आदि ज्ञान का समान (कारण) है, उसकी निवृत्ति नहीं की जा रही।

(आक्रेंग) यदि प्रत्यक्ष का कारण होने से इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष कहा गया है तो यह अत्यन्त अल्प कहा गया है; प्रत्यक्ष के अन्य भी बहुत से कारण हैं, वे भी कहने चाहियें, जैसे कि आत्मा तथा मन का संयोग, इन्द्रिय तथा मन का संयोग, विषय (घट आदि) तथा प्रकाश का संयोग, विषय में होने वाला रूप, विषय के संयोगी (चक्षु तथा आलोक) का रूप (इ० टी० २१२) महत्त्व, अनेक द्रव्यों वाला होना और प्रत्यक्ष का निमित्त होनेवाला संस्कार। क्यों? उनके होने पर (प्रत्यक्ष) होता है, उनके सभाव में नहीं होता। तो यदि (प्रत्यक्ष का) कारण होने से इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष का प्रहण किया गया है, इन अन्य कारणों को भी कहना होगा।

सिन्तकर्य मानते हैं—सयोग, संयुक्तसमवाय और समवाय। भाट्ट लोग समवाय को ही नहीं मानते अतः उनके मत में दो ही सिन्तकर्य हैं। उत्तरवर्ती न्या० व ० में जो ६ सिन्तकर्य दिखलाय गये हैं समवतः इसका आधार वार्तिककार की व्याख्या है।

विषयसंयोगिस्थम्—विषय के संयोगी जो वक्षु तथा प्रकाश हैं, उनका रूप; प्रकाश और वक्षु दोनों अपने रूप से ही द्रव्य का चाक्षुष प्रत्यक्ष कराते हैं, यह वस्तुस्थिति है (टी० २१२)।

महत्त्रम्—महत् परिमाण वाला होना, अनेकद्रव्यवत्त्वम्—जिसके अवयव अनेकद्रव्य वाले हैं (टी०) इस सक्द का यह अर्थ करने पर इन दोनों में से एक का ग्रहण पर्याप्त है (टी० २१२)।

2.8.8]

त्ते

नों

1 8

10%

न्यायभाष्यम्

सनसस्तर्होन्द्रियेण संयोगो वन्तव्यः ? भिद्यमानस्य प्रत्यक्षजानस्य नायं भिद्यत इति समानत्वान्नोक्त इति ।

न्यायवात्तिकम्

न वक्तच्यानि, नेदं कारणावधारणार्थं सूत्रम् अपि तु समानासमानजातीय-विशेषणार्थम्, यत् प्रत्यक्षस्यासाधारणं कारणं तदिभिधीयते, न पुनः साधारणं कारणं निबर्व्यत इति ।

इन्द्रियमनः संयोगस्तिह असाधारणत्वादुपसख्येयः, न ह्ययमनुमानाविज्ञानानां कार गत्वेन संभवति । न, अनेनैव तस्योक्तत्वात् — इन्द्रियार्थसन्निकर्षग्रहणेन इन्द्रिय-मनःसंयोग उक्तो वेदितव्यः । किं कारणम् ? उभयोरसाधारणत्वात् । न च यावद-साबारणं कारणं सर्वं तद् वक्तव्यत्मिति सूत्रार्थः । अपि तु अन्यतरेणापि मिद्यत इत्यन्य-तरोपादानम् । इन्द्रियार्थसन्तिकर्यग्रहणं वा विशेषकत्त्रात् —यदिन्द्रियार्थसन्तिकर्षाद् उपजायते विज्ञानं तस्यान्यतरद् विशेषकं भवति । इन्द्रियमर्थो वा तद्विशेषकंम्, तेन व्ययदेशात् । यस्मादिदं विज्ञानिमिन्द्रियेण वा व्ययदिश्वते अर्थेन वा, रूपविज्ञानिमिति

तब भन का इन्द्रिय के साथ संयोग होता है यह कहना चाहिये। भिन्न होने वाले प्रत्यक्ष ज्ञान का यह भिन्न नहीं होता अतः (आत्ममनः सयाग के) समान होने से नहीं कहा गया।

[परिहार] न कहना होगा। यह सूत्र कारणों को नियत करने के लिये नहीं है अपि तु समानजातीय (अनुमान आदि) और असमानजातीय (प्रत्यक्षाभास आदि) से भेद दिखलाने के लिये है। जो प्रत्यक्ष का असाधारण कारण है वह कहा गया है,

साधारण कारण की निवृत्ति नहीं की जाती।

(आक्षेप) तब असाधारण (कारण) होने से इन्द्रिय और मन का संयोग यहाँ गिनना चाहिये, क्योंकि (हि) यह अनुमान आदि ज्ञानों का कारण नहीं हो सकता । [परिहार] नहीं, इससे ही उसके कह दिया जाने से—इन्द्रियार्थसन्निकर्ष के ग्रहण से इन्द्रिय और मन का संयोग कह दिया गया, यह जानना चाहिये। क्या कारण है ? दोनों के असाधारण होने से। किञ्च, जितना असाधारण कारण है वह सब कहना है, यह सूत्र का तात्पर्य (अर्थ) नहीं है, अपि तु किसी एक से (अन्य-तरेण) भी भेद हो जाता है इसलिये ए का ग्रहण किया गया है। अथवा भेदक होने से 'इन्द्रियार्थसन्निकर्ष' का ग्रहण किया गया है - जो इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से ज्ञान उत्पन्न होता है उसका कोई एक भेदक होता है, इन्द्रिय या अर्थ उसका भेदक होता है, उससे (ही) (उस ज्ञान का) व्यपदेश (व्यवहार) होने से—क्योंकि यह विज्ञान

उपलब्धिफलः संस्कारः—धर्माधर्मनिमित्त उद्भवसमाख्यातः संस्कार उपलब्धिफलः, टी० २१२। वस्तुतः इस पद से धर्माधर्म रूप (अदृष्ट) संस्कार लेना उचित प्रतीत होता है, विषयस्यं रूपम् शब्द से 'उद्भूतरूप' अर्थ लेना उचित होगा।

समानत्वात्—समान होने से आत्ममनः संयोग के समान होने से। उससे समानता नया है? इसकी

व्याख्या वार्त्तिककार ने 'व्यपदेशाभाव इत्युक्तम्' (पृ०७७) में की है।

७६]

[प्रत्यक्षम्

न्यायवात्तिकम्

वा चर्क्षावज्ञानिमिति वा; न पुनिरिन्द्रियमनः संयोगेन व्यपिदिश्यते । न हि भवित रूपा-लम्बने विज्ञाने मनोविज्ञानिमिति । यदा त्वात्मसनः-संयोगान्मानस्यो बुद्धयः संप्रवर्तन्ते तदात्मना व्यपिदश्यन्ते सनसा वा । यच्चासाधारणं कारण तद् व्यपदेशभाग् भवित । तद्यथा ऋत्वादिकारणसन्निधानात् प्रादुर्भदन् अङ्क्षुरो नत्विदिभिव्यंपिदिश्यते, अपि त्व-साधारणेन बीजेन व्यपदिश्यते यवाङ्क्षुर इति, तथेहापीत्यदोषः ।

इन्द्रियंसनसोः संयोगस्य वा अग्रहणम्, भेदेऽभेदात्—यस्यात् प्रत्यक्षज्ञानभेदे इन्द्रियमनः संयोगो न भिद्यत इति । यद्यभेदादग्रहणं इन्द्रियार्थसिनकर्षस्यापि तर्ह्यं ग्रहणम् एकेन्द्रि-यग्राह्यं षु अभेदादिति प्राप्तम्; यथा शुक्लो गौर्गच्छतीति । न, उक्तोत्तरत्वात्—उक्तोत्तरस्यात् । उन्द्रियमनःसंयोगस्य त्तरस्तित्, नेदं कारणावधारणार्थं सूत्रमिति । अनभ्युपगमाच्च । इन्द्रियमनःसंयोगस्य वाग्रहणं समानत्वात् । केन समानत्वादिति वाच्यम् ? आत्ममनःसंयोगेन समानत्वात् ।

इन्द्रिय से या अर्थ से बतलाया जाता है (व्ययिद्यते) रूपज्ञान या चक्षुर्ज्ञान (कहा जाता है), किन्तु इन्द्रिय और मन के संयोग से इसे नहीं कहा जाता—रूपविषयक विज्ञान में यह (व्यवहार) नहीं होता कि यह मनोविज्ञान है किन्तु जब आत्मा और मन के संयोग से मानस ज्ञान होता है तब तो आत्मा या मन से उसका व्ययदेश होता है। [परिहार] जो असाधारण कारण है उससे व्यवहार हुआ करता है, जैसे ऋतु आदि कारणों की उपस्थित से उत्पन्न होने वाले अङ्कर् का ऋतु आदि से व्ययदेश नहीं होता अपितु असाधारण [कारण] बीज से व्यपदेश होता है कि यह यव का अङ्कर् है। उसी प्रकार यहाँ भी दोष नहीं।

[एकदेशी का समाधान] अथवा इन्द्रिय और मन के संयोग का ग्रहण नहीं किया गया मेद होने पर (भी) भेद न होने से—क्योंकि प्रत्यक्ष ज्ञान का भेद (चाक्षुषज्ञान, घ्राणज्ञान आदि) होने पर (भी) इन्द्रिय और मन का संयोग भिन्न नहीं होता। (आक्षेप) यदि अभेद के कारण (इन्द्रिय तथा मन के संयोग का ग्रहण नहीं किया गया) तो इन्द्रिय तथा अर्थ के सिन्नकर्ज का भी ग्रहण न होगा, यह प्राप्त होता है; क्योंकि 'शुक्ल गौ जाती हैं' यहां (शुक्लता तथा गमन) एक इन्द्रिय (चक्षु द्वारा संयुक्त समवाय सिन्नकर्ण) से ग्राह्म हैं अतः (इन्द्रियार्थसन्निकर्ण में) भेद नहीं। [परिहार] ऐसा नहीं, इसका उत्तर दे दिया जाने से—उत्तर दिया जा चुका है कि यह सूत्र कारण का नियतीकरण (अवधारण) करने के लिये नहीं है।और,इस (भेदेऽभेदात्,समाधान को) स्वीकार न करने से भी। और, इन्द्रिय तथा मन के संयोग का ग्रहण समान होने से नहीं करना है (भा०)। किससे समानता होने के कारण यह कहना होगा? आत्मा और मन के संयोग से समानता

यदात्विति—भाव है योगी को जो आत्मा और मन के संयोग से आत्मा में ज्ञान होते हैं उनका आत्मा तथा मन से व्यपदेश होता ही है। अतः आत्ममनः संयोग तथा इन्द्रियार्थसंयोग दोनों से ही ज्ञान का व्यपदेश होता है तथा आत्ममनः संयोग का भी ग्रहण करना होगा।

यच्च-परिहार का भाव है ज्ञान का व्यपदेश असाधारण कारण से ही होता है। इन्द्रिय तथा अर्थ का संयोग प्रत्यक्ष का असाधारण कारण है अतः उसका ग्रहण ही उचित है। 8.28]

[60

न्यायवात्तिकम्

क पुनस्तत् ? व्यपदेशाभाव इत्युक्तम् । अतीन्द्रियाधारता वा सामान्यम्-यथा वात्ममनः संघोगोऽतीन्द्रियाधारः, एविमिन्द्रियमनः संयोगोऽपीति । विषयावृत्तित्वं वा—यथा वात्ममनः संयोगोऽपीति । विषयावृत्तित्वं वा—यथा वात्ममनः संयोगो विषयावृत्तित्वं वा—यथा वात्ममनः संयोगो विषयावृत्तिरविमिन्द्रियमनः संयोगोऽपीति । तस्मादिन्द्रियमनः संयोगस्यात्ममनः संयोगसामान्याद्, अन्यतराभिधानेन वा चिरतार्थत्वाद् अनाभधानमिति । 'इन्द्रियार्थसन्निकर्धोत्पन्नम्' इत्ययुक्तम् इन्द्रियस्याप्राप्यकारित्वात् । अप्राप्यकारिणीः चक्षुःश्रोत्रे इति एके । तत्र च न्यायं ब्रुवते, अप्राप्यकारि चक्षुः सान्तरग्रहणात् पृथतर-ग्रहणाव्येति—सान्तरस्यार्थस्य विष्रकृष्टदेशावस्थितस्य ग्रहणं दृष्टम्, न तु चक्षुषस्तेन

होने के कारण किन्तु वह समानता क्या है ? (i) व्यपदेश का अभाव, यह कहा जा चुका है (जिस प्रकार केवल आत्मा और मन के संयोग से 'च अविंज्ञानम्' रूपिक जान से एक व्यपदेश नहीं होता उसी प्रकार केवल इन्द्रिय और मन के संयोग से भी)। अथवा (ii) अतीन्द्रिय आधार होना समानता है—जिस प्रकार आत्मा और मन के संयोग का आधार (आत्मा तथा मन) अतीन्द्रिय है इसी प्रकार इन्द्रिय तथा मन के संयोग का भी (इन्द्रिय और मन)। अथवा विषय में व्यापार (वृत्ति) न होना है—जैसे आत्मा और मन का संयोग विषय में नहीं होता उसी प्रकार इन्द्रिय और मन का संयोग भी। अथवा मन का व्यापार (वृत्ति) होना है—जैसे आत्मा और भन का संयोग मन में होता है इसी प्रकार इन्द्रिय और मन के संयोग भी। इसीलिये इन्द्रिय और मन के संयोग की आत्मा और मन के संयोग से समानता होने के कारण अथवा दोनों में से एक के कथन से चरितार्थ हो जाने के कारण (इन्द्रिय और मन के संयोग का) कथन नहीं किया गया।

[दिङ्नाग आदि का आक्षेप] इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न, यह (कथन) युक्तियुक्त नहीं, इन्द्रिय के अग्राप्यकारी होने से—चक्षुः और श्रोत्र अप्राप्यकारी हैं यह कोई कहते हैं और उसमें अनुमान (न्याय) कहते हैं, चक्षुः अग्राप्यकारी है (i)सान्तर ग्रहण से तथा (ii)पृथुतर ग्रहण से सान्तर अर्थात् दूर (विप्रकृष्ट) देश में स्थित का

अनभ्युपगमाच्य—भेदेऽभेदात् यह एकदेशी का समाधान है जिसे सिद्धान्ती स्त्रीकार नहीं करता। आत्ममन: संयोगेन समानत्वात्—तात्पर्य टीका के अनुतार आत्ममन: संयोग और इन्द्रियमन: संयोगों की समानता में, दो हेतु दिये गये हैं १. व्यपदेशाभाव २, अतीन्द्रियाधारता। अतीन्द्रियाधारता के समर्थन के लिये भी दो हेतु है विषयावृत्तित्व तथा मनोवृत्तित्व—तदनेनेन्द्रियाधारत्वं स्व-रूपेणोक्त्वा तदेवं विषयावृत्तित्वमनोवृत्तित्वाभ्याम् अतीन्द्रियाधारत्वं सामान्यमाह, टी० २१४। इन्द्रियस्य अप्राप्यकारित्वात्—विन्नाग आदि (न्यायवादी बौद्ध) सभी इन्द्रियों को प्राप्यकारी नहीं मानते। उनके मत में चक्षु और श्रोत्न प्राप्यकारी नहीं। यद्यपि यहां वार्तितककार ने एके (कोई) कहा है, वाचस्पति मिश्र ने भी नाम का उत्लेख नहीं किया तथापि आगे टीका में नामतः दिग्नाग की कारिका उद्धृत की है (विशेष द्व०, वाचस्पति मिश्र द्वारा वौद्धदर्शन का विवेचन पृ० १२०) अप्राप्यकारि चक्षु —इस विषय में वार्तितककार ने चार हेतु दिखलाये हैं।

[प्रत्यक्षम्

195]

न्यायवात्तिकम्

अर्थेन प्राप्तिरस्ति. भूतविशेस्येन्द्रियभावात्—य एवायं कृष्णसारलक्षणो भूतविशेषः स बाह्यभूतविशेषप्रसादानुगृहीतस्तत्तृष्णापूर्वककर्मापेक्षः चक्षुरित्युच्यते । तथा चोक्तम्; रूपोपलब्धिसंवर्तकेन कर्मण। तत्तृष्णापूर्वकेण चक्षुरभिनिवृत्तमतो रूपोपलब्धेः कारणं भवतीति । एवं शेषेषु । न च भूतविशेषानुगृहीतस्य गोलकस्य प्राप्तिविषयेणास्ति । तस्मात् सान्तरग्रहणादप्राप्यकारीति । अपरे तु सान्तर इति ग्रहणं हेतुं वर्णयन्ति । न हि प्राप्यकारिषु घ्राणादिषु सान्तर इति ग्रहणं दृष्टम्, दृष्टं तु चक्षुषि ।

पृथुतरग्रहणाच्च-राष्ट्रवनादिरूपं च महदुपलभ्यते, न चाक्ष्णोस्तथा पृथ्ववसास

इति ।

दिग्देशव्यपदेशाच्च—यदि प्राप्यकारि चक्षुभवेत्, दिग्देशव्यपदेशो न स्यात्।
न हि प्राप्यकारिषु घ्राणादिषु एतदस्तीति।

सिन्नकृष्टिविप्रकृष्टियोस्तुल्यकालग्रहणाच्च—यत् खलु गतिमद्भविति तत् तां गितिमिनिन्दत् सिन्नकृष्टिमाञ्च प्राप्नोति, विष्रकृष्टं चिरेण । शाखाचन्द्रमसोः तुल्यकालग्रहणं रुष्टिम् तस्मादप्राप्यकारीति ।

ग्रहण देखा गया है, उस वस्तु (अर्थ) के द्वारा चक्षु को प्राप्त नहीं किया जाता भूत विशेष के इन्द्रिय-रूप होने से—जो यह काला तारा रूपी भूतिवर्णेष है वह बाह्य भूतिवर्णेष (आलोक) के प्रसाद (स्वच्छता, पारदर्शिता) से उपकृत होकर (अनुगृहीत) उसकी इच्छा (तृष्णा) पूर्वक कर्म करने की दृष्टि से चक्षु कहा जाता है; जैसा कि कहा है (?) रूप की उपलिट्य की संवृति कराने वाले उसकी तृष्णा द्वारा होने वाले कर्म से चक्षु उत्पन्न हुई अतः (वह) रूप की उपलिट्य का निमित्त होती है। इसी प्रकार शेष (इन्द्रियों) के विषय में भी है। ओर भूतिवर्शेष (आलोक) से अनुगृहीत गोलक को तो विषय प्राप्त नहीं करता। इसलिये दूरी पर स्थित (सान्तर) विषय के ग्रहण करने के कारण (चक्षु) अप्राप्यकारी है। दूसरे (?) तो 'यह दूर है' इस प्रकार के ग्रहण को हेतु कहते हैं, प्राप्यकारी घ्राण आदि में 'यह दूर है' इस प्रकार का ग्रहण नहीं देखा जाता; किन्तु चक्षु में देखा जाता है।

अधिक विस्तृत (पृथुतर) विषय के ग्रहण से भी (चक्षु अप्राप्यकारी है), राष्ट्र, वन, आदि महत् वस्तु की उपलब्धि होती है और नेत्रों में उस प्रकार की महत्ता

भासित नहीं होती।

(iii) दिक्-प्रदेश का व्यवहार होने से भी (चक्षुः प्राप्यकारी नहीं), यदि चक्षुः प्राप्यकारी होने तो (दिशा के अमुक प्रदेश में है, इस प्रकार) दिक्-प्रदेश का व्यपदेश न हुआ करे। प्राप्यकारी घ्राण आदि में तो यह होता नहीं। (iv) समीप के विषय (सिन्नकृष्ट) और दूर के विषय (विष्रकृष्ट) का समान काल में ग्रहण करने से भी (चक्षुः प्राप्यकारी नहीं)। वस्तुतः जो गतिवाला होता है, वह उस गति को न छोड़ता हुआ (अभिन्दत्) समीपस्थित को शीघ्र प्राप्त करता है दूरस्थित को देर से। किन्तु (यहाँ) शाखा और चन्द्रमा का समान काल में ग्रहण देखा गया है, अतः (चक्षुः) अप्राप्यकारी है।

2.2.8]

30]

न्यायवात्तिकम्

यत् तावत् सान्तरग्रहणादिति, तदयुक्तम् विकल्पानुषपत्तेः । सान्तरग्रहणिमिति कोऽर्थः ? किं तावत् सान्तरस्य ग्रहणमप्राप्तस्य ग्रहणिमत्ययमर्थः, आहोस्वित् सहान्तरेण ग्रहणं सान्तरग्रहणिमिति । अस्तु तावत् पूर्वः पक्षः, अप्राप्तस्य ग्रहणं सान्तरग्रहणिमिति । नन्वयं प्रतिज्ञार्थं एव ततश्च हेत्वभावः । किं कारणम् ? हेत्वर्थस्य प्रतिज्ञार्थेन आिक्षिन्तत्वात्—एतदुक्तं भवति, अप्राप्यकािं चक्षः, अप्राप्यग्रहणादिति न प्रतिज्ञार्थोद् भिद्यते । अथ बूषे सहान्तरेण ग्रहणिमिति, किं तदन्तरं नाम, यच्चक्ष्णा विषयेण सहोपलभ्यते इति ? किमाकाशमभावो द्रव्यान्तरं वा ? यद्याकाशम्, तम्न चक्षुषो विषयः—न ह्याकाशं चक्षुर्याह्यम्, अरूपत्वादिति । अथ रूपवद्द्रव्यान्तरमन्तरशब्द-वाच्यम्, तस्य व्यवधायकत्वात् तेन सह ग्रहणं न युक्तम् । अथाभावोऽन्तरशब्दवाच्यः ?

[बौद्ध के हेनुओं का खण्डन] (i) जो यह कहा है 'सान्तरग्रहणात्' वह अयुक्त है। विकल्प न बन सकने से। (विकल्प हैं) 'सान्तरग्रहण' इसका क्या अर्थ है ? क्या यह अर्थ है सान्तर का ग्रहण अर्थात् अप्राप्त का ग्रहण अथवा अन्तरसहित (सह + अन्तरेण) ग्रहण सान्तर-ग्रहण है। प्रथमतः पहला पक्ष मान लिया जाये कि अप्राप्त (विषय) का ग्रहण (ही) सान्तर-ग्रहण है। किन्तु (ननु) यह प्रतिज्ञा का ही अर्थ है अतः हेतु का अभाव ही है। क्या कारण है? हेतु के अर्थ का प्रतिज्ञा के अर्थ से प्रकट हो जाने के कारण (आक्षिप्तत्वात्)। यह कहां गया प्रतीत होता है, 'चक्षः अप्राप्यकारी है, अप्राप्त (विषय) का ग्रहण करने से', यहाँ (हेतु) प्रतिज्ञात अर्थ से भिन्न नहीं होता। यदि कहते हो कि 'सान्तर-ग्रहण' का अर्थ है अन्तरसहित ग्रहण, तब वह अन्तर क्या है जो चक्षु के द्वारा विषय के साथ उपलब्ब होता है ? क्या वह आकाश है, अभाव है या अन्य द्रव्य है ? यदि आकाश है तो वह चक्षु का विषय नहीं-वस्तुतः आकाश चक्षु का ग्राह्म नहीं है, रूपरहित होने से, यदि रूप वाला अन्य द्रव्य 'अन्तर' शब्द का अर्थ (वान्य) है तो उसके व्यवधायक होने से उसके साथ (विषय का) ग्रहण युक्त नहीं। यदि अन्तर शब्द का अर्थ अभाव है। वह उसके साथ (विषय का) ग्रहण युक्त नहीं। यदि अन्तर शब्द का अर्थ अभाव है। वह

बाह्यभूतिवशेष० - वाह्यो भूतिवशेषः आलोकः, तस्य प्रसादः - इन्द्रियाव्यवधायकः वं कुड्यादि-

भ्यो विशेषः, यः खलु काचाभ्रपटलादिषु स्वच्छेषु समस्ति, टी० २१४ । दिग्देशब्यपदेशाच्च—चक्षुः अप्राप्यकारी है, इसके समर्थन में चार हेतु हैं (१) सान्तरग्रहणात्

(२) पृथुतरग्रहणात्, (३) दिन्देशव्यपदेशात्, (४) सिन्नकृष्ट...ग्रहणात् ।

यत् तावत् सान्तरग्रहणात्.....सिध्यतीति—यहां प्रथम हेतु का खण्डन किया गया है।

अभिनदत् — नैरन्तर्येण बुर्वदिप, टी० २१५, 'अभिनन्दत्' पाठ शुद्ध प्रतीत होता है।

सान्तरग्रहणात्—तात्पर्य टीका के अनुसार दिड्.नाग की कारिका इस प्रकार है—

सान्तरग्रहणं न स्थात् प्राप्तौ ज्ञानेऽधिकस्य च । अधिष्ठानाद् बहिर्नाक्षं तिच्चिकित्सादियोगतः ।।

सत्यपि च बहिभवि न शन्तिर्विषयेक्षणे।

यदि च स्यात् तदा पश्येदप्युन्मील्य निमीलनात् ।। अन्तिम दो हेतुओं का मूलस्रोत ज्ञात नहीं हो सका है।

50]

[प्रत्यक्षम

न्यायवात्तिकम्

स स्वतन्त्रश्चक्षुविषयो न भवतीति तेन सहोयलब्धावनैकान्तिकम् । न चान्या गितरिस्त । तस्मात् शून्यमभिवानं सान्तरग्रहणादिति । यैरिपि विद्वस्यमानैः सान्तरग्रहणादित्यस्य सान्तर इति ग्रहणिनत्येतव् व्याख्यानं क्रियते, तदप्ययुक्तम् सान्तर इति ग्रहणस्यान्य-निमित्तत्वात्—अन्यथैव सान्तर इति ग्रहणं भवति, शरीराविधिनिसित्तत्वात्; —शरीर-मर्वीध कृत्वा सान्तरिनरन्तरे भवतः, न पुनिरिन्द्रियप्राप्त्यपेथे । यत्र शरीर-मिन्द्रियं चोभयमर्थेन संबध्यते तत्र निरन्तरिमिति ग्रहणं भवति । यत्र पुनः इन्द्रियमात्रे सम्बन्धः तत्र सान्तर इति । तस्मात् सान्तर इति ग्रहणस्यान्यनिमित्तत्वात्, न सान्तर-ग्रहणादशाप्यकारित्वं सिध्यतीति ।

यदिष पृथुतरग्रहणादिति तदप्ययुक्तम्, सम्बन्धमात्रेण महदण्बोर्ग्रहणात् । सम्बन्धमात्रेणेव महति वाणौ वा विषयभेदानुविधायी प्रत्यय उपजायते । तस्मादचोद्य-मेतदपीति ।

(अभाव) स्वतन्त्र रूप में तो चक्षु का विषय नहीं होता अतः उसके साथ (विषय की) उपलब्धि मानने पर (हेतु) सन्यिरिचार होता है। इनसे मिन्न और कोई गित है नहीं। इसिलिये 'सान्तरग्रहणात्' यह तुच्छ (श्नय) कथन है। विद्वान् के समान कार्य करने वाले जिन्होंने 'सान्तरग्रहण' की 'अन्तरसिहत ग्रहण' यह व्याख्या की है वह भी युक्त नहीं; अन्तरस्हत है, इस प्रकार का ग्रहण अन्यिनिमित्तक होने से—यह सान्तर है, ऐसा ग्रहण अन्य प्रकार ही होता है, इसके शरीर की अवधिनिमित्तक होने से; शरीर को अवधि वरके 'यह अन्तर सिहत है' 'यह अन्तर रिहत है' ये (ज्ञान) होते हैं, किन्तु इन्द्रिय द्वारा प्राप्ति और अप्राप्त की अपेक्षा से नहीं। जहाँ शरीर और इन्द्रिय दोनों विषय (अर्थ) से सम्बद्ध होते हैं वहाँ 'अन्तररिहत है' यह ग्रहण होता है; किन्तु जहाँ केवल इन्द्रिय से (विषय का) सम्बन्ध होता है वहाँ 'अन्तर सिहत है' ऐसा। इस प्रकार 'अन्तरसिहत है' इस ज्ञान का अन्य निमित्त होने से 'सान्तरग्रहण' से चक्ष का अप्राप्य कारित्व सिद्ध नहीं होता।

(॥) जो 'पृथुतरग्रहणात्' (यह हेतु दिया गया है) वह भी अयुक्त है, सम्बन्ध मात्र से महत् तथा अणु का ग्रहण हो जाने से—केवल सम्बन्ध से ही महान् या अणु में विषय- भेद का अनुसरण करने वाली प्रतीति हो जाती है। इसलिये यह भी आक्षेप नहीं किया जा सकता (अचोद्यम्)।

तस्य व्यवधायकत्वात्—जो प्रसादयुक्त नहीं होता वह रूपवाला द्रव्य व्यवधान करता है। स स्वतन्त्रः—इन्द्रिय और अर्थ के मध्य में अभाव का ग्रहण नहीं होता।

अनैकान्तिकम्—वौद्ध के मत में त्वक् आदि प्राप्यकारी हैं, उनसे भी औष्ण्याभाव सहित जल का ग्रहण होता है, अतः यह हेतु अनैकान्तिक (टी० २१६)।

यैरपि० — यहां 'सान्तरप्रहण' की दूसरी व्याख्या का निराकरण किया गया है।

यदिप पृथुतर० — यहाँ पूर्वपक्ष के द्वितीय हेतु की अयुक्तता दिखलाई गई है।

सम्बन्धमात्रेण—सम्बन्धचतुष्टय की व्याप्ति के लिये मान्न शब्द का ग्रहण है। सम्दन्ध चतुष्टय

5 58

न्यायवात्तिकम्

यत् पुनरेतदुक्तं दिग्देशव्यपदेशादिति, तदिष शरीराविधिनिमित्तत्वेन प्रत्युक्तम् । यत्रे न्द्रियं शरीरं चार्थेन संबध्यते तत्र दिग्देशव्यदेशो न भवति, दूरान्तिकानुविधानं वा । यत्र पुनरिन्द्रियमेव केवलं संबध्यते तत्र शरीरमविधं कृत्वा संयुक्तसंयोगाल्पीयस्त्वं तद्भूयस्त्वं वापेक्षमाणस्य दिग्देशप्रत्ययाः सिन्नकृष्टिप्रकृष्टप्रत्ययाश्च भवन्तीति ।

यत्पुनरेतत् शाखाचन्द्रमसोस्तुल्यकालग्रहणादिति, तदिप न, अनभ्युपगमात्, को हि स्वस्थातमा शाखाचन्द्रमसोस्तुल्यकालग्रहणं प्रतिपद्यते ? कालभेदस्याग्रहणान्मि-

श्याप्रत्यय एष उत्पलदलज्ञतन्यतिभेदवदिति ।

कथं पुनरवगम्यते कालभेदाग्रहणिनिमत्त एष युगयत्त्रत्ययो न पुनरेककालग्रहणिनिमत्त एविति ? इदमनुमानम् आवरणानुपपत्तेरिति—यद्यप्राप्यकारि चक्षुभर्वति, न कुड्यक-टादेरावरणस्य सामर्थ्यमस्तीत्यावरणानुपपित्तः स्यात्। न च व्यवहितार्थोपलिब्धरस्ति। तस्मात् नाप्राप्यकारि। दूरान्तिकानुविधान चानुपलब्ध्युपलब्ध्योर्न स्यात्—अप्राप्य

(iii) जो फिर यह कहा है दिग्देशव्यपदेशात् ; वह भी शरीर की अविध (सीमा) के निमित्त से होंने के कारण निराकृत कर दिया गया। जहाँ इन्द्रिय और शरीर विषय के साथ सम्बद्ध होते हैं वहाँ दिशा के प्रदेश का व्यवहार नहीं होता अथवा दूर या समीप होने का अनुसरण नहीं होता। किन्तु जहाँ केवल इन्द्रिय ही विषय से सम्बद्ध होती है वहाँ शरीर को अविध करके संयुक्तसंयोग की अल्पता या अधिकता की अपेक्षा करने वाले (व्यक्ति) को दिक् प्रदेश की प्रतीति अथवा समीपता और दूरी की प्रतीति होती है।

(iv) जो फिर यह (कहा गया) है शाखाचन्द्रमसोः तुल्यकालग्रहणात्, वह भी नहीं, स्वीकार न करने से—वस्तुतः (ही) कौन स्वस्थ मन (आत्मा) वाला शाखा और चन्द्रमा का एक काल में ग्रहण मानता है। काल के भेद का ग्रहण न होने से

यह तो सौ कमल दल के (एकसाथ) भेदन के समान मिथ्या प्रतीति है।

किन्तु (पुन:) यह कंसे जाना जाता है कि काल के भेद का ग्रहण न होने के कारण एक साथ होने की प्रतीति होती है एक काल में ग्रहण होने के कारण नहीं? यह अनुमान होता है, आवरण न बन सकने से—यदि चक्षु अप्राप्यकारी होती तो दीवार (कुड्य) या चटाई (कट) आदि आवरण का कोई सामर्थ्य न होता जिससे उनका आवरण न बन सकता। किन्तु व्यवधान से युक्त विषय (अर्थ) की उपलब्धि है—इन्द्रिय का अर्थ से सम्बन्ध, इन्द्रिय के अवयवों का अर्थ से सम्बन्ध, अर्थ के अवयवों का इन्द्रिय से सम्बन्ध और इन्द्रियों के अवयवों का अर्थ के अवयवों से सम्बन्ध। इस सिन्नकर्य-चतुष्ट्यके साथ

परिमाण का ग्रहण होता है (द्र०टी० २१६)।
विषयभेदानुविधायी—िकसी परिमाण के ग्रहण में विषय की प्रतीति का अनुसरण हुआ करता है

जंसे घट-परिमाण के ग्रहण में घट की प्रतीति का।

यत्पुनरेतदुक्त.म्—यहाँ पूर्व पक्ष के तृतीय हेतु की अयुक्तता दिखलाई गई है।

यत्पुनरेतत्—यहां पूर्वपक्ष के चतुर्थ हेतु का खण्डन किया गया है।

[प्रत्यक्षम

न्यायवात्तिकम्

चक्षुरर्थं गृह्णातीति यदिदमर्थस्य दूरेऽग्रहणम्, अन्तिके च ग्रहणमुभयमेतत् न स्यात्। हृद्धं तु, तस्मात् नाप्राप्यकारि । विषयीभावादिति चेत् न , सम्बन्धव्यतिरेकेण तु विषयीभावानभ्युपगमात् अथापीदं स्यात्, यः चक्षुषीविषयीभवत्यर्थः स उपलभ्यते । यस्तु न भवति नासावुपलभ्यते इति । न च व्यवहितानां दूरावस्थितानां वार्थानां चक्षुषो विषयीभावोऽस्ति, तस्मात् न ते गृह्यन्ते इति । तच्च नैवम्, सबन्धव्यतिरेकेण विषयीभावानभ्युपगमात कः पुणः सम्बन्धव्यतिरेकेण विषयीभावः ? केवलं भवतां संज्ञामात्रं भिद्यते नार्थं इति । सयोच्यते सम्बन्ध इति, भवताभिधीयते विषयीभाव इति । न किवलं इति ।

अथ प्राप्यकारित्वे चक्षुयः कि प्रमाणम् ? इन्द्रियत्वमेव—प्राप्यकारि चक्षुः, इन्द्रियत्वात्, झाणादिवत् । झाणादीन्द्रियं प्राप्यकारि दृष्टं तथा च चक्षुः, तस्मात् प्राप्यकारीति । अथ पुनर्न किञ्चिदपीन्द्रियं प्राप्यकारि प्रतिपद्यते, तदा सर्वाणि पक्षीकृत्य

नहीं होती इसलिये (चक्षु) अप्राप्यकारी नहीं है। (चक्षु के अप्राप्यकारी होने पर) अनुपलिब्ध तथा उपलिब्ध का दूरी और समीपता का अनुसरण करना न बन सकेगा—चक्षु विना प्राप्त किये (अप्राप्य) विषय (अर्थ) का ग्रहण करती है तो जो यह दूरी पर विषय (अर्थ) का ग्रहण नहीं होता और समीप में ग्रहण होता है, ये दोनों (वातें) न होंगी, किन्तु देखी गयी हैं। इसलिये (चक्षु) अप्राप्यकारी नहीं है। (शङ्का-समाधान) यदि कहो विषय होने से (यह हो जायेगा) तो ठीक नहीं, सम्बन्ध से भिन्न विषयी-भाव (विषय होना) को स्वीकार न करने के कारण। (शङ्का की व्याख्या) यदि यह (मत) हो कि जो अर्थ नेत्रों का विषय होता है वह उपलब्ध होता है, जो (विषय) नहीं होता वह उपलब्ध नहीं हुआ करता। और, व्यवधान से स्थित अथवा दूरी पर स्थित अर्थ चक्षु के विषय होते नहीं, इसलिये उनका ग्रहण नहीं होता। वह भी ऐसा नहीं (समाधान की व्याख्या) सम्बन्ध से भिन्न विषयीभाव को न स्वीकारने से—किन्तु सम्बन्ध से भिन्न विषयीभाव क्या है? केवल आपकी संज्ञामात्र का भेद है, वस्तु (अर्थ) का नहीं, मैं कहता हूं सम्बन्ध, आप कहते है विषयीभाव। इन दोनों में कोई भेद नहीं।

यदि कहो (अथ) चक्षु के प्राप्यकारी होने में क्या प्रमाण है ? (तो उत्तर है) इन्द्रिय होना ही—चक्षु प्राप्यकारी है इन्द्रिय होने से घ्राण आदि के समान, घ्राण आदि इन्द्रिय प्राप्यकारी देखी गई है, वैसी ही चक्षु है; इसलिये प्राप्यकारी है। किन्तु यदि किसी भी इन्द्रिय को प्राप्यकारी नहीं मानते तब सब (इन्द्रियों) को पक्ष बनाकर

विषयीभावात्— मुङ्का का आशय है—अपने कारणों से ऐसा योग्य इन्द्रियक्षण या अर्थक्षण उत्पन्न हो जाता है जो किन्हीं अप्राप्तों का ही ग्रहण कर लेता है, टी०२१७,२१८ । तच्च नैवम्—(१) क्षणभङ्ग और विशिष्ट परिणाम का आगे निराकरण किया जायेगा।
(२) सम्बन्ध से भिन्न विषयीभाव होता है यह न्या० वै० नहों स्वीकारता। यह सिद्धान्त है।
१. तच्च नैवम्, क; न, ख.

न्यायभाष्यम्

यावदर्थं वै नामधेयशब्दास्तैरर्थसम्प्रत्ययः, अर्थसंप्रत्ययाच्च व्यव-हारः। तत्रेदिमिन्द्रियार्थसन्निकर्षादुत्पन्नमर्थज्ञानं रूपम् इति वा, रस इत्येवं वा भवति । रूपरसशब्दाश्च विषयनामधेयम्। तेन व्यपदिश्यते ज्ञानम्, न्यायवात्तिकम

करणत्वादिति वाच्यम् । करणं वास्यादि प्राप्यकारि दृष्टं तथा चेन्द्रियाणि, तस्मात् प्राप्यकारीणीति ।

अथ पुनर्वयात्यात सर्वानेवार्थानप्राप्यकारिणः प्रतिपद्यते, तदा कथम् ? सोऽपि हित्सामर्थ्यानां कारणानां सर्वत्र कार्यानुपपत्त्या प्रत्यवस्थेयः—यदि खल्वेतानि कारणानि परस्परप्राप्त्यनपेक्षाणि स्वयमनुपजातशक्तिकानि कार्यान्तरमारभन्ते इति कस्मात् कार्यं सर्वत्र न भवतीति वक्तव्यम् । अतो न कारणमप्राप्यकारि अस्तीति । अनेकदण्डचका- खुदाहरणं लोके इति । तस्माद् ध्यष्टिस्यतीमन्द्रियार्थसिन्निकर्षोत्पन्निमिति ।

सभी अर्थों के नामवाचक शब्द होते हैं, उनसे अर्थ की प्रतीति होती हैं और अर्थ की प्रतीति से व्यवहार होता है। उसमें इन्द्रिय और अर्थ के सिलकर्ष से उत्पन्न होनेवाला यह अर्थज्ञान 'रूप हैं' या 'रस हैं' इस प्रकार होता है। रूप, रस आदि शब्द, विषय के नाम हैं उससे ज्ञान को कहा जाता है (व्यपदिश्यते)। करण होने से (करणत्वात्) यह (हेतु) कहना चाहिये—करण जो वसूला (वासि) आदि है वह प्राप्यकारी देखा गया है वैसे ही इन्द्रिय (करण) है इसलिये प्राप्यकारी हैं। और यदि कोई धृष्टता (वैयात्य) से सभी वस्तुओं (अर्थों) को अप्राप्यकारी मानता है, तव कैंसे होगा? उसका भी, ऐसे कारणों से सर्वत्र कार्य की उत्पत्ति न होने से जिनका कार्य की उत्पत्ति में सामर्थ्य देखा गया है, निराकरण करना होगा (प्रत्यवस्थयः)—यदि ये कारण एक दूसरे की प्राप्ति की अपेक्षा न करते हुए, (दूसरे के द्वारा) शक्ति उत्पन्न किये विना ही (खलु) स्वयं दूसरे कार्य को उत्पन्न कर देते हैं तो क्यों कार्य सर्वत्र नहीं हो जाता, यह कहना होगा। इसलिये कारण अप्राप्यकारी नहीं होता, लोक में इसके अनेक दण्ड चक्र आदि उदाहरण हैं। इस प्रकार यह निश्चित हैं कि इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान (प्रत्यक्ष है)।

करणत्वादिति जो भी करण होता है वह प्राप्यकारी होता है जैसे कुठार आदि काष्ठ को प्राप्त

करके ही काटने का कार्य करते हैं।

सोऽपि "प्रत्यवस्थेय: — सहकारी का मिलना भी प्राप्ति ही है। उसके न होने पर कारणों में

सोऽपि "प्रत्यवस्थेय: — सहकारी का मिलना भी प्राप्ति ही है। उसके न होने पर कारणों में

स्वरूपयोग्यता कही जायेगी। कहीं भी होने वाले पृथक्-पृथक् कारणों में भी वह होगी अतः सर्वत

स्वरूपयोग्यता कही जायेगी। जो अयस्कान्तमणि विना प्राप्त किये लोहे को खीचती है वहां भी

कार्य की उत्पत्ति होने लगेगी। जो अयस्कान्तमणि विना प्राप्त किये लोहे को खीचती है वहां भी

विशेष प्रकार का व्यापार (वृत्ति) होता है जो विशेष-प्राप्ति के निमित्त से होता है; जैसे चक्षु में

शिल प्राप्ति नाम का धर्म है (टी० २१५)।

व्यवस्थितम् — निश्चित हो गया । यहां 'इन्द्रियार्थंसन्तिकर्पोत्पन्नम्' की व्याख्या समाप्त होती है ।

न्यायभाष्यम्

रूपमिति जानीते, रस इति जानीते। नामधेयशब्देन व्यपदिश्यमानं सत् शाब्दं प्रसज्यते। अत आह, अव्यपदेश्यमिति।

यदिदमनुपयुक्ते शब्दार्थसम्बन्धे अर्थज्ञानम् न तद् नामधेयशब्देन स्यप-

अथ ज्ञानग्रहणं किमर्थम् ? सुखादिव्युदासार्थम् — इन्द्रियार्थसन्निकर्षात् सुखदुः से अपि भवतः तद्व्युदासार्थमाह, 'ज्ञानिमति ।

तच्चेन्द्रियार्थंसिक्तकर्षात्पन्नं ज्ञानं विषयनामध्येनाभिधीयते इति भाष्यम् तत्प्रतिषेधार्थमाह, 'अव्यपदेश्य' मिति । यदिदमनुपयदतशब्दार्थसम्बन्धस्य विषयभेदानुविधायि ज्ञानं तत् प्रत्यक्षम् । कृतशब्दार्थसम्बन्धस्यापि तदुत्पत्तिकाले तादगेव ।

अपरे तु अव्यपदेश्यमित्यनेनानुमानं निराकुर्वन्ति । तच्च नैवम् । कस्मात् ? इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नमिति वचनात् । न ह्यनुमेयस्येन्द्रियेण सन्निकर्षादनुमानं भवति । अतो न प्रसङ्गोऽनुमाने इति ।

रूप है ऐसा जानता है, 'रस है' ऐसा जानता है। नाम शब्द से व्यपदेश किया जाता हुआ (ज्ञान) शाब्द होने लगेगा। इसलिये कहा है—अव्यपदेश्यम् = शब्द से न होने वाला।

प्रश्न है (अथ) कि (सूत्र में) 'ज्ञान' शब्द का ग्रहण किस लिये है ? (उत्तर) सुख आदि की व्यावृत्ति (व्युदास) के लिये—इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष सं सुख-दुःख भी होते हैं उनकी व्यावृत्ति के लिये 'ज्ञान' यह है।

और, वह इन्द्रिय और अर्थ के सिन्नकर्ष से उत्पन्न होनेवाला ज्ञान विषय के नाम से कहा जाता है, यह भाष्य (का तारपर्य) है। उस (ज्ञान के शाब्द होने) का प्रतिग्रेध करने के लिये कहा है—अध्यपदेश्यम्। जो यह शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का उपयोग न करने वाले (ब्यक्ति) का भिन्न-भिन्न विषय का अनुसरण करनेवाला ज्ञान है वह प्रत्यक्ष है। शब्द तथा अर्थ का सम्बन्ध कर चुकने पर भी उस (ज्ञान) की उत्पक्ति के समय वैसा (प्रत्यक्ष) ही होता है।

दूसरे (एकदेशी) तो 'अव्यपदेश्य' इस शब्द से अनुमान का निराकरण करते हैं। और, वह ऐसा नहीं है। क्यों ? इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न, यह कहा गया है। वस्तुतः (हि) अनुमेय (अर्थ) का इन्द्रिय के साथ सन्निकर्ष होने से अनुमान नहीं होता। अतः अनुमान में प्रसन्न (ही) नहीं है।

यावदर्थं वै · · शाब्दं प्रसज्यते — यहां वैयाकरणों का मत प्रस्तुत किया गया है जो मानते हैं कि नामरहित अविकल्पक ज्ञान नहीं होता। शब्दे जातं शाब्दम्, टी० २२१।

अव्यपदेश्यम् - उपर्युक्त मत का निराकरण किया गया है। वाचस्पति मिश्र के अनुसार इस पद से निर्विकलपक प्रत्यक्ष का ग्रहण होता है। वस्तुतः सूवकार या भाष्यकार आदि की दृष्टि सिविकलपक या निर्विकलपक पर नहीं थीं, यह वाचस्पति मिश्र की उद्भावना है, द्र० बौद्ध दर्शन का विवेदन पृ० १२६ तथा आगे।

8.8.8]

न्यायभाष्यम्

दिश्यते, गृहीतेऽपि च शब्दार्थसम्बन्धे 'अस्यार्थस्यायं शब्दो नामधेयमिति'।
यदा तु सोऽर्थो गृह्यते, तदा तत् पूर्वस्मादर्थनानात् न विशिष्यते, तद् अर्थविज्ञान तादृगेव भवति । तस्य त्वर्थज्ञानस्यान्यः समाख्याशब्दो नास्ति, येन
प्रतीयमानं व्यवहाराय कल्पेत । न चाप्रतीयमानेन व्यवहारः । तस्माज्जे यस्यार्थस्य संज्ञाशब्देनितिकरणयुक्तेन निदिश्यते रूपमिति ज्ञानम्, रस इति वा
ज्ञानिमिति । तदेवमर्थज्ञानकाले स न समाख्याशब्दो व्याप्रियते, व्यवहारकाले
तु व्याप्रियते । तस्मादशाब्दम् अर्थज्ञानिमिन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नमिति ।

ग्रीव्मे मरीचयो भौमेनोष्मणा संसृष्टाः स्पन्दमाना दूरस्थस्य चक्षुषा सन्तिकृष्यन्ते । तत्रन्द्रियार्थसन्तिकषांदुदक्तमिति ज्ञानमुत्पद्यते । तच्च प्रत्यक्षं प्रसज्यते, इत्यत् आहं, अव्यामचारीति । यदतस्मिंस्तदिति तद्व्यमिचारि,

यत्त तस्मिंस्तदिति तदेव्यभिचारि प्रत्यक्षमिति ।

जो यह शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का उपयोग न किये जाने पर अर्थ का ज्ञान होता है उसका नाम शब्द से व्यपदेश नहीं किया जाता। और 'इस अर्थ का यह शब्द नाम है' इस प्रकार शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का ग्रहण होने पर भी जब वह अर्थ गृहीत होता है, तब वह (ज्ञान) पहले होने वाले (नाम जानने से पूर्व होने वाले) अर्थज्ञान से भिन्न नहीं होता (न विशिष्यते), वह अर्थज्ञान वैसा ही (पहले जैसा ही) होता है। किन्तु उस अर्थज्ञान का दूसरा कोई संज्ञा (समाख्या) शब्द नहीं है जिससे प्रतीत हुआ वह व्यवहार में समर्थ हो सके (कल्पेत), और प्रतीत न हुए से व्यवहार नहीं होता। इसलिये ज्ञान का विषय होने वाले (ज्ञेय) अर्थ के नाम शब्द से 'इति' लगाकर (इतिकरणयुक्तेन) उसका निर्देश कर दिया जाता है, 'रूप है' यह (रूपिनिति') ज्ञान है' अथवा 'रस' है यह (रम इति) ज्ञान है'। इस प्रकार (तदेवम्) अर्थज्ञान के समय वह संज्ञा शब्द कार्य नहीं करता, (व्यात्रियते) व्यवहार के समय तो तो कार्य करता है। इसलिये यह अर्थ का ज्ञान शब्द से उत्पन्न होने वाला (शाब्द) नहीं है, अपि तु इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न होने वाला है।

ग्रीष्मकाल में (सूर्य की) किरणें (मरीचयः) भूमि की उष्मा से मिली हुई (संसृष्टाः) फैलती हुई (स्पन्दमानाः) दूर पर स्थित न्यक्ति की चक्षु से सन्तिकृष्ट होती हैं। वहाँ इन्द्रिय तथा अर्थ के सन्तिकर्ष से 'यह जल है' इस प्रकार का ज्ञान उत्पन्न होता है और वह (भी) प्रत्यक्ष होने लगता है, इसलिय कहा है, अव्यभिचारि। जो 'वह' न होने वाले में (अतिस्मिन्), 'वह है' ऐसा ज्ञान होता है वह व्यभिचारी होता है; किन्तु जो 'उसमें' 'वह है' ऐसा ज्ञान होता है, वह अव्यभिचारी है वह प्रत्यक्ष है।

यदिमनुपयुवते : इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्निमिति ह्स भाष्य में स्पष्ट किया गया है कि इन्द्रिय तथा अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न होने वाला ज्ञान, शब्द और अर्थ का सम्बन्ध होने पर भी शाब्द (शब्दजन्य) नहीं होता; इसीलिये सूत्र में अब्यपदेश्य पद दिया गया है।

अनुपयुक्ते-शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का उपयोग न होने पर, अव्युत्पन्न दशा में भी।

54]

[प्रत्यक्षम्

न्यायवात्तिकम्

ग्रीष्मे मरीचय इति भाष्यम् । तत्त्रतिषेधार्थमिदमुच्यते, अव्यभिचारीति । किमिदं व्यभिचारि ? यदतिस्मंस्तिदिति भवति । कि पुनरत्र व्यभिचारि, किमर्थः, आहो ज्ञानिमिति ? एके तावद् वर्णयन्ति, अर्थस्य व्यभिचारः—अर्थस्तु तथा न भवतीति तद्-व्यभिचारात् तिष्ठ्वयं ज्ञानमिप व्यभिचारित्युच्यते इति । तच्च नैवम् । कस्मात् ? अर्थस्य तथाभावात्—यत् तदुदकादिज्ञानमुपजायते मरीचिषु स्पन्दमानेषु न तद्वार्थो व्यभिचरतीति । न हि ते न मरीचयो न वा स्पन्दन्ते, कि तु ज्ञानं व्यभिचरति, अतिस्मंस्तिदिति भावादिति । न हि तत्रोदकमस्ति । तांस्तु मरीचीन् इन्द्रियोपधातदोषादिन्द्रियेणालोच्य विपर्येति इति ज्ञानस्य व्यभिचारो नार्थस्येति ।

ग्रीष्मे मरीचय: इत्यादि भाष्य है। उस जान में (प्रत्यक्ष के लक्षण का) बारण करने के लिये (प्रतिषेधार्थम्) यह कहा गया है, अव्यभिचारि। यह व्यभिचारी क्या है? जो 'वह न होने वाले में वह है' इस प्रकार का ज्ञान होता है। यहाँ व्यभिचारी कौन होता है, क्या अर्थ अथवा ज्ञान ? कोई (एके — एकदेशी) तो कहते हैं, अर्थ का व्यभिचार होता है — अर्थ तो वैसा (ज्ञान के जैसा) नहीं होता। उस (अर्थ के) व्यभिचार से उसके (तिद्वपयक) ज्ञान को भी व्यभिचारी कह दिया जाता है। [एकदेशी-मत का निराकरण] और, वह ऐसा नहीं है क्यों ? अर्थ के वैसा ही होने से — जो फैलती (स्पन्दमानेषु) किरणों में जल आदि का ज्ञान होता है वहाँ अर्थ व्यभिचारी नहीं होता; ऐसा नहीं कि वे किरणें नहीं है या फैल नहीं रही हैं; किन्तु (वहाँ) ज्ञान व्यभिचारी होता है। जो वह (जल) नहीं है उसमें वह (जल) ज्ञान हो रहा है। वस्तुत: (हि) वहाँ जल नहीं है। उन किरणों को तो इन्द्रिय से देखकर (आलोच्य) इन्द्रिय की बाधा (इन्द्रियोपघात) के दोष से विपरीत जान लेता है (विपर्वित)। इस प्रकार ज्ञान का व्यभिचार है अर्थ का नहीं।

गृहीतेऽपि शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का ग्रहण हो जाने पर भी, व्युत्पन्न दशा में भी।
पूर्वस्मात् अव्युत्पन्न अवस्था में होने वाले (ज्ञान) से। व्यवहारकाले दूसरे को वोध कराते
समय।

इन्द्रियेणाली च्य--निर्विकल्पक श्रान्त नहीं होता किन्तु सिवकल्पक श्रान्त होता है, इसी दृष्टि से वाचस्पित मिश्र ने इसका अर्थ किया है (टी०२२५) धर्मकीर्ति की दृष्टि में इन्द्रियज्ञान में भी श्रान्ति होती है (द्र० न्यायिबन्दु तथा टीका श्रत्यक्षलक्षण) । अग्रिम भाष्य तथा वात्तिक भी द्रष्टिच्य है ।

59

न्यायभाष्यम्

दूराच्वक्षुषा ह्ययमर्थं पश्यन्नावधारयित धूम इति वा रेणुरिति वा तदेतिहिन्द्रयार्थसिनकषाँत्पन्नसनवधारणज्ञानं प्रत्यक्षं प्रसज्यत इत्यत आह, व्यवसायात्मकियित । न चैतन्यन्तव्यम्, आत्ममनःसिनकर्षज्ञमेवानवधारण-ज्ञानिभिति । कि तिहि ? चक्षुषा ह्ययमर्थं पश्यन्नावधारयित, यथा चेन्द्रि-येण उपलब्धमर्थं मनसोपलभते, एविमिन्द्रियेणानवधारयन् मनसा नावधारयित । यच्च तिहिन्द्रयानवधारणपूर्वकं मनसानवधारणं तिद्वशेषापेक्षं विमर्शनमात्रं संशयः, न पूर्विमिति । सर्वत्र च प्रत्यक्षविषये ज्ञातुरिन्द्रियेण व्यवसायः, पश्चान्मनसाजनुव्यवसायः, उपहतेन्द्रियाणामनुव्यवसायाभावादिति ।

दूर से ही चक्षु द्वारा अर्थ (विषय) को देखता हुआ यह (व्यक्ति) निश्चय नहीं करता कि यह धूम है या धूलि है। वह यह इन्द्रिय, और अर्थ के सिन्नकर्प से उत्पन्न होने वाला अनिश्चयात्मक ज्ञान प्रत्यक्ष होने लगेगा, इसलिये कहा है, व्यवसायात्मक। और, यह न मानता चाहिये कि अनिश्चयात्मक ज्ञान आत्मा तथा मन के सिन्नकर्प से ही उत्पन्न होता है। तो क्या? वस्तुतः (हि) चक्षु से अर्थ को देखता हुआ यह (व्यक्ति) निश्चय नहीं करता तथा जिस प्रकार (वह) इन्द्रिय द्वारा उपलब्ध अर्थ को मन से उपलब्ध करता है, इसी प्रकार इन्द्रिय के द्वारा निश्चत न करता हुआ, मन से निश्चत नहीं करता। और, जो इन्द्रिय के द्वारा निश्चय न करते के पश्चात् मन से निश्चय न करना है, वह विशेष को जानने की इच्छा से युक्त (विशेष्यापेक्षम्) विमर्श मात्न ही संशय है, पूर्व (आत्मा और मन के सिन्नकर्प से होने वाला) ज्ञान नहीं। किञ्च, प्रत्यक्ष के विषय में सर्वत्र ही ज्ञाता को इन्द्रिय द्वारा निश्चय (व्यवसाय) होता है, तत्पश्चात्म मन से अनुव्यवसाय होता है; क्योंकि जिनकी इन्द्रियाँ नष्ट हो जाती हैं (उपहतेन्द्रिय) उन्हें अनुव्यवसाय नहीं हुआ करता।

दूराच्चक्षुषा—भाष्य के इस कथन से विदित होता है कि इन्द्रिय से भी संगय होता है।

व्यवसायात्मकम्—भाष्य की दृष्टि में संगय में प्रत्यक्ष लक्षण न जाये इसलिये यह पद सूत्र में

रक्ष्या गया है। वाचस्पितिमिश्र कहते हैं कि "अव्यिभवारि' पद से ही संगय की भी व्यावृत्ति हो

जाती है, अव्यिभवारिपदेनैव संगयज्ञानमपि व्युदस्तम्, टी० २२४। उनकी दृष्टि में सिवकल्पक प्रत्यक्ष

के ग्रहण के लिये यह पद दिया गया है, व्यवसायात्मकपदं साक्षात् सिवकल्पकस्य वाचकम्, टी० २२६।

यह वाचस्पिति मिश्र की नवीन उद्भावना है। उन्होंने यहाँ विस्तार से सिद्ध किया है कि सिवकल्पक
भी प्रत्यक्ष होता है। (विशेष द्र० वाचस्पितिमिश्र द्वारा वौद्धदर्शन का विवेचन १२६—१४०)।

न पूर्विमिति—आत्मा और मन के सिन्नकर्ष से होने वाला संगय यहाँ नहीं लिया गया, बही पूर्वज्ञान

है, पूर्व तु न संस्वव्यते यदारमान्तःकरणसंयोगाद् भवित, वा०२०४।

सर्वत्र च प्रत्यक्षविषये—यहां प्रत्यक्ष शब्द से बाह्यप्रत्यक्ष का ग्रहण होता है,।

न्यायवर्गत्तकम्

दूराच्यक्षुषा ह्यमर्थं पश्यन्नावधारयतीति भाष्यम् । तद्व्युदासार्थमाह, व्यवसायात्मक-मिति । न, संशयस्यानिन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्वात्—न होन्द्रियार्थसन्निकर्षात् संशयज्ञानं भवति, अपि तु मानसः प्रत्ययः । संशीतिः संशय इति । तच्च नैवम् । संशयस्योभय-निमित्तत्वात्—उभयं तु संशयितिमत्तम्, आत्मान्तःकरणसंशोग इन्द्रियार्थसन्निकर्ष-श्चेति । तत्र यदिन्द्रियार्थसन्निकर्षानवधारणपूर्वकं मनसानवधारणं तदिह संबध्यते । तस्य हीन्द्रियार्थसन्निकर्षः कारणमिति । पूर्वं तु न संबध्यते, यदात्मान्तःकरणसंथोगाद् भवतीति । तस्मादिस्त विषयो विशेषणस्येति युक्तयुक्तं व्यवसायात्मकमिति ।

इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नमित्येवमादिलक्षणम् आत्मादिषु सुखादिषु च नास्ति,

दूर से ही चक्षु द्वारा अर्थ को देखता हुआ यह (व्यक्ति) निश्चय नहीं करता इत्यादि भाष्य है। उस (अव्यवसायात्मक ज्ञान) की व्यावृत्ति के लिये कहा है, व्यवसायात्मकम्। (पूर्वपक्ष) यह नहीं, संशय के इन्द्रिय तथा अर्थ के सन्निकर्ष से न उत्पन्न होने के कारण—इन्द्रिय तथा अर्थ के सन्निकर्ष से संशय ज्ञान (उत्पन्न) नहीं होता, अपि तु यह मानसिक ज्ञान है। संशय का अर्थ है—तंशीति (स्मरणसिहत विमशं)। (सिद्धान्त) और वह ऐसा नहीं है; संशय के उभयनिमित्तक होने से—दानों ही संशय के निमित्त होते हैं आत्मा और मन का संयोग और इन्द्रिय तथा मन का सन्तिकर्ष। उनमें से जो इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से अनिश्चय पूर्वक मन के द्वारा अनिश्चय होता है, उसका यहाँ सम्बन्ध है। वस्तुतः (हि) उस (अनिश्चय, संशय) का इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष कारण होता है। पूर्व (ज्ञान) का तो यहाँ सम्बन्ध नहीं है जो आत्मा और मन (अन्तःकरण) के संयोग से होता है। इसलिये (व्यवसायात्मक) विशेषण का प्रयोजन (विषय) है अतः (सूत्रकार ने) ठीक कहा है कि वह ज्ञान व्यवसायात्मक होता है।

'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नम्' इत्यादि लक्षण आत्मा आदि और सुख आदि में संशीतिः संशय इति—'सम्' पूर्वक-शी धातु से 'वितन्' प्रत्यय होकर 'संशीति' शब्द बनता है तथा 'सम्' पूर्वक-शी धातु से ही अच् प्रत्यय होकर संशय शब्द । दोनों का अर्थ समान ही है । उभयं तु—यहां 'तु' शब्द से 'संशय का निम्ति केवल मन होता है इन्द्रिय नहीं' इस मत की व्यावृत्ति की गई है ।

इन्द्रियार्थसन्निकर्षाo — भाष्य के 'इन्द्रियानवधारणपूर्वकम्' में इन्द्रियानवधारण शब्द का अपने कारण इन्द्रिय तथा अर्थ के सन्निकर्ध के अर्थ में प्रयोग किया गया है, टी० २३४।

पूर्वं त्विति—'उभयं तु संशाप्ति।भित्तम्' यह बतलाते हुए आत्मा तथा अन्तःकरण के संयोग की पहले कहा गया है अतः यहां 'पूर्व' शब्द से वही लिया गया है ।

तस्य हि—इन्द्रियार्थसिकिकं पूर्वक होने वाले मानिमक अनवधारण में इन्द्रियार्थसिक्षिकर्थ ही कारण होता है। उस प्रत्यक्ष में भी इन्द्रियार्थसिक्षकर्ष कारण होता है जो आत्मा और मन के संयोग से होता है। 'सर्वत च प्रत्यक्षविषये' में प्रत्यक्ष = बाह्य — इन्द्रिय प्रत्यक्ष। 8.8.8]

न्यायभाष्यम्

आत्मादिषु सुवादिषु च प्रत्यक्षलक्षणं वस्तव्यम्, अनिन्द्रियार्थसन्ति-कर्षजं हि तदिति ।

न्यायवात्तिकम्

मनतोऽनिन्द्रियत्वार् अतोऽव्यापकमेतत् प्रत्यक्षलक्षणिमित । कथं पुनरिन्द्रियं मनो न भवित ? इन्द्रियसूत्रे ऽपिठतत्वात्—परिपिठतानि द्र्याणादीनीन्द्रियाणि, न च तेषु मनः परिपिठतम् । तस्मान्मनो नेन्द्रियम् । पृथक् चानिभधानात् नास्ति मनस इन्द्रियत्वे प्रमाणम् । ततश्च नेन्द्रियं मन इति । न चैवं प्रत्यक्षाः सुखादयो भविष्यन्तीति । प्रत्यक्षाश्चैते, नानुमानिकाः लिङ्गाभावात्—न हि लिङ्गमन्तरेणानुमेयोऽथौं गम्यते । नाप्यन्यत् प्रवागं प्रतिपादकं सुखादीनाम् । न च तेषामप्रमेयत्वम् । न चित्रामानिकाः गितरस्ति । तस्वात् कर्तव्यं सुखादीनां प्रत्यक्षेण ग्रहणोपसंख्यानिमिति ।

आत्मा आदि तथा मुख आदि में प्रत्यक्ष का लक्षण कहना होगा; क्योंकि वह इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से नहीं उत्पन्न होता।

घटित नहीं होता; मन के इन्द्रिय न होने से; अतः (यह) प्रत्यक्ष का लक्षण अव्यापक है। मन इन्द्रिय कसे नहीं होता? इन्द्रिय (बोधक) सूत्र में पढा गया न होने से— प्राण अादि इन्द्रियाँ पढी गई हैं और उनमें मन को नहीं कहा गया। इसलिये मन इन्द्रिय नहीं है। और, (मन का) पृथक् कथन न करने से भी मन के इन्द्रिय होने में (कोई) प्रमाण नहीं है। इसलिये मन इन्द्रिय नहीं और इस प्रकार सुख आदि प्रत्यक्ष (प्रत्यक्ष के विषय) न होंगे; किन्तु (च) ये प्रत्यक्ष होते हैं, (कोई) लिङ्ग न होने से ये अनुमेय नहीं होते—वस्तुतः लिङ्ग के विना अनुमेय अर्थ नहीं जाना जाता, अन्य कोई प्रमाण भी सुख आदि का बोधक (प्रतिपादकम्) नहीं है। और ये प्रमेय नहीं ऐसा भी नहीं। इसके अतिरिक्त और (अन्य) कोई गित भी नहीं है। इसलिये सुख आदि का प्रत्यक्ष से ग्रहण होता है, यह कहना चाहिये।

आत्मादिषु सुखादिषु च — यहां नित्य तथा अनित्य होने के कारण दो वर्ग वनाए गये हैं, आत्मा, सुखत्व तथा दुःखत्व (आत्मादि) नित्य हैं तथा सुख दुःख आदि अनित्य हैं, टी॰ २३५। भाष्य तथा वात्तिक में सूत्रोक्त प्रत्यक्षलक्षण में अव्यापकता की प्रङ्का की गई है।

पृथक् च — युगपण्जानानुत्पत्तिमंनसो लिङ्गम् (१. १. १६), इस सूत्र में मन का पृथक् विधान किया

नथा ह । चानभिधानात्—यही पाठ उचित प्रतीत होता है, पूर्वपक्ष की शङ्का के समाधान में भी यही पाठ है । मन को पृथक्षः इन्द्रिय कहा भी नहीं गया ।

रु । भग का पृथक्षा हार्ष्ट्रभ करा ना गरा । न च तेषामप्रमेयत्वम्—िदङ्नाग ने कहा था,न सुखादि प्रमेयं वा मनो वास्त्विन्द्रियान्तरम्,

टी० २३५, उसका इस बचन से निराकरण किया गया है।

न चान्या गित:—वौद्धमत में सुख आदि का स्वसंवेदन माना गया है जिसको न्या०-वै० नहीं
स्वोकारता।

१. च विधानात्, कः, चानभिधानात्, ख,

न्यायभाष्यम्

इन्द्रियस्य वै सतो मनस इन्द्रियेभ्यः पृथगुपदेशो धर्मभेदात्—भौति-कानीन्द्रियाणि नियतिष्वषयाणि सगुणानां चैषामिन्द्रियभाव इति । मनस्त्व-भौतिकं सर्वविषयं च, नास्य सगुणस्येन्द्रियभाव इति । सति चेन्द्रियार्थसिन्न-कर्षे सन्निधिमसन्निधि चास्य युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिकारणं वक्ष्यामः (१.११६) इति । सनसङ्चेन्द्रियभावान्त बाच्यं लक्षणान्तरिस्ति ।

न्यायवात्तिकम्

कश्चेवमाह न प्रत्यक्षा सुखादय इति ? इन्द्रियार्थसन्निकर्वजन्यप्रत्यक्षवाद्याह । नैव दोषः, मनस इन्द्रियत्वाद् इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं सुखादिज्ञानमिति । यत् तु सुन्ने-ऽनिमिधानं तद् वैधर्म्यात् । किं तद् वैधर्म्यम् ? सर्वविषयत्वसर्वविषयत्वे—सर्वविषय मनः, असर्वविषयागीतराणि । सर्वविषयत्वं तु मनसः, स्मृतिकारणसंयोगाधारकत्वा-दात्मवत्, सुखग्राहकसंयोगाधारत्वात् समस्तेन्द्रियाधिष्ठातृत्वाच्च आत्मवत् ।

(समाधान) इन्द्रिय होते हुए भी मन का धर्म के भेद के कारण इन्द्रियों से पृथक उपदेश किया गया है—(क) इन्द्रियाँ भौतिक हैं, (ख) नियत विषय वाली हैं तथा (ग) गुग (रूप आदि) सहित (ही) ये इन्द्रियाँ होती हैं (असे अपने रूप सहित चक्षु इन्द्रिय है); किन्तु मन (क) अभौतिक है, (ख) सर्वविषयक है तथा (ग) यह गुगसहित इन्द्रिय नहीं होता। और, इन्द्रिय तथा अर्थ का सन्निकर्ष होने पर इस (मन) का सान्निध्य तथा असान्निध्य एक साथ (दो) ज्ञानों की उत्पत्ति न होने का कारण होता है, यह कहेंगे (१.१.१६)। अतः मन के इन्द्रिय होने से (प्रत्यक्ष का) अन्य लक्षण न कहना होगा।

(शङ्का) और यह कौन कहता है कि सुख आदि का प्रत्यक्ष नहीं होता ? इन्द्रिय और अर्थ के सन्तिवर्ण से उत्पन्न होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष है, यह कहने वाला कहता है। [समाधान] यह दोप नहीं; मन के इन्द्रिय होने से सुख आदि का ज्ञान (भी) इन्द्रिय और अर्थ के सिन्नकर्ण से उत्पन्न होने वाला है, किन्तु जो (द्राण आदि) सूत्र में (मन का) कथन नहीं किया गया वह तो भिन्न धर्म (वैधर्म्य) होने के कारण। वैधर्म्य है (मन का) सर्वविषयक होना और (अन्य इन्द्रियों का) सर्वविषयक न होना; मन सर्वविषयक है, इन्द्रियाँ सर्वविषयक नहीं हैं। मन की सर्वविषयकता तो (क) स्मृति के कारण संयोग का आधार होने से आत्मा के समान है और (ख) सुख के ग्राहक संयोग का अध्यय होने से तथा (ग) सब इन्द्रियों का अधिष्ठाता होने से अत्मा के समान है।

धर्म भेदात् — यहां भाष्य में मन और अन्य इन्द्रियों के तीन भिल्ल भिल्ल धर्म कहे गये हैं — इन्द्रियों भौतिक हैं, नियतिविषयक हैं और गृणसहित इन्द्रियों होती हैं; मन ऐसा नहीं। वात्तिककार ने इन्द्रियों का नियतिविषयक होना और मन का सर्वविषयक होना केवल एक वैधर्म्य दिखलाया है।

सर्विषयत्वं तु—मन के सर्विषयक होने में तीन हेतु हैं १. स्मृति का कारण संयोग आत्ममनः संयोग है २. सुख का ग्राहक संयोग भी आत्ममनः संयोग है तथा ३. मन सब इन्द्रियों का अधिष्ठाता है।

१. ०णीन्द्रियाणि, कः ०णीतराणि, खः

8.8.8]

न्यायवात्तिकम्

भौतिकाभौतिकत्वं तु न विरोधात् न हि भौतिकं सनो नाष्यभौतिकिमिति, कार्यधमितितौ भौतिकत्वम् अभौतिकत्वं च। न च कार्यं मनः। तस्मान्न मौतिकं नाष्यभौतिकिमिति। श्रोत्रे चासंभवः —यदि भौतिकाभौतिकत्वलक्षणाद् वैधर्म्याद् अपरिपाठः सूत्रे मनसः। श्रोत्रमपि तिह न पठितव्यम्, न हि श्रोत्रं भौतिकं न चाष्यभौतिकिमिति। स्वायं प्रत्ययाधानिमिति चेत्, न, प्रत्ययवैयर्थ्यात् —स्यादेषा दुद्धः स्वाधिक एष प्रत्ययो भूतमेव भौतिकिमिति। तच्च न, प्रत्ययवैयर्थ्यात् न हि भौतिकिमित्यनेन आकाशे किच्चत् तिद्धतार्थो जन्यते। तस्माद् व्यर्थमेतत् स्वायं प्रत्ययविधानिमिति। यत्पुनरेतत् पृथगिमधानं नास्तीति। न नास्ति, अयुगपज्जानोपपत्तेरिति। बुगपज्जानानुरपिसमनिमो लिङ्गम् (१.१.१६) इत्युक्तम्। तेन च प्रतिपादित्येतत् मनसः करणत्विमिति। सगुणानािमिन्द्रयभावो वैधर्म्यमित्येतदिप न युक्तम्, श्रोत्रानिभधानप्रसङ्गादेव। तस्मात् सर्वासर्वविषयत्वं वैधर्म्यमित्येतदेव ज्यायः।

(भाष्य में दोषदर्शन) भौतिक होना और अभौतिक होना तो(वैधर्म्य) नहीं, विरोध होने से—व तुतः (हि) मन न भौतिक है न अभौतिक,(क) भौतिक होना और अभी-तिक होना ये दोनों कार्य के धर्म हैं और मन कार्य नहीं है, इसलिये (मन) न भौतिक है न अभीतिक, (ख) और, (भौतिकत्व का) श्रोत्र में होना सम्भव नहीं—यदि भौति-कत्व और अभौतिकत्वरूप वैधर्म्य से (झाण आदि) सूत्र में मन का पाठ न हो तो (उसमें श्रोत्र का पाठ भी न होना चाहिये, क्योंकि श्रोत्र भी न भौतिक है और न अभौतिक । (शङ्का समाधान) यदि स्वार्थ में प्रत्यय किया जाये तो भी ठीक नहीं, प्रत्यय के व्यर्थ होने से-यह मित हो सकती है कि यह स्वार्थ में प्रत्यय है कि भूत ही भौतिक है (श्रोत्र आकाश है अतः भूत है उसे भौतिक कह दिया जाता है) वह भी (च) नहीं, प्रत्यय के व्यर्थ होने से; वस्तुत: भौतिक यह कहने से (इत्यनेन) आकाश में कोई तिद्धितार्थ उत्पन्न नहीं होता, इसलिये यह कथन व्यर्थ है कि यहाँ स्वार्थ में प्रत्यय किया गया है । और, जो यह कहना हैकि (मन का) पृथक् कथन नहीं किया गया । ऐसा नहीं कि (पृथक् कथन) नहीं किया गया, एक साथ ज्ञानों की उत्पत्ति न होने से—एक साथ ज्ञानों की उत्पत्ति न होना मन का लिङ्ग कहा गया है (१.१.१६)। और, उससे यह भी बतला दिया गया कि मन करण है। गुण सहित इन्द्रिय होती है, यह (इन्द्रिय और मन का) वैधर्म्य है, यह कथन भी युक्त नहीं, (ऐसा मानने पर भी) श्रोत्र का पाठ न करने का प्रसङ्ग होने से । इसलिये (मन का) सर्वविषयक होना (घ्राण आदि का) सर्वविषयक न होना वैधर्म्य है, यही अधिक उचित है (ज्यायः)।

न, नास्ति—ऊपर शङ्का में कहा गया था 'पृथक् चानिमधानात्' उसका यह उत्तर है। इससे यह भी विदित्त हीता है कि वहाँ यही पाठ शुद्ध है।

तस्मात् सर्वासर्विषयत्वं वैधर्म्यम् वात्तिककार के मत में अन्य इन्द्रिय और मन का यही वैधर्म्य है कि मन सर्वविषयक है और अन्य इन्द्रिय नियतविषयक; वात्तिक में भौतिकत्व और सगुणत्व को इन्द्रियों से मन का वैधर्म्य नहीं माना गया, क्यों कि श्रोत भी इन्द्रिय है किन्तु उसमें भोतिकत्व और

न्यायभाष्यम्

तन्त्रान्तरसमाचाराञ्चैतत् प्रत्येतव्यमिति । परमतमप्रतिषिद्धमनुमतिमिति हि तन्त्रयुक्तिः । व्याख्यातं प्रत्यक्षम् ।

न्यायवात्तिकम्

तन्त्रान्तरसमाचाराच्य मन इन्द्रियमिति—तन्त्रान्तरेषु मन इन्द्रियमिति पठ्यते।
तच्चेह न प्रतिषिद्धम् । अप्रतिषेधादुपात्तं तदिति न, शेषाभिधानवैप्रध्यति । नशेषाण्यपि इन्द्रयाणि तैःपरिपिठतानि । तस्मात् तान्यपि न वक्तव्यानि, यद्यप्रतिषेधादुपादानंस्यादिति । न, तन्त्रपुक्त्यनवबोधात्—न भवता तन्त्रयुक्तिः परिज्ञायते, परमतमप्रतिषिद्धमनुमतमिति हि तन्त्रयुक्तिः । न च यस्य १स्वमतपरिग्रहो नास्ति, तस्य स्वमतं
परमतं वा भिद्यते । भवता च परमतानुरोधेन सर्वं स्वमतं निवायते इति । तिष्मवारणात् स्वमतं परमतमित्येतदेव न स्यात् । तस्मादित मन इन्द्रिय चेति । तदुपपन्नम्
इन्द्रियार्थतिन्नकर्षोत्पन्नं सुद्धादिज्ञानिमिति व्यापकं लक्षणम् ।

और अन्य शास्त्र (तन्त्रान्तर) के समाचार (पाठ, व्यवहार) से यह जान लेना चाहिये। शास्त्र की युक्ति है जिसका प्रतिषेध न किया जाये ऐसा दूसरे का मत स्वी-कार्य होता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष की व्याख्या की गई।

अन्य शास्त्र के व्यवहार से मन इन्द्रिय है—अन्य शास्त्रों में मन इन्द्रिय है, यह पढ़ा गया है और उसका यहाँ प्रतियेध नहीं किया गया। (शङ्का) प्रतियेध निक्षा जाने से वह मान लिया गया (उनात्तन्-स्वीकृतन्), यह ठीक नहीं, शेष (इन्द्रियों) का कथन व्यर्थ होने से—गेंग इन्द्रियाँ भी उन्होंने पढ़ी हैं, इस प्रकार उन्हें भी न कहना चाहिये, यदि प्रतियेध न किया जाने से स्वीकृत हो जाता है। [समाधान] यह कहना ठीक नहीं, तन्त्रयुक्ति का बोध न होने से—आपके द्वारा तन्त्रयुक्ति भली भाँति नहीं जानी गई। तन्त्रयुक्ति को यह है जिसका प्रतियेध नहीं किया जाता वह दूसरे का मत स्वीकार्य होता है। और जिसने अपने मत (पक्ष) का भलीभाँति ग्रहण नहीं किया, उसके स्वमत या परमत का (कुछ) भेद है नहीं। और आपके द्वारा परमत का अनुसरण करके अपने सभी मत का निवारण किया जा रहा है। उसके त्याग देने से स्वमत और परमत यही नहीं रहेगा। इसिनये मन है और (वह) इन्द्रिय है। अतः इन्द्रिय और अर्थ (विषय)के सिन्नकर्ष से सुख आदि का ज्ञान उत्पन्न होता है, यह युक्तिसिंद्ध हो गया (उपपन्नम्)। इस प्रकार (प्रत्यक्ष का) लक्षण व्यापक है।

सगुणत्व नहीं होता । वाचस्पति मिश्र के अनुसार 'भूतःव' में वैधर्म्य हो सकता है, इन्द्रियाँ भूत हैं, मन नहीं । इस प्रकार यहाँ शब्द-दोष है, अभिप्राय-दोष नहीं (टी०२२६) । इसी प्रकार सगुणत्व में भी शब्द-दोष है (परिशुद्धि २८६) ।

तन्त्रा० — तन्त्र = शास्त्र तन्त्र्यते व्युत्पाद्यतेऽनेन तत्त्विमिति तन्त्रं शास्त्रम्, टी० २३६ । (तन्त्राः नत्तर) = यहाँ अन्य शास्त्र कौन सा है ? यदि समानतन्त्र वैशेषिकसूत्र को लें तो बहाँ मन को इन्द्रियों में गिनाने वाला कोई सूत्र नहीं उपलब्ध होता है हाँ, प्रशस्तपाद भाष्य (प्रत्यक्ष) में मन को इन्द्रियों में गिसाया गया है । सांख्यकारिका की कारिका २७ में भी । समाचारात् व्यवहार से पाठ से । १. वैयर्थ्यदोषात् क, वैयर्थ्यात्, ख.२. स्वपअ०, फ, स्वमत०, ख.

E3] 2.8.8]

न्यायवात्तिकम्

समस्तमसमस्तं चेति सन्देहः-किमिदं प्रत्यक्षलक्षणं समस्तमाहो असमस्तमिति सन्देह: । जूत: ? उभयथा दर्शनात् —समस्तं च लक्षणं भवति व्यस्तं च, 'इच्छाद्वेषप्रयतन-सुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम्'(१.१.१०) इति व्यस्तलक्षणम् । एकशः प्रतिपादकरदात्। तथा 'समानाने कथर्नोपपत्ते: (१.१.२३) इत्येवमादि च व्यस्तम् । समस्तं पुनः 'वचन-विघातोऽर्थविकल्योपपत्त्या छलम्' (१.२.१०)। समस्तेनानेन छलं लक्ष्यते। 'प्रसिद्ध-साधम्यात् साध्यसाधनमुपमानम् (१.१.६) इति च । लक्षणं चेदम्, अतः सन्देहः, कि समस्तम्, उतासमस्तमिति । समस्तमित्याह—यस्मादेकशोऽनुमानसुखशब्दविपर्ययसंशयज्ञा-नानि निवर्तन्ते इति; यदीन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नमित्येवमाद्येक्ताः पदमिधीयते, योऽ-यम् एकैकेन पदेनार्थः संगृहीतः स स प्रत्यक्षः स्यादिति । तेन पूर्वोक्तानामनुमानादीन् प्रत्यक्षत्वप्रसङ्गः स्यादिति । एवं दृयोः पदयोरुपादाने पददृयेनोपात्तस्य प्रत्यक्षत्वप्रसङ्गः ।

सब पद मिलकर (ममस्त) या पृथक्-पृथक् (लक्षण) है, यह सन्देह है। वया यह प्रत्यक्ष का लक्षण सब पदों का (समस्तम्) है अथवा (आहो) पृथक्-पृथक् पद का (असमम्तम्), यह सन्देह है। क्यों ? दोनों प्रकार देखे जाने से—समस्त भी लक्षण होता है और अलग-अलग भी; 'इच्छाहेप' ० (१.१.१७) यहाँ इच्छा आदि पृथक-पृथक् (व्यस्त) आत्मा के लक्षण हैं; क्योंकि (इनमें से) एक-एक आत्मा का बोवक है; उसी प्रकार 'समानानेक०' (१.१.२३) इत्यादि (संशय का) व्यस्त लक्षण है । किन्तु 'वचनविघातो' ० (१.२.१०) समस्त है; पूर्ण रूप से (समस्तेन) इसके द्वारा छल का लक्षण किया जाता है और 'प्रसिद्धसादम्यात् (१.१.६) (उपमान का लक्षण) भी। यह भी (च) लक्षण है अत: सन्देह है कि क्या यह (लक्षण) समस्त है या व्यस्त ? समस्त है, यह कहते हैं—क्योंकि (प्रत्येक पद से) एक-एक करके अनुमान, सुख, शब्द, विपर्यय तथा संशय ज्ञान की निवृत्ति की जा रही है। यदि इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न इत्यादि में एक-एक पद कहा जाये तो जो यह एक-एक पद से अर्थ संगृहीन होता है वह प्रत्यक्ष होगा । उससे पूर्वोक्त अनुमान आदि (भी) प्रत्यक्ष होने लगेंगे इसी प्रकार दो पदों का ग्रहण करने पर उनसे गृहीत की प्रत्यक्षता होगी और इसी

तान्यपि न वक्तव्यानि अव्य इन्द्रियां भी तन्त्रान्तर में पढी गई हैं, उनका जसा कि दिड्.नाग ने कहा है, अनियेधादुपात्तं चेदन्येन्द्रियरुतं वृथा, टी०२३६।

तन्त्रयुक्ति: = शास्त्रयुक्तिः, कौटल्य के अर्थशास्त्र (१५.१) में तन्त्रयुक्तिया दिखलाई गई हैं, उनमें एक है, परवाक्यमप्रतिषिद्धमनुमतम् (१४.१.४६) संभवतः भाष्य में उसका अर्थतः अनुवाद है। शेषाभिधानवैयथ्यत् — तन्त्रान्तर के अभिमत मन के इन्द्रिय होने का प्रतिपेध न करने से यदि मन इन्द्रिय है तो अन्य इन्द्रियां भी तन्नान्तर में पढ़ी गई हैं उनका भी कथन करना ब्यर्थ है, यह आशय है; जैसाकि दिड़्नाग ने कहा है-

अनिषेधादुपात्तं चेदन्येन्द्रियरुतं वृथा, 'टी० २३६'।

न च यस्य ः न स्यात् — यदि यहां अन्य इन्द्रियों का पाठ न किया जाता तो न्याय का अपना मत स्थापित न किया जा सकता और फिर परमत ही क्य। रहता जिसे तन्त्रयुक्ति के अनुसार स्वी-कारा जाता । स्वमत होने पर ही परमत होता है और स्वमत का ज्ञान कथन करने से ही होता है ।

[प्रत्यक्षम

न्यायवात्तिकम्

एवं त्रयाणां पदानामुपादाने तैरुपात्तस्य प्रत्यक्षत्वप्रसङ्गः । एवं चतुर्णां पदानामुपादाने तैरुपात्तस्य प्रत्यक्षत्वप्रसङ्गः । तस्मादे किंद्वित्रचतुष्पदपर्यु दासात् पञ्चपदपरिग्रहेण विशेषत्कोटीर्व्यु दस्य समस्तं लक्षणित्यु च्यते । तत्रै कपदपरिग्रहेण तावत् पञ्च कोटयः । द्विपदपरिग्रहेण दश । त्रिपदपरिग्रहेणापि दशैव । चतुष्पदपरिग्रहेण पञ्च । एकत्रिश्चान्तसी पुनः समस्तपरिग्रहेणोपात्ते ति । कस्मात् ? विशेषविधिप्रतिषेधयोः शेषप्रतिषेधविध्यभ्यतुज्ञाविषयत्वात् —अयं खलु विशेषविधिः प्रवतमानः शेषं प्रतिषेधति, यथा दक्षिणेनाक्षणा पश्यतीति । विशेषप्रतिषेधश्च शेषाभ्यनुज्ञाविषयो भवति; यथा वामेनाक्षणा न पश्यामीति । तथेहाप्येकदेशाभ्युपगमे शेषप्रतिषेधः, शेषविधानं वा गम्यत इति । व्यवस्थतं प्रत्यक्षमिति ।

प्रकार तीन पदों का ग्रहण करने पर उनसे गृहीत की प्रत्यक्षता होगी। इसी प्रकार चार पदों का ग्रहण करने पर उनसे गृहीत की प्रत्यक्षता होगी। इसिलये एक, दो, तीन और चार पदों को छोडकर (पर्यु दासात्) पाँच पदों के ग्रहण से तीस कोटियों की व्यावृत्ति करके (व्युदग्य) समस्त लक्षण है, यह कहा जाता है। उनमें प्रथमतः एक पद का ग्रहण करने से पाँच कोटि होती हैं, दो पदों के ग्रहण से दस, तीन पदों के ग्रहण से मी दस ही, चार पदों के ग्रहण से पाँच। किन्तु (पुनः) समस्त (पाँचों पदों) के ग्रहण से इकतीसवीं कोटि ली गई है। कैसे? विशेष की विधि और प्रतिषेध होने पर (कमशः) शेष के प्रतिषेध तथा विधि की स्वीकृति हो जाती है—वस्तुतः यह विशेष की विधि प्रवृत्त होती हुई शेष का प्रतिषेध करती है; जैसे दाहिनी आँख से देखता है; (यह विशेष विधि है) और विशेष का प्रतिषेध शेष की स्वीकृति का विषय होता है, जैसे बाई आंख से नहीं देखता हूं (यह विशेष का प्रतिषेध है)। सी प्रकार यहाँ एकदेश की स्वीकृति करने पर शेष का प्रतिषेध अथवा शेष की विधि जानी जाती है। इस प्रकार प्रत्यक्ष निश्चत हो गया।

तत्र—यहाँ त्याज्य तीस कोटि दिखलाई गई हैं, हेयात्रि शत्कोटी गंणयति, टी०२३७।

एकपदपरिग्रहेण—१ इन्द्रियार्थसन्निकपौरपन्न २. ज्ञानम् ३. अब्यपदेश्यम्, ४. अब्यभिचारि, ५.व्यवसायारमकम्; ये पाँच कोटियां होंगी।

दिपदपरिग्रहेण दश-१ इन्द्रियार्थसित्रकपंत्पित्रं ज्ञानम्, २. इन्द्रियार्थसित्रकपंत्पत्रम् अव्यपदेश्यम् ३. इन्द्रियार्थसित्रकपंत्पत्रम् अव्यपिचारि ४. इन्द्रियार्थसित्रकपंत्पत्रम् व्यवसायात्मकम् ५. ज्ञातम् अव्यपदेश्यम् ६. ज्ञातम् अव्यपिचारि ७. ज्ञानं व्यवसायात्मकम् ६. अव्यपदेश्यम् अव्यपिचारि ६ अव्यपदेश्यम् व्यवसायात्मकम्, १० अव्यपिचारि व्यवसायात्मकम्, १ दस कोटियां हैं। जिपदपरिग्रहेणापि दशेव-१ इन्द्रियार्थसित्रकपंत्रिक्तं ज्ञानम् अव्यपदेश्यम्, २ इन्द्रियार्थसित्रकपंत्रिकपं व्यवसायात्मकम् ४ ज्ञानम् अव्यपदेश्यम् अव्यपस्य स्वसायात्मकम् इन्द्रियार्थसन्तिकपरिपत्नमृ, १० अव्यपिचारि व्यवसायात्मकं ज्ञानम् ये भी दसं कोटियां हैं।

8.8 ×] [EX

न्यायवात्तिःम्

अपरे पुनर्वर्णयन्ति, ततोऽर्थाव् विज्ञानं प्रत्यक्षमिति । तन्न, ततोऽर्थादिति, यस्यार्थस्य यहिज्ञानं व्यवदिक्ष्यते यदि तत एव तव्भवति नार्थान्तरात्, तत् प्रत्यक्षम् । एते । तृत्रानुमानादिज्ञानमपक्षिप्तं अवति । न हि तत एव तव्भवति । कि तर्हि ? ततस्वान्य-तश्व तव् भवति । अत्र ताववर्थप्रहण न कर्तव्यम् । ततो थिज्ञानमित्युच्यमाने गम्यते एव तव्यदिति । अवधारणार्थोऽर्थनव्य इति चेत्—स्यान्मतिरेषा अवधारणार्थोऽर्थन् । भविष्यतीति, यदुक्तं भवति तत एवति, तदुक्तं भवति ततोऽर्यादिति । तत्र युक्तम्, एकपदस्याप्यवधारणार्थस्य दृष्टत्वात्, अवभक्ष इति यथा । एतेनानुमानादिव्युदासोऽपि प्रत्युक्तः । यत् पुनरेतत् संवृतिज्ञानभनेनापक्षिप्तमिति, तदेतन्न वुध्यामहे कथं तद् अपिक्षपत्मिति । यदि बूषे क्षादिभ्य उत्पन्नं ज्ञानं घटस्य व्यवदिश्यत इति, अतो नन्ततो भवि-ष्यतीत्यपक्षिप्तमिति, तन्न युक्तम् । न हि क्ष्पादिभ्य उत्पन्नं विज्ञानं घटस्य व्यवदिश्यते । क्षादिभ्य उत्पन्नं क्ष्पादीनां घटादिक्जानं घटस्येत्यता न प्रसङ्गः ।

[अन्य दर्शनों के प्रत्यक्ष-लक्षणों की समीक्षा]

अपरे (वसुवन्धु टी०) तो कहते हैं—ततोऽर्थाद् विज्ञान प्रत्यक्षम्' (उसी अर्थ से उत्पन्त होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष है) । नहीं, ततोऽर्थाद् (उस अर्थ से) इत्यादि का भाव है—जिस विषय (अर्थ) का जो जान कहा जाता है (व्यपदिव्यते) यदि उससे ही वह होता है. अन्य अर्थ से नहीं, वह प्रत्यक्ष है। इससे अनुमान आर्द ज्ञान की व्यावृत्ति हो जाती है (अपक्षिप्तं भवति); क्योंकि उस अर्थ से वह (अनुमान आदि) नहीं होता। तो क्या होता है ? उससे और अन्य से भी वह होता है। [लक्षण का दोप] प्रथमतः (ताबत्) इस (लक्षण) में 'अर्थ' (शब्द) का ग्रहण न करना चाहिये । 'ततो विज्ञानम्' इतना कहने पर भी उस अर्थ से (तदर्थात्) यह प्रतीत हो जाता है। (शङ्का) यदि कहो कि अवधारण करने के लिये अर्थ शब्द (रक्खा गया) है—यह विचार हो सवता है कि अवधारण (नियमन) के लिये 'अर्थ शब्द होगा, जो वहना है उससे ही, वह कह दिया गया है (तदुक्तं भवति) उस अर्थ से (ततोऽर्थात्)। (समाधान) वह युक्त नहीं; क्योंकि एक पद को भी अवधारणार्थक देखा गया है, जैसे अब्भक्ष = जल को खाने वाला (अप एव भक्षयति = केवल जल ही लेता है)। इस (कथन) से (ऐसे लक्षण से) अनुमान आदि की व्यावृत्ति (व्युदास) होती है, इसका भी निराकरण हो गया (प्रत्युक्तः)। (पूर्वपक्ष) और जो यह (कहा) है कि संवृतिज्ञःन की इससे व्यावृत्ति हो गई (अपिक्षप्तम्), वह यह हम नहीं समझते कि कैसे उसकी व्यावृत्ति हो गई। यदि कहते हो रूप आदि से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को घट का (ज्ञान) कहा जाता है, इसलिये वह (ज्ञान)

चतुष्ठपदपरिग्रहेण पञ्च—१ इन्द्रियार्थसन्निकषोत्पन्नं ज्ञानम् अव्यपदेश्यम् अव्यभिचारि, २ इन्द्रिश् यार्थसन्निकषोत्पन्नं ज्ञानम् अव्यपदेश्यं व्यवसायात्मकम्, ३ इन्द्रियार्थसन्तिकषोत्पन्नं ज्ञानम् अव्य-भिचारि व्यवसायात्मकम् ४. इन्द्रियार्थसन्निकषौत्पन्नम् अव्यपदेश्यम् अव्यभिचारि व्यवसायात्मकम्। ५ ज्ञानम् अव्यपदेश्यम् अव्यभिचारि व्यवसायात्मकम्, ये पांच कोटियां हैं।

एक त्रिंशत्मी — जैसा सूत्र में दिखलाया गया है पांचों पदो के ग्रहण में ३ पदीं कोटि होती है । इसके स्वीकारते पर पहली ३० कोटियों की व्यावृत्ति हो जाती है। ये ३१ कोटियों का एक देश है।

[प्रत्यक्षम्

न्यायवात्तिकम्

अथाय्यं मनोरथो न रूपादिच्यतिरिक्ता घटादय इति, मननोदकोपयोगमात्रमेतत्।यथा तु तद्च्यतिरिक्ता घटादयः, तथा वक्ष्यामः। सर्वं च स्वविषयाद् विज्ञानं भवतीति ततो ग्रहणननर्थकमिति। ननु च मिथ्यातानमतस्मादिप भवति, न ह्यतस्मात् तद्
भवतीति। कि तिहं ? अतिस्मंसतद्भवतीति। न भवता विष्याज्ञानमिप व्यज्ञािय। ततोग्रहणम् अर्थग्रहणं चान्तरेण विज्ञानमात्रमविद्याद्यते, तथा च न लक्षणमुक्तं स्यात्। सर्वं
च ज्ञानं प्रत्यक्षं स्यात्। यद्यप्येतत्सूत्रं यथाश्चिति भवति, तथािप ग्राह्यग्राहकविज्ञानयोरयुगपद्भावाच्ज्ञानमप्रत्यक्षं स्यात्। नाशोत्पादौ सममिति चेत्; तच्च न उदाहरणामावात् – ति सम नाशोत्पादै किञ्चिद्वद्वदाहरणनिति। विनष्टरुचार्थः प्रत्यक्ष इति स्यात्।
तुल्यिमिति चेत—स्यान्मितर्भवतां युगपदवस्थाने किमुदाहरणिमिति ? तच्च नैवम्, उक्तोत्तरत्वात्—उक्तोत्तरमेतत् स्फिटकािदसूत्रे इति।

उससे (घट से) नहीं होता, इस प्रकार उसकी व्यावृत्ति हो गई। (सिद्धान्त) यह युक्त नहीं। वस्तुत: (हि) रूप आदि से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को घट का (ज्ञान) नहीं कहा जाता; रूप आदि से उत्पन्न होने वाले (ज्ञान) को रूप आदि का और घट से उत्पन्न ज्ञान को घट का (कहा जाता है), इस प्रकार (उपर्युक्त) प्रसङ्ग नहीं है। और यदि कल्पना (मनोरथ:) है कि रूप आदि से भिन्न घट आदि नहीं होते तो यह मन के लड्ड खाना (भोग-उपयोग) मात्र है, जिस प्रकार उस (रूप आदि) से भिन्न घट आदि हैं, वह आगे कहेंगे। किञ्च, सब ज्ञान अपने विषय से होते हैं, अतः 'उससे' (ततः) शब्द का ग्रहण व्यर्थ है। शङ्का है (नन्) निध्याज्ञान उससे मिन्न (अर्थ) से भी होता है। [समाधान] उससे भिन्न (अर्थ) से नहीं होता ? तो क्या होता है? उससे भिन्न अर्थ में वह (ज्ञान) होता है। आपने मिथ्याज्ञान को भी नहीं जाना। ततः (शब्द) तथा अर्थ (शब्द) के ग्रहण के विना (प्रत्यक्ष के लक्षण में) 'विज्ञान' मात्र शेष रहता है, और उस प्रकार लक्षण न कहा जा सकेगा तथा सभी ज्ञान प्रत्यक्ष हो जायेगा। यदि यह सूत्र जैसा सुना जाता है (यथाश्रुति) वैसा ही रहता है तो भी ग्राह्य (विषय) और ग्राहक विज्ञान के एक साथ न रहने से ज्ञान प्रत्यक्ष न हो सकेगा। यदि (पूर्व का) नाश और (अग्रिम की) उत्पत्ति एक साथ (समम्) हो जाते हैं तो उदाहरण के अभाव से ठीक नहीं; वस्तुत: एक साथ नाश तथा उत्पत्ति में कोई उदाहरण नहीं हैं। किञ्च, (इस प्रकार) नष्ट हुआ अर्थ प्रत्यक्ष हुआ करेगा। यदि कहो यह तो (दोनों पक्षों में) समान ही है-यदि यह मत हो कि आपके यहाँ ग्राह्म और ग्राहक के एक साथ रहने में क्या उदाहरण है ? तो वह ऐसा नहीं, उत्तर कहा जा चुकने से-स्फटिकादिसूत्र (३.२.६) में इसका उत्तर दिया जा चुका है।

अपरे तु—यह वसुबन्धु का लक्षण है, वासुबान्धवं तावत् प्रत्यक्षलक्षणम् टी०२३८।
संवृतिज्ञानम्—रूपादि के परमाणु ही निरन्तर उत्पन्न होकर वास्तविक होते हुए एक जल लाना
आदि किया करते हैं उनका यह घट है इस प्रकार का ज्ञान जो परमाणुओं को घट रूप में दिखलाता
है संवृति कही जाती है (द्र०टी०२३६)।

8.8.8]

न्यायवात्तिकम्

अपरे तु मन्यन्ते प्रत्यक्षं कल्पनापोढिमिति । अथ केयं कल्पना ? नामजात्यादि-योजना । यत् किल न नाम्नाभिधीयते, न च जाःयादिभिन्ध्यंपदिश्यते, विषयस्वरूपभेदानु-विधायि, परिच्छेदकमात्मसंवेद्यं तत् प्रत्यक्षमिति । ते इदं प्रष्टव्याः, अथ प्रत्यक्षशब्देन कोऽर्थोऽभिधीयत इति ? यदि प्रत्यक्षम्, कथमवाच्यम् ? अथ न प्रत्यक्षमवाचकस्तिह् प्रत्यक्षशब्दः । अथ प्रत्यक्षशब्देन सामान्यमुच्यते इति, एतदिप सामान्यं कि प्रत्यक्ष-व्यत्तरेकि, आहोस्विद्यव्यतिरेकीति ? यदि प्रत्यक्षव्यतिरेकि ? न प्रत्यक्षमुक्तम् । अथाव्यतिरेकि, कथं नोक्तन् ? कल्पनापोढशब्देनापि यदि प्रत्यक्षमुच्यते तदा व्याघातः । अथ नोच्यते, तथापि कल्पनापोढशब्दोच्चारणं व्यर्थम् । प्रत्यक्षं कल्पनापोढिमिति च वाक्यम् । अथास्य वाक्यस्य कोऽर्थः ? यदि प्रत्यक्षम्, व्याघातः । कथम् ? प्रत्यक्षं कल्पनापोढिमिति चानेन वाक्येनामिधीयते, न चामिधेयमिति कोऽन्यो मदन्ताद्

दूसरे (दिङ्नाग) तो मानते हैं, 'प्रत्यक्षं कल्पनापोढम्,' कल्पना-रहित ज्ञान प्रत्यक्ष है । प्रश्न है (अथ) यह कल्पना क्या है ? (उत्तर) नाम जाति आदि की योजना-वस्तुतः जो न नाम से कहा जाता है, न जाति आदि से वतलाया जाता है, विषय के स्वरूप-मेद का अनुसरण करता है, (अर्थ) का निश्चायक (परिच्छेदक), स्वसंवेद्य (ज्ञान) है वह प्रत्यक्ष है । उन (दिङ्नाग आदि) से यह पूछना है कि 'प्रत्यक्ष' शब्द से किस अर्थ को कहा जाता है ? यदि प्रत्यक्ष (अर्थ) को तो (यह प्रत्यक्ष अर्थ) अवाच्य कसे है ? यदि प्रत्यक्ष (अर्थ) को नहीं कहा जाता तो 'प्रत्यक्ष' शब्द अवाचक होगा। (फिर) यदि प्रत्यक्ष शब्द से सामान्य (लक्षण) कहा जाता है ? यह सामान्य भी क्या प्रत्यक्ष से भिन्न है अथवा अभिन्न (अन्यतिरेकि) ? यदि प्रत्यक्ष से भिन्न है तो प्रत्यक्ष को नहीं कहा गया और यदि अभिन्न है तो (प्रत्यक्ष शब्द ने प्रत्यक्ष अर्थ को) कैसे नहीं कहा। 'कल्पनापोढ' शब्द से भी यदि प्रत्यक्ष (अर्थ) को कहा जाता है तो विरोध है (व्याघातः); यदि (प्रत्यक्ष अर्थ को) नहीं कहा जाता तो 'कल्पनापोढ' शब्द का उच्चारण व्यर्थ है। किञ्च, 'प्रत्यक्षं कःपनापोढम्' यह वाक्य है। तव इस वाक्य का क्या अर्थ है ? यदि प्रत्यक्ष (इसका अर्थ) है ता विरोध (व्याघात) है । कैसे ? इस प्राह्मप्राहकविज्ञानयोरयुगपद्भावात्—जिसका ज्ञान होता है वह घट आदि प्राह्म अर्थ है जो ज्ञान का कारण है, उसका ग्राहक ज्ञान कार्य है अतः ग्राह्म अर्थ और ग्राहक विज्ञान एक साथ नहीं हो सकते जैसा कहा गया है-

भिन्नकालं कथं ग्राह्यमिति चेत् ग्राह्यतां विदुः । हेतुत्वमेव तद्युक्तं ज्ञानाकारापंणक्षमम् ॥ (प्र० वा०२.२४७)

तुल्यमिति अर्थ और ज्ञान के एक साथ रहने (धीनपद्य) में भी उदाहरण नहीं है। अपरे तु—दिङ्नाग (टी०)। कल्पनापोढम् जिस ज्ञान में अर्थतः या स्वरूपतः कल्पना नहीं होती, वह कल्पनापोढ है (टी० २४१)। विषयस्वरूपभेदानुविधायि — घट का प्रत्यक्ष घट के रूप का अनुसरण करता है पट का प्रत्यक्ष पट के स्वरूप का।

[23

प्रत्यक्षम्

न्यायवात्तिकम्

वक्तुमर्हति ? अथ न प्रत्यक्षमस्यार्थः, वर्णोच्चारणमात्रं तह्येतिर् वाक्यं 'प्रत्यक्षं कल्पनापोडम्' इति ।

अनित्यादिशब्दिविषयत्वाच्च न सर्वथा अवाच्यम्, अनित्यं प्रत्यक्षं दुःखं शून्यम् अनात्मकं च प्रत्यक्षम् । एषां चेत् श्रब्दानां विषयतामुपपाति, कथमवाच्यम् ? अथ नोपैति ? न सर्वं संस्कृतमित्यिमत्येतत् तथागतेन आख्यातव्यम् । अथ स्वरूपतो न व्यपदेश्यमित्ययं कल्पनापोढशब्दार्थः ? सर्वेऽर्थास्तिह् प्रत्यक्षाः प्राप्तुवन्ति । कि कारणम् ? न हि किश्चत् सुशिक्षितोऽपि पदार्थानां स्वरूपं निर्वेष्टं शक्नोति, असामिषक-त्वात् । सर्वस्य च वस्तुनो द्वावाकारी सामान्याकारो विशेषाकारश्च । तत्र वस्तु

वाक्य से कहा जाता है (अथवा इस वाक्य का अभिधेय है) कि कल्पना-रिहत (ज्ञान) प्रत्यक्ष है, और इस वाक्य का कोई अभिधेय नहीं, यह बात भदन्त (बौद्ध) से अन्य कौन कह सकता है ? और, यदि प्रत्यक्ष इसका अर्थ नहीं तब तो 'प्रत्यक्षं कल्पनापोढम्' यह वाक्य वर्णों का उच्चारणमात्र होगा।

और, अनित्य आदि शब्दों का विषय होने से (प्रत्यक्ष अर्थ) सर्वथा अवाच्य नहीं होता, प्रत्यक्ष (वस्तु) अनित्य है, दु:ख है, शून्य है और आत्मा से रहित है ? इन शब्दों का यदि (वह) विषय होता है तो अवाच्य कैसे हैं ? यदि (इनका विषय) नहीं होता तब 'सब संस्कृत (धर्म) अनित्य है' यह बुद्ध को नहीं कहना चाहिये। यदि 'कल्पनापोढ' शब्द का अर्थ है, स्वरूप से न कहने योग्य तब तो सभी अर्थ प्रत्यक्ष होने लगेंगे। क्या कारण है ? वस्तुत: (हि) कोई सुशिक्षित भी पदार्थों के स्वरूप का निर्देश नहीं कर सकता, क्योंकि वह संकेत (समय) का विषय नहीं है। और, सभी वस्तुओं के दो आकार होते हैं सामान्य आकार तथा विशेष आकार। उनमें से वस्तु सामान्य आकार से ही कही जाती है विशेष आकार से नहीं। यह भी नहीं कि विशेष आकार से (तथा) न कहे जाने के कारण कही ही न जाये (नोक्त भवति), क्योंकि

परिच्छेदकम् — व्यवस्थापकम्, आत्मसंवेद्यम् — अपने द्वारा अनुभव किया जाने योग्य स्वसंवेदनाः देव तस्य कल्पनारहितत्वमपि । यथाह् — प्रत्यक्षं कल्पनापोढ प्रत्यक्षंणैव सिध्यति, टी० २४१ । प्र॰ वा० २.१२३। आत्मसंवेद्य कहने से इसका स्वतः ज्ञान होना दिखलाया गया है ।

अनित्यादि० —यदि प्रत्यक्ष अर्ज प्रत्यक्ष शब्द का वाच्य नहीं तो आपके द्वारा प्रमाण रूप से माना गया 'सर्वमनित्यम्' आदि शास्त्रवचन भी वाचक न होगा। किर प्रमाण कैसे होगा?

स्वरूपतो न व्यपदेश्यम्—'कल्पनापोढ' शब्द का अर्थ है स्वरूप से न वतलाने योग्य, स्वमसाधारणं रूपं व्यावृत्तमिति यावत्, टी० २४१; स्वलक्षण ।

असामियकत्वात्— सांकेतिक न होने के कारण, समय = संकेत, वस्तु के स्वरूप (स्वलक्षण) में संकेत नहीं किया जाता, नार्थं शब्दाः स्पृशन्त्यि।

हावाकारों — वस्तुतः न्यायमत में वस्तु के तीन आकार हैं सामान्य, विशेष तथा सामान्य विशेष से युक्त (विशिष्ट) । यहां विष्याट वस्तु की दृष्टि से कहा गया है, टी० २४१।

3.5. [8.9.8

न्यायवात्तिकम्

सामान्येनैवाकारेणाभिधीयते, न विशेषाकारेण । न च तथानिमधानात् नोक्तं भवति । न हि मनुष्यशब्दस्य बाह्मणो न वाच्यः । ये तु तस्यासाधारणधर्माः पुरुषान्तरव्यावृत्त-प्रत्ययहेतवो न तैः सहाभिधीयते । न च तैः सहानिभधानान्नोक्तो भवतीति । एवं प्रत्यक्षम् अपि सामान्यविशेषाकारवत्, तस्य विशेषाकारेण नाभिधानम्, सामान्याकारेण त्विभधानमेव । यदि च विशेषाकारेणानिभधानम्, यत् तल्लक्षणं प्रत्यक्षस्य, न केवलं प्रत्यक्षस्य, त्रै तोक्यस्यैतल्लक्षणम् । एवं च प्रत्यक्षस्य लक्षणं नोक्तं स्यात् । अथ कल्पनापोढशब्देन प्रत्यक्षस्य स्वरूपमिभधीयते, एवसपि अनिवृत्तो व्याधातः, स्वरूपं चानिभधेयम्, अनेन च शब्देशोच्यत इति । अथानेन शब्देन नैव किञ्चिदिमधीयते, किमस्य शब्दस्योच्चारणसामर्थ्यं 'प्रत्यक्षं कल्पनापोढिमिति ? अप्रतिपादकत्वान् मूक स्वप्नसद्शमेतत् । एवं यथा यथेदं लक्षणं विचार्यते, तथा तथा न्यायं न सहते, इति । सत्संप्रयोगे प्रस्वस्येन्द्रयाणां विद्यालम् तत्प्रत्यक्षमिति । एतदपि संश्यास्य त्पत्ति-

सत्संप्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षमिति । एतदिष संशयाद्युत्पत्ति-निभित्तत्वादलक्षणमिति; तथा चोक्तं प्रत्यक्षसूत्रं वर्णयदिभरिति ।

मनुष्य शब्द का वाच्य ब्राह्मण नहीं है. ऐसा नहीं; किन्तु जो उसके अन्य पुरुषों से भिन्न प्रतीित के निमित्त होने वाले असाधारण धर्म हैं उनके सहित (मनुष्य शब्द से) नहीं कहा जाता। किञ्च, ऐसा नहीं कि उसके सहित न कहा जाने से (वह) कहा ही नहीं जाता। इसी प्रकार प्रत्यक्ष भी सामान्य तथा विशेष आकार वाला है। उसका विशेष आकार से कथन नहीं होता; सामान्य आकार से तो कथन होता ही है। और, यदि विशेष आकार से कथन नहीं होता तो जो वह प्रत्यक्ष का लक्षण है, वह केवल प्रत्यक्ष का ही नहीं अपि तु तीनों लोकों (के पदार्थों) का यह लक्षण होगा। इस प्रकार प्रत्यक्ष का लक्षण न कहा जा सकेगा। (फिर) यदि 'कल्पनापोढ' शब्द से प्रत्यक्ष का स्वरूप कहा जा रहा है, इस प्रकार भी विरोध (व्याधात) की निवृत्ति नहीं होती, क्योंकि (च) स्वरूप का कथन नहीं हो सकता और इस शब्द से (स्वरूप) कहा जा रहा है। यदि इस शब्द से कुछ भी नहीं कहा जाता तो 'कल्पनापोढं प्रत्यक्षम्' इस शब्द के उच्चारण का क्या अभिप्राय (सामर्थ्य) है ? किसी अर्थ का बोधक न होने के कारण यह गूंगे के स्वप्न के समान है। इस प्रकार जैसे जैसे इस लक्षण पर विचार किया जाता है वेसे-वेसे यह औचित्य (न्यायम्) को नहीं सहन करता।

एवं प्रत्यक्षमिए—प्रत्यक्ष के भी दो आकार हैं एक सामान्य, दूसरा विशेष । यदि विशेष आकार में 'कल्पनापोढं' शब्द से नहीं कहा जाता तो यह प्रत्यक्ष का लक्षण नहीं हो सकता । लक्षण तो किसी वस्तु का असाधारण धर्म होता है ।

अय कल्पना० - पूर्वपक्ष का भाव है : अश्वकर्ण आदि शब्द के समान कल्पनापीढ शब्द भी अव्यु-

त्पन्न है तथा प्रत्यक्ष के स्वरूप का वाचक है।

एवमिपि "ट्याघात: —सिद्धान्ती का आशय है : दौद्ध के मत में शब्द के द्वारा अभिन्नेय का स्व-रूप नहीं कहा जाता; किन्तु कल्पनापोढ शब्द से प्रत्यक्ष का स्वरूप कहा जा रहा है, यह ब्याधात है। 200

[प्रत्यक्षम्

न्यायसूत्रं भाष्यं च

अथ तत्पूर्वकं त्रिवधिमनुमानं पूर्ववच्छे षवत्सामान्यतो हष्टं च

तत्पूर्वकिमत्यनेन लिङ्गलिङ्गिनोः सम्बन्धवर्शनं लिङ्गदर्शनं चामि-संबध्यते। लिङ्गलिङ्गिनोः संबद्धयोर्दर्शनेन लिङ्गस्मृतिरिभसंबध्यते। स्मृत्या लिङ्गदर्शनेन चाप्रत्यक्षोऽर्थोऽनुमीयते।

न्यायवात्तिकम्

एतेन प्रत्यक्षम् इन्द्रियार्थसन्निकर्षमनः प्रकाशिवशेषेषु सित्स्विति प्रत्युक्तम्, तथा श्रोत्रादिवृत्तिरिति । किं कारणम् ? पञ्चपदपरिग्रहेण प्रत्यक्षलक्षणमुक्तम्, यत्रान्यतमपदपरिग्रहो नास्ति, तत् प्रत्यक्षाभासमिति । एवमनेन न्यायेन यान्यप्यनुक्तानि लक्षणानि तान्येतस्मात् न भिद्यमानानि न लक्षणानीति । व्याख्यातं प्रत्यक्षलक्षणमिति । १।१।४॥

अब (अथ) प्रत्यक्ष (तत्) पूर्वक तीन प्रकार का अनुमान होता है—पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतो दृष्ट । १।१।४॥

'तत्पूर्वक इस शब्द से लिङ्ग (धूम आदि) और लिङ्गी (अग्नि आदि) के सम्बन्ध का दर्शन तथा पर्वत आदि में लिङ्ग का दर्शन इन (दोनों) का अन्वय (सम्बन्ध) होता है। सम्बन्ध युक्त (सम्बद्ध) लिङ्ग तथा लिङ्गी के दर्शन से लिङ्ग की स्मृति का सम्बन्ध हो जाता है। स्मृति तथा लिङ्गदर्शन से अप्रत्यक्ष विषय (अर्थ) का अनुमान होता है। [मीमांसासूत्रोक्त प्रत्यक्षलक्षण की समीक्षा]

वस्तु के साथ सिन्तिकर्ष होने पर (संप्रयोगे) जो पुरुष की इन्द्रियों को ज्ञान होता है, वह प्रत्यक्ष है, यह भी संशय आदि की उत्पत्ति का निमित्त होने से ठीक लक्षण नहीं (अलक्षणम्) जसा कि प्रत्यक्ष के लक्षण की व्याख्या करते हुए कहा जा

चुका है।

इस कथन से (एतेन) विशेष प्रकार का इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष, मन तथा प्रकाश होने पर प्रत्यक्ष होता है (?) इसका भी निराकरण हो गया; उसी प्रकार श्रोत्र आदि का व्यापार (वृत्ति प्रत्यक्ष है) इस (वार्षगण्य के प्रत्यक्षलक्षण) का भी। क्या कारण है ? (न्यायसूत्र में) पाँच पदों का ग्रहण करके प्रत्यक्ष का लक्षण कहा गया है; जहाँ उनमें से किसी एक (अन्यतम) पद का ग्रहण नहीं वह प्रत्यक्षाभास है। इस प्रकार इसी न्याय से जो यहाँ अनुक्त लक्षण हैं, वे यदि इस (उपर्युक्त) लक्षण से भिन्न नहीं हैं तो (प्रत्यक्ष के) लक्षण नहीं होते। १।१।४॥

प्रत्यक्ष के लक्षण की व्याख्या कर दी गई।।

सत्संप्रयोगे—मीमांसासूत्र १.१.४, तह जैमिनि का लक्षण है (टी० २४२) । सित इन्द्रियार्थसम्बन्धे

या पुरुषस्य बुद्धिर्जायते, तत् प्रत्यक्षम्, शावरभाष्य । एतेन "प्रत्युक्तम् यह किसका लक्षण है? यह वार्तिक, तात्पर्यटीका तथा परिशुद्धि से विदित नहीं होता ।

श्रोत्रादिवृत्तिरिति—यह वार्षगण्य का लक्षण है, वार्षगण्य स्यापि लक्षणमयुक्तिमत्याह, श्रोतादिवृ त्तितिति, टी०२४२ 8 8.4]

1 303

न्यायवात्तिकम्

अय तत्पूर्व पं त्रिविधमनुमानमिति । अथेत्यानन्तर्ये । अनुमानविशेषणार्थं सूत्रम् । तत्पूर्व तमनुमानमित्यनेन समानासमानजातीयेभ्योऽनुमानं व्यवच्छिद्यते इति । तानि ते तत् पूर्व यस्य तिवदं तत्पूर्व कम् । यदा तानीति विग्रहः, तदा समस्तप्रमाणाभिसंबन्धात् सर्वप्रमाणपूर्वकत्वमनुमानस्य विणतं भवति । पारम्पर्येण पुनस्तत् प्रत्यक्ष एव व्यव-तिष्ठते इति प्रत्यक्षपूर्वकत्वमुक्तं भवति । यदापि विग्रहः ते हे पूर्वे यस्येति, ते हे प्रत्यक्षे पूर्वे यस्य प्रत्यक्षम् निज्ञत्वक्षं प्रत्यक्षम् इति । कतरे हे प्रत्यक्षे ? लिङ्ग-तिङ्गिमन्वन्थदर्शनमाद्यं प्रत्यक्षम् , लिङ्गदर्शनं च द्वितीयम् । वुभुत्सावतो द्वितीयात् लिङ्गदर्शनात् संस्काराभिव्यक्त्यनन्तरकालं स्मृतिः, स्मृत्यान्तरं च पुर्नालङ्गदर्शनमयं धूम इति । तिदिवमन्तिमं प्रत्यक्षं पूर्वाभ्यां प्रत्यक्षाभ्यां स्मृत्या चानुगृह्यमाणं लिङ्गपरामर्गक्षपमनुमानं भवति ।

अथ तत्पूर्वकम् इत्यादि (सूत्र) है। 'अथ' शब्द आनन्तयं अर्थ में है। अनुमान की विशेषता (बिग्रेपण = लक्ष्म) दिखलाने के लिये सूत्र है। 'तत्पूर्वकम् अनुमानम्' इस से समानजातीय (प्रत्यक्ष आदि) और असमानजातीय (अनुमानाभास आदि) से अनुमान को पृथक् किया गया है। वे सब (तािन), वे दोनों (ते) और वह (तत्) है पूर्व जिसके वह यह 'तत्पूर्वक' है। जब वे सब यह विग्रह है तब सभी प्रमाणों का सम्बन्ध होने से अनुमान को 'सर्वप्रामाणपूर्वक' कहा जा सकता है। किन्तु परम्परा से वह (अनुमान) प्रत्यक्ष में ही व्यवस्थित होता है अतः प्रत्यक्षपूर्वक कहा जा सकता है। जब विग्रह है वे दो हैं पूर्व जिसके वे दो प्रत्यक्ष हैं पूर्व जिस प्रत्यक्ष के, वह यह तत्पूर्वक प्रत्यक्ष है। कौन से दो प्रत्यक्ष ? लिङ्ग-लिङ्गी के सम्बन्ध का दर्शन प्रथम प्रत्यक्ष है । कौन से दो प्रत्यक्ष है। जानने की इच्छा वाले को द्वितीय लिङ्गदर्शन से संस्कार की अभिन्यक्ति के पश्चात् स्मृति होती है और स्मृति के पश्चात् फिर लिङ्गदर्शन होता है 'यह (अग्नि का लिङ्ग) थूम है, वह यह अन्तिम प्रत्यक्ष पहले दोनों प्रत्यक्षों से तथा स्मृति से अनुगृहीन होकर लिङ्गपरामर्श रूप अनुमान होता है।

न भिद्यमानानि — यदि यहाँ 'न' नहीं होगा तब तात्पर्य यह होगा, यदि वे न्यायसूत्रोक्त प्रत्यक्ष

लक्षण से भिन्न हैं तो लक्षण नहीं।
अथ ''अनुमानम्—अथ = अनन्तर, प्रत्यक्ष के अनन्तर; प्रत्यक्ष हेतु है, अनुमान हेतुमत् है। जो
अथ ''अनुमानम्—अथ = अनन्तर, प्रत्यक्ष के अनन्तर; प्रत्यक्ष हेतु है, अनुमान हेतुमत् है। जो
चार्वाक अनुमान को प्रमाण नहीं मानता उसके प्रति अनुमान की सिद्धि की गई है (टी० ३०२)।
तत्पूर्वकम्—वात्तिककार ने इसके तीन विग्रह किये हैं और कहा है लिङ्गपरामर्ग रूप (तृतीय लिङ्ग
कान) ही अनुमान है, यही उत्तरकाल में न्याय में स्वीकृत किया गया है। वाचस्पित मिश्र ने इसी
प्रसङ्ग में बौद्धन्याय के मत का खण्डन किया है।
न, अनियमात्—यह एकदेशी का मत है, जो अनियमवादी है, जिसका करण होता है उसी में

किया होती है, इस नियम को बह नहीं मानता। तन्न-यहां सिद्धान्ती की ओर से एकदेशी के मत का खण्डन किया गया है। यह नियम है कि प्रमाण और फल का विषय-भेद नहीं होता। यद्यपि लिङ्गज्ञान का विषय लिङ्ग (अूम) है तथापि

न्यायवात्तिकम्

कः पुनरनुमानार्थः ? अनुमीयतेऽनेनेति करणार्थः । कि पुनरस्य फलम् ? अिन्निविषया प्रतिपत्तिरिति । कथं पुनरन्यविषयं करणमन्यविषयं क्रियां करोति ? निह् शाल्यादिविषयस्य मुसलादेः करणस्य श्यामाकेष्विभिन्नतिर्भवित । न, अिनयमातः इत्येके । यद्विषयं करणं तद्विषया क्रियेति न नियमोऽस्ति । दृष्टा हि वृक्षादिविषयस्य छेदनस्यावयथेषु क्रिया । वृक्षित्रछ्ञ्चते, अवयवेषु छिदा भवित । क्विच्च् पुनर्यद्विषयं करणं तद्विषयं क्रिया । यथा तण्डुलाः पच्यन्ते, पाकस्तेष्वेच । क्विच्च् पुनर्यात्मेव भवित कर्ता करणं च, क्रिया च तस्यैव । तद्यथा वृक्षित्रष्ठतिति । किमुक्तं भवित ? वृक्षः स्वात्मना तिष्ठतीति । किमुक्तं भवत्यात्मनेति ? यस्मादयं स्वस्थितौ कारकान्तरं न प्रयुङ्कते इति । एवमन्यविषयस्य करणस्यान्यविषया क्रियेति । क्विच्च् पुनर्यद्विषयं प्रमाणं तद्विष्ययेव क्रिया, यदा स एवार्थः प्रमीयत इति । कि पुनस्तस्य प्रमीयते, प्रिमित्वात्वेव क्रिया, यदा स एवार्थः प्रमीयत इति । कि पुनस्तस्य प्रमीयते, प्रिमित्वात्वेव क्रिया, यदा स एवार्थः प्रमीयत इति । कि पुनस्तस्य प्रमीयते, प्रिमित्वात्वेव क्रिया, यदा स एवार्थः प्रमीयत इति । कि पुनस्तस्य प्रमीयते, प्रमित्तवात् ? प्रमीयते हेयत्वेनोपादेयत्वेनोपेक्षणीयत्वेन वावगम्यत इति । तन्त, प्रमाण्कलयोविषयभेदानभ्युपगमात् ।

यदा पुनस्तत् पूर्वं यस्य तदिदं तत्पूर्वकिमिति, तदा भेदस्याविविक्षतत्वात्

फिर अनुमान का क्या अर्थ है। जिससे अनुमिति की जाती है। अनुमीयतेऽनेन यह करण अर्थ है। और इस (अनुमान) का फल क्या है? अग्नि के विषय में ज्ञान होना । (शङ्का) किन्तु अन्य (धूम) विषयक करण अन्य (अग्नि) के विषय में किया कैंसे करता है। क्यों कि शालि आदि का जो करण मुसल आदि होता हैं उसका समाई (श्यामाक) पर अभिघात (अभिहति-चोट) नहीं होता ? कोई (एके-एकदेशी) इस पर कहते हैं यह ठीक नहीं अनियम होने से-जिसका करण होता है, उसमें ही किया होती है, यह नियम नहीं है, क्योंकि वृक्षादिविषयक छेदन (काटने) की अवयदों में किया देखी गई है, वृक्ष काटा जाता है, अवयवों पर कटने की किया (छिदा) होती है। और कहीं जिसका करण होता है उसमें ही किया होती है, जैसे चावल पकाये जाते हैं, उनमें ही पाक होता है। और, कहीं वस्तु का स्वरूप (आत्मा) ही कर्ता तथा करण होता है तथा किया भी उसकी ही होती है, जैसे वृक्ष खड़ा है। क्या अर्थ है ? वृक्ष अपने आप खड़ा है, क्या अभिप्राय है अपने आप का ? क्यों कि यह अपने खड़े होने (स्थिति) में अन्य कारक का प्रयोग नहीं करता। इस प्रकार अन्यविषयक (धूमिविष-यक) करण की अन्य (अग्नि के) विषय में क्रिया होती है, किन्तु कहीं जिसके विषय में करण होता है उसके विजय में ही किया होतो है, जब उसी अर्थ की प्रमिति की जाती है। किन्तु उसकी क्या प्रमिति की जाती है, वह तो प्रमित ही है ? प्रमिति की जाती है (प्रमीयते) का भाव है त्याज्य रूप से ग्राह्म रूप से अथवा उपेक्षणीय रूप से जाना जाता है। [एकदेशी के मत का निराकरण] वह (मत) नहीं, क्योंकि प्रमाण और फल के विषय का भेद नहीं माना जाता।

और, जब बह (तत्-प्रत्यक्ष) है पूर्व जिसके वह यह तत्पूर्वक है (यह विग्रह लिङ्गी (अग्नि) के विषय में ज्ञान उत्पन्न करने के कारण वह लिङ्गी के विषय में होता है क्यों कि

लिङ्ग तथा लिङ्गी में स्वाभाविक सम्बन्ध है।

203 2.2.4

न्यायवात्तिकम

लिङ्गालिङ्गिसम्बन्धदर्शानानन्तरलिङ्गदर्शनसम्बन्धस्मृतिभिलिङ्गपरामशौ विशिष्यते, तस्य तत्पूर्वकत्वात् । किं पुनस्तैरनुमीयते ? शेषोऽर्थ इति । अनुमानमित्यत्र किं कारकम ? भावः, करणं वा । यदा भावः, तदा हानादिवुद्धयः फलम् । यदा करणम्,

तदा शेववस्तूपरिच्छेदः फलमिति ।

लिङ्गलिङ्गिसन्बन्धस्मृतिः, लिङ्गदर्शनं वेति सन्देहः। एके तावद् वर्णयन्ति लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धस्मृतिरनुमानम्, इतर्रेलिङ्गलिङ्गिसम्बन्धदर्शनादिभिरनुगृह्य<mark>माणा</mark> । अपरे पुतर्मन्यन्ते लिङ्गपरामर्शोऽनुमातम्, इतरैरनुगृह्यमाण इति । वयं तु पत्रयामः सर्वमनुमानम्, अनुमितेस्तन्नान्तरीयकत्वात् । प्रधानोपसर्जनभावविवक्षायां तु लिङ्ग-परामर्श इति न्याय्यम् । कः पुतरत्र न्यायः ? आतन्तर्यप्रतिपत्तिः । यस्मात् लिङ्ग-पराम र्जाद् अनन्तरं शेवार्थप्रतिपत्ति रिति, तस्मात् लिङ्गपरामर्शो न्याय्य इति ।

किया जाता) है तब भेद को कहने की इच्छा न होने से लिङ्ग तथा लिङ्गी के सम्बन्ध का देखने के पश्वात् लिङ्गदर्शन और सम्बन्धस्मृति के द्वारा लिङ्गपरामर्श को युक्त (=बिशिष्यते = बिशिष्ट) किया जाता है, क्योंकि वह (लिङ्गपरामर्श) तत्पूर्वक (लिङ्गदर्शन और सम्बन्धस्मृतिपूर्वक) होता है। फिर उनसे किसंका अनुमान किया जाता है । राष अर्थ (अग्नि आदि) का । अनुमान, इसमें क्या कारक है (अनुमान राब्द की ब्युत्पत्ति किस अर्थ में होती है) ? भाव या करण। जब भाव अर्थ में (ब्युत्पत्ति होती) है, तब त्यागवुद्धि आदि फल हैं। जब करण (अर्थ में ब्युत्पत्ति) है तंब रोप बस्तु (अग्नि आदि) का ज्ञान फल है।

लिङ्ग तथा लिङ्गी के सम्बन्ध की स्मृति अथवा (तृतीय) लिङ्गदर्शन अनुमान है, यह सन्देह है। कोई (एके=आवार्यदेशीय) तो कहते हैं कि अन्यों, अर्थात् लिङ्ग तया लिङ्गी के सम्बन्ध दर्शन आदि से अनुगृहीत लिङ्ग तथा लिङ्गी के सम्बन्ध की स्मृति अनुमान है। किन्तु दूसरे मानते हैं अन्यों के द्वारा अनुगृहीत किया गया लिङ्ग-परामर्श अनुमान है। हम (वार्तिककार) तो देखते हैं -- यह सब ही अनुमान है; क्योंकि अनुमिति सब के (तत्) विना नहीं होती (अन्तरा न भवति = नान्तरीयकः)। प्रधान और गौण होने की विवक्षा होने पर तो लिङ्गपरामश अनुमान है, यही युक्तियुक्त (न्याय्यम्) है। इसमें क्या युक्ति है? अनन्तर (साध्य का) ज्ञान होता; क्योंकि लिङ्गपरामर्श के एकदम पश्चात् शेष अर्थ का ज्ञान हो जाता है, इसलिये लिङ्ग-परामर्श (अनुमान) है, यह युक्तियुक्त है।

यदा ... तत्पूर्यकत्वात् — 'तानि ते' इन दो निग्रहों की परस्परापेक्षा दिखलाकर यहां 'तानि तत्' इन

दो बिग्रहों की परस्परापेक्षा दिखलाई गई है (टी॰ ३१२)।

लिङ्गलिङ्गि परामर्शः—लिङ्गलिङ्गिसम्दन्धदर्शनं च अनन्तरलिङ्गदर्शनं च तत्समृतिश्चेति विग्रहः (टी० ३१२) । वहां यह समस्त पद माना गया है 'अनन्तरम्' नहीं 'अनन्तर' पाठ है । िक पुन: : शोबोऽर्थ: --- प्रश्न का आशय है -- यदि प्रमाण और फल का विषय एक होता है तो परामर्श ज्ञान का विषय ही अनुमान का विषय होगा। वह (धूम आदि) प्रत्यक्ष का विषय ही है फिर

न्यायवातिकम

स्मृतिर्न प्रधानम् । किं कारणम् ? स्मृत्यनन्तरमप्रतिपत्तेः — न हि भवति यत्र धूममद्राक्षं तत्राग्निमद्राक्षमिति, एतस्याश्च स्मृतेरनन्तरं तस्मादग्निरिति शेषार्थं ग्रह इति युक्तं वक्तुम् । तस्मात् स्मृत्यानुगृह्यमाणो लिङ्गपरामर्शोऽभोष्टार्थं प्रतिपादको भवतीति । एवं चोपनयस्यार्थं वत्ता—यदि चायं स्मृत्यानुगृहीतो लिङ्गपरामर्शोऽनुमानं भवति, एवं सित उपनयोऽर्थवानिति । एवं च सित वाक्याङ्गत्वमुपनयस्योक्तं भवति । तस्माद् व्यवस्थितमेतत् तत्पूर्वकमनुमानियति ।

यदि प्रत्यक्षपूर्वकमनुमानं संस्कारे निर्णये च प्रसङ्ग इति-प्रत्यक्षपूर्वको भावनाख्यः स्मृतिहेतुः संस्कारो निर्णयक्षच प्रत्यक्षपूर्वकत्वाद अनुमानं प्रसज्यत इति । नैष दोषः, विज्ञानस्याधिकृतत्वात्—इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानिमिति, ज्ञानाधिकारो वर्तते इति तेन न संस्कारेऽतिप्रसङ्गः । निर्णयस्तूभयथाः कदाचित् प्रमाणं कदाचित् फलम् । स्वविषयपरिच्छेदकत्वात् फलम् । स्वविषयपरिच्छेदकत्वात् फलम् । स्वविषयपरिच्छेदकत्वात् फलम् ।

(लिङ्ग तथा लिङ्गी के सम्बन्ध का) स्मृति ता प्रवान नहीं । क्या कारण है ? स्मृति क अनन्तर (साध्य का) ज्ञान न होने से — जहाँ मैंने घूम देखा था वहाँ अग्नि को देखा था, इस स्मृति के अनन्तर 'इसलिये यहाँ अग्नि है' इस प्रकार शेप अर्थ का गृहण हो जाता है, यह कहना युक्त नहीं है । अतः स्मृति से अनुगृहीत लिङ्गपरामर्श अभीष्ट अर्थ का बोधक होता है । तभी उपनय सप्रयोजन (अर्थवत्) है — यदि स्मृति से अनुगृहीत लिङ्गपरामर्श अनुमान होता है, ऐसा होने पर (ही) उपनय सप्रयोजन होता है और इसी प्रकार से उपनय को (अनमान) वाक्य का अवयव कहा जा सकता है इसलिये यह निश्चित है कि अनुमान प्रत्यक्षपूर्वक (तत्पूर्वक) होता है ।

(आक्षेप) यदि प्रत्यक्षपूर्वंक अनुमान है तो संस्कार (भावना) और निर्णय में भी अनुमान का लक्षण जाने लगेगा (प्रसङ्गः)—भावना नामक स्मृति का हेतु सस्कार और निर्णय भी प्रत्यक्षपूर्वंक होने से अनुमान होने लगेगा (प्रसज्यते)। [परिहार] यह दोष नहीं, विज्ञान का अधिकार होने से —'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न ज्ञानम्' यहाँ से ज्ञान का अधिकार है, इसलिये संस्कार में अतिप्रसङ्ग न होगा। निर्णय तो दोनों प्रकार का है; कभी प्रमाण है और कभी फल। अपने विषय का निश्च।यक होने से पल है, और शेष का बोधक होने से प्रमाण है।

परामशं से किसका अनुमान होगा। 'शेषोऽर्थः' का आशय यह है कि प्रत्यक्ष से जाने गये लिङ्ग की शेष (अन्य) जो लिङ्गी (अग्नि आदि) है वही लिङ्गपरामर्श का विषय है।

भाव: = ब्यापार । द्रव्य आदि ही कारक नहीं होते अपि तु ब्यापार भी कारक होता है । ब्यापार भी सिद्ध अवस्था में फल का निमित्त हो सकता है; अग्नि की प्रमा सिद्ध होकर हानादि बुद्धि की निमित्त होती है । दाहपाक आदि का निमित्त होने से अग्नि उपादेय है, यह बुद्धि अनुमान का फल है अतः अनुमान शब्द की 'अनुमीयते इति अनुमानम्' यह भावार्थक ब्युत्पत्ति मानी जाती है ।

यदा करणम्—जब 'अनुमीयतेऽनेनेति अनुमानम्' यह व्युत्पत्ति है तो अग्नि का ज्ञान ही अनुमान की फल होता है।

1 30% 2.2.4]

न्यायवात्तिकम

त्रिविधम् इति । अन्वयन्यतिरेकी, अन्वयी, न्यतिरेकी चेति । तत्रान्वयन्यतिरेकी विवक्षिततज्जातीवीपपत्ती विपक्षावृत्तिः, यथा अनित्यः शब्दः सामान्यविशेषवत्त्वे सित अस्मदादिबाह्यकरणप्रत्यक्षत्वाद् घटादिवदिति । अन्वयी विवक्षिततज्जातीयवृक्तित्वे सति विपक्षहीतः; यथा सर्वानित्यत्ववादिनाम् 'अतित्यः शब्दः कृतकत्वादिति । अस्य हि विपक्षो नास्ति । व्यतिरेकी विवक्षितव्यापित्वे सति सपक्षाभादे सति विपक्षावृत्तिः; यथा नेदं जीवच्छरीरं निरात्मकम् अप्राणादिमत्त्वप्रसङ्गादिति ।

अथवा त्रिविधमिति, पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतोद्यटं चेति । पूर्वं साध्यम्, तद् व्याप्त्या यस्यास्तीति तत् पूर्ववत् । साध्यतज्जातीयः रे शेषः, स यस्यास्ति तत् शेषवत् । पूर्ववन्नाम साध्यव्यापकम् । शेषविदिति तत्समानेऽस्ति । सामान्यतःचाद्यदम् । च-शब्दात् प्रत्यक्षागमाविरुद्धं चेति । एवं चतुर्लक्षणं पञ्चलक्षणमनुमानमिति ।

त्रिविधम् इति (सूत्र) तीन प्रकार का है — अन्वयव्यतिरेकी, अन्वयी और व्यतिरेकी (यह वात्तिककार की उद्भाष्य व्याख्या है, टी० ३१३)। उनमें अन्वयव्यतिरेकी वह है जो पक्ष (विर्वाक्षत) में तथा (तज्जातीय) मे उपपन्न होने पर विपक्ष में नहीं रहता; जैसे शब्द अनित्य है, सामान्य विशेष वाला होकर हमारी वाह्य इन्द्रिय से प्रत्यक्ष होने के कारण, घट आदि के समान । अन्वयी वह है जो पक्ष तया सपक्ष में ह।ता है; जिसमें विपक्ष नहीं होता; जैसे सबको अनित्य मानने वालों के यहाँ 'शब्द अनित्य है कृतक होने से' इसका विपक्ष ही नहीं है । व्यतिरेकी वह है जो पक्ष में सर्वत्र (व्यापी) है, जिसका सपक्ष नहीं है और जो विपक्ष में नहीं रहता, जैसे यह जीवित शरीर आत्मारहित नहीं, (क्योंकि) प्राण आदि के अभाव वाला होने लगेगा।

अथवा त्रिविध है—-पूर्ववत् शेषवत् और सामान्यतोदण्ट । पूर्व (का अर्थ) है साध्य, वह व्याप्ति से जिसका है (अर्थात् पक्ष में सर्वत्र स्थित) वह पूर्ववत् (अनुमान) है। साध्यसामान्य के समान शेष है वह जिसका हे ऐसा शेषवत् (अनुमान) है। (पदों का अर्थ है) साध्य में सर्वत्र रहने वाला पूर्ववत् है, साध्य के समान में रहने वाला शेपवत् है ओर सामान्यतः न देखा गया (अद्दष्टम्) सामान्यतोऽद्दष्ट है । (सूत्र में) 'च' (और) शब्द से प्रत्यक्ष तथा आगम के विरुद्ध न होने वाला लिया जाता है। इस प्रकार चार लक्षण वाला अथवा पाँच लक्षण वाला अनुमान होता है।

सन्देह:— सिङ्गलिङ्गिसम्बन्धस्मृति अनुमिति का करण है या तृतीय लिङ्गदर्शन (परामर्श) यह सन्देह है । यहां एके (आचार्यदेशीय), अपरे (अन्यमत) तथा 'वय तु' (स्वकीय मत) कहकर स्पष्ट किया गया है। स्वमत से सभी मिलकर अनुमिति के करण हैं यदि कौन प्रधान है, कौन गौण यह कहना है तो लिङ्गपरामर्श प्रधान है वही अनुमान है।

विज्ञानम् — विशिष्ट ज्ञान, स्मृतिभिन्न ज्ञान; विशिष्टज्ञानं विज्ञानम्, विशेषश्च स्मृतेरन्यत्वम्, टी० ३१३।

नैष दोष: -- संस्कार तो प्रत्यक्षपूर्वक होकर भी ज्ञान नहीं है। निर्णय जब फल रूप है तब प्रमाण न होने से अनुमान नहीं, जब वह प्रमाण है तो अनुसान के रूप में भी होता है।

१. साध्यसजातीयः, कः, साध्यतज्जातीयः, ख. (टीका च)।

[अनुमानम्

न्यायभाष्यम्

पूर्वविदिति, यत्र कारणेन कार्यमनुसीयते; यथा मेघोन्नत्या भविष्यति वृष्टिरिति ।

न्यायवात्तिकम्

अथवा त्रिविधमिति, पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतो दृष्टं चेति । तत्र पूर्वक्न्नाम यत्र कारणेन कार्यमनुमीयते' इति भाष्यम् । कि पुनिरदमुक्तं भवित कारणेन कार्यमनुमीयते इति ? यदि तावदयमर्थः कारणदर्शनात् कार्यास्तित्वं प्रतिपद्यते इति ? तन्नास्ति न हि कारणं गृहीत्वा कश्चित् स्वस्थात्मा कार्यं प्रतिपद्यते इति । तथा च व्याहतं भवतिति । अथ पुनरेवमनुमीयते थत्र कारणं तत्र कार्यभिति ? एतदिय नास्ति । कार्यका-

पूर्ववत् (सूत्र) — जहाँ कारण से कार्य का अनुमान किया जाता है; जैसे मेघाँ के उमड़ने से (उन्नत्या) वर्षा होगी (यह अनुमान)।

[भाष्य की व्याख्या टी॰ ३१६] अथवा तीन प्रकार हैं पूर्ववत् शेषवत् और सामान्यतो दृष्ट । उनमें पूर्ववत् वह है जहाँ कारण से कार्य का अनुमान किया जाता है, यह भाष्य है । (आक्षेप) कारण से कार्य का अनुमान किया जाता है, इसका क्या अभिप्राय है (उक्त भवति) ? यदि यह अर्थ है कि कारण को देखकर कार्य की सत्ता जान ली जाती है, वह नहीं; क्योंकि कोई स्वस्थ चित्त (आत्मा) वाला कारण का ग्रड्ण करके कार्य को नहीं जान लेता ! अतः (यह कथन) (अनुभव के) विरुद्ध है। और, यदि इस प्रकार अनुमान किया जाता है कि जहाँ कारण होता है, वहाँ कार्य

त्रिष्ठिधम् — सुत्र के 'त्रिविधम्' शब्द को अर्थगौरव के प्रति आदर के कारण वार्तिककार ने भाष्य से ऊपर होकर (उद्भाष्य) व्याख्यात किया है (द्र० टी० ३१३)।

विवक्षितोपपत्तिः = पक्षधमंता, तज्जातीयोपपत्तिः = अन्वयः (सपक्षसत्त्व), विपञ्जावृत्तिः = व्वतिरेक ।

यथा सर्वानित्यत्ववादिनाम्—न्यायमत में उदाहरण है; अभिधेयो विशेषः प्रमेयत्वात् सामा-न्यवत् ।

अथवा त्रिविधमिति—सूत्र के पूर्ववत् आदि के साथ एकवाक्यता करके व्याख्या की गई है।

पूर्ववन्नाम—यहाँ पूर्ववत् जादि का अर्थ करते हैं, सामान्यतोदृष्टं का 'सामान्यतोऽदृष्टम्' यह छेद करके व्याख्या की गई है।

चिश्रब्दात् -- सूत्र के च शब्द से अबाधितत्व कहा गया है । वात्तिक के 'च' शब्द से असत्प्रतिपक्षत्व सूचित किया गया है (द्र० टी॰ ३१४) ।

एवम्—भाव यह है; अबाधित, असत्प्रतिपक्ष, पूर्बवत् (साध्यवत्) को हेतु के तीनों प्रकारों में स्थिर मानकर 'शेषवत्' यह प्रथम प्रकार है, सामान्यतोदृष्ट यह द्वितीय प्रकार है। ये दोनों केवतान्वयी तथा केवलव्यतिरेकी हेतु चार लक्षणों से युक्त होते हैं, केवलाव्ययी में विपक्ष नहीं होता तथा केवलव्यतिरेकी में सपक्ष । शेषवत् सामान्यतोदृष्टं च यह तृतीय प्रकार है जो अन्वयव्यतिरेकी है तथा पाँच लक्षणों से मुक्त है (द्र० टी.० ३१४)।

2.8.4]

1 200

न्यायभाष्यम्

शेषवत्तत् यत्र कार्येण कारणमनुमीयते, पूर्वीदकविपरीतमुदकं नद्याः पूर्णत्वं शीझत्वं च दृष्ट्वा स्रोतसो जुमीयते भूता वृष्टिरिति । न्यायवात्तिं कम्

रणयोमिन्नदेशत्यात्—तन्तवः स्वावयवेषु अंशुष्, पटस्तन्तुष्विति । कारणदर्शनाच्च कार्य-मनुमीयते इति बुवाणोऽनुमानमुद्रां भिनत्ति । का पुनिर्यमनुमानमुद्रा ? नानुपलब्धे न निर्णीते न्यायः प्रवर्तते' इति । यदि कारणदर्शनात् कार्यमनुभीयते, अनुपलब्धेऽर्थे न्यायः प्रवर्तते' इति स्यात् । तथा च व्याहतं स्यात् । न, अनभ्युपगमात्—क एवमाह कारणदर्शनात् कार्यास्तित्वं प्रतिपद्यते इति । को वा ब्रवीति यत्र कारणं तत्र कार्यमिति ? कार्यं नु कारणविशेषणत्वेनोपयुवतं गुणभूतम् अनुभीयते इति सूत्रार्थः । तथा च न मुद्राभेद इति ।

एवं शेषवदादिष्विप व्याख्येयम् । तत्रापि कारणं कार्यस्याङ्गभूतमनुमीयते इति । कथं पूनः शेषशब्देन कार्यमुच्यते ? द्वयोरनुमानभावेनोपक्षिष्तयोः कारणस्योपयोगाद् अनुप

शेषवत् वह है जहाँ कार्य से कारण का अनुमान किया जाता है; पहले (जल) से विपरीत जल, नदी की पूर्णता और प्रवाह की शीस्त्रता को देखकर अनुमान कर लिया जाता है कि वर्षा हुई है।

होता है। यह भी नहीं; क्योंकि कार्य तथा कारण भिन्न-भिन्न स्थानों में रहते हैं—
तन्तु अपने अवयव अंशुओं में और पट तन्तुओं में (रहता है)। और, कारण को देखकर
कार्य का अनुमान किया जाता है, यह कहने वाला अनुमान की मर्यादा (मुद्रा = मोहर
Seal) को तांड़ता है। किन्तु अनुमान की यह मर्यादा क्या है? न अज्ञात में न
निश्चित (अर्थ) में अनुमान (न्याय) की प्रवृत्ति होती है (यह अनुमान की मुद्रा है)।
यदि कारण को देखने से कार्य का अनुमान किया जाता है तो अज्ञात अर्थ में न्नाय की
प्रवृत्ति होती है, यह हो जायेगा और उस प्रकार विरोध होगा। [परिहार] यह
ठीक नहीं, स्वीकार न करने से—कौन यह कहता है कि कारण के दर्शन से कार्य की
सत्ता जान लेता है? अथवा कौन कहता है जहाँ कारण है, बहाँ कार्य होता है?
वस्तुतः (तु) कारण के विशेषण-रूप से प्रयुक्त गौण होने वाले (गुणमूतम्) कार्य का
अनुमान किया जाता है यह सूत्र (के पद) का अर्थ है। और इस प्रकार अनुमान की
मर्यादा भंग नहीं होती।

इसी प्रकार शेषवत् आदि में भी ब्याख्या करनी चाहिये। वहाँ भी कार्य का अङ्ग होने वाले कारण का अनुमान किया जाता है। किन्तु 'शेष' शब्द से कार्य कसे कह दिया जाता है ? (उत्तर) अनुमान रूप में दोनों (कारण तथा कार्य) के प्रतीत होने

यदि तावदयमर्थः—से आरम्भ करके 'ब्याहतं स्यात्' तक आक्षेप है।
न, "न मुद्राभेद इति—परिहार का भाव है: दोनों विकल्पों को ही हम नहीं मानते, अपि तु
यह मानते हैं कि कारण के विशेषण रूप में प्रयुक्त गीण होने वाले कार्य का अनुमान किया जाता है।
इसे आगे उदाहरण के प्रसङ्ग में स्पष्ट किया जा रहा है:

न्ययभाष्यम्

सामान्यतोदृष्टं वज्यात्र्वकमन्यत्र दृष्टस्यान्यत्र दर्शनमिति, तथा चादित्यस्य । तस्त्राद् अस्त्यप्रत्यक्षाप्याद्वित्यस्य वज्येति । न्यायवात्तिकम्

युक्तं कार्यमिति कार्यं शेषशब्दवाच्यम्।

उदाहरणम्—मेघोन्नत्या भविष्यति वृष्टिरिति कारणेन कार्यानुमानम् । कथं पुन-रस्य प्रयोगः ? वृष्टिमन्त एते मेघाः गम्भीरध्वानवर्त्वे सति, बहुवलाकावर्त्वे सति, अविरप्रभावस्वे च सति, उन्नतत्वात्, तदःयवृष्टिमन्मेघवदिति । नद्याः पूर्णत्वं शेष-बदुदाहरणम् । कथं पुनर्नदीपूरो नद्यां वर्तमान उपरि वृष्टिमन्तं देशमनुमापयित, व्यधिकरणत्वात् ? नोपरि वृष्टिमद्देशानुमानं नदीपूरः । कि तहि ? नद्या एवोपरि वृष्टिमद्देणसंवन्धित्वमनुमीयते नदीधमेंणैव । उपरिवृष्टिमद्देशसम्बन्धिनी नदी, शीव्र-तरस्रोतस्त्वे सति फलकाष्ठादिवहनवस्त्वे च सति पूर्णत्वात्, तदन्यवृष्टिमत्पूर्णनदीवत् इति । भविष्यति, भूता वेति कालस्याविविस्तत्वात्, यः वश्चित् काल उपादयः इति ।

सामान्यतो दृष्ट—गित (व्रज्या) पूर्वक एक स्थान पर देखे गये को अन्य स्थान पर देखा जाना, जैसे कि सूर्य का । इसलिये प्रत्यक्ष न होकर भी सूर्य की गित होती है। पर (उपक्षिप्तयोः) कारण का (पूर्ववत् में) उपयोग हो चुकने से कार्य अनु युक्त है अतः कार्य ही 'शेष' शब्द का वाच्य (अर्थ) है।

(पूर्ववत् का) उदाहरण है; मेघों के उमड़ने से वर्षा होती, यह कारण से कार्य का अनुमान। किन्तु इसका प्रयोग कैसे होता है ? ये मेघ वर्षा करने वाले हैं, गम्भीर गर्जना (घ्वान) वाले होकर, बहुत सी बलाका वाले होकर और विद्युत् (अविरप्रभा) वाले होकर उमड़ने के कारण, उनसे भिन्न वर्षा करन वाले मेघों के समान। नद्याः पूर्णत्वम्' आदि शेषवत् का उदाहरण है। (आक्षेप) किन्तु नदी का भरा होना (पूरः= बाढ) जो नदी में होता है, ऊपर के वर्षा से युक्त देश का अनुमान कैसे करा सकता है; क्यों के वे दोनों भिन्न-भिन्न आधारों में होते हैं ? [परिहार] ऊपर के वर्षा से युक्त प्रदेश का अनुमापक नदी का भरा होना नहीं है। तो क्या है ? नदी के धर्म से ही, नदी का ही ऊपर के वर्षायुक्त देश से सम्बन्ध होने का अनुमान किया जाता है; नदी का ही ऊपर के वर्षायुक्त देश से सम्बन्ध होने का अनुमान किया जाता है; नदी कथर के वर्षायुक्त देश से सम्बन्ध बाली है, शीन्नतर प्रवाहवाली होकर, फलकाष्ठ आदि को प्रवाहित करती हुई भरी हुई होने से, उससे भिन्न वर्षा से युक्त नदी के समान। यहाँ (वर्षा से युक्त नदी) होगी या हुई (यह अर्थ होगा) क्योंकि काल विवक्षित नहीं, अतः कोई भी काल लिया जा सकता है।

अनुमानं नदीपूर:— जिससे अनुमान किया जाता है वह अनुमान (अनुमापक) है। यहाँ 'नदीपूर' से ही अनुमान किया जाता है। प्रश्न का आशय है, नदी के धर्म नदीपूर से ऊपर के देश की
वर्षा का अनुमान कैसे किया जा सकता है? उत्तर है; नदी के धर्म 'पूर' से नदी के ही वृिष्टमत्
देश से सम्बन्ध का अनुमान किया जाता है। अनुमान में काल-विश्रेष की विवक्षा नहीं अपि तु योग्य
काल का अनुमान होता है; क्योंकि कारण सदा कार्य से पूर्व ही होता है (द्र॰ टी॰ २१६-२१७)।

8.8.4]

308

न्यायवातिकम

सामान्यतोद्दर्धं नाम अकार्यकारणभूतेन यत्राविनाभाविना विशेषणेनविशेष्यमाणो धर्मी गम्यते, तत् सामान्यतो दृष्टं, यथा बलाकया सलिलानुमानम् । कथं पुन-र्वताकया सतिलानुमानम् ? यावानस्य देशो बलाकयाऽजहद्वृत्तित्वेन प्रसिद्धो भवति तावन्तमन्तर्भाव्य वृक्षादिकमर्थं पक्षीकृत्य बलाकावस्वेन साधयति

अपरे पुनर्मन्यन्ते सामान्यतो दृष्टम् आदित्यस्य गत्यनुमानिमति । तत्तु न वुद्ध्यामहे कथमनुमीयते इति । यदि तावद् गतिमानादित्य इति अनुमीयते, तत् केन प्रतिपद्यते ? न ह्यादित्यगतेः किञ्चित् सम्बद्धं लिङ्ग्ननस्ति । न चासंबद्धोऽर्वो ऽनुमातं शक्यते । तथा च सर्वं सर्वेणानुमीयेत । अथापि देशान्तरप्राप्तिलिङ्गामिति । तन्न अस्टिटत्वात् --- त हि सवितुः कश्चिद् देशान्तरप्राप्ति पञ्चति । देशान्तरं खलु आकाशदेशो वा दिग्देशो वा भवेत्। उभयं चाप्रत्यक्षम्।

[तृतीय प्रकार] सामान्यतोदृष्ट वह है जहाँ कार्य तथा कारण न होत वाले किसी अविनाभावी विशेषण के द्वारा िशिष्ट किया गया (विशेष्यमाणः) घर्मी जाना जाता है, वह सामान्यतोदृष्ट है, जैसे वक पित्त (बलाका) से जल का अनुमान होता है। किन्तु बलाका से जल का अनुमान कैसे हो जाता है ? इस (जल) का जितना प्रदेश बलाका के द्वारा न त्यागने योग्य (अजहद्वृत्तित्वेन) ज्ञात होता है उतने का अन्तमवि करके वृक्ष आदि अर्थ को पक्ष बनाकर उसके बलाकायुक्त होने से (उसका) जलयुक्त होना सिद्ध कर देता है (?)।

किन्तु दूसरे (भाष्य का अर्थ) मानते हैं, सूर्य की गति का अनुमान सामान्यतो-दृष्ट है। (समीक्षा) वह तो हम नहीं समझते कैसे (सूर्य की गति का) अनुमान किया जाता है ? यदि सूर्य गति वाला है, यह अनुमान किया जाता है तो वह किससे जाना जाता है ? क्योंकि (हि) सूर्य की गति से सम्बद्ध कोई लिङ्ग नहीं है और असम्बद्ध अर्थ का अनुमान नहीं किया जा सकता। और यदि असम्बद्ध अर्थ का भी अनुमान किया जा सके (तथा च) तो सब (हेतुओं) के द्वारा सबका अनुमान कर लिया जाये। यदि अन्य प्रदेश में प्राप्त होना ही लिङ्ग है। वह ठीक नहीं, न देखा गया होने से (अदृष्टत्वात्)-वस्तुत: (हि) कोई सूर्य की अन्य देश में प्राप्ति को नहीं देखता। अन्य देश या तो आकाश देश है अथवा दिग्देश है । और दोनों ही अप्रत्यक्ष हैं ।

सामान्यतोद्दहरम् — जहाँ सामान्य रूप से अविनाभावी हेतु द्वारा धर्मी का स्वरूप ज्ञात होता है वह सामान्यतोदृष्ट अनुमान है । अविनाभावी होना सभी हेतुओं की समानता है, अतः पूर्ववत् तथा घोषवत् से भेद दिखलाने के लिये वातिककार ने कहा है अकार्यकारणभूतेन । सामान्यतोदृष्ट में धर्म और धर्मी का अभेद मानकर हेतु को सामान्य कहा गया है यहाँ हेतुविशिष्ट धर्मी जनुमापक होता है और जिज्ञासितधर्मविशिष्ट धर्मी अनुमेय होता है (टी० ३१७)।

यथा बलाकया—भाष्यकार का उदाहरण दुर्बोध है और णेषवत् के उदाहरण में अन्तर्भृत हो

जाता है अतः वात्तिककार ने 'यथा बलाकवा' आदि उदाहरण दिया है।

बलाकावरवेत—म० गङ्गानाथ झा के अनुसार यहाँ 'सलिलवत्त्वेन' पाठ शुद्ध है।

११०]

न्यायवात्तिकम्

न चान्या गितरिस्त । तस्माद् देशान्तरप्राप्तिदर्शनमयुक्तम् । सर्वत्र खल्वयमा-दित्यस्य मण्डलमेव केवजमुपलभते । न च वस्तुमात्रदर्शनादनुमानं युक्तम् । अपि च केनचित् प्रकारेणादित्यस्य गितः शक्या द्रष्टुम्, उपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वात्, न पुन-देशान्तरप्राप्तः, नित्यमतीन्द्रियत्वात् । न हि कशचिविष प्रत्यक्षाप्रत्यक्षवृत्तिः सयोगो भवति प्रत्यक्षः । अथ देवदत्तस्य देशान्तरप्राप्तिदर्शनेनादित्यस्य गत्यनुमानं सामान्यतो इष्टमिति मन्यसे, न केवलमादित्यस्य सर्वार्थानां गत्यनुमानमेतत् । तर्हि भवानिष

अन्य कोई गित गहीं है। इस प्रकार देशान्तर में प्राप्ति होने का दर्शन अयुक्त है। दस्तुतः (खलु) सर्वत्र ही यह (कोई व्यक्ति) सूर्य मण्डल को ही केवल देखता है और केवल वस्तु के दर्शन से अनुमान होना युक्तियुक्त नहीं। और भी, िकसी प्रकार सूर्य की गित देखी भी जा सकती है; क्योंकि वह प्रत्यक्ष के योग्य है किन्तु (सूर्य की) अन्य देश-प्राप्ति नहीं देखी जा सकती, क्योंकि वह मदा (नित्य) अतीन्द्रिय है। वस्तुतः (हि) कभी भी प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष का संयोग प्रत्यक्ष नहीं होता। यदि ऐसा मानते हो (मन्यसे) कि देवदत्त की (गित्पूर्वक) अन्य देश में प्राप्ति देखों से सूर्य की गित का अनुमान होता है, यही सामान्यतोह्ण्ट है, तो ठीक नहीं. केवल सूर्य की नहीं अपि तु सभी द्रव्यों (अर्थों) की गित का यह अनुमान होगा, तब तो आप भी जाते हैं. इस प्रकार का अनुमान क्यों नहीं कर लेते ? [समाधान] वस्तुतः यह सूर्य की गित का अनुमान साक्षात् नहीं है। तो क्या है ? (सूर्य की) अन्य देश प्राप्ति का अनुमान करके स्ससे गित का अनुमान है, इस प्रकार दोष नहीं। (अनुमान का प्रयोग होगा) (सूर्य की) अन्य देश में प्राप्ति होती

उपलिब्धलक्षणप्राप्तत्वात्—उपलिब्धलक्षणप्राप्तिः = प्रत्यक्षोपलिब्धयोग्यता, टी० ३१७। तदिभि पुखदेशसम्बन्धात्—यहाँ त्यप् का लोप होने पर कर्म में पञ्चमी है, तदिभमुखदेशसम्ब-न्धादिति ल्यब्लोपे पञ्चमी । स्वाभिमुखदेशमुह्यियानुत्पन्नः पादिवहारो यस्य स तथोवतः, टी० ३१८। भाव यह है : द्रष्टा ने प्राची दिशा में सूर्य को देखा, कुछ समय पश्चात् अपने स्थान से न हटकर वह वहीं घूम गया (पूर्वाभिमुख से पश्चिमाभिमुख हो गया) तब उसने देखा कि सूर्य उसके सामने हैं, पश्चिम दिशा में है। इससे सिद्ध होता है कि सूर्य में देशान्तर की प्राप्ति होती है (मि० म० गङ्गा-नाय झा, पृ० १४१)। इन सभी पदों का पदकुत्य ता० टी० ३१७ में इस प्रकार दिया गया है— यदि 'तत्प्रत्ययविषयत्वात् इतना ही कहा जाता तो सामने स्थित स्थाणु आदि से व्यभिचार होता, न्योकि वह भी वहीं खड़ा हुआ प्रत्यभिज्ञा का विषय होता है, उसकी निवृत्ति के लिये 'परिवृत्य' यह पद दिया गया है। फिर भी गुण आदि से व्यभिचार होता, उसकी निवृत्ति के लिये द्रव्यत्वे सति, यह विशेषण है। तथापि शोघ्र नष्ट हो जाने वाले प्रदीप आदि से व्यभिचार होता, उसकी निवृत्ति के लिये 'क्षयवृद्धिप्रत्ययाविषयत्वे सित' यह विशेषण है। तथापि पीछे की और स्थित 'स्थूणा' से व्यभिचार होता, उसकी निवृत्ति के लिये प्राङ्मुखोपलभ्यत्वे सित, विशेषण है । उपलभ्यता का अर्थ है उपलब्धि का कर्म होना जौर वह यहाँ अतीत काल की है । ''तथापि यदि द्रष्टा ही स्वयं चलकर सामने स्थित पश्चिमाभिमुख महल के पीछे की ओर हो जाये तब उपयुंदत हेतु का व्यभिचार होगा, उसकी निवृत्ति के लिये 'अनुरपन्नपादविहारस्य' यहविशोषण है।

1 222

१-१.4]

न्यायवात्तिकम

गच्छतीत्येवं कस्मात् नानुमिमीषे ? नैवेदम् आदित्यगत्यनुमानं साक्षात् । कि तिह ? देशान्तरप्राप्तिमनुमाय तया गत्यनुमानमित्यदोषः—देशान्तरप्राप्तिमानदित्यः द्रव्यत्वे सित क्षयवृद्धिप्रत्ययाविषयत्वे च प्राङ्मुखोपलभ्यत्वे च तदिभमुखदेशसंबन्धाद् अनुत्पन्न-पादविहारस्य परिवृत्य तत्प्रत्ययविषयत्वात्, मण्यादिवत् ।

मण्यादावेतत्सर्वमस्ति । स च देशान्तरप्राप्तिमान्, एवं चादित्यः तस्माद् देशान्तरप्राप्तिमानिति । अनया तु देशान्तरप्राप्त्या अनुमितया गतिरनुमीवते, इति । देशान्तरप्राप्तिमन्ते वा साधनम्, देशान्तरप्राप्तिमानादित्यः, अचलचक्षुषो व्यवधानानुपपत्तौ

हब्टस्य पुनर्दर्शनाविषयत्वात्, देवदत्तवदिति ।

एके तु दिकप्रत्यक्षत्वेऽनुमानं बुवते, प्रत्यक्षा दिक् अङ्गुल्यादिव्यपदेशात्, चन्द्र-बदिति । तच्च न, अरूपत्वात् — अरूपा दिक् कयं बाह्यकरणप्रत्यक्षा भविष्यति ? कयं तिह अङ्गुल्या दिग्व्यपदेशः ? दिग्देशसंबन्धिषु वृक्षादिषु दिग्व्यपदेशात् — थे दिग्देश-संबन्धिनो वृक्षादयस्तान् दिगित्युपचरन्ति, आदित्येन सहोपलब्धेः । प्राचीत्ययं शब्दः

है, द्रव्य होकर क्षय और वृद्धि की प्रतीति का विषय न होकर और प्राची की ओर मुख करके उपलब्धियोग्य होने पर चरणविक्षेप न करने वाले को धूमकर (परिवृत्य) उसके सागने (अभिमुख) के देश (पश्चिम दिशा) में प्रतीत होने के कारण, मणि आदि के समान।

मणि आदि में यह सब है और उसकी अन्य देश में प्राप्ति होती है, इसी प्रकार का सूर्य है, इसलिये (सूर्य) अन्यदेश में प्राप्तिवाला है। और इस अनुमान से जानी गई अन्य देश की प्राप्ति से (सूर्य की) गित का अनुमान किया जाता है। अथवा (सूर्य के) अन्य देश में प्राप्तिवाला हाने में यह साधन है, सूर्य की अन्य देश में प्राप्ति होती है, विश्चल दिष्ट वाले (जन) को व्यवधान न होने पर (भी) एक वार देखे गये का फिर दिष्ट का विषय न होने से, देवदन के समान।

कोई (एके ?) तो दिशा की प्रत्यक्षता में यह अनुमान कहते हैं ; दिशा प्रत्यक्ष है, नगेंकि (उसका) अङ्गुलि आदि से व्यपदेश किया जाता है, चन्द्रमा के समान। किन्तु वह ठीक नहीं, (दिशा के) रूपराहत होने से—दिशा रूपरहित है, वह बाग्र इन्द्रिय से प्रत्यक्ष कैसे होगी ? (शङ्का) तब अङ्गुलि से दिशा का व्यपदेश कैसे होता है ? (समाधान) दिशा के देश से सम्बन्ध रखने वाले वृक्ष आदि में दिशा का व्यपदेश होने से—जो दिशा के देश से सम्बन्ध रखने वाले वृक्ष आदि हैं उनमें दिशा का उपचार कर लेते हैं (उन्हें गीणरूप से दिशा कह देते हैं); क्योंकि वे सूर्य के साथ उपजन्ध होते हैं। प्राची यह शब्द सूर्य के प्रथम दर्शन से विशिष्ट दिशा के प्रदेश में है। उस सूर्य के

देशान्तरप्राप्तिसत्त्वे सूर्यं की अन्यदेश प्राप्ति में यह दूसरा अनुमान दिया गया है --देशान्तर-

प्राप्ती साधनान्तरमाह, टी • ३१८। एके तु० — किसे लथ्य करके यह कहा गया है? यह स्पप्ट नहीं; भाट्टमी मांसक भी दिशा का प्रत्यक्ष मानते हैं; द्र० मानमेयोदय, पृ० १६०।

[अनुमानम्

227]

न्यायव त्तिकम्

आद्यादित्यदर्शनविशिष्टिदिग्देशे वर्तते । तेन आद्येनादित्यदर्शनेन सह यान् वृक्षादीनु-पलभन्ते, तान् पाचीत्युपचरन्ति । उपचर्य चाङ्गः त्या व्यपदिशन्तीति ।

अथ वा त्रिविधमिति लिङ्गस्य प्रसिद्धसदसन्दिग्धतामाह। प्रसिद्धमिति पक्षे

व्यापकम् सदिति सजाक्षीयेऽस्ति । असन्दिग्धमिति सजाक्षीयाविनाभःवि ।

अथ वा त्रिविधमिति नियमार्थम् । अनेकधा भिन्नस्यानुमानस्य त्रिविधेन पूर्ववदादिना संग्रह इति नियमं दर्गयति । कथमनेकथा भिन्नमिति ? अन्वयव्यतिरेकि होधा, सजातीयेऽि होधा सदेव सदसच्च । अन्वय्ययि होधेव । एवं व्यतिरेक्येक-रूपम्, सपक्षाभावात् । तिददं पञ्चवाभिन्नननुमानं कालभेदेन पञ्चदशधा भवति । तदिवि पुतः पुरुषभेदानुविधानात् षष्टिभेदं भवति । तस्य त्वान्तर्गणिकोऽनन्तभेद इति । सोऽयमनुमानभेद एवं भिन्नः त्रिविधमित्यनेन संगृहीत इत्यतो नियमार्थं त्रिविध-ग्रहणमिति ।

प्रथम दर्शन के साथ जिन वृक्ष आदि को देखते हैं उनको गाँण रूप में (उपचार से) 'प्राची' कह देते हैं और उपचार करके अङ्गृलि से निर्देश कर देते हैं।

[वार्तिककार की स्वकीय व्याख्या] अथवा 'त्रिविव' इससे लिङ्ग की प्रसिद्धता, सत्ता तथा असन्दिग्धता को कहा गया है। प्रसिद्ध का अर्थ है (लिङ्ग का) पक्ष में सर्वत्र होना (व्यापकता), सत् का अर्थ है (लिङ्ग का) सपक्ष (सजातीय) में होना और 'असन्दिग्य'

का अर्थ है, सपक्ष में नियम से रहना (विपक्ष में नहीं) (सजातीयाविनाभावि)।

अथवा 'त्रिविध' शब्द नियम के लिय है। अनेक प्रकार से भिन्न-भिन्न होने वाला जो अनुमान है उसका 'पूर्ववत्' आदि तीन प्रकारों में संग्रह हो जाता है, यह नियम (आचार्य) दिखलाता है। (प्रश्त) (अनुमान) अनेक प्रकार से भिन्न कंसे हैं? (उत्तर) अन्वय-व्यितरेकी दो प्रकार का हे, सपक्ष में भी दो प्रकार होते हैं; सत् ही होता है तथा सत्-असत् (कहीं सत् कहीं असत्) होता है। अन्वयी भी दो प्रकार का है। इसी प्रकार व्यितरेकी एक रूप वाला है; क्योंकि उसका सपक्ष नहीं होता। वह यह पांच प्रकार के मेद वाला अनुमान काल (भूत, वर्तमान तथा भविष्यत्) भेद से पन्द्रह प्रकार का होता है। फिर वह भी पुरुष के मेदों (प्रतिपन्न, अप्रतिपन्न, सन्दिग्ध, विषयंस्त) का अनुस्पण करने से साठ प्रकार का होता है। उसके तो अनन्त अवान्तर (आन्तर्गणिकः) भेद हो जाते हैं। वह इस प्रकार भिन्न भिन्न अनुमान का भेद 'त्रिविध' इस शब्द से संग्रहीत हो जाता है। इस प्रकार 'त्रिविध' शब्द का ग्रहण नियम के लिये है।

अथवा त्रिविधमिति—यह वात्तिककार की अपनी व्याख्या है, स्वमतेन व्याख्यान्तरमाह, अथवा विविधमिति, टी० ३१८।

अथवा त्रिविधमिति नियमार्थम्—'तिविधम्' यह शब्द नियम के लिये है। अनुमान के अनन्त भेद हो सकते हैं नियम के लिये कहा गया है कि अनुमान तीन प्रकार का होता है। इस प्रकार अनु-मान की व्याख्या से वात्तिककार ने स्वरूप, संख्या तथा फल-सम्बन्धी मत-भेदों का निराकरण कर दिया 2.2.4]

1 223

न्यायभाष्यम

अथवा पूर्वविदिति, यत्र यथापूर्वं प्रत्यक्षभूतयोरन्यतरदर्शनेनान्यत-रस्याप्रत्यक्षस्यानुमानम्, यथा धूमेनाग्निरिति ।

न्यायवात्तिकम्

पूर्वविदियुक्तम्, कि पुनरत्र पूर्ववत्, कि कार्यमुत कारणिमिति ? यदि पूर्वमस्यास्तीति पूर्ववत्, कार्यं पूर्ववत् प्राप्नोति । ततश्च कारणेन कार्यानुमानमिति व्याद्यातः ।
पूर्वमस्यास्तीति पूर्वविदिति क्षूमः, न पुनः कार्यम् । कि तिह ? ज्ञानम्, ज्ञानस्य पूर्वे
विषयः । तिददं ज्ञानं पूर्वविदिति । तेन च कार्यानुमानमिति । एवं शेषवदादिष्विपि
तिद्विषयाणि ज्ञानानीत्युक्तं भवतीति । अथवा पूर्वविदिति वितिप्रयोग एषः, यथा पूर्व
प्रत्यक्षेण दृष्टोऽर्थः, तथानुमानेनापि तमेवार्थं प्रतिपद्यत इति पूर्ववद् दृष्टो भवति ।

अथवा पूर्ववत् (पहले के समान) वह है, जहाँ पहले प्रत्यक्ष से जाने गयों के समान दो में से एक (अन्यतर) के दर्शन से दूसरे अप्रत्यक्ष का अनुमान होता है; जैसे धुम से (धूम को देखने से) यह अग्नि है।

(आक्षेप) 'पूर्ववत्' यह कहा गया है किन्तु यहाँ पूर्ववत् क्या है, क्या कार्य है, अथवा कारण ? यदि जिसके पूर्व है वह पूर्ववत् है तो कार्य पूर्ववत् है यह (अर्थ) प्राप्त होता है ? और, तब कारण से कार्य का अनुमान होता है, इस (भाष्य का) व्याघात है। [परिहार] जिसके पूर्व है, वह पूर्ववत् है, यह हम कहते हैं, किन्तु वह कार्य नहीं। तो क्या है ? ज्ञान है; ज्ञान से पूर्व है विषय। वह यह ज्ञान (ही) पूर्ववत् है। और, उससे कार्य का अनुमान किया जाता है। इसी प्रकार शेषवत् आदि में भी उस (शेष आदि) विषय का ज्ञान, यह कहा जा सकता है। अथवा 'पूर्ववत्' यह वित (प्रत्यय) का प्रयोग है (मतुप् का नहीं), जैसे पहले किसी अर्थ को प्रत्यक्ष से देखा था उसी प्रकार अनुमान से भी उसी अर्थ को जान लेता है, इस प्रकार पूर्ववत् इष्ट (अनुमान) होना है।

है 'तःपूर्वक' णब्द से दिखला दिया है कि अनुमान प्रत्यक्षपूर्वक होता है, इससे स्वरूपविषयक मत-भेद दूर हो जाता है। अनुमान की ब्युत्पत्ति (अनुमीयतेऽनेनेति) से दिखला दिया है कि इसका फल अनुमिति' है। तिविधम्' (यह तीन प्रकार का है) इस कथन से संख्याविषयक मतभेद का निरा-करण कर दिया है। (टी॰ ३१६)।

व्याधात:--भाष्यव्यावातः, यथा कारणेन कार्यमनुभीयते, ऊपर भाष्य, पृ० १०३,

एवं शेयवदादिष्विप-शेपवत् और सामान्यतोदृष्ट में भी 'ज्ञान' ही लेना चाहिये।

वितिप्रयोग: — वित प्रत्यय किया की तुल्यता में होता है (तेन तुल्यं किया चेद् वितिः ५.१.११४) अतः जो पहले के तुल्य है वह पूर्ववत् है (द्र० टी० ३१६)।

पूर्ववद् दृष्टो भवित — जैसे दृष्टान्त में दो धर्मों का साध्यसाधनभाव देखा या उसी प्रकार यहां, पक्ष में उनमें से किसी एक धर्म के दर्शन से दूसरे का अनुमान कर लेता है साधन धर्म के दर्शन से साध्यधमें का अनुमान कर लेता है। यह कियातुल्यता है अथवा इत्यादि में भाष्य की व्याख्या की गई है।

868.]

[अनुमानम्

न्यायवात्तिकम

अन्ये पुनरन्यथा वर्णयन्ति; यथा तेनैव धूमेन तसेवाग्नि प्रतिपद्यते इति । कि पुनरयं धूमेन प्रतिपद्यते ? किमग्निम्, उत देशम्, उत सत्ताम्, उताग्निमन्तं देशम् ? तत्र न तावदग्नि प्रतिपद्यते, धर्मधर्मिभावानुपपत्तः—नाग्निध् मस्य धर्मः, न वाग्नि-धर्मो धूमः । प्रतीतत्वाच्चाग्नेर्नानुमेयत्वमिस्ति । एतेन सत्ता देशस्य व्याख्यातः; अग्निसत्तायाः प्रतीतत्वाद् देशस्य चेति । अग्निमान् देश इति चेत्, न धूमस्यातद्धर्मत्वात्—अथापीदं स्याद् अग्निमान् देशो धूमेनानुमीयते ? तच्च नैवम् । कस्मात् ? अतद्धर्मत्वात्—न हि धूमोऽग्निमतो देशस्य धर्मः । न चाग्नेदेशमावसंबन्धो न प्रतीतः । अयमग्निमानिति चेत्; न, तस्यादृष्टत्वात्—देशविशेषोऽग्निमत्त्यानुमीयते, न देशमात्रम् । न, तस्यादृष्टत्वात्—न हायं देशविशेषं पश्यति, केश्वलं शून्यमभिधानमुच्चारयति 'अयं देशोऽग्निमान्' इति । न च धूममात्रमग्निप्रतिपादकम्, धूममात्रं चायं पश्यति । अतो न देशविशेषोऽग्यनुमेयः ।

किन्तु दूसरे (दिङ्नाग आदि टी०) अन्य प्रकार से व्याख्या (वर्णन) करते हैं; जैसे उसी धुम से उसी अग्नि को जान लेता है। यहाँ यह (व्यक्ति) धूम से क्या जान लेता है, (i) क्या अग्नि को, (ii) या देश को, (iii) या (अग्नि की) सत्ता को अथवा (iv) अग्नि से युक्त देश को ? उनमें से अग्नि को तो जानता नहीं, धर्म-धर्मि-भाव न बन सकने के कारण--न अग्नि घूम का धर्म है अथवा न घूम अग्नि का धर्म है, और, ज्ञात होने के कारण अग्नि अनुमेय नहीं है। इससे (अग्नि की) सत्ता तथा देश (अग्नि का देश) की व्याख्या हो गई; क्योंकि अग्नि की सत्ता ज्ञात है और देश भी (ज्ञात है)। (शङ्का-समाधान) यदि (कहो) अग्निमान् देश (अनुमेय) है, यह भी नहीं, धूम के उसका धर्म न होने से-यदि यह (मत) हो कि अग्निमान् देश का धूम से अनुमान किया जाता है। वह भी ऐसा नहीं। क्यों ? उस (देश) का धर्म न होने से—वस्तुतः घूम अग्निमान् देश का धर्म नहीं। और, यह भी नहीं कि अग्नि का देशमात्र से सम्बन्ध ज्ञात नहीं । यदि (कहो) यह देश अग्निवाला है (यह अनुमेय है), तो ठीक नहीं, उसके न देखा गया होने से—देणविशेष के आग्नमान् होने का अनुमान किया जाता है, देशमात्र का नहीं, यह भी नहीं (न) उसके देखे गये न होने से-वस्तुत: यह (अनुमाता) देशविशेष को नहीं देखता, केवल खाली शब्दों का उच्चारण करता है कि यह देश अग्निमान् है। और; केवल धूम अग्नि का बोधक नहीं किन्तु यह केवल घूम को देखता है। इसलिये देशविशेष भी अनुमेय नहीं है।

अन्ये पुन: —यहाँ दिङ्नाग ने धूम से अग्नि रूप अन्य धर्म का अनुमान होता है अथवा अग्नि तथा देश के सम्बन्ध का अनुमान होता है, इसमें दोष दिखलाकर यह सिद्ध किया है कि आंग्निविशिष्ट देश का अनुमान होता है। इस विषय में कहा गया है—

लिङ्गस्याव्यभिवारस्तु धर्मेणान्यत्न दृश्यते । तत्न प्रसिद्धं तद्युक्तं धर्मिणं गमयिष्यति ।। यहाँ वात्तिककार ने दिङ्नाग द्वारा दोषयुक्त सिद्ध किये गये विकल्पों को, अन्य विकल्पों को, १.१.४]

न्यायवात्तिकम्

अविनाभावेन प्रतिपादयतीति चेत् — अथापीदं स्याद् अविनाभावोऽिन्धूमयोः, अतो धूमदर्शनादिन्न प्रतिपद्यते इति, न, विकल्पानुपपत्तेः । अग्निधूमयोरिवनाभाव इति कोऽर्थः ? किं कार्यकारणभावः, उत्ते कार्थसमवायः, उत तत्संबन्धमात्रमिति ? अस्तु तावत् पूर्वः कार्यकारणभाव इति । तन्न, अतद्वृत्तित्वात् — न हि धूमोऽनौ वर्तते, नाप्यग्निर्यू मे, स्वकारणवृत्तित्वात्, अतो न कार्यकारणभावः । नेकार्थसमवायोऽपि, ताभ्यामन्यस्यानारम्भात् — न हि भिन्नजातीयाभ्यां द्रव्यमारभ्यते इति । न च तावप्यन्यत्र वर्तते, स्वकारणवृत्तित्वादित्युक्तम् । संबन्धमात्रं तत्र वर्तत इति चेत्; तदप्यनुमातुं न शक्यते । कथम् ? यदि तावद् एवं कुरुते 'अस्ति सम्बन्धोऽनि-धमयोरिति, तन्न, अप्रतीतत्वात् । अनिनकस्यापि धूमस्य दर्शनात् न संबन्धानुमानम् ।

यदि अविनाभाव सम्बन्ध से (घूम अग्नि का) बोध कराता है—यदि यह (मत) हो कि अग्नि और धूम का अविनाभाव है, इसलिये धूम को देखकर अग्नि को जान लेता है। तो यह (युक्त) नहीं, विकल्प न बन सकने से। अग्नि और घुम का अविनाभाव सम्बन्ध है, इसका क्या अर्थ है ? (i) क्या (इन दोनों का) कार्यकारण-भाव है, अथवा (ii) एक अर्थ का (में) समवाय है या (iii) केवल सम्बन्ध होना है। अच्छा, प्रथमतः पहला (विकल्प) हो जाये कि (दोनों का) कार्यकारणभाव सम्बन्ध है । वह नहीं है, तद्वृत्ति न होने से—वस्तुतः न घूम अग्नि में है, न अग्नि घूम में, क्योंकि ये अपने-अपने कारणों में रहते हैं, इसलिये (दोनों का) कार्यकारणभाव नहीं है। (ii) एक अर्थ का समवाय (एकस्य अर्थस्य समवायः) भी नहीं; क्योंकि उन दोनों से किसी अन्य की उत्पत्ति नहीं होती; वस्तुत: भिन्न जाति वालों (द्रव्यों) से द्रव्य की उत्पत्ति नहीं होती । और, वे दोनों भी एक (अन्य) में (समवाय से, एकस्मिन्नर्थे समवायः) नहीं रहते; क्योंकि (वे) अपने-अपने कारणों में रहते हैं, यह कहा जा चुका है। (iii) यदि उन (दोनों) में सम्बन्ध है, उसका भी अनुमान नहीं किया जा सकता । कैसे ? यदि तो (आप) इस प्रकार (अनुमान) करते हैं, 'अग्नि और धूम का सम्बन्ध है'। वह नहीं होगा, प्रसिद्ध न होने से, विना अग्नि के भी घूम का दर्शन होने से (दोनों के) सम्बन्ध का अनुमान नहीं (हो सकता) । यदि रूप और स्पर्श के समान

तथा दिङ्नाग के मत को भी दोषयुक्त दिखलाकर अपना मत दिखलाया है।

कि पुनरयम् ' 'पश्यित—यहाँ चार विकल्प दिखलाकर उन्हें दोषयुक्त सिद्ध किया गया है।

न देशविशेषोप्यनुभेय:—यहाँ दिङ्नाग के मत का निराकरण किया गया है। दिङ्नाग के मत

में धूम का आधार होने वाला कोई पर्वत आदि देशविशेष नहीं है, वह अतीन्द्रिय तथा सूक्ष्म परमाणुओं

का संघात मान्न ही है।

अतद्वृत्तित्वात्—यहाँ धूम और अग्नि के कार्यकारणभाव रूप अविनाभाव का निराकरण किया

गया है। नैकार्थसमवायोऽपि—यहां घूम और अग्नि के एकार्थसमवाय (एकस्यार्थस्य समनायः एकस्मिन्-

वाऽर्थे समवायः टी० ३२१) का खण्डन है।'

११६

[अनुमानम्

न्यायावत्तिकम्

रूपस्पर्ज्ञवत् साहचर्यं भविष्यतीति चेत्; न, उभयोर्व्यभिचारो दृष्टः—अनिनर्जूमो दृष्टः, अधूमक्चान्निरिति, उभयं व्यभिचारि, तस्मात् न साहचर्यमपि।

यत्र धूमस्तत्र विह्निरित्यनेनैव प्रत्युक्तम् । न चान्या गतिरस्ति । तस्मात् न धूमेन विह्निरनुमीयत इति । लोकविरोध इति चेत्—यदि धूमेनाग्निनिनुमीयते ननु लोको विरुध्यते इति चेत्; नास्ति विरोधः, धूमविशेषेण अग्निविशेषणस्य धूमस्य प्रतिपाद्यत्वात् । कथं पुनरयमग्निध्मविशेषणं भवति ? यदा गुणभूतोऽनुभेयो भवति 'अग्निमानयं धूमः' इति धूमविशेषेणासाधारणेन प्रतिपद्यते । उभयं च तदा प्रत्यभं धूमश्च तद्गताश्च सातत्यसहत्यूर्ध्वगतिस्वाभाव्यादयो धर्मा इति । ते चैते धूमधर्मा धूमवृत्तयोऽप्रसिद्धं धूमधर्ममनुमापयन्ति । सर्वस्य चानुमेयस्य वस्तुनो धर्मी प्रतिपादकश्च

(अग्नि और धूम का) साहचर्य होगा, यह भी नहीं; क्योंकि दोनों का व्यभिचार देखा गया है—विना अग्नि के धूम देखा गया है और विना धूम के अग्नि। इस प्रकार दोनों (ही) व्यभिचारी हैं। इसलिए (दोनों का) साहचर्य भी नहीं।

जहाँ धूम होता है वहाँ अग्नि (भी), इस (व्याप्ति) का भी इसी कथन से (अनेनैव) निराकरण कर दिया गया। और, अन्य कोई गित नहीं है। अतः धूम से अग्नि का अनुमान नहीं होगा। यदि ऐसा मानने पर लोक का विरोध होता है—यदि धूम से अग्नि का अनुमान नहीं होता तो लोक का विरोध होता है। [परिहार] विरोध नहीं है; क्योंकि विशेष प्रकार के धूम से जिसका अग्नि विशेषण है धूम का बोध कराया जाता है। (प्रश्त) किन्तु यह अग्नि धूम का विशेषण कैसे होती है? (उत्तर) जब गौण होती हुई अनुमान का विषय होती है; जैसे 'यह धूम अग्निमान् है' यह विशेष प्रकार के धूम से असाधारण (धूम) से जाना जाता है। उस समय दोनों प्रत्यक्ष होते हैं, धूम और उसमें रहने वाले नैरन्तर्य, धनापन (संहित्) और उपर को गमन का स्वभाव होना आदि धर्म। और, वे ये धूम के धर्म जो धूम में रहते हैं प्रसिद्ध न होने वाले धूम के धर्म (अग्नि) का अनुमान करा देते हैं। वस्तुत: (च) सभी

लोकविरोध:—यदि धूम और अग्नि का अविनाभाव न माना जाये तो लोक का विरोध होगा।
नास्ति विरोध:—विशेष धूम से जिसका अग्नि विशेषण है ऐसे धूम का बोध कराया जाता है
अतः विरोध नहीं यह वात्तिक का उपसंहार है। टीका के अनुसार इसका भाव है—

जहाँ पर्वत पर स्थित धूम लेखा निरन्तर उठती हुई देखी जाती है वहाँ अग्निविशिष्ट देश का ही अनुमान होता है, यह तो लोक-प्रसिद्ध ही है। किन्तु जहाँ धूम के घनेपन के कारण अथवा दूरी के कारण देश नहीं दिखाई देता केवल गगनचुम्बी धूम ही दिखलाई देता है वहां देश के अनुमान में विलम्ब होने से दिखलाई देने वाला धूम-विशेष ही अग्निमान् होने के रूप में सिद्ध किया जाता है।

भूमिविशेषेण—विशेष = नैरन्तर्य, ऊर्ध्वगमन आदि, उसके द्वारा अग्निव्यभिचारी केवल धूम से अग्नि के अविनाभावी धूम को विशिष्ट कर दिया जाता है, टी० ३२१। इस प्रकार विशेष धूम से अग्नि की सिद्धि होती है।

2.2.¥] [226

न्यायभाष्यम्

शेषवन्नाम परिशेषः, स च प्रसक्तप्रतिषेषेऽन्यत्राप्रसङ्गाच्छिष्यमाणे सम्प्रत्ययः; यथा सदिनत्यमेत्रमादिना द्रव्यगुणकर्मणामित्रशेषेण साम्पान्य-विशेष-समक्षयेभ्यो विभक्तस्य शब्दस्य, तस्मिन् द्रव्यगुणकर्मसंशये, न द्रव्यम् एकद्रव्यत्वात्, न कर्म शब्दान्तरहेतुत्वात्, यस्तु शिष्यते सोऽयमिति शब्दस्य गुणत्वप्रतिपत्तिः।

न्यायवात्तिकम्

धर्मः प्रसिद्धो भवति, यथा शब्दस्यात्मसत्ता प्रसिद्धां, कृतकत्वं च । धर्मस्त्वनित्यलक्षणो-ऽत्रसिद्धः इति । तद्विशेषगोऽयमनुमीयते इति ।

शेषवन्ताम परिशेष इति भाष्यम् । न कर्म शब्दः शब्दान्तरहेतुत्वात्, इत्युभय-व्यावृत्ते रसाधनम्, न हि शब्दान्तरहेतुत्वं कर्षणि नाकर्मगीति । न, अन्यार्थत्वात्— शब्दान्तरहेतुत्वादित्यस्य समानजातीयारम्भकत्वादित्ययमर्थः । तथा च न दोष इति ।

शेषवत् है परिशेष और वह है, प्राप्तों का प्रतिषेध करने पर अन्यत्र प्राप्ति (प्रसङ्ग) न होने से शेष रहने वाले की प्रतीति होना; जैसे सत्ता तथा अनित्यत्व आदि (धर्मों) के द्वारा द्रव्य, गुण तथा कर्म के समान होने वाले (अविशेषेण) सामान्य थिशेष एवं समयाय से पृथक् होने वाले (अन्यत्र अप्रसङ्गात्) शब्द का (होता है)। उसमें 'द्रव्य है, गुग है या कर्म है' ऐसा सन्देह होन पर (वह) द्रव्य नहीं, एकद्रव्य होने से, कर्म नहीं, अन्य शब्द का हेतु होने से (कर्म तो अन्य कर्म का हेतु नहीं होता), जो शेष रहता है वह यह है, इस प्रकार शब्द के गुण होने का निश्वय होता है। अनुभेय वस्तु का वर्भी और बोध कराने वाला धर्म शात (प्रसिद्ध) होते हैं; जैसे शब्द की अपनी सत्ता प्रसिद्ध है और कृतक होना भी। किन्तु अनित्य होना रूप धर्म अप्रतिद्ध है, उस (अनित्यता) विशेषण वाले इस (शब्द) का अनुमान किया जाता है।

शेववन्ताम परिशेषः, यह भाष्य है। (आक्षेप) शब्द कर्म नहीं क्योंकि वह दूसरे शब्द का निमित्त होता है, कर्म तथा कर्मभिन्त (उभय-दोनों) से ब्यावृत्त होने के कारण (यह हेतु) साधक नहीं, वस्तुतः (हि) अन्य शब्द का कारण न कर्म होता है न कर्म से भिन्न। [परिहार] यह ठीक नहीं, (कथन का) अन्य अर्थ होने से—'अन्य शब्द का हेतु होने से' इसका अर्थ है, समान जातीय (शब्द) का उत्पादक (आरम्भक) होने से। इस प्रकार दोष नहीं है।

सदिनित्यमेवमादिना—शब्द सत् है सत्ता का आश्रय है तथा अनित्य है अतः यह द्रव्य, गुण तथा कर्म के समान है। इस प्रकार इसके द्रव्य, गुण, कर्म होने की प्राप्ति (प्रसिवत) है।

सामान्यित्रशेषसमवायेभ्यः— इनमें सत्ता तथा अनित्यता नहीं होती अतः शब्द के सामान्य

१, निर्भक्तस्य, क; विभक्तस्य, पा०।

न्यायभाष्यम्

सामान्यतो दृष्टं नाम यत्राप्रत्यक्षे लिङ्गलिङ्गिनोः सम्बन्धे केनचिदर्थेन लिङ्गस्य सामान्यादप्रत्यक्षो लिङ्गी गम्यतेः यथेच्छादिभि-रात्मा—इच्छादयो गुणाः, गुणाश्च द्रव्यसंस्थानाः, तद्यदेषां स्थानं स आत्मेति ।

न्यायवात्तिकम्

सामान्यतो दृष्टं नाम यत्राप्रत्यक्षे लिङ्गलिङ्गिनोरिति भाष्यम् । लिङ्गलिङ्गिनोः सम्बन्धोऽप्रत्यक्ष इति, किं यदानुमीयते तदा अप्रत्यक्ष आहो न कदाचिदपि प्रत्यक्ष इति ? यदि यदानुमीयते तदा अप्रत्यक्षः, तदा सर्वमनुमानमेविमिति विशेषणमनर्थकम् । अय न कदाचिद् प्रत्यक्षः, कथं ति अनुमानमत्र प्रवर्तते ? व्याहतं च भवित नानुपलद्ये न निर्णीत इति । न, विशेषणभूतस्य अप्रत्यक्षस्य सर्वदा अनुमेनत्यात् । यदितर्थमंदर्शनाद् धर्मिणोऽधिगतिसाधनं तत् सामान्यतो दृष्टम्; यथा इच्छादिश्वरात्ना । इच्छादयः खलु धर्मिणो भवन्ति, आत्मा च विशेषणं गुणभूत इति । इच्छादीनां गुणत्वं प्रतीतो

सामान्यतोदृष्ट वह है जहां हेतु (लिङ्ग) तथा साध्य (लिङ्गी) का सम्बन्ध अप्रत्यक्ष होने पर किसी बात से (अर्थेन) समानता होने के कारण अप्रत्यक्ष साध्य (लिङ्गी) का बोध हो जाता है; जैसे इच्छा आदि के द्वारा आत्मा का — इच्छा आदि गुण हैं और गुण द्रव्य में स्थित होते हैं, अतः जो इनका स्थान है वह आत्मा है।

सामान्यतोद्देष्ट वह है जहाँ लिङ्ग तथा लिङ्गी के प्रत्यक्ष न होने पर, इत्यादि भाष्य है। (आक्षेप) लिङ्ग तथा लिङ्गी का सम्बन्ध अप्रत्यक्ष होने पर (यहाँ प्रवन है कि) क्या जब अनुमान किया जाता है तब (लिङ्ग-लिङ्गी का सम्बन्ध) अप्रत्यक्ष होता है अथवा कभी भी प्रत्यक्ष नहीं होता।

यदि जब अनुमान किया जाता है तव (सम्बन्ध) अप्रत्यक्ष है, तब तो सभी अनुमान ऐसा ही है अतः विशेषण व्यर्थ है। और यदि कमी भी (सम्बन्ध) प्रत्यक्ष नहीं होता तो इसमें अनुमान की प्रवृत्ति कैसे होगी? किञ्ब, यह विरुद्ध (कथन) भी होगा (भाष्य में ऊपर कहा गया है) जो अनुपलब्ध है या निश्चित है उसमें (न्याय की प्रवृत्ति नहीं होती)। [परिहार] यह युक्त नहीं, विशेषण होने वाला अप्रत्यक्ष (अर्थ ही) सदा अनुमान का विषय (अनुमेय) होता है। अतः जो अन्य धर्मों के दर्शन से धर्मों के ज्ञान का साधन है वह सामान्यतोहष्ट है; जैसे इच्छा आदि से आत्मा (सिद्ध होता है)। वस्तुतः इच्छा आदि धर्मी (विशेष्य) होते हैं और आत्मा उनका विशेषण गौण होता होना (वात्तिक)। एकद्रव्यत्वात्—दो प्रकार के द्रव्य है, अद्रव्य परमाणु जादि, अनेकद्रव्य घट जादि। शब्द तो एकद्रव्य आकाश का गुण है (टी० ३२१)

सामान्यतोदृष्ट --अनुमान के दो भेद हैं --दृष्ट तथा सामान्यतोदृष्ट । यहाँ पूर्ववत् शेषवत् को दृष्ट में रक्खा जा सकता है । अन्य अनुमान सामान्यतोदृष्ट है ।

विशेषणभूतस्य—इच्छा आदि मानस प्रत्यक्ष के विषय हैं। आत्मा उनका विशेषण है अतः यहाँ आत्मविशिष्ट इच्छा आदि साध्य हैं। 2.8.4 7

398

न्यायभाष्यम्

विभागवचनादेव त्रिविधमिति सिद्धे त्रिविधवचनं महतो महाविषयस्य न्यायस्य लधोयसा सूत्रेणोपदेशात् परं वाक्यलाघवं मन्यमानस्यान्यस्मिन् वाक्यलाघवेऽनादरः। तथा चायमस्येत्थम्भूतेन वाक्यविकल्पेन प्रवृत्तः सिद्धान्ते छत्रे शब्दादिषु च बहुलं समाचारः शास्त्र इति।

सिंद्वयं च प्रत्यक्षं सदसिंद्वयं चानुमानम्। कस्मात्?

धर्मः । तेन धर्मेण तानेव इच्छादीनात्मगुणविशिष्टाननुमिमीते, परतन्त्रा इच्छादयो गुणत्वात्, रूपविदिति । पारतन्त्र्यमात्रप्रतिपित्तरस्मादनुमानात्, आत्मतन्त्रता तु कुतः ? आत्मतन्त्रता परिशेषात्,आत्मसंवैद्यत्वाद् वाह्यकरणाप्रत्यक्षत्वाच्च—न पृथिव्यादिषु; पृथिव्यादिगुणाः प्रत्यक्षाः, ये ते स्वात्मपरात्मप्रत्यक्षा वाह्यकरणप्रत्यक्षाश्च; आत्म-प्रत्यक्षास्त्विच्छादयः, तस्मान्न पृथिव्यादिषु आकाशान्तेषु । न दिक्कालमनःसु तद्गुणानां तद्वदतीन्द्रियत्वात् । न च द्रव्यान्तरं शिष्यते । आत्मा च शेषः । तस्मात् तत्तन्त्रा इति ।

विभाग-कथन से ही अनुमान तीन प्रकार का है, यह सिद्ध हो जाने पर 'त्रिविघम्' (तीन प्रकार का है) यह कथन विस्तृत महान् विषय वाले अनुमान (न्याय) का लघुतर सूत्र से उपदेश करने के कारण अत्यधिक वाक्य-संक्षप मानने वाले (सूत्र-कार) का अन्य वाक्य-संक्षेप में अनादर (प्रकट करता है) । और, उसी प्रकार यह सिद्धान्त छल तथा शब्द आदि में प्रवृत्त होता है, यह शास्त्र (न्यायसूत्र) में बहुत से स्थलों पर व्यवहार (समाचारः) है ।

प्रत्यक्ष वर्तमान (सद्) विषयक होता है और अनुमान वर्तमान (सद्) तथा अतीत और भविष्य (असद्) के विषय में । कैसे ? तीनों कालों की वस्तु (त्रैकाल्य)

आत्मतन्त्रता परिशेषात् — सामान्यतोदृष्ट अनुमान से इच्छादि परतन्त्र हैं, यह सिद्ध होता है और ये आत्मा के गुण हैं, यह परिशेषानुमान से निश्चय होता है (द्र०मूल तथा अनुवाद एवं टी० ३२३)

न्यायभाष्यम्

त्रैकाल्यग्रहणात् — त्रिकालयुक्ता अर्था अनुमानेन गृह्यन्ते । भविष्यतीत्यनुमीयते भवतीति चाभूदिति च । असच्च खल्वतीतमनागतं चेति ।१।१।४।।

न्यायवात्तिकम्

सिंद्वयं च प्रत्यक्षं सदसिंद्वयं चानुमानिमिति भाष्यम् । कि ताबद् धर्मिण-मिन्नप्रेत्वार्यभेद उत धर्ममिति ? यदि ताबद् धर्मिणमिश्रिष्टेत्य, न कदाचिद् असिंद्वियमनुमानम् । न ह्यतुपलब्धसामान्येऽर्थे अनुमानं प्रवर्तते इत्युक्तम् । न चासतःसामान्यदर्शनमिति । अथ धर्ममिन्निप्टेत्य बूषे ? धर्मा अपि त्रिविधा भवन्ति, विधीयमानाः, प्रतिषिध्यमानाः स्वतन्त्राद्यति । तत्र विधीयमानो धर्मः पृथिव्यां गन्धवत्त्वम्, प्रतिषिध्यमानोऽपासगन्धवत्त्वम्, स्वतन्त्रः समदायिनां समदाय इति ।

कथं पुनः स्वतन्त्रः समवायः ? समवायान्तराभावात्-यद्पि यत्र वर्तते तद् का ग्रहण करने से—अनुमान से तीनों कालों के पदार्थ गृहीत होते हैं, 'होगा' यह अनुमान किया जाता है, 'है' यह भी और 'हुआ' यह भी। वस्तुतः वीती हुई (अतीत) और आगे आने वाली (अनागत) वस्तु ही असत् है। १।१।४।।

उनके समान ही अतीन्द्रिय होते हैं। और, अन्य द्रव्य भेष नहीं हैं, केवल आत्मा ही भेष है। इसलिये (ये इच्छा आदि) उसके अधीन हैं।

सिंद्रपयं च प्रत्यक्षं सदसिंद्रपयं चानुमानम्, यह भाष्य है। (आक्षेप) क्या धर्मी के अभिप्राय से यह अर्थ-भेद है या धर्म के? यदि धर्मी के अभिप्राय से है तब कभी अनुमान असद्विषयक नहीं होगा; क्योंकि (हि) जिसका सामान्य रूप उपलब्ध नहीं होता उस अर्थ में अनुमान की प्रवृत्ति नहीं होती, यह कहा गया है। और, असत् के सामान्य रूप की उपलब्धि नहीं होती। यदि धर्म के अभिप्राय से यह कहते हो, धर्म भी तीन प्रकार के होते हैं— १ जिनका विधान किया जाता है (विधीयमानाः), २ जिनका प्रतिष्धेध किया जाता है (प्रतिषिध्यमानाः) और ३ स्वतन्त्र। उनमें से एक विधीयमान धर्म हैं पृथ्वी का (में) गन्धवाली होना, प्रतिष्ध्यमान है जल का गन्धवाला न होना, स्वतन्त्र है समवाय वालों का समवाय।

(प्रश्न) किन्तु समवाय स्वतन्त्र कैसे है ? (उत्तर) अन्य समवाय न होने सिंद्ययम् — प्रत्यक्ष से भिन्न जनुमान का लक्षण दिखलाया गया है। अब बतलाते हैं कि अनुमान का विषय भी प्रत्यक्ष के विषय से भिन्न है। यहाँ सत् = वर्तमान, असत् = अतीत, अनागत। धर्म तीन प्रकार के हैं — विधीयमान, प्रतिषिध्यमान तथा स्वतन्त्व। इनमें से प्रतिषिध्यमान धर्म-विषयक अनुमान असद्विषयक होता है अन्य नहीं।

न ह्यनुपलब्धसामान्ये — जिस धर्मी के सामान्य धर्म का ज्ञान हो जाता है विशेष धर्म का नहीं उसी में अनुमान प्रवृत्त हुआ करता है और असद् वस्तु के तो सामान्य धर्म का ज्ञान नहीं होता। पञ्चपदार्थवृत्ति • — पाँच पदार्थी (द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष) में है वृत्ति (सम्बन्ध) जिसकी (बहुवीहि)।इस विग्रह में यह परमाणु का बोधक है। पांच पदार्थी की वृत्ति (पष्ठी समास) द्रव्य आदि पांचों की वृत्ति होने से यह 'समवाय' का बोधक है। अनाश्रितः समवायः — केवल शब्दों की समानता से ही अनुमान नहीं होता अतः पहले अनुमान

8.8.4]

न्यायवात्तिकम्

वृत्त्या तत्र वर्तते । न च समवायान्तरं समवायस्य वृत्तिरस्ति । अथ समवायान्तरं स्यात् समवायस्य तस्यापि समवायान्तरकल्पनायामनवस्था । अथ नानवस्था, आद्य एव व्यवस्थास्तु । किमिदं श्रद्ध्यानेन प्रतिपत्तव्यमनाश्रितः समवाय इति, आहोस्वित् न्यायोप्यस्ति ? न सन्देहः, अस्त्येव न्यायः' पञ्चपदार्थवृत्तिशब्दवाच्यत्वात् परमाणुवदनाश्रितः समवाय इति न्यायः । अनाश्रितः समवायो व्यापकत्वे सतीहबुद्धिनिमित्तत्वादात्मवत् । यदि पुनराश्रितः समवायः स्यात्, ततः कि स्वात् ? कार्यमनाधार स्यात् । कथिमिति ? पूर्वं तावत् कार्यवात्मानं लभते, पश्चात् कारणेषु समवायेन वर्तते इति प्राग्वृत्तेरनाश्रितं प्राप्नोति । समवायश्च कार्यकारणयोर्वर्तत इति वृत्तिरस्य वाच्या, न हि वर्तमानं किञ्चदन्वित्तमद् व्यव्यम् । प्राप्तित्वात् संयोगःवद् वर्तत इति चेत्, न, व्याघातात्—प्राप्तः संयोगः, वर्तते इति, किवियं वृत्तः प्राप्तिधर्मः, आहोस्वित् कार्यधरः ? वयं तु बूमः'

से - वस्तूतः जो (पदार्थ) जहाँ है, वह किसी सम्बन्ध से (वृत्त्या) वहाँ है और सम-वाय का दूसरा समवाय सम्बन्ध नहीं होता। यदि (एक) समवाय का दूसरा समवाय हुआ करे तो उसके भी अन्य समवाय की कल्पना करने में अनवस्था होगी। यदि अन-वस्था न होवे (अभीष्ट नहीं) तो प्रथम व्यवस्था ही रहे : (प्रश्न) क्या श्रद्धा करते हुए यह मान लेना चाहिये कि समवाय (किसी सम्बन्ध से) आश्रित नहीं होता अथवा (इस विषय में) युक्ति (न्याय) भी है ? (उत्तर) इसमें सन्देह नहीं, न्याय है ही -समवाय (किसी सम्बन्ध से) आश्रित नहीं पञ्जपदार्थवृत्ति शब्द का वाच्य होने से, परमाण के समान, यह अनुमान (न्याय) है। (और भी) समवाय (किसी सम्बन्ध से) आश्रित नहीं, व्यापक हो कर 'यहाँ है' (इह) इस ज्ञान का निमित्त होने से, आत्मा के समान । (शङ्का) यदि समवाय (किसी सम्बन्ध से) आश्रित हो, उससे क्या होगा ? (समाधान) कार्य विना आधार के होने लगेगा। कैसे ? पहले तो कार्य अपने रूप को (आत्मानम्) प्राप्त करता है बाद में (अपने) कारणों में समवाय से रहता है, इस प्रकार (कारणों में) रहने से (वृत्ते:) पहले (कार्य का) विना आधार के रहना प्राप्त होता है। किन्तु (च) कार्य और कारण में समवाय होता है अतः इस (सनवःय) का कोई सम्बन्ध कहना होगा; क्योंकि (हि) विद्यमान रहने वाला कोई सम्बन्ध के विना (अवृत्तिमत्) नहीं देख गया। (शङ्का) यदि (कहो) सम्वन्य होने से (प्राप्तित्वात्) संयोग के समान (समवाय का भी) सम्बन्घ होता है (वर्तते = वृत्ति होती है)। [समाधान] नहीं, विरोध होने से—संयोग प्राप्ति है, उसकी वृत्ति (सम्बन्ध) होती है (वर्तते)। क्या यह वृत्ति प्राप्ति का धर्म है अथवा कार्य का धर्म है। हम तो कहते हैं यह कार्य का धर्म

से सन्तुष्ट न होकर यह दूसरा अनुमान दिया गया है (टी॰ ३२४)।

नानवस्था — अनवस्था का जर्थ है अन्तहीन व्यवस्था। यह वहाँ ही प्रामाणिक है जहां कारण जौर कार्य में किसी का प्रथम होना निश्चित न किया जा सके। (द्र० टी० ३२४)।

ख्यातिनिमत्तानाम्— ख्याति = उपलब्धि, वहाँ समवाय की निवृत्ति नहीं होती, केवल जिनमें सम-वाय है उनकी निवृत्ति होती है। समवाय तो नित्य है।

न्यायवात्तिकम्

कार्यथमों न प्राप्तिथमं इति । तथा च कार्यान्तराण्यि प्राप्तिमन्ति सन्तीति । यि पुनित्यं वृत्तिः प्राप्तिधर्मोऽमविष्यत्, प्राप्तेरिप प्राप्त्यन्तरमभिवष्यदित्यनवस्थादोषः, प्राप्तेर्थृ त्तिमत्त्वात् । न चैनामनवस्थां किष्ट्यत् शक्तः प्रतिपादियतुम्, प्रमाणाभावात् । समवायश्व समदायान्तरेण वर्तते । इति बुवाणः शास्त्रं बाधते, तत्त्वं भावेन व्याख्यातम् [वै० सू० ७. २. २६] इति । सम्बन्धिनिवृत्तौ सम्बन्धोऽवितष्ठते इति न प्रमाणमित्त । न तास्ति, ख्यातिनिमित्तानां निवृत्तः —ख्यातिनिमित्तान्यस्य निवर्तन्ते । न समवायः । न तास्ति, ख्यातिनिमित्तानां निवृत्तः —ख्यातिनिमित्तान्यस्य निवर्तन्ते । यद्ययं कृतकः स्यात् कार्येण सहोपादानाद् अनाश्रितं कार्यं स्यात् । अथ कार्यात् पूर्वं भवति ? तथापि कस्येति वाच्यम् ? अथ पश्चाद् भवति ? कार्यानाधारतादोषस्तदवस्थः । तस्मात् स्वतन्त्वः समवाय इति सिद्धम् । तत्र प्रतिथिध्यमानधर्मविषयमनुमानम् असिद्धषयं न पुनिविधीयमानस्वतन्त्रधर्मविषयमिति । भवतीत्यसिद्धिषयमिति चेत्, भवित जायते

है प्राप्ति का धर्म नहीं, क्योंकि (तथा च) अन्य कार्य भी प्राप्ति वाले होते हैं। किन्तु यदि यह वृत्ति प्राप्ति का धर्म होती तो प्राप्ति की भी दूसरी प्राप्ति हुआ करती, इस प्रकार अनवस्था दोव होता, क्योंकि प्राप्ति तो वृत्ति (सम्बन्ध) वाली होती है। और, प्रमाग न होने से इस अनवस्था को कोई प्रतिपादित नहीं कर सकता। किञ्च, एक समवाय दूसरे समवाय से रहता है. यह कहने वाला 'तत्वं भावेन व्याख्यातम्' (समवाय के एकत्व की सत्ता द्वारा व्याख्या कर दी गई, नै० सू० ७.२.२८) इस शास्त्र का विरोध करता है। (आक्षेप) सम्बन्धी के चले जाने पर (भी) सम्बन्ध विद्यमान रहता है, इसमें कोई प्रमाण नहीं है। [पिरहार] नहीं है, ऐसा नहीं, उपलब्धि (ख्याति) के निमित्तों की निवृत्ति हो जाने से—इसकी उपलब्धि के निमित्त चले जाते हैं (निवर्तन्ते) समवाय नहीं (निवृत्त होता), अकृतक होने से; समवाय कार्य (कृतक्) नहीं, इसका कार्य के आधारवाला होने से अनुमान किया जाता है। यदि यह कृतक हो तो कार्य के साथ इसकी उत्पत्ति होने से कार्य आधार-हीन हो जाये। यदि (कहो) कार्य से पहले (समवाय) हो जाता है तो भी किसका (समवाय) यह कहना होगा (क्योंकि कार्य तो उस समय होता नहीं)। यदि (कार्य के) पश्चात् (समवाय) होता है तो कार्य के आघारहीन होने का दोव वैसा ही है। इसलिये समवाय स्वतन्त्र है, यह सिद्ध होता है। उनमें जो अनुमान प्रतिषिद्ध धर्म के विषय में होता है वह असिद्धप-यक होता है; किन्तु विधीयमान और स्वतन्त्र धर्म के विषय में होने वाला अनुमान (असद्विषयक) नहीं होता। (शङ्का) भवति (होता है) यह तो असद्विषयक है; क्योंकि

तथापि कस्येति वाच्यम् —कार्य कारण में समवाय सम्बन्ध से रहता है कार्य की उत्पत्ति से पूर्व कार्य के न रहने से उस समय होने वाला समवाय किसका होगा ?

प्रतिषिध्यमानधर्म विषयम् अर्तात और अनागत वर्तमान काल में नहीं होते, उसके विषय में जो अनुमान है वह असद्विषयक है। वाचस्पति मिश्र के अनुसार पहले धर्म दो प्रकार का है, विधीयमान और प्रतिषिध्यमान। विधीयमान दो प्रकार का है, परतन्त्र तथा स्वतन्त्र। स्वतन्त्र को विशेषण होने से धर्म कहा जा सकता है।

8.8.4]

न्यायवात्तिकम्

[853

इत्येकोऽर्थ इति । न जायमानार्थानम्युपगमात् । भवति विद्यते इति । एवं तावद व्यवस्थितमेतत् तत्पूर्वकमनुमानमिति ।

अपरे तु बुवते 'नान्तरीयकार्थदर्शनं तद्विदोऽनुमानम्' इति । अस्यार्थः, योऽथीं यसर्थमन्तरेण न भवति, स भवति नान्तरीयकः। नान्तरीयकश्चासावर्थश्चेति नान्तरीयकार्थः । तस्य दर्शनं तिद्वदोऽनुमानम् । यस्तं वेद नान्तरीयकोऽयिमिति । अत्रार्थ-ग्रहणमितिरिच्यते—न हि नान्तरीयकः स्यान्त चार्थ इति । नान्तरीयकार्थ इति च समासपदम् एतत् । तत्र यदि षष्ठीसमासो नान्तरीयकस्यार्थ इति, नान्तरीयकं तावत कृतकत्वम्, तस्यार्थो धर्मः प्रयोजनं वा । यदि तावद् धर्मः कृतकत्वस्यार्थः, सत्त्वप्रमे-यत्वाभिधेयत्वाद्यनुमानं प्राप्तम् । अथ प्रयोजनम्, अनित्यत्वप्रतिपत्तिर्हेतुः प्राप्तः ।

होता है (भवति) उत्पन्न होता है (जायते) इन दोनों का एक ही अर्थ है, यदि यह कहो (समाधान) तो ठीक नहीं; क्योंकि भवति का 'उत्पन्न हो रहा है' (जायमान) यह अर्थ नहीं माना जाता। भवति का अर्थ है विद्यमान है (विद्यते)। इस प्रकार यह तो

निश्चित है कि अनुमान प्रत्यक्षपूर्वक (तत्पूर्वक) होता है।

दूसरे (बौद्ध) तो कहते हैं—उसको जानने वाले का (तद्विदः) अविनाभावी (नान्तरीयक) अर्थ को देखना ही अनुमान है। इसका अर्थ है, जो अर्थ जिस अर्थ के विना नहीं होता वह नान्तरीयक (अविनाभावी) होता है, जो नान्तरीयक है तथा अर्थ है वह नान्तरीयकार्थ है (कर्मघारय समास) उसका दर्शन उसको जानने वाले का (तद्विदः) अनुमान है; जो उस (अर्थ) को जानता है कि वह उसका अविनाभावी है। [समीक्षा] इस (लक्षण) में 'अर्थ' शब्द का ग्रहण अधिक है (अतिरिच्यते) । ऐसा नहीं होता कि वह अविनाभावी हो और अर्थ न हो । [नान्तरीयकार्थ' में समास-दोष] नान्तरीयकार्थ यह समस्त पद है। उसमें यदि वष्ठी समास है—नान्तरीयक का अर्थ (नान्तरीयकस्य अर्थः) तब तो नान्तरीयक कहते हैं कृतक को, उसका अर्थ = धर्म या प्रयोजन है यदि (अर्थ=) धर्म है तो कृतकत्व के धर्म (=अर्थ) सत्त्व, प्रमेयत्व,

भवतीति- शङ्का का आशय है: कहीं कहीं विधीयमान भी असद् तथा प्रत्यक्ष होता है; जैसे जब कुम्भकार घट को बना रहा होता है तो घट बनता है, यह प्रतीति होती है। वस्तुतः तब घट होता नहीं। 'न जायमानः' इत्यादि समाधान का आशय है; उत्पन्न होते हुए पदार्थ की सत्ता या असत्ता नहीं होती किन्तु निषेध का विषय होने से उसकी असत्ता ही स्वीकारी जाती है। जायते तथा भवति में अर्थ-भेद है, 'भवति' का अर्थ है 'विद्यते'। 'घटो जायते' के अर्थ में जो घटो भवति का प्रयोग होता है, वहां घट के अवयवों को 'बट' ग्रब्द से कह कर उन अवयवों के सिद्ध होने के कारण घट को ही कर्ता मानकर कर दिया जाता है, टी० ३२५।

अपरे तु—तात्पर्य टीका के अनुसार यह दिङ्नाग का लक्षण प्रतीत होता है वस्तुतः यह वसुबन्धु का लक्षण है, विशेष द्र० बौद्ध दर्शन का विवेचन, पृ० १४२-१४४।

अत्रार्थग्रहणमतिरिच्यते—इस लक्षण में (१) 'अर्थ' शब्द का ग्रहण अधिक है, (२) 'नान्तरीय-कार्थं' शब्द में समास-दोष है, (३) 'तद्विदः' पद अनावश्यक है।

१२४]

[अनुमानम्

न्यायवात्तिकम्

अय बहुत्रीहिः नाग्तरीयकोऽर्थो यस्येति, तत्रापि कृतकृत्यं नान्तरीयकृमिति । तद्यस्य स हेतुः प्राप्तः । तच्च कृतकत्वं घटादेः, शब्दस्यानित्यत्वस्य वा ? यदि घटादेः, घटादि-हेंतुः प्राप्तोऽनित्यः शब्दो घटादिति । अथ शब्दस्य, शब्दो हेतुः प्राप्नोति, अनित्यः शब्दः शब्दादिति । अथानित्यत्वस्य साधनभावेन कृतकत्वं धर्मः, तथाप्यनित्यः शब्दोsितत्यत्वादिति हेतुः प्राप्नोति, अनित्यत्वस्थार्थः कृतकत्विमिति । सर्वथा कृतकत्वम-नित्यत्वे न हेतुः। अय सनानाधिकरणो नान्तरीयकश्चासावर्थश्चेति, तथाप्यसमर्थः समासः, विशेषणित्रशेष्यनियनासंभवात्—उभयपदन्यश्रिचारे सति समानाधिकरणो भवति, नी तोत्पलादिवत्, नील्झब्दस्याप्यनेकार्थवृत्तित्वात्, उत्पलझब्दस्य च तथा-अभिघेयत्व आदि का अनुमान होना प्राप्त होता है। यदि (अर्थ =) प्रयोजन है तो अनित्यत्व (= कृतकत्व) के ज्ञान का हेतु यह (अभित्राय) होता है। (फिर) यदि बहुत्रीहि समास है नान्तरीयक है अर्थ जिसका (नान्तरीयकोऽर्थो यस्य) वहाँ भी नान्तरीयक हैं कृतकत्व, वह जिसका है वह हेतु इससे प्राप्त होना है। और, वह कृतकत्व घट आदि का, शब्द का अथवा अनित्यत्व का (होगा)। यदि घट आदि का है तो घट आदि हेतु (रूप में) प्राप्त होता है। शब्द अनित्य है घट होने से। यदि (कृतकत्व) शब्द का है तो शब्द (ही) हेतु होता है, शब्द अनित्य है शब्द होने से । और यदि अनित्यत्व के साधन के रूप में कृतकत्व धर्म है तो भी, शब्द अनित्य है अनित्य होने से, यह अनुमान (हेतु) बनता है; क्योंकि अनित्यत्व का अर्थ है कृतकत्व । किसी प्रकार से भी (सर्वथा) कृतकत्व अनित्यत्व में हेतु नहीं होता । अव यदि 'वह नान्तरीयक भी है और अर्थ भी' इस प्रकार समानाधिकरण समास (कर्मधारय) है तथापि वह असमर्थ समास है; विशेषण तथा विशेष्य का नियम सम्भव न होने से --दोनों पदों में व्यभिचार होने पर समानाधिकरण होता है जैसे नीलोत्पल आदि में, 'नील' शब्द की भी अनेक अर्थों में वृत्ति है और 'उत्पल' शब्द की भीं वैसे ही है अतः (इनका)

समानाधिकरणो भवति—कर्मधारय समास विशेषण तथा विशेष्य का होता है 'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्', पा० २. १. ५६।

एकपदब्यिमचारेऽपि आक्षेप का अभिप्राय है, दोनों पदों का व्यभिचार होने पर ही सामाना-धिकरप्य नहीं होता अपि तु एक पद का व्यभिचार होने पर भी होता है, जैसे 'पृथिवी द्रव्यम्', यहां पृथिवी तो सदा द्रव्य ही है अतः व्यभिचार नहीं किन्तु पृथिवी से भिन्न जल आदि भी द्रव्य होते हैं अतः यहां व्यभिचार है।

अत्रापि उभयपदव्यभिचार: — पृथिवी पद प्रधानतया पृथिवी (द्रव्य) को कहता है तथा गौण रूप में पृथिवीत्वसामान्य को कहता है। इसी प्रकार 'द्रव्य' पद भी।

अर्थशब्द: -- अविनाभावी अर्थ ही होता है अतः नान्तरीयक = अविनाभावी कहने से 'अर्थ' प्रतीत हो जाता है। 'अर्थ' णव्द का प्रयोग निर्थिक है।

तिद्वः कोई पदार्थं तभी नान्तरीयक होता है जब उसे कोई व्यक्ति इस रूप में जानता हो कि यह उसका नान्तरीयक (अविनाभावी) है।

2.2.4]

[१२%

न्यायवातिकम्

भावात् सामानाधिकरण्यं भवति । न पुनिरह नान्तरीयक इत्युक्ते अस्ति व्यक्तिचारीऽर्योऽनर्थ इति, यतोऽर्थग्रहणं समर्थं स्यादिति । एकपदव्यभिचारेऽपि दृष्टं सामानाधिकरण्यम्; यथा पृथिवी द्रव्यमिति । अत्रापि उभयपदव्यभिचारः; प्रधानाङ्गभावस्य
भेदेन पृथिवीशव्देन द्रव्यमुच्यते, पृथिवीत्वं च । द्रव्यशब्देनापि प्रधानाङ्गिविवक्षायां द्रव्य
द्रव्यत्वं च । अत उभयपदव्याभिचारात् पृथिवी द्रव्यमिति युक्तं वक्तुम् । इदं पुनर्नः
युक्तं नान्तरीयकार्थदर्शनमिति । कस्मात् ? अर्थप्रत्यायनार्थत्यात् शब्दप्रयोगस्य —
अर्थप्रत्यायनार्थं हि शब्दस्य प्रयोगिमच्छिन्ति । नान्तरीयक इति चोक्ते अर्था गम्यते,
अतौ त युक्तोऽर्थशब्द इति । तिद्वद इति च न युक्तम्, नैवान्यथा नान्तरीयक इति ।
व हि नारिकेलद्वीपवासिनो धूमदर्शने नान्तरीयकिमिति ज्ञानमस्ति । अतस्तद्विद
इत्येतदिष न वक्तव्यम् ।

एतेन तादृगिवनाभाविधर्मोपदर्शनं हेतुरिति प्रत्युक्तम् । कीऽतिदेशार्थः ? यथा

सामानाधिकरण्य होता है। किन्तु यहाँ 'नान्तरीयक' यह कहने पर 'अर्थ है या अनर्थ' इस प्रकार का व्यभिचार नहीं है जिससे 'अर्थ' शब्द का ग्रहण सप्रयोजन हो सकता। (आक्षेप) एक पद का व्यभिचार होने पर भी सामानाधिकरण्य देखा गया है जैसे पृथिबी द्रव्य है। [पिरहार] यहाँ भी दोनों पदों का व्यभिचार होता है; क्योंकि प्रधान और अङ्ग होने के भेद से पृथिबी शब्द से पृथिबी द्रव्य कहा जाता है और पृथिबीत्व सामान्य भी। द्रव्य शब्द से भी प्रधान तथा अङ्ग कहने की इच्छा होने पर द्रव्य तथा द्रव्यत्व कहा जाता है। इस प्रकार दोनों पदों का व्यभिचार होने से 'पृथिबी द्रव्य है' यह कहना युक्त है। किन्तु 'नान्तरीयकार्थदर्शन' कहना युक्त नहीं। क्यों ? शब्द का प्रयोग अर्थ-बोधन के लिये होने से—(व्यक्ति) अर्थ-बोधन के लिये ही शब्द का प्रयोग करना चाहते हैं और 'नान्तरीयक' यह कहने पर अर्थ' की प्रतीति हो जाती है अतः यहां 'अर्थ' शब्द का प्रयोग युक्त नहीं। किञ्च, 'तदिदः' यह कहना भी युक्त नहीं, विना जाने (अन्यथा) ही कोई नान्तरीयक (अदिनाभावी) नहीं होता, वस्तुतः नारिकेल-द्वीप के निवासी को धूम का दर्शन होने पर (यह अग्नि का) अविनाभावी है (नान्तरीयकम्), यह ज्ञान नहीं होता। इसलिये (अनुमान के इस लक्षण में) 'तदिदः' यह भी न कहना चाहिये।

इस कथन से 'वैसे अविनाभावी धर्म का दर्शन हेतु है' इस का भी निराकरण हो गया। इस अतिदेश का क्या प्रयोजन (अर्थ) है ? जिस प्रकार 'नान्तरीयकार्थ-

एतेन—इस कथन से। इस लक्षण में 'तद्विदः' शब्द नहीं है। अतः यह पहले लक्षण से भिन्न है। यहां 'अर्थ' के स्थान पर 'धर्म' शब्द है। यह किसका लक्षण है, यह निश्चित नहीं। यह कहा जा सकता है कि वाचस्पात मिश्र के अनुसार यह दिङ्नाग से भिन्न किसी आचार्य का अनुमान-लक्षण है—तदनेन दिग्नागस्य लक्षणं दूषित्वा अन्येषां लक्षणं दूषितम्, टी० ३२७।

अतिदेशार्थ: अन्य के धर्म को अन्य पर लागू करना अतिदेश कहलाता है, अतिदेशो नाम इतर-स्मिन् प्रयोगाय आदेश: (V. S. Apte)। १२६

[अनुमानम्

न्यायवात्तिकम्

नान्तरीयकार्यदर्शतेऽर्थग्रहणमयुक्तं तथा धर्मग्रहणमि इति । उदाहरणं तु यथा वूमोऽग्ने-रिति । एतच्य न संभवतीत्यनेकधा वर्णितम् ।

अपरे तु मन्यन्ते; 'अनुमेयेऽथ तत्तु त्ये सद्भावो नास्तितासितं' इत्यनुमानम् । एतेन च नुमेयैकदेशवृत्तिरिप संगृहीत इत्यलक्षणम्; यथा अनित्याः परमाणवो गन्धवत्त्वाद् घटविति । अनुमेये सद्माव इत्यभिधानादप्रसङ्गोऽयम् । नाप्रसङ्गः, एकदेशवृत्ते स्तद्धर्मत्वाद् विपक्षेकदेशवृत्ति स्तद्धर्मत्वाद् विपक्षेकदेशवृत्ति स्तद्धर्मत्वाद् विपक्षेकदेशवृत्ति स्तद्धर्मत्वाद् विपक्षेकदेशवृत्ति स्तद्धर्मत्वाद् विपक्षेकदेशे वर्तमानो न पक्षे नास्तीत्येतद्व्युदासे घत्नः कर्तव्यः । न, न कर्तव्यः, अवधारणान्निवृत्तेः—अनुमेये सद्माव इ यत्रावधारणे हे । किम् ? अनुमेये एव सद्भावोऽयानृमेये सद्भाव एवेति । कि पुनरनेन पूर्वेणावधारणेन कियते, किमसंभवो निवत्यंते, अय संभवो ज्ञाप्यते ? उभयथा च नावधारणेनार्थः विनैव तदिधगतेः—

दर्शन' में 'अर्थ' शब्द का ग्रहण युक्त नहीं उसी प्रकार (इस लक्षण में) 'धम' शब्द का ग्रहण भी। उनका उदाहरण है जैसे धूम अग्नि का (अविनाभावी है) और यह सम्भव नहीं है ऐसा अनेक बार कहा जा चुका है।

दूसरे (दिङ्नाग) तो मानते हैं; पक्ष (अनुमेय) में और उसके समान अर्थांत् सपक्ष में (हेतु) की सत्ता होना तथा विपक्ष (असित) में न होना, यह अनुमान है। [समीक्षा] और इससे पक्ष के एकदेश में रहने वाला भी संगृहीत हो जाता हैं अतः यह लक्षण नहीं (अलक्षणम्); जैसे परमाणु अनित्य हैं, गन्ध वाले होने से, घट के समान। (बौद्ध की शङ्का) 'पक्ष में सद्भाव' इस कथन से अनिष्टापत्ति (प्रसङ्ग) नहीं होगा। (समाधान) ऐसा नहीं कि प्रसङ्ग न होगा; क्योंकि जो (पक्ष के) एकदेश में रहता है, वह भी पक्ष का धर्म (तद्धर्म) है, विपक्ष के एकदेश में रहने वाले के समान; जैसे विपक्ष के एकदेश में रहने वाला विपक्ष में नहीं है, ऐसा नहीं, इसी प्रकार पक्ष के एकदेश में रहने वाला (भी) पक्ष में नहीं है, ऐसा नहीं। इसलिये इसकी व्यावृत्ति के लिये (व्युदासे) प्रयत्न करना होगा। (बौद्ध) नहीं, न करना होगा, अवधारण (नियम) से व्यावृत्ति (निवृत्ति) हो जाने के कारण—अनुमेये सद्भावः (पक्ष में होना) यहाँ दो अवधारण हैं। कैसे (किम्)? (क) पक्ष में ही होना (ख) पक्ष में होना ही। (प्रक्र) किन्तु (पुनः) इस पहले अवधारण से क्या किया जाता है? क्या अतम्भव की निवृत्ति की जाती है अथवा सम्भव सूचित किया जाता है। और, दोनों प्रकार ही अवधारण का कोई प्रयोजन नहीं; उसके विना ही उसका ज्ञान हो जाने

अपरे तु—वाचस्पिति मिश्र के अनुसार यह भी दिङ्नाग का ही मत है, संप्रति दिग्नागस्य स्वलक्षण-प्रपञ्चार्थं वाक्यम् अनुमेयेऽथ तत्तुल्ये इत्याद्युपन्यस्य दूषयति......अनन्तरलक्षणकारमपेक्ष्यापरे इ युक्तम्, टी० ३२७।

अनुमेये सद्भाव:—यह बौद्ध का कथन है, चोदयित अनुमेय इति, टी० ३२७। अवधारणात् निवृत्तो:——'अनुमेये सद्भाव एव' इस अवधारण से पक्ष के एकदेश में रहने वाले की निवृत्ति हो जायेगी।

2.2.4]

[? 20

न्यायवात्तिकम्

विनाप्यवधारणेनायमथां गम्यते, अनुमेथे सद्भावोऽसद्मावश्च नेति । न चैकदेशवृत्ति-निराकृत इत्यवधारणं व्यर्थम् । उत्तरपदबाधा च—अथोत्तरमवधारणमभ्युपगम्यते तस्य व्याप्तिरर्थः, तथाप्यनुमेयसवधारितं भवति व्याप्त्या न धर्मः; यत एवकरणं ततोऽन्यत्रा-वधारणमिति । संभवव्याप्त्या चानुमेयं नियतम्, व्याप्त्यव्याप्तिभ्यां च संभवः प्रसृतः । तस्य च द्वौ राशी शिष्यमाणौ तत्तु त्यो विपरीतश्च । तत्र नास्तिता असतीत्यनेन विपरी-तान्निवर्त्यताम् । तत्तु त्ये सद्माव इति किमर्थमारभ्यते ? न ह्यनेन अप्राप्तं किन्वित् प्राप्यते । तत्तु त्ये च संभवमात्रं विदक्षितमिति । संभवमात्रं च व्याप्त्यव्याप्तिभ्यामिन-यते न संभवेन लभ्यते । अथ तत्तु त्ये सद्भाव इत्येतदवधारणार्थमारभ्यते, कि पुनरत्राव-

से (तद्विगते:) — अवधारण के विना भी यह अर्थ प्रतीत हो जाता है, पक्ष में होना, न होना नहीं। किञ्च, (इससे) एकदेश में रहने वाले का निराकरण नहीं हैोता अतः अववारण व्यर्थ है। और, उत्तरपद (ततुल्ये) का विरोध होता है। यदि दूसरा (= उत्तरम्) अवधारण (अनुमेये सद्भाव एव) माना जाता है तो उसका अर्थ व्याप्ति होगा (सभी पक्षों में हेत् का सदभाव), किर भी व्याप्ति से पक्ष का अवधारण होता है धर्म (सद्भावः) का नहीं; जिससे परे 'एव' शब्द होता है उतसे दूसरे स्थल पर अवधारण होता है। संभव (होने) की प्राप्ति से (अर्थात् हेत् के पक्ष में सर्वत्र होने से = अनुमेये सद्भाव एव) पक्ष का अवधारण हो गया (नियतप्), संभव (होना) तो व्याप्ति और अव्याप्ति दोनों में फैला है (प्रसतः)। उसके शेप कहे गये (शिष्यमाणी) दो वर्ग हैं पक्ष के तुल्य (सपक्ष) और उससे विपरीत (विपक्ष)। उनमें विपक्ष में न होना (नास्तिताऽसति) इस कथन के द्वारा विपक्ष से निवृत्ति हो जायेगी, किर सपक्ष में न होना (तत्त ल्ये सदभावः) किस लिये किया जा रहा है ? इससे किसी अप्राप्त (अर्थ) की प्राप्ति तो होती नहीं; क्योंकि (च) सपक्ष में होना (तत्तुल्ये सद्भावः) इससे हेतु का होना मात्र विवक्षित है और होना मात्र व्याप्ति तथा अव्याप्ति से निर्धारित न किये गये होने (संभव) से प्राप्त हो जाता है। यदि उसके तुल्य (सपक्ष) में होना (तत्तु ल्ये सदभाव:) यह अवयारण के लिये किया जाता है, तो यहाँ क्या

कि पुन: ··· कियते—असंभवः = अत्यन्तासंभवः, जैसे कमल नील होता ही है, यहां कमल में नील के अत्यन्ताभाव की निवृत्ति की जाती है। संभवः, जैसे कमल का नीला होने की संभावना है। उभयथा ··· नार्थः—दोनों विकल्पों में अवधारण व्यथं है।

उत्तरपदबाधा च — यदि कहो अन्ययोगव्यवच्छेद के लिये अवधारण है तो उत्तरपद = अग्रिम पद 'तत्तु ल्ये' (समास का उत्तर पद नहीं) से विरोध होता है जो अनुमेथ में ही है (अनुमेथे एव अस्ति(वह सपक्ष में कैसे होगा।) एव के तीन अर्थ हैं अत्यन्तायोग-व्यवच्छेद, अन्ययोग-व्यवच्छेद और अयोग-व्यवच्छेद। अयोग-व्यवच्छेद अर्थ में एव मानें तो—

अथोत्तरमद्धारणम् —यदि दूसरा अवधारण है अनुमेये सद्भाव एव तो इसका अभिप्राय

१२८]

[अनुमानम्

न्याथवात्तिकम्

धार्यते ? कि तत्तु त्य एव सद्भावः, अथ तत्तु त्ये सद्भाव एवेति ? यदि तत्तु त्य एव सद्भाव इति सद्भावोऽवधारितः, तदा पूर्वोत्तरपदे वाधिते भवतः, न हि भवति देवदत्तमेव भोजय यज्ञदत्तं च । तथेहापि तत्तु त्य एव सद्भावोऽनुमेये चेत्युन्मत्तवाक्यम् । अथ तत्तु त्ये सद्भाव एव, तत्तु त्ये कदेशवृत्तिः प्रस्तन्तान्तरीयकत्वादिस्तं स (न) हेतुरिति प्राप्तम ।

असित नास्तितित चासंप्रधार्य प्रोक्तम्, यदसत् स्वयमेव तन्नास्ति। न हि असदाधारो भवति यतस्तत्र प्रतिषेधः स्यादिति। एतद्रष्टि चावधारणार्थमारभ्यते। किमवधार्यते, नास्तितैव, असत्येवेति वा? यदि तावन्नास्तितैव, असतीति व्यर्थम्; अनुक्तेऽपि तद्रधिगतेः—अनुक्तेऽप्येतद्गम्यतेऽसिति नास्ति' इति। अथ पुनरसत्येव नास्ति, न पुनर्नास्त्येव।

अवधारण किया जा रहा है ? क्या उसके तुल्य (सपक्ष) में ही होना अथवा उसके तुल्य (सपक्ष) में होना ही। यदि उसके तुल्य (सपक्ष) में ही होना, इस प्रकार 'होना' (सद्भाव) का अवधारण किया जाता है तो पूर्वपद और उत्तरपद वाधित (वाधिते) हो जाते हैं ऐसा नहीं कहा जाता कि देवदत्त को ही भोजन कराओ और यज्ञदत्त को मी। उसी प्रकार यहाँ भी उसके तुल्य (सपक्ष) में ही सद्भाव होता है और पक्ष (अनुमेय) में भी, यह उन्मत्त का वाक्य होगा। यदि फिर उसके तुल्य (सपक्ष) में होना ही (यह अवधारण किया जाता है) तो उसके तुल्य (सपक्ष) के एकदेश में रहने वाला अहेत् होगा—जो उसके जाति वाले के एकदेश में रहने वाला 'प्रयत्नान्तरीय-कत्व' (प्रयत्न के पश्चात् उत्पन्न होना) आदि है, वह हेतु नहीं होगा (न हेतुरिति प्राप्तम्)।

विपक्ष में (असित) न होना (नास्तिता), यह विना विचारे (असंप्रधार्य) कहा गया है, जो असत् है वह (तो) स्वयं ही नहीं होता। असत् आधार ही नहीं होता। जिससे उसमें (कियी के होने का) प्रतिवेध हो सके। और, यदि यह भी अववारण के लिये किया गया है; क्या अवधारण किया जा रहा है, न होना ही अथवा असत् में ही ? यदि प्रथमतः न होना ही (अवधारित किया गया है) तो असत् में (असित) यह व्यर्थ है; विना कहे भी उसका ज्ञान (अधिगति) हो जाने से—कथन के विना भी यह जान लिया जाता है कि (वह) असत् में नहीं होता। और, यदि असत् में ही न होना (यह अवधारण है) तो 'यह गौ है, सींग वाली होने से, यह भी (सद्) हेतु प्राप्त होता है; क्योंकि यह असत् में ही नहीं है ऐसा नहीं कि है ही नहीं।

होगा प्रत्येक पक्ष में हेतु का होना (व्याप्ति) । शिष्यमाणी— शेष रहे हुए सपक्ष और विपक्ष । स हेतुरिति प्राप्तम् — 'स न हेतुरिति प्राप्तम्', यह पाठ शुद्ध है (द्र० म० गङ्गानाथ झा) । सिप्तिकासंभवे — यहाँ पाठ है— सिप्तिकासंभवे पट्प्रतिषेधाद् एकद्विपदपर्युदासेन विलक्षणो हेतुः' (द्र० न्या० वा० १ १ २४, पृ० ४४२) । यदि क्रमशः एक-एक पद रक्खा जाये तो तीन संभावनाएं हैं— १. पक्षस्यैव धर्मः, २. समान एव पक्षे सिद्धः, ३. विपक्षे नास्ति । दो-दो पद रखने पर,

१.१.४]

न्यायवर्गत्तकम्

ैयदप्येकद्विपदपर्यु दासेन ^२सप्तिकासंभवे षट्प्रतिषेधमुक्त्वा त्रिपदपरिग्र-हेण त्रिलक्षणो हेतुरभिधीयते, एतदपि द्विपदयुक्तयोरन्वियनोहेंतुत्वात् द्विपदयुक्तस्य च व्यितरिक्षण एकस्य हेतुत्वादयुक्तम्—अनभ्युपगतिन्त्यपक्षस्य कृतकत्वप्रयत्न-नान्तरीयकत्वे द्विपदयुक्ते एव विपक्षाभावाद्धेत् भवतः। व्यितरेक्यपि तत्तुत्यासंभवात् द्विपदयुक्तश्च भवति हेतुश्चेतिः, यथा नेदं निरात्मकं जीवच्छरीरम्, अप्राणित्व-प्रसङ्गादिति। अतोऽव्यापकत्वादलक्षणमेत्रदिति।

एतेन संबन्धादेकस्मात् प्रत्यक्षात् शेषसिद्धिरनुमानिमिति लक्षणं प्रत्युक्तम् । कथिमिति ? न ह्योकस्मात् प्रत्यक्षादनुमानं भवित । अथिष संवधादेकस्मात् प्रत्यक्षात् इति ? एतदिष नैव, न ह्ययं तदा संबन्धं पश्यित यदानुमिमीते इति । अथ पूर्वं दृष्टम् इति ? तथाप्युपलद्धसंबन्धस्य पूर्वमनुभानकाले चानुपलद्धिलङ्गस्यानुमानं प्रसज्येत ।

जो यह (कहा) है कि सात संभावनाएँ होने पर एक या दो पदों को हटाने से (पर्यु दासेन) (उनमें से) छह का प्रतिषेध करके तीन पदों के ग्रहण से त्रिरूप हेतु कहा गया है, यह भी अयुक्त है; क्योंकि दो पदों से युक्त (दो) अन्वयी हेतु होते हैं और दो पदों से युक्त एक व्यितरेकी हेतु होता है—जो नित्यता के पक्ष को नहीं मानता उसके यहाँ कृतकत्व और प्रयत्नान्तरीयकत्व (दोनों) दो पदों से युक्त ही हेतु होते हैं; क्योंकि वहाँ विपक्ष (नित्य) होता ही नहीं। व्यितरेकी भी उस पक्ष के समान (सपक्ष) संभव न होने से दो पदों से युक्त होता है तथा (सद्) हेतु भी; जैसे यह जीवित शरीर आत्मा-रहित नहीं है। अप्राणी होने लगने से। इसलिये व्यापक न होने से (अव्याप्ति दोष के कारण) यह उचित लक्षण नहीं।

इस (कथन) से सम्बन्धाद् इत्यादि (सम्बन्ध होने के कारण एक प्रत्यक्ष से शेष की सिद्धि अनुमान है) इस लक्षण का भी निराकरण कर दिया गया। कैसे ? क्योंकि (हि) एक प्रत्यक्ष से अनुमान नहीं होता। यदि कहो कि एक सम्बन्ध के प्रत्यक्ष से (अनुमान) होता है। यह भी नहीं; क्योंकि यह (अनुमाता) तब सम्बन्ध को नहीं देखता, जब अनुमान करता है। यदि (कहो) सम्बन्ध पहले देखा है। तब भी पहले सम्बन्ध को जान लेने वाले किन्तु अनुमान के समय लिङ्ग को न देखने वाले

४. पक्षस्य धर्म: समाने च सिद्धः, ५. पक्षस्य धर्मः विपक्षे नास्ति, ६. समाने एव च सिद्धः विपक्षे नास्ति । इस प्रकार हेतु-लक्षण के तीन पदों में से एक पद या दो पद रखने पर ये छह संभावनाएँ होती हैं। जिनसे कमशः निम्न प्रयोगों में भी सद् हेतु होने लगेंगें १. नित्यः शब्दः कृतकत्वात्, २. नित्यः शब्दः चाक्षुषत्वात् सामान्यवत्, ३. नित्यः शब्दः असत्वात्, ४. अनित्यः शब्दः प्रमेयत्वात्, ५. नित्यः शब्दः जातिमत्त्वे सित श्रावणत्वात्, ६. नित्याः परमाणवः कृतकत्वात् । इसिन्ये हेतु के लक्षण में एक या दो पदों को छोड़ कर तीन पदों कः ग्रहण किया गया है। इस प्रकार सप्तम रूप यह होता है, पक्षस्य धर्मः समाने च सिद्धो विपक्षे च नास्ति । (द्र० न्या० वा० १.१. ३५, टी० १.१.४, ३४ ।

१ यद्यपि, क. यदपि, ख. २. सप्तिकासं भवेन, क; सप्तिकासंभवे, ख,

[अनुमानम्

न्यायवात्तिकम्

न चान्या गितरिस्त । रूपेण च स्पर्शानुमाने स्वदृष्टिच्याकोपः । न ह्ययं रूपस्पर्शयोः संबन्धमुपलभते । अथैकार्थसमवायः सम्बन्ध इति । सोऽपि स्वदर्शनच्याघातादयुक्त इति । न हि रूपस्पर्शावेकिस्मिन्नथे परस्य वर्तेते । यत्र रूपं तत्र स्पर्श इति, एतदिष नास्ति । न क्वचिद्रूपं स्पर्शो वा । परस्पराधाराधेयत्वेन स्यादिति चेत्, परस्पराधाराध्येयत्वेन रूपादिति चेत्, परस्पराधाराध्येयभावेऽपि न रूपं स्पर्शे न स्पर्शो रूप इति ।

को भी अनुमान होने लगेगा। और, अन्य गित है नहीं। किञ्च, रूप से जो स्पर्ण का अनुमान होता है उसमें अपनी दृष्टि का विरोध (व्याकोप) होगा; क्योंकि (हि) यह (अनुमाता) रूप और स्पर्ण के सरवन्ध को नहीं देखता। यदि वहाँ एकार्थसमवाय (एक अर्थ में समवाय होना) सम्बन्ध है, वह भी अपने सिद्धान्त (दर्णन) का विरोध होने से अयुक्त है। वस्तुतः दूसरे (सांख्य) के मत में रूप और स्पर्ण एक अर्थ में (समवेत) नहीं होते। जहाँ रूप है वहाँ स्पर्ण है, यह भी नहीं है; (क्योंकि) कहीं रूप अथवा स्पर्ण नहीं हैं। परस्पर आधार-आधेय-भाव से (दोनों) होंगे यदि ऐसा कहीं तो परस्पर आधार-आधेय-भाव से (दोनों) होंगे यदि ऐसा

हिपदयुक्तयोरन्विधनो :---एक अव्वयी अनुमान में हेत्रु सपक्ष में व्याप्त होता है दूसरे में सपक्ष में व्याप्त नहीं होता। इसलिये द्विरूपयुक्त अन्वयी दो प्रकार का कहा गया है (टी० ३३०)।

अनभ्युपगतिनत्यपक्षस्य — जो किसी वस्तु को नित्य नहीं मानता, 'सर्वमनित्यम्' कहता है। जो किसी वस्तु को नित्य नहीं मानता, उसके मत में भी विषक्ष (नित्य)न होने से शब्दोऽनित्यः कृतकत्वात् 'शब्दोऽनित्यः प्रयत्ननान्तरीयकत्वात्' यहाँ कृतकत्वात् और प्रयत्ननान्तरीयकत्वात्, दोनों सद् हेतु हैं। सम्बन्धादेकस्मात् — यह सांख्य का अनुमानलक्षण है, संप्रति सांख्यीयमनुमानं दूपयित — एतेनेति ही० ३३०। सम्बन्धः = अविनाभावः, टी०, शेषस्य = अनुमेयस्य, टी०।

न ह्ये करमात् प्रत्यक्षात् — यहाँ दो दिकत्प हैं : शब्द प्रत्यक्ष (ज्ञान) का विशेषण है या सम्बन्ध का ? प्रथम पक्ष में दोष यह है कि एक प्रत्यक्ष से अनुमिति नहीं होती। दूसरे पक्ष में 'एतदिप नैव' इत्यादि दोष है।

अनुपलब्धिलिङ्गस्य—अनुपलब्धं लिङ्गयेन स तस्य, लिङ्ग (धूम आदि) को न देखने वाले को । स्रपेण च—यहाँ लक्षण की अब्यापकता दि खलाई गई है। रूप और स्पर्ण का तादातम्य तो है नहीं; क्योंकि दोनों भिन्न-भिन्न इन्द्रियों से गृहीत होते हैं तथा भिन्न-भिन्न ज्ञानों के विषय हैं। इसके अतिरिक्त और भी कोई सम्बन्ध इनमें नहीं है किञ्च, सांख्य के प्रतिक्षण परिणामवाद में कुण्ड और बदर आदि का भी कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता।

सोऽपि = एकार्थसमवायः अपि । एक अर्थ में समवाय सम्बन्ध होना ।

स्वदर्शनव्याधाताद्—सांख्य के सिद्धान्त में समवाय नामक सम्बन्ध नहीं होता और न ही उसका आश्रय द्रव्य होता है, अतः एकार्थसमबाय नहीं बनता।

यत्र रूपं तत्र स्पर्श: —यि सोख्य कहे कि प्रधान (प्रकृति) एक आश्रय ही है अतः जहाँ रूप हैं वहां स्पर्ध है। इसके उत्तर में कहा गया है एतदिप नास्ति, सांख्यमत में प्रधान कार्यों का आश्रय नहीं है अपि तु कार्य प्रधानात्मक हैं।

न्यायसूत्रं भाष्यं च

अथोपनानम्-

प्रसिद्ध साध्यर्यात् साध्यसाधनमुपमानम् १।१।६।।

प्रज्ञातेन सामान्यात् प्रज्ञापनीस्य प्रज्ञापनम् उपमानमिति; यथा गौरेवं गवय इति । किं पुनरत्रोपमानेन क्रियते, ? यदा खल्वयं गवा समान-धर्मं प्रतिपद्यते, तदा प्रत्यक्षतस्तमर्थं प्रतिपद्यते इति ? समाख्यासम्बन्ध-प्रतिपत्तिः उपमानार्थं इत्याहः यथा गौरेवं गवय इत्युपमाने प्रयुक्ते गवा समानधर्माणम् अर्थमिन्द्रियार्थसन्निकर्षादुपलभमानो स्य गवयशब्दः संज्ञेति संज्ञासंज्ञिसम्बन्धं प्रतिपद्यते इति । यथा मुद्गस्तथा मुद्गपर्णी, यथा माषस्तथा न्यायवात्तिकम्

एतेन सप्तिक्धः संबन्ध इति प्रत्युक्तम् न हि कार्यकारणभावादीनां संबन्धानां रूपस्पर्शयोरन्यतमः संभवति । तस्मात् न रूपेण स्पर्शानुमानं युक्तम् । अतोऽव्यापक-त्वादलक्षणम् इति । निध्ठितमनुमानम् । १।१।५।

उपमान—निरूपण

ज्ञात के साधम्यं से ज्ञेय (साध्य) की सिद्धि करना उपमान है। ।१।१।६॥

भली भाँति ज्ञात के सादृश्य (सामान्य) से ज्ञेय (प्रज्ञापनीय) को सिद्ध करना उपमान है; जैसी गी वैसी गावय (नीलगाय) होती है। (प्रश्न) किन्तु यहाँ उपमान से क्या किया जाता है : वस्तुत: जब यह (प्रमाता) गौ के समान धर्म वाले (पण्) को जानता है तब प्रत्यक्ष से ही उस अर्थ को जान लेता है ? (उत्तर) संज्ञा (समाख्या) के सम्बन्ध का ज्ञान (प्रतिपत्तिः) उपमान का फल (अर्थः) है, यह कहते हैं; जैसी गी वैसी गवय इस उपमान का प्रयोग करने पर गौ के समान धर्म वाली वस्तु (अर्थ) को इन्द्रिय और वस्तु (अर्थ-गवय) के सन्निकर्ष से उपलब्ध करने वाला (ब्यक्ति)

इस (कथन) से सात प्रकार का सम्बन्ध होता है इस (सांख्यमत) का भी निराकरण कर दिया गया, क्योंकि (हि) रूप और स्पर्श में कार्यकारण भाव आं सम्बन्धों में से कोई एक नहीं हो सकता। इसलिये रूप से स्पर्श का अनुमान होना युक्तियुक्त नहीं । अतः अव्यापक होने से यह (अनुमान का) लक्षण नहीं ।१।१।४॥

इस प्रकार अनुमान निश्चित हुआ (निष्ठितम्)।

परस्पराधाराधेयभावेऽपि न---परस्पराश्रय से (जैसे मेज के अङ्ग एक दूसरें पर आश्रित होते हैं) भी रूप तथा स्पर्श का एकार्थसमवाय नहीं होता; क्योंकि रूप स्पर्श आदि की स्थिति परस्परहेतुक नहीं होती अपि तु भोग तथा अपवर्ग के निमित्त से होती है।

सप्तिविधः सम्बन्धः —वाचस्पति मिश्र के अनुसार सप्तिविध सम्बन्ध साँख्य का अभिमत है एतेन सिंह्यानां सप्तविधः सम्बन्धः प्रत्युवतः, टी० ३३९। इस विषय में वाचस्पति मिश्र ने अन्य स्यल (टी० ३०१) पर एक कारिका उदधत की है।

मात्रानिमित्तसंयोगिविरोधिसह्वारिभिः। स्वस्वामिवध्यवाताद्यैः सांख्यानां सप्तधानुमा ॥

[उपमानम्

न्यायभाष्यम्

माषपर्गीत्युपयाने प्रयुक्ते उपमानात् संज्ञासंज्ञित्तन्बन्धं प्रतिपद्यमानस्तामोषधीं भैषज्याय आहरति । एवमन्योऽप्युपमानस्य लोके विषयो बुभुत्सितव्य इति ।१।१।६॥

न्यायवात्तिकम्

अथोपमानम् । प्रसिद्धसाधम्यात् साध्यसाधनमुपमानम् । सूत्रार्थः पूर्ववत् । प्रसिद्धसाधम्यादिति, प्रसिद्धं साधम्यं यस्य, प्रसिद्धेन वा साधम्यं यस्य, सोऽयं प्रसिद्ध-साधम्या गवयः । तस्मात् साध्यसाधनमिति । समाख्यासम्बन्धप्रतिपत्तिरूपमानार्थः । किमुक्तं भवति ? आगमाहितसंस्कारस्मृत्यपेक्षं सारूप्यज्ञानम् उपमानम्—यदा ह्यनेन श्रुतं भवति यथा गौरेवं गवय इति, प्रसिद्धे गोगवयसाधम्ये पुनर्गवयसाधम्ये पश्यित प्रत्यक्षम्, ततस्तस्य भवत्ययं गवय इति समाख्यासम्बन्धप्रतिपत्तिः ।

इसकी 'गवय' शब्द संज्ञा है. इस प्रकार संज्ञा (गवय शब्द) और संज्ञी (गवय पशु) के सम्बन्ध को जान लेता है। (इसी प्रकार) जैसी मूंग (मुद्गः) वैसी मुद्गपर्णी, जैसा माप (उड़द का पौधा) वैसी मापपर्णी इस प्रकार उपमान का प्रयोग करने पर उपमान (प्रमाण) से संज्ञा और संज्ञी के सम्बन्ध को जानने वाला उस बूटी (ओषधी) को दवा के लिये (भैषज्याय) ले आता है। इस प्रकार अन्य भी लोक में उपमान का विषय जान लेना चाहिये।।१।१।६॥

अब उपमान (प्रमाण) है। प्रसिद्धसाधम्यात् साध्यसाधनमुपमानम् यह उपमान का लक्षण है। सूत्र का अर्थ पहले के समान है। (सूत्र के पदों का अर्थ यह है) प्रसिद्ध-साधाम्यात् का अर्थ है प्रसिद्ध (ज्ञाता) है सादृश्य जिसका अथवा ज्ञात (प्रसिद्ध) से है सादृश्य जिसका वह यह प्रसिद्धसाधम्यं वाला गवय है। उससे साध्य (समाख्या-सम्बन्धः) की सिद्धि करना (साधनम्)। संज्ञ से सम्बन्ध का ज्ञान उपमान का फल (अर्थः) है। क्या भाव है। (उक्तं भवति)? (उत्तर) शब्द प्रमाण द्वारा उत्पादित संस्कार से उत्पन्न स्मृति की अपेक्षा से होने वाला सादृश्य (सारूप्य) ज्ञान उपमान है—जब इस (प्रमाता) ने (आप्त से) सुना होता है 'जैसी गौ वैमी गवय', इस प्रकार गौ और गवय का सादृश्य ज्ञात होने पर फिर (वह) गवय में सादृश्य को प्रत्यक्ष देखता है, तब उसको 'यह गवय है' इस प्रकार संज्ञा के सम्बन्ध का ज्ञान हो जाता है।

उद्योतकर के वचन से प्रतीत होता है कि उन सम्बन्धों में 'कार्यकारणभाव' प्रथम है अतः संभवतः यहाँ 'मात्रानिमित्त' शब्द से कार्यकारणभाव समझा जा सकता है। यह अन्वेषणीय है कि यह कारिका किस सांख्याचार्य की है।

उपमानम् यहाँ भी जिससे उपिमिति होती है वह उपमान है, यह अध्याहार करना होगा, टी॰ ३५६

प्रज्ञातेन—प्रसिद्धेन, भली भांति जाने गये से; साधम्यात् = सामान्यात् इससे यह सूचित होता है कि सामान्य से भिन्न सादृश्य नामक पदार्थ नहीं है। और विना जाना साधम्ये तो साध्य की सिद्धि करने में समर्थ नहीं अतः साधम्यं की प्रसिद्धि कही गई है। यह प्रसिद्धि 'यथा गौस्तथा गवयः, इत्यादि आप्तवादय से होती है। टी० ३५६।

१.१.६]

न्यायवात्तिकम्

प्रत्यक्षागमाभ्यां नोपमानं भिद्यते । कथिमिति ? यदा तावुभौ गोगवयौ प्रत्य-क्षेण पश्यति, तदायमनेन सरूप इति प्रत्यक्षतः प्रतिपद्यते । यदापि श्रुणोति यथा गौरेवं

(आक्षेप, दिङ्नाग) प्रत्यक्ष और आगम से उपमान भिन्न नहीं है। कैसे ? जब उन दोनों गौ तथा गवय को प्रत्यक्ष से देखता है तब 'यह इसके समान रूप वाला है', इस प्रकार प्रत्यक्ष से जान लेता है। और, जब भी सुनता है 'जैसी गाय वैसी नीलगाय'

प्रज्ञापनीयस्य प्रज्ञापनम्—साध्यसाधनम्, गोसदृश पिण्ड के गवय शब्द का वाच्य होने का ज्ञान; यहाँ प्रज्ञापनीय अर्थ है गोसदृश पिण्ड गवय कहलाता है; 'गोसदृशो गवयः' इस अतिदेश वाक्य के प्रत्यक्ष से 'यह गवय है' इस प्रकार का बोध होता है, यह प्रमाण का कार्य है। (मि० टी० ३५७)।

उपमानार्थ: — सूत्र में साध्य = समाध्या सम्बन्ध, उसका साधन अर्थात् सिद्धि उसका ज्ञान, यही उपमान का फल है, साध्यशब्देन समाख्यासम्बन्ध उच्यते तस्य साधनं सिद्धिः प्रतिपत्तिरिति, टी॰ ३५७।

एवमन्योपि केवल साधम्यं से ही नहीं वैधम्यं से भी उपमान होता है (द्र० टी० ३५६, परिशुद्धि

सूत्रार्थ: पूर्वदत्—यहाँ वाचस्पति मिश्र की दृष्टि में 'जर्थ' ग्रब्द प्रयोजन के लिये आया है। प्रत्येक लक्षण का प्रयोजन होता है समानजातीय तथा असमान-जातीय पदार्थों से भेद कराना (ब्यवच्छेदः = ब्यावत्ति), द्र० टी० ३५७।

प्रसिद्ध:—भाष्यकार ने प्रसिद्धसाधर्म्यात् = प्रज्ञातेनसामान्यात्, यह जर्थ किया है, जिससे प्रकट होता है कि भाष्यकार के मत में यहाँ तृतीया समास है किन्तु वात्तिककार ने यहाँ दो प्रकार से बहुब्रीहि समास दिखलाया है। फिर भी यहाँ भाष्य तथा वात्तिक का विरोध न समझना चाहिये वयोंकि वात्तिककार ने केवल बहुब्रीहि की संभावना दिखलाई। (टी० ३५७)।

आगमाहितसंस्कारात् — शब्द प्रमाण के द्वारा होने वाले अनुभव से संस्कार होता है उससे स्मृति होती है फिर गवय में सादृश्य का प्रत्यक्ष होता है। यह आगमार्थ की स्मृति की अपेक्षा से सादृश्य का ज्ञान ही वार्त्तिककार की दृष्टि में उपमान है, फल है 'संज्ञासंज्ञी के सम्बन्ध का ज्ञान । यद्यि 'यथा गौरवं गवयः' इस वाक्य से भी संज्ञासंज्ञी के सम्बन्ध का ज्ञान हो जाता है तथापि गवय में सादृश्य के प्रत्यक्ष से जो ज्ञान होता है, वही प्रमाणजन्य है उपमान का फल है । उत्तरकाल में उपमान प्रमाण में फल, करण और व्यापार का विवेचन करके कहा गया है कि संज्ञासंज्ञी के सम्बन्ध का ज्ञान उपमिति (उपमान का फल) है, सादृश्य ज्ञान उसका करण (उपमान) है और 'जैसी गाय वैसी नीलगाय' इस अतिदेश वाक्य के अर्थ का स्मरण अवान्तर व्यापार है — संज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञानम् पिमितिः । तरकरणं सादृश्यज्ञानम् । अतिदेशवाक्यार्थं स्मरण मवान्तरव्यापारः । (तर्कसंग्रह) ।

प्रत्यक्षागमाभ्यां o यह दिङ्नाग का मत है (टी० ३५६), द्र० प्रमाणसमुच्चय परि० ४।
यदा भिद्यते प्राचीन मीमांसक के अनुसार गवय में स्थित गोसादृश्य का ज्ञान ही उपमान का फल है। दिङ्नाग कहते हैं कि इस सादृश्य का प्रत्यक्ष से ही ज्ञान हो जाता है। शवर स्वामी (परि० ३६५) आदि के अनुसार 'यथा गौस्तथा गवयः। इस वावय के श्रवण के अनन्तर जब कोई व्यक्ति गौ के समान पणु को देखता है तो जान लेता है कि इसके सदृश मेरी गौ है। यहाँ आप्तवाक्य से ही गौ तथा गवय के सादृश्य को जान लेता है। अतः प्रत्यक्ष तथा आगम से उपमान भिन्न नहीं।

शब्द:

न्यायसूत्रम् भाष्यं च

अथ शब्दः —

आप्तोपदेशः शब्दः ।१।१।७।।

आप्तः खलु साक्षात्कृतधर्मा यथादण्टस्यार्थस्य चिख्यापियषया प्रयुक्त
उपदेष्टा । साक्षात्करणमर्थस्याप्तः, तया प्रवर्तत इत्याप्तः । ऋष्यार्यम्लेच्छानां समानं लक्षणम् । तथा च सर्वेषां व्यवहाराः प्रवर्त्तं न्त इति । एवमेभिः
प्रमाणैर्वेवमनुष्यितरश्चां व्यवहाराः प्रकल्पन्ते, नाऽतोऽन्यथेति ।१।१।७।।
न्यायवात्तिकम

गवय इति तदास्य शृण्वत एव बुद्धिरुपजायते; केचिद् गोधर्मा गवयेऽन्वियन उपल-भ्यन्ते, केचिद् १ व्यतिरेकिण इति । अन्यथा हि यथा तथेत्वेतन्न स्यात् । भूयस्तु सारूप्यं गवा गवयस्य इत्येवं प्रतिपद्यते । तस्मात् नोपमानं प्रत्यक्षागमाभ्यां मिद्यत इति ।

गवा गवयसारूप्यं प्रतिपद्यते गवयसत्तां वेत्यहो प्रमाणाभिज्ञता भवन्तस्य । गवा गवयसारूप्यप्रतिपत्ते स्तु संज्ञासंज्ञिसम्बन्धं प्रतिपद्यत इति सूत्रार्थः । तस्मादपरिज्ञाय सूत्रार्थं यत्किञ्चिदुच्यते ।१।१।६।।

इसके अनन्तर शब्द हैं-

आप्तों का उपदेश (वचन) शब्द (प्रमाण) है ।१।१।७॥

वस्तुतः धर्मं का साक्षात्कार करने वाला, जैसा देखा वैसे पदार्थ को कहने की इच्छा से प्रयुक्त हुआ बक्ता (उपदेण्टा) आप्त (कहलाता) है। पदार्थ का साक्षात् करना आप्ति है उससे जो प्रवृत्त होता है वह आप्त है। (यह) ऋषि, आर्य तथा म्लेच्छों का समान लक्षण है और उसी प्रकार सबके व्यवहार चलते हैं। इस प्रकार इन प्रमाणों से देव, मनुष्य और पशु-पक्षियों के (तिरहवाम्) व्यवहार वनते हैं, इनके विना नहीं १।१।७।।

तब इसे सुनते ही ज्ञान उत्पन्न हो जाता है कि कुछ गौ के धर्म गवय (नीलगाय) में होते हुए (अन्वित) इष्टिगोचर होते हैं कुछ नहीं होते (न्यतिरेकिणः), अन्यथा [यथा (गौः) तथा (गवयः)] यहां यथा-तथा न होता। अतः (तु) गवय का गौ से अधिकांश सादश्य है, यह जान लेता है। इसलिये उपमान (प्रमाण) प्रत्यक्ष और आगम से मिन्न नहीं है।

[परिहार] गौ के साथ गवय के साइश्य को जान लेता है अथवा गवय की सत्ता को जान लेता है, यह भदन्त (बौद्ध अ।चार्य) का प्रमाणों का ज्ञान आश्चर्यजनक है। वस्तुतः (तु) गौ के साथ गवय के साइश्यज्ञान से संज्ञा (गवय शब्द) और संज्ञी (गवय-पिण्ड) के सम्बन्ध को जान लेता है यह सूत्र का अर्थ है। इस प्रकार सूत्र के अर्थ को न जानकर जो कुछ कह दिया है। १।१।६॥

अही प्रमाणाभिजता-प्रमाण का सम्यग् ज्ञान । यह उपहास किया है ।

भदन्तस्य - बौद्ध विद्वानों के लिये 'भदन्त' शब्द आदरसूचक है।

तस्मादपरिज्ञाय—दिङ्नाग ने सूझ के अर्थ को न समझकर इसके प्रसङ्ग में मीमांसक के अभिमत १. व्यतिरेकेण, क; व्यतिरेकिणः, ख. १.१.७]

न्यायवात्तिकम्

अथ शब्दः । आप्तोपदेशः । न शब्दमात्रमिति सूत्रार्थः । आप्तः खलु साक्षात्कृत-धर्मा साक्षातः प्रचमर्थस्याप्तः, तया सह वर्तते इत्याप्तः । स्वर्गापूर्वदेवतादिष पदेशो न प्राप्नोति अतीन्द्रियत्वात्—यदि साक्षात्करणमर्थस्याप्तः, स्वर्गापूर्वदेवतादीन् न कश्चित् पश्यतीति तत्प्रतिपादको व्यवहारो न स्यात् । तस्मात् आप्तश्चासावुपदेशक्ष्वेति युक्तम्, नाप्तस्योपदेश इति । नैष दोषः । न ब्रूमोऽस्मदादीनां प्रत्यक्षा स्वर्गादय इति । अपि तु यस्य प्रत्यक्षाः, तस्योपदेश इति ।

कः पुनरत्र न्यायः स्वर्गादयः कस्यचित् प्रत्यक्षा इति । ब्रूमः, सामान्य-

अव शब्द है। आप्तों का बचन शब्द प्रमाण है, प्रत्येक शब्द नहीं, यह सूत्र का अर्थ है। वस्तुतः धर्म का साक्षात्कार कर लेने वाला आप्त है; अर्थ (धर्म) का साक्षात् करना आप्ति है, उसके सहित होने वाला आप्त है। (आक्षेप) स्वर्ग, अपूर्व तथा देवता आदि के विषय में उपदेश न होगा अतीन्द्रिय होने से—यदि अर्थ (धर्म) का साक्षात्कार आप्ति है तो स्वर्ग, अपूर्व तथा देवता आदि को कोई नहीं देखता अतः उनको वतलाने वाला व्यवहार न हुआ करेगा। इसलिये 'आप्त (युक्त) जो उपदेश = आप्तोपदेश' यह कहना युक्त है, आप्तों का उपदेश यह नहीं। [परिहार] यह दोष नहीं, हम यह नहीं कहते कि स्वर्ग आदि हम जैसों के प्रत्यक्ष हैं अपि तु जिसके ये प्रत्यक्ष हैं उसका उपदेश (आप्तोपदेश है)।

(प्रवन) इसमें क्या युक्ति (न्याय) है कि स्वर्ग आदि किसी के प्रत्यक्ष होते हैं ?

उपमान का निराकरण कर दिया है। इसलिये वाचस्पति मिश्र कहते हैं, श्रान्तो भदन्तो दिग्नाग आक्षिपति। जब भाष्य में स्पष्टतः कहा गया है 'समाच्यासम्बन्धप्रतिपत्तिः उपमानार्थः' तो दिङ्नाग

ने इसकी समीक्षा क्यों नहीं की, यह विचारणीय ही है।

आप्तोपदेश: राब्द:—यहाँ 'शब्द' यह लक्ष्य है, 'आप्तोपदेश:' यह लक्षण है। तात्पर्य टीका के
अनुसार 'उपदेश' का अर्थ है वाक्य का ज्ञान या वाक्य के अर्थ का ज्ञान। यदि वाक्य-ज्ञान प्रमाण
तो उसके अर्थ का ज्ञान फल है, पदार्थ-स्मृति आदि अवान्तर क्यापार हैं। यदि वाक्यार्थज्ञान प्रमाण
है तो हानादि बुद्धि फल है। दूसरे के प्रयोजन को कहने वाला वचन ही उपदेश है, परप्रयोजनवद्व-

चनमात्रविवक्षयोपदेशपदं व्याख्येयम्, टी० ३६८ । आप्तः उपदेख्टा (भा०) यहाँ आप्त की तीन विशेषताओं का उल्लेख किया गया है, साक्षात्कृत-धर्मता (साक्षात्कृतधर्माः पदार्था हिताहितप्राप्तिप्रयोजना येन स तथोक्तः, टी० ३६८), यथादृष्ट-स्यार्थस्य चिख्यापियपा तथा उपदेशः, इसे उपलक्षणमात्र मानकर वाचस्पतिमिश्र ने चार विशेषताएं

दिखलाई हैं 'करणपाटव' भी इनमें जोड़ दिया है (टी. २.१.६८.)।
आप्तरचासावुप्देशश्च—यह सांध्य का आक्षेप है। टीका में इसका अयं किया गया है।
'आप्तः प्राप्तो युक्त इति यावत्'। आप्तश्चितराप्तवचनं तु इस कारिका का व्याद्याकारों ने 'आप्तः
च युक्तः' यह अर्थ किया है, सांध्यतत्त्वकौमुदी में कहा गया है, आप्ता प्राप्ता युक्तेति यावत्।
आप्ता चासौ श्रुतिश्चेति आप्तश्चुतिः, का० ५।

कः पुनरत्र न्यायः? — यह प्रथन मीमांसक की ओर से है वह स्वर्गादि का प्रत्यक्ष करने वाले योगी के प्रत्यक्ष (योगी-प्रत्यक्ष) को नहीं मानता (द्र०, मानमेयोदय, प्रत्यक्ष) । नित्वे वाऽपूर्वे परिकल्पिते — अपूर्व को नित्य मानने पर तीन विकल्प होते हैं — (१) क्या एक ही

शब्द:

न्यायवात्तिकम्

विशेषवत्त्रात् कस्यिवित् प्रत्यक्षा इति । आश्रितत्वात् —यद् यदाश्रितं तत् कस्यिवत् प्रत्यक्षमिति । परार्थत्वात् —यत् परार्थं तदिष कस्यिचित् प्रत्यक्षमिति । वस्तुत्वादागमिविषयत्वाच्च —यद् वस्तु यच्च परस्य कथ्यते तत् कस्यिचित् प्रत्यक्षं दृष्टम्, यथा घटादय इति । अनित्यत्वात् —कस्यिचित् प्रत्यक्षा इति । असिद्धम् अपूर्वस्यानित्यत्वम् ? न प्रायणानुपपत्ते :—यदि धर्माधमौ नित्यौ भवतः कस्य क्षयात् प्रायणमिति ? यदि पुनर्रनित्यौ, विषच्यमानयौरूषभोगात् प्रक्षये सित विषक्ष्य-माणकर्माश्याग्तराभावात् पूर्वशरीरात् प्रच्यवनं मनसः, उत्तरक्षारीरोपसंप्राध्तिः चित्रचेति जन्ममरणे स्तः । तस्यादिनत्यौ, इति । नित्ये वा अपूर्वे परिकत्पिते तस्य साधारणता असाधारणता वा वक्तव्या । यदि साधारणता, सर्वप्राणिसाधारणोऽभ्युद्धः स्यात् न जात्वन्यनियामकमस्ति, क्रियालोपञ्चिति । नित्यत्वे व्यञ्जकभेदान्तोभवदोषः —नित्यत्वे साधारणत्वे वा अद्ष्यदस्य न साधारणोऽभ्युद्धयदोषो नािष क्रियाविलोपदोषः । कस्मात् ?

(उत्तर) बतलाते हैं, (१) ये सामान्यविशेष वाले होने से किसी के प्रत्यक्ष होते हैं, (२) आश्रित होने से—जो-जो आश्रित होता है वह किसी का प्रत्यक्ष होता है, (३) दूसरे के लिये होने से (परार्थत्वात्) — जो दूसरों के लिये होता है वह भी किसी का प्रत्यक्ष होता है, (४) वस्तु होने से और और आगम का विषय होने से—जो वस्तु है और जो दूसरे को वतलाया जाता है (उपदेश किया जाता है, आगम का विषय होता है) वह किसी का प्रत्यक्ष देखा गया है; जैसे घट आदि; (५) अनित्य होने से (भी) ये किसी के प्रत्यक्ष होते हैं। (आक्षेप, मीमांसक) अपूर्व का अनित्य होना असिद्ध है। [परिहार] नहीं, मरण (प्रायण) न वन सकने से—यदि घर्म तथा अधर्म (अपूर्व या अरष्ट) नित्य होते हैं तो किसके नाश से मरण होता है ? किन्तु यदि ये अनित्य हैं तो विपाक को प्राप्त होने वाले (धर्म-अधर्म) का उपभोग से नाश हो जाने परआगे विपाक को प्राप्त होने वाले अन्य कर्म-संस्कार (आशय) के न होने से मन का पूर्व शरीर से पृथक होना तथ। अग्रिम शरीर की प्राप्ति, ये जन्म-मरण होते हैं । इसलिये (धर्म तथा अधर्म) अनित्य हैं । अथवा अपूर्व को नित्य मानने पर (परिकल्पिते) उसकी साधारणता (सबसे सम्बन्ध) या असाधारणता कहनी होगी । [प्रथम विकल्प का निराकरण] यदि वह (अपूर्व) साधारण है तो सब प्राणियों का साधारण रूप से अभ्युदय हो जायेगा। अन्य तो नियामक है नहीं । और कर्मों का लोप (कृतप्रणाश) भी होगा। (शङ्का) नित्य होने पर व्यञ्जक के भेद से ये दोनों दोष नहीं होंगे-अइण्ट के नित्य होने पर अथवा साधारण होने पर न तो अभ्युदय के साधारण होने का दोव होगा, न ही कर्मों

बेदितव्यम्' यह दिशीय विकल्प का, प्रतिपुरुषमनेको नित्यो वेति' यह तृतीय विकल्प का निरा-करण है।

अपूर्व सब व्यक्तियों के लिये साधारण है, अथवा प्रत्येक व्यक्ति का पृथक्-पृथक् (असाधारण) है । जब असाधारण है तब (२) क्या एक-एक व्यक्ति का एक-एक अपूर्व है या (३) प्रति व्यक्ति का अनेक अपूर्व है (टी० ३६६) । इन तीनों का निराकरण वार्त्तिक में किया गया है ।

2.2.4]

230

न्यायवात्तिकम

व्यञ्जनभेदात्—नित्यमप्यपूर्वं योऽभिव्यनित तस्यं फलम्, अभिव्यक्त्यथां च ित्रया। अभिव्यक्त्यर्थत्वाच्च न क्रियालोप इति । येन यदभिव्यज्यते तस्येच तत्फलप्रदातृ अव-तीति दृष्टम् । न दृष्टम् — न हि देवदत्तप्रकाशितं घटं यज्ञदत्तो न पश्यतीति । नित्यस्य वा अपूर्वस्य काऽभिव्यक्तिः ? किमुपलिद्धः, अथ फलप्रदानसामर्थ्यम्, आहोस्वित् आवरणापगमः ? यद्य पलिद्धः, सा नास्ति । न हि कदाचिद्य्ययमपूर्व पश्यति, अतीन्द्रित्वात् । अथ फलप्रदानसामर्थ्यम् अभिव्यक्तिः । फलप्रदानसामर्थ्य किमपूर्वम्, अथापूर्वधर्म इति ? यद्यपूर्वम् न हि किञ्चित् कृतम् । अथापूर्वधर्मः, तद्व्यतिरेकणाप्यन्यत् अपूर्वमित्यत्र कि प्रमाणम् ? वयं तु पश्यामः यतः फलं तदपूर्वमिति । अथावरणाद्यप्नपमोऽभिव्यक्तिः किमस्यावरणमिति वक्तव्यम् न ह्यतीन्द्रियाणामर्थानामावरणस्य संभवासंभवौ चिन्त्येते ।

एतेन प्रतिपुरुषं नित्यत्वं प्रतिषिद्धं वैदिव्यम् । कथिमिति ? तत्रापि किमाविलोपो दोषः, व्यञ्जकस्य चासामर्थ्यंमिति । उत्कर्यार्था च प्रवृत्तिरयुक्ता, नित्यस्याभेद्यत्वादिति । व्यञ्जकभेदानुविधानाद् भेद इति चेत् न, एकस्मिन् अदृष्टत्वात् –अथापीदं स्याद्

के नाश होने का दोष। क्यों ? व्यञ्जक के भेद से—नित्य होने वाले भी अपूर्व को जो व्यक्त करता हैं उसको फल होता है और (अपूर्व की) अभिव्यक्ति के लिये कर्म किये जाते हैं; अभिव्यक्ति के लिये होने से ही कर्मों का लोप नहीं होता। जिसके द्वारा जिसे अभिव्यक्त किया जाता है उसको ही वह फल देनेवाला होता है, यह देखा गया है। (समाधान) नहीं देखा गया-क्योंकि देवदत्त द्वारा प्रकाशित घट को यज्ञदत्त नहीं देखता, ऐसा नहीं। किञ्च, नित्य होने वाले अपूर्व की अभिव्यक्ति क्या है ? क्या उसका ज्ञान (उपलब्धि) है, अथवा फल प्रदान करने का सामर्थ्य है, या (उस पर से) आवरण हट जाना है ? यदि उपलब्धि है वह हो नहीं सकती, वस्तुतः यह (उपभोक्ता) कभी भी अपूर्व को नहीं देखता; क्योंकि वह अतीन्द्रिय है। यदि फल प्रदान करने का सामर्थ्य अभिव्यक्ति है तो फलप्रदान का सामर्थ्य क्या अपूर्व है अथवा अपूर्व का धर्म है ? यदि अपूर्व (ही फलप्रदान का सामर्थ्य है) तो (व्यञ्जक ने) कुछ भी नहीं किया। यदि अपूर्व का धर्म। (फलप्रदान का सामर्थ्य है) तो उसके अतिरिक्त भी अन्य अपूर्व है, इसमें क्या प्रमाण है ? हम तो देखते हैं जिससे फल होता है वह अपूर्व है। यदि आवरण आदि का हट जाना अभिव्यक्ति है तो इसका आवरण क्या है ? यह कहना होगा ? क्योंकि अतीन्द्रिय पदार्थों के आवरण होने अथवा न होने का विचार नहीं किया जाता।

[द्वितीय विकल्प]—इस (कथन) से प्रत्येक पुरुष का (अपूर्व) नित्य है, इसका प्रतिषेध समझना चाहिये। कैसे ? उसमें भी कर्म के नाश का दोष है तथा व्यञ्जक का सामर्थ्य (भी) नहीं। किञ्च, उत्कर्ष के लिये प्रवृत्ति होना युक्त नहीं, क्योंकि नित्य में

नित्यस्याभेद्यत्वात् — नित्य में भेद नहीं किया जा सकता।

१. तद्व्यतिरेकिणा, कः, तद्व्यतिरेकेण, खः

शब्द :

न्याववात्तिकम्

एकमण्यपूर्वं व्यञ्जलभेदानुविधानाद् भिन्नसिव भवति, तद्भेदादुत्कर्षापकर्षे भवत इति। नंतदस्ति, एकस्मिन्नडष्टत्वात् —न हयेकं किञ्चिद् व्यञ्जलभेदानुविधायि दृष्टं यत एतदेवं स्यादिति । ननु च खड्गादिभेदान्मुखभेदस्तदनुविधानाद् दृष्टः । न दृष्ट इति ब्रूमः। कि पुनस्तद् यदि न दष्टम्। मिथ्याप्रत्ययः स इति ब्रूमः। भिन्नमिव तत् न पुनिभन्नमेव, एकस्यानेकरूपस्यासंभवात् —न ह्येकमनेकरूपं संभवति । तस्मादपूर्व-स्यैकत्वं वा हातव्यम् उत्प्रकापकर्षकर्तृत्वं वेति ।

प्रतिपुरुषमनेको नित्यो वेति । अथायं पक्ष आश्रीयते, प्रतिपुरुषमनेकत्वं नित्यत्वं वा अपूर्वस्येति, अनिवृत्तो व्याघातः, प्रायणानुपपत्तिप्रसङ्गदोषः क्रियाविलोपदोषःच न व्यावर्तते । अभिव्यक्तश्च फलं ददातीति, कि यदा अभिव्यक्तिः तदा फलं ददाति, उत क्रियानिवृत्त्युत्तरकालमिति ? यदि यदाभिव्यक्तस्तदा फलं ददाति, तन्न दृष्टम् । न ह्यश्वमेध-क्रियान्तरमेव स्वर्गप्राप्तिभवतीति । अथोत्तरकालम् ? असती क्रिया व्यञ्जिका, तया चानु-गृह्यमाणः फलं ददातीति चित्रम् । न हि किञ्चिदपूर्वं नाभिव्मक्तमिति सर्वं सर्वदा फल-

भेद नहीं किया जा सकता (नित्य अपूर्व उत्कर्ष या अपकर्ष के लिये होता है, यह भेद नहीं होगा)। (शङ्का समाधान) यदि व्यञ्जक के भेद का अनुसरण करने से (भेद हो जायेगा)? नहीं, न देखा गया होने से। (शङ्का-व्याख्या) यदि यह (मत) हो कि एक अपूर्व भी व्यञ्जक के भेद का अनुसरण करने से भिन्न सा हो जाता है, उसके भेद से उत्कर्ष तथा अपकर्ष हो जाते हैं। (समाधान की व्याख्या) यह नहीं है, एक में न देखा जाने से—कोई एक व्यञ्जकों के भेद का अनुसरण करने वाला नहीं देखा गया, जिससे यह भी हो जाये। शङ्का है (ननु च) खङ्ग आदि के भेद से उसका अनुसरण करने के कारण मुख में भेद देखा गया है, (समाधान) नहीं देखा गया, यह हम कहते हैं। (प्रश्ल) फिर वह क्या है, यदि नहीं देखा गया? (उत्तर) वह मिथ्या प्रतीति है, यह कहते हैं। वह भिन्न सा है, भिन्न ही नहीं; क्योंकि एक का अनेक रूप वाला होना सम्भव नहीं—वस्तुतः (हि) एक (वस्तु) अनेक रूप वाली नहीं हो सकतीं। इसलिये या तो अपूर्व के एकत्व को छोड़ना होगा अथवा उसके उत्कर्ष और अपकर्ष का निमित्त होने को।

[नृतीय विकल्प] प्रत्येक पुरुष के (अपूर्व) अनेक हैं और नित्य हैं—यदि यह पक्ष स्वीकारा जाता है कि प्रत्येक पुरुष के अपूर्व अनेक हैं तथा नित्य हैं, (निराकरण) तो भी विरोध की निवृत्ति न होगी—मरण के न बन सकने के प्रसङ्ग का दोष तथा कर्म के नाश का दोष निवृत्त न होंगे। किञ्च, अभिव्यक्त हुआ (अपूर्व) फल देता है। (इसमें प्रक्ष्त है) क्या जब अभिव्यक्त हो जाता है तब फल देता है, अथवा क्रिया की समाप्ति के पश्चात् (उत्तरकालम्)? यदि जब अभिव्यक्त होता है तब फल देता है, बह तो देखा नहीं गया क्योंकि अश्वमेध क्रिया के अनन्तर ही स्वगंप्राप्ति नहीं होती। फिर यदि किया (की समाप्ति) के पश्चात् (फल देता है)? अविद्यमान क्रिया (अपूर्व की) व्यञ्जक होती है और उससे उपकृत होकर (अनुगृह्यमाणः) (अपूर्व) फल देता है

2.2.5]

358

न्यायसूत्रम्

स दिविधो हष्टाहष्टार्थत्वात् ।१।१।८॥

न्यायवात्तिकम्

दातृ स्यादिति । अथापि स्वपक्षसंरिरक्षयिषया क्रियानित्यत्वमपि प्रतिपद्येथाः, एकम-व्यानवृत्तो व्याघातः क्रियाविलोपादिक इति । तदेवं यथा यथा अपूर्वस्य नित्यत्वं विचार्यते तथा तथोपपत्ति न सहते इति ।

आप्तोपदेशः शब्द इति किमाप्तानामविसंवादित्वं प्रतिपाद्यते अथार्थस्य तथाभाव इति, यद्याप्तानामविसंवादित्वं प्रतिपाद्यते, तदनुमानात् । अथार्थस्य तथाभावः, सोऽपि प्रत्यक्षात् । यदा ह्याप्रमर्थं प्रत्यक्षत उपलभते तदा तथाभावमर्थस्य प्रतिपद्यते इति । तन्न, सूत्रार्थापरिज्ञानात् —नायं सूत्रार्थः आप्तोपदेशः शब्द इति, अपि त्विन्द्रयसंबद्धासंबद्धेष्वर्येष या शब्दोल्लेखेन प्रतिपत्तिः सा आगवस्यार्थः । तस्मादसम्बद्धोऽयं विकल्पः । १।१।७।।

यह आश्चर्यजनक (वित्रम्) है। क्योंकि तब कोई अपूर्व अभिव्यक्त हुए बिना न रहेगा इस प्रकार सभी अपूर्व सदा फल देने वाले हो जायेंगे। और, यदि (अथापि) अपने पक्ष की रक्षा की इच्छा से किया की नित्यता भी मान लो, इस प्रकार भी कृतनाश (क्रिया विलोप) आदि विरोध की निवृत्ति न होगी। तो इस प्रकार जैसे जैसे अपूर्व के नित्य होने का विवार किया जाता है, बैसे वैसे वह युक्ति को नहीं सहन करता।

(दिङ्नाग का अक्षेप) आप्तों का उपदेश शब्द (प्रमाण) है, इस व वन से क्या आप्तों का यथार्थ वक्ता होना (अविसंवादित्वम्) वतलाया जा रहा है अथवा पदार्थ का शब्द के अनुभूल होना (तथाभावः) ? यदि आप्तों का यथार्थ वक्ता होना वतलाया जा रहा है वह तो अनुमान से (ज्ञात) हो जाता है। यदि अर्थ का शब्द के अनुकूल होना, वह भी प्रत्यक्ष से (ज्ञात हो जाता है)। वस्तुतः जब यह (प्रमाता) पदार्थ को प्रत्यक्ष से उपलब्ध करता है तब अर्थ का शब्द के अनुकूल होना जान लेता है। (परिहार) वह (आक्षेप) ठीक नहीं, सूत्र का अर्थ भली भाँति न जानने से—यह सूत्र का अर्थ नहीं कि आप्तों का उपदेश शब्द है, अपि तु (यह अर्थ है) इन्द्रिय से सम्बद्ध या असम्बद्ध अर्थों में जो शब्द के उल्लेख के साथ यथार्थज्ञान होता है वह आगम का विषय है। इसलिये यह विकल्प असम्बद्ध है। १।१।७॥

किमाप्शानाम्—दिङ्नाग ने शब्द प्रमाण का अनुमान में अन्तर्भाव माना है, 'आप्तवाक्याविसंवाद-सामान्यादनुमानता, टी० ३७०–३७१, प्रमाणसमुच्चय परि० २।

आप्तानामिवसंवादित्वम् — यहाँ दौद्ध द्वारा प्रथम कल्प का निराकरण किया गया है। अर्थस्य तथाभाव: — यहाँ बौद्ध द्वारा द्वितीय विकल्प का खण्डन किया गया है, उपदेश = अर्थ, उपदिश्यते इत्युपदेश इति व्युत्पत्या अर्थ उच्यते। तथाभाव: — शब्द के अनुकूल अर्थ की प्राप्ति, ययाश देन यो अर्थ दिश्यतः, तस्यापत्या तथाता दिशिता भवति; टी० २७१।

तन्त, सूत्रार्थापरिज्ञानात्—सूत्र का यह अर्थं नहीं कि आप्तत्व की सहायता से शब्द अर्थं का बोध कराता है, न शी यह कि शब्द से वैसे ही अर्थं की प्राप्ति होती है, जैसा अर्थ है।

[प्रमेयम्

न्यायभाष्यम्

यस्येह दृश्यतेऽर्थः स दृष्टार्थः । यस्यामुत्र प्रतीयते सोऽदृष्टार्थः । एव-मृषिलौकिकवाक्यानां विभाग इति । किमर्थं पुनिरदमुच्यते ? स न मन्येत दृष्टार्थं एवाप्तोपदेशः प्रमाणम्, अर्थस्यावधारणादिति, अदृष्टार्थोऽपि प्रमाण-मर्थस्यानुमानादिति । १।१।८।।

इति प्रमाणभाष्यम् न्यायवात्तिकम्

स द्विविध इति नियमार्थम् । अनेकथा भिन्न आगमः प्रत्यक्षानुमानविषयतायामेव व्यवतिष्ठते इति । वक्तृभेदेन वा द्वै विध्यं इष्टाइष्टार्थप्रवक्तृकत्वात् । प्रत्यक्षत उप-लब्बोऽर्थः दष्टार्थः, अनुमानत उपलब्धोऽर्थोऽद्दष्टार्थः, इति । ऋष्यार्यम्लेच्छानामेतत् समानं लक्षणिति, सर्वेषामागमेन व्यवहारदर्शनादिनयमः ।

एवं चत्वार्येव प्रमाणानि यैर्वेवमनुष्यतिरक्चां व्यवहाराः प्रकल्प्यन्ते इति ।१।१।८॥

वह दो प्रकार का है दृष्टार्थक और अदृष्टार्थक होने से १।१।८।।

जिसका इस लोक में विषय देखा जाता है वह दृष्टार्थक है, जिसका परलोक में (अमुत्र) प्रतीत होता है वह अदृष्टार्थक है। इस प्रकार ऋषि-वाक्यों और लौकिक-वाक्यों का विभाग है। किन्तु यह किसलिये कहा गया है? वह (नास्तिक, टी०) यह न मान ले कि दृष्टार्थक आप्तोपदेश ही प्रमाण है; क्योंकि वह अर्थ का निरुचय करा देता है, अदृष्टार्थक (आप्तोपदेश) भी प्रमाण है; क्योंकि वह अर्थ का अनुमान कराता है। १।१।5।।

प्रमाणभाष्य समाप्त होता है।

वह दो प्रकार का है, यह नियम के लिये कहा गया है। अनेक प्रकार से भिन्न-भिन्न होने वाला आगम, प्रत्यक्ष और अनुमान के विषय-रूप में ही व्यवस्थित (विभक्त) होता है। अथवा वक्ता के भेद से दो प्रकार होते हैं—अर्थ के द्रष्टा तथा अद्रष्टा (अनुमाता) वक्ता के होने से। प्रत्यक्ष से जाना गया अर्थ दृष्टार्थ है, अनुमान से जाना गया अर्थ अदृष्टार्थ है। ऋषि, आर्य तथा म्लेच्छों का यह समान लक्षण है; क्योंकि सभी के आगम द्वारा व्यवहार देखे जाते हैं, अत: कोई नियम नहीं है।

इस प्रकार ये चार ही प्रमाण हैं जिनसे देव, मनुष्य तथा पशु-पक्षियों के व्यवहार होते हैं। १।१।६।।

अपि तु०—इन्द्रियसम्बद्धासम्बद्धेषु = दृष्टादृष्टेष्वित्यर्थः (टी० ३७१)। वस्तुतः उपदेश है शब्द, जिसका फल है वाक्यार्थज्ञान, पदार्थ का स्मरण अवान्तरव्यापार है। जहां पदार्थस्मरणपूर्वक यह ज्ञान होता है कि 'शब्द से ही अर्थ को जान रहा हूँ' वहां आगम प्रमाण है। यहां 'आप्त' शब्द का प्रहण तो शब्द की अव्यक्षिचारिता दिखलाने के लिये किया गया है, द्र० टी० ३७१। इष्टार्थ है वह ृष्टार्थ है, उससे भिन्न अदृष्टार्थ है स्वगं आदि। वात्तिककार ने वक्ता के भेद से भी दो अर्थ किये हैं एक प्रत्यक्षद्रष्टा जिसका वक्ता है दूसरा जिसका वक्ता अनुमान से अर्थ को जानता है। एवमधिलोकिकवाक्यानां विभागः—यह वाक्यांश विचारणीय है।

2.2.8]

1 888

प्रमेयप्रकरणम्

न्यायसूत्रं भाष्यं च

किं पुनरनेन प्रमाणेनार्थजातं प्रमातव्यमिति ? तदुच्यते आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिप्रवृत्तिदोषप्रेत्यभाव-फलदु.खापवर्गास्तु प्रमेयम् ।१।१।६॥

न्यायवात्तिकम्

कि पुनरनेन प्रमाणेनार्थजातं प्रमातन्यमिति भाष्यम् । अनुषपन्नोऽयं प्रक्रनः सामर्थ्यतः प्रमाणविषयाधिगतेः । न हीमानि प्रमाणानि निर्विषयाणि चित्रतानि, येतीऽयं प्रक्षनः स्यात् कि पुनरनेन प्रमाणेनार्थजातं प्रमातन्यमिति । न, न युक्तः, प्रभेयविशेष-विषयत्वात्—नायं प्रभेयमात्रविषयः प्रक्षनः, प्रभेयमात्रस्य प्रमाणलक्षणोद्देशेनाधिगत-त्वात् । प्रमेयविशेषावधारणार्थस्तु भवेत् । कतमं तत् प्रमेयं यदनेन प्रमाणेन यथावत् परिज्ञायमानमपवर्गाय, अनवगम्यमानं च संसारायेति । एतदर्थप्रकाशनार्थम् आत्मा-विसूत्रम् । अयमेव च सूत्रार्थं इति । अत्रापि समासञ्चार्थे द्वन्द्वः, यथावचनं विग्रह इति ।

किन्तु इस प्रमाण के द्वारा किस अर्थ को जानना होता है ? यह कहा जाता है—

आत्मा, शरीर, इन्द्रियः अर्थ, बुद्धि, मनः, प्रवृत्ति, दोव, प्रेत्यभाव, फल, दुःख और अपवर्ग तो (१२) प्रभेय हैं । १।१।६।।

किन्तु इस प्रमाण द्वारा किस अर्थ को जानना होता है? यह भाष्य है। (आक्षेप) यह प्रश्न वनता (युक्तियुक्त) नहीं; क्योंकि सामर्थ्य से प्रमाणों के विषय का जान हो जाता है; वस्तुतः ये प्रमाण विषय के विता ही विणत नहीं किये गये हैं जिससे यह प्रश्न हो जाये कि इस प्रमाण द्वारा किस अर्थसमूह को जानना होगा। [पिरहार] (प्रश्न) युक्त नहीं, ऐसा नहीं, प्रमेथिवशेष विषयक होने से—यह सामान्य प्रमेय के विषय में प्रश्न नहीं है; क्योंकि सामान्य प्रमेय प्रमाण के लक्षण-कथन (उद्देश) से जान लिया गया है, किन्तु प्रमेयविशेष का निश्चय कराने के लिये यह है; वह कौनसा प्रमेय है जो इस प्रमाण से सम्यक् जाना गया मोक्ष के लिये होता है और न जाना गया संसार (जन्म-मरण) के लिये होता है। इस अर्थ को प्रकट करने के लिये आत्मादि सूत्र है और यही सूत्र का प्रयोजन (अर्थ) है। यहाँ भी 'और' (च) के अर्थ में द्वन्द्व समास है, (पदार्थों के) वचन के अनुसार (समास का) विग्रह है।

प्रमेयम् (सूत्र) यह जाति के अर्थ में एकवचन है।

कि ... अर्थजातम् - यहां प्रश्न श्लिष्ट है, कि लक्षणम्, कतिविधम् च, परि० ३८६ ।

सामर्थ्यत: --- प्रमेय के विना प्रमाण नहीं होते अतः प्रत्यक्षादि के लक्षणसामर्थ्य से ही प्रमेय-सामान्य की प्राप्ति हो जाती है।

नायं प्रमेयमात्रदिषय:—विशेषप्रमेय के विषय में प्रश्न है । विशेषप्रमेय वह है जिसके तत्त्वज्ञान से अपवर्ग की प्राप्ति होती है तथा मिथ्याज्ञान से संसार होता है ।

न्यायभाष्यम्

तत्रात्मा सर्वस्य द्रव्टा सर्वस्य भोक्ता सर्वज्ञः सर्वानुभावी। तस्य भोगायतनं शरीरम्। भोगसाधनानीन्द्रियाणि। भोक्तव्या इन्द्रियार्थाः। भोगो बुद्धिः। सर्वार्थोपलब्धौ नेन्द्रियाणि प्रभवन्ति, इति सर्वविषयमन्तः-करणं मनः। शरीरेन्द्रियार्थबुद्धिसुखदुः खसंवेदनानां निवृत्तिकारणं प्रवृत्तिः, दोषाश्च। नास्येदं शरीरमपूर्वमनुत्तरं च। पूर्वशरीराणामादिर्नास्ति, उत्तरे-षामपवर्गोज्ञत इति प्रेत्यभावः। ससाधनसुखदुः खोपभोगः फलम्। दुःख-मिति नेदमनुकूलबेदनीयस्य सुखस्य प्रतीतेः प्रत्याख्यानम्। कि तिह? जन्मन एवेदं ससुखसाधनस्य दुःखानुषङ्गात् दुःखेनाविप्रयोगाद् विविधबाधनायोगाद् दुःखमिति समाधिभावनमुपदिश्यते। समाहितो भावयति, भावयन् निवद्यते, निविण्णस्य वैराग्यम्, विरक्तस्यापवर्गं इति। जन्ममरण-प्रबन्धोच्छेदः सर्वदुः खप्रहाणमपवर्गं इति।

अस्त्यन्यदिष द्रव्यगुणकर्मसालान्यविशेषसमवायाः प्रभेयम्, तद्भेदेन च।परिसंख्येयम् । अस्य तु तत्त्वज्ञानादपवर्गो निथ्याज्ञानात् संसार इत्यत

एतदुपदिष्टं विशेषेणेति । १।१।६॥

, उनमें आत्मा सबका द्रष्टा, सबका भोक्ता, सब (सुख-दुःख) को जानने वाला और सबका अनुभव करने वाला है। उसके भोग का स्थान (आयतन) शरीर है। भोग के साधन इन्द्रियाँ हैं। भोग्य इन्द्रियों के विषय है। भोग है ज्ञान (बुद्धिः)। सब विषयों (अर्थ) की उपलब्धि में (बाह्य) इन्द्रियाँ समर्थ नहीं हैं अतः सब विषयों को जानने वाला अन्त:करण मन है। शरीर, इन्द्रिय, विषय (अर्थ), ज्ञान सुख, दु:ख और अनुभवों (संवेदन) की उत्पत्ति (निर्वृत्ति) का कारण प्रवृत्ति और (राग आदि) दोप हैं। इस (आत्मा) का यह शरीर न अपूर्व (जो पहले नहीं हुआ) है न ही अन्तिम है, पहले शरीरों का आदि नहीं और अग्रिम शरीरों का मोक्ष (अपवर्ग) अन्त है, यह प्रेत्यभाव (मरकर पुनर्जन्म) है । साधनों सहित सुख-दुःखों का भोग ही फल है । (सूत्र में) दुःख (शब्द) से अनुकूल अनुभय के योग्य मुख की प्रतीति का खण्डन नहीं किया गया। तो क्या किया गया है ? सुख के साधनो सहित जन्म में ही 'यह दुःख हैं' इस प्रकार की समाधि-भावना (=एकाग्र होकर भावना करना) का उपदेश किया गया है; क्योंकि वह दुःख का अविनाभावी होता है, (दुःखानुयङ्गात्) दुःख के विना नहीं होता, अनेक प्रकार की पीडाओं से युक्त होता है। समाधियुक्त (एकाग्र) होकर भावना करता है। भावना करके निर्वेदयुक्त हो जाता है, निर्वेदयुक्त को वैराग्य हो जाता है और वैराग्य-युक्त की मुक्ति होती है। जन्म-मरण के प्रवाह (प्रवन्ध) का नाश-सब दु:खों का नाश मुक्ति (अपवर्ग) है।

यद्यपि अन्य भी द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष तथा समवाय—ये प्रमेय हैं और उनके भेदों की गणना से (प्रमेय) असंख्य हैं किन्तु इसके सम्यक् ज्ञान से अपवर्ग और मिथ्याज्ञान से संसार होता है। इसलिये विशेष रूप से इसका उपदेश

किया गया है। १।१।६॥

न्यायवात्तिकम्

उभयावधारणप्राप्तावन्यतरावधारणे दोयः । किं पुनरत्रावधायते ? किमात्माद्योव प्रमेयम्, अथ प्रमेयमेवात्मादीति ? यद्यात्माद्येव प्रमेयमिति, अत्यत्पिमदनुच्यते,
दिगादीनां सामान्यविशेषसमवायानां च सूत्रोऽत्रिभधानाव् अव्यापकम् । अथ पुनः प्रमेयमेव चात्मादि तदा 'प्रमेया च तुत्राप्रामाण्यवत् (२. १. १६) इत्यस्य व्याघातः; तत्र
हि सुवर्णादि द्रव्यं परिच्छेदसाधनत्वात् परिच्छेद्यत्वाच्च प्रमाणप्रमेयशब्दानिलाप्यमित्युक्तम् । लोकविरोधश्च, एकस्यानेककारकशब्दवाचयत्वात् वृक्षस्तिष्ठतीति यथा,
तत्रौकं वृक्षाख्यं वस्त्वनेकेन कारकशब्देनामिधीयते तस्य तस्य निमित्तस्य सित्रपातात् । एवं प्रमेयं प्रमाणमिति । न, सूत्रार्थापरिज्ञानात्—आत्माद्येव प्रमेयं यथावत्
परिच्छिद्यमानमयवृक्तये ये भवतीत्ययं सूत्रार्थां न प्रमेयान्तरिनराकरणार्थः सूत्रारम्म
इति । प्रमेयमेव चात्मादीत्यपि न दोषः । किमुक्तं भवति ? मुमुक्षुणा प्रमेयमेवात्मादि
बोद्धव्यमेवैतदिति । नास्य प्रमेयत्वं दिधीयते । न चात्यस्य प्रमेयत्वं निराक्तियते ।
अपि तु मुमुक्षुणा बोद्धव्यमेयैतदित्त्यन्द्यते । तस्मात् उभयनप्यवधायते । न च

(आक्षेप) दो अव्यारण (इन शब्दों से) प्राप्त होते हैं, इनमें से किसी एक का (अन्यतर) अवधारण मानने में दोष आता है। किन्तु यहाँ क्या अवधारण किया जाता. है, क्या आत्मा आदि ही प्रमेय है अथवा आत्मा आदि प्रमेय ही हैं ? यदि आत्मा आदि ही प्रमेय है (यह अवधारण िया जाता है) तो अध्यन्त अल्प यह कहा जाता है, दिशा आदि और सामान्य, विशेष तथा समवाय का सूत्र में कथन न होने से यह (कथन) अव्यापक है। किन्तु यदि आत्मा आदि प्रमेय ही हैं (यह अवधारण है) तब ये प्रमाण तुला के प्रामाण्य के समान प्रमेय (मी) हैं (२.१.१६) इस (सूत्र) का विरोध होता है; क्यों कि वहाँ कहा गया है कि सुवर्ण अ।दि द्रव्य तोल (माप) का साधन होते से प्रमाण और माप के योग्य होने (परिच्छेट) से प्रमेय शब्द के वाच्य (अभिलाप्य—अभिधेय) होते हैं। और, (ऐसा मानने में) लोक का विरोध (भी) होता है; क्योंकि (लोक में) एक (वस्तु) अनेक कारक शब्दों की वाच्य होती है; जैसे दक्ष खड़ा है (यहाँ दक्ष कर्ता है, 'दृक्ष को देखो' यहाँ कमें है)। वहाँ एक दृक्ष नामक वस्तु को अनेक कारक शब्दों से कहा जाता है; क्योंकि उस-उस के निमित्त हुआ करते हैं। इसी प्रकार प्रमाण तथा प्रमेय हैं। [परिहार] (यह आक्षेप) ठीक नहीं, सूत्र के अर्थ को ठीक-ठीक न जानने से --- आत्मा आदि ही प्रमेय सम्यक् जाने गये अपवर्ग (अपदृक्ति) के लिये होते हैं, यह सूत्र का अर्थ है। अन्य प्रमेयों का निराकरण करने के लिये सूत्र नहीं बनाया गया। और, आत्मा आदि प्रमेय ही हैं, यह मानने में भी दोष नहीं है। क्या अभिप्राय है ? यह कि मोक्ष के अभिलाधी को आत्मा आदि प्रमेय ही हैं. यह जानना चाहिये। यहाँ इस (आत्मा आदि) के प्रमेय होने का विधान

अयमेव च सूत्रार्थ: -- अर्थः = प्रयोजन । जिनके तत्त्वज्ञान या अतत्त्वज्ञान से अपवर्ग और संसार होते हैं वे ये ही प्रमेय हैं, इनसे कम या अधिक नहीं।

१. अपवृत्तये, कः; अपवृक्तये, ख.।

न्यायवात्तिकम्

यथोक्तो दोषः । उपेत्य वा ब्रूमो दिगाद्यप्यत्रैव लभ्यते उपपित्तसामर्थ्यात् । का वृत्तरपित्तः ? प्रवृत्ते विंशतिभेदात् तत्संस्कारकत्वेन दिगादयोऽपि लभ्यन्ते । सामान्य-विशेषसमवायाद्य विशेषणिव्यवेष्टयभावात् । आत्मादयो विशेषणं भवतोति सूत्रत उक्ता चेतरेतरव्यवच्छेदहेतुमावेन सामान्यविशेषसमवाया विशेषणं भवतोति सूत्रत उक्ता भवन्तीत्यचोद्यं दिगादिग्रहणं न कृतं सूत्रे इति । न पुनिरदं प्रमेयमात्रावधारणार्थं सूत्रम्, अपि तु प्रमेयविशेषावधारणार्थम् प्रमेयमात्रावधारणार्थां च सूत्रप्रवृत्तौ विहित-विधानादकुश्चलः सूत्रकारः स्थात् । आद्येन च सूत्रेण प्रमेयं विहितमिति पुनः प्रमेयस्या-भिष्यानात् प्रमत्तवावयमिदं स्यात् । एनं चार्यं जिज्ञापिष्यष्ः सूत्रकारः तुशब्दमाह । अन्य-दिष प्रमेयमस्ति, यस्य तु तत्त्वज्ञानािकाः श्रेयसं तिद्वं प्रमेयस्ति तु शब्देन ज्ञापयित ।

नहीं किया गया और न अन्य के प्रमेय होने का निराकरण ही; अपि तु 'मोक्ष के अभिलापी को यह जानना चाहियें ऐसा पुनः कथन किया गया है (अनूदाते)। अवधारण किये जाते हैं । और यथोक्त इसलिये दोनों नहीं है । अथवा 'आक्षेप को' स्वीकार करके (उपेत्य) हम कहते हैं कि दिशा आदि की भी इससे प्राप्ति हो जाती है, युक्ति (सामर्थ्य) के वल से। किन्तु क्या युक्ति है; प्रवृत्ति के बीस भेद होने से उनके संस्कारक रूप में दिशा आदि भी प्राप्त हो जाते हैं। और. सामान्य, विशेष तथा समावाय भी (आत्मा आदि के साथ) विशेषण-विशेष्यभाव होने से -- आत्मा आदि का प्रमेय के रूप में उपदेश किया गया है और उनके एक दूसरे से पृथक करने के हेतु रूप में सामान्य, विशेष तथा समवाय विशेषण होते है, यह सूत्र से समझ लिया जाता है (उक्ता भवन्ति); इस प्रकार यह आक्षेप के योग्य नहीं (अचोद्यम्) कि दिशा आदि का ग्रहण सूत्र में नहीं किया गया। हां, यह सूत्र सामान्य प्रमेय का अवधारण करने के लिये नहीं है, अपि तु प्रमेयविशेष का अवधारण करने के लिये है। यदि सूत्र की प्रवृत्ति सामान्य प्रमेय का अवधारण करने के लिये होती तो सूत्रकार विधान किये गये (विहित) का (पूनः) विधान करने के कारण अक्राल हो जाता। और प्रथम सूत्र से प्रमेय का विधान किया जा चुका है इसलिये फिर प्रमेय का कथन करने से यह (वावय) प्रमत्त का वाक्य हो जाता। इस अर्थं का बोध करने की इच्छा वाले सूत्रकार ने यहाँ 'तु' शब्द कहा है। अन्य भी

सर्वज्ञः—सव सुख-दुःख को जानने वाला । अनुभवः—प्राप्तिः, अपूर्वम्—अविद्यमानं पूर्व शरीरं यस्य तत्, अनुत्तरम्—अविद्यमानमुत्तरं शरीरं यस्य तत् (टी० ३८५) ।

उभयावधारणप्राप्तौ—दो अवधारण हैं आत्मा आदि ही प्रमेय हैं। आत्मा आदि प्रमेय ही हैं। यद्यात्माद्येव प्रमेयम्—यहां पहले अवधारण में दोष दिखलाया गया है जिसका 'आत्माद्येव प्रमे-यम्, (पृ० १४३) यहां परिहार किया गया है।

अथ पुनः प्रमेयमेव चात्मादि०—यहां दूसरे अवधारण में दोष दिखलाया गया हैं।
प्रमेयमेव चात्मादि न्तू चते—यहाँ दूसरे अवधारण के दोष का निराकरण किया गया है।
प्रवृत्तीवंशितमेदात्-प्रवृत्ति वीस प्रकार की होती हे दस प्रकार की अधर्म के लिये और दस प्रकार की धर्म के लिये और दस प्रकार की धर्म के लिये (द्र० न्यायभाष्य १.१.२)।

2.8.8

न्यायवात्तिशम्

सुखं पुनः कस्मादिसम् नोक्तम् ? किमभावाद् आहोस्विदन्यत उपलब्धेरिति ? न तावद् अभावात्, प्रत्यात्मवेदनीयत्वात्—प्रत्यात्ममेव वेदनीयं सुखमुपलम्यमानं न शक्यं नास्तीति वक्तुम् । न चान्यत उपलब्धः, अस्मादेव । अनिभधानं तु वैराग्यज्ञाप-नार्थम् । कथम् ? नायं मोक्षमाणः सर्व दुःखं भावयेदिति तस्य दुःखभावनार्थं सुखस्या—नपदेशः । सर्वं दुःखं भावयतस्त्रं लोक्येऽस्यानभिरतिसंज्ञा भवति । तां चोपासीनस्य प्रं लोक्यविषया तृष्णा विच्छिद्यते । तृष्णा नाम पुनर्भवप्रार्थना । साऽस्य सर्वं दुःखमिति भावयतो न भवति, न हि किच्चद् दुःख प्रार्थयते । तृष्णाप्रहाणाद्यानि पुनर्भवसाधनानि तानि नोपादत्ते । तदनुपादानादनागतौ धर्माधर्माः न भवतः । यावप्युत्पन्नौ धर्माधर्माः, तावप्युपभोगात् प्रक्षयं गच्छतः । सोऽयं धर्माधर्मालक्षणस्य संसारवीजस्य उच्छेदाद—पवृज्यते न पुनर्जायत इति । अस्यार्थस्य प्रदर्शनार्थं सुखानिभधानिमिति । १। १। ६।।

प्रमेय है किन्तू. जिसके सम्युक् ज्ञान से मोक्ष होता है वह यह प्रमेय है, ऐसा 'तु' शब्द से

(सूत्रकार) सूचित करता है।

(आक्षेप) किन्तु इस (प्रमेयसूत्र) में सुख क्यों नहीं कहा गया क्या सख का अभाव होने से अथवा अन्य (आत्मा आदि) से उसका ज्ञान हो जाने से ? उसका अभाव होने से तो नहीं; प्रत्येक आत्मा के द्वारा अनुभव किया जाने से —प्रत्येक आत्मा द्वारा अनुभव किये जाने योग्य सुख उपलब्ध होता है, अतः 'नहीं हैं' इस प्रकार नहीं कहा जा सकता और, इसी हेतु से (अस्मादेव) अन्य से भी उसका ज्ञान नहीं होता । [परिहार] (सुख का) अकथन तो वैराग्य को सूचित करने के लिये है। कैसे ? मोक्ष की इच्छा करने वाला यह (मुमुक्षु) सबमें दुःख की भावना न करता, उसे दु:ख की भावना कराने के लिये सुख का कथन नहीं किया गया। 'सब दू:ख है' ऐसी, भावना करने वाले उसकी तीनों लोकों के प्रति अनासक्ति (अनिभरित) की भावना हो जाती है। और उसकी उपासना करने वाले तीनों लोकों के प्रति तृष्णा नष्ट हो जाती है । पुनर्जन्म की इच्छा ही तृष्णा है । 'सब दुःख है' यह भावना करते हुए इस (मुमुक्षु) की वह तृष्णा नहीं होती; क्योंकि कोई भी दुःख पाने की इच्छा नहीं करता। तृष्णा के नाश से जो पुनर्जन्म के साधन हैं उनका ग्रहण नहीं करता । उनका ग्रहण न करने से भविष्य के धर्म तथा अधर्म नहीं होते । जो उत्पन्न हुए धर्म तथा अधर्म हैं वे भी उपभोग से नष्ट हो जाते हैं । वह यह (मुमुक्षु) धर्माधर्मरूप संसार के बीज का नाश हो जाने से मुक्त हो जाता है, फिर जन्म नहीं लेता। इस अर्थ को दिखलाने के लिये यहाँ सुख का कथन नहीं किया गया। १। १। ६॥

अन्यतः == आत्मा आदि पद से, आत्मादिपदात्, टी० ३८६।

अस्मादेव--आत्मादि से भिन्न रूप में प्रत्येक आत्मा से उपलब्ध होने के कारण ही, आत्मादिक्यो

भेदेन प्रत्यात्ममुपलभ्यमानत्वादेव, टी० ३८६।

अनिमरितसंज्ञा—यह निर्विद्यते की व्याख्या है, इसका अर्थ है उपेक्षावृद्धि, टी॰ ३८६। तों चोपासीनस्य—यह 'निर्विण्णस्य वैराग्यम्, की व्याख्या है। यह वैराग्य तृष्णा का विरोधी है अतः इससे तृष्णा का नाश हो जाता है।

[प्रमेयम्

न्यायसूत्रं भाष्यं च

तत्रात्मा तावत्प्रत्यक्षतो न गृह्यते । स किमाप्तोपदेशमात्रादेव प्रतिपद्यत इति ? नेत्युच्यते । अनुमानाच्च प्रतिपत्तव्य इति । कथम् ?

इच्छाहे षप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम् ।१।१।१०॥

यज्जातीयस्यार्थस्य सन्निकर्षात्मुखमात्मोपलब्धवान् तज्जातीयमेवार्थं पश्यन् उपादातुमिच्छति । सेयमादातुमिच्छा एकस्यानेकार्थर्दाश्चाने दर्शन-प्रतिसन्धानाद् भवति लिङ्गमात्मनः । नियतविषये हि बुद्धिभेदमात्रे न संभवति, देहान्तरवदिति ।

न्यायवात्तिकम्

आत्मनः समानासमानजातीयविशेषणार्थं सूत्रम्, इच्छेति । आगमस्यानुमानेन प्रतिसन्धानार्थं वा—यो हि आगमेन प्रतिपन्न आत्मा, तस्यानुमानेन प्रतिसन्धानार्थम् । प्रमाणसंप्लवस्योदाहरणार्थं वा—यत्तदवोचाम प्रमाणानि संप्लवन्त इति, तस्यायं विषयः ।

यज्जातीयस्यार्थस्य सन्निकर्षादिति भाष्यम् । तत्र चेच्छादीनां प्रतिसन्धानम् आत्मास्तित्वप्रतिपादकम् ।

उन (प्रमेयों) में आत्मा का तो प्रत्यक्ष से ग्रहण नहीं होता, क्या उसे आप्तों के उपदेश मात्र से ही जाना जाता है? नहीं, यह कहा गया है, अनुमान से भी जानना चाहिये। कैसे?

इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान (६) आत्मा के बोधक (लिङ्ग) हैं। १।१।१०॥

जिस प्रकार (जातीय) के अर्थ का सम्बन्ध होने से आत्मा ने मुख की प्राप्ति की है, उसी प्रकार के अर्थ को देखता हुआ ग्रहण करने की इच्छा करता है। वह यह ग्रहण करने की इच्छा अनेक विषयों (अर्थों) को देखने वाले एक व्यक्ति के दर्शन तथा देखे गये के स्मरण (दर्शनप्रतिसन्धान) से होती है अतः (एक) आत्मा की बोधक (लिङ्ग) है; क्योंकि नियतविषय में भिन्न-भिन्न ज्ञान (बुद्धि) होने पर यह संभव नहीं, जैसे अन्य शरीर से जाने गये का दूसरा शरीर (प्रतिसन्धान नहीं कर सकता)।

आतमा का समान जाति वाले (शरीर आदि, टी॰) और असमान जाति वाले (प्रमाण आदि टी॰) से भेद करने के लिये सूत्र है इच्छा आदि। अथवा शास्त्र (आगम) का अनुमान से प्रतिसन्धान (दो ज्ञानों की संगति) के लिये हैं—जो आत्मा शास्त्र से जाना गया है उसकी अनुमान से (प्राप्त ज्ञान के साथ) संगति करने के लिए हैं। अथवा यह एक विषय में अनेक प्रमाणों की गति (संप्लव) का उदाहरण है—जो हमने यह कहा है कि अनेक प्रमाण एक विषय में होते हैं (संप्लवन्ते) उसका यह विषय है।

जिस प्रकार के अर्थ के सिन्नकर्ष से' यह भाष्य है। उसमें इच्छा आदि का प्रतिसन्धान (ज्ञान के विशय में इच्छा होना) आत्मा की सत्ता का बोधक है। ₹.२·°°] [१४७

न्यायभाष्यम्

एवमेकस्यानेकार्थर्दिशनो दर्शनप्रतिसन्धानात् दुःखहेतौ द्वेषः । यज्जातीयोऽस्यार्थः सुखहेतुः प्रसिद्धस्तज्जातीयमर्थं पश्यन् आदातुं प्रयतते । सोऽयं प्रयत्नः एकमनेकार्थर्दाशनं दर्शनप्रतिसन्धातारमन्तरेण न स्यात् । नियत-विषये हि बुद्धिभेदमात्रे न संभवति, देहान्तरविदित । एतेन दुःखहेतौ प्रयत्नो व्याख्यातः । सुखदुःखस्मृत्या चायं तत्साधनमाददानः सुखमुपलभते दुःखमुपलभते, सुखदुःखे वेदयते । पूर्वोक्त एव हेतुः । बुभुत्समानः खल्वयं विमृश्चाति कि स्विदिति, विमृशंश्च जानीते इदमिति । तदिदं ज्ञानं बुभुत्सा-विमश्चित्यायभिननकर्तृकं गृह्यमाणमात्मनो लिङ्गम् । पूर्वोक्त एव हेतुरिति ।

तत्र देहान्तरविदित विभज्यते । यथा अनात्मवादिनो देहान्तरेषु नियतिविषया बुद्धिभेदा न प्रतिसन्धीयन्ते, तथैकदेहविषया अपि न प्रति-सन्धीयेरन्, अविशेषात् । सोऽयमेकसत्त्वस्य समाचारः स्वयं दृष्टस्य स्मरणम्,

इसी प्रकार अनेक अर्थों (विषयों) को देखने वाले एक के दर्शन तथा प्रतिसन्धान से दुःख के हेतु में द्वेष होता है। जिस प्रकार का अर्थ इसके सुख का हेतु जाना जाता है (प्रसिद्धः) उस प्रकार के अर्थ को देखता हुआ यह लेने का प्रयत्न करता है। वह यह प्रयत्न अनेक अर्थों को देखने वाले, दर्शन तथा प्रतिसन्धान करने वाले 'एक' के विना नहीं होगा। वस्तुतः नियत विषय में भिन्न-भिन्न ज्ञान मात्र होने पर यह संभव नहीं है, अन्य शरीर के समान। इस (कथन) से दुःख के हेतु में प्रयत्न की व्याख्या कर दी गई। और, सुख और दुःख की स्मृति से यह (व्यक्ति) उसके साधन का ग्रहण करता हुआ सुख को प्राप्त करता है या दुःख को प्राप्त करता है, सुख और दुःख का अनुभव करता है (वेदयते)। पूर्व कहा गया ही हेतु है।

उसमें 'देहान्तरवद्' इसे पृथक् किया जाता है (विभज्यते)। जिस प्रकार अनात्मवादी के मत में अन्य शरीर में होने वाले, नियतविषयक भिन्त-भिन्न विज्ञानों का प्रतिसन्धान नहीं किया जाता उसी प्रकार एक शरीर में होने वालों का प्रतिसन्धान

प्रत्यक्षतो न गृह्यते — जन साधारण को आत्मा का प्रत्यक्ष नहीं होता, 'अह' प्रतीति 'अहं गौरं' आदि में शरीर-विषयक भी होती है अतः वह आत्मा की सत्ता को मिद्ध नहीं कर सकती। अथवा परदेहवर्ती आत्मा के अभिप्राय से कहा गया है। (टी० ३६१)

प्रतिसन्धानम् — एक कत्तां द्वारा जानी गई वस्तु का स्मरण सहित अनुभव या प्रत्यभिज्ञान (Recognition), स्मृत्या सह पूर्वापरप्रत्यययोरेकविषयत्वम् (परि० ३६८)।

सूत्रम्—समानजातीय तथा असमानजातीय से भेद कराना लक्षण का प्रयोजन है। आगे दो प्रयोजनों का समुच्चय किया गया है, वा = च (और,) टी॰ ३६९

एकस्य — जो एक अनुभविता, स्मर्ता, अनुमाता तथा एिपता (इच्छा करने वाला) है, वह आत्मा है। यदि प्रत्येक विषय का अनुभविता विज्ञान भिन्न-भिन्न हो, जैसा बौद्ध मानता है तो यह प्रति: सन्धान सम्भव नहीं है। 'माल' (बुद्धिभेदमाते) शब्द से प्रकट किया गया है विज्ञानों से भिन्न विज्ञान का सन्तान कुछ नहीं होता, कल्पित माल है।

[प्रभेयम्

न्यायभाष्यम्

नान्यदृष्टस्य, नादृष्टस्य । एवं खलु नानासत्त्वानां समाचारोऽन्यदृष्टमन्यो न स्मरतीति । तदेतदुभयमशक्यम् अनात्मवादिना य्यवस्थापितुम्, इत्येवमुपपन्नसस्त्यात्भेति ।१।१।१०॥

न्यायवात्तिकम्

तत्रे दं विचार्यते, कथिमच्छादि अनुपलभ्यमानमात्मानं गमयतीति । स्मृत्या सहैकविषयभावात्—यस्मादेते स्मृत्या सहैकविषयभावात्—यस्मादेते स्मृत्या सहैकविषया भविन्ति, तस्मात् एककर्नृकत्वं प्रतिपादयन्ति । न हि नानाकर्नृकाणां नानाविषयाणां नानानिकित्तानां च प्रत्ययानां प्रतिसन्धानमस्ति । न हि रूपरसगन्धस्पर्शप्रत्ययाः प्रतिसन्धीयः ते—न हि भविति यद्रूपमद्राक्षं सोऽयं स्पर्श इति । नापि भविति यत् स्पर्शमस्पार्क्षं तद्रूपं पश्यामीति । नापि वेवदत्तेन वृष्टेऽर्थे यज्ञवत्तस्य प्रतिसन्धान वृष्टम् । न हि भवित देवदत्तो यम् अद्राक्षीत्

न होगा; क्योंकि (दोनों) समान है (अविशेषात्)। यह एक प्राणी (सत्त्व) का समाचार है कि स्वयं देखे गये का स्मरण होता है न अन्य के द्वारा देखे गये का, न ही न देखे गये का। ऐसा ही अनेक प्राणियों का समाचार है कि दूसरे द्वारा देखे गये का दूसरा स्मरण नहीं करता। वे ये दोनों अनात्मवादी (जो एक आत्मा को नहीं मानता) के द्वारा व्यवस्थित नहीं किये जा सकते। अतः इस प्रकार यह युक्तियुक्त है (उपपन्नम्) कि आत्मा है।

उसमें यह विचार किया जाता है; (प्रश्न) इच्छा आदि जिनकी उपलिध नहीं होती (वे) आत्मा का बोध कंसे करा देते हैं। (उत्तर) स्मृति के साथ एक विषय वाले होने से—क्योंकि ये स्मृति के साथ एक विषय वाले होने हैं, इसलिए इनका एक कर्ता है (एक कर्नृ कत्वम्), यह वतलाते हैं। वस्तुतः (हि) (क) अनेक कर्ताओं के द्वारा किये गये, (ख) अनेक विषयों में होने वाले तथा (ग) भिन्न-भिन्न निमित्तों से होने वाले जानों का प्रतिसन्धान नहीं हुआ करता। रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श के ज्ञानों का प्रतिसन्धान नहीं हुआ करता। रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श के ज्ञानों का प्रतिसन्धान तो होता नहीं—यह नहीं होता कि जिस रूप को मैंने देखा यह वह स्पर्श है और यह भी नहीं होता कि जिस स्पर्श को मैंने छुआ उस रूप को देखता हूं। तथा, देवदन के द्वारा देखी गई वस्तु में यज्ञदत्त को प्रतिसन्धान होता हुआ नहीं देखा गया, यह नहीं होता कि देवदत्त ने जिसे देखा था मुझ यज्ञदत्त ने उसको ही देखा। क्या

अनुपलभ्यमानम्—इच्छा आदि की प्रत्यक्षतः उपलब्धि नहीं होती, यह इच्छादि का विशेषण है।

न हि भवति—इस उदाहरण में दिखलाया गया हैं कि विषय-भेद होने पर प्रतिसन्धान नहीं होता।

नापि भत्रति—यहाँ दिखलाया गया है कि निमित्त-भेद होने पर प्रतिसन्धान नहीं होता। नापि देवदत्तेन—पहाँ दिखलाया गया है कि कर्ता का भेद होने पर प्रतिसन्धान नहीं होता।

3.8.3

न्यायवात्तिकम्

सोऽहं यज्ञदत्तस्तम् अद्राक्षमिति । किं कारणम् ? बुद्धिभेदानां प्रतिनियतिवषयत्वादिति—प्रतिनियतिवषया बुद्धयः इतरेतरच्यावृत्तस्वरूपा नैरात्म्यवादिनो (न) भवन्तीति न युक्तं प्रतिसन्धानम् । तस्माद् यः प्रतिसन्धाता स आत्मेति ।

कार्यकारणभावात् प्रतिसन्धानमिति चेत्—अथापि मन्येथा नैककर्नृत्वात् प्रतिसन्धानम् । किं तर्हि, कार्यकारणभावात्—पूर्वपूर्वबुद्धिविशेषाद् उत्तरमुत्तरं बुद्ध्यन्तरं पूर्वबुद्धिशक्तर्यनुविधानात् सकलाहितशक्तिकलापमुन्पद्यते । अतो नानात्वेऽपि बुद्धीनां कार्यकारणभावादेव प्रतिसन्धानं बीजादिवदिति—तद्यथा शालिगुटिकाद्यनन्तरमङ्क्षुरः प्रादुर्भवित, तस्य शालिशक्त्यनुविधानं तत्पूर्वकतया व्यवतिष्ठते । अनन्तरं महाभूतैरनु-गृह्यमाणमुत्तरकालं शालिबीजं प्रादुर्भवित न यवबीजम्, अतत्पूर्वकत्वात्; तथेहाष्येक-सान्तानिकीनां बुद्धीनां कार्यकारणभावव्यवस्थानात् प्रतिसन्धानम्, अतत्पूर्वकत्वात् न

कारण है ? भिन्न-भिन्न ज्ञानों का (बुद्धिभेदानाम्) प्रत्येक नियत विषय वाला होने से—एक आत्मा को न मानने वाले (नैरात्म्यवादी बौद्ध) के मत में ज्ञान या विज्ञान प्रत्येक विषय में पृथक्-पृथक् (नियत) होते हैं, परस्पर भिन्न (ब्यावृत्त) स्वरूप वाले होते हैं, अतः प्रतिसन्धान होना युक्तियुक्त नहीं। इसलिये जो प्रतिसन्धान करने वाला है वह आत्मा है।

(शङ्का) यदि (बौद्ध कहे) विज्ञानों के कार्यकारणभाव से प्रतिसन्धान हो जाता है—और यदि तुम यह मानते हो कि एक कर्ता द्वारा किये जाने से यह प्रतिसन्धान नहीं होता अपि तु (कि तिंह) कार्यकारणभाव से होता है: पहले-पहले विशेष विज्ञान से होने वाला अग्रिम-अग्रिम अन्य विज्ञान पहले विज्ञान की—शक्ति का अनुसरण करने के कारण उसमें स्थित (आहित) सब शक्तियों सहित उत्पन्न होता है। इसलिये विज्ञानों के भिन्न-भिन्न होने पर भी कार्य-कारण-भाव से ही बीज के समान प्रतिसन्धान हो जाता है—जैसे कि शालि के बीज के पश्चात् जो अङ्कर उत्पन्न होता है उसका शालि के बीज से होने के कारण (तत्पूर्वकतया) शालि की शक्ति का अनुसरण करना निश्चत है (व्यवतिष्ठते)। तत्पश्चात् महाभूतों (पृथिवी आदि) से उपकृत होकर (अनुगृह्यसाणम्) अग्रिम काल में शालि का बीज ही उत्पन्न होता है, यव का बीज

नैरात्म्यवादिन:—यहाँ उपलब्ध पुस्तकों में 'नैरात्म्यवादिनो न' ऐसा पाठ है, जो उचित नहीं। यह प्रथम वाक्य की व्याख्या है जो 'न' के विना ही संगत होती है (द्र०, म० गङ्गानाथ झा कृत अनुवाद)। नैरात्म्ययाद या अनात्मवाद बौद्ध दर्गन का अभिमत है। यद्यपि कृष्ठ बौद्ध इसे पूर्ण रूप से नहीं मानते रहे तथापि प्रायः इसे मानते ही हैं संक्षेप में 'विज्ञानो की धारा के अतिरिक्त अथवा रूप, विज्ञान, वेदना, संज्ञा और संस्कार इन पांच स्कन्धों से भिन्न आत्मा नाम का तत्त्व नहीं,' यह मानना ही अनात्मवाद है।

कार्यकारणभावात्—एक सन्तान में होने वाला पहला क्षणिक विज्ञान कारण होता है और दूसरा क्षणिक विज्ञान कार्य होता है। कारण विज्ञान में जो वासना आदि होते हैं वे ही उसकी शक्तियाँ (अतिशय) कहे जाते हैं। दूसरा विज्ञान (कार्य विज्ञान) उन सभी शक्तियों सहित उत्पन्न होता हैं यही कम चलता रहता है। इस प्रकार क्षणिक विज्ञानों के भिन्न-भिन्न होने पर भी पहले विज्ञान की वासनाएँ दूसरे विज्ञान में रहती हैं।

न्यायवात्तिकम्

सन्तानान्तरबुद्धीनामिति । न पुनरेककर्तृकत्वात् प्रतिसन्धानमदर्शनादिति । तदिदं प्रति-सन्धानसन्यथाभवन् नात्मनः सत्तां प्रतिपादियतुं शक्नोति ।

न, नानात्वस्याबाधनात्—कार्यकारणभावात् प्रतिसन्धानं ब्रुबन् न नानात्वं वाधते इति। किं कारणम् ? कार्यकारणभावस्य नानात्वाधिष्ठानात्—कार्यकारणभावः खलु नानात्वाधिष्ठान एव । उभवपक्षसंप्रतिपन्ने च नानात्वे न प्रतिसन्धानं दृष्टम् । कस्मात् ? अन्वेनानुभूतस्यान्येनास्मरणात् । न चास्मृतमर्थं प्रतिसन्धानुं शक्तोति, अकार्यकारणभावादनुपपत्तेः । न ब्रूमः कार्यकारणभावे दृष्टं प्रतिसन्धानम्, अपि त्वकार्यकारणभावे

नहीं; क्योंकि वह (अङ्कुर) यव बीज के निमित्त से नहीं होता (अतत्पूर्वकत्वात्) उसी प्रकार यहां भी एक सन्तान में होने वाल विज्ञानों का कार्य-कारण-भाव होने से प्रतिसन्धान होता है, दूसरे सन्तान के विज्ञानों का नहीं होता; क्योंकि वे उसके निमित्त से नहीं हुआ करते (अतत्पूर्वकत्वात्)। अतः एककर्नृ क होने से प्रतिसन्धान नहीं होता; क्योंकि ऐसा देखा नहीं जाता। वह यह प्रतिसन्धान अन्यया (सिद्ध) होता हुआ, अत्मा की सत्ता को सिद्ध नहीं कर सकता।

यह (कथन) ठीक नहीं, (विज्ञानों की) भिन्नता का निराकरण न होने से— कार्य-कारण-भाव से प्रतिसन्धान बतलाते हुए (आप विज्ञानों की) भिन्नता का निरा-करण नहीं करते। क्या कारण है ? कार्यकारणभाव का आधार (अधिष्ठान) भिन्नता होने से—निश्चय ही कार्यकारणभाव भिन्नता के आधार पर ही होता है। और, दोनों पक्षों द्वारा स्वीकृत (संप्रतिपन्न) भिन्नता (नानात्व) में प्रतिसन्धान नहीं देखा गया। क्यों ? अन्य के द्वारा अनुभूत का दूसरे के द्वारा स्थरण न होन स। और, स्यरण न किये गये पदार्थ का प्रतिसन्धान नहीं किया जा सकता; क्यांक कार्यकारणभाव न होने से (वह) बन नहीं सकता। (शङ्का) हम यह नहीं कहत कि कार्यकारणभाव होने पर प्रात-

एक सान्तानिकीनां—एक सन्तान वाले, क्षणिक विज्ञानों के एक प्रवन्ध वाले विज्ञानों की। एक व्यक्ति में ज्ञानों की एक धारा (सन्तान) चलती हैं, दूसरे में दूसरी। इस प्रकार देवदत्त के देखे गये का यज्ञदत्त को स्मरण नहीं होता।

अन्यथाभवत् — व्यक्ति को होने वाला प्रतिसन्धान एककर्तृ क होने से होता है या कार्यकारणभाव से । इस विषय में बौद्ध कहते हैं कि यह प्रतिसन्धान कार्यकारणभाव से होता है, एककर्तृ क होने से नहीं अतः विज्ञानों की धारा (प्रबन्ध) के अतिरिक्त कोई एक आत्मा नहीं है।

नानारवस्याबाधनात्— सिद्धान्ती गूढ़ अभिप्राय से कहता है (टी० ३६३), कार्यकारणभाव से स्मृति नहीं मानी जा सकती? क्योंकि कार्य और कारण भी भिन्न भिन्न होते हैं अतः कार्यकारणभाव मानने से विज्ञानों की भिन्नता का निराकरण नहीं होता।

उभयपक्षसंपितपन्ने — जहाँ बौद्ध तथा नैयायिक दोनों ही भेद मानते हैं जैसे देवदत्त और यज्ञदत्त में, वहाँ प्रतिसन्धान नहीं होता।

न **बूमः—अयथार्थोऽयमुपालम्भः—**यह वीद्ध की शङ्का है। 'तःयुक्तम्' यह सिद्धान्ती का समाधान है।

न्यायवात्तिकम्

न दृष्टमतत्पूर्वकृत्वादित्युक्तम्; तस्मादयथार्थाऽयमुपालम्भ इति। तदयुक्तम्, विवादकारणाव्यतिरेकादिति। एवं जुवाणो भवान् न कारणमितरेचयित। मयोक्तं नानात्वे न दृष्टमिति। त्वं तु जूषे अकार्यकारणभावान्नानात्वे सित न दृष्टिमिति, अनैकान्तिकृत्वाच्च
विवादकारणमितिरिच्यते। तुल्यं भवतोऽपि, नानात्वे अदर्शनादिति ब्रुद्धता न विवादकारणमितरेचित भवतीति। अभ्युगमादनुत्तरम्—तुल्यमिति ब्रुद्धता भवताभ्युपगतं
भवति। नाताश्रनात्, न मया कार्यकारणभावात् प्रतिसन्धानं साध्यते, अपि त्वन्ययंव
तद्भवतीति हेतोरसिद्धार्यतादोषोऽभिधीयते इति। न, हेत्वर्यापरिज्ञानात्— न भवता
हेतुकृषं विशेषतो व्यज्ञायि, केवलं हेतुसामान्यात् अन्ययंव संभवतीति हेतुदोषोऽभ्यधायि। विशेषितं चैतत् प्रतिसन्धानम्, स्मृत्या सह पूर्वापरप्रत्यययोरेकविवयत्वेन प्रतिसन्धानम्। सा च स्मृतिभंवत्यक्षेऽनुपपन्ना। कस्मात्? अन्येनानुसूत-

सन्वान देखा गया ह अपि तु यह कहा गया ह कि कार्यकारणभाव न होने पर तत्पूर्वक (कारणपूर्वक) न होने से (प्रतिसन्धान) नहीं देखा गया । इसलिये यह दोष दिखलाना (उपालम्भ) उचित नहीं । [समाधान] वह (शङ्का) अयुक्त है विवाद के कारण की व्या-वृत्ति न होने से—ऐसा कहते हुए आप (विवाद के) कारण को दूर नहीं करते (न अतिरेवयित); मैंने कहा है कि नाना होने पर (यह प्रतिसन्धान) नहीं देखा गया, तुम तो कहते हो कि कार्यकारणभाव न होने से नाना होने पर नहीं देखा गया। इस प्रकार (आपका कथन) व्यभिचारयुक्त होने से (अनैकान्तिकत्वात्) विवाद का कारण दूर नहीं होता। (आक्षेप) आपके मत में भी समान है, नाना होने पर (स्मृति आदि) नहीं देखे जाते, यह कहने वाले के द्वारा भी विवाद के कारण को दूर नहीं किया जाता। [परिहार] (नाना होने पर स्मृति नहीं बन सकती) ऐसा स्वीकार करने से यह उचित उत्तर नहीं (अनुत्तरम्)—समान है, यह कहने वाले आपके द्वारा (हमारा कथन) स्वीकृत कर लिया गया । (शङ्का) नहीं, सिद्ध न करने के कारण, मेरे द्वारा कार्यकारण-भाव से प्रतिसन्थान का होना सिद्ध नहीं किया जा रहा; अपि तु वह (तद् = प्रति-सन्धानम्) अन्य प्रकार से ही हो जाता है, इस प्रकार (तुम्हारे) हेतु का अन्यथासिद्धि (अतिद्धि) दोष बतलाया जा रहा है। [समाधान] यह ठीक नहीं, हेतु का अर्थ मली-भाँति न जानने से —आपने हेतु का रूप विशेष प्रकार से नहीं जाना, केवल हेतु के सामान्य रूप से यह हेतु-दोष कह दिया कि (प्रतिसन्धान) अन्य प्रकार से ही हो सकता है। यह प्रतिसन्यान तो विशिष्ट है, स्मृति के साथ पहली और वाद की प्रतीतियों के एक विषय में होने से प्रतिसन्धान होता है। और, वह स्मृति आपके पक्ष में बनती नहीं। क्यों? अन्य के द्वारा अनुभूत का दूसरे को स्मरण न होने से—वस्तुतः अन्य के द्वारा अनुभूत का दूसरे के द्वारा स्मरण नहीं किया जाता, अन्य के द्वारा

अभ्युपगमात् — तुल्यं भवतोऽपि, यह कहते हुए आपने स्वीकार कर लिया कि नाना होने पर स्मृति नहीं होती । असिद्धार्थता = अन्यथासिद्धार्थता, टी० ३६३ .

रहा होता । आसद्धायता = अन्ययासद्धायता, पार स्टर्स स्मृत्या सह प्रतिसन्धानम्—यहाँ वार्त्तिक में प्रतिसन्धान का स्वरूप दिखलाया गया है। जिस

न्यायवात्तिकम्

स्यान्येनास्मरणात्—न ह्यन्येनानुभूतस्यान्येन स्मरणम्, न ह्यन्येनानुभूतमन्यः स्मरतीति। अस्ति च स्मृतिः। तस्माद् यस्मिन् पक्षे स्मृतिः संभवित तत्र प्रतिसन्धानमिति न्याय्यम्। भवानस्मान् स्मृत्यनुपपत्त्या भाययित, न हि नः पक्षे स्मृतिर्न संभवितीत। कथिमिति ? कार्यकारणभावादेव यत्कायित्तसन्तानप्रभविऽनुभवः स्मृतिहेतुरसावितिः, यस्मिन् कायित्तसन्ताने स्मृतिरनुभवश्चोत्पद्येते स कायित्तसन्तानः स्मर्ता चानुभविता च भवित। न, अस्थिरत्वाद् बुद्धीनाम्—स्थिरं हि वासकेन वास्यमानं दृष्टम्। न च बुद्धीनां स्थैर्यमस्ति। असम्बन्धाच्च। (अ) सम्बद्धं च वासकेन वास्यमानं दृष्टम्। न च वासकेन सह सम्बन्धो बुद्धीनामस्ति। शिक्तिविशिष्टश्चित्तोत्पादो वासनेति चेत्—अथाप्येवं कल्प्येत पूर्वीचत्तसहजाच्चेतनाविशेषात् पूर्वशक्तिविशिष्टः चित्तपुरपद्यते।

अनुभूत को दूसरा स्मरण नहीं करता। किन्तु (च) स्मृति होती है। इसलिये जिस पक्ष में स्मृति हो सकती है उसमें प्रतिसन्धान होता है, यह न्यायसंगत है। (पूर्वपक्ष, बौद्ध) आप हमें स्मृति न बन सकने से डराते है (भाययित), ऐसा नहीं कि हमारे पक्ष में स्मृति संभव नहीं है। कैसे? कार्यकारणभाव से ही—जिस काया के चित्त-सन्तान में अनुभव उत्पन्न होता है, वही स्मृति का हेतु होता है; जिस काया के चित्त-सन्तान में स्मृति और अनुभव उत्पन्न होते हैं वह कायिनत्तसन्तान स्मर्ता और अनुभविता होता है। [सिद्धान्ती] यह ठीक नहीं, ज्ञानों के अस्थिर (क्षणिक) होने से—स्थिर वस्तु ही गन्ध या वासना उत्पन्न करने वाले (वासक) के द्वारा वासित होती हुई देखी जाती है और विज्ञानों की स्थिरता नहीं होती (वे क्षणिक हैं)। और, सम्बन्ध न होने से (भी)—सम्बद्ध होता हुआ ही वासक द्वारा वासित होता देखा गया है किन्तु विज्ञानों का वासक (विज्ञान) के साथ सम्बन्ध नहीं है। (शङ्का) यदि कहो कि शक्तिविशिष्ट

प्रकार के चन्दन, विनता आदि सुख के हेतु के अनुभव का स्मरण करता हूं उस प्रकार के इसको जान रहा हूं, इस प्रकार का प्रतिसन्धान होता है जो कार्यकारणभाव नियम से भिन्न है (टी० ३६३)। अन्येनानुभूतस्यान्येनास्मरणात्—वाचस्पित मिश्र ने यहाँ तीन वाक्य मानकर विविध प्रकार से व्याख्या की है। 'अन्येन' शब्द के तीन अर्थ हैं—(१) अन्येन = अन्य निमित्त से, चक्षु से देखे गये का त्विगिन्द्रिय से स्मरण नहीं होता। (२) अन्येन = अन्य स्वभाव से, घटत्व युक्त के अनुभव से वृक्षत्व-युक्त का स्मरण नहीं होता। (३) अन्येन = अन्य कर्ता से, देवदत्त के द्वारा देखे गये का यजदत्त स्मरण नहीं करता। वार्तिक की शैंलों से प्रतीत होता है कि यह ऐसा वाक्य है जिसकी आगे दो व्याख्याएं की गई हैं।

यह्मिन् पक्षे — एक कर्त्ता मानने पर ही स्मृति तथा प्रतिसन्धान बन सकते हैं। असम्बद्धं च — यहाँ 'सम्बद्ध' पाठ शुद्ध है (मि० म० झा)

कायचित्तसन्ताने—कारण (उपादान) तथा कार्य (उपादेव) भाव से स्थित विज्ञानों की धार[ा] ही विज्ञान (चित्त) सन्तान है (उपादानोपादेवभावेनावस्थितः चित्तप्रवाहः सन्तानः टी० ३९४) । यहाँ एक सन्तान को प्रकट करने के लिये कार्य' शब्द का ग्रहण किया गया है । 2.9.4]

ि १५३

न्यायवात्तिकम्

सोऽस्य शक्तिविशिष्टिचित्तोत्पादो वासनेत्युच्यते । अत्रोक्तमस्थिरत्वात्, वासकेनासस्वन्धाच्चेति—यश्चासौ चेतनाविशेषः पूर्वचित्तसहभावी स नापि वर्तमाने चेतस्युपकारं
करोति, नाष्यानागते । कथिमिति ? वर्तमानं तावदिवकार्यं यथाभूतं जायते तथाभूतमेव
नश्यित, अनागतेनापि न संबध्यते । न चासंबद्धं वासयतीत्युक्तम् । तस्मात्
कार्यकारणभावात् स्मृतिरित्यशिक्षतोत्वासनमेतिदिति ।

इतश्च न भवत्पक्षे स्मृति:, भावस्य भवित्रपेक्षत्वात—सर्वो हि भावो भवितारम् अपेक्षते, क्रियात्वाद् उत्पत्तिवद् इति । स्मृतेश्च भविता कर्म वा भवेत कर्ता वा । तण्डुलानां पाक इति कर्मणि, देवदत्तस्य गतिरिति कर्त्तरि । तत्र न तावत् कर्माधारी असतोऽपि स्मरणात् । यदा त्वविद्यमानं स्मरति तदानाधारा स्मृति: प्राप्नोति । अथ

विज्ञान (चित्त) की उत्पत्ति ही वासना है—यदि ऐसी कल्पना की जाये कि पूर्व विज्ञान (प्रवृत्ति विज्ञान) के साथ उत्पत्न होने वाली (सहजात) विशेष चेतना (आलय-विज्ञान) से पूर्व विज्ञान की शक्ति से विशिष्ट विज्ञान (प्रवृत्तिविज्ञान चित्त) उत्पन्न होता है। वह इसकी शक्ति-विशिष्ट विज्ञान की उत्पत्ति वासना कहलाती है। [समाधान] इस विषय में कहा जा चुका है, अस्थिर (क्षणिक) होने से और वासक के साथ सम्बन्ध न होने से। किञ्च, जो यह चेतनाविशेष (आलयविज्ञान) है जो पूर्वविज्ञान के साथ रहता है, वह न तो वर्तमान विज्ञान में कोई उपकार करता है, न ही अनागत में। क्यों ? वर्तमान विज्ञान तो विकृत न होने योग्य है, जंसा उत्पन्न होता है, वंसा ही नष्ट हो जाता है और अनागत से भी उसका सम्बन्ध नहीं होता। किञ्च, सम्बन्ध न हुए विनः वासना उत्पन्न नहीं करता (कर सकता) यह कहा जा चुका है। इसलिये कार्यकारणभाव से स्मृति होती है, यह अशिक्षित जनों को डराना (बहकाना) है।

और, इस कारण भी आपके पक्ष में स्मृति नहीं होती, भाव (होना) को भिवता (होने वाले) की अपेक्षा होने से—वस्तुतः सभी होना (भाव) किया होने से उत्पत्ति के समान होने वाले (भिवता) की अपेक्षा रखता है। और, स्मृति का भिवता (होने वाला) कर्म हो सकता है अथवा कर्ता; चावलों का पकना यहाँ (क्रिया; भाव) कर्म में है, देवदत की गित यहाँ कर्ता में । स्मृति में (क्रिया) कर्म के आश्रित तो है नहीं; क्योंकि जो नहीं है (असत्) उसका भी स्मरण होता है । अतः (तु) जब अवि- द्यमान का स्मरण करता है तब स्मृति विना आधार के प्राप्त होती है । यदि वह

असम्बन्धाच्च — बौद्ध मत में एक विज्ञान का संस्कार दूसरे में नहीं जा सकता, क्योंकि पहला विज्ञान उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाता है तब दूसरा उत्पन्न होता है अतः दोनों का सम्बन्ध नहीं होता।

पूर्व चित्त o — पूर्व चित्त = प्रवृत्ति विज्ञान जो छह प्रकार का होता है पाँच रूप आदि विज्ञान और छटा विकल्प विज्ञान जो मन से होता है। उसके साथ होने वाला चेतनाविशेष है आलयविज्ञान। वही 'अहम्' का विषय है। शक्ति = स्मृति की शक्ति। बौद्धमत में शक्ति तथा शक्तिमान् में भेद नहीं, किसी प्रकार भेद मानकर शक्ति-विशिष्ट कह दिया गया है।

१५४

न्यायवात्तिकम्

प्रमेयम

कर्जाधारा सा, तदाऽस्मत्पक्षे प्रयुक्ता न भवत्पक्षे। कस्मात् ? कर्जु रनभ्युग्गमात्—न हि भवन्तः कर्तारं स्मृत्याधारं प्रतिपद्यन्ते, इति । अनाधारं व स्मृतिरिति यदायं पक्षो भवति तदाप्यनुमानं नास्ति, कार्यस्यानाधारस्यादर्शनादिति—कार्यं सर्वमाधारवद् दृष्टं यथा रूपादि । कार्यं च स्मृतिः । तस्मादाधारवतीति । कार्यकारणभोर्मावभविनृव्यवहारः— कार्यक्षणो भावः, कारणक्षणो भवितेति । एवं च किमन्येन भवित्रा कल्पितेनेति । तच्च न, कालभेदात्—कार्यकारणक्षणयोभिन्नकालत्वाद् आश्रयाश्रितभावानुपपत्तिः; कुण्डवदरादि-वद् इति ।

अथापीदं स्यात्, उत्पत्तिभीवः, उत्पत्ता भिवतिति स्मृतिरप्युत्पद्यते; तस्मात् तस्या अपि उत्पत्तिर्भावो भविष्यति इति, स्मृतिरप्युत्पत्त्री भवित्रीति । तच्च न, विरोधाद्, अनभ्युपगमाञ्च—यदि स्मृतिष्यतिरिक्तोत्पत्तिः, व्याहतं भविति, स्वरूपं च वक्तव्यम् । न हि भवन्त उत्पत्तिमद्व्यतिरेकेणोत्पत्ति प्रतिपद्यन्ते । व्यतिरिक्तां चोत्पीत्त

(स्मृति) कर्ता के आश्रित है। तब हमारे पक्ष में प्रयोग किया जा सकता है आपके पक्ष में नहीं। क्यों (आपके द्वारा) कर्ता को न स्वीकारा जाने से—वस्तुतः आप कर्ता को स्मृति का आधार नहीं मानते। (पूर्वपक्ष) स्मृति विना आधार के ही हो जाती है जब यह पक्ष है; (उत्तरपक्ष) तब भी अनुमान नहीं है; आधारहीन कार्य न दिखलाई देने से; सब कार्य आधार वाला देखा गया है, जैसे रूप आदि और स्मृति (भी) कार्य है, इसलिये (यह) आधार वाली है। (पूर्वपक्ष, राष्ट्रा) कार्य में भाव (शब्द) का व्यवहार होता है और कारण में भविता (शब्द) का—कार्यक्षण भाव है और कारणक्षण भविता है। और, इस प्रकार अन्य भविता की कल्पना करने की क्या आवश्यकता है? [समाधान] और, वह ठीक नहीं, काल का भेद होने से—कार्यक्षण और कारणक्षण के भिन्न काल में होने से कुण्ड और बदर (वेर) के समान आधार तथा आधेयभाव नहीं बन सकता।

(ज्ञाङ्का) और, यदि यह होवे कि उत्पत्ति भाव (क्रिया) है, उत्पन्न होने वाला भिवता (कर्ता) है, स्मृति भी उत्पन्न होती है इसलिये उसकी उत्पत्ति भी भाव है तथा उत्पन्न होने वाली स्मृति भिवता है। [समाधान] वह भी (च) नहीं, विरोध होने से तथा (आपके) स्वीकार न करने से—(विरोध की व्याख्या) यदि स्मृति से भिन्न उत्पत्ति है तो विरोध होता है; क्योंकि (च हेतों टी०) (उत्पत्ति का) स्वरूप कहना होगा। वस्तुतः आप उत्पत्तिमान् से भिन्न उत्पत्ति को नहीं मानते। उत्पत्ति को भिन्न मानकर

अत्रोक्तम् अणिकता तथा सम्बन्ध का अभाव । स्थिर तथा सम्बद्ध वस्त्र आदि को कस्तूरी आदि से वासित होता देखा गया है, पूर्वापर विज्ञान न स्थिर हैं, न सम्बद्ध ।

भाव:-- उत्पत्तिमान् धर्मः ? भविता = धर्मी, (टी ० ३६५) ।

तच्च न—समान काल में रहने वाली दो वस्तुओं में ही आधार-आधेय भाव हो सकता है; जैसे कुण्ड और वदर में।

. १.१०]

न्यायवात्तिकम्

प्रतिपद्यमानेन भवता तस्याः स्वरूपं वक्तव्यम् । स्वरूपं च निरूप्यमाणं तन्त्रं वाधते । कथिमिति ? उत्पत्तिः स्वकारणसत्तासम्बन्धः, सत्ता वा स्वकारणसन्वन्धविशिष्टा । उभयं च ै तन्त्रे नाभ्युपगतिमित व्यावातः । अथ स्वृत्यव्यतिरिक्तोत्पितः, कि क्व वर्तते इति बून्यमिश्रधानम्, उत्पत्तिभित उत्पत्ती स्मृतिरिति । यदा चोत्पत्तिः स्मृते-भिवत्वेन विवक्षिता भवति तदैवं वक्तुं न्याय्यम्; यदा तु स्मृतिभीव इति तदा अविद्या भिवतव्यम् । कस्मात् ? भावस्य भवित्रपेक्षत्वाद् इत्युक्तम् । तस्मात् न कथञ्चन भवत्पक्षे स्मृतिः संभवतीति । स्मृति चान्तरेण न प्रतिसन्धानमस्ति । अस्ति चेदं प्रतिसन्धानम् । तस्मात् यत्कर्तृं कपेतत् सोऽन्य एक आत्सेति ।

अथ वा अन्यपेनान्यः सूत्रार्थौंऽभिधीयते इति । देवदत्तस्य रूपरसगन्धस्पर्श-

(प्रतिपद्यमानेन) आपको उसका स्वरूप कहना होगा। और, स्वरूप का बतलाना आपके शास्त्र (तन्त्र) का बाधक होगा। कैसे ? अपने कारणों की सत्ता का सम्बन्ध अथवा अपने कारणों के सम्बन्ध से विशिष्ट सत्ता उत्पत्ति है । और, दोनों (सम्बन्ध तथा सत्ता) को (आपके) शास्त्र में (तन्त्रें) स्वीकार नहीं किया गया। अतः विरोध है। यदि उत्पत्ति समृति से अभिन्न (अव्यितिरिक्ता) है तो क्या कहाँ है ? अतः यह कथन व्यर्थ (णून्यम्) है कि उत्पत्ति भाव है और स्मृति भिवता (उत्पन्न होने वाली) है। किन्तु (च) जब उत्पत्ति को स्मृति की किया के रूप में (भावत्वेन) कहना अभीष्ट है तब ऐसा कहना युक्त (न्याय्य) है; जब स्मृति किया (भाव) है तब उसका होने वाला (भिवता = स्मर्ता) होना चाहिये। क्यों ? किया (भाव) को कर्ता (भिवता) की अपेक्षा होती है, यह कहा जा जुका है। इसलिये आप (बौद्ध) के पक्ष में स्मृति किसी प्रकार भी सम्भव नहीं है और स्मृति के विना प्रतिसन्धान नहीं होता। किन्तु (च) यह प्रतिसन्धान होता है। इस प्रकार जिस कर्ता को यह (प्रतिसन्धान) होता है वह अन्य (ही) एक आत्मा है।

[वाक्तिककार का अर्थ] अथवा अन्वय द्वारा सूत्र का अन्य अर्थ किया जाता है। देवदत्त को होने वाली रूप, रस, गन्ध और स्पर्श की प्रतीतियाँ एक को अनेक

अथापीदं स्याद्—यदि बौद्ध कहे कि स्मृति भाव (क्रिया) नहीं, वह भवित्री है उसकी उत्पत्ति भाव है और भविता को अन्य भविता की अपेक्षा नहीं होती।

विरोधात्—'यदि' इत्यादि में विरोध की व्याख्या की गई है। स्वरूपं च—यहाँ 'च' (और) हेतु अर्थ में है (टी० ३६४)। यदि 'उत्पत्ति' का स्वरूप कहा जायेगा तो आपके शास्त्र का विरोध होगा। 'विरोधात्' का स्पष्टीकरण है व्यतिरिक्तां च (टी० ३६४)।

अनभ्युपगमाच्च — इसका विवरण है 'न हि भवन्तः' इत्यादि (टी० ३६५)।

तस्मात्—यह उपसंहार है। अनुमान प्रयोग है, स्मृतिः पूर्वापरप्रत्ययाभ्यामेककर् का ताभ्यां सहैकविषयत्वेन प्रतिसन्धीयमानत्वात्, या पुनर्नाभ्यामेककर् का सा नाभ्यां तथा प्रतिसन्धीयते, यथा देवत्तस्य स्मृतिनं यज्ञदत्तप्रत्ययाभ्याम्, न चेयं तथा, तस्मात् तथेति, टी० ३६४-३६६।

१. स्वतन्त्रे णाभ्युपगर्तामति, कः, तन्त्रे णाभ्युपगर्तामिति, खः, तन्त्रे नाभ्युपगर्तामिति, पाठ्यम् म० झा ।

[प्रमेयम

१५६]

न्यायवात्तिकम्

प्रत्ययाः एकाने तिनिमत्त काः, स्मृत्या सह मयेति प्रतिसन्धानात्, कृतसङ्के तानां बहूनाम् एकस्मिन् नर्तकीश्रूक्षेपे युगपद् अनेकपुरुषप्रत्ययवत् —यथा नानाकर्तृ काणां कृतसमयानां बहूनां नानाभूताः प्रत्यया निमित्तस्य श्रूक्षेपस्यैकत्वात् प्रतिसन्धीयन्ते, तथेहापि नानाविषयाः प्रत्यया निमित्तस्यैकत्वात् प्रतिसन्ध स्यन्ते । यत्तन्निमित्तं स आत्मेति ।

अथवा 'इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम्। इत्यन्यथा वर्णयन्ति।
गुणा इच्छादयः, गुणाश्च परतन्त्रः। भवन्तीति न्यायः। गुणत्वं च पारिशेष्यात् । न
सामान्यविशेषसमत्रायभावोऽनित्यत्वात्। न द्रव्यं कर्म वा व्यापकद्रव्यसमवायात्
शब्दवदिति। एवमादि सामान्यतोदृष्टि यित्येतस्मिनननुमानं विणतम्।

एतेन अनित्यत्वात् पारतन्त्र्यमिच्छादीनां कार्यत्वाच्च रूपादिवदित्युक्तम् । अयावद्दव्यभावित्वेन च शरीरगुणत्वप्रतिषेधः । तत्प्रतिषेधाच्चात्मगुणत्विमिति पारिशेष्यात् सिद्धं आत्मेति ।१।१।१०।।

(भिन्न-भिन्न) निमित्तों से होने वाली हैं, स्मृति के साथ मैंने (मया) ऐसा प्रतिसन्धान होने से, जिन्हें सकेत किया जा चुका है ऐसे बहुत से जनों के नर्तकी के भ्रू-विक्षेप में एक साथ अनेक व्यक्तियों की प्रतीति के समान—जिस प्रकार अनेक कर्ताओं को जिन्हें संकेत किया गया है, बहुतों की भिन्न-भिन्न होने वाली प्रतीतियों का भ्रू विक्षेप रूप निमित्त के एक होने के कारण प्रतिसन्धान होता है, उसी प्रकार यहाँ भी भिन्न-भिन्न विषय वाली प्रतीतियों का निमित्त के एक होने के कारण ही प्रतिसन्धान होगा। जो यह निमित्त है वह आत्मा है।

अथवा इच्छा आदि आत्मा के लिङ्ग हैं, इसका अन्य प्रकार से वर्णन करते हैं। इच्छा आदि गुण हैं और गुण पराश्रित होते हैं, यह नियम (न्याय) है। (इच्छा आदि का) गुण होना परिशेष अनुमान से सिद्ध होता है—(क) इनका सामान्य, विशेष तथा समवाय होना (भाव) नहीं बनता; क्योंकि ये अनित्य हैं, ये द्रव्य या कर्म नहीं; क्योंकि शब्द के समान व्यापक द्रव्य में इनका समवाय है। इस प्रकार सामान्यतोदृष्ट अनुमान इस विषय में (इच्छा आदि गुणों का आश्रय होने में) कहा गया है।

इस (कथन) से अनित्य होने के कारण तथा कार्य होने के कारण इच्छा आदि रूप आदि के समान दूसरे के आश्रित (परतन्त्र) हैं, यह कह दिया गया है। और द्रव्य के रहने तक न रहने के कारण (अयावद्द्रव्यभावित्वेन = जब तक द्रव्य रहता है तब तक न रहने से) ये शरीर के गुण नहीं हैं और उनका प्रतिशेध करने के कारण ये आत्मा के गुण हैं। इस प्रकार परिशेष (अनुमान) से आत्मा सिद्ध होता है। १।१।१०

अथवा—यहाँ अन्वयी हेतु से आत्मा की सिद्धि की गई है। इस प्रकार वात्तिककार के अनुसार आत्मा मी सिद्धि के लिये अन्वयव्यतिरेकी अनुमान है (टी० ३६६)

कृतसङ्क्रेतानाम् — किया गया है संकेत जिनको (कृतः सङ्क्रेतो येषाम्) भरतमत का अभ्यास करने से जिन्हें अभिनय में संकेत दिया गया है, (टी० ३६६)।

अथवा इच्छा० — इस प्रकार प्रतिसन्धान के दारा इच्छा आदि को आत्मा का लिङ्ग बतलाकर यहाँ इच्छा आदि के गुण होने से गुणी (आत्मा) की सिद्धि की जा रही है।

न्यायसूत्रं भाष्यं च

तस्य भोगाधिष्ठानम् ,

चे ब्टेन्द्रियाथिश्रयः शरीरम् ।१।१।११

कथं चेष्टाश्रयः ? ईिप्सतं जिहासितं वार्यमधिकृत्येप्साजिहासाप्रयुक्त-स्य तदुपायानुष्ठानलक्षणा समीहा चेष्टा, सा यत्र वर्तते तच्छरीम् । कथिमिन्द्र-याश्रयः ? यस्यानुप्रहेणानुगृहीतानि, उपघाते चोपहतानि स्वविषयेषु साध्व-साधुषुप्रवर्तन्ते, स एषामाश्रयः, तच्छरीरम् ।

उस (आत्मा) के भोग का स्थान (अधिष्ठानम्)-

उस की चेंड्टा, इन्द्रिय तथा अर्थ का आश्रय शरीर है। १११११॥ चेंड्टा का आश्रय कैसे है ? प्राप्त करने के लिये इच्ट (ईप्सित) अथवा त्यागने के लिये इच्ट (जिहासित) अर्थ को लेकर (अधिकृत्य) ईप्सा और जिहासा से प्रेरित किये हुए (व्यक्ति) की उसके उपाय करना रूप किया (ममीहा) चेंच्टा है, वह जहाँ है वह शशीर है। इन्द्रियों का आश्रय कैसे है ? जिस (शरीर) के उपकार (अनुग्रह) से अनुग्रहीत (उपकृत) होकर और नाश से (उपधातेन) नच्ट होकर अपने अच्छे या बुरे विषयों में प्रवृत्त होती हैं, वह इन (इन्द्रियों) का आश्रय है, वह शरीर है।

ट्यापकद्भट्यसमदायात् — इच्छा आदि व्यापक द्रव्य में समवेत हैं, इस विषय में वाचस्पित मिश्र ने लिखा है, यद्यपि अनित्य होने से द्रव्य में समवाय है, इतना ही सिद्ध होता है तथापि उस द्रव्य के अवयवों की कल्पना में प्रमाण नहीं है अतः वह अनवयव (अवयवरहित) है। अनवयव द्रव्य दो प्रकार का हो सकता है अणू और व्यापक। यदि वह (आत्मा) अणु होगा तो उसके गुण इच्छा आदि की उपलब्धि न हो सकेगी अतः वह व्यापक है। इस उक्ति से आत्मा की नित्यता और परम महत् परिमाण (व्यापकता) दिखला दिये गये हैं।

एतिस्मिन्—इच्छा_{दी}नां पारतन्त्र्ये साध्ये टी०, इच्छा आदि गुण पराश्रित हैं, यह सिद्ध करने के लिये गूण किसी द्रव्य में आश्रित होते हैं, इच्छा आदि भी गुण है अतः किसी द्रव्य में आश्रित है, यह सामान्यतो ट्रष्ट अनुमान है।

एतेत — इस (कथन) से, अनित्य होने से तथा कार्य होने से रूप आदि के समान, इच्छा आदि भी पराश्रित हैं, यह कह दिया गया है।

अयाबद् -- प्रश्न हो सकता है कि फिर इन्हें शरीर का गुण मान लिया जाये। उत्तर है, शरीर के गुण याबद्द्रव्यभावी होते हैं। यहाँ शरीर के उपलक्षण से इच्छा आदि पृथ्वी आदि दियों के गुण नहीं यह कह दिया गया है।

पारिशोष्ठयात् — इच्छा आदि द्रव्य के आश्रित हैं, यह सिद्ध हो जाने पर पारिश्रेष्यात् आत्मा की सिद्धि होती है। आत्मा के अति रिक्त पृथ्वी आदि आठ द्रव्य हैं, यदि इच्छा आदि पृथ्वी जल, तेज, वायु, तथा आकाश के गुण होते तो सब व्यक्तियों को समान रूप से इनका अनुभव हुआ करता, यदि ये दिशा तथा काल के गुण होते तो इनका प्रत्यक्ष न होता। ये मन के गुण नहीं, क्योंकि इच्छा आदि की उत्पत्ति में कारण रूप से मन का अनुमान किया गया है और मन के गुणों का भी

१५८] प्रमेयम्

न्यायभाष्यम्

कथमर्थाश्रयः ? यस्मिःनायतने इन्द्रियार्थसन्निकर्षादुःपन्नयोः सुख-दुःखयोः प्रतिसंवेदनं प्रवर्तते स एषामाश्रयः, तच्छरीरमिति । १।१।११॥

न्यायवात्तिकम्

चेढटेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरमिति; का पुनरियं चेढ्टा? हिताहितप्राप्तिपरिहारार्थः परिस्पन्दः । सुखसाधनीपलब्धौ तदीप्साप्रशुक्तस्य यः परिस्पन्दः सा चेढ्टा इत्युच्यते । एवं दुःखसाधनीपलब्धौ तिज्जाहासानुष्ठानलक्षणः परिस्पन्द इति ।

कथिमिन्द्रियाणां शरीरमाश्रयः ? स्वकारणवृत्तित्वादवृत्तित्वाच्च । यानि तावत् कार्याणीन्द्रियाणि तानि स्वकारणवृत्तीनि । यदकार्यं तदवृत्ति । घ्राणादीनि त्वक्-पर्यःतानि कार्याणि, श्रोत्रमनसी त्वकार्ये । न च घ्राणादि सनःपर्यन्तिमिन्द्रियं शरीर-

अर्थों का आश्रय कैसे है ? जिस स्थान में (आयतने) इन्द्रिय और अर्थ के सिन्नकर्ष से उत्पन्न होने वाले सुख और दुःख की अनुभूति (संवेदनम्) होती है वह इन (अर्थों) का आश्रय है, वह शरीर है। १।१।११॥

चेष्टा, इन्द्रिय और अर्थ (रूप आदि) का आश्रय शरीर है। (प्रश्न) किन्तु यह चेष्टा क्या है? (उत्तर) हित की प्राप्ति और अहित के त्याग के लिये की गई क्रिया (परिस्पन्दः)। सुख का साधन प्राप्त होने पर उसको प्राप्त करने की इच्छा से प्रयुक्त (जन) की जो क्रिया होती है, वह चेष्टा कही जाती है। इसी प्रकार दुःख का साधन प्राप्त होने पर उसको त्यागने की इच्छा से की जाने वाली क्रिया भी।

(आक्षेप) इन्द्रियों का आश्रय शरीर कैसे है ? (परिहार) अपने कारण में रहने से और न रहने से—जो कार्य इन्द्रियाँ हैं वे अपने कारण में रहती हैं, जो कार्य नहीं वह उस (तद् = शरीर) में नहीं रहती हैं। घ्राण आदि त्वक् इन्द्रिय प्यंत्त कार्य हैं, श्रोत्र और मन तो कार्य नहीं हैं। िकन्तु (च) घ्राण से लेकर मनस् तक की इन्द्रियां शरीर में नहीं रहतीं। इसलिये इन्द्रियों का आश्रय शरीर है, यह (कथन) प्रत्यक्ष नहीं होता। अतः इन आठ द्रव्यों से िमन्न कोई द्रव्य है जिसमें इच्छा आदि समनाय से रहते हैं, वही आत्मा है।

तस्य—आत्मा का, भोग—मुखदुःखसंवित्, सुख तथा दुःख का अनुभव, उसका आश्रय ग्रारीर है। यहाँ चेष्टा का आश्रय, इन्द्रियों का आश्रय तथा अर्थों का आश्रय होने से समान जातीय आत्मा, इन्द्रिय आदि से और असमानजातीय प्रमाण, संशय आदि से शरीर की व्यावृत्ति की गई है। ये तीनों शरीर के पृथक् पथक् लक्षण हैं (टी० ४०६)।

चेटटाश्रय:—चेष्टा = विशिष्ट व्यापार, किसी वस्तु को प्राप्त करने या त्यागने की इच्छा से किया गया व्यापार, प्रयक्तपूर्वक व्यापार, वह वृक्ष आदि में नहीं होता । यद्यपि कटपुतलीं आदि में होता है तथापि अन्य मूर्त से प्रयुक्त न किया गया व्यापार, यह कहने से दोष नहीं रहता । पाषाण आदि के भीतर होने वाले मेंढक आदि के शरीर में वह विशिष्ट व्यापार नहीं रहता किन्तु उसकी योग्यता तो है ही, अतः लक्षण में दोष नहीं (टी० ४०७)।

१.१.११

न्यायवात्तिकम्

वृत्ति । तस्मादयुक्तमिन्द्रियाश्रयः शरीरमिति । शरीरानुविधानमिन्द्रियाश्रयत्वं ब्रूमः । न पुनः आधाराधेयभावेनेन्द्रियाणि शरीरे वर्तन्ते इति । अपि तु शरीरानुग्रहो । प्रधातानुविधानम् इन्द्रियाश्रयत्वस्यार्थं :—शरीरानुग्रहे णानुगृह्यन्ते, तदुपद्याते चोपहन्य-न्ते, इत्ययमाश्रयार्थः । तस्मादयथार्थोऽयमाक्षेप इति ।

ऐतनार्थानामाश्रयार्थं उक्तो वेदितब्यः । कि कारणम् ? न हि गन्धादयोऽर्याः शरीरवृत्तयः , यत्तु तेषां कार्यं सुखदुःखोपलव्धिनिमित्तत्वम्, तन्नासित शरीरे भवतीति शरीराश्रया इत्युच्यन्ते , यथा ग्रामीणा ग्रामण्याश्रिता इति ।

कथं पुनरेते चेष्टादयः सामान्यशब्दाः सन्तो विशेषवृत्तयो भवन्तीति ? सामान्य-शब्दानामपि विशेषवृत्तित्वं सामर्थ्यात्—सामर्थ्यं प्रकरणादि । ब्राह्मणान् भोजयेदिति यथा, अशेषब्राह्मणभोजनस्याशक्यत्वात् विशेषेण सन्तिधीयमानं प्रकरणापन्नं ब्राह्मण-विशेषमाह, एवं चेष्टादिशब्दानामिष समानतायां सत्यां सामर्थ्याद् विशेषेऽवस्थानम् ।

अयुक्त है। [परिहार] शरीर का अनुसरण करने से (शरीर को) हम इन्द्रियों का आश्रय कहते हैं, किन्तु आधार-आधेय भाव से इन्द्रियों शरीर में नहीं हैं (यह नहीं कि शरीर आधार है और इन्द्रियां आधेय हैं) अपि तु शरीर के उपकार (अनुग्रह) और अनुपकार (उपधात) का अनुसरण करती हैं, यही इन्द्रियों का आश्रय होने का अभिप्राय है। शरीर के अनुग्रह से (इन्द्रियां) अनुगृहीत होती हैं और शरीर के उपधात (अनुपकार, नाश)से उपहत (अनुपकृत, नष्ट) होती हैं, यह आश्रय का अर्थ है। इसलिय यह आक्षेप ठीक नहीं।

इस (रुथन) से 'अर्थों का आश्रय है' इस अर्थ को भी कह दिया गया, यह समझना चाहिये। क्या कारण है ? वस्तुत: गन्ध आदि विषय (अर्थ) शरीर में नहीं रहते किन्तु जो उनका कार्य हैं = सुख और दु:ख की प्राप्ति का निमित्त होना, वह शरीर के विना हुए नहीं होता, अत: (अर्थ) शरीर के आश्रित कहे जाते हैं, जैसे ग्रामीण

जन ग्राम के मुखिया (ग्रामीण) के आश्रित (कहे जाते हैं)।

(प्रश्न) किन्तु ये चेष्टा आदि सामान्य शब्द होकर (सन्तः) विशेष अर्थ में (विशेषवृत्तयः) कैसे हो जाते हैं? (उत्तर) सामान्य शब्दों की भी विशेष अर्थ में वृत्ति हो जाती है, सामर्थ्य-से । सामर्थ्य है प्रकरण आदि, जैसे 'ब्राह्मणों को भोजन कराओं यहाँ सभी ब्राह्मणों को भोजन कराना संभव न होने से (ब्राह्मण शब्द) विशेष रूप से उपस्थित होने वाले (सन्निजीयमानम्), प्रकरण से प्राप्त विशेष ब्राह्मण को कहता है। इसी प्रकार चेष्टा आदि शब्दों की सामान्य होने पर भी विशेष अर्थ में स्थिति

इन्द्रियाश्रय:— इस पर आक्षेप दिखलाकर ' शरीरानुविधानम्' इत्यादि से वात्तिककार ने परिहार किया है जो 'कथिमन्द्रियाश्रयः... इत्यादि भाष्य की व्याख्या है।

एतेन—यद्यि गन्ध आदि (अर्थ) स्वरूपतः शरीर में आश्रित नहीं तथार्षि जो इनका कार्य या प्रयोजन है, सुख आदि की उपलब्धि का हेतु होना वह तो शरीर में आश्रित है ही। इस कथन के दारा 'यस्मिन्' इत्यादि भाष्य की व्याख्या हो गई (टी० ४०७)।

[प्रमेयम्

न्यायसूत्रं भाष्यं च

भोगसाधनानि पुनः

व्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्राणीन्द्रियाणि भूतेम्यः ।१।१।१२॥ जिव्रत्यनेनेति व्राणं गन्धं गृह्णातीति । रसयत्यनेनेति रसनं रसं गृह्णातीति । चण्टेऽनेनेति चक्षू रूपं पश्यतीति । त्ववस्थानिमिन्द्रियं त्वक् । न्यायवात्तिकम्

सामर्थ्यं च लोकतस्तदिधगितः प्रणाणासंभदो वा-लोकस्तावत् चेष्टाशब्दं न क्रियामात्रे प्रयुङ्क्ते किन्तु क्रियाविशेषे इति, यथा स्पर्नदे सर्पति धावतीति । यथैते स्पन्दादिशब्दाः क्रियावाचकाः सन्तः विशेषेष्ववतिष्ठन्ते, तथा चायं चेष्टाशब्दः सामान्यदाच्यिष प्रमाणासंभवात् क्रियाविशेषे वर्तते, न क्रियामात्राधारस्य शरीरत्वव्यक्तिहेतुत्वं संभवतीति । एवं च न घटादिषु प्रसङ्गः । यैरप्यत्राद्यादिपदप्रयोगे घटादिषु प्रसङ्गः इति देश्यं क्रियते, तद्यमेन व्याख्यानेन प्रत्युक्तम् । सित च प्रसङ्गः समस्तपदप्रयोगेऽपि न परमाणुषु प्रसङ्गो निवर्तते इति । यथा त्वस्माभिर्वणितं तथा न क्वचिदिष शरीराद् अन्यत्र वर्तत इति । १। १। ११।।

होती है और सामर्थ्य है लोक से उसका ज्ञान होना अथवा प्रमाणों का संभव न होना; लोक तो 'चेष्टा' शब्द का किया मात्र (के अर्थ) में प्रयोग नहीं करता किन्तु किया विशेष में (प्रयोग करता है), जैसे हिलता है (स्पन्दते), सरकता है (सपंति), दौड़ता है (धावित) इत्यादि। जिस प्रकार ये 'स्पन्द' आदि शब्द किया के वाचक होकर भी विशेष अर्थों में प्रयुक्त होते हैं, उसी प्रकार यह 'चेष्टा' शब्द सामान्यवाची होकर भी प्रमाण न हो सकने से विशेष किया (के अर्थ) में होता है, क्योंकि प्रत्येक किया का आधार शरीरत्व (ब्यक्ति) को प्रकट करने का हेतु नहीं हो सकता। और, इस प्रकार घट आदि में 'शरीर होने का' प्रसङ्ग नहीं होता। जिन्होंने यहाँ पहले (आद्य) चेष्टा आदि शब्द का (ही) प्रयोग होने पर घट आदि में लक्षण की प्राप्ति (प्रसङ्ग) कही है (देश्य कियते) उसका भी इस ब्याख्यान से निराकरण हो गया। और, प्रसङ्ग होने पर सभी समस्त पदों का प्रयोग करने पर भी परमाणुओं में होने वाले प्रसङ्ग की निवृत्ति नहीं होती। किन्तु जिस प्रकार हमने व्याख्यान किया है उस प्रकार शरीर से अन्य स्थल में कहीं भी (लक्षण] नहीं जाता। १। १। १। १।

कथं पुनरेते—यह आक्षेप है। 'सामान्यशब्दानामिप' इत्यादि में इसका परिहार किया है। प्रकरणादि—यहाँ सामर्थ्य से प्रकरण आदि का ग्रहण किया गया है। सामर्थ्य च आदि में सामर्थ्य शब्द का अर्थ दिखलाया गया है। भर्तृ हिर ने जो विशेष अर्थ के बोध के कारण गिनाये हैं उनमें 'सामर्थ्य' तथा प्रकरण भी है किन्तु 'प्रमाणासंभव' (शमाणाऽसंभवोऽनुपपत्तिः, टी० ३०७) अपने रूप में नहीं। यथा,

संयोगो विप्रयोगश्च साह्चर्यं विरोधिता अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः । सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः ॥ १.१.१२]

न्यायभाष्यम्

तदुपचारः स्थानादिति । शृणोत्यनेनेति श्रोत्रं शब्दं गृहणातीति । एवं समा-ख्यानिर्वचनसामर्थ्याद् बोध्यं स्विवषयग्रहणलक्षणानीन्द्रियाणीति । न्यायवात्तिकम्

द्वाणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्नाणीन्द्रियाणि भूतेम्य इति सूत्रम् । लक्षणसूत्राणि समानासमानजातीयविशेषणार्थीनि सर्वाणीति सूत्रार्थो द्रष्टव्यः । उद्देशसामान्यान्त लक्षणाभिधानम् — नामधेयेन पदार्थमात्रस्याभिधानमुद्देशलक्षणमुक्तम् इदं च तथा तस्मात् नेदं लक्षणिमिति । नेदं तथा करणभावात् स्वित्रियणहणलक्षणत्वमिन्द्रियाणाम् — करणस्वभावकानीन्द्रियाणीति, तेषामतीन्द्रियाणां इन्द्रियाणां यत् स्विवषयग्रहणं तेन लक्ष्यन्त इति स्वविषयग्रहणलक्षणत्वं वेदिव्यम्, असाधारणत्वादिति ।

और (पुनः) भोग के साधन हैं,

ह्राण, रसना, चक्षु त्वचा तथा श्रोत्र (नामक) इन्द्रियां जो भूतों से उत्पन्न होती हैं। १। १। १२॥

जिससे सूंघता है = गन्ध का ग्रहण करता है वह घ्राण है। जिससे रस लेता है = रस का ग्रहण करता है वह रसना (जिह्वा) है। जिससे देखता है (चण्टे) = रूप को देखता है वह चक्षु है। त्वचा के स्थान में रहने वाली इन्द्रिय त्वक् है, उसका व्यवहार (उपचार-प्रयोग) स्थान से होता है। जिससे सुनता है = शब्द का ग्रहण करता है वह श्रोत्र है। इस प्रकार संज्ञा (समाख्या) के निर्वचन (निरुक्ति, ब्युत्पत्तिप्रदर्शन) के सामर्थ्य से जान लेना चाहिये कि अपने अपने विषय का ग्रहण करना ही इन्द्रियों का लक्षण है।

द्राण आदि इन्द्रियां भूतों से (उत्पन्न) होती हैं, यह सूत्र है। सभी लक्षण सूत्र समान जाित वालों तथा असमान जाित वालों से भेद या व्यावृत्ति (विशेषण) के लिये हैं, यह सूत्र का प्रयोजन समझना चाित्रये। (आक्षेप) उद्देश के समान होने से यह लक्षण कथन नहीं—नाममात्र से पदार्थ का कथन उद्देश का लक्षण कहा गया है, और यह भी उसी प्रकार का है, इसलिये यह लक्षण नहीं। [परिहार] यह उस प्रकार का नहीं, करण होने से अपने अपने विषय का ग्रहण करना ही इन्द्रियों का लक्षण है—इन्द्रियों करण स्वभाव वाली हैं, इन अतीन्द्रिय इन्द्रियों का जो अपने अपने विषय का ग्रहण करना है, उसीसे लिक्षत हो जाती हैं, इस प्रकार अपने अपने विषय का ग्रहण करना है इनका लक्षण जानना चाहिये, क्योंकि यह (प्रत्येक का) असाधारण धर्म है।

समस्तपदप्रयोगेऽपि प्रस्तुत सूत्र के अर्थ के विषय में वात्तिककार के समय दो मत रहे होंगे। एक मत के अनुसार ये तीनों पृथक पृथक लक्षण हैं जैसा कि भाष्यकार और वात्तिककार का अभिमत है। दूसरे मत के अनुसार तीनों मिलकर एक ही लक्षण है (समस्त)। समस्त लक्षणवादी का कथन है; यदि 'वेष्टा' का अर्थ सामान्य किया होगा तो घट आदि में भी लक्षण जायेगा। उसकी व्यावृत्ति के लिये यदि इन्द्रियाश्रय (इन्द्रियसंयोगी) पद रक्खा जाये तो भी घट आदि में लक्षण जायेगा; क्योंकि वह भी इन्द्रियसंयोगी है। फिर लक्षण की अतिव्याप्ति का निराकरण करने के लिये 'अर्थाश्रय' पद भी रखना होगा। इस पर वात्तिककार का कथन है तब भी घट आदि में लक्षण जायेगा

[प्रमेयम

न्यायभाष्यम्

भूतेम्य इति, नानात्रकृतीनामेषां सतां विषयनियमः, नैकत्रकृतीनाम्। सति च विषयनियमे स्वविषयग्रहणलक्षणत्वं भवतीति । १।१।१२॥

न्यायवात्तिकम्

भूतेम्य इति पृथिव्यादिकारगोपदेशो नियमार्थः । कः पुतरयं नियमः ? भूतगुणिवशेषग्रहणसाधनत्वम्—न सर्वमिन्द्रियं सर्वभूतगुणिवशेषं गृहणातिः अपि तु यज्जातौयमिन्द्रियं भवति, तस्य यो गुणिवशेषः == इतरेतरभूतव्यवच्छेदहेतुर्गन्धादिः स तेनैवेन्द्रि
येण गृह्यत इत्ययं नियमः । ऐकात्म्ये पुतरयं नियमो न स्यात् —यदि पुनः इन्द्रियाण्येकात्मकानि एककारणकानि स्युः, कारणस्वभावानुविधानाद् ऐकात्म्याद् विषयव्यवस्था न

भूतों से (भूतेभ्यः) का अभिप्राय है, भिन्न-भिन्न उपादान कारणों (प्रकृति) से होने वाली इनका विषय (के ग्रहण) का नियम है, एक उपादान कारण वाली होने पर नहीं। और, विषय का नियम होने पर अपने-अपने विषय का ग्रहण करना (ही) इनका लक्षण होता है। १।१।१२॥

'भूतेम्यः' (भूतों से), यह पृथिवी आदि का (इन्द्रियों के) कारण रूप में कवन किया गया है जो नियम के लिये हैं ? किन्तु यह नियम क्या है ? भूतों के विशेष गुण का ग्रहण करने का साधन होना—सब इन्द्रियां सब भूतों के विशेष गुण का ग्रहण नहीं करती हैं अपि तु जिस जाति की इन्द्रिय होती है उसका जो विशेष गुण हैं जो भूतों को एक दूसरे से पृथक् करने वाला ग्रन्थ आदि है उसका उसी इन्द्रिय से ग्रहण होता है, यह नियम है। (सांख्यमत का निराकरण) एकात्मक होने पर तो यह नियम नहीं हो सकता—किन्तु यदि इन्द्रियां एकात्मक (एक अहंकार से तादातम्य वाली) एक कारण वाली होंगी तो कारण के स्वभाव का अनुसरण करने से तथा एक रूप वाली होने से विषय की व्यवस्था न होगी; या तो सभी इन्द्रियां सर्वविषयक होंगी अथवा एक सर्वविषयक

ही, वह भी तो रूप आदि अर्थों का आश्रय है। अतः समस्त लक्षण मानने पर भी दोषों का परिहार न होगा। इस प्रकार वात्तिककार की व्याख्या ही निर्दोष है। (द्रुठ टीठ ४०७-४०८)। भोगसाधनानि (भा०)—यहाँ भाष्यकार ने इन्द्रियों का सामान्य लक्षण दिखलाया है। भोग का अर्थ है—सूख-दुःख का साक्षात्कार। भोग का साक्षात् साधन मन है ब्राण आदि उसके परम्परा से साधन होते हैं।

उद्देशसामान्यात्...लक्षणमिति आक्षेप का अभिप्राय हैं कि प्रमाण आदि के उद्देश के समान होने से यह लक्षण नहीं। नेद तथा इस परिहार का भाव यह है कि नाममाल का निर्देश ही उद्देश होता है। घ्राण आदि के करणार्थक होने से यह इन्द्रिय का लक्षण है जिसे स्वविषयग्रहण साधन या स्वविषयोपलव्धिसाधन रूप में कहा जा सकता है। यहां 'घ्राण' आदि लक्ष्य हैं जो घ्राणत्व आदि के अर्थ में हैं। वह अवयवार्थपरक होकर लक्षण हो जाता है (जिद्यति अनेन) गन्धोपलव्धि का साधन जो इन्द्रिय है वह घ्राण है, इत्यादि। भाष्य में भी कहा गया है स्वविषयग्रहणसाधनानि।

भूतगुणविशेषग्रहणसाधनत्वम् — घाण से ही पृथिवी के विशेषगुण गन्ध का ग्रहण होता है रसना आदि से नहीं। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों के विषय में भी जानना चाहिये। यहां टीका में दि खलाया गया है: — घाण आदि द्रव्य हैं, करण हैं, इनकी क्रमशः पृथिवी आदि भूतों से उत्पत्ति होते हैं। है। ये अपने-अपने कारण होने वाले भूत के विशेष गण का ग्रहण करती हैं। १.१.१२]

न्यायवात्तिकम्

स्यात्; सर्वं सर्वार्थमेकं वा सर्वार्थमिति स्यात् । एककारणानामिष स्वभावभेदो रूपविति चेत्—अथापि मन्येथाः दृष्ट एककारणकाणां पाकजरूपादीनां स्वभावभेदः । कतमत् पुनरेकं कारणं रूपादीनाम् ? अग्निसंयोग इति । न, सिद्धान्तापरिज्ञानात्—न बूमोऽग्निसंयोगात् केवलाद् रूपादय इति, अपि तु पूर्वरूपादिविशेषापेक्षात् यद् द्रव्यं पच्यतेऽग्निसंयोगेन, तस्य ये पूर्वे रूपादयः, तेषां यः स्वगतो विशेषः, तमपेक्षमाणोऽग्निसंयोग उत्तरान् रूपादीन् विशिष्टान् आरभते । एवं च कृत्वा परमाणोः पक्वतरतमादिभेदः । तस्मान् मंककारणपूर्वका रूपादय इति ।

न किञ्चिद्ययेककारणकं कार्यं दृष्टिमिति—सर्वं हि कार्यं प्रादुर्भवत् समवा-टयसमवायिनिमित्तकारणेभ्यो भवतीति । एकं कर्म संयोगिवभागयोः कारणं दृष्टिमिति चेत; न, अनभ्युपगमात्—स्यान्मितः, ननु च दृष्टिमेकं कर्म संयोगिवभागयोः कारण-मिति; न, अनभ्युपगमात्—नैतदभ्युपगच्छामो निरपेक्षं कर्म संयोगिवभागयोः कारण-मिति । यदि तहि कर्मापि सापेक्षं संयोगिवभागौ करोति ततः कर्मलक्षणहानिः,

होंगी। (आक्षेप) यदि (कहो) एक कारणवालों का भी स्वरूप-भेद होता है रूप के समान—यदि मानते हो कि एककारण वाले पाकज रूप आदि का स्वरूप-भेद देखा गया है (तो प्रश्न है) कि रूप आदि का एक कारण कौनसा है? (उत्तर होगा) अग्नि का संयोग। [पिरहार] नहीं, सिद्धान्त को सम्यक् न जानने के कारण—हम यह नहीं कहते कि केवल अग्निसंयोग से रूप आदि होते हैं अपि तु पहले विशेष रूप आदि की अपेक्षा से जो द्रव्य अग्नि के संयोग से पाक को प्राप्त होता है (पच्यते) उसके जो पहले रूप आदि हैं उनकी जो आने में स्थित विशेषता है उनकी अपेक्षा करता हुआ अग्निसंयोग अग्निम (उत्तरान्) विशिष्ट रूप आदि को उत्पन्न करता है। ऐसा होने पर परमाणु के पक्वतर, पक्वतम आदि भेद होते हैं। इसलिये रूप आदि एक कारण से होने वाले नहीं हैं।

वस्तुतः कोई भी एक कारण से होने वाला कार्य नहीं देखा गया। उत्पन्न होने वाला सभी (भाव) कार्य समवायी, असमवायी तथा निमित्त कारणों से होता है। (शङ्का-ममाधान) यदि (कहो) एक कर्म को संयोग-विभाग का कारण देखा गया है तो ठीक नहीं, स्वीकार न करने से यह विचार (मितः) हो सकता है कि एक (अकेला) कर्म संयोग-विभाग का कारण देखा गया है, नहीं; स्वीकार न करने से—हम यह नहीं मानते कि निरपेक्ष कर्म संयोग-विभाग का कारण होता है। यदि कर्म भी किसी की अपेक्षा से संयोग-विभाग करता है तो कर्म का लक्षण नहीं बनता; जो

एकात्म्ये—सांख्यमत में सभी इन्द्रियां 'अहंकार' से होती हैं। एकात्म्यम् = एककारणकत्वम् (टी॰)। यदि इनका एक ही कारण होगा तो स्व-स्विविषयप्रहण का नियम न होगा तब तो ये कारण के स्वभाव का अनुसरण करेंगी, क्योंकि उनके मत में कार्य कारण-स्वभाव बाला ही होता है।

एककारणकाणामि एक कारण से होने वाली वस्तुओं में भी स्वभाव भेद देखा गया है, यह पूर्वपक्ष का आक्षेप है। यहां पाक्यरूप एक है, अग्निसंयोग एक है और उप्णवा भी एक है।

[प्रमेयम्

न्यायसूत्रं भाष्यं च

कानि पुनरिन्द्रियकारणानि ? पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशमिति भूतानि ।१।१।१३ ॥ संज्ञाशब्दैः पृथगुपदेशो भूतानां विभन्तानां सुवचं कार्यं भविष्य-तीति । १।१।१३॥

न्यायवात्तिकम्

'यित्तरपेक्षं संयोगिवभागकारणं तत् कर्म (वै० सू० १.१.१७) इत्युक्तं तद्धीयते, लक्षणहानेश्च न कर्म। ततश्च संयोगिवभागो न कर्मपूर्वकौ, इति । नेष दोष:, न ब्रूमो, निरपेक्षं कर्म कारणिमित न किञ्चिदपेक्षत इति, अपि तु चरमभाविनिमित्तान्तरं नापेक्षत इत्ययं निरपेक्षार्थः। यथा द्रव्यजातं समानजातीयद्रव्यं संयोगं च चरम-भावितमपेक्षमाणं द्रव्यमारभते, नैवं कर्मजातं पश्चाद्भाविनिमित्तमपेक्षते; अपि तु उत्पन्नं सत् कर्म संयोगिवभागावारभते, इति । तस्मान्न कर्मलक्षणहानिः । न चैक-पूर्वकत्वं संयोगिवभागयोरिति । १।१।१२॥

किन्तु इन्द्रियों के कारण क्या हैं?

पृथिवी, जल, तेजस्, वायु और आकाश-ये भूत हैं। १।१।१३॥

इनका नामशब्दों से पृथक उपदेश (इसलिए किया गया है कि) विभक्त किये गये भूतों का कार्य (गन्ध आदि) बतलाना सुकर हो जायेगा (सुवचं भविष्यति)। १।१।१३॥

किसी की अपेक्षा किये विना संयोग-विभाग का कारण होता है वह कर्म है (वं० सूत्र १.१.१७) ऐसा कहा गया है, वह नहीं घटित होता (हीयते)। लक्षण के घटित न होने से कर्म नहीं होगा। इसलिये संयोग-विभाग कर्मपूर्वक न होंगे। [पिरहार] यह दोष नहीं, हम यह नहीं कहते कि निरपेक्ष कर्म कारण होता है अर्थात् वह किसी की अपेक्षा नहीं रखता; अपि तु (यह भाव है) अन्त में होने वाले (चरमभावि) अन्य निमित्त (भावरूपमित्यर्थ:, टी० ४१५) की अपेक्षा नहीं रखता। जैसे सभी द्रव्य समानजातीय द्रव्य तथा अन्त में होने वाले संयोग की अपेक्षा करते हुए (अन्य) द्रव्य को उत्पन्न करते हैं, इस प्रकार कोई कर्म अन्त में होने वाले किसी निमित्त की अपेक्षा नहीं करता; अपि तु कर्म उत्पन्न होकर संयोग-विभाग को उत्पन्न कर देता है। इसलिये कर्म के लक्षण की हानि नहीं होती और संयोग तथा विभाग एक कारण पूर्वक नहीं होते। १।१।१२।।

पूर्वरूपादिविशेषापेक्षात् —पाकजरूपादि की उत्पत्ति में पूर्वरूप आदि का ध्वंस भी कारण होता है। स्वगतो विशेष:—प्रध्वंसः, टी० ४१४।

चरमभाविनिमित्तान्तरम् —भावरूपमित्यर्थः, टी० ४९५। वह कर्म उत्तरसंयोग को उत्पन्न करने के लिये पूर्वसंयोग के अभाव की अपेक्षा रखता ही है, टी० ४९५।

भूतानि — बाह्य इन्द्रियों की प्रकृति (समवायी कारण) होना भूत का लक्षण है, टी॰ परि॰ ४९७।

2.2.23

[85%

न्यायसूत्रं भाष्यं च

इमे तु ललु;

गन्धरसङ्घस्पर्शशब्दाः पृथिव्यादिगुणास्तदर्थाः ।१।१।१४॥ पृथिव्यादीनां यथाविनियोगं गुणा इन्द्रियाणां यथाक्रममर्था विषया इति ।१।१।१४॥

न्यायवात्तिकम्

गन्धरसरूपस्पर्शशब्दाः पृथिव्यादिगुणास्तदर्थाः इत्येतत्सूत्रम् । पृथिव्यादिगुणा इत्येतिस्मन् पदेऽनेकः समासः संभवति । कथिमिति ? पृथिव्यादीनां गुणा इति षष्ठी-समासः । पृथिव्यादीनि च गुणाश्चेति द्वन्द्वः । पृथिव्यादयो गुणा येषामिति बहुन्नीहिः । तदेवमनेकसमासोपपत्तेः संशयः किमत्र तत्त्वमिति । द्वन्द्वः समास इत्येतत् तत्त्वम् । षष्ठीसमासस्तायन्न, पृथिव्यादीनामिनिन्द्रयार्थत्वप्रसङ्गात्—यदि पृथिव्यादीनां गुणा इति षष्ठीसमास आश्रीयेत पृथिव्यादीनां गन्धादिगुणिवशेषणत्वेनोपयुक्तानाम् इन्द्रियार्थत्वं न स्यात्, विशेषणवैयर्थ्यं च स्यादिति । गन्धरसरूपस्पर्शशब्दा इत्युक्ते पृथिव्यादिगुणा इति गम्यते । अतश्च पृथिव्यादिग्रहणं व्यथम्; न हि गन्धादीनां द्वरा-

ये तो निश्चय ही,

गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द पृथिवी आदि के गुण हैं और उन (इन्द्रियों) के विषय (अर्थ) हैं ।१।१।१४॥ (गन्ध आदि) पृथिवी आदि के वितियोग के अनुसार (यथाविनियोगम्) गुण हैं और

इन्द्रियों के कमशः अर्थ अर्थात् विषय हैं। १।१।१४॥

ग्रहण नहीं होता वह तो अतीन्द्रिय है, टी० ४२४।

गत्थ इत्यादि यह सूत्र है। 'पृथिव्यादिगुणाः' इस पद में अनेक समास हो सकते हैं। कैसे ? पृथिवी आदि के गुण (इस विग्रह में) इस प्रकार पष्ठी समास, पृथिवी आदि और गुण (इस विग्रह में) इस प्रकार पष्ठी समास, पृथिवी आदि और गुण (इस विग्रह में) इत्द्व समास, पृथिवी आदि हैं गुण जिनके (इस विग्रह में) बहुन्नीहि समास। तब इस प्रकार अनेक समास वन सकने से संशय होता है इनमें युक्त (तत्त्व) कौनसा है ? इत्द्व समास है, यह तत्त्व है। पष्ठी समास तो है नहीं; पृथिवी आदि के इन्द्रियों का अर्थ न होने का प्रसङ्ग होने से-यदि पृथिवी आदि के गुण, यह पष्ठी समास माना जाये तो गन्ध आदि गुणों के विशेषण रूप में उपयुक्त हो जाने वाले पृथिवी आदि इन्द्रियों के अर्थ (विषय) न हो सकेंगे। और, विशेषण व्यर्थ होगा; क्योंकि गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द इतना कहने पर ही 'पृथिवी आदि के गुण', यह जान लिया जाता है। इसलिये यहाँ पृथिवी आदि का ग्रहण व्यर्थ होगा। वस्तुतः (हि) गन्ध आदि के दो प्रकार (ईराश्यम्) नहीं हैं (एक) पृथिवी आदि गन्ध आदि के दो प्रकार (ईराश्यम्) नहीं हैं (एक) पृथिवी आदि गन्ध जाती है वे अर्थ कहलाते हैं, इन्द्रियरंपंमाणत्वम् अर्थाना लक्षणम्, टी० ४२३। पृथिव्यादीनाम्—(भा०) यह अर्थकथन है जैसा आगे दिखलाया जा रहा है यहां पष्ठी तत्पुरूष नहीं अपि तु इन्द्व समास है पृथिव्यादीनि च गुणाश्चेति इन्द्वः (वा०)। गुण का अर्थ है धर्म =

संख्या से विशोष पर्यन्त तथा समबाय भी। यहां 'विशेष' शब्द से वैशेषिक के 'विशेष' पदार्थ का

[प्रमेयम्

न्यायवात्तिकम्

श्यमस्ति पृथिव्यादिगुणत्वं चान्यगुणत्वं च यतो विशेषणमर्थवत् स्यात् । तस्मान्न षठी-समासः । गुणिनामसिद्धे नं बहुवीहिरिष पृथिव्यादयो गुणा वेषामिति । के ते गुणिनो येषां पृथिव्यादयो गुणाः ? न च पृथिव्यादीनां गुणत्वं शक्यं प्रतिपादियतुम् । न चान्य-था बहुवीहिः । प्रायेणायं समानाधिकरणपूर्वो भवतिः यथा चित्रगुरिति । गोमत्तायां प्रसिद्धायां चित्रगुणसम्बन्धे सुप्रसिद्धे च गवां चित्रगुरिति बहुवीहिर्भवति । न पुनिरह गुणी प्रसिद्धः । नापि पृथिव्यादीनां गुणत्वं प्रसिद्धम् । विशेषकत्वाद् गुणाः पृथिव्यादय इति स्यात् । तन्न, सर्वो गुणः स्यादेतस्यां कल्पनायाम्—न हि कस्यचित् किन्वत् विशेषणं वा विशेष्यो वा न भवतीति सर्वगुणत्वप्रसङ्गः, इति । तस्माद् बहुवीहिरिष न ।

उभयसमासप्रतिषेधाद् अन्यसमासाभावाच्च द्वन्द्वः—यस्मात् प्रसक्तौ षष्ठी-तत्पुरुषबहुत्रीहो। तौ च प्रतिषिद्धौ, समासान्तरं च न संभवति। शिष्यमाणश्च द्वन्द्वः। तस्माद् द्वन्द्वः समास इति। न द्वन्द्वः समासः, शास्त्रयुक्त्योरभावात्—यद्ययं द्वन्द्वो भवति शास्त्रं युक्तिर्वा पृथिव्यादीनामिन्द्रियार्थत्वे वक्तव्या इति। न, उभयस्यापि

के गुण और (दूसरे) अन्यों के गुण जिसमें यह विशेषण सार्थंक हो जाये। इस प्रकार षष्ठी समास नहीं है। गुणियों के सिद्ध न होने के कारण 'पृथिवी आदि हैं गुण जिनकें यह (बहुव्रीहि) (समास) भी नहीं है। वे कौन से गुणी हैं, जिनके पृथिवी आदि गुण हैं? और. पृथिवी आदि को गुण सिद्ध नहीं किया जा सकता तथा इसके दिना (अन्यथा) बहुव्रीहि (समास) नहीं हो सकता। प्रायः यह (बहुव्रीहि) समानाधिकरण पदों का (पदों के होने पर) होता है; जैसे चित्रगु (चित्रा गावो यस्य = चितरी हैं गायें जिसकी)। यहाँ (व्यक्ति का) गोमान् (गायों वाला) होना ज्ञात (प्रसिद्ध) होने पर और गौओं के साथ चित्र (चितकवरा) गुण का सम्बन्ध भली भाँति ज्ञात होने पर (सुप्रसिद्धे) 'चित्रगु' यह बहुव्रीहि होता है। किन्तु यहाँ (इह = प्रस्तुत में) गुणी ज्ञात नहीं है और पृथिवी आदि का गुण होना भी प्रसिद्ध नहीं है। (शङ्का) भेदक (विशेषक) होने से पृथिवी आदि गुण हो सकते हैं। (समाधान) वह ठीक नहीं, इस कल्पना से तो सभी गुण हो जायेंगे; क्योंकि कोई किसी का विशेषण या विशेष्य नहीं होता, ऐसा नहीं, अतः सबके गुग होने का प्रसङ्ग होगा। इसलिये बहुव्रीहि भी नहीं है।

दोनों (पष्ठी तथा बहुब्रीहि) समासों के प्रतिषेध से और अन्य समास (कर्म-धारय आदि) न होने से यहाँ द्वन्द्व समास है—क्योंकि पष्ठी तत्पुरुष तथा बहुब्रीहि (दो समास) प्राप्त हुए (प्रसक्ती) और उनका प्रतिषेध कर दिया गया, अन्य समास (कर्मधारय आदि टी० ४२४) संभव नहीं है, अब द्वन्द्व समास शेष है। इसलिये यहाँ द्वन्द्व समास है। (आक्षेप) द्वन्द्व समास नहीं, शास्त्र तथा युक्ति का अभाव होने से— यदि यह द्वन्द्व समास है तो पृथिवी आदि इन्द्रियों के विषय (अर्थ) हैं, इस में शास्त्र

यथाविनियोगम्—(भा०) पृथिनी में गन्ध रस रूप तथा स्पर्श हैं जल में रस रूप स्पर्श,तेजस् में रूप-स्पर्श और नायु में स्पर्श तथा आकाश में शब्द, यथाक्रमं पृथिव्यादिषु अनिलान्तेषु गन्धादयः स्पर्शान्ताः चतुस्त्विद्वयेकनियमेन विनियुक्ताः । शब्दश्चाकाशे एवेत्यर्थः, टी० ४२३ ।

१.१.१४]

न्यायवात्तिकम्

उपयत्ते रिति — उभयं पृथिन्यादीनामिन्द्रियार्थत्वे शास्त्रं युक्तिश्च संभवित । शास्त्रं तावत् 'दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थयहणात् ३।१।१' इति । युक्तिरिप दर्शनस्पर्शनप्रत्यययो-रेकविषयत्वेन प्रतिसन्धानम् 'यमहमद्राक्षं तं स्पृशामीति यं चास्पार्कं तं पश्यामीति' वृध्टिस्पर्शनिवषया युक्तिः । शास्त्रमप्यस्मिन् पक्षेऽवतरतीति । ऐन्द्रियकत्वाभिवानाच्च सामान्यस्येति । तस्मात् सिद्धं पृथिन्यादीनि च गुणाश्चेति द्वन्द्वः समास इति ।

पृथिन्यादिग्रहणेन पृथिन्यप्तेजांसि बाह्यकरणग्राह्याण्यपदिश्यन्ते, गुणग्रहणेन च सर्व आश्रितो गण इति संख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगिवभागपरत्वापरत्वस्नेहद्रवत्व-संस्कारकर्मसामान्यविशेषाः, अनाश्रितश्च समवायस्तद्धर्मत्वाद् गुण इति । गन्धरसरूप-स्पर्शशब्दास्तिहि पृथङ् न वक्तव्याः, गुणग्रहणेन ग्रहणात् । पृथिव्यादिगुणास्तदर्था

और युक्ति कहनी होगी। [परिहार] नहीं, दोनों के भी वन सकने से—पृथिवी आदि इन्द्रियों, के अर्थ है, इस विषयं में दोनों, शास्त्र तथा युक्ति हो सकती हैं। शास्त्र तो यह है—दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणात् ३।१।१।, युक्ति भी है, दर्शन और स्पर्शन दो प्रतीतियों का एक विषय में प्रतिसन्धान (स्मृति के साथ प्रत्यक्ष) 'जिसे मैंने देखा था उसका स्पर्श कर रहा हूं, और जिसका स्पर्श किया था उसको देखता हूं, यह दर्शन और स्पर्शन के विषय में होने वाली प्रतीति (ही) युक्ति है। इसलिये निश्चित है कि पृथिवी आदि और गुण इस प्रकार इन्द्र समास है।

पृथिवी आदि शब्द से पृथिवी, जल और तेजस् जो बाह्य इन्द्रियों के ग्राह्य हैं, उनका कथन किया गया है (अपदिश्यन्ते), गुण शब्द से सभी आश्रित होने वाले धर्म (गुण) का; जैसे संख्या, परिणाम, पृथक्तव, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, स्नेह, द्रवत्व, संस्कार, कर्म, सामान्य, सामान्य विजेष तथा आश्रित न होने वाले समवाय का भी जो उस (द्रव्य आदि का) धर्म होने से गुण है। (आक्षेप) तव तो गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द को पृथक् न कहना चाहिये, गुण शब्द से ही इनका

यथाक्रमम्—(भा०) जिस कम से घाण आदि कहे गये है उसी कम से गन्ध आदि भी अतः घाण का विषय गन्ध है। इसी प्रकार कमणः अन्य इन्द्रियों के भी विषय हैं।

द्वैराश्यम्—दो राशियां या वर्ग । गन्ध आदि दो प्रकार के नहीं । अन्यथा—पृथिष्यादीनां गुणा येभ्यो गन्धादिम्यः, ते तथा, यह व्यधिकरण बहुत्रीहि नहीं होगा; क्योंकि वह ज्ञापक सिद्ध है जो सर्वत्र नहीं होता (ज्ञापकसिद्धं न सर्वत्र), टी० ४२४ ।

शास्त्रमिपः अवतरित — पृथिवी आदि इन्द्रियों के विषय हैं। इस बारे में शास्त्र भी है। शास्त्रमिपः अवतरित — पृथिवी आदि इन्द्रियों के विषय हैं। इस बारे में शास्त्र भी है। शब्द अनित्य है, यह सिद्ध करने के लिये सिद्धान्ती का न्यायस्त्र है 'आदिमत्त्वादैन्द्रियकत्वात् कृतकवदुपचाराच्च' २.२,१३। इस पर आक्षेप हैं 'न घटाभावसामान्यिनित्यत्वात् नित्यं व्वति'। इसी वदुपचाराच्च' २.२,१४। इसके भाष्य में कहा गया है 'ऐन्द्रियकं च सामान्यं नित्यं चिति'। इसी प्रकार वैशिषिक सूत्र है, एतेन गुणत्वे भावे च सर्वेन्द्रियं ज्ञानं व्याख्यातम् ४.१.१३, प्रशस्तपाद-भाष्य में कहा गया है। भावद्रव्यत्वगुणत्वकर्मत्वादीनाम् उपलभ्याधारसमवेतानाम् आश्रयप्राहकै-रिन्द्रियेग्रंहणम् (प्रत्यक्ष) यहां सामान्य (पृथिवीत्व आदि) को इन्द्रियग्राह्य (ऐन्द्रियक) बतलाया गया है। जब 'पृथिवीत्व' आदि (सामान्य) इन्द्रिय का विषय है तो पृथिवी आदि स्थों न होंगे। यहाँ पहले 'दर्शनस्थानाभ्याम्' यह न्यायसूत्र शास्त्र के रूप में उद्धृत किया गया है न होंगे। यहाँ पहले 'दर्शनस्थानाभ्याम्' यह न्यायसूत्र शास्त्र के रूप में उद्धृत किया गया है

न्यायवात्तिकम्

इत्येवं च वक्तव्यम् । लघु चैवं सूत्रं भवति । स एव चार्थः सेत्स्यतीति । तन्त कर्तव्यम् । गन्धरसरूपस्पर्शशब्दानां पृथगिभधानम् इन्द्रियविषयनियमज्ञापनार्थम्— इन्द्रियाणि गन्धरसरूपस्पर्शशब्दोवां पृथगिभधानम् इन्द्रियाणि गन्धरसरूपस्पर्शशब्देषु तत्सामान्येषु नियतानि; अन्यत्रानियतानीति; तत्र पृथिव्यप्तेजांसि द्वीन्द्रियग्राह्याणि, शेषश्च गुणराशिः, सत्तागुणत्वे च सर्वेन्द्रियग्राह्ये । समवायोऽभावश्च तथा ।

'दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणाद्' इत्येतदमृष्यमाणः पर आह, स्पर्शग्रहणमेव स्पर्शनेन, रूपग्रहणमेव चक्षुषेति । स पर्यनुधोज्यः, अथ रूपस्पर्शो चक्षुस्पर्शनाभ्यां गृह्यते इति कथमवगम्यते, यस्मात् चक्षुःस्पर्शनाभ्यां तिद्वशिष्टः प्रत्ययो भवति । अनास्पद-स्तिहि प्रतिषेधः, घटादाविप तिद्वशिष्टप्रत्ययदर्शनात्—घटादिकमप्यर्थं दर्शन-

ग्रहण हो जाता है। 'पृथिव्यादिगुणास्तदर्थाः' इस प्रकार (सूत्र) कहना चाहिये। इस प्रकार सूत्र भी छोटा हो जाता है और वही अभिप्राय सिद्ध हो जायेगा। [पिरहार] (लघुसूत्र-टी०) नहीं करना है। गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द का पृथक् कथन इन्द्रियों के विषय का नियम बतलाने के लिये है—इन्द्रियाँ गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द में उनके सामान्यों (गन्धत्वादि) में नियत हैं (जैसे घ्राण केवल गन्ध तथा गन्धत्व का ही ग्रहण करती है, अन्य का नहीं) अन्य स्थलों में (ये इन्द्रियाँ) नियत नहीं, उनमें पृथिवी, जल और तेजस् दो इन्द्रियों के ग्राह्य हैं और शेष गुणवर्ग (संख्या से लेकर विशेष पर्यन्त—टी० ४२४), सत्ता और गुणत्व सब इन्द्रियों के ग्राह्य हैं। और, समवाय तथा अभाव भी वैसे (सर्वेन्द्रिय-ग्राह्य) ही हैं।

'दर्शन और स्पर्शन से एक विषय (अर्थ) का ग्रहण होने से' इसे सहन न करता हुआ दूसरा (परः = बौद्ध टी०) कहता है, (आक्षेप) स्पर्शन (इन्द्रिय) से कवल स्पर्श का ही ग्रहण होता है और चक्षु से केवल रूप का ही ग्रहण होता है (एक अर्थ का दोनों से ग्रहण नहीं होता)। उससे पूछना है (पर्यनुयोज्यः) रूप और स्पर्श का चक्षु तथा त्विगिन्द्रिय से ग्रहण होता है, यह कैसे जाना जाता है? इसीलिये तो क्योंकि चक्षु और त्वक् से उन (रूप और स्पर्श) से विशिष्ट प्रतीति होती है। तव तो प्रतिषेध का अवकाश नहीं है (अनास्पदः); घट आदि में भी उनसे विशिष्ट प्रतीति देखी जाने से — घट आदि अर्थ को दर्शन और स्पर्शन से उपलब्ध करने वाला भी (च) उन (रूप

फिर उसी से युक्ति का कथन भी किया गया है। तत्पश्चात् न्यायसूत्र तथा वैशेषिक सूत्र को शास्त्र प्रमाण रूप में दिखलाया गया है।

पृथिज्यादिग्रहणेन — यहाँ पृथिवी आदि शब्द से बाह्य इन्द्रिय से ग्राह्य पृथिवी, जल और नेजस् का ग्रहण होता है।

गुणग्रहणेन च-गुण शब्द से सभी धर्मों का । गुण = धर्म । अतः आश्रित या अनाश्रित सभी धर्मों का गुण शब्द से ग्रहण होता है। संख्या आदि आश्रित धर्म हैं और समवाय स्वतन्त्र (अनाश्रित) है।

्विशोषाः—ांवशेष का अर्थ है रेखा, उपरेखा आदि, अन्य विशेष नहीं, वह तो अतीन्द्रिय है (टी० ४२४); वस्तुतः सामान्य तथा सामान्यविशेष, यह अर्थ युक्त प्रतीत होता है; क्योंकि सामान्यविशेष ृथिवीत्व आदि भी इन्द्रियों के विषय होते है।

इन्द्रियविषयनियमज्ञापनार्थम्—इन्द्रियों के विषय का नियम बतलाने के लिये तत्र...तथा में वह नियम दिखलाया गया है।

पर:—वौद्ध जो गुणों (धर्मों) से भिन्न गृणी (धर्मों) को नहीं मानता। स पर्यनुयोज्यः—उससे 'अथ...प्रतिपद्यते' यह पूछना है। 3.2.28

न्यायवात्तिकम्

स्पर्गनाभ्यामुपलभमानश्च ति विशिष्टं घटादिकमर्थं प्रतिपद्यते । तस्मादसंप्रधारितः प्रतिषेध इति । रूपादिभ्यस्तथा सन्निविष्टेभ्यो घटादिप्रथय इति चेत्—यदिदं भवतापदिश्यते दर्शनस्पर्शनाभ्यामयं घटं प्रतिपद्यते इति; मिथ्यंतत्, रूपादव एव तेन तेनाकारेण सन्निविशन्ते, तानयमुपलब्धा तथाकारान् प्रतिपद्यमानो घट इति प्रतिपद्यते । न पुना रूपादिश्यतिरिक्ता घटादय इति । न, आकारार्थानिभिशानात्—अतथाभूतस्य तथाभूतेन सामान्यम्, आकारशब्दस्या डिभिधयम् । तद्यथा 'स्थाण्वाकारः पुमान्' इत्यपुरुषस्य स्थाणोः पुरुषेण यत् सामान्यं स आकारशब्दस्यार्थः स्थाणुपुरुषप्रतिद्धौ सत्यां भवति न पुनर्भवतां घटाकारा रूपादय इति रूपादिषु घटाकारवीजं किञ्चदिस्त । तस्माद् घटाकारा रूपादय इति यतिकञ्चितेत् । रूपादिमात्रे च घटादिबुद्ध्यभावः—यस्य च

और स्पर्श) से विशिष्ट घट आदि विषय को जानता है। इसलिये प्रतिपेध विना विचारे (असंप्रधारितः) किया गया है। (शङ्का) उस प्रकार से व्यवस्थित (= सिन्निविष्ट, सिन्निवेशो = व्यवस्था टी०) रूप आदि में घट आदि की प्रतीति हो जाती है—जो यह आपने कहा है कि दशंन और स्पर्शन से यह (व्यक्ति) घट को जानता है; यह मिथ्या है, रूप आदि ही उस-उस आकार में व्यवस्थित हो जाते हैं; उनको यह उपलब्ध करके उस प्रकार के आकार वालों को देखता हुआ 'घट है' ऐसा समझ लेता है, वस्तुतः रूप आदि से भिन्न घट आदि नहीं हैं। [समाधान] नहीं, आकार का अभिप्राय न कहने से—'जो वैसा नहीं है उसकी वैसे के साथ समानता' आकार शब्द का अर्थ है, उसका अभिवेय है; जैसे 'स्थाणु के आकार वाला पुरुष है' यहाँ पुरुष से भिन्न स्थाणु की पुरुष के साथ जो समानता है वह आकार शब्द का अर्थ है जो स्थाणु तथा पुरुष का ज्ञान होने पर (प्रसिद्धौ) होता है। किन्तु 'घट के आकार वाले रूप आदि हैं' आपके इस कथन में रूप आदि में घट के आकार होने का कोई आधार (बीज) नहीं है। इसलिये 'घट के आकार वाले रूप आदि हो जाते हैं' यह असम्बद्ध (यित्किञ्चत्) है। और, केवल रूप आदि में घट आदि की प्रतीति नहीं

न रूपादिन्यतिरिक्ता घटादय:— रूप आदि भिन्न भिन्न आकार में सन्निविष्ट होकर (सन्निवेश: = व्यवस्था टी० ४३४) एक जल लाना आदि किया करते हैं तथा घट आदि कहलाते हैं। वे अनुरव्जन करते हैं अतः रूप आदि कहलाते हैं। (टी० ४२४)।

न आकारार्थानिभिधानात्—जो वह नहीं है उसके साथ समानता। रूप आदि घट नहीं उनकी घट के आकार में व्यवस्था ही घटाकारता होगी, किन्तु यहाँ घट तो प्रसिद्ध नहीं अत: रूप आदि घट के आकार में व्यवस्थित हैं, यह नहीं कहा जा सकता। स्थाणु के आकार का पुरुष हैं, यह तो तभी कहा जाता है जब स्थाणु तथा पुरुष दोनों ज्ञात होते हैं। घटाकारेणं = घटसादृष्येन, टी०४२४ रूपादिमात्रे च—यह दूसरा दोष दिया गया है: रूप आदि के क्षण को तो घट कहा नहीं जा सकता; क्योंकि अन्य क्षण में घट आदि व्यवहार न हुआ करेगा। इसलिये रूपादिमात्र जिसमें भेद नहीं है वही घट आदि कहा जायेगा तब तो रूपदि समुदाय में गी, अथव, घट आदि की मिन्न-भिन्न प्रतीति न हुआ करेगी।

[प्रमेयम्

न्यायवातिकम्

क्रगिदिमात्रं घटादयः, तस्य तेषां समानत्वात्, या इमा विभक्ता बुद्धयो गौरव्वो घट इति, ता न प्राप्तुवन्तिः, रूपादिगतस्य बुद्धिनियामकस्य विशेषहेतोरभावात् । संस्थानविशेषाद् भेदप्रत्यय इति चेत्—केनचित् संस्थानिवशेषणावितष्ठमाना रूपादयः संस्थानभेदानुविधानाद् घटादिष्ठुद्धिहेतवो भवन्तीति । नैतदिस्त, संस्थानस्यान्यत्वेऽनन्यत्वे संज्ञाभेदनात्राद् व्यर्गिभधानप्रसङ्गाच्च—यदि तावत् संस्थानं रूपादिभ्योऽन्यत् द्रव्यं तदिति संज्ञाभेदमात्रम् । अथानन्यत्, तथापि रूपादीनां संस्थानभेदानुविधानात् घटादिप्रत्यया इति व्यर्थमभिधानम् । घटादिप्रत्यया मिथ्याप्रत्यया इति चेत्—स न मन्येत घटादिप्रत्ययाः सम्यक्प्रत्यया इति, कि तु शब्दवासनावशात् भिथ्याप्रत्यया भवन्तीति । तदयुक्तम्, मिथ्याप्रत्यया सम्यक्प्रत्यया सम्यक्प्रत्यया सम्यक्प्रत्यया सम्यक्प्रत्यया सम्यक्प्रत्यया सम्यक्प्रत्यया सार्विः।

होती—जिसके मत में कैवल रूप आदि ही घट आदि हैं उसके (अनुसार) रूप आदि (तेषाम्) के समान होने से जो ये भिन्न-भिन्न (विभक्ताः) प्रतीतियां होती हैं गौ, अश्व घट इत्यादि; वे न हुआ करेंगी; रूप आदि में प्रतीति का नियामक विशेष हेतु न होने से। (शङ्का) यदि बनावट (संस्थान) के भेद से भेद की प्रतीति होती है— किसी विशेष बनावट में स्थित होकर रूप आदि बनावट के भेद का अनुसरण करने के कारण घट आदि की प्रतीति के निमित्त हो जाते हैं। [समाधान] यह नहीं है; बनावट के अन्य होने अथया अन्य न होने पर संज्ञा का भेदमात्र होने से तथा कथन के व्यर्थ होने का प्रसङ्ग होने से—यदि संस्थान (बनावट) रूप आदि से भिन्न है तो वह अवयत्री (द्रव्य) ही है, अतः केवल नाम का भेद है; यदि (रूप आदि से) अभिन्न है तो रूप आदि के संस्थान के भेद का अनुसरण करने के कारण घट आदि की (भिन्न-भिन्न) प्रतीति हो जाती है, यह कथन व्यर्थ है। (शङ्का) यदि घट आदि की प्रतीति मिध्या प्रतीति हो जाती है, यह कथन व्यर्थ है। (शङ्का) यदि घट आदि की प्रतीति मिध्या प्रतीति है नवह न माने कि धट आदि की प्रतीति यथार्थ प्रतीति होती है; अपि तु शब्द तथा वासना (संस्कार) के कारण होने वाली मिध्या प्रतीति होती है। [समाधान] वह युक्त नहीं; मिध्या प्रतीतियों के सभ्यक् प्रतीतियों का अनुसरण करने से—लोक में जो ये मिध्या प्रतीतियां होती हैं, ये सभी सम्यक् प्रतीति के समान

संस्थानविशोषात्—बौद्ध का आशय है कि रूप आदि जिस संस्थान में व्यवस्थित होते हैं उसी के अनुसार गौ, अथव, घट आदि प्रतीति हो जाती है।

नेतदिस्त--- निराकरण का भाव है यदि संस्थान रूप आदि से भिन्न है तो वही अवयवी है। इस

प्रकार नाममात्र का भेद है। यदि संस्थान रूप आदि से भिन्न नहीं तो उक्त दोष है। मिथ्या प्रत्यय इति—एक अवयव ही अवयवी है या अवयवों का समुदाय। यदि पहला पक्ष माना जाये तो अन्य अवयव व्यर्थ होंगे। यदि दूसरा पक्ष माने तो अनेकों में एक की प्रतीति मिथ्या ही है फलतः अनेक रूप आदि में 'यह घट है' ऐसी प्रतीति मिथ्या है। इसे बौद्ध दर्शन में सांवृतिक संवृतिसत् भी कहते हैं। संवृति का लक्षण है—

पररूपं स्वरूपेण धिया संब्रियते यया । एकार्थप्रतिभासिन्या तामाहुः संवृति किल । (परिशुद्धि ४३२, प्र० वा० ३.६७)

न्यायवात्तिकम्

भवन्ति, सर्व एते सम्यक्त्रत्ययानुकारिणो भवन्ति, न पुनर्घटादिप्रत्ययानां मिथ्या-ग्रत्ययत्वेन कल्पितानां किञ्चिद् वीजमस्ति । न चैते निर्वीजाः प्रादुर्भवन्ति । तस्मान्त मिथ्याप्रत्यया इति । मिथ्याप्रत्ययाश्चेते, इत्यव्यतिरेके प्रमाणोपपत्तौ सत्यां सिध्यति; न चाव्यतिरेकप्रतिपादकं प्रमाणमस्ति । न, नास्ति, तदग्रहे तद्बुद्ध्यभावात्—यद् यस्मादनर्थान्तरं भवति तदग्रहे तस्याग्रहो दृष्टः, तद् यथा यूषस्य पङ्क्तेश्च, यच्च यतोऽर्थान्तरं भवति तदग्रहेऽपि तस्य ग्रहो दृष्टः, तद् यथा रूपाद्यग्रहे रसग्रह इति ।

नायं हेतुरनेकान्तात्—ये घटादिभावमापन्नाः पृथिव्यादयस्तेषां पृथिक्यां संगृह्यमाणायामर्थान्तरभूतानामबादीनामग्रहणम् । अथ चार्थान्तरभूता अबादयो न

(सम्यक् प्रत्ययानुकारिणः) होती हैं; किन्तु घट आदि प्रतीतियों को मिथ्या प्रतीति मानने में कोई आधार (बीज = कारण) नहीं है और ये विना कारण के नहीं होतीं। इसलिये ये मिथ्या प्रतीतियां नहीं हैं। किञ्च, ये मिथ्या प्रतीतियां हैं, यह रूप आदि से घट आदि की अभिन्नता में (अव्यतिरेके) प्रमाण होने पर सिद्ध हो सकता है; किन्तु इनके अभेद का प्रतिपादक कोई प्रमाण नहीं है। (बौद्ध की शङ्का) ऐसा नहीं कि (प्रमाण) नहीं है; उन (रूप आदि) का ग्रहण न होने पर उस (घट) का ज्ञान न होने से—जो जिससे अभिन्न अर्थ होता है उसका ग्रहण न होने पर उस (दूसरे) का अग्रहण देखा गया है; जैसे (वस्तु और जल का ग्रहण न होने पर) सूप (यूप) का और (वृक्षों का ग्रहण न होने पर) वृक्ष-पंक्ति का. और जो जिससे भिन्न अर्थ होता है उसका ग्रहण न होने पर भी उस (दूसरे) का ग्रहण देखा गया है; जैसे रूप आदि का ग्रहण न होने पर भी उस (दूसरे) का ग्रहण देखा गया है; जैसे रूप आदि का ग्रहण न होने पर से उस होता है

(i) यह हेतु (ठीक) नहीं, अनैकान्तिक (सव्यभिचार) होने से—जो घट आदि के रूप में होने वाले पृथिवी आदि हैं, उनका पृथिवी में संग्रह हो जाने पर भिन्न पदार्थ होने वाले जल आदि का ग्रहण नहीं होता, फिर भी (अथ च) जल आदि

तदयुक्तम् — मिथ्याप्रतीति का बीज है सभ्यक् प्रतीति । यदि बौद्ध कहीं घट आदि की सभ्यक् प्रतीति मानता है तो उसके सिद्धान्त की हानि होती है और बिना सभ्यक् प्रतीति के मिथ्या प्रतीति नहीं हो सकती ।

अध्यतिरेके० — अभिन्ते, रूप आदि से भिन्त घट आदि नहीं, इसमें कोई प्रमाण नहीं।

न, नास्ति — प्रमाण है, बौद्ध का कथन है कि रूप आदि का ग्रहण न होने पर घट आदि का जान नहीं होता जैसे बृक्ष आदि से भिन्न पंनित का ग्रहण नहीं होता अतः रूपादि से भिन्न घट नहीं हैं।

तस्मादनेकान्त: — यहाँ पूर्वपक्षी (बौद्ध) का हेतु है 'तदग्रहे तद्बुद्ध्यभावात्' = उस वस्तु का ग्रहण न होने पर उस की प्रतीति नहीं होती या जिस वस्तु का ग्रहण नहीं होता उसकी प्रतीति नहीं हुआ करती। रूप आदि से भिन्न घट आदि का ग्रहण नहीं होता; किन्तु 'यह घट है' ऐसी प्रतीति होती है अतः घट-प्रतीति मिथ्या है। यह हेतु अनैकान्तिक है; क्योंकि घट आदि का ग्रहण होने पर केवल पृथिवी का ग्रहण होता है जल आदि का ग्रहण नहीं होता किर भी तुम जल आदि को पृथक् पदार्थ (अर्थान्तर) मानते हो।

[प्रमेयम्

न्यायवात्तिकम्

दर्शनिविषयभाजो भवन्ति। तस्मादनेकान्तः। अथ 'न चत्वारि महाभूतानि तथा सिन्निविष्टानि' इति पक्षस्तथापि 'रूपं चत्वारि महाभूतानि' इति वचन व्याहन्यते। अथ बूषे, नैव नो रूपादिव्यतिरिक्ताः पृथिव्यादय इति ? तथाप्यस्य वाक्यस्यायमथीं भवित रूपादयो रूपमिति, तथा च कामेऽष्टद्वव्यकोऽणुरिति व्याहन्येत। अथ पृथिव्यादीनां संघातमात्रे रूपादिव्यवहारः; तथापि न रूपं पृथिव्यादयो वस्तुतः सन्ति। कथमिति। पृथिव्यादीनां संघातो रूपं पृथिव्यादयश्च रूपादिसंघात इति सहन्यमानस्यामावात् न संघातोऽस्ति। सर्वः संघातः सहन्यमानतन्त्रो दृष्ट इति सर्वथा न व्याघातान्मुच्यसे।

भिन्न पदार्थ (अर्थान्तर) माने गये हैं जो दर्शन के विषय नहीं होते। इसलिये (हेतु) अनैकान्तिक है। (शङ्का) यदि चार महाभूत उस प्रकार व्यवस्थित नहीं हैं, यह पक्ष है [समाधान] तो भी 'रूपं चत्वारि महाभूतानि' (चार महाभूत रूप हैं) इस वचन का विरोध होता है। (शङ्का) यदि कहते हो कि हमारे मत में रूप आदि से भिन्न पृथिवी आदि नहीं हैं। (समाधान) तो भी इस (प्रतिज्ञा) वाक्ष्य का यह अर्थ होता है—रूप आदि रूप हैं और इस प्रकार 'कामेऽस्टद्रव्यकोऽणुः' (कामधातु में आठ द्वयों का अणु होता है) इस वचन से विरोध होगा। यदि कहो कि पृथिवी आदि के समुदाय (संवात) मात्र में रूप आदि (शब्द) का व्यवहार होता है तो भी पृथिव्यादि वस्तुतः रूप नहीं हैं। कैसे ? पृथिवी आदि का समुदाय रूप है और पृथिवी आदि रूप आदि के समुदाय हैं। इस प्रकार जिसका संघात है (संहन्यमान.) वह नहीं है अतः संघात न होगा। सभी संघात संहन्यमान पदार्थों के अधीन देखा गया है। अतः तुम किसी प्रकार विरोध से मुक्त नहीं होते।

घटादिभावमापन्ता:—वौद्ध के मत में घट आदि के आकार में हो जाने वाले पृथिवी जल, तेजस् और वायु का संघात ही घट है, उनसे भिन्न नहीं।

न...रूपादिव्यतिरिक्ताः पृथिव्यादयः—यदि पृथिवी आदि महाभूत भी रूप आदि से भिन्न नहीं हैं तो आगे कहा गया युवितविरोध तथा आगम विरोध है।

कामेऽण्टद्रव्यकोऽणः— बौद्धमत में अणु दो प्रकार का है शब्दात्मक और अशब्दात्मक (परि० ४३२)। यह जगत् तीन धातुओं से बना है (बैधातुक)। धातु (बौद्ध दर्शन का) पारिभाषिक शब्द है (धारणाद् धातुः)। तीन धातुएं हैं—रूप धातु, अरूपधातु और कामधातु। 'कामेऽण्ट-द्रव्यकोऽणुः। यह आगम है। यहां द्रव्यं शब्द वस्तुचाचक है। चार द्रव्य हैं रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और चार हैं पृथिवी, जल, तेज और वायु। यदि रूप आदि से भिन्न पृथिवी आदि को न माना जाये तो उपर्युक्त आगम का विरोध होता है। इस प्रकार हेतु में व्यायातदोप है। (इ० टी॰ ४२४)।

पृथिच्यादीनाम् · · व्यवहार: — वौद्ध की शङ्का है कि रूप आदि तथा पृथिवी आदि सांवृतिक (संवृतिसत्) हैं, अतः हमारे कथन में आगम से विरोध नहीं। 2.9 98]

ि १७३

न्याथवासिकम्

तदग्रहे तद्बुद्ध्यमावादिति च तच्छ्व्दार्थानुसृताबसंबद्धार्थम् —यदा तच्छ्व्दार्थोऽनुस्त्रियते तदा तदग्रहे तस्यैवाग्रह इति प्राप्तम् । एतच्वासंबद्धम् । यदा पृथिव्यादि रूपादिविशेषणं साध्यते तदा तदग्रहे तद्बुद्ध्यभावादित्वस्य हेतोः पृथिव्याद्यग्रहे पृथिव्यादिवुद्ध्यभावादिति हेत्वर्थः प्राप्तोति । कि कारणम् ? पृथिव्यादिवशेषणानां रूपादीनां तच्छ्व्देनानिभसंबन्धात् । एतेन पृथिव्यादिविशेषणा रूपादयः प्रत्युक्ताः । अत्रापि रूपाद्यग्रहे रूपादिबुद्ध्यभावादिति हेत्वर्थः प्राप्नोति, तच्छ्वदस्य प्रधानसंबन्धित्वादिति । एवं रूपादिमात्रं पृथिवी, पृथिवीमात्रं रूपादय इति पृथिव्येव रूपादयो रूपादय एव पृथिवीति पूर्ववत् प्रसङ्गः ।

(ii) तदग्रहे तद् बुद्ध्यभावात्' यहाँ 'तद्' (उस) शब्द का अनुसरण करने पर (हेतु) असम्बद्ध अर्थ वाला होता है—जब तद् शब्द का अनुसरण किया जाता है तब उसका ग्रहण न होने पर उसका ही अग्रहण होता है यह (अर्थ) प्राप्त होता है। और, यह असम्बद्ध है: जब रूप आदि है विशेपण जिसका ऐसे पृथिवी आदि को सिद्ध किया जाता है तब 'तदग्रहे तद्बुद्ध्यभावात्' इस हेतु का यह अर्थ प्राप्त होता है कि पृथिवी आदि का ग्रहण न होने पर पृथिवी आदि की प्रतीति न होने से। क्या कारण है ? पृथिवी आदि का विशेषण होने वाले रूप आदि का 'तद्' शब्द से सम्बन्ध न होगा। इस (कथन) से 'पृथिवी आदि हैं विशेषण जिनके ऐसे रूप आदि' इसका भी निराकरण हो गया। यहाँ भी 'रूप आदि का ग्रहण न होने पर रूप आदि की प्रतीति न होने से' यह हेतु का अर्थ प्राप्त होता है; क्योंकि 'तद्' शब्द का मुख्य (प्रधान) से सम्बन्ध हुआ करता है। इसी प्रकार 'रूप आदि मात्र पृथिवी है', 'पृथिवी मात्र रूप आदि है' (जिसका अभिप्राय है) पृथिवी ही रूप आदि है, रूप आदि ही पृथिवी है, यहाँ पहले के समान ही अनिष्ट की आपत्ति (प्रसङ्ग) होती है।

संहन्यमानस्याभावात्—जिनका संघात होता है वे वस्तुतः होते हैं तभी उनका संघात हो सकता है। यदि जिनका संघात है वे काल्पनिक (सांवृतिक) है तो संघात किनका होगा।

तदग्रहे "प्रत्युक्तम् — यहाँ हेतु की असम्बद्धायंता दिखलाई गई है। भाव यह है — पृथिवी आदि रूप आदि से अभिन्त हैं क्योंकि रुपादि का ग्रहण न होने पर पृथिवी आदि की प्रतीति नहीं होती। यदि हेतु का यह अर्थ माना जाये तो ठीक नहीं। क्यों? तद् भव्द प्रधान का परामर्भ करता है। यहाँ (रूपादिविशेषणं पृथिव्यादि) धर्मी जो पृथिवी आदि हैं वे प्रधान हैं अतः हेतु का अर्थ होगा — पृथिवी आदि का ग्रहण न होने पर पृथिवी आदि की प्रतीति न होने से। इस कथन से पृथिवी आदि का रूप आदि से अभेद सिद्ध न होगा। यदि रूप आदि को विशेषण माना जाये (पृथिव्यादिविशेषणाः रूपादयः) तो अर्थ होगा — 'रूप आदि का ग्रहण न होने पर रूप आदि की प्रतीति न होने से, वह भी अभीष्ट अर्थ की सिद्धि न कर सकेगा।

एवं रूपादिमात्रम्—यदि प्रतिज्ञा को अन्य शब्दों में रक्खा जाये तो भी वह असम्बद्ध होगी, शब्दान्तरेणापि प्रतिज्ञाप्रयोगे तुल्यः प्रसङ्ग इत्याह, एवं रूपादिमात्रमिति । सर्वत च प्रत्युक्तम् यहां प्रतिज्ञा का दोष दिखलाया गया है, प्रतिज्ञादोषमाह, टी० ४२६।

[प्रमेयम्

न्यायवात्तिकम्

सर्वत्र च प्रतिज्ञापदयोग्यांचातो वचनभेदात्—पृथिवीत्येकचनं रूपादय इति बहुवचनम्। वचनभेदानुजिधानं च यत्र तत्रार्थभेदः। तद् यथा नक्षत्राणि शशीति। अस्ति चावापि वचनभेदः, तस्माद् अत्राप्यर्थभेदेनैव भवितव्यम्। नन्वेकस्मिन्नप्यर्थे वचनभेदो दृष्टः। तद् यथा चत्वार आश्रयाश्चातुराश्रम्यमिति। तन्नानभ्युपगमात्—नायं वचनभेदः क्वचिदेकत्वे दृष्टः, चातुराश्रम्यमिति चतुर्णामा-श्रमाणां समानं धर्मसाधनमभियीयते। एतेन षडेव गुणाः षाड्गुण्यम्, विशेषा एव वेशेषिकमिति प्रत्युक्तम्।

तदग्रहे तद्बुद्ध्यभावादिति चासिद्धोप्ययं हेतुः । कथमसिद्धः ? रूपाद्यग्रहे द्रव्यग्र-हात्-यस्मान्नीलाद्युपधानभेदानुविधाधिनः स्फटिकमणे रूपाद्य तुपलब्धौ स्फटिक इति प्रत्ययो दृष्टः ।

(iii) किञ्च, वचन के भेद से सर्वत्र प्रतिज्ञा के (दोनों) पदों में विरोध है, पृथिवी यह एकवचन है, रूप आदि में बहुवचन है। और जहां वचन-भेद होता है वहां अर्थ-भेद होता है; जैसे नक्षत्राणि (बहुवचन) और शशी (एकवचन) में। और यह भी ववन-भेद है इसलिये यहाँ भी अर्थ-भेद होना चाहिये। शङ्का है (नतु) कि एक अर्थ में भी वचन-भेद देखा गया है; जैसे 'वत्वारः आश्रमाः (चार आश्रम) 'चतुरा-श्रम्यम्' (चार आश्रम)। (समाधान है) वह नहीं, स्वीकार न होने से—यह वचन का भेद कहीं भी एक होने पर नहीं देखा गया; 'चातुराश्रम्यम्' इस (पद) से (यम आदि में) चारों आश्रमों का समान रूप से धर्म का साधन होना कहा जाता है। इस (कथन) से 'षडेव गुणाः षाङ्गुण्यम्' 'विशेषा एव वैशेषिकम्' इत्यादि का निराकरण हो गया।

(iv)—'तदग्रहे तद्बुद्ध्यमावात्' यह हेतु असिद्ध भी है। असिद्ध कैसे है? रूप आदि का ग्रहण न होने पर द्रव्य का ग्रहण होने से—क्योंकि नील आदि उपाधि के भेद का अनुगमन करने वाली स्फटिक मणि का रूप आदि उपलब्ध न होने पर (भी) 'यह स्फटिक है' इस प्रकार की प्रतीति देखी गई है।

वचनभेदो दृष्ट:--- पूर्व पक्षी की शङ्का है कि 'चत्वारः आश्रमाः' ही 'चातुराभ्रम्यम् कहा जाता है अत' ऐसे प्रयोगों में एक ही अर्व में वचन का भेद होता है।

तन्नान भ्युपगमात् एक अर्थ में वचन-भेद नहीं होता 'चत्वारः आश्रमाः' तथा 'चातुराश्रम्यम्' दोतों का एक अर्थ नहीं है अपि तु पांच यम तथा पांच नियम धर्म के साधन हैं' उस धर्म के साधन होने को ही 'चातुराश्रम्यम्' का एक बचन कहता है । इसी प्रकार 'खाड्गुण्यम्' छह गणों की एक राजप्रयोजनसाधकता को बतलाता है, 'वैशेषिकम्' बतलाता है कि सभी विशेष समान-जातीय तथा असमानजातीय से भेद दिखलाने वाले होते हैं।

असिद्धोऽपि—यहाँ असिद्धि दोष दिखलाया गया है। पहले हेतु की असिद्धि दिखलाकर दृष्टान्त की असिद्धि दिखलाई गई है, म० गङ्गांनाय झा ने इन्हें दो दोष गिना है। स्फटिकमणेरूपाद्धनुपलब्धों स्फटिक मणि का श्वेत हम उपलब्ध न होने पर।

2.2.28]

[१७४

न्यायवात्तिकन्

योऽप्ययं दृष्टान्तो यूषवत् पङ्क्तिवच्चेति, तम्न भवता यूषो व्यज्ञायि न पिङ्क्तः ।
यूषो हि नाम उत्पन्नपाकजानां द्रव्याणां कालविशेषानुग्रहे सित द्रव्यान्तरसंपृक्तानां पाकजो
त्पत्तौ यः संयोगः स यूष इति । स चार्थान्तरिमत्यसिद्धो दृष्टान्तः । एतेन पानककाञ्जिकयिरेकावक्षारादयः प्रत्युक्ताः । पिङ्किरप्पेकदिग्देशसंबन्धिषु परस्परप्रत्यासस्यनुगृहीतेषु अवधारितानवधारितेयत्तेषु भिन्नभिन्नजातीयेषु आधारेषु
वर्तमाना वहुत्वसंख्यैवोच्यते । एवमनियतिदग्देशसंबन्धिषु गजपुरुषतुरंगमस्यन्दनेषु
परस्परप्रत्यासस्यपगृहीतेषु अवधारितानवधारितेयत्तेषु वर्तमाना बहुत्वसंख्यैव सेनेत्यु—
च्यते । एवं जातिविशिष्टपुरुषोपग्रहेण वर्तमाना परिषत्, प्रवजितविज्ञेषोपग्रहेण वर्तमाना
बहुत्वसंख्या सङ्घः । एवं यथासंभवं पूगवनयूथवातगणकाव्दा अपि द्रष्टट्याः ।
एवमनियतिदग्देशसंबन्धिषु अनाद्यन्तेषु मध्यज्ञ्जत्येषु वर्तमाना कुण्डलकं बहुत्वसंख्यै—
वेति । तस्म त् 'पङ्क्तरनर्थान्तरम्' इत्यसिद्धो दृष्टान्तः ।

जो दृष्टान्त दिया गया है 'यूप' के समान, पंक्ति के समान, वह ठीक नहीं आपने न यूप को जाना है, न पंक्ति को। 'यूप हैं' जिन में पाकज गुण उत्पन्न हो गये हैं ऐसे द्रव्यों का कालिकाय का अनुग्रह (उपकार) होने पर अन्य द्रव्य के संपर्क से पाकज (गुणों) की उत्पक्ति होने पर जो संयोग है वह यूप है। और, वह भिन्न पदार्थ होता है अतः दृष्टान्त असिद्ध है। इससे पानक, काज्जी, विरेक तथा अवक्षार आदि (दृष्टान्तों) का निराकरण हो गया। पंक्ति भी एक दिक—प्रदेश वाले परस्पर सम्बन्ध से युक्त [प्रत्यासत्त्यनुगृहीतेषु] निश्चित या अनिश्चित परिमाण [इयत्ता] वाले भिन्न या अभिन्न जाति वाले आधारों में विद्यमान संख्या ही कही जाती है। इसी प्रकार अनियत दिक्प्रदेशों से सम्बन्ध वाले, परस्पर सम्बन्ध से युक्त निश्चित या अनिश्चित परिमाण वाले हाथी, पुरुष, अश्व और रथों में विद्यमान बहुत्वसख्या ही सेना कही जाती है। इसी प्रकार विशेष जाति के पुरुषों को लेकर होने वाली [बहुत्वसंख्या) परिषद् है, परिव्राजक विशेष को लेकर होने वाली बहुत संख्या संघ है इसी प्रकार यथासंमव पूग वन, यूथ, वात, गण शब्दों को जानना चाहिये। इसी प्रकार अनियत दिक्प्रदेश से सम्बन्ध वाले, आदि और अन्त रहित, मध्य में शून्य [पदार्थों में] होने वाली बहुत्व संख्या ही कुण्डलक है। इसलिये पंक्ति भिन्न अर्थ नहीं, यह दृष्टान्त असिद्ध है।

योप्ययम् असिद्धो दृष्टान्तः — दृष्टान्त साध्यरहित है अतः असिद्ध है (टी० ४२६)

यः संयोगः स यूषः—जल और पाथिव द्रव्य का संयोग ही यूष (जूस, झोल, काइ) है, विशेष अवयवी नहीं; न्या० वै० के अनुसार विजातीय द्रव्य आरम्भक नहीं होते । इसी प्रकार पानक (पना, जो मिर्च इलायची आदि मिलाकर वनता है), काञ्जिक (खट्टा पेय द्रव्य), विरेक (कोष्ठक को साफ करने वासी दवा, जुलाब), अवक्षार आदि संयोगविशेष हैं अतः अर्थान्तर हैं । पंक्तिरिपः बहुत्वसंख्येव—पंक्ति, सेना, परिषत्, संघ आदि वहुत्वसंख्या ही है जो संख्यों से भिन्न है, अर्थान्तर है संख्या की सिद्धि आगे की जा रही है।

न्यायवात्तिकम्

'अथार्थान्तरे कि प्रमाणिसित ? उपलभ्यस्य समस्तैरुपलभ्यैर्व्यपदेशः—यदिदं चन्दनमुपलभ्यते तस्य श्वेतं रूपं तिक्तो रसः पटुर्गन्धः शीतः स्पर्श इति । यश्वायं प्रत्यक्षस्य प्रत्यक्षेण व्यपदेशः सोऽर्थान्तरे दृष्टः । तद् यथा, ब्राह्मणस्य कमण्डलुरिति । न खल्वयमेवं प्रतिपद्यते यदिदं श्वेतं रूपमुपलभ्यते तदनुमीयमानानां रसगन्धस्पर्शाना-मिति । सेनावनादिभिरनेकान्त इति चेत्—अथापीदं स्याद्, दृष्टोऽनर्थान्तरेऽपि व्यपदेशः 'सेनायाः हस्ती, काननस्य वृक्ष इति ? न असिद्धत्वात्—असिद्धमेतद् अनर्थान्तरत्वं सेनायाः काननस्य च । यथा च तदर्थान्तरं सेना वनं वा तदुक्तमिति ।

तदसत्त्वमिति चेत्—अथाप्येवं कल्प्येत, संख्येव तावन्नास्ति, कुतोऽर्थान्तर-भावः ? नैवम्, संख्या नास्तीति बुवता एकानेकप्रत्ययानां विधीयमानं प्रतिषिध्यमानं

इस (पंक्ति आदि) के भिन्न पदार्थ होने में क्या प्रमाण है ? उपलब्धि होने योग्य का सभी उपलब्धि-योग्यों के साथ व्यपदेश (व्यवहार)—जो यह चन्दन उपलब्ध होता है उसका श्वेत रूप है, तीखा रस है, शीत स्पर्श है (ऐसा व्यवहार होता है) और जो यह प्रत्यक्ष का प्रत्यक्ष से व्यवहार होता है, वह अन्य पदार्थ में ही देखा गया है, वह जैसे ब्राह्मण का कमण्डलु है। यह (द्रष्टा) इस प्रकार नहीं समझता (प्रतिपद्यते) कि जो यह श्वेत रूप उपलब्ध होता है वह अनुमान से जाने गये रस, गन्ध और स्पर्श का है। (शङ्का) यह तो सेना वन आदि में अनैकान्तिक (सव्यभिचार) है—यदि यह मत हो कि अन्य पदार्थ न होने वाले में भी इस प्रकार का व्यवहार देखा गया है; जैसे सेना का हाथी, वन का वृक्ष । [समाधान] यह ठीक नहीं, असिद्ध होने से—सेना और वन का अन्य अर्थ न होना असिद्ध है। किञ्च, जैसे सेना और वन अन्य अर्थ है; वह (आगे) कह दिया गया है।

आक्षेप यदि (कहो) कि उस (संख्या) की सत्ता नहीं है— यदि इस प्रकार माना जाये कि प्रथम तो संख्या ही नहीं है (फिर वह) भिन्न पदार्थ कैसे होगी।

उपलभ्यस्य समस्तैरपलभ्ये: व्यपदेश:—उपलब्धियोग्य चन्दन का उपलब्धि योग्य समस्त रूप आदि से व्यपदेश होता है, चन्दन का श्वेत रूप हैं इत्यादि; अतः चन्दन रूप आदि से भिन्न है। अनुमान का प्रयोग है—चन्दन विवाद के विषय रूप आदि से भिन्न है, स्वयं उपलभ्य होकर समस्त उपलभ्यों (रूपादि) से व्यपदेश किया जाने से। यद्यपि सांख्य में 'प्रधान के रूपादि हैं' ऐसा भी व्यवहार होता है तथापि प्रधान तो उपलभ्य नहीं हैं, न प्रधान के रूप आदि ही उपलभ्य हैं (टी० ४२७)

यश्चायं प्रत्यक्षस्य : इति — यह ऊपर के कथन का स्पष्टीकरण है, उपलभ्य = प्रत्यक्ष, रूप की उपलब्धि से जिन रस आदि का अनुमान किया जाता है उनके द्वारा कभी भी व्यपदेश नहीं किया जाता।

सेनावनादिभिः ... तदुक्तम् इति — यहां पूर्वपक्षी की ओर से हेतु में अनैकान्तिकता दोष की शङ्का करके 'न असिद्धत्वात्' आदि में उसका निराकरण किया गया है; उक्तम् — कह दिया गया है आगे २. १. ३३-३६।

१. अर्थान्तरे, कः अथायन्तिरे, ख,

2.2.28]

[200

न्यायवात्तिकम्

वा निमित्तमुपादेयम् । कस्मात् ? एकानेकप्रत्ययानामप्रत्याख्येयत्वात् । विशिष्टाङ्च प्रत्यया भवन्तो न निमित्तप्रत्याख्यानेन भिवतुमर्हन्तीति । किं कारणम् ? कुम्भप्रत्यय-निमित्तान्यनिमित्तक एकानेकप्रत्ययः, कुम्भप्रत्ययविलक्षणत्वात्, नीलादिप्रत्ययवत् । तस्माद् यत्तत्प्रत्ययनिमित्तं सा संख्येति । तत्प्रत्ययविषयनिमित्तप्रत्ययव्यतिरेकेण ततोऽन्यस्य तद्विशिष्टप्रत्ययस्योत्पत्तौ निमित्तान्तराकाङ्क्षित्वात्—यस्तत्प्रत्ययविषयनिमित्तः प्रत्ययव्यतिरेकेण प्रत्यया भवति, तस्य निमित्तान्तराकाङ्क्षित्वात् दष्टमः, तद्यथा वस्य-चर्नकम्बलेषु वस्यव्यमिकम्बलप्रत्ययास्तेभ्य एव भवन्ति । तेषु तु योऽन्यो नीलमिति प्रत्ययः स निमित्तान्तराद् भवन् दष्टः । तथा च घटादिष्वप्य-निमित्तव्यतिरेकभाजस्तर्वं कादिप्रत्ययाः, तस्मात् तरिपि निमित्तान्तराद् भवित्वयम्,यिन्न-पित्तं ते संख्यादय इति ।

[परिहार] ऐसा नहीं, 'संख्या नहीं है' यह कहने वाले को एक तथा अनेक प्रतीतियों के विधान का अथवा प्रतिषेध का निमित्त बतलाना होगा (उपादेयम्) । क्यों ? एक और अनेक प्रतीतियों का खण्डन नहीं किया जा सकता। और, निमित्त का खण्डन करने से ये होने वाली विशिष्ट प्रतीतियाँ (एक घट है, इत्यादि) न हो सकेंगी। क्या कारण है ? (१) एक तथा अनेक प्रतीति घट-प्रतीति के निमित्त की अपेक्षा अन्य निमित्त से होने वाली हैं, घट-प्रतीति से विलक्षण होने के कारण, नील आदि प्रतीति के समान । इसलिये जो वह (एक-अनेक) प्रतीति का निमित्त है, वह संस्या है । (ii) किसी (तत्=उस) प्रतीति (जैसे घट-प्रतीति) के विषय, निमित्त और प्रतीति से अतिरिक्त उससे भिन्न उस (संख्या आदि) से विशिष्ट प्रतीति की उत्पत्ति में अन्य निमित्त की आकांक्षा होने से—जो उस (घट आदि की) प्रतीति के विषय निमित्त तथा प्रतीति से अतिरिक्त प्रतीति होती है उसमें अन्य निमित्त की आकांक्षा देखी गई है; जैसे वस्त्र, चर्म तथा कम्बल में 'यह वस्त्र है' यह चर्म है, यह कम्बल हैं ऐसी प्रतीतियां उन (वस्त्र आदि) से ही होती हैं; किन्तु उनमें जो अन्य 'यह नील है' ऐसी प्रतीति होती है, वह अन्य निमित्त (नीलत्व) से होती हुई देखी गई है। उसी प्रकार घट आदि में भी घट आदि के विषय तथा निमित्त' से अतिरिक्त होने वाली (ब्यतिरेकभाजः) 'एक' आदि प्रतीतियां हैं । इसलिये वे भी अन्य निमित्त से होनी चाहिये। जो निमित्त हैं वे ही संख्या आदि हैं।

तदसत्त्वम् पूर्वपक्षी (बौद्ध) की शङ्का है कि बहुत्व आदि संख्या का अभाव है।

नैवम् अर्थान्तरभाव: यहां संख्या की सिद्धि की गई है। संख्या के द्रव्य से भिन्न अर्थ होने में

दो हेतु हैं—(१) प्रतीति का भेद और (२) व्यपदेश का भेद।

विधीयमानं प्रतिषिध्यमानं वा— 'यह एक वन है' यहां 'एकत्व' विधीयमान हैं, अनेक वृक्ष हैं, यहां एकत्व का प्रतिषेध किया गया है। यहां विधान या प्रतिषेध का निमित्त एकत्व ही है अतः संख्या को मानना आवश्यक है।

[प्रमेयम्

न्यायवात्तिकम्

महत्युष्टियतशब्दाभ्यां सामानाधिकरण्यात् न संख्या सेना वनं वा भवितुमहँति— यदि संख्या सेना वनं वा, महती सेना पुष्टियतं वनिमित न प्राप्नोति। न संख्याया महत्व-मस्ति, न पुष्टियोग इति । नेष दोषः । यहती सेनेति किमुच्यते ? तानेव गजादीन् संख्या-घारानवधारितानवधारितेयत्तान् स्थान्यङ्गान्तरोपचथे सित महती सेनेति व्यपदि-शन्ति । तत्तेयं स्थानिषु गजादिषु महच्छव्दवाच्येषूपचयकरणाद् वहृत्यसंख्या महती-रयुच्यते । पुष्टियतं वनिमत्यत्रिष पुष्टिपसंविध्यषु वृक्षेषु पुष्टिपसंवन्थेनैकार्थसमयायमगुभवन्ती बहुत्वसंख्येवाभिधीयते; यथा सधुरो रसः, स्निम्धोऽशीतो गुडश्वेति । अत्रण्य व्यप-देशात् संख्यादीनामिष अर्थान्तरभावः ।

(आक्षेप) महत् और पुष्पित गन्दों के साथ सामानाधिकरण्य होने से (बहुत्व) संख्या ही सेना और वन नहीं हो सकती—यदि संख्या ही सेना अथवा वन हो 'महती सेना, पुष्पित वन' ऐसा प्रयोग न होगा, न तो संख्या में महत्ता होती है, न ही पुष्पें से सम्बन्ध। [पिरहार] यह दोष नहीं है, महती सेना इससे क्या कहा जाता है? उन्हीं गज आदि को जो संख्या के आधार हैं जिनका परिमाण (इयत्ता) अवधारित या अनवधारित नहीं किया गया, गज आदि (स्थानी) में अन्य अङ्ग बढ जाने पर (उपचये) महती सेना यह कह देते हैं (व्यपदिश्वान्त)। वहां महत् शब्द के बाच्य स्थानी गज आदि में वृद्धि करने के कारण बहुत्व संख्या ही महती कह दी जाती हैं। 'पुष्पितं वनम्' (पुष्पित वन है) यहाँ भी पुष्प—सम्बन्धी वृक्षों में पुष्पों का सम्बन्ध होने से एकार्थसमवाय के द्वारा (वृक्षों की) बहुत्व संख्या ही कही जाती हैं; जैसे रस मधुर है और स्निग्ध गर्म गुड़ है। इसलिये व्यवहार से संख्या आदि भी निन्न पदार्थ हैं।

विशिष्टाश्च यदि द्रव्य से भिन्न सख्या को न माना जाये तो संख्या से विशिष्ट प्रतीति (जैसे एक घट है) न होगी। 'संख्यादयःइति' तक प्रतीति के भेद का स्पष्टीकरण किया गया है। इसमें दो अनुमान के प्रयोग दिये गये हैं एक 'कुम्भप्रत्ययः सा संख्येति', दूसरा 'तत्प्रत्ययः ते संख्यादयः इति'।

तत्प्रत्ययविषय ० — घटप्रत्ययस्य विषयश्च निमित्तं च घटप्रत्ययश्च तद्व्यतिरेकेण, टी॰ ४२७, विषयो घट एवः निमित्तं घटत्वम् ' घटप्रत्ययस्त्वनुभवः स्मरणं च (परि० ४३४)। तद्विशिष्ट ० — तद्विशिष्ट संख्यादिप्रत्ययस्य, टी० ४२७।

न संख्याया महत्त्वमस्ति—संख्या एक गुण है और महत् (परिमाण) भी एक गुण है। गुण में गुण नहीं होता; अतः संख्या का विजेषण महत् न होगा।

न पुष्पयोग:—संख्या का पुष्पों से सम्बन्ध नहीं होता। नेष दोष:—यहां स्थान शब्द से संख्या कही जाती है जिनमें संख्या है वे गज आदि स्थानी हैं कहीं सी ही गज आदि हैं कहीं सहस्र इसी से महती सेना कही जाती हैं।

१. ०करणा, कः; ० करणात् ख.

2.2.26]

1 805

न्यायवात्तिकम

असित दर्शनाम्न हेतुरिति; यथा गर्तिश्छद्रमिति। न, अपरिज्ञानात् गर्तो हि नाम ह्यादिमिद्भः सावयवरारब्धकार्यं मध्यज्ञून्यः संस्थानविशेषोपगृहीतमाकाञ्चमिति। एतेन छिद्रं व्याख्यातम्। एकिस्मन्निप दर्शनात् व्यपदेशादर्थान्तरभावो न युक्तः; तद् यथा खिदरस्य स्थाणुरिति। बहुषु चासंयुक्तेषु दर्शनात्; तद् यथा प्रासादानां मालेति। संयुक्तेषु चासमानजातीपेषु दर्शनाद् ययात्रिवृत्पृथि युदकतेजसां विरेक इति। यत्तावद् एकिसन्निप दर्शनादिति, तदयुक्तम्, खिदरशब्दस्य जातिविशिष्टद्रव्यवाचकत्वात्—खिदरशब्देन जातिविशिष्टं द्रव्यमुज्यते। स्थाणुशब्देनापि संस्थानविशेषोऽभिधीयते। संस्थानविशेषश्च प्रचयाख्यः संयोगः, स चार्थान्तरम्। एतेन सर्पकुण्डलकम्, प्रतिमायाः शरीरम्, सुवर्णस्याङ्ग्लोयकम्,। शिलापुत्रकस्य शरीरमित्येवमादि भेदवा—चकित्यवनं भवति। प्रासादानां माला पंक्तिवद् द्रष्टव्या। संयोगो विरेक इत्युक्तमेतत्।

(आक्षेप) (i) अभाव में (असित) (व्यपदेश) देखा जाने से यह हेर्तु नहीं ; जैसे गड्ढा (गर्त) और छिद्र । [परिहार] नहीं, सम्यग् ज्ञान न होने से—वस्तुतः रूप आदि वाले, अवयवों से युक्त, कार्य को उत्पन्न करने वाले मध्य में शून्य (कारणों के द्वारा) विशेष प्रकार की रचना (संस्थान) से घिरा हुआ आकाश ही गर्त है। इससे छिउ की व्याख्या कर दी गई। (ii) एक में भी देखा जाने के कारण व्यपदेश से भिन्न अर्थ होना युक्तियुक्त नहीं; जैसे खदिर का स्थाण्। (iii) और, बहुतों में जो संयुक्त नहीं हैं देखा जाने से (व्यपदेश के कारण भिन्न अर्थ होना सिद्ध नहीं होता), जैसे प्रासादों की माला। (iv) और, असमान जाति वाले संयुक्तों में (व्यपदेश) देखा जाने से; जैसे त्रिवृत् पृथ्वी, जल और तेजस् का संयोगिवशेष (विरेकः) है (यहाँ भिन्न जाति वाले पृथ्वी, जल और तेजस् का विरेक कहा गया है)। [परिहार] जो तो यह (कहा गया) है 'एक में देखा जाने से' वह युक्त नहीं; खदिर शब्द के जातिविशिष्ट द्रव्य का वाचक होने से--- खदिर गव्द से जातिविशिष्ट द्रव्य कहा जाता है और स्थाणु शब्द से भी विशेष रचना युक्त (संस्थान) को कहा जाता है। संस्थान विशेष तो प्रचयनामक संयोग ही है और वह अन्य अर्थ (पदार्थ) है। इससे सर्प की कुण्डली, प्रतिमा का शरीर, सुवर्ण की अंगूठी, जिलापुत्रक (सिल) का शरीर इत्यादि भी मिन्न अर्थ के बोधक हैं, यह कह दिया गया । प्रासादों की माला को पंक्ति के समान समझना चाहिये। विरेक संयोग है यह कह दिया गया है।

असित-अभाव में, तुच्छ में । व्यपदेश को जो भेद की सिद्धि में हेतु दिया गया है, उस पर यह शङ्का है। संस्थानविशेषोपगृहीतमाकाशम्—गर्त (गड्ढा) एक संस्थानविशेष है, जो रूपादिवाले अवयवों के द्वारा मध्य में सूना आकाश ही है। इसी प्रकार छिद्र भी है।

खदिरस्य स्थाणु: -- खदिर एक विशेष जाति के वृक्ष का नाम है और 'स्थाणु' शब्द संस्थान विशेष का बोधक है। यहाँ संयोग तथा प्रचय पद से 'स्थाणुत्व' सामान्यविशेष से युक्त द्रव्य को लक्षित किया जा रहा है। वह खदिर वृक्ष से भिन्न ही है।

न्यायवात्तिकम्

गुणसमुदायव्यतिरेकेणाग्रहणाद् इति चेत्—अथापि मन्येथाः यदि रूपादिव्यतिरिक्तं द्वव्यं स्यात् तदा रूपादीनन्तरेण पृथगुपलभ्येत, न तूपलभ्यते; तस्मान्नास्त ।
अग्रहणस्य द्विनिमित्तत्वाद् अनेकान्तः—िकमिदमग्रहणं ग्राह्यस्याभावाद् आहो ग्रहणाभावाद् इति सन्दिह्यते । ग्राह्याभावाद् इति चेत्; प्रतिज्ञार्थेन हेत्वर्थस्याक्षेपाद्
अग्रुक्तो हेतुः । ग्रहणाभावाद् इति चेत्; न व्यतिरेकप्रतिषेधः । यश्च तदग्रहे तद्बुद्धभावाद् इति हेतोदोषः, सोऽस्यापि द्वष्टव्य इति । सोऽयम् अनन्यत्ववादो यथा यथा
विचार्यते तथा तथा स्पष्टमन्यत्वं प्रतिपादयित, प्रमाणानाम् एकत्रोपपत्तः, एकत्र
चानुपपत्तेरिति । तस्माद् व्यवस्थितम् एतत् पृथिव्यादीनि गुणादचेति चार्थे द्वन्द्वः
समास इति । १।१।१४।।

(शङ्का) गुणों के समूह से पृथक् (व्यतिरेकेण) (गुणी का) ग्रहण न होने से—यिद मानते हो कि यदि रूप आदि से पृथक् द्रव्य होता तो रूप आदि के दिना पृथक् उपलब्ध हुआ करता, किन्तु उपलब्ध होता नहीं, इसिलये नहीं है। [समाधान] ग्रहण न होने के दो निमित्त होने से (तुम्हारा हेतु) अनैकान्तिक (सव्यभिचार) है—यह अग्रहण ग्राह्म के अभाव से है अथवा ग्रहण (प्रमाण) के अभाव से ? यह सन्देह है। यदि (कहों कि) ग्राह्म के अभाव से है तो प्रतिज्ञा के अर्थ द्वारा ही हेतु के अर्थ की प्रतिति होने से (आक्षेपात्) हेतु अग्रुक्त है। (फिर) यदि (वहों कि) ग्रहण (प्रमाण) के अभाव से हैं तो द्रव्य की (रूप आदि से) पृथक्ता (व्यतिरेक) का प्रतिषेध नहीं होता (यदि कहा जाये 'योग्यप्रमाणाभावात्' तो) जो 'तदग्रहे तद्बुद्ध्यभावात्' इस हेतु का दोप दिखलाया गया है वह इसका भी समझना चाहिये (द्रष्टव्यः)। वह यह (गुण और गुणी की) अभिन्नता का मन्तव्य (वाद = विचार) जैसे-जैसे विचारा जाता है वैसे-वैसे स्पष्टतः (दोनों के) भेद का प्रतिपादन करता है; क्योंकि भिन्नता में (एकत्र = अनन्यत्वे, टी०) नहीं बनते। इसिलये यह निश्चित है कि पृथिवी आदि और (रूप आदि) गुण, इस प्रकार 'च' (और) के अर्थ में इन्द्र समास है।

शरीरम्—संस्थान विशेष ही है जो प्रतिमा तथा शिलापुत्रक आदि अवयवी से भिन्न है।

माला—प्रासादों की माला वहत्वसंख्या ही है जो पंक्ति के समान समकी जा सकती है।
व्यतिरेकेण—अतादात्म्येन, पृथक्, टी०।

हिनिमित्तत्वात्—प्रमाण के विना विद्यमान भी मूली और कील आदि का ग्रहण नहीं होता और ग्राह्म के अभाव में शशिविषाण आदि का ग्रहण नहीं होता । ग्रहणं प्रमाणम्, टी० ४२ = । हैतीर्देख:—ऊपर जो 'तदग्रहे तद्बुद्धे रभावात्' हेतु में असिद्धता दोष दिखलाया गया है वह इस हेतु में भी होगा । वस्तुतः दर्शन और स्पर्शन से जो 'यह वही अधं है' ऐसा प्रतिसन्धान होता है वह स्पादि से भिन्न द्रव्य की सत्ता में प्रमाण है (मि० टी० ४२ =)।

2.2.2X]

[१८१

न्यायसूत्रं भाष्यं च

अवेतनस्य करणस्य बुद्धे र्ज्ञानं वृत्तिः, चेतनस्याकर्तुं रुपलिब्धिरिति युक्तिविरुद्धमर्थं प्रत्याचक्षाणक इवेदमाह—

बुद्धि हपलि व्धर्ज्ञानिमित्यनथ न्तरम् ।१।११४॥

नाचेतनस्य करणस्य बुद्धेर्जानं भवितुमहित । तिद्ध चेतनं स्यात् । एकश्चायं चेतनो देहेन्द्रियसंघातव्यतिरिक्त इति । प्रमेयलक्षणार्थस्य वाक्स्यान्यार्थप्रकाशनमुपपत्तिसामर्थ्यादिति ।१।१।१५॥ न्यायवर्णतकम्

अथ बुद्धेरवसरप्राप्ताया लक्षणापदेशद्वारेण सूत्रम्, बुद्धिरुपलिब्धिरित्यादि । एतैः पर्यायशब्दैर्योऽभिधीयते पदार्थः सा बुद्धिरिति । पर्यायशब्दैः कथं लक्षणम् ? ब्यव-ब्छेदहेतुत्वात्— सर्व हि लक्षणिमतरेतरपदार्थव्यवच्छेदकम् । एतैश्व पर्यायशब्दैर्नित्यः पदार्थोऽभिधीयते, इत्यसाधारणत्वात् लक्षणम् । उपपत्तिसामर्थ्यात् पर्यायशब्दाभिधानात् बुद्धिवृत्ते निराकरणम् ।

चेतनारहित करण जो बुद्धि है ज्ञान उसकी वृत्ति है, चेतन किन्तु कर्त्ता न होने वाले (पुरुष) को उपलब्धि (अनुभव) होती है; इस प्रकार के युक्ति-विरुद्ध अर्थ का प्रत्याख्यान करते हुए से (आचार्य ने) यह कहा है—

बुद्धि, उपलिब्ध और ज्ञान ये भिन्न अर्थ (पदार्थ) नहीं १।१।१४। चेतना रहित करण जो बुद्धि है उसे ज्ञान नहीं हो सकता; क्योंकि (हि) (यदि उसे ज्ञान हो तो) वह चेतन हो जाये किन्तु (च) यह देह, इन्द्रिय के संघात से भिन्न एक चेतन है। प्रमेय का लक्षण करने वाले (अर्थ = प्रयाजन) वाक्य का अन्य अर्थ (सांख्यमत का निराकरण) युक्ति के वल से (उपपत्तिसामर्थ्यात्) प्रकट किया गया है (प्रकाशनम्)।१।१।१।१॥

अब अवसर-प्राप्त वृद्धि का लक्षण करने के व्याज (अपदेश) से स्त्र है-वृद्धि-रुपलब्धि इत्यादि । इन समानार्थक (पर्याय) शब्दों से जो पदार्थ कहा जाता है वह बृद्धि है । (प्रश्न) पर्याय शब्द लक्षण कैसे हो सकते हैं (उत्तर) व्यावृत्ति (व्यवच्छेद) का निमित्त होने से—वस्तुत: (हि) सभी लक्षण एक से दूसरे पदार्थ की व्यावृत्ति कराने वाले हैं । और, इन पर्याय शब्दों से अन्य पदार्थ नहीं कहा जाता । इस प्रकार असाधारण होने से लक्षण हैं, युक्ति के वल से पर्यायशब्द-कथन से बृद्धि की वृति (ज्ञान है इसका) निराकरण हो जाता है।

इव (भाष्य)—'इव' के प्रयोग से ज्ञात होता हैं कि सूद्र लक्षणपरक है किन्तु सांख्यमत का निराकरण भी अपेक्षित है अतः वह भी कर दिया गया है।

एत श्च—संकेत दो प्रकार का होता हे—'सार्वजनीन', जैसे 'गौः' यह गोजातीय पशुका वाचक है, और 'प्रादेशिक' जैसे किसी व्यक्ति का नाम 'चैं व्र' रख लिया जाता है। जो सार्वजनीन संकेत है वह व्यावृत्ति भी कर सकता है।

य आहु:—यहाँ सांख्यमत संक्षेप में विखलाया गया है—ितगुण प्रकृति का प्रथम परिणाम बुद्धि है, वह अचेतन है, इन्द्रिय प्रणालिका के द्वारा विषयाकार में परिणत होती है, यही बुद्धिवृत्ति है । बुद्धि

[प्रमेमम्

न्यायवात्तिकम्

य आहुः बुद्धेर्जानं वृत्तिरात्मन उपलब्धिरिति तिन्नराकरणार्थं समानार्था एते शब्दा इति बुद्धिवृत्तिः पृथङ् निराकृता मवित । का पुनरत्रोपपंत्तः ? आत्मा उपलभते बुद्धिजीनीते इति बुवाण उभयोश्चेतन्यं प्रतिपद्यते । उभयचेतन्ये च प्रत्यय-व्यवस्थानुमानं न स्यादिति—यदि बुद्धिश्चेतना आत्मा च चेतनो न बुद्ध् यवसितानर्थानात्मोपलभेत । कि कारणम् ? चेतनीपलब्धानामार्थानां चेतनात्तरस्याप्रतिपत्तेः । अस्ति च प्रतिपत्तिः । तस्मादेकश्चेतन इति । बुद्धिवृत्त्यविशिष्टायां च ज्ञानुवृतौ कित्यत्यामात्मानः स्वरूपं वक्तव्यमिति । बुद्धिरध्यवस्यत्यातमा चेतयते इति चेत्—अथापादं स्यात् यथा बुद्धिरधानध्यवस्यति तथा आत्मा आध्येशमधिकालं चोपलभत इति । अध्यवस्यत्युपलभत इति पर्यायशब्दौ । न च पर्यायशब्दौः पदार्थानां नानात्वं युक्तम्, यथा ध्वितः शब्दो नाद इति । अन्यथा हि इन्द्रः शक् इति नानात्वं स्यादिति । अथात्मा चेतयते बुद्धिर्ज्ञाप्यतीति । अद्धा बुद्ध् या जानीते पुरुषो न बुद्धः । बुद्धिर्ज्ञाप्यतीति ज्ञानसाधनं भवतीति । ११११४॥

जो (सॉंस्य के अनुयायी) कहते हैं कि ज्ञान बुद्धि की वृत्ति है, आत्मा को उपलब्धि होती है, उसका निराकरण करने के लिये कहा गया है 'ये शब्द समान अर्थ वाले हैं इस प्रकार बुद्धिवृत्ति की पृथक्ता का निराकरण कर दिया गया है। (प्रश्न) किन्तु इसमें क्या युक्ति है ? (उत्तर) आत्मा को उपलब्धि होती है, बुद्धि जानती है, यह कहने वाला दोनों की चेतनता मान लेता हैं और दोनों के चेतन होने पर प्रतीति की व्यवस्था का अनुमान न होगा---यदि वृद्धि चेतन है और आत्मा भी चेतन है तो बुद्धि द्वारा जाने गये (अवसित) अर्थों को आत्मा उपलब्ध न कर सकेगा । क्या कारण है ? एक चेतन द्वारा ज्ञांत विषयों का अन्य चेतन को ज्ञान नहीं होता। और (आत्मा को) ज्ञान होता है, इसलिये एक (ही) चेतन है। किञ्च, बुद्धिवृत्ति के समान (अविशिष्ट) ही आतमा (पुरुष) की वृत्ति मान लेने पर (आपको) आतमा का स्वरूप कहना होगा। (शङ्का) यदि (कहो कि) बुद्धि अध्यवसाय (निश्चयात्मक ज्ञान) करती है, आत्मा उपलब्धि करता है-यदि यह माना जाये कि जैसे बृद्धि अर्थी (विषयों) का अध्यव-साय करती है वैसे ही आत्मा उसी देश तथा काल में उपलब्ध कर लेता है। [समाधान] तब अध्यवसाय करना और उपलब्ध करना ये दोनों पर्याय शब्द हैं और पर्याय शब्दों से पदार्थों की भिन्नता होना युक्त नहीं, जैसे व्वनि, शब्द, नाद आदि । नहीं तो इन्द्र, शक्र यहाँ भी भिन्नता हो जाये। यदि (कहो कि) आत्मा अनुभव करता है बुद्धिज्ञान कराती है। ठीक है (अद्धा) आत्मा (पुरुष) बुद्धि द्वारा जानता है, बुद्धि नहीं (जानती)। बुद्धि (मन) ज्ञान कराती है अतः वह ज्ञान का साधन (करण) होती है। १।१।१५।।

में संक्रान्त जो पुरुष का प्रतिबिम्ब है। उसे अर्थाकार में परिणत बुद्धि से अविशेष अनुभव हो जाता है यही पुरुष की उपलब्धि है।

प्रत्ययव्यवस्थानुमानम्—दोनों के चेतन होने पर जो प्रतीति की व्यवस्था होने से 'एक कर्ता हैं। यह अनुमान किया जाता है, वह न होगा, प्रत्ययव्यवस्थया यदेककर्तृ कानुमान तग्न स्यादित्यं (टी० ४३७)

बुद्धिवृत्त्यविशिष्टायाम् — वृद्धि से अपना भेद न करता हुआ (भेदाग्रह्) । पुरुष बुद्धिवृत्ति के संसीति ही उपलाव्ध करता है। आगे इसका निराकरण किया गया है। 2.2.24

१८३

न्यायसूत्रं भाष्यं च

स्मृत्यनुमानागमसंशयप्रतिभास्वप्नज्ञानोहाः सुखादिप्रत्यक्षमिच्छाद-याच मनसो लिङ्गानि । तेषु सित्स्वयमपि—

यगपण्जानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम् ।१।१।१६॥

अनिन्द्रियनिमिताः स्मृत्यादयः करणान्तरिनिमत्ता भिवतुम् न्तीति । युगपच्च खलु ब्राणादीनां गन्धादीनां च सन्तिकर्षेषु सत्सु युगपद् ज्ञानानि नो-त्पद्यन्ते । तेनानुमीयते, अस्ति तत्तिदिन्द्रियसंथोगि सहकारि निमित्तान्तरम-व्यापि, यस्यासन्तिधेनौत्पद्यते, ज्ञानम्, सन्निधेश्चोत्पद्यत इति । सनः संयोगान्येक्षस्य हीन्द्रियार्थसन्निकर्षस्य ज्ञानहेतुत्वे युगपदुत्पद्येरन् ज्ञाना-नीति । १। १६॥

न्यायवात्तिकम्

स्मृत्यनुमानागमसंशयप्रतिभास्वप्नज्ञानोहा इति भाष्यम् । एते स्मृत्यादयो मनसो लिङ्गं भवन्ति । किमेत एव ? नेत्युच्यते । कि तर्हि ? इदं चान्यत् । युगपज्ज्ञाना-नृत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम् ।

यस्माद् इः न्द्रयार्थसन्निकर्षेषु सत्स्विप युगपञ्जानानि न संभवन्ति, अतोऽवगम्यते अस्ति तत्तिदिन्द्रियसयोगि सहकारि निमित्तान्तरमव्यापि, यस्य सन्निधानासन्निधानभेदानु-

स्मृति, अनुमान, आगम, संशय, प्रतिमा, स्वप्नज्ञान तथा कल्पना (ऊहा) आदि और सुख आदि का प्रत्यक्ष एवं इच्छा आदि मन के वोधक (लिङ्ग) हैं। उनके होते हुए यह भी है—

एक साथ अनेक ज्ञानों की उत्पत्ति न होना मन का बोधक (लिङ्ग)

है। ११११६॥
जो (बाह्य) इन्द्रिय के निमित्त से नहीं होते वे स्मृति आदि अन्य करण के निमित्त से होने चाहिये (वही करण मन है)। वस्तुतः (खलु) एक साथ व्राण आदि इन्द्रिय और गन्ध आदि (विषय) का सिन्नकर्ष होने पर एक साथ अनेक ज्ञान उत्पन्न नहीं होते। उससे अनुमान किया जाता है कि उस-उस इन्द्रिय से संयोग करने वाला (इन्द्रिय का) सहकारी कोई अन्य निमित्त है जो व्यापक नहीं, जिसका सान्निच्य न होने से ज्ञान उत्पन्न नहीं होता और सान्निच्य होने से उत्पन्न हो जाता है। क्योंकि मन के संयोग की अपेक्षा न करके इन्द्रिय तथा विषय का सिन्नकर्ष ज्ञान का हेतु हुआ करे तो (अनेक) ज्ञान एक साथ उत्पन्न हो जाया करें। १। १। १६॥

स्मृति...ऊहा, इत्यादि भाष्य है। ये स्मृति आदि मन के लिङ्ग होते हैं क्या ये ही ? नहीं यह कहा जाता है। तो क्या ? इनके अतिरिक्त यह भी है—एक साथ अनेक ज्ञानों की उत्पत्ति न होना मन का लिङ्ग है।

क्योंकि इन्द्रिय और विषय (अर्थ) का सिन्नकर्प होने पर भी एक साथ (अनेक) ज्ञान नहीं हो सकते, इससे ज्ञात होता है कि उस-उस इन्द्रिय से संयोग करने वाला,

[प्रमेयम्

न्यायवात्तिकम

विधानात् ज्ञानस्योत्पत्त्यनुत्पती भवत इति । कुतः ? कारणवैकल्ये कार्यप्रतिबन्धदर्शना-दिति सूत्रार्थः ।

कथं पुनः स्मृत्यादयो मनसो लिङ्गं भवन्ति, अन्यत्र वर्तंमाना इति ? न ब्र्मः, स्मृत्यादयो मनोवृत्तित्त्वान्मनसो लिङ्गम् अपि तु गन्धादिक्रियान्यत्वे सित क्रियात्वात् करणान्तरप्रयोजकत्वम्—या गन्धादिभ्याऽन्या क्रिया सा करणान्तरप्रयोजिका दृष्टा, यथा रथादिक्रिया, क्रिया चेयं गन्धादिव्यतिरिक्ता स्मृत्यादिका तस्मादियमपि करणान्तरं प्रयोजयित । सुखादयोऽपि गन्धादिभ्योऽन्यत्वे सित विषयत्वात् चक्षुरादिव्यतिरिक्तकरणानत्रप्रयोजका रथादिवदिति—तद् यथा रथादयो विषयाः चक्षुरादिव्यतिरिक्तं करणं वास्यादि प्रयोजयन्ति, विषयाद्य सुखादयः, तस्मात् तैरपि करणान्तरं प्रयोजियतव्यमिति ।

इनका सहकारी कोई अन्य निमित्त है जो व्यापक नहीं; जिसकी उपस्थित (सन्निधान) तथा अनुपस्थित का अनुगमन करने से ज्ञान की उत्पत्ति तथा अनुत्पति होती हैं। क्यों? कारण के अभाव में (वैकल्ये) कार्य का अभाव (प्रतिबन्ध) देखा जाता है, यह सूत्र का अर्थ है।

(आक्षेप) किन्तु स्मृति आदि जो अन्य (आत्मा) में विद्यमान हैं मन का बोधक (लिङ्ग) कैसे हो जाते हैं ? [परिहार] हम यह नहीं कहते कि स्मृति आदि मन में रहने के कारण मन के लिङ्ग होते हैं, अपि तु गन्ध (ज्ञान) से अन्य किया होकर किया होने से (ये स्मृति आदि) अन्य करण के निमित्त से होने वाले हैं—जो गन्ध (ज्ञान) आदि से भिन्न किया है वह अन्य करण की अपेक्षा रखती हुई देखी गई हैं जैसे रथ की किया और यह स्मृति आदि भी गन्ध (ज्ञान) आदि से भिन्न किया है, इसलिये यह भी अन्य करण की अपेक्षा रखती है। इसी प्रकार मुख आदि भी गन्ध आदि से भिन्न होते हुए विषय होने के कारण चक्ष आदि के अतिरिक्त अन्य करण की अपेक्षा रखते हैं, रथ आदि के समान; जैसे रथ आदि विषय चक्षु आदि के अतिरिक्त वासि (वसूला) आदि करण की अपेक्षा रखते हैं इसी प्रकार सुख आदि भी विषय हैं, इसलिये इन्हें भी अन्य करण की अपेक्षा होती है (प्रयोजयितव्यम्)।

स्मृति—भाष्यकार ने मनोलक्षण सूत्र की अवतरिणका में अन्य भी मन के लिङ्ग बतलाये हैं उनमें स्मृति भी है। 'सुखादि' यहाँ आदि शब्द से इच्छादि का प्रत्यक्ष लिया जाता है और 'इच्छादि' यहाँ आदि शब्द से सुख आदि विषयों का ग्रहण किया जाता है (द्व टी० ४४१)

अितन्द्रियनिमित्ताः (भा०)—अबाह्योन्द्रियनिमित्ताः (टी० ४४१)। 'यस्माद्' इत्यादि बार्तिक में इसकी व्याख्या की गई है। यहाँ इन्द्रियगत रूपादि की व्यावृत्ति के लिये 'इन्द्रियसंयोगि', आकाशादि की व्यावृत्ति के लिये 'सहकारि', आलोक की निवृत्ति के लिये 'निमित्तान्तरमृ' तथा आत्मा की व्यावृत्ति के लिये 'अव्यापि' पद रक्खा गया है।

कथं पुन:— 'अनिन्द्रियनिमिताः, इत्यादि भाष्य पर आक्षेप करके 'न ब्रूमः' इत्यादि से परिहार किया गया है। यहाँ तात्पर्य टीका में कहा गया है—जो आत्मा के विशेष गुण हैं वे सभी इन्द्रिय द्वारा उत्पन्न होते हैं जसे गन्ध आदि का ज्ञान, इसी प्रकार विवाद के विषय स्मृति आदि भी हैं अतः वे भी इन्द्रिय से उत्पन्न होने वाले हैं इस प्रकार संस्कार आदि को करण नहीं कहा जा सकता मन ही करण है। 8.2.25

1 34%

न्यायवात्तिकम्

अथायुगपज्ञानोत्पत्तिर्ज्ञानधर्मः स कथं मनोऽस्तित्वे लिङ्गं भवति ? अथासम्बद्धमिष लिङ्गिमिष्यते, सर्वं सर्वस्य लिङ्गं स्यात्, अस्त्यात्मा काकस्य काष्ण्यादित्यिष सिध्येत् । न त्वेवं भवति । तस्मात् नासंन्बद्धं लिङ्गिमिति । असम्बद्धमिप लिङ्गिमित्येके, यथा प्रत्यप्रशरावदर्शनं कुलालावृत्ति कुलालसद्भावं वोधयित, भ्रान्तिमच्चक्रदर्शनं चेति । तम्म, नैवात्रकुलालसद्भावो बोद्धच्यः कि तु देश एवाविदूरकुलालबन्द्वेन साध्यः । तस्य च प्रत्यप्रशराववन्त्वं धर्मः । म्रान्तिमच्चक्रवन्त्वेनािष देशोऽविदूरकुलालबन्द्वेन साध्यः । तस्य च प्रत्यप्रशराववन्त्वं धर्मः । म्रान्तिमच्चक्रवन्त्वेनािष देशोऽविदूरकुलालबन्द्वेन साध्यते । तस्यात् नासंन्वद्धमनुमानं ववचिद्यपिति । युगपज्ञानानुत्पत्तिस्तिहं कथं मनसा असंबद्धा मनोलिङ्गं भवति ? अयुगपज्ञानोत्पत्तेरेव पक्षिकरणात् नासं-बद्धम् । कथमिति ? रूपादिग्रहणानि चक्षुरादिग्यतिरेकेणािष्ठायकान्तरापेक्षाणि ।, अयुगपदुत्पत्तेः, तद् यथा अनेकशिल्पपर्यवदातस्य पुरुषस्य अनेकं वास्यादि युगपत्सिन्नि-धानेनेपस्थितं हस्ताद्यधिष्ठायकापेक्षं न युगपद् अनेकरथादिकियां निर्वर्त्यति, तथा च

प्रश्न है (अथ) एक साथ अनेक ज्ञानों की उत्पत्ति न होना ज्ञान का धर्म है वह कैसे मन की सत्ता में लिङ्ग होता है। यदि (अथ) असम्बद्ध (सम्बन्ध न रखने वाला) भी लिङ्ग होना अभीष्ट है तो सभी सब का लिङ्ग हो जाया करे, 'आत्मा है काक की कृष्णता से यह भी सिद्ध हो जाये; किन्तू ऐसा होता नहीं। इसलिये असम्बद्धलिङ्क नहीं होता। कुछ (एकदेशी) कहते हैं किसी वस्तु से सम्बध न रखने वाला भी उसका लिङ्ग होता है, जैसे ताजी (प्रत्यग्र = नवीन) सराई (शराव = मिट्टी का बना पात्रविशेष) का दर्शन जो कूम्भकार में नहीं है वह कुम्भकार की सत्ता का बोधक होता है, इसी प्रकार घुमते हुए चक्र का दर्शन भी। (सिद्धान्ती) वह (ठीक) नहीं, यहाँ कुम्भकार की सत्ता का बोध नहीं कराया जाता किन्तू उस स्थान (देश) को सिद्ध किया जाता है जहाँ से कूम्भकार दूर नहीं है और उस (देश) का ताजा सराई वाला होना धर्म है। घमते हए चक्र वाला होने से भी उस स्थान को सिद्ध किया जाता है जहाँ से कुम्भकार दूर नहीं है इस लिये कहीं भी सम्बन्ध के विना अनुमान नहीं होता। (प्रश्न) तब (तर्हि) एक साथ (अनेक) ज्ञानों की उत्पत्ति न होना मन से सम्बन्ध न रखते हुए भी मन का लिङ्ग कैसे होता है ? (उत्तर) यहाँ 'एक साथ ज्ञानों की उत्पत्ति न होना' को ही पक्ष बनाया जाता है अतः सम्बन्ध न रखने वाला लिङ्ग नहीं। कैसे ? रूप आदि के ज्ञान चक्ष आदि के अतिरिक्त अन्य अधिष्ठाता की अपेक्षा रखते हैं, एक साय अनेक ज्ञान न उत्पन्न होने से; जैसे कि अनेक कलाओं में निपुण (पर्यवदात) व्यक्ति के समीप वसूला (वासि) आदि एक साथ उपस्थित होकर हस्त आदि अधि-

गन्धादिकियान्यत्वे सिति—गन्धज्ञान आदि किया से भिन्न किया है स्मृति आदि इसके लिये अन्य करण की अपेक्षा है, हेतु है चक्षुरादिम्योऽनुत्पत्ती सत्यां कियारवात्।

अथायुगपद् ० — यहाँ सूत्रोक्त हेतु पर आक्षेप किया गया है जिसका एकदेशी द्वारा किया गया परिहार 'असम्बद्धम्' एके, इत्यादि है और सिद्धान्ती ने 'अयुगपज्ज्ञानोत्पत्ते रेव' इत्यादि में परिहार किया है।

१.० राप्रयोज्यानि, कः; ०रापेक्षाणि, खः

[प्रमेयम्

न्यायवात्तिकम्

चक्षुरादि न युगपदनेकं ज्ञानं करोति। तस्नात् तदंण्यधिष्ठायकान्तरमपेक्षते' इति। इिन्द्रियाणि वा पक्षीकृत्य वक्तव्यमं। कथिसिति ? चक्षुरादीन्द्रियम् आत्मप्रवृत्तावधिष्ठायकान्तरापेक्षम्, अयुगपत् प्रवृत्तोः, वास्यादिवदिति। यदि ति चक्षुरादीन्द्रियं मनः सिन्नधानापेक्षम् अर्थानामयुगपद्ग्रहि, य एकेन्द्रियग्राह्यास्तेषु कथमयुगपद्ग्रहणम् ? न हि तत्रासिनहितं मन इति । सम्बन्धिसेदादिति चेत्, युगपत्सवन्धियु कथम् ? भवतु तावन्त्रीलादिभेदेषु एकेन्द्रियविषयेषु इन्द्रियविषयसंबन्धिभेदाद् अयुगपद् ग्रहणम्, अथ ये युगपत् संबध्यन्ते तेषु कथं धुक्लो गौर्गच्छतीति प्रत्यया युगपत् न प्राप्तुवन्ति ? बुभुत्साभेदाद-युगपद् ग्रहणमित्येके—एके तावद् वर्णयन्ति, सबद्धोऽप्यर्थोऽबुभुत्सितत्वान्न युगपद् गृह्यते इति । तन्न, मनोनिवृत्तिप्रसङ्गात्—एवं तिह मनः परित्याज्यम्, यदि बुभुत्साभेदाद

ष्ठाता की अपेक्षा करता हुआ एक साथ अनेक रथ आदि कार्यों को नहीं करता, उसी प्रकार चक्ष आदि (करण) एक साथ अनेक ज्ञान नहीं करता। इसलिये वह भी अन्य अधिष्ठाता की अपेक्षा रखता है। अथवा इन्द्रिओं को पक्ष बनाकर कहना होगा। कैसे ? चक्ष आदि इन्द्रिय अपनी (आत्म) प्रवृत्ति में अन्य अधिष्ठाता की अपेक्षा रखती हैं, एक साथ प्रवृत्त न होने से, वासि (वसूता) आदि के समान। (शङ्का) यदि चक्ष आदि इन्द्रिय मन के सान्निध्य की अपेक्षा करती हुई विषयों का एक साथ ग्रहण नहीं करती तो जो एक इन्द्रिय के ग्राह्म हैं उनका एक साथ ग्रहण क्यों नहीं हो जाता? वहाँ तो मन अनुपस्थित नहीं है। यदि कही कि विषय (सम्वन्धि) के भेद से (वहाँ एक साथ ग्रहण नहीं होता) तो जहाँ एक साथ अनेक विषय सम्बन्ध रखते हैं वहाँ कैसे (एक साथ ग्रहण नहीं होता)-एक इन्द्रिय के विषय जो नील (पीत) आदि के भेद हैं वहाँ इन्द्रिय के विषय के सम्बन्ध के भेद से एक साथ (अनेक विषयों का) ग्रहण न हुआ करे किन्तू जो एक साथ इन्द्रिय से सम्बद्ध हो जाते हैं जैसे 'शुक्ल गी जाती हैं' उनमें ज्ञान (प्रत्ययाः) एक साथ क्यों नहीं होते । कोई (एकदेशी) कहते हैं कि जिज्ञासा (बुभत्सा) के भेद से एक साथ ग्रहण नहीं होता—कोई तो कहते हैं कि सम्बन्ध रखते हुए भी किसी विषय के जानने की इच्छा न होने से एक साथ (अनेक विषयों का) ग्रहण नहीं होता। (सिद्धान्ती) वह नहीं, मन की निवृत्ति का प्रसङ्ग होने से-यि ऐसा होगा तो मन (की स्वीकृति) को त्याग देना पड़ेगा, यदि जानने की इच्छा के भेद

यदि तहि—यहाँ शङ्का समाधान द्वारा एकेन्द्रियग्राह्य विषयों (नील पीतादि) में अयुगपद्ग्रहण दिखलाया गया है।

सम्बन्धिभेदात् — जब मन से सम्बद्ध इन्द्रिय के साथ नील आदि विषय का कम से सम्बन्ध होता है तब कमणा उनका ग्रहण होता है (मि० टी० ४४१)।

युगपत्सम्बन्धिक्षु कथम् — जो विषय एक साथ इन्द्रिय से सम्बद्ध होते हैं उनमें क्रमशः ग्रहण क्यों होता है, 'बुभुत्साभेदात्' इत्यादि इस प्रश्न कां एकदेशी उत्तर है, बिद्धान्ती का उत्तर 'करणत्वम्' इत्यादि है।

2.2.20]

1 250

न्यायसूत्रं भाष्यं च

क्रमप्राप्ता तु— प्रवन्तिर्वाग्वदिशरीरार

प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धिशरीरारम्भः ।१।१।१७॥

न्यायवात्तिकम्

अयुगपद्ग्रहणानि भवन्ति । अन्पत्रापि बुगुत्साभेदो न दण्डवारित इति मन इदानीमनर्थकं परित्याज्यम् । सत्यां च बुभुत्सायामयुगपद् ग्रहणे न्यायोऽन्योऽदधारणीयः, तस्माद्
अन्यनिमित्तम्, अयुगपद्ग्रहणमिति । कि पुर्नानिनत्तम् ? करणत्वम्, यथैवायं करणधर्मो
नानधिष्ठितं करणं प्रवर्तते इति तथा संबद्धस्थाप्यनेकसमानकालिक्याकर्तृत्वं नास्ति;
न हि करणं सम्बद्धमिष एकदानेकां क्रियां शक्नोति कर्तुम् । यदि पुनरात्मैवाधिष्ठाता
भवेत्, तथाप्यात्मनो युगपद् अनेकेन्द्रियसंबद्धस्यानिष्ठधाद् अयुगपज्जानोत्पत्तौ न्यायोऽन्योऽवधार्यः । स च नान्तरेण मनः सिध्यतीति सिद्धं मन इति ।१।१।१६॥

क्रम से प्राप्त होने वाली तो— प्रवृत्ति है-वाणी, मनं और शरीर की क्रिया (आरम्भ=व्यापार)

१।१।१७॥
से एक साथ ग्रहण नहीं होगा तो अन्य स्थलों पर भी जानने की इच्छा के भेद को देण होगा नहीं रोक दिया गया है। इसलिये मन अब व्यर्थ होगा उसे छोड़ देना होगा। और, जानने की इच्छा होने पर जो एक साथ ग्रहण नहीं होता उसमें अन्य नियम (न्याय) निश्चित करना होगा। इसलिये अन्य निमित्त से (ही) एक साथ ग्रहण नहीं होता। तब (पुनः) क्या निमित्त है? करण होना—जैसे (यथैव) यह करण का स्वभाव (धर्म) है कि विना अधिष्ठाता के करण की प्रवृत्ति नहीं होती, अतः (तथा) सम्बन्ध रखने वाला भी समान काल में क्रिया नहीं करता। वस्तुतः (हि) करण (विषय से) सम्बद्ध होकर भी एक समय अनेक क्रिया नहीं कर सकता। किन्तु यदि (केवल) आत्मा ही अधिष्ठाता हुआ करे तो भी आत्मा के (व्यापक होने से) एक समय अनेक इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध का निषेध न किया जाने के कारण एक साथ अनेक जानों की उत्पत्ति न होने में अन्य न्याय निश्चित करना होगा। और वह (न्याय) मन के विना सिद्ध नहीं होता। इस प्रकार मन सिद्ध होता है।१।१।१।६।।

करणत्वम् अयुगपद्ग्रहण का निमित्त है करण होना । करण का यह स्वभाव है कि वह किमी करणत्वम् अयुगपद्ग्रहण का निमित्त है करण होना । करण का यह स्वभाव है कि वह किमी अधिष्ठायक के विना कार्य नहीं करता । जब इन्द्रिय अनेक विषयों से संस्वद्ध होती है तब भी वह किसी अन्य अधिष्ठायक (मन) के विना एक काल में अनेक किया नहीं कर सकती ।

निसा अन्य आध्यकायक (मन) के विना कि जन्य न्याय है। वह न्याय मन के विना सिद्ध नहीं होता। न्यायोऽन्योऽवधार्यः—करण होना ही अन्य न्याय है। वह न्याय मन के विना सिद्ध नहीं होता। कर्ता (आत्मा) में क्रमकारिता नहीं, यही 'यदि पुनः ''अवधार्यः' में दिखलाया गया है।

क्रसप्राप्ता—मन की भी प्रवृत्ति दिखलानी है; अतः मन के अनःतर प्रवृत्ति कही गई है।

क्रमशास्ता—मन का ना अवृत्ति विद्यासा है।
आरम्भ:—प्रवृत्ति है शरीर मन तथा वाणी का व्यापार । सूत्र में बुद्धि सन ।
अरम्भ:—प्रवृत्ति है शरीर मन तथा वाणी का व्यापार । सूत्र में बुद्धि सन ।
प्रवृत्ति:—तात्पर्य टीका में इसकी व्याख्या करते हुए कहा गया है—वह दो प्रकार की हैं जीने वाह्-और क्रियाहेत् । जो ज्ञान को उत्पन्न करके पुण्य, पाप का हेत् होती है वह ज्ञानहेत् हैं; जैसे वाह्-और क्रियाहेत् । जो ज्ञान को उत्पन्न करा विन्तन, चक्षु आदि इन्द्रिय से अच्छे बुरे का दर्शन । क्रियाहेत् प्रवृत्ति, मन से इष्ट देवता आदि का चिन्तन, चक्षु आदि इन्द्रिय से अच्छे बुरे का दर्शन । क्रियाहेत् दो प्रकार की है कायनिमित्ता और मनोनिमित्ता । परिणुद्धि में इसकी विशव व्याख्या की गई है ।

[प्रमेयम्

न्यायसूत्रं भाष्यं च

मनोःत्र बुद्धिरित्यभित्रे तम्, बुध्यतेऽनेनेति बुद्धिः । सोऽयमारम्भः शरीरेण वाचा मनसा च पुण्यः पापश्च दश्चिधः । तदेतत्कृतभाष्यं द्वितीयसूत्र इति ।१।१।१७।।

प्रवर्तनालक्षणा दोषाः १।१।१८॥

प्रवर्त्तना = प्रवृत्तिहेतुत्वम् । ज्ञातारं हि रागादयः प्रवर्त्त यन्ति पुण्ये पापे वा । यत्र निथ्याज्ञानं तत्र रागद्वेषाविति । प्रत्यात्मवेदनीया हीमे न्यायवात्तिकम्

प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धिशरीराम्भ इति । शरीरेण वाचा मनसा च सेयं प्रवृत्तिः प्रत्येकं दशिवधा, पुण्या पापा च । पुण्या कायेन परित्राणं परिचरणं दानिमिति । वाचा सत्य हितं प्रियं स्वाध्यायश्चेति । मनसा दया, अस्पृहा श्रद्धा चेति । विपर्ययेण पापा दश-विधेव । क्षणिकत्वात् प्रवृत्तेर्जन्मकारणत्वानुपपत्तिः—सेयं प्रवृत्तिः क्षणिका । क्षणिका च सती जन्मकारणमिति न युक्तम् । ततश्च द्वितीयसूत्रव्याघातः । न व्याघातः, प्रवृत्ति-फले प्रवृत्त्यप्यारात्—प्रवृत्तिफले धर्माधमौ अस्मिन् सूत्रे प्रवृत्तिरित्युच्येते । कस्मात् ? तत्साधनत्वात्, अन्नं व प्राणिनः प्राणा इति यथा । १।१।१७।।

यहाँ बुद्धि से अभिप्राय है मन । जिससे वोध किया जाता है वह बुद्धि है। वह यह ब्यापार शरीर से, ववन से और मन से किया जाने वाला पुण्य तथा पाप (के रूप में) दस प्रकार का है। उसका द्वितीय सूत्र (१. १. २) में भाष्य किया जा चुका है।११११७॥

प्रवृत्ति के हेत् होने वाले दोष हैं।१।१।१८॥

प्रवर्तना का अर्थ है प्रवृत्ति के हेतु होना । वस्तुत: (हि) ज्ञाता (आत्मा) को पुण्य अथवा पाप में राग आदि प्रवृत्त करते हैं । जहां मिथ्याज्ञान होता है वहाँ राग-द्वेष होते हैं । (आक्षेप) क्योंकि ये दोष प्रत्येक आत्मा में जाने जाते हैं फिर (इनका)

प्रवृत्तिवांग्बुद्धिशरीरारम्भ इति; शरीर से, मन से और वचन से की जाने वाली वह यह प्रवृत्ति प्रत्येक पुण्य और पाप (रूप में) दस प्रकार की है। पुण्या (धार्मिक) है, शरीर से रक्षा करना, सेवा करना और दान देना, वचन से सत्य, हितकारी और मधुर (वचन) तथा स्वाघ्याय, मन से दया, तृष्णा का त्याग (अस्पृहा) और श्रद्धा। इसके विपरीत पाप (अधार्मिक) प्रवृत्ति है वह भी दस प्रकार की ही है। (आक्षेप) क्षणिक होने से प्रवृत्ति (त्रिया) जन्म का कारण नहीं हो सकती—वह यह प्रवृत्ति क्षणिक है, क्षणिक होती हुई, जन्म का कारण है, यह कथन (१.१२.) युक्त नहीं। और, उससे द्वितीय सूत्र का विरोध होता है। [परिहार] विरोध नहीं; प्रवृत्ति के फल में प्रवृत्ति शब्द का व्यवहार (उपचार) होने से—प्रवृत्ति के फल धर्म और अधर्म को इस सूत्र में प्रवृत्ति कहा जाता है। क्यों? उस (धर्माधर्म) का साधन होने से; जैसे 'अन्न' वै प्राणिनः प्राणाः'—अन्न ही प्राणी के प्राण हैं(यह कह दिया गया है)। १११९७॥

दशविधा-वाक्तिक में दस प्रकार की पुण्या प्रवृत्ति दिखलाई गई है। इसके विपरीत पाप प्रवृत्ति है।

2.2.2=]

- न्यायभाष्यम्

दोषाः कस्माल्लक्षणतो निर्दिश्यन्त इति ? कर्मलक्षणाः खलु रक्तद्विष्टमूढाः, रक्तो हि तत्कर्म कुरुते येन कर्मणा मुखं दुःखं वा लभते, तथा द्विष्टस्तथा मूढ़ इति । दोषा रागद्वेषमोहा इत्युच्यमाने बहु नोक्तं भवतीति ।१।१।१८॥

न्यायवार्ति कम

प्रवत्तंनालक्षणा दोषाः । का पुनिरयं प्रवर्त्तना, यया अवशः प्रवर्त्तते ? ज्ञाता-तावत् प्रवर्तते, प्रवर्तमानं रागादयः प्रवर्तयन्तीत्यतः । सेयं प्रवृत्तिहेतुत्वात् प्रवर्तनेत्यु-च्यते यथा कारणा हारणेति । सा पुनिरयं प्रवर्तना कथं गम्यते ? प्रत्यातमं प्रत्यक्षा, पर-शरीरे त्वानुमानिकी आत्मविद्या आत्मा अहङ्कारिबषयत्वेनावित्व्वमानः प्रत्यात्मं प्रत्यक्षो भवित, न हीयमहङ्कारबुद्धिरानुमानिकी न चागिमिकी । कथं नागु-मानिकी ? लिङ्गाभावात् । कथं नौपदेशिकी ? अनुपदिष्टाथंप्रतिपत्तेः । तस्माद् क्षा-दिवत् प्रत्यात्मनात्मा प्रत्यक्ष इति । प्रवृत्तितिवृत्त्यनुमेयस्तु पुनः परशरीरे इति । 1१।१।१६॥

लक्षण से क्यों निर्देश किया गया है। [परिहार] निश्चय ही रागयुक्त, द्वेषयुक्त और मोहयुक्त (व्यक्ति) कर्म से लक्षित होते हैं; क्योंकि रागयुक्त वह कर्म करता है जिस कर्म से सुख या दःच पाता है उसी प्रकार द्वेषयुक्त तथा मोहयुक्त भी। (इस प्रकार दोष प्रवृत्ति के हेतु हैं, यह दिखलाया गया है) यदि राग, द्वेष, मोह दोष हैं, यह कहते तो बहुत कुछ (जो कहना था) नहीं कहा जाता। १। १। १ वे।।

प्रवर्तनालक्षणा दोषाः इति । (प्रदन) किर ण्ह प्रवंतना क्या है ? जिससे अथीन होकर (अवशः) प्रवृत्त हो जाता है । (उत्तर) ज्ञाता (आत्मा) तो प्रवृत्त होता है, प्रवृत्त होते हुए को राग आदि प्रवृत्त करते हैं । वह यह प्रवृत्ति का हेतु होने से प्रवर्तना कही जाती है; जैसे (जो कराती है वह) कारणा (जो हराती है, वह) हारणा इत्यादि । (प्रश्न) किन्तु वह यह प्रवर्तना कैसे जानी जाती है ? (उत्तर) प्रत्येक आत्मा में (मन से) प्रत्यक्ष होती है, दूसरे के शरीर में तो आत्मा के समान अनुमान से जानी जाती है— जैसे शरीर में स्थित आत्मा अहंकार का विषय होने से प्रत्येक आत्मा में प्रत्यक्ष होता है; क्योंकि यह अहंकारवृद्धि न अनुमान का विषय है न आगम का । अनुमान का विषय कैसे नहीं ? लिङ्ग का अभाव होने से ।उपदेश (आगम) का विषय कैसे नहीं ? क्योंकि विना उपदेश किया गया (यह विषय) जाना जाता है । इसलिये रूप आदि के समान प्रत्येक व्यक्ति में (प्रत्यात्मम्) प्रत्यक्ष है । किन्तु दूसरे के शरीर में प्रवृत्ति-निवृत्ति के द्वारा अनुभव से जाना जाता है ।१।१।९=।।

प्रवंतना—प्रवृत्ति का हेतु, प्रवृत्ति का हेतु होना है स्वरूप (लक्षण) जिनका। मोह से उत्पन्न राग-होप व्यक्ति को प्रवृत्त करते हैं, उनका धर्म प्रवर्तना है। वह मोह के साथ एक अर्थ में समवेत होती है। जब तक व्यक्ति में मोह होता है। तब तक वह मोह आदि के विश्व में होकर प्रवृत्त होता है। (टी० ४४५)।

बहु नोक्तं भवति—यदि 'दोषा रागद्वेषमोहाः' यह कहा जाये तो रागादि का स्वरूप ही कहा जायेगा, ये प्रवृत्ति के हेतु होते हैं, यह न कहा जा सकेगा। अवशः अस्वतन्त्रः (टी० ४४६)।

[035

प्रमेयम्

न्यायसूत्रं भाष्यं च

पुनक्त्पत्तिः प्रेत्यभावः ।१।१।१६।।

उत्पन्नस्य क्वित्सित्त्विकाये मृत्वा या पुनरुत्पत्तिः स प्रेत्यभावः । उत्पन्नस्य = सम्बद्धस्य । सम्बन्धस्तु देहेन्द्रियबुद्धिवेदनाभिः । पुनरुत्पत्तिः, पुनर्देहादिभिः सम्बन्धः । पुनरित्यभ्यासाभिधानम् । यत्र क्विचित् प्राणभृन्ति-काये वर्तमानः पूर्वोपात्तान् देहादीन् जहाति तत्प्रेति । यत् तत्रान्यत्र वा देहादीन् अन्यानुपादत्ते तद्भवति । प्रेत्यभावः = मृत्वा पुनर्जन्म । सोऽयं जन्ममरणप्रबन्धाभ्यासोऽनादिरपवर्गान्तः प्रेत्यभावो वेदितव्य इति ।१।१।१६॥ न्यायवात्तिकम्

पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः। पूर्वोपात्तवारीरादिपरित्यागादःयवारीराद्युपसंक्रान्तिः प्रेत्यभाव इति । पुनर्ज्ञहणं संसारस्यानादित्वज्ञापनार्थम् । पुनः पुनर्जन्ममरणे भवत इत्यनादित्वं ज्ञापयि।

फिर उत्पन्न होना प्रेत्यभाव है। १।१।१६॥

किसी प्राणी-समुदाय में उत्पन्न हुए की मरकर जो फिर उत्पित्त है वह प्रेत्य-भाव है। उत्पन्न का अर्थ है सम्बद्ध का। सम्बन्ध तो शरीर, इन्द्रिय, मन (बुद्धि) तथा अनुभव (वेदना) से होता है। पुनरत्पित का अर्थ है फिर शरीर आदि से सम्बन्ध होना। पुनः (फिर) इस शब्द से बार-बार होना (अभ्यास) कहा जाता है। जहां कहीं प्राणधारियों के समुदाय में विद्यमान होता हुआ (आत्मा) पूर्व गृहीत शरीर आदि को छोड़ देता है (जहाति) वह कहा जाता है मरता है (प्रैति)। जो वहां अथवा अन्य स्थान पर दूसरे शरीर आदि का ग्रहण करता है वह कहा जाता है उत्पन्न होता है (भवित)। प्रेत्यभाव का अर्थ है मरकर (प्रेत्य) फिर जन्म लेना (भावः)। वह यह जन्म-मरण-परम्परा (प्रबन्ध) का वार-बार होना (अभ्यास) अनादि (जिसका आदि नहीं) है, अपवर्ग इसका अन्त है, यह प्रेत्यभाव जानना चाहिये। १। १। १६।।

पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः । पूर्वगृहीत शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर आदि से सम्बन्ध करना (उपसंक्रान्तिः) प्रेत्यभाव है । यहां पुनः (फिर) शब्द का ग्रहण जन्म-मरण-परम्परा (संसार) शी अनादिता का बोध कराने के लिये किया गया है—वार-वार जन्म-मरण होते हैं, इस (कथन) से (आचार्य) संसार की अनादिता का बोध कराता है ।

प्रतियभाव--- शरीर आदि से लेकर दोष पर्यन्तों में पहले का त्याग करके दूसरे की प्राप्ति प्रेत्यभाव हैं। (परि० ४४८)

उत्पन्नस्य — सम्बद्धस्य, आत्मा तो नित्य है उसकी उत्पत्ति नहीं होती, केवल दूसरे शरीर आदि से सम्बन्ध होता है।

सत्त्वनिकाये-प्राणिसमुदाये, प्राणियों के समूह में।

अभ्यासः—पीनः पुन्यम्, वार-वार होना, पुनः पुनः जन्म-मरण ही प्रेत्यभाव है। पूर्वोपात्तः संक्रान्तिः —यहाँ वात्तिक में प्रेत्यभाव का स्वरूप दिखलाया गया है।

2.8.8]

न्यायवात्तिकम्

कः पुनरयं संसारः ? दुःखादीनां कार्यकारणभावः — दुःखादीनां मिथ्याज्ञानान्तानामिवच्छेदेन यः कार्यकारणभावः स संसार इति । स चानिदः पूर्वापरकालानियमात्
यदि पूर्वं दुःखम्, तत् जन्मना विना न युक्तम्, अथ पूर्वं जन्म, तदिष धर्माधर्मावन्तरेण
न युक्तम्, अथ पूर्वं धर्माधर्मौ ताविष विना रागद्वेषाभ्यां न युक्तौ, अथ पूर्वं रागद्वेषो,
न मिथ्याज्ञानादते तथोः प्रादुर्भाव इति । मिथ्याज्ञानं तह्यदिः ? तदिष शरीरादीनन्तरेण
न युक्तम् । सोऽयं दुःखादीनां भिथ्याज्ञानपर्यन्तानां कार्यकारणभावोऽविच्छिन्नः संसार
इति आजरञ्जरीभाव इति चोच्यते । सोऽयं संसारः कस्य ? किमात्मनः, आहो मनस
इति । यदि कियामधिकृत्योच्यते, तदा मनसः, तद्वि संसरित । अथोपभोगमधिकृत्योच्यते,
तदात्मनः । स हि सुखदुःखे उपभुङ्के इति ।१।१।१६।।

(प्रश्न) किन्तु यह संसार (जन्ममरणपरम्परा) क्या है ? (उत्तर) दुःख आदि का कार्यकारणभाव (संसार है)—दुःख आदि मिथ्याज्ञान पर्यन्तों का जो निरन्तर होने वाला (अविच्छेदेन) कार्यकारणभाव है वह ससार है। और, वह अनादि (जिसका आदि नहीं) है. पूर्वापरभाव (पहले तथा पीछे होने) का नियम न होने से—यदि पहले दु:ख हुआ करे, बढ़ जन्म के बिना होना युक्त नहीं; यदि पहले जन्म हो वह भी धर्म तथा अधर्म के विना होना युक्त नहीं; यदि पहले धर्म तथा अधर्म हों वे दोनों भी राग-द्वेष के बिना नहीं होते; यदि पहले राग-द्वेष हों तो मिथ्याज्ञान के विना (ऋते) उन दोनों की उत्पत्ति (प्रादुर्भावः) नहीं होती। तब (र्ताह) मिथ्याज्ञान को (ही) पहले (आदि) [मान लिया जाये] ? घह भी शरीर आदि के विना होना युक्त नहीं। वह यह दु:ख आदि (से लेकर) मिथ्याज्ञान पर्यन्तों का निरन्तर होने वाला कार्यकारण-भाव संसार है जो (शास्त्र में) आजरञ्जरीभाव भी कहा जाता है। (प्रक्त) वह यह संसार किस का होता है ? क्या आत्मा का होता है अथवा मन का ? (उत्तर) यदि कर्म (उपसर्वण, अपसर्वण) को लक्ष्य करके (अधिकृत्य) कहा जाता है तब (तो) मन का (संसार) होता है; क्योंकि वह (मन) गमन करता है (संसरति)। यदि उपभोग को लक्ष्य करके कहा जाता है तब आत्मा का (संसार) होता है; क्योंकि वह सुख-दुःख का उपभोग करता है।

अनादित्वज्ञापनार्थम् — इसकी व्याख्या न्या॰ सू० १.१.२ में की जा चुकी है और पूर्वाभ्यस्तसूत्र (न्या॰ ३.१.१९) में इसकी सिद्धि की जायेगी।

कः पुनरयम् — द्वितीय सूत्र में दुःख आदि का कार्यकारणभाव संसार है' यह कहा गया है; यहाँ 'पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः' कहा जाता है अतः विरोधाभास है; किन्तु दुःख आदि के कार्यकारणभाव होने पर पूर्व देहादि को छोड़कर अन्य देह आदि की प्राप्ति ही प्रेत्यभाव है, यही संसार है अतः कोई विरोध नहीं (परि० ४४८)।

आजरञ्जरीभाव: —यह आगम प्रसिद्ध नाम है, इससे यह भी सूचित किया गया है कि यह आगम-प्रतिपादित है (द्र० टी० ४४=) किया-उपसर्पण, अपसर्पण (टी० ४४=)।

न्यायसूत्रं भाष्यं च

प्रवृत्तिदोषजनितोःर्थः फलम् ।१।१।२०॥

सुखदुः खसंवेदनं फलम् । सुखिवपाकं कर्म दुः खिवपाकं च । तत्पुन-देंहेन्द्रियिषयबुद्धिषु सतीषु भवतीति सह देहादिभः फलमभिप्रतम् । तथा हि प्रवृत्तिदोषजनितोऽर्थः फलमेतत् सर्वं भवति । तदेतत् फलमुपात्तनुपात्तं हेयम्, त्यक्तं त्यक्तम्पादेयमिति । नास्य हानोपादानयोनिष्ठा पर्यवसानं-वास्ति, स खल्वयं फलस्य हानोपादानस्रोतसोह्यते लोक इति १।१।२०॥

न्यायवात्तिकम्

प्रवृत्तिदोषजितिऽर्थः फलम्। शरीरादिजन्यं सर्वं फलम्, धर्माधर्मपूर्वकत्वात्, मुख्यतया तु कल्पनया सुखदुःखोपभोग एव, तदवसानात् —यस्माद् धर्माधर्मयोः सुखदुःखोपभोग एवावसानिकं फलम्, तस्य तु नान्तरेण शरीरादीन् संभव इति कृत्वा शरीरादीन् धर्माधर्मावारम्य सुखदुःखोपभोगं कुरुत इति । सोऽयं फलशब्दः सुखदुःखोपभोगं मुख्यः, शरीरादिषु गौण इति । १। १। २०॥

सुख और दुःख का अनुभव करना (संवेदनम्) फल है। सुख फल वाला (सुखं विपाको यस्य) कर्म है और दुःख फल वाला भी। और (पुनः) वह (तत्फलम्) शरीर इन्द्रिय, विषय और ज्ञान (बुद्धि) के होने पर होता है। अतः शरीर आदि सहित फल माना गया है। इसीलिये (तथा हि) यह सब प्रवृत्ति और दोषों से उत्पन्न फल होता है। वह यह वार-वार प्राप्त करके छोड़ना होता है और बार-वार प्राप्त करने योग्य होता है। इसके त्याग और ग्रहण की समाप्ति या अन्त नहीं है। वस्तुतः वह यह संसार (लोक) फल के त्याग और ग्रहण के प्रवाह के द्वारा वहन किया जाता रहा है।१११२०॥

प्रवृत्ति दोषजिति। उत्पन्त होने वाला सब शरीरादिफल है; क्यों कि वह धर्म और अधर्म के कारण से होता है, मुख्यरूप में विचार से तो सुख-दु:ख का उपभोग ही फल है, उसके अवसान-रूप होने से—क्यों कि सुख-दु:ख का उपभोग ही धर्म और अधर्म का अन्तिम (आवसानिकम्) फल है; किन्तु वह (उपभोग) शरीर के विना संभव नहीं है इसलिये (इति कृत्वा) धर्म तथा अधर्म शरीर आदि को उत्पन्न करके सुख-दु:ख का उपभोग कराते हैं। वह यह 'फल' शब्द सुख-दु:ख के उपभोग में मुख्य है शरीर आदि के लिये गौण है १। १। २०।।

दोष०—राग आदि दोष से ही प्रवृत्ति उत्पन्न होती है फिर भी यहाँ 'दोष' का पृथक् ग्रहण किया गया है जो सूचित करता है—(१) प्रवृत्ति में ही राग आदि हेतु नहीं होते अपि तु सुख दु:ख में भी। दोष रूपी जल से सींची गई आत्मा-रूपी भूमि में धर्म अधर्म के बीज सुख-दु:ख को उत्पन्न कर सकते हैं, अन्यथा नहीं, (२) राग-द्वेष होने पर सुख-दु:ख अवश्य हुआ करते हैं (टी० ४४६)। अर्थ०—सूत्र में अर्थ शब्द के द्वारा मुख्य और गौण फल का संग्रह किया गया है। सुख दु:ख का उपभोग मुख्य फल है, वह शरीर आदि के होने पर होता है अतः शरीर आदि गौण फल है।

2.2.22]

€39

न्यायसूत्रं भाष्यं च

अथैतदेव,

बाधनालक्षणं दुःखम् ।१।१।२१।।

बाधना पीडा ताप डितिः तयानुविद्धमनुषक्तमविनिभगिन वर्तमानं दुःखयोगाद् दुःखिमिति । सोऽयं सर्वं दुःखेनानुविद्धिमिति पश्यन् दुःखं जिहासुर्जं न्मिन दुःखदर्शी निविद्यते निविण्णो विरज्यते विरक्तो बिमुच्यते ।१।१।२१॥ न्यायवासिकम्

बाधनालक्षणं दुःखम् । एतदेव शरीरादि बाधनानुषङ्गाद् दुःखिमत्युच्यते । स्वभावतस्तु दुःखमेव दुःखम् । लक्षणशब्दोऽनुषङ्गार्थः, सवैमिदं शरीरादि दुःखानुषक्त— मिति । तत्र शरीरं दुःखस्य निमित्तम्, निमित्तार्थोऽनुषङ्गः । इन्द्रियाणि विषया बुद्धय दिति साधनम्, साधनार्थोऽनुषङ्गः । सुखं दुःखे नाविनाभावि, अत्राप्यविनाभावोऽनुषङ्गः । स्वरूपतस्तु दुःखं दुःखिमिति ।

तब यह (फल) ही

पीडा-स्वरूप (लक्षणम्) दुःख होता है ।१।१।२१।

वाधना का अर्थ है पीड़ा, ताप उस (वाधना) से युक्त (अनुविद्धम्), सम्बद्ध (अनुपक्त) विभक्त होकर न रहने वाला दृःख के सम्बन्ध से दुःख है। वह यह (साधक) सब कुछ दुःख से युक्त है, यह समझता हुआ दुःख को छोड़ने की इच्छा करता है, जन्म में दुःख देखता हुआ निर्वेद को प्राप्त होता है, निर्वेदयुक्त होकर विरक्त हो जाता है और विरक्त होकर मुक्त हो जाता है। १। १। १।।

वाधनालक्षणं दुःखम्, यही शरीर आदि पीड़ा से सम्बन्ध (अनुषङ्ग) होने के कारण दुःख कहा जाता है 'स्वभाव से तो दुःख ही दुःख है। लक्षण शब्द का अर्थ है अनुषङ्ग (सम्बन्ध) यह सब शरीर आदि दुःख से सम्बद्ध है। उनमें शरीर दुःख का निमित्त है अतः अनुषङ्ग का अर्थ है—निमित्त । इन्द्रिय, विषय और ज्ञान (बुद्धि) ये दुःख के साधन हैं अतः अनुषङ्ग का अर्थ है साधन। सुख (तो) दुःख का अविना—भावी है (कोई भी सुख दुःख से मिश्चित ही होता है,) यहाँ अनुषङ्ग का अर्थ है अविना—भाव। स्वरूप से तो दुःख (ही) दुःख है।

एतदेव-यह ही, सुख दृःख का अनुभव करना पल हैं इसमें जो बाधनारूप है, बहदुःख है। वार्त्तिक-

कार ने 'एतदेव चगरीरादि' ऐसा कहा है। बाधना — बाधना क्रव्द से बाधनाविषयक बुद्धि कही गई है इसलिये बाधना (पीडा) मुख्य दुःख है

और उसके अनुषङ्गी जारीर आदि गौण दुःख (टी ०)।

निर्विद्यते इन दु:खों से बचना चाहिये ऐसी भावना निर्वेद है अलमेभिरिति प्रत्ययो निर्वेदः प्राप्त

हुए विषयों के प्रति उदासीनता वैराग्य है (टी० ४४९)। लक्षणशब्द:—लक्षण शब्द का अर्थ है अनुपङ्ग सम्बन्ध यह अनुपङ्ग श्रब्द निमित्त, साधन, अविनाभाव का बोधक है।

१. नःस्ति, क.

न्यायवात्तिकम्

सर्व स्वरूपतो दुःखमिति केचित्। न, प्रत्यक्षविरोधात्—न हि प्रत्यक्षं सुलं शक्यं प्रत्याख्यातुमिति। दुःखिकल्प इति चेत्—अथापीदं स्याद् दुःखिकल्प एष सुखमिति, न पुनः स्वरूपतोऽस्तीति ? न, विकल्पे नय्रप्रयोगासम्भवात्—न हि विकल्पे नय्रप्रयोगासम्भवात्—न हि विकल्पे नय्रप्रयोगासम्भवात्—न हि विकल्पे नय्रप्रयोगासम्भवात् । एवं दुःखिवशेषेऽदुः ख-मिति न स्यात्। यदि च सुखं न स्याद् धर्मवयध्यम् । कि कारणम् ? सुखसाधन धर्मं इति । सुखं च नास्ति व्यथों धर्मः । दुःखप्रतिषेधः फलमस्येति न युक्तम्, धर्मस्याभाव-फलत्वप्रसङ्गात्—अभावफलो धर्मं इति स्यात्। प्रवृत्तिद्वः तं च लोके दृष्टं तम्न स्यात्—हितमाप्स्यामीत्येकः प्रवर्तते, अनिष्टं हास्यामीत्यपरः । हितस्याभावात् प्रवृत्तिद्वः तं लोके न स्यात् । दुःखभावनोपदेशस्च न स्यात्, प्रतिपक्षासम्भवात् । सक्त्यभावश्च—न हि किश्चद् दुःखे सज्यते । तस्मान्न मुख्यतः सर्वं दुःखम्, दुःखभावनोपदेशेन तु दुःखमित्य-च्यते इति । १।१।२१॥

कोई (मानते हैं) सब कुछ स्वरूप से दुःख है, वह (ठीक) नहीं, प्रत्यक्ष से विरोध होने के कारण-वस्तुत: (हि) प्रत्यक्ष होने वाले सुख का निराकरण नहीं किया जा सकता। (शङ्का) यदि (कहा कि) दृःखविशेष (विकल्प: विशेष:, टी॰) मुख है-यदि यह माना जाये कि दृ:खिवशेष ही सुख है, वह (सुख) स्वरूप से नहीं है। [समाधान] यह (ठीक) नहीं, विशेष अर्थ में नज का प्रयोग सम्भव न होने से-विकल्प (विशेष) अर्थ में नञ् (निषेधात्मक 'न' शब्द) की प्रवृत्ति नहीं देखी गई है। बाह्मणविशेष के लिये 'अब्राह्मण' शब्द नहीं होता; इसी प्रकार दु:विविशेष के लिये 'अदुःल' यह शब्द न होगा। और, यदि सुख न हो तो धर्म की व्यर्थता हो जाये। क्या कारण है ? सुख का साधन धर्म है और सुख नहीं है अतः धर्म व्यर्थ होगा। (शङ्का) इस (धर्म) का फल दु:ख का निराकरण है, [समाधान] यह (भी) युक्तियुक्त नहीं; धर्म का फल अभाव होने लगने से-(तब) धर्म का फल अभाव है, ऐसा हो जायेगा। किञ्च, लोक में दो प्रवृत्तियां देखी गई हैं वे न होंगी-एक (तो) इसलिये प्रवृत्त होता है कि हित को प्राप्त करूँ गा और दूसरा इसलिये कि अहित को छोड़ गा; हित (सुख) का अभाव होने से दो प्रकार की प्रवृत्ति लोक में न होगी। और, (यदि सुख न होगा तो सुख में) दुःसभावना का उपदेश भी न होगा। और, आसिक्त, का अभाव होगा, कोई दुःख में आसिनत नहीं करता (न सज्यते)। इसलिये मुख्य रूप से सब दु:ख नहीं है; किन्तु दु:ख की भावना के उपदेश से दु:ख कहा जाता है। १।१।२१॥

सर्व स्वरूपतो दु:खम् अपने आपको विरक्त मानने वालों का मत है, टी ४५१।

अभावफलत्वप्रसङ्गात्—धर्म का फल अभाव होने लगेगा; यद्यपि धर्म प्राप्त दुरित के नाम (ध्वंस) के हेतु भी होते हैं तथापि प्रायः धर्म स्वर्गादि भावरूप फल के हेतु माने जाते हैं। विधि वाक्यों से भी धर्म का फल भावरूप ही समझा जाता है अतः धर्म को भावरूप फल का हेतु ही मानना होगा, मि॰ टी॰ ४५१।

१. प्रतिपक्षाभावे मक्त्यभावात्, क, प्रतिपक्षासम्भवात् । सक्त्यभावश्व, ख.

8.8.22]

138

न्यायसूत्रं भाष्यं च यत्र तु निष्ठा यत्र तु पर्यवसानं सोज्यम्, तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः ।१।१।२२॥

तेन दुः खेन जन्मना अत्यन्तं विमुक्तिरपवर्गः । कथम् ? उपात्तस्य जन्मनो हानम्, अन्यस्य चानुपादानम् । एतामवस्थामपर्यन्तामपवर्गं वेदयन्ते-ज्यानिवदः, तदभयमजरमम्त्युपदं ब्रह्म क्षेमप्राप्तिरिति ।

न्यायवात्तिकम्

त्रदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः । तेन शरीरादिना दुःखान्तेनात्यन्तिको वियोग इति । आत्यन्तिको सुखाभिष्यक्तिरिति एके—एके त्वात्यन्तिको सुखाभिष्यक्तिमपवर्ग बुवते ।

किन्तु जहाँ (दु:ख की) समाप्ति होती है, जहाँ मली माँति अन्त (पर्यवसान) होता है,

उस (दु:ख) से अत्यन्त मुक्ति (ही) अपवर्ग है । १।१।२२॥

उस दु:ख अर्थात् (मुल्य दु:ख तथा) जन्म (गीण दु:ख) से अत्यन्त छूटना अपवर्ग (मोक्ष) है। कैसे ? गृहीत जन्म का नाश (त्याग) और दूसरे (जन्म) का ग्रहण न करना। इस अवस्था को जिसका अन्त नहीं है (अपर्यन्ताम्) अपवर्ग के ज्ञाता अपवर्ग मानते हैं—वह ब्रह्म (मोक्षावस्था) भय रहित है, जरारहित है, मृत्यु का स्थान नहीं है, (आत्मा के) क्षेम की प्राप्ति है।

तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः, (यहाँ 'तदत्यन्तविमोक्षः' का अर्थ है) - उस शरीर

आदि दु:ख से अत्यन्त छूटना (वियोग)।

कोई (कहते हैं) आत्यन्तिक सुख की अभिव्यक्ति होती है—कोई तो सुख की आत्यन्तिक अभिव्यक्ति को मोक्ष कहते हैं, वह (ठीक) नहीं, प्रमाण न हो सकने से—

तर् == तेन दु:खेन जन्मना---पहाँ 'तद्' मन्द से मुख्य दु:ख तथा गीण दुःख दोनों प्रकार के दु:ख का

प्रहण होता है अतः भाष्य में 'तेन दुःखेन जन्मना' ऐसा नहा गया है।

तदमयम् दृत्यादि —अपवर्ग के ज्ञाताओं के मत को इस अवतरण में प्रकट किया गया है। अपवर्ग कहा (बृहद्) रूप है, इसमें आत्मा की व्यापकता (परममहत्त्व) प्रकट होता है अतः 'तद् ब्रह्म' यह अन्वय है। वह ब्रह्म (अवस्था) भयरहित और जरारहित है, उसमें मृत्यु नहीं होती, आत्मा के अन्वय है। वह ब्रह्म (अवस्था) भयरहित और जरारहित है, उसमें मृत्यु नहीं होती, आत्मा के स्वरूप (क्षेम) की प्राप्ति होती है। इस अवतरण का स्रोत क्या है? इसका सन्दर्भ अन्वयणीय है। इसका भाव बृ० उ० ४.४.२५ में मिलता है। तात्पर्य टीका में इसकी व्याख्या इस प्रकार की गई है—अभयम् = संसार के भय इसमें नहीं होते, जो कहते हैं कि ब्रह्म ही नामरूप प्रपञ्च के रूप में हो जाता है उनके प्रति कहा गया है अजरम् = इस अपवर्ग में जरा (परिणाम) नहीं होती। वैताधिक कहते हैं 'प्रदीपस्थेव निर्वाण विमोक्षस्तस्य चेतसः'—उस (क्षणिक) चित्त का प्रदीप के समान बुझ जाना मोक्ष है, उनके प्रति कहा गया है—अमृत्युपदम्, वह मृत्यु का स्थान नहीं।

भाग भाव ह, उनके प्रांत कहा पया हु प्राप्णीय, रक्षणीय, कल्याण, शान्ति इत्यादि । मोक्ष की अवस्था में असम्प्राप्ति:—क्षेम का अर्थ है प्राप्णीय, रक्षणीय, कल्याण, शान्ति इत्यादि । मोक्ष की अवस्था में अत्यादा को सभी प्राप्णीयो की प्राप्ति हो जाती है अर्थात् वह सभी दुःखों तथा दुः स्व के निमित्तों से

छूटकर अपने स्वरूप की प्राप्त कर लेता है।

न्यायभाष्यम्

नित्यं सुखमात्मनो महत्त्ववत्, तत्तु मोक्षेऽभिव्यज्यते, तेनाभिव्यक्ते-नात्यन्तं विमुक्तः सुखी भवतीति केचित् मन्यन्ते। तेषां प्रमाणाभावाद् अनुपपत्तिः—न प्रत्यक्षं नानुमानं नागमो वा विद्यते, नित्यं सुखमात्मनो महत्त्ववत्, तत्तु मोक्षेऽभिव्यज्यते, इति

न्यायवात्तिकम्

तन्न, प्रमाणासभ्भवात्—मुक्तस्यात्मनो नित्यं सुखमिति न प्रमाणमस्ति । न, नास्ति, नियामकत्वादिति चेत्—अनेककारणनिष्पन्नसुखस्यात्मनि समवायो नियामकम् अन्तरेण । न युक्तः । तस्मादात्मनि नित्यं सुखमस्ति, येतेदं सुखं नियम्यमानमात्मानमाश्र्यते इति चेत्, न, सर्वोत्पत्तिमत्प्रसङ्गात्—सुखवदात्मनि दुःखमिष नित्यं कल्पियतव्यम्, इच्छा-दयश्च । अनैकान्तिकता वा ।

(शङ्का) आत्मा का सुख नित्य है, परममहत्त्व के समान, वह तो मोक्ष में, अभिन्यक्त होता है, उस (सुख) के अभिन्यक्त होने से मुक्त (आत्मा) अत्यन्त सुखी होता है; यह कोई (वेदान्ती ?) मानते हैं। उनके (मत में) प्रमाण न होने से युक्तता नहीं—न प्रत्यक्ष, न अनुमान अथवा न आगम (शब्द प्रमाण) है कि आत्मा के महत्त्व के समान नित्य सुख होता है और वह मोक्ष में अभिन्यक्त होता है।

मुक्त आत्मा को नित्य सुख होता है इस विषय में प्रमाण नहीं है। (शङ्का) यदि (कहो कि) (प्रमाण) नहीं है, ऐसा नहीं — अनेक कारणों से उत्पन्न होने वाले सुख का आत्मा में समवाय होना नियामक के विना युक्त नहीं है, इसलिये आत्मा में नित्य सुख है जिससे वह सुख नियत होकर आत्मा में (समवाय से) रहता है, यदि (ऐसा कहो) तो (ठीक) नहीं; (१) सब उत्पत्तिवालों के (नित्य होने का) प्रसङ्ग होने से — सुख के समान आत्मा में दु:ख को भी नित्य मानना होगा और इच्छा आदि को भी (२) अथवा (हेतु में) व्यभिचार होगा।

नित्यं सुखमात्ममः—यह वेदान्ती का मत हैं—विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' ऐसा कहा गया है इस वचन में ब्रह्म को आनन्दात्मक माना जाता है और ब्रह्म नित्य है अतः इसका आनन्द भी नित्य है। वह आनन्द ब्रह्म से पृथक् नहीं अपि तु ब्रह्म का ही रूप है यह आनन्द और ब्रह्म के सामानाधिकरण्य से स्पष्ट है अतः ब्रह्मस्वभाव ही सुख है। 'आत्मनः' में पण्ठी तो 'राहोः णिरः' के समान होती है। वेदान्ती के अतिरिक्त जैनदर्णन में भी मुक्ति में सुख माना गया है। पूर्वमीगांसा में भी मानमेयोदय जैसे उत्तरकालीन ग्रन्थों में मुक्ति में सुख बतलाया गया है।

प्रमाणाभावात्—मोक्ष में आत्मा के नित्यसुख की अभिन्यक्ति होती है, इसमें कोई प्रमाण नहीं है, इस विषय का वार्तिक में स्पष्टीकरण किया गया है।

न अनेकान्तिकता वा पूर्वपक्षी की ओर से अनुमान प्रमाण दिखलाकर उसका निराकरण किया गया है:—(१) ऐसा मानने में अतिप्रसङ्ग होगा, दुःख आदि को भी नित्य मानना होगा, (२) यदि दुःख आदि को नित्य न माना जाये तो हेतु अनैकान्तिक (सन्यभिचार) होगा।
१. अनन्तरेण, क, अन्तरेण, ख.

2.2.23

न्यायभाष्यम्

नित्यस्याभिव्यवितः संवेदनम्, तस्य हेतुवचनम्—नित्यस्य सृष्यस्याभिव्यवितः संवेदनम्, ज्ञानमिति, तस्य हेतुर्वाच्यो यतस्तद् उत्पद्यत इति ।
सुख्वित्रित्यमिति चेतः संसारस्थस्य मुक्तेनाविशेषः—यथा मुक्तः सुखेन
तत्संवेदनेन च सिन्नत्येनोपपन्नस्तथा संसारस्थोःपीत्यविशेषः प्रसज्यते, उभयस्य नित्यत्वात् । अभ्यनुज्ञाने च धर्माधमंफलेन साहचर्यं यौगपद्यं गृह्यते—
यदिदम् उत्पत्तिस्थानेषु धर्माधमंफलं सुखं दुःखं च संवेद्यते पर्यायेण, तस्य च
नित्यसंवेदनस्य च सहभावो यौगपद्यं गृह्यत, न सुखाभावो नानभिव्यक्तिरित्त, उभयस्य नित्यत्वात् ।

अनित्यत्वे हेतुवचनम् अथ मोक्षे नित्यस्य मुखस्य संवेदनमनित्यम्?

न्यायवात्तिकम्

अभिव्यक्त्यर्थानभिधानाच्च । नित्यं सुखमभिव्यज्यते इति कोःभिव्यक्त्यर्थः ? ज्ञानमिति चेत्, नित्यमनित्यं वेति कल्पानुपपत्तिः ।

नित्य की अभिन्यानित का अर्थ है उसका अनुभव होना (संवेदनम्)—नित्य सुख की अभिन्यानित अर्थात् अनुभव होना या ज्ञान होना, उसका हेतु कहना होगा जिससे वह उत्पन्न होता है। यह वह (हेतु) सुख के समान नित्य है तो संसारी जन का मुक्त से भेद न रहेगा—जैसे मुक्त हुआ (पुरुष) सुख से तथा उसके नित्य ज्ञान से युक्त है, उसी प्रकार संसारी भी; अतः (दोनों में) समानता प्राप्त होती है, दोनों (सुख तथा उसके ज्ञान) के नित्य होने से। और, ऐसा मान लेने पर (नित्यसंवेदन का) धर्म तथा अध्म के फल के साथ रहने, एक साथ होने का ग्रहण हुआ करेगा—जो यह उत्पत्ति के स्थलों मे धर्म और अध्म का फल सुख और दुःख पृथक्-पृथक् (पर्यायण) अनुभव किया जाता है उसका और नित्य सुख के अनुभव का साथ रहने, एक साथ होने का ग्रहण हुआ करेगा; क्योंकि न सुख का अभाव होगा, न उसकी अभिन्यमित का अभाव होगा, दोनों ही नित्य हैं।

(नित्य सुख के ज्ञान के) अनित्य होने पर (उसकी उत्पत्ति का) हेतु कहना किञ्च, अभिव्यक्ति का अर्थ न कहने से भी—नित्य सुख अभिव्यक्त होता है, यहाँ अभिव्यक्ति का क्या अर्थ है ? यदि (अभिव्यक्ति का अर्थ है) ज्ञान तो वह (ज्ञान) नित्य है अथवा अनित्य, यह विकल्प नहीं वन सकेगा।

अभिव्यक्ति: —प्रकट होना, अनुभव होना, यदि अभिव्यक्ति का अर्थ अनुभव होना या जान होना है तो यह प्रश्न है कि वह ज्ञान नित्य है या अनित्य । उस ज्ञान को नित्य मानने में जो दोष आता है वह 'सुखवित्यता...उभयस्य नित्यत्वात्' भाष्य में दिखलाया गया है । भाव यह है कि यदि मुक्त को नित्य सुख का नित्य अनुभव होता है तो संसारावस्या में नित्य सुख का नित्य अनुभव हुआ करेगा फिर ससारस्थ और मुक्त में भेद न रहेगा और ससारस्थ व्यक्ति में धर्म-अधर्म के फल् मुख और दुःख के साथ नित्यसुख और उसका अनुभव हुआ करेगा जो होता नहीं ।

? = 3 }

[प्रमेयम

न्यायभाष्यम्

यतस्तदुत्पद्यते स हेतुर्वाच्यः । आत्ममनः संयोगस्य निमित्तान्तरसहितस्य हेतुत्वम्, तस्य सहकारिनिमित्तान्तरवचनम् —आत्ममनः संयोगो हेतुरिति चेत्,
एवमपि तस्य सहकारि निमित्तान्तरं वचनीयमिति । धर्मस्य कारणवचनम् —
यदि धर्मो निमित्तान्तरं, तस्य हेतुर्वाच्यो यत उत्पद्यत इति योगसमाधिजस्य
कार्यावसायविरोधात् प्रक्षये संवेदनिवृत्ति. —यदि योगसमाधिजो धर्मो
हेतुः, तस्य कार्यावसायविरोधात् प्रक्षये संवेदनम् अत्यन्तं निवर्तेत । असंवेदने
चाविद्यमानेनाविशेषः —यदि धर्मक्षयात् संवेदनोपरमो नित्यं सुखं न संवेदत
इति कि विद्यमानं न संवेद्यते, अथाविद्यमानमिति नानुमानं विशिष्टे स्तीति।
अप्रक्षयश्च धर्मस्य निरनुमानम्, उत्पत्तिधर्मकस्यानित्यत्वात् —योगसमाधिजो
धर्मो न क्षीयत इति नास्त्यनुमानम्, उत्पत्तिधर्मकमनित्यमिति विपर्ययस्य
त्वनुमानम् । यस्य तु संवेदनोपरमो नास्ति तेन संवेदनहेर्नुनित्य इत्यनु-

होगा-यदि मोक्ष में नित्य सुख का ज्ञान अनित्य है तो जिससे वह (ज्ञान) उत्पन्न होता है, वह हेतु कहना होगा। अन्य निभित्त सहित आत्मा और मन का संयोग हेत् है तो उसका सहकारी जो अन्य निमित्त है वह कहना होगा-यदि आत्मा और मन का संयोग (उसके ज्ञान का) हेत् है तो ऐसा मानने पर भी (एवमपि) उस (आत्म-मनः संयोग) का जो अन्य निमित्त है, वह कहना होगा। धर्म का कारण बतलाना होगा-यदि अन्य निमित्त धर्म है तो उसका हेत् कहना होगा जिससे वह (धर्म) उत्पन्न होता है। योगसमाधि से उत्पन्न धर्म का कार्य की पूर्णता (अवसाय) के साथ विरोध होने के कारण (उसका) नाश हो जाने पर अनुभव की निवृत्ति हो जायेशी—यदि योग समाधि से उत्पन्न धर्म को (संवेदन का) हेत्र माना जायेगा तो उस (धर्म) का कार्य की पूर्णता के साथ विरोध होने के कारण नाश हो जाने पर अनुभव की अत्यन्त निवृत्ति होगी। और, अनुभव न होने पर अविद्यमान से कोई भेद न होगा (अवि-शेषः)—यदि धर्म के नाश से उसके अनुभव की निवृत्ति (उपरमः) हो जाती है अर्थात् नित्य सुख का अनुभव नहीं होता तो इस भेद के विषय में (विशिष्टे) अनुमान न होगां कि विद्यमान (सुख) का अनुभव नहीं हो रहा अथवा अविद्यमान का। और, धर्म का नाश न होने का अनुमान नहीं किया जा सकता, उत्पत्तिधर्म वाले के अनित्य होने से-योगसमाधि से उत्पन्न धर्म नष्ट नहीं होता, यह अनुमान नहीं होता; किन्तु विनरीत का अनुमान होता है; क्योंकि उत्पन्न होने वाला अनित्य होता है। किन्सु जिसके (मत में) अनुभव की निवृत्ति नहीं होती उसे अनुभव का हेतु नित्य है, यह .स्वीकार करना होगा। और, ज्ञान के हेत् के नित्य होने पर मुक्त तथा संसारी में भेद

अनित्यत्वे हेतुवचनम् मोक्ष में सुख का संवेदन नित्य है या अनित्य ? इनमें से नित्य होने का 'नित्यस्याभित्यवित:...नित्यत्वात्' तक निराकरण किया गया है। 'अनित्य है' इस मेत का यहीं से निराकरण किया जा रहा है।

2.2.22]

न्यायभाष्यम्

ज्ञ यम् । नित्ये च मुक्तसंसारस्थयोरिवशेष इत्युक्तम्; यथा मुक्तस्य नित्यं सृखं तत्संवेदनहेतुश्च, संवेदनस्य तूपरमो नास्ति, कारणस्य नित्यत्वात् तथा संसारस्थस्यापीति । एवं च सित धर्माधर्मफलेन सुखदु.खसवेदनेन साहचर्यं गृह्येतेति ।

न्यायवात्तिकम्

अतित्यमिति चेन्, कारण वक्तव्यम् । आत्मननः संयोगः कारणमिति चेत्, तस्यापेक्षाकारणं वक्तव्यम् पदि मन्यसे आत्ममनः संयोगो ज्ञानस्य कारणमिति, तस्य तिह अवेक्षाकारण वक्तव्यम् । न हि (द्रव्य) गुणकर्मस्वार (सूपल) ब्धच्येषु स्योगो तिरवेक्षं कारणियिति । आत्ममनः सयोगः सुखापेक्षो ज्ञानकारणमिति चेत्; न, केवत्य-

न होगा, यह कहा जा चुका है; जिस प्रकार मुक्त का मुख और उसके अनुभव का हेतु नित्य है; कारण के नित्य होने से अनुभव की निवृत्ति नहीं होती, उसी प्रकार संसारी की भी (न होगी)। और, ऐसा होने पर धर्म तथा अधर्म का फल होने वाले मुख-दुःख के अनुभव के साथ (नित्य मुख का) ग्रहण हुआ करेगा।

यदि (ज्ञान) अनित्य है तो उसका कारण कहना होगा। यदि आत्मा और मन का संयोग कारण है तो उसका अपेक्षा (निमित्त) कारण कहना होगा—यदि मानते हो कि आत्मा तथा मन का संयोग ज्ञान का कारण है तो उस (आत्मा तथा मन के संयोग) का निमित्त कारण कहना होगा; क्योंकि (द्रव्य) गुण और कर्म की उपलब्धि में संयोग विना किसी निमित्त (निरपेक्षम्) कारण नहीं हाता। यदि आत्मा अपेर मन का संयोग सुख की अपेक्षा से ज्ञान का कारण है; तो (ठीक) नहीं, कैवल्य

धर्मस्य कारणवचनम् — आत्मा और मन का संयोग बर्म के सहकार से मुक्ति में नित्य मुख को

अभिव्यन्त करता है। अतः यह नित्यमुख का संवेदन अनित्य है।

कार्यावसायिवरोधात्—अवसाय का अर्थ है—ज्ञान, निश्वय, पूर्णता (Determination, Completion आप्टे) इत्यादि । योगज धर्म का अन्तिम कार्य होगा नित्य मुख । इसके ज्ञान या अनुभव से योगजधर्म का नाश हो जाता है, अतः नित्यमुखावसाय से उसका विरोध है । यहाँ 'अवसाय' शब्द से 'अन्तिम कार्य का अनुभव' यह अर्थ प्रतीत होता है; जैसा कि प्रशस्तपादभाष्य में कहा गया है कि धर्म 'अन्त्यमुखसंविज्ञानविरोधी' है । जब योगज धर्म नष्ट हो जाता है तो नित्यमुख का संवेदन के होगा यह अधिपाय है ।

न होगा, यह अभिप्राय है । ***विशिष्टेऽस्ति**—क्या विद्यमान निःयसुख का संवेदन न ही होता अथवा अविद्यमान का ? इन<mark>में से</mark>

किसी एक को मानने में अनुमान नहीं है।
अप्रक्षयश्च — नित्यसुख की अभिश्यक्ति को अनित्य मानने में दो विकल्प हो सकते हैं। इसकी
अप्रक्षयश्च — नित्यसुख की अभिश्यक्ति को अनित्य मानने में दो विकल्प हो सकते हैं। इसकी
अभिश्यक्ति का वह निमित्त (धोगज धर्म) नित्य है या अनित्य। वह नित्य मही हो सकता वह
'अप्रक्षयश्च ... त्वनुमानम् इस अवतरण में बतलाया गया है।

[प्रमयम

न्यायवात्तिकम्

विरोधात्—अथ मन्यसे आत्ममनः संयोगो नित्यमात्मिनि व्यवस्थितं सुखमपेक्षमाणो ज्ञानकारणं भवतीति; तन्न युक्तम्, कैवल्यविरोधात्—यथायमात्ममनः संयोगो विष्यमात्रमपेक्षमाणोऽन्यनिमित्तिनिरपेक्षः सुखज्ञानं करोति, एवं रूपादीनिपि विषयानपेक्षमाणः तद्विषयाणि ज्ञानानि कुर्यात् । ततश्च कैवल्यं निवर्तते, सर्वानर्थानयमात्मा उपलभते इति । नित्योपलिब्धप्रसङ्गाच्चेति—योगजधमन्त्रगृहीतो नित्ये सुखे ज्ञानं करिष्यतिति चेत्; तन्न युक्तम्, तत्क्षये तदभावात्—यदा योगजो धर्मः क्षीणो भवति, तदास्य किमनुग्राहकमिति वाच्यम् । योगजो धर्मा न क्षीयते इति चेत्; न युक्तम्, उत्पत्तिधर्मकस्य सर्वस्यानित्यत्वात्—सर्वमुत्पत्तिधर्मकमनित्यं दृष्टिमिति, नित्योऽसौ दोगसमाधिजो धर्म इति न युक्तम्, योगसमाधिजश्च नित्यश्चेति व्याहतम् ।

नित्यं ज्ञानमिति चेत्, न, सुखवत् प्रमाणाभावात् युक्तसंसारस्थयोरिवशेष-

का विरोध होने से—यदि मानते हो कि आत्मा और मन का संयोग आत्मा में नित्य स्थित रहने वाले सुल की अपेक्षा से ज्ञान का कारण होता है। वह ठीक नहीं; कैवल्य का विरोध होने से—जिस प्रकार आत्मा और मन का संयोग कवल विषय की अपेक्षा करता हुआ अन्य किसी निमित्त की अपेक्षा किय विना सुल का ज्ञान कराता है, इसी प्रकार रूप आदि विषयों की अपेक्षा करता हुआ उनके विषय में ज्ञान किया करेगा। और, तब कैवल्य की निवृत्ति हो जाती है; वधोंकि यह आत्मा सभी विषयों (अर्थात्) की उपलब्धि करता है। (विषयों की) नित्य उपलब्धि होने लगेगी। योगज धर्म की सहकारिता से नित्य सुल का अनुभव करेगा, यह (भी) युक्त नहीं, उस (योगज धर्म) का नाश हो जाने पर उस (संवेदन) का अभाव हो जाने से—जब योगज धर्म नष्ट हो जाता है तब इसका क्या सहकारी होगा, यह कहना होगा। यदि योगज धर्म नष्ट नहीं होता; यह ठीक नहीं, सभी उत्पत्ति धर्म वालो क अनित्य होने से—सभी उत्पत्ति धर्म वाला अनित्य देखा गया ह, अतः यह यागसमाधि सं उत्पन्न होनेवाला धर्म नित्य है, यह युक्तियुक्त नहीं; क्योंकि योग-समाधि से उत्पन्न होता है और नित्य है, यह परस्परविषद्ध है।

यदि (नित्य सुख का) ज्ञान नित्य है तो (ठीक) नहीं, (१) सुख (की नित्यता) के समान (उसके ज्ञान की नित्यता में) प्रमाण न होने से तथा (२) मुक्त और संसारी

द्रव्यगुणकर्मस्वारब्धव्येषु—यहाँ 'द्रव्यगुणकर्मसूपलब्धव्येषु' यह पाठ समीचीन प्रतीत होता है। नित्यात्मनि व्यवस्थितम्—जो नित्य सुख आत्मा में सदा रहता हु उसकी अयेक्षा करता हुआ आत्मा और मन का संयोग नित्यसुख के संवेदन का हेतु होता है।

कैवल्यविरोधात् — नित्यसुख स बेदन का विषय है। यदि केवल विषय की अपेक्षा से स बेदन हो जाया करे तो मुक्ति में रूप आदि का स बेदन भी हो जायेगा जिससे मुक्ति या कैवल्य का विरोध है। योगजधर्म • पूर्वपक्षी की शङ्का है कि स सारावस्था में सुखानुभय के लिये धर्म की अपेक्षा होती है, मुक्ति के नित्यसुख के सबेदन के लिये योग से उत्पन्न धर्म की अपेक्षा होती है। 'न...व्याहतम्' यहाँ सिद्धान्ती ने इसका समाधान किया है।

१.१.२२]

न्यायभाष्यम्

शरीरादिसम्बन्धः प्रतिबन्धहेतुरिति चेत्; न, शरीरादीनामुपभोगा-र्थत्वात्, विपर्ययस्य चाननुमानात्—स्यान्मतम्, संसारावस्थस्य शरीरादि-सम्बन्धो नित्यसुखसंवेदनहेतोः प्रतिबन्धकः, तेनाविशेषो नास्तीति । एतच्चा-युक्तम्, शरीरादय उपभोगार्थास्ते भोगप्रतिबन्धं करिष्यन्तीत्यनुपपन्नम्; न चास्त्यनुमानमशरोरस्यात्मनो भोगः कश्चिदस्तीति

न्यायवात्तिकम्

प्रसङ्गाच्च । सुखदुः खसंवेदनपर्यायश्च न स्यात्; नित्यमयं सुखमुपलभते । ततश्च मोक्षार्यः प्रयासो व्यर्थः स्यात् । न चायं सुखं जिहासित, विवेकहानस्याशक्यत्वात्, दुःखं हातुकामः सुखमिप जहाति । न चायं कदाचिद् दुःखमुपलभते इति कस्य हानार्थः प्रवर्तेत ?

(शङ्का-समाधान) यदि शरीर आदि का सम्बन्ध वाधक हेतु है, तो (ठीक) नहीं, शरीर आदि के उपभोग के लिये होने से और विपरीत का अनुमान न होने से—(शङ्का की व्याख्या) यदि यह मत हो कि संसारी का शरीर आदि से सम्बन्ध नित्य सुख के (संवेदन) हेतु का प्रतिबन्धक (वाधक) है, अतः मुक्त और संसारी में समानता नहीं है। (समाधान की व्याख्या) तो यह अयुक्त है; शरीर आदि (तो) उपभोग के लिये हैं वे भोग का बाध करेंगे, यह युक्तियुक्त नहीं, और यह अनुमान नहीं होता कि शरीररहित आत्मा का कोई भोग होता है।

के समान हो जाने (अविशेष) का प्रसङ्ग होने से, और (iii) सुख-दुःख का पृथक्-पृथक् (पर्यायः) अनुभव न होगा; क्योंकि यह (व्यक्ति) नित्य ही सुख प्राप्त करता रहेगा और फिर मोक्ष के लिये प्रयास करना व्यर्थ हो जायेगा; क्योंकि (च) यह सुख को छोड़ने की इच्छा नहीं करता; किन्तु विवेकपूर्वक (अर्थात् सुख और दुःख को पृथक्-पृथक् करके) छोड़ा नहीं जा सकता; दुःख को छोड़ने की इच्छा वाला सुख को भी छोड़ देता है और यह कभी भी दुःख को नहीं पाता अतः किसके नाश के लिये प्रवृत्त होगा?

नित्यं ज्ञानिमिति चेत् — भाष्य में 'नित्य सुख का नित्य संवेदन होता है' इस विकल्प का पहले निराकरण किया गया है किन्तु वात्तिक में 'नित्य मुख का संवेदन अनित्य हैं' पहले इसका निराकरण किया गया है और अब यहाँ 'नित्य मुख का ज्ञान नित्य हैं।' इसका निराकरण किया जा रहा है। नित्य मुख का ज्ञान नित्य होने के दो प्रकार हैं एक तो संवेदन ही नित्य हो, दूसरे उसका कारण जो बोगज धर्म है वह नित्य हो। वात्तिककार ने दोनों प्रकारों का दोष दिखला दिया है। योगज धर्म की नित्यता का खण्डन करने के लिये भाष्यकार को अतिदेश वाक्य 'अविशेषः इत्युक्तम्' का प्रयोग करना पड़ा है, वात्तिककार उससे बच गये हैं।

न — यहाँ नित्यमुख के नित्य संबोदन में तीन दोष दिखलाये गये हैं, 'इति...प्रवर्तेत' यह तीसरे का ही फल है।

[प्रमेयम्

न्यायभाष्यम्

इष्टाधिगमार्था प्रवृत्तिरिति चेत्ः न, अनिष्टोपरमार्थत्वात् । इदम् अनुमानम्, इष्टाधिगमार्थो मोक्षोपदेशः प्रवृत्तिश्च मुमुक्षणाम्, नोभयमनर्थ-किमिति । एतच्चायुक्तम्, अनिष्टोपरमार्थो मोक्षोपदेशः, प्रवृत्तिश्च मुमु-क्ष्णामिति नेष्टमनिष्टेनाननुबद्धं सम्भवतीति अनिष्टानुबन्धाद इष्टमप्य-निष्टं सम्पद्यते, अनिष्टहानाय च घटमान इष्टमपि जहाति, विवेकहानस्यान्यायवात्तिकम्

शरीरादिप्रतिबन्धादप्रसङ्ग इति चेत्—िनत्यं सुखमुपलभत इति नास्ति प्रसङ्गः, यस्माच्छरीरादयो नित्यस्य सुखस्योपलब्धेश्च प्रतिबन्धका भवन्तीति । न, शरीरादी-नामुपभोगार्थत्वात् नित्यशरीरादिप्रसङ्गाच्च—यथा मुक्तस्य नित्यं सुखं कत्प्यते, एवं शरीराद्योऽपि नित्याः कल्पयितव्याः । एवमस्य कैवल्यं साधीयो भवति । शरीरादीनां नित्यत्वं दृष्टिविष्ठद्वमशक्यं कल्पयितुम् इति चेत्; न, सुखस्यापि तर्ह्यस्मादेव दृष्टिविरोधात् नित्यत्वमशक्यं कल्पयितुनिति ।

(शङ्का-समाधान) यदि (कहो कि) इष्ट की प्राप्ति के लिये (व्यक्ति की) प्रवृत्ति हुआ करती है, तो (ठीक) नहीं; अनिष्ट की निवृत्ति के लिये (भी) होने से। (शङ्का की व्याख्या) [मुक्त में सुख होने का] यह अनुमान है कि इष्ट की प्राप्त के लिये मोक्ष का उपदेश किया गया है और मोक्ष के इच्छुकों की प्रवृत्ति भी, ये दोनों निर्थक नहीं हैं। (समाधान की व्याख्या) और, यह अयुक्त है; क्योंकि अनिष्ट की निवृत्ति के लिये मोक्ष का उपदेश है, और मुमुक्ष जनों की प्रवृत्ति भी। अनिष्ट से युक्त हुए विना इष्ट नहीं हो सकता अतः अनिष्ट से युक्त होने के कारण इष्ट

(आक्षेप) यदि शरीर आदि के द्वारा प्रतिवन्य (वाधा) हो जाने से (नित्यनुख-भोग का) प्रसङ्ग नहीं है—(संसारी भी) नित्यमुख की उपलब्धि करेगा यह प्रसङ्ग नहीं है; क्योंकि शरीर आदि नित्यमुख और उसकी उपलब्धि के प्रतिवन्धक हो जाते हैं। [परिहार] यह (ठीक) नहीं, शरीर आदि के उपभोग के लिये होने से तथा नित्य शरीर आदि का प्रसङ्ग होने से—जिस प्रकार मुक्त के नित्य मुख की कल्पना की जाती है उसी प्रकार नित्य शरीर आदि की कल्पना कर ली जायेगी। इस प्रकार इसकी अधिक सुन्दर मुक्ति हो जायेगी। (शङ्का) यदि शरीर आदि की नित्यता प्रत्यक्ष के विरुद्ध है, उसकी कल्पना नहीं की जा सकती। [सुमाधान] तो इसी प्रत्यक्ष के विरुद्ध है, उसकी कल्पना नहीं की जा सकती।

शरीरादिश्रतिबन्धादप्रसङ्ग इति चेत्—भाष्य में 'शरीरदिसम्बन्धः प्रतिबन्धहेतुरिति चेत्' ऐसा कहा गया है। वहाँ तो 'संवेदनहेतु जो योगज धर्म है उसके नित्य होने पर भी संसारी को नित्यस् का अनुभव नहीं होता; पूर्वपक्षी की ओर से केवल यह बतलाया गया है; किन्तु वात्तिक में नित्यस् का नित्य अनुभव होना' तथा 'नित्यस् के संवेदनहेतु योगज धर्म का नित्य होना', इन दोनों को लक्ष्य किया गया है।

११.२२]

न्यायभाष्यम्

शक्यत्वादिति । दृष्टातिक्रमश्च वेहादिषु तुल्यः —यथा दृष्टमित्यं सुखं परित्यज्य नित्यं सुखं कामयते, एवं देहेन्द्रियबुद्धोरनित्या दृष्टा अतिक्रम्य मुक्तस्य नित्या देहेन्द्रियबुद्धयः कल्पियतव्याः, साधीयश्चेवं मुक्तस्य चेकात्म्यं
कल्पितं भवतीति । उपपत्तिविरुद्धमिति चेत्, समानम् —देहादीनां नित्यत्वं
प्रमाणविरुद्धं कल्पियतुमशक्यमिति । सामानम्, सुखस्यापि तर्हि नित्यत्वं
प्रमाणविरुद्धं कल्पियतुमशक्यमिति ।

न्यायवात्तिकम्

प्रमाणाभावादित्युक्तम्, तच्च नास्ति । कस्मात् ? इष्टाधिगमाथंत्वात्—इहायं लोकः प्रवत्तंमान दृष्टाधिगमार्थं प्रवर्तते, प्रवर्तन्ते च मोक्षमाणाः, तेषामिष्टाधिगमार्थया प्रवृत्त्या भवितव्यम् । सेयं प्रवृत्तिनित्यसुखेऽर्थवती, नान्यथेति । न, प्रवृत्तिद्वैतदर्शनात्—

भी अनिष्ट हो जाता है। और, अनिष्ट के नाश के लिये चेष्टा करता हुआ (व्यक्ति) इष्ट को भी छुड़ देता है; क्योंकि विवेक पूर्वक पृथक् करके नाश नहीं किया जा सकता। और, इष्ट (प्रत्यक्ष) का अतिक्रमण शरीर आदि में (भी) समान है—जिस प्रकार इष्ट अनित्य सुख को छोड़कर नित्य सुख की कामना करता है इसी प्रकार शरीर, इन्द्रिय और ज्ञान (बुद्धि) अनित्य देखे गये हैं इनका अतिक्रमण करके मुक्त के नित्य शरीर, इन्द्रिय और ज्ञान की कल्पना करनी होगी तथा इस प्रकार मुक्त के एक सुन्दर (साधीयः) व्यक्तित्व (एकात्म्यम्) की कल्पना कर ली जायेगी। यदि यह युक्तिविरुद्ध है तो समान (ही) है—शरीर आदि की नित्यता प्रमाण के विरुद्ध है उसकी कल्पना नहीं की जा सकती (यदि ऐसा कहों) तो यह भी समान (हीं) है, सुख की नित्यता भी प्रमाणविरुद्ध है उसकी कल्पना नहीं की जा सकती।

(आक्षेप) प्रमाण का अभाव होने से यह (सिद्धान्ती ने) कहा है। और, वह (प्रमाणाभाय) नहीं है। कैसे ? इस्ट अर्थ की प्राप्ति के लिये प्रवृत्ति होने से—यहाँ प्रवृत्त होने वाला व्यक्ति (लोकः) इस्ट की प्राप्ति के लिये प्रवृत्त होता है और मोक्ष की इच्छा वाले भी प्रवृत्त होते हैं, उनकी प्रवृत्ति भी इस्ट की प्राप्ति के लिय होनी चाहिये। वह यह प्रवृत्ति (मुक्ति में) नित्य सुख होने पर (ही) सफल (अथंवती) होती है, अन्यथा नहीं। [परिहार] नहीं; दो प्रकार की प्रवृत्ति देखी जानी से—

इष्टाधिगमार्था (भा०) इत्यादि द्वारा 'मुक्ति में नित्य सुख होता है' इस जिबय में अनुमान दिखलाया गया है । 'एतच्चायुक्तम्' इत्यादि में उसका निराकरण किया गया है ।

देखलाया नया है। 'एतच्चायुक्तम् इत्याद न उक्कम निर्मात निर्माण के प्रतिबन्धक नहीं हैं हिटातिक्रम इच (भा०) भोग के अनुकृत होने से ही शरीर आदि सुख-भोग के प्रतिबन्धक नहीं हैं अपि तु मुक्त्यवस्था में भी नित्य शरीर आदि की कल्पना करनी होनी (टी० ४५२)। यदि कही कि इसमें प्रत्यक्ष का विरोध है तो सुख की नित्यता की कल्पना में भी प्रत्यक्ष का विरोध है ही, सुख नित्य नहीं देखा गया।

प्रमाणाभाबात्—सिद्धान्ती की ओर से कहा गया है 'मुक्तस्यात्मनी नित्यं सुखमस्ति न प्रमाणमस्ति'

508

[प्रमयम

न्यायभाष्यम्

आत्यन्तिके च संसारदुःखाभावे सुखवचनादागमेऽपि सत्यविरोधः— यद्यपि कश्चिदागमः स्यात् मुक्तस्यात्यन्तिकं सुखिसित, सुखशब्द आत्य-न्तिके दुःखाभावे प्रयुक्त इत्येवमुपपद्यते, दृष्टो हि दुःखाभावे सुखशब्द-प्रयोगो बहुलं लोक इति ।

न्यायवात्तिकम्

द्धे प्रवृत्ति लोके रब्दे, इब्टाधिगमार्था अनिष्टादिहानार्था च । तत्रे दं पारिवाज्यं किमिब्टाधिगमार्थमाहोऽनिब्टहानार्थमिति सन्दिह्यते ।

आगमादिति चेत्—आगनादेतद् गम्यते मुक्तस्यात्मनो नित्यं सुखमिति, मुक्तः सुखी भवतीति श्रूयते । आगमोऽप्येवं विचारणीयः । किमयं नित्येन सुखेन योगमाह, उत दुःखेनात्यन्तिकं वियोगमाहेति । दृष्टश्च दुःखाभावेऽपि सुखशब्दश्योगो बहुधा लोक इति । एवं च ज्वरादिवियोगे लौकिका अप्याचक्षाणका भवन्ति 'सुखिनः संवृत्ताः स्म' इति ।

और, संसार-दुःख के आत्यन्तिक अभाव में सुख शब्द का प्रयोग होने से (बचनात्) ऐसा आगम (शब्द प्रमाण) होने पर भी कोई विरोध नहीं—पदि कोई आगम भी है कि मुक्त को आत्यन्तिक सुख होता है तो (वहाँ) मुख शब्द का दुःख के आत्यन्तिक अभाव (अर्थ) में प्रयोग हुआ है, इस प्रकार वह बन सकता है (उपपद्यते); क्योंकि (हि) लोक में दुःख के अभाव (अर्थ) में 'सुख' शब्द का प्रयोग प्रायः देखा गया है।

लोक में दो प्रवृत्तियां देखी गई हैं, इष्ट की प्राप्ति के लिये और अनिष्ट आदि के त्याग के लिये । उनमें यह परिव्रज्या (परिव्राजक होना) क्या इष्ट की प्राप्ति के लिये हैं अथवा अनिष्ट के नाश के लिये, यह सन्देह होता है।

(प्रश्न) यदि (कहों) आगम से—आगम से यह जाना जाता है कि मुक्त आत्मा को नित्य सुख होता है; मुक्त (आत्मा) सुखी हो जाता है, ऐसी श्रुति हैं। (उत्तर) (ऐसे) आगम का भी इस प्रकार विचार करना होगाः—क्या यह (आगम मुक्त आत्मा कां) नित्य सुख से सम्बन्ध (योग) बतलाता है अथवा दुःख से अत्यन्त वियोग बतलाता है। और, लोक में दुःख के अभाव (अर्थ) में भी सुख शब्द का बहुत प्रयोग देखा गया है, ज्वर आदि के चले जाने पर लोकजन भी ऐसा कहा करते हैं कि हम सुखी हो गये।

उसी सन्दर्भ में यहाँ प्रमाण दिया गया है। पूर्वपक्षी का भाव यह है: शास्त्र के द्वारा लोक की मुक्ति के साधन में प्रवृत्ति कराई जाती है और मोक्ष को इष्ट मानने वाला उसमें प्रवृत्त होता है। सुख ही सबको इष्ट है, अतः मोक्ष सुखात्मक है, यह सिद्ध होता है।

न, प्रवृत्तिद्वेतदर्शनात्—यह सिद्धान्ती ने कहा है। आशय है, केवल इष्ट की प्राप्ति के लिये ही प्रवृत्ति नहीं होती अपि तु अनिष्ट के नाश के लिये भी प्रवृत्ति होती है। अतः आपका हेतु अर्ने-कान्तिक है। मोक्ष में दुःख की अत्यन्त निवृत्ति हो जाती है यही मोक्षार्थी की प्रवृत्ति का हेतु है। 2.2.27

[20%

न्यायभाष्यम्

नित्यसुखरागस्याप्रहाणे मोक्षाधिगमाभावो रागस्य बन्धनसमाज्ञान्नात्—यद्ययं मोक्षे नित्यं सुखमभिव्यज्यत इति नित्यसुखरागेण मोक्षाय घटमानो न मोक्षमधिगच्छेत्, नाधिगन्तुमईतीति, बन्धनसमाज्ञातो हि रागः। न च बन्धने सत्यपि कश्चिन्मु इत इत्युपपद्यत इति। प्रहोणनित्यसुखराग-स्याप्रतिकूलत्वम् —अथास्य नित्यसुखरागः प्रहोयते, तस्मिन् प्रहोणे नास्य नित्यसुखरागः प्रतिकूलो भवति। यद्येवम्, मुक्तस्य नित्यं सुखं भवति, अथापि न भवति, नास्योभयोः पक्षयोमोक्षाधिगमो विकल्प्यत इति। ११।१२२।।

किञ्च, नित्य सुल के राग का नाश न होने पर मोक्ष की प्राप्ति न होगी, राग को बन्धन (का कारण) माना जाने से—यदि यह (सायक) मोक्ष में नित्य सुख की अभिन्यक्ति होती है, इस प्रकार नित्यसुख के राग से मोक्ष के लिये चेप्टा करता है तो मोक्ष को प्राप्त न करेगा; प्राप्त कर ही नहीं सकता; क्यों कि राग को बन्धन (का कारण) माना गया है। और, बन्धन होने पर भी कोई मुक्त है, यह नहीं बनता। (शङ्का) जिसका नित्यसुख का राग नष्ट हो गया है उसके तो प्रतिकूल न होगा—यदि (कहो कि) इसका नित्यसुख का राग नष्ट हो जाता है, उसके नष्ट हो जाने पर इसका नित्यसुख का राग प्रतिकूल नहीं होता। यदि ऐसा है तो मुक्त को नित्यसुख होता है, अथवा नहीं होता, इसके दोनों पक्षों में मोक्ष की प्राप्ति में विकल्प नहीं होता। १।१।२२।।

आगमेऽपि सिति—भाष्य में ऊपर कहा गया है 'न प्रत्यक्ष नानुमानं नागमो वा विद्यते'। मुक्ति में नित्य सुख का प्रत्यक्ष नहीं, यह सर्वसम्मत है, अनुमान का अनेक विकल्पों द्वारा निराकरण किया गया है। यहाँ शब्द प्रमाण (आगम) का अभाव दिखलाया जा रहा है। यदि कोई आगमवचन ऐसा है भी तो वहाँ 'सुख' शब्द का अर्थ दुःखाभाव है।

मुक्त सुखी भवतीति श्रूयते — पूर्वपक्षी की दृष्टि में यह आगमवचन मृषित में सुख होता है, यह बतलाता है। इस वचन का स्रोत अन्वेषणीय है।

हु:खाभावे सुखशब्दप्रयोग:—भाष्य तथा वात्तिक के अनुसार लोक में हुःख के अभाव के लिये भी 'सुख' शब्द का प्रयोग होता है; जैसे कोई ज्वर से पीड़ित है, ज्वर-पीडा से मुक्त होने पर वह कह देता है 'अब हम सुखी हो गये'। इसी प्रकार 'मुक्तः सुखी भवति' आदि आगम में मुक्त के दुःखाभाव को कहा गया है। इस ववन से मुक्ति में सुख होता है, यह नहीं सिद्ध होता।

यद्येवम् (भा०) यदि कोई सुख में भी वैराग्यभाव रखता हुआ मोक्ष के लिये प्रवृत्त होता है तो , मोक्ष में नित्य सुख होता है या नहीं, इन दोनों ही पक्षों में (उभयो पक्षयोः) मोक्ष की प्राप्ति में सन्देह नहीं (न विकल्प्यते = न सन्दिग्धोभयित, टी० ४६०)।

यद्यपि द्वेषात् प्रवर्तते— आक्षेप का आजय है— राग के समान द्वेप भी मोक्ष के प्रतिकृत है; क्योंकि वह भी बन्धन का कारण है। २०६

[प्रमेयम

न्यायवात्तिकम्

यदि पुनरयं सञ्चक्षाणको मोक्षे नित्यं सुखमिति सुखरागेण प्रवर्तते, न मुच्येत । कस्मात् ? रागस्य बन्धनसमाज्ञानात्—बन्धनसमाज्ञातो हि राग इति । यद्यपि द्वेषात् प्रवर्तते दुःखं हास्यामीति, तथापि न मुच्येत, द्वेषस्य बन्धनसमाज्ञानादिति । रागद्वेषो हि बन्धनमिति । न, अप्रतिकूलत्वात्—अप्रतिकूलं दुःखहानं भवति । न पुनरयं दुःखं द्वेष्टि । अद्विषंद्वायं प्रवर्तमानोऽप्रतिकूलं दुःखहानमधिगच्छतीति ।

'वित्तं विमुच्यते' इति अन्ये, रागादीनां तत्र सामर्थ्यात् —यस्माद् रागादिवशं वित्तमालम्बनानन्तरगत्यन्तरेषूत्पद्यते, न पुनरात्मिन रागादीनां सामर्थ्यमस्ति । न, अयत्नतस्तित्सिद्धः —ये चित्तस्यानुत्पादनं निरोधं चापवर्गमिच्छन्ति, तेषामयत्निसिद्धो मोक्षः । कि कारणम् ? जन्मनो विनाशार्थत्वात् —जातं विनश्यतीत्ययत्नेन सिद्ध-मेतन् । सन्तते रनुत्पादोऽपवर्गं इति चेत्; न, तस्याशक्यत्वात् —सन्तते रनुत्पादो न

किन्तु (पुनः) यदि यह (साधक, संख्यानप्रवृत्तो योगी, टी॰ ४५६) मोक्ष में नित्यसुख है, इस सुख के राग से प्रवृत्त होता है तो मुक्त न होगा। क्यों? राग को बन्धन (का कारण) मानने से—राग को बन्धन माना गया है। (आक्षेप) यदि द्वेष से भी प्रवृत्त होता है कि दुःख को छोड़ूँगा तो भी मुक्त न होगा; क्योंकि द्वेष को (भी) बन्धन माना गया है। वस्तुतः राग और द्वेष चन्धन है। [प्रिरहार] नहीं, प्रतिकूल न होने से—दुःख का नाश (मोक्ष प्राप्ति के) प्रतिकूल नहीं होता, क्योंकि (पुनः) यह (साधक) दुःख के प्रतिकूल नहीं करता। और, द्वेष न करके प्रवृत्त होता हुआ यह (मोक्ष प्राप्ति के) प्रतिकूल नहोंने वाले दुःखनाश को प्राप्त होता है।

[वात्तिककार के समयानुकूल विचार] दूसरे (बौद्ध, वैनाशिकाः, टी॰) कहते हैं कि विज्ञान (चित्तम्) मुक्त होता है, रंग आदि का उसमें सामर्थ्य होने से—क्योंकि राग आदि के वश में हुआ चित्त अन्य आश्रयों (विषयों = आलम्बन) में अन्य जातियों (गित) में उत्पन्न होता है; किन्तु आत्मा में राग आदि होने का सामर्थ्य नहीं है। [बौद्धमत-दूषण] नहीं, विना गत्न के (ही) उस (मोक्ष) की सिद्धि हो जाने से— जो (बौद्ध) (अग्रिम) चित्त की उत्पत्ति न होना तथा (विद्यमान) का नाश हो जाना (ही) अपवर्ग मानते हैं उनके मत में मोक्ष विना यत्न के ही सिद्ध है। क्या कारण है? (उनके मत में) जन्म ही विनाश के लिये होता है, उत्पन्न होकर नष्ट हो जाता है, इससे विना यत्न के (ही) यह सिद्ध हो जाता है। (शङ्का) यदि (कही

न, अप्रतिकूलत्वात् — यह परिहार है। इस पर तात्पर्य टीका है — जिस प्रकार नित्यसुख मानना मोक्ष में बाधक है, क्योंकि आसिक्त होने के कारण वह मोक्ष के प्रतिकूल होता है, इस प्रकार आत्य- न्तिक दुःख का नाश नहीं, द्वेष भी क्रोध आदि के समान ज्वलन रूप है किन्तु वैराग्य ऐसा नहीं है, वह तो उदासीनता का भाव है; अतः दुःख का नाश मोक्ष के प्रतिकूल नहीं (मि॰ टी॰ ४५६, ४६०)। चित्तं विमुच्यते — जन्ममरण (संसार) के हेतु जो रागादि हैं वे चित्त में ही होते हैं, नित्य आत्मा में नहीं। चित्त रागादि के कारण देव, मनुष्य आदि जाति (गिति) में उत्पन्न होता है, रागादि के छूटने से मुक्त हो जाता है:

2.2.22

1 2019

न्यायस्त्रं भाष्यं च

स्थानवत एताहि संशयस्य लक्षणं वाच्यमिति तदुच्यते, समानानेकधर्मौपपत्ते विप्रतिपत्ते रूपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थातस्य विशे-षापेक्षो विमर्शः संशयः ।१।१।२३॥

न्यायवात्तिकम्

शक्यः कर्तुं म्, कार्यकारणभावप्रवाहस्य सन्तितभावात् । 'अनागतानुत्पादः क्रियते, इति चेत्; अनागतानुत्पादस्य विद्यमानत्वात् किं क्रियते ? इति सर्वथा न चितस्या-पवर्गः सिध्यतीति ।

कस्य तह्य पवर्गः ? योऽपवृज्यते । कोऽपवृज्यते ? आत्मा । अथ कापवृक्तिः ? दुःखादिभिवियोग इति । १।१।२२।।

अब क्रम-प्राप्त (स्थानवतः) संशय का लक्षण कहना है अतः वह <mark>कहा</mark> जाता है।

समान तथा अनेक धर्मों की उपलब्धि [उपपित्त] होने से, विपरीत धर्मों के ज्ञान से उपलब्धि तथा अनुपलब्धि की व्यवस्था न होने के कारण विशेष की आकाङ्क्षा करने वाला 'क्या है' इस प्रकार का विवार संशय (विमर्श्त) है। ११११२३ कि) चित्तसन्ति की उत्पत्ति न होना अपवर्ग है। (समाधान) तो (युक्त) नहीं, उसके न किये जा सकने (अशक्य) से—सन्तित की अनुत्पत्ति की (ही) नहीं जा सकती; क्योंकि कार्यकारणभाव की घारा ही सन्तित होती है। (शङ्गा) यदि (कहों कि) अनागत (सन्तित) की अनुत्पत्ति की जाती है। (समाधान) अनागत (सन्तित) की अनुत्पत्ति की जाती है। (समाधान) अनागत (सन्तित) की अनुत्पत्ति तो विद्यमान (ही) है, उसका क्या किया जाता है? अतः किसी प्रकार (भी) चित्त का अपवर्ग सिद्ध नहीं होता।

तब किस का अपवर्ग होता है ? जो मुक्त होता है (अपवृज्यते) । कौन मुक्त होता है ? आत्मा । तब मुक्ति (अपवृक्तिः) क्या है ? दुःख आदि से छूट जाना (वियोग) । १।१।२२॥

अयरनतस्तित्सिद्धेः ''एतत् — बौद्धमत में चित्त क्षणिक है वह उत्पन्न होकर नष्ट हो जाता है अतः उसका निर्वाण तो विना यस्त के ही सिद्ध है।

सन्तते:--क्षणिक विज्ञानों का कार्यकारणप्रवाह जो अनादि है वही सन्तित या सन्तान है उसमें

अनागत चित्त की अनुत्पित ही निर्वाण है। तस्प्राशक्यत्वात्—अनागत चित्तक्षण है ही नहीं, उमकी अनुत्पित विद्यमान ही है, प्रागभाव

तो अनादि है उसे किया नहीं जा सकता। **कस्य तर्ह्या पर्वगः**---आत्मा का अपवर्ग होता है, यह आगे दिखलाया जायेगा।

स्थानवतः — स्थान का अर्थ है कम (स्थान कमः, टी० ४७४), कम वाले का, प्रमेय के अनन्तर कहे गये का । वाक्तिककार ने स्थान शब्द की 'कम' द्वारा और 'मतुप्' का अर्थ प्राप्ति शब्द द्वारा दिखाया है। 205

संशय:

न्यायभाष्यम्

समानधर्मोपपत्ते विशेषापेक्षो विमर्शः संशय इति । स्थाणुपुरुषयोः समानं धर्ममारोहपरिणाहौ पश्यन् पूर्वदृष्टं च तयोविशेषं बुभुत्समानः किस्विदित्यन्यन्तरं नावधारयित,यत् तदनवधारणज्ञानं स संशयः। समानमन-न्यायवात्तिकम्

प्रमेयानन्तरं प्राप्तिः संशयस्य । स्थानवतो लक्षणवचनमिति, या प्रमेयानन्तरं क्रमप्राप्तिः साऽभिधीयते इति ।

समानानेकधर्मांपपत्ते रिति सूत्रम् । तत्र समानधर्मापपत्ते रनेकधर्मांपपत्ते विप्रति— पत्ते श्व त्रिविध एव संशय इतरपदिवशेषणाद् भवतीति सूत्रार्थः । तत्र विषयस्वरूपानव-धारणात्मकः प्रत्ययः संशयः; समानधर्मादिभ्य उत्पन्नो विषयस्य विशेषं नावधारयित यः प्रत्ययः स संशय इत्युच्यते । प्रत्ययोऽनवधारणात्मकश्वेति व्याहतम् —प्रत्ययस्यैतत् प्रत्यय-त्वं यदुत विषयस्वरूपावधाणात्मकत्वं नाम । न चेदयं विषयस्वरूपमवधारयित प्रत्ययत्वं ति व्याहतं भवति । न, स्वरूपप्रत्यायनात् —स्वरूपमस्य प्रतीयते, न पुनरयं विषयस्व— रूपमवधारयित, अतश्च संशयः । प्रतीयत इति हि प्रत्यय इत्युच्यते ।

समान धर्म के ज्ञान से विशेष की आकाङ्क्षा वाला विमर्श संशय है। स्थाणु और पुष्टष के समान धर्म ऊंचाई और विस्तार (परिणाह—चौडाई) को देखता हुआ और उन दोनों के पहले देखे गये विशेष को जानने की इच्छा वाला यह क्या है? इस प्रकार किसी एक का निश्चय नहीं करता, जो वह अनिश्चयात्मक ज्ञान है वह

प्रमेय से पश्चात् संशय आता है। क्रम (स्थान) वाले का लक्षण कहना है। (भाष्य के इस कथन से) जो प्रमेय के पश्चात् कम की प्राप्ति है वह कही जा रही है।

समानानेकधर्मोपपत्ते: इत्यादि सूत्र है। वहाँ समान धर्म के ज्ञान से, अनेक धर्मों के ज्ञान से तथा विपरीत (धर्मों के) ज्ञान से तीन प्रकार का ही संशय अन्य (सूत्रोक्त) पशें के विशेषण से होता है, यह सूत्र का अर्थ है। उसमें विषय के स्वरूप का अनिश्चयात्मक ज्ञान संशय है, समान धर्म आदि (के ज्ञान) से उत्पन्न होने वाला विषय के विशेष रूप को निश्चत न करने वाला जो ज्ञान है वह संशय कहलाता है। (आक्षेप) ज्ञान है और अनिश्चयात्मक है, यह परस्पर विरुद्ध (व्याहतम्) है वस्तुत: (नाम) ज्ञान का ज्ञानत्व (ज्ञानपना) है विषय के स्वरूप का निश्चायक होना। यदि यह विषय के स्वरूप का निश्चय नहीं करता तो उसका ज्ञान होना (प्रत्ययत्वम्) ही विरुद्ध हो जाता है। [परिहार] नहीं, स्वरूप का ज्ञान कराने से—इस (सामने स्थित विषय) के स्वरूप की प्रतीति होती है किन्तु यह (व्यक्ति) विषय के स्वरूप का निश्चय नहीं करता है, क्योंकि प्रतीत होता है अत: प्रत्यय कहा जाता है।

समान...संशय:— विमर्शः संशयः यह संशय का सामान्य लक्षण है। यहाँ संशय पद लक्ष्य है शेव लक्ष्य है। विमर्श का अर्थ है—एक वस्तु में अनेक विरोधी अर्थों का ज्ञान अथवा 'क्या' है (किस्वित्) इस प्रकार का ज्ञान। इस लक्षण के ढ़ारा असमान जातीय प्रमाण आदि से और समानजातीय विपर्यय आदि से संशय की व्यावृत्ति होती है।

१:१.२३]

न्यायभाष्यम्

योर्धममुपलभे विशेषमन्यतरस्य नोपलभ इत्येषा बुद्धिः अपेक्षा । सा संशयस्य प्रवितका वर्तते । तेन विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः ।

न्यायवात्तिकम्

समानशब्दः साधारणार्थः, समानस्य धर्मस्योपपत्तेरिति साधारणस्येति यावत् । कि पुनरत्र साधारणम् कि गुणः, आहो सामान्यमिति ? यदि गुणः स न साधारणः । कस्मात् ? एकद्रव्यवृत्तित्वात् पित्माणस्य—एकद्रव्यवृत्ति पिरमाणम्, तत्कथं साधारणं भविष्यतीति ? सामान्यमिप न युवतम्, द्रव्यावृत्तित्वात् न ह्यूर्ध्वत्वं द्रव्ये वर्तते । कि तर्हि ? गुणे परिमाणे । न चोर्ध्वत्वं परिमाणे वर्तमानं सामान्य द्रव्ये संशयं कर्तुं मुत्सहते । कस्मात् ? गुणस्यावधारितत्वात्—यद्वृत्ति सामान्य सोऽथेरिव-धारित इति ।

न, साधारणार्थस्यान्यथा व्याख्यानात् - न ब्रूमो गुणः साधारण इति, नापि

वह संशय है। इन दोनों के समान धर्म को देखता हूं, दोनों में से एक का जो विशेष (धर्म) है उसे नहीं देखता, इस प्रकार का ज्ञान ही अपेक्षा है। वह (अपेक्षा) संशय का प्रवर्तक होती है। इसलिये विशेष की अपेक्षा (आकांक्षा) करने वाला विमर्श संशय है।

समान शब्द साधारण के अर्थ में है समान धर्म के ज्ञान का अभिप्राय है—
साधारण धर्म (के ज्ञान) से। (आक्षेप) किन्तु यहां साधारण क्या है? क्या गुण या
सामान्य। यदि गुण है तो वह साधारण नहीं। क्यों? परिमाण (आरोह-अवरोह आदि)
के एक द्रव्य में रहने वाला होने से—परिमाण एक द्रव्य में रहने वाला है वह साधारण कैसे होगा? सामान्य (का साधारण होना) भी युक्त नहीं, द्रव्य में न रहने वाला
होने से—वस्तुत: ऊर्ध्वता [ऊंचाई] द्रव्य में नहीं है। तो किसमें है? परिमाण गुण
में। और परिमाण में होती हुई ऊर्ध्वता (ऊंचाई) नामक सामान्य द्रव्य में संशय
उत्पन्न नहीं कर सकती। क्यों? गुण को निश्चित कर लेने से—जिस गुण में सामान्य
वर्तमान है, वह अर्थ [गुण] निश्चित कर लिया गया है।

[परिहार] नहीं, साधारण के अर्थ की अन्य प्रकार से व्याख्या करने के

विविच एव—समानधर्मा पपत्तेः अनेकधर्मोपपत्तेः और विप्रतिपत्तेः ये तीन पद शेष सूत्रोक्त पदों से युक्त होते हैं इस प्रकार संशय तीन प्रकार का होता है। इस व्याख्या से उनका निराकरण हो जाता है जो सूत्र में पांच प्रकार का संशय मानते हैं।

प्रत्यय च्याहतम् - प्रत्यय शब्द निश्चयात्मक ज्ञान का बोधक है, यह मानकर आक्षेप किया गया है।

न स्वरूपप्रत्यायनात् में परिहार है कि प्रत्यय का अर्थ निश्चयात्मक ज्ञान नहीं अपि तु ज्ञान है, परमार्थतस्तु प्रत्ययश्चव्दो ज्ञानपर्यायः (ज्ञानत्वं च सामान्यं संशयादिष्वप्यस्तीति न विरोध इति, टी० ६७६। वस्तुतः प्रत्यय के दो कार्य है वष्तु के स्वरूप मात का ज्ञान चौर उस वस्तु का निश्चवा-त्मक ज्ञान। प्रथम ज्ञान के पश्चात् संशय होता है।

[संशय:

न्यायवात्तिकम्

सामान्यम्; अपि तु सादृश्यार्थः समानार्थः । यावहमर्थो पूर्वमद्राक्षं तयोर्थो धर्म ऊर्ध्वत्वः सक्षणो वर्तते, तेन धर्मेण सदृशोऽयं य र्म उपलभ्यते इति । तस्य उपपत्तिरध्यवसायः । यदुक्तं भवति सदृशस्य धर्मस्योपलिब्धः, तदुक्तं भवति समानस्य धर्मस्योपपत्तिरिति । कस्मात् पुनरेवमेव नोच्यते समानधर्मोपलब्धेरिति ? अनुक्तमपि यस्माद्वेतद् गम्यते, गम्यमानस्य चाभिधानं व्यर्थम् । केन पुनरेतद् गम्यते इति ? विशेषापेक्ष इति वचनेन कथम् ? विशेषस्यापेक्षा आकाङ्क्षा । सा चानुपलभ्यमाने विशेषे युक्ता । यदि चायं विशेषं न पश्यति विशेषानुपलब्धेर्गम्यत एतत् सामान्यं पश्यतीति । अथ युनर्यं न सामान्यं न विशेषं पश्यत्, तदा विशेषापेक्ष इति व्यर्थं वचनं स्यात्। एतेन सामध्येन गम्यते सामान्यम् पश्यतीत ।

अथ वोपलिब्ध पूर्याय एवोपपत्तिशब्द इति । उपपत्तिः प्रमाणगम्यता, सा चोप-लब्धिः । यः पुनरनुपलभ्यमानसद्भावो धर्माः, सोऽविद्यमानवद् भवतीति । का पुनविद्य-

कारण—हम यह नहीं कहते कि गुण साधारण है, न यह भी कि सामान्य (साधारण) है अपि तु यह कहते हैं कि समान का अर्थ है साद्देश जिन अर्थों को मैंने पहले देखा था, उनका जो धर्म उध्वंता नामक है उस धर्म के सद्देश यह धर्म उपलब्ध हो रहा है। उसकी उपपत्ति — अध्यवसाय या उपलब्ध । जो कहना है सद्देश धर्म की उपलब्ध बह कह दिया गया है समान धर्म की उपपत्ति (समानधर्मोपपत्तिः)।(प्रक्ष्त) किन्तु इस प्रकार ही क्यों नहीं कह दिया जाता समान धर्म की उपलब्धि से? (उत्तर) क्योंकि विना कहें भी यह प्रतीत हो जाता है (गम्यते) और प्रतीत हो जाने वाले का कथन व्यर्थ है। किन्तु यह किससे प्रतीत हो जाता है? 'विशेषापेक्ष' (विशेष की आकाङ्क्षा करने वाला) इस कथन से। कैसे? विशेष की अपेक्षा है उसकी आकाङ्क्षा और वह उपलब्ध न होने वाले विशेष में हो होती है, यदि यह विशेष को नहीं देखता तो विशेष की अनुपलब्ध से यह प्रतीत हो ही जाता है कि सामान्य को देखता है। किन्तु यदि यह न सामान्य को तथा न विशेष को देखे तो 'विशेषापेक्ष' यह कथन व्यर्थ हो जाये। इस सामर्थ्य से प्रतीत होता है कि सामान्य को उपलब्ध करता है।

[अन्य परिहार] अथवा उपलब्धि का समानार्थक (पर्याय) ही 'उपपत्ति' शब्द है। प्रमाण से ज्ञात होना उपपत्ति है और वही उपलब्धि है। किन्तु जिस धर्म की

साहस्यार्थः समानार्थः—यहां पूर्वपक्षी के आक्षेप का परिहार किया गया है। समान = सद्भ, उपपत्ति = सत्, उपलब्धि, अध्यवसाय। यद्यपि उपपत्ति शब्द सत्ता का बोधक है तथापि अन्य पदों के सन्निधान से यहाँ उपलब्धि का बोधक हो जाता है। 'विशेषापेक्षः' इस पद से यह प्रकट हो रहा है अतः समानधर्मोपलब्धेः' ऐसा नहीं कहा गया।

अथवोपलिटिधरर्याय एव-यह द्वितीय परिहार है उपपत्ति शब्द का अर्थ ही उपलिब्ध है। विषयराद्धेन वा-यह तृतीय परिहार है। विषय=प्रमाण का विषय, विषयी = ज्ञन्त । समान-धर्मोपपत्ति' शब्द समानधर्म की सत्ता का बोधक है किन्तु इसके द्वारा समान धर्म की सत्ता का ज्ञान कही गया है, अथवा सत्तावाचकोऽप्ययमुपपरितशब्दः स्वाभिधेयं विषयमुपलिब्धं लक्षयित, टी.० ४७६। 2.2.23]

588

न्यायवात्तिःम्

मानस्याविद्यमानेन समानता ? प्रमाणानालम्बनत्वम् अविद्यमानमिष प्रमाणस्याल-म्बनं स्वतन्त्रं न भाति, र तद्य्यनुपलिब्बलक्षणप्राप्तम् इति'। विषयशब्देन वा विषयिणं प्रत्ययमाह समानधर्मां पपित्तिबब्देन वा विषयी प्रत्ययोऽभिधीयते' इति । लौकिकं वा न्यायमनेन वाक्येनावरणद्वीति, यथा लोके वक्तारो भवन्ति 'धूमेनाग्नि-रनुमीयते' इति । न च वाक्ये दर्शन-शब्दः श्रूयते । अर्थप्रत्यायकत्वाद् वाक्ये दर्शन-शब्दम् अनुजानाति धूमं दृष्ट्वायाग्निरनुमीयत इति ।

अन्यवच्छे रहेतोरिति वक्तव्यम् — यदिदं समानधर्मोपपत्तेरिति पदम् एतस्मिन्तव्यच्छेद-हेतोः समानस्य धर्मस्योपपत्तेरिति वक्तव्यम्, न हि केवला समानधर्मोपपत्तिः संशयकारणं अविति, अन्यथा कृतकत्यादिनापि संशयः स्यात् । समानं हि कृतकत्वं सर्वानित्या-नामिति, व्यवच्छेदहेतुत्वान्न भयिति । न, समानार्थापरिज्ञानात्—व्यवच्छेदहेतुश्च

सत्ता की उपलब्धि नहीं होती (अनुपलभ्यमानसद्भावः) वह अविद्यमान (असत्) के समान होता है। किन्तु विद्यमान की अविद्यमान से क्या समानता है? प्रमाणों का विषय न होना (अनालम्बनत्वम्)—अविद्यमान भी स्वतन्त्र रूप से प्रमाणों का विषय नहीं होता और वह (विद्यमान) भी जो उपलब्धि के योग्य नहीं होता (अनुपलब्धि-लक्षणप्राप्तम्)। [तृतीय परिहार] अथवा विषय (के बोधक) शब्द से उसके ज्ञान विषयी को कहा गया है—अथवा समानधर्मीपपत्ति शब्द से उसका विषयी (विषय को जानने वाला) ज्ञान कहा जाता है। या इस वाक्य से लौकिक न्याय का संग्रह करते हैं (अवरुणद्धि); जैसे लोक में कहते हैं 'धूम से अग्नि का अनुमान किया जाता है'। किन्तु (च) इस वाक्य में 'दर्शन' शब्द नहीं सुना जाता। अर्थ का बोधक होने से वाक्य में 'दर्शन' शब्द स्वीकारा जाता है 'धूम को देखकर तब अग्नि का अनुमान किया जाता है स्थिया जाता है।

(आक्षेत्र) व्यावृत्ति (व्यवच्छेद) का हेतु न होने वाले (समान धर्म के ज्ञान से) यह कहना होगा—जो 'समानधर्मोंपपत्ते:' पद है, इसमें व्यावृत्ति का हेतु न होने वाले समान धर्म की उपलब्धि से (सशय होता है) वह कहना होगा; वयोंकि केवल समान धर्म की उपलब्धि संशय का कारण नहीं होती, अन्यथा कृतकत्व आदि के द्वारा भी संशय हो जाया करेगा, कृतकत्व भी सय अनित्यों का समान धर्म है; किन्तु व्यावृत्ति का हेतु होने से लौंकिक वा—लोक में धूमदर्शन के स्थान पर केवल धूम (धूमेन अग्निरनुभीयते) का प्रयोग किया जाता है उसी प्रकार यहां भी 'उपपत्ति' जो सत्ता का बोधक है उसका 'सत्ता की उपलब्धि' अर्थ में प्रयोग किया गया है। यह लोकन्याय के आधार पर लक्षणा है (द्व० टी० ४७७) यहां 'वा' 'च' के अर्थ में है। यहां तीन परिहार किये गये हैं, इह वात्तिककारण समाधानत्रयमिश्वितम् पर प्रवमेऽनुपप्तिशब्दः सत्तावाचकः। उपलब्धिस्तु विशेषापेक्ष इत्यनेनाक्षित्यते। द्वितीये तूपपित्तशब्दोऽयमनेका-थांभीहोगलब्धिवाचक उपात्तः। तृतीये तु सत्तावचन एव लक्षणयोपलब्धिपर इति। (परिणुद्धि ४६७-४८६)। यहां 'प्रथमे उपपत्तिशब्दः' यह शुद्ध प्रतीत होता है।

१. सद्. कः; तद् ख.

[संशय:

न्यायवात्तिकम्

समानश्च धर्म इति न युज्यते । व्यवच्छेदहेतुर्नाम विवक्षिततज्जातीयवृत्तित्वे सित यो विजातीयावृत्तिः स व्यवच्छेदहेतुः । तस्य च समानार्थता नास्ति । समानो हि नाम विवक्षिततज्जातीयवृत्तित्वे सित, अन्यजातीयवृत्तिः । तस्मादव्यवच्छेदहेतोरिति न वक्तव्यम् ।

सोयं साधारणो धर्म उपलभ्यमानः संशयहेतुः कि केवल इति ? न केवलः । कि तर्हि ? उपलब्ध्यनुपलब्ध्यवस्थातश्च—यदि चोपलब्ध्यनुपलब्धो न व्यवस्थिते भवत इति । किमेतावन्मात्रं साधनमिति ? नेत्युच्यते, यदि च विशेषाकाड् क्षा भवति । समानधर्ममुपुलभते, उपलब्ध्यनुपलब्धी न व्यवतिष्ठते, इदन्तया नेदन्तया वा। विशेषाकाड् क्षायां च सत्यामर्थसन्देहो भवति' इति ।

(वह संशय का कारण) नहीं होता। [पिरहार] यह (आक्षेप) ठीक नहीं; समान शब्द के अर्थ का सम्यक् ज्ञान न होने से—उपावृत्ति का हेतु हो और समान धर्म भी हो, ऐसा होता युक्तियुक्त नहीं। व्यवच्छेदहेतु है जो विवक्षित (पक्ष) तथा उसकी जाति वालों में होते हुए उसके भिन्न जाति वालों में नहीं रहता वह व्यावृत्ति का हेतु होता है और वह समान अर्थ नहीं होता। समान तो वह है जो विवक्षित (पक्ष) तथा उसकी जाति वालों में होते हुए अन्य जाति वालों में (भी) रहता है। इसलिये व्यावृत्ति का हेतु न होने वाले (अव्यवच्छेदहेतोः) यह न कहना होगा।

(शङ्का) वह यह साधारण यम उपलब्ध होकर जो संशय का हेतु होता है क्या अकेला (ही)? (समाधान) अकेला नहीं। तो क्या? उपलब्धि और अनुपलब्धि की अब्यवस्था से भी—यदि उपलब्धि और अनुपलब्धि व्यवस्थित नहीं होते। (प्रश्न) क्या इतना मात्र ही (संशय का) निमित्त है? (उत्तर) नहीं, यह कहा जाता है, यदि विशेष को जानने की इच्छा (भी) होती है। (भाव यह है कि जब व्यक्ति) समान अव्यवच्छेदहेती:—यह एकदेशी का मत है। वह मानता है कि व्यवच्छेद का हेतु भी समान धर्म होता है जैसे कृतकत्व है। कृतकत्व साध्यधर्मी शब्द में है और दृष्टान्त होने वाले (पक्ष के समानजातीय) घट में भी किन्तु वह नित्यत्व और अनित्यत्व के संशय का हेतु नहीं होता अप तु साध्यधर्मी शब्द में अनित्यत्व के अयोग की व्यावृत्ति करता है, व्यवच्छेद का हेतु है।

न समानार्थापरिज्ञानात्—परिहार का आशय है:, समानधर्म व्यावृत्ति का हेतु नहीं होता। समान धर्म के सुनने पर प्रतिसम्बन्धी की आकांक्षा होती है 'किसके समान धर्म' (केन)। अतः समान धर्म वह है जो विवक्षित में, उसके सजातीय में तथा अन्य जातीय में भी रहता है कृतक व धर्म तो ऐसा नहीं है, वह अन्यजातीय में नहीं रहता। यहां अन्यजातीय है नित्य, उसमें कृतक व धर्म तो ऐसा नहीं है, वह अन्यजातीय में नहीं रहता। यहां अन्यजातीय है नित्य, उसमें कृतक व वहीं रहता। इस प्रकार समानधर्म व्यवच्छेद का हेतु नहीं हुआ करता।

सोऽयं साधारणोधर्मः सन्देहो भवति यहां दिखलाया गया है कि 'समानधर्मोपपतः के साथ 'उपलब्ध म्नुपलब्ध्यवस्थातः' तथा 'विशेषापेक्षः' दोनों पदों का सम्बन्ध होता है तब तीन परों में द्वारा संगय का एक लक्षण पूर्ण होता है।

8.2.23

1 283

न्यायवात्तिकम्

किमिदं समस्तं कारणम्, उतासमस्तमिति ? समस्तमिति ब्रूमः। यदि समानधर्मापपत्ते रिति केवलमुच्येत, उपलब्धिवशेषस्यापि सामान्योलिब्धरस्तीति तदापि संशयः स्यात्। यदि पुनरुपलब्ध्यनुपलब्ध्यस्थातश्च संशय इत्येतावदुच्येत, अनुपलब्धसामान्यस्यापि क्वचिद् उपलब्ध्यनुपलब्ध्यस्थातश्च अस्तीति संशयः स्यात्। विशेषापेक्ष इत्येतावित चोच्यमानेऽनुपलब्धसामान्यस्यापि क्वचिद् विशेषस्मृतिरस्तीति संशयः स्यात्। एवं समानधर्मापपत्तेरुपलब्ध्यनुपलब्ध्यवस्थातश्चिति पद्वयेऽपि नौयानप्रेङ्खादिगतस्य न भवति संशयः। एवमुपलब्ध्यनुपलब्ध्यवस्थातो विशेषापेक्ष इति पदद्वये विधीयमानेऽत्यन्तानुपलब्धे सामान्येऽपं संशयः

धर्म की उपलब्धि करता है, उपलब्धि और अनुपलब्धि 'यह है' अथवा 'यह नहीं है'। (इसके साधन रूप में) निद्यत (ब्यवस्थित) नहीं होते तब विशेष को जानने की इच्छा होने पर अर्थ का सन्देह होता है।

क्या यह मिला हुआ (समस्तम्) (संशय का) कारण है या पृथक्-पृथक् ? 'मिला हुआ' यह हम कहते हैं। यदि 'समानधर्मोपपत्ते: केवल इतना हो कहा जाये तो जिसके विशेष धर्म की उपलब्धि हो गई है, उसके भी सामान्य धर्म की उपलब्धि होती है तब भी संशय हुआ करेगा (होने लगेगा)। फिर यदि 'उपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थातश्च संशयः' इतना ही कहा जाये तो जिसके समान धर्म की उपलब्धि नहीं हुई उसकी भी कहीं उप विश्व और अनुपलब्धि की अध्यवस्था होती है अतः संशय हो जाया करेगा। और, विशेषापेक्षः' इतना कहने पर रिसके समान धर्म की उपलब्धि नहीं हुई कहीं-कहीं उसके विशेष धर्म की स्मृति हो जाती है अतः वहाँ भी संशय हो जाया करेगा। इसी प्रकार 'समानधर्मोपपत्ते: उपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थातश्च' इन दोनों पदों के होने पर भी नाव, सवारी (यान) तथा दोला (प्रेड्ख) आदि में स्थित को (विशेष की अपेक्षा

उपलब्ध्यनुपलद्धी न व्यवितिष्ठिते—तात्पर्य टीका के अनुसार यहाँ साधक प्रमाण का अभाव तथा बाधक प्रमाण का अभाव दिखलाया गया है। सिर हाथ आदि की उपलब्धि और कोटर आदि की अनुपलब्धि पुरुप का साधक प्रमाण है, इसी प्रकार सिर हाथ आदि की अनुपलब्धि और कोटर आदि की उपलब्धि पुरुप का बाधक प्रमाण है। इन साधक तथा बाधक प्रमाणों के अभाव में यह पुरुप है (इदन्तया) अथवा पुरुप नहीं है (अनिदन्तया) व्यवस्था नहीं होती। सून भाष्य आदि के अनुसार तो 'उपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थातः'—हमें जो ऊर्ध्वता (आरोह) आदि की उपलब्धि हो रही है वह किसी एक स्थाणु या पुरुप में निश्चित (व्यवस्थित) नहीं; जो सिर आदि तथा कोटर आदि की अनुपलब्धि हो रही है वह भी पुरुप या स्थाणु में निश्चित नहीं। अतः उपलब्धि तथा अनुपलब्धि की अव्यवस्था से यह स्थाणु है या पुरुष 'ऐसा, संशय हो जाता है।

किमिदं समस्तम् द्वढटच्यम् इति—यहाँ विचार करके निश्चय किया गया है कि तीनों परों से मिलकर संशय का लक्षण है।

[संशय:

न्यायवात्तिकम्

स्यात्। एवं समानधर्मापपत्ते विशेषापेक्ष इति चोच्यमाने सामान्यधर्मदश्चे सत्यपि विशेषापेक्षायां च सत्याम् उपलब्ध्यनुपलब्ध्योर्व्यंवस्थानात् न भवति संशयः। एवं च यदायं द्रष्टा द्रष्टपूर्वं सामान्यविशेषवन्तमर्थमुपलभते, तत्र चोपलब्ध्यनुपलब्धी ब्यवस्थिते भवतः। सोऽयं द्रष्टा तस्मात् स्थानात् यदापैति तत्तोऽस्थापगमाद् विषयवि-प्रकर्षानिमित्ताद् अल्पविषया विशेषा नावभासन्ते, महाविषयं सामान्यभवभासते। उपलब्ध्यनुपलब्धी पुनर्व्यवस्थिते भवतः। विशेषानुस्मृतिश्चास्ति, न च सन्दिह्यते तस्मादेकद्विपदपर्युवासेन समस्तं लक्षणमुच्यते इति। समानधर्मोपपत्तेस्पलब्ध्यनुपलब्ध्यन्यस्थातश्च विशेषापेक्ष इति चैक्षैकपदपर्युवासः। समानधर्मोपपत्तेस्पलब्ध्यनुपलब्ध्यन्यस्थातश्च विशेषापेक्ष इति चैक्षैकपदपर्युवासः। समानधर्मोपपत्तेस्पलब्ध्यन्

न होने पर) संशय नहीं होता। इसी प्रकार 'उपलब्ध्यनुपलब्ध्यदस्थातो दिशेषापेक्षः' इन दो पदों के करने पर जिनका सामान्य धर्म अत्यन्त अनुपलब्ध है उसमें संशय हो जाया करे। इसी प्रकार 'समानधर्मीपपत्ते:' इतना कहने पर समानधर्म कादर्शन हो जाने पर भी और विशेष की आकाङ्क्षा होने पर उपलब्धि तथा अनुपलब्धि की व्यवस्था होने के कारण संशय नहीं होता। और, इस प्रवार जब यह द्रप्टा पहले देखे गये सामान्य–विशेष से युक्त अर्थ को पाता है और उसमें उपलब्धि तथा अनुपलब्धि व्यवस्थित होते हैं, वह यह द्रष्टा जब उस स्थान से पृथक् चला जाता है (अपैति) तब इसके पृथक् चले जाने से बिषय के दूर हो जाने के कारण अल्प देश में रहने वाले विशेष भासित नहीं होते, केवल अधिक देश में रहने वाला सामान्य भासित होता है फिर (भी) उपलब्धि तथा अनुपलब्धि ब्यवस्थित होते हैं और विशेष की अनुस्मृति होती है तथा सन्देह नहीं किया जाता। इस लिये एक तथा दो पदों को छोड़कर (पर्युदासेन) समस्त (तीनों पदों का) लक्षण किया गए। है। (यहाँ लक्षण में) तीनों पदों का ग्रहण करके (समस्तपदपरिग्रहेण) (१) समानधर्मांपपत्ते: (२) उपलब्ध्यन्-पलब्ध्य-ब्यवस्थातः और (३) विशेषापेक्षः, इस प्रकार के एक-एक पद (के लक्षण) को छोड़ दिया गया है (पर्यु दासः कृतः) तथा (१) समानधर्मोपपत्तेः 🕂 उपलब्ध्यनुपलब्ध्य-यदि समान॰ ' विशेषस्मृतिरस्तीति संशयः स्यात् यहाँ एक-एक पद का ग्रहण करने पर

दोष दिखलाया गया है। उपलब्धिविशेषस्य स्थाणु है या पुरुष इस संशय में पुरुषत्व के बोधक सिर हाथ आदि विशेष हैं। उनकी उपलब्धि होने पर भी समानधर्म की उपलब्धि से संशय हो जायेगा। 'उपलब्ध्यनपुलब्ध्यन्यस्थातः' केवल इतना कहने पर मधुरादि रसों में सातवाँ रस होने का संशय हो जायेगा। वहाँ भी उपलब्धि अनुका तथा पृथिवी आदि द्रव्यों में दसवां द्रव्य होने का संशय हो जायेगा। वहाँ भी उपलब्धि अनुका तथा पृथिवी आदि द्रव्यों में दसवां द्रव्य होने का संशय हो जायेगा। वहाँ भी उपलब्धि अनुका तथा पृथिवी अन्यवस्था है। 'विशेषारेक इत्येतावित' यदि केवल 'विशेषापेक्षः' यह कहा जायेगा तो द्राव्यों को देखकर जो साथ विशेषार के प्रवास की उपलब्धि की क्षेत्र की संश्य हो जायेगा।

हाथी को देखकर जो खम्भे तथा हस्तिपक की स्मृति होती है वहाँ भी संशय हो जायेगा। एवं समान का सिन्द हाते—यहां दो दो पदौं के लक्षण में दोष दिखलाया गया है। लक्षण में 'विशेषापेक्षः' न होने पर नाव आदि में बैठे जन को ऊंचाई चौड़ाई वाली वस्तु को देखकर साधक-वाधक प्रमाण न होनेपर ऐसा संशय हो जायेगा कि वृक्ष है या हाथी। (प्रेड्.ख = दोला)। 'समानधर्मोपपत्तो.' पद का ग्रहण न करने पर जहां किसी कारण विशेष धर्म की स्मृति हो जाती है किन्तु समानधर्म का ग्रहण नहीं होता यहां भी संशय हो जायेगा। कारण समानधर्म की

2.2.23]

र

नु-

1

れり

की

ि २१५

न्यायवात्तिकम्

नुपलब्ध्यव्यवस्थातश्च, समानधर्मोपपत्ते विशेषापेक्ष इति च, उपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवयस्थातो विशेषापेक्ष इति च द्विपदपर्धु दासः कृतः समस्तपदपरिग्रहेण ।
यस्मात् समानधर्मोपपत्ते रूपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थातश्च विशेषापेक्षो विमर्शः संशय
इत्याह । तेन ज्ञापयति समस्तमेतल्लक्षणिमिति ।

विमर्श इति । नानार्थावमर्शनं विमर्शः । उभावथौ स्पृशतीव, संशीतः संशय इति भावसाधनम् । करणसाधनं वा संशेतेऽनेनात्मा इति सुप्त इव भवति । क उपमार्थः ? अर्थानवधारणमुपमानार्थः । एतेनानेकधर्मोपपत्ते विप्रतिपत्ते स्वेति

व्यवस्थातः (२) समानधर्मोपपत्तः + विशेषापेक्षः और (३) उपलब्ध्यनुपलब्ध्यवस्थातः + विशेषापेक्षः, इस प्रकार के दो-दो पदों (के लक्षण) को छोड़ दिया गया है (पर्यु दासः कृतः)। जिससे (यस्मात्) समान धर्म की उपलब्धि से, उपलब्धि और अनुलब्धि की अव्यवस्था से होने वाला विशेष की अपेक्षा करने वाला उभय-कोटिक ज्ञान (विमर्शः) संशय है ऐसा कहा है। इससे (आचार्य) सूचित करता हैं कि सभी पद मिलकर (समस्त) यह लक्षण है।

विमर्श इति-अनेक (भिन्न-भिन्न = नाना) अर्थों का विचार विमर्श है। दो अर्थों का स्पर्श सा करता है वह संशय (संशीतिः) है। अतः संशय शब्द भावार्थक अथवा करणार्थक है, आत्मा इससे (अनेन) सोया (संशेते) सा हो जाता है। यहां

अनुपलिध्य होने पर सिर हाथ आदि विजेष धर्म का ग्रहण न होगा। इसी प्रकार 'उपलब्ध्यनुपलपब्ध्य ब्यवस्थातः' यह पद न रखने पर भी दोष होगा जिसका विवरण 'यदायं द्रष्टा' में दिया गया है। यदाऽयं द्रष्टा—यहाँ सहकारतक (पुष्पित मदयुक्त आम्नवृक्ष) तथा मदगज के समान धर्म का ग्रहण होता है, गज और वृक्ष के विजेष धर्म की स्मृति भी है किन्तु उपलब्धि-अनुपलब्धि की अब्यवस्था (साधक वाधक प्रमाणाभाय) नहीं है अतः संशय नहीं होता।

अरुपविषया—सहकारत्य आदि विशेष है जो कुछ वृक्ष व्यक्तियों में आश्रित है अतः अरुपविषया-है आरोह-परिणाह (ऊंबाई मोटाई) आदि वहुत से व्यक्तियों में आश्रित है अतः महाविषया है, बही यहाँ सामान्य धर्म है।

एकैकपदपर्यु दासः—एक-एक पद वाला लक्षण नहीं किया, एक-एक पद का पर्यू दास है।

यस्मात् लक्षणमिति—यहाँ यह दिखलाया गया है कि सूत्रकार की दृष्टि में भी समस्त ही

लक्षण है।

विमर्श इति—'विमर्श' भव्द उभयकोटिक ज्ञान के अर्थ में हैं । इसीलिये नानार्थावमर्शनं विमर्शः यह कहा गया है । आगे इसी का विवरण है । करणसाथनं वा—संशय भव्द भाव अर्थ में या करण अर्थ में निष्पन्न होता है, भाव अर्थ में करणसाथनं वा—संशय भव्द भाव अर्थ में या करण अर्थ में निष्पन्न होता है, भाव अर्थ में संशितिः == संशयः और करण अर्थ में संशितिः नेत आत्मा, यह व्युत्पत्ति है ।

[संशयः

न्यायभाष्यम्

अनेकधर्मोपपत्ते रिति । समानजातीयमससानजातीयं चानेकम् । तस्यानेकस्य धर्मोपपत्ते :, विशेषस्योभयथा दृष्टत्वात् । समानजातीयेभ्योःसमानजान्तीयेभ्ययचार्था विशिष्यन्ते, गन्धवत्त्वात् पृथिव्यबादिभ्यश्च विशिष्यते, गुण-कर्मभ्यश्च । अस्ति च शब्दे विभागजन्यत्वं विशेषः । तस्मिन् द्रव्यं गुणः कम् वेति सन्देहः, विशेषस्योभयथा दृष्टत्वात् । द्रव्यस्य सतो गुणकमभ्यो न्यायवार्त्तिकम्

ब्याख्यातम् । कोऽतिदेशार्थः ? यथाद्ये पक्षे त्रिपदपरिग्रहेण एकद्विपदपर्युदासः कृतः तथानन्तरयोरपि द्रष्टब्यम्' इति ।

अनेक धर्मों के उपलब्ध होने से (संशय होता है)। समान जाति वाला और असमान जाति वाला अनेक है। उस अनेक के धर्म की उपलब्धि होने से अर्थात् विशेष धर्म के दोनों प्रकार (सजातीय तथा विजातीय में) दिष्ट-गोचर होने से। पदार्थ अपने जाति वालों (समानजातीय) तथा दूसरो जाति वालों (असमानजातीय) से विशेष धर्म के द्वारा भिन्न होते हैं (विशिष्यन्ते) जैसे गन्धवाली होने से पृथ्वी (द्रव्य, समानजातीय) जल आदि से भिन्न है और (असमानजातीय) गुणों तथा कर्मों से भी। किञ्च, शब्द में भी विभाग से उत्पन्न होने (विभागजन्यत्व) की विशेषता है। उसमें (यह) द्रव्य है गुण है या कर्म है, ऐसा सन्देह होता है; क्योंकि विशेषता (विभागजन्यत्व) को दोनों प्रकार से (सजातीय तथा विजातीय में) देखा गया है। [यहां सन्देह होता है] क्या द्रव्य होते हुए गुण, कर्म से (यह) भेद

उपमा का क्या प्रयोजन (अर्थ) है ? विषय का निश्चय न करना उपमान का प्रयोजन है। इस (कथन) से 'अनेकधर्मोपपत्ते:' तथा विप्रतिपत्ते:' की व्याख्या कर दी गई। इस अतिदेश का क्या अभित्राय है ? जिस प्रकार प्रथम पक्ष (समानधर्मोपपत्ते:) में एक तथा दो पदों का पर्यु दास (त्याग) किया गया है उसी प्रकार समीप के दोनों पदों में (अनन्तरयो:) भी समझना चाहिये।

एतेन—जिस प्रकार 'समानधर्मोपपत्तोः' के साथ शेष दो पद मिलाकर तीन पदों का (समस्त) लक्षण है, उसी प्रकार 'अनेकधर्मोपपत्तोः' इत्यादि में भी शेष दो पद मिलाकर समस्त ही लक्षण है। अतिदेशः—यह भी उसी के समान होता है, ऐसा कथन अतिदेश कहलाता है।

अनेकधर्मोपपत्ते: यह दितीय प्रकार का संशय है। भाष्य के अनुसार समानजातीय तथा असमान-जातीय अनेक है। (वार्त्तिक तथा तात्पर्य टीका की व्याख्या आगे दर्शनीय है)। तस्य अनेकस्य, समानजातीय तथा असमानजातीय का।

विशेषस्योमयथा दृष्टत्वःत्-विशेष की अपेक्षा रखने वाला उभयकोटिक ज्ञान संशय है। यहाँ

१.१.२३]

न्यायभाष्यम्

विशेषः, आहोस्विद्गुणस्य सतो द्रव्यकर्सभ्यः, अथ कर्मणः सतो द्रव्यगुणेभ्य इति ? विशेषापेक्षा अन्यतमस्य व्यवस्थापकं धर्म नोपलभ इति बुद्धिरिति । न्यायवात्तिकम

अनेकधर्मां पपते: संशय इति । अनेकस्यानेकश्च धर्म इति केचित्—अनेकस्य धर्मों इनेकधर्मः, अनेकस्य द्रव्यगुणकर्मलक्षणस्य संयोगजत्वं धर्मः । अनेकश्च धर्मः संयोगजत्विनिगुणत्विनिध्ययत्वानि शब्दे । तदेवमनेकधर्मोपपत्ते: सशय इति केचित् । तद्युक्तम्, समानधर्मोपपत्ते: इत्यनेनैव चरितार्थत्वात्-समानधर्मोपपत्ते रित्यनेनेव यश्चको-इनेकवृत्तिः, यश्चानेकः एकवृत्तिः, स लभ्यते, इति चरितार्थत्वात्, न पुनरनेकधर्माभ्रधानेन प्रयोजनमस्तीति ।

है, अथवा गुण होते हुए द्रव्य एवं कमं से या कमं होते हुए द्रव्य और गुणों से । विशेष की आकाड्क्षा है, तीनों में से किसी एक के (अन्यतमस्य) निरुचय कराने वाले (व्यवस्थापकम्) धर्म को नहीं जान रहा हूं इस प्रकार की बुद्धि ।

अनेक धर्मों की उपलिब्ध से संशय होता है। अनेक का अनेक धर्म (यह अर्थ) ऐसा कोई (एकदेशी) करते हैं—अनेक का धर्म अनेक धर्म है अनेकों द्रव्य गुण कर्म का संयोग से उत्पन्न होना धर्म है। और अनेक धर्म हैं संयोग से उत्पन्न होना, निर्णुण होना, निष्क्रिय होना तथा क्षणिक होना, ये शब्द में हैं। तब इस प्रकार अनेक धर्म उपलब्ध होने से संशय होता है, यह कोई (एकदेशी) कहते हैं। [निराकरण] वह युक्तियुक्त नहीं, समानधर्मोपपत्तोः' इस (पद) से ही गतार्थ हो जाने के कारण—समानधर्मोपपत्तोः' इससे ही जो अनेक में रहने वाला एक है और जो एक में रहने वाला अनेक है, उसकी प्राप्ति हो जाती है; अतः उससे ही यह गतार्थ है, फिर 'अनेक धर्म, शब्द कथन का कोई प्रयोजन नहीं।

विणोप धर्म समानजातीय तथा असमानजातीत में देखा जाता है अतः संशय होता है।

विभागजन्यत्वं विश्लोप:

शब्द में विभाग से उत्पन्न होना है जो सजातीय (गुणों) में और असजातीय

(प्रव्य आदि) में देखा जाता है।

विशेषस्योभयथा दृष्टत्दात्—(यह) विशेष धर्म दोनों प्रकार देखा जाता है अतः संशय होता है । यहाँ भी वात्तिक और तात्पर्यटीका की व्याख्या आगे दर्शनीय है ।

निशेषापेक्षा—शब्द द्रव्य है, गुण है या कमं है, इनमें से एक का निश्वायक धर्म नहीं उपलब्ध होता

हा अने कस्याने कदि धर्मः — यह एकदेशी की व्यास्या है। संयोगज होना द्रव्य, गुण, कर्म अनेकों का धर्म है, इसी प्रकार संयोगजत्व से लेकर क्षणिकत्व पर्यन्त धर्म शब्द में है। अतः 'अनेक धर्मोपपत्तेः शब्द में संशय होता है।

चारतार्थंत्वात् -- वात्तिककार के मत में एकदेशी की व्याख्या 'समानधर्मोपपत्तेः' से ही चरितार्थं है ।

28=1

संगय:

न्यायबात्तिकम्

अयानेकधर्गशब्दस्य कोऽर्थः ? असाधारणो धर्मं इति । कथं पुनरसाधारणो धर्मं इति ; कथं पुनरसाधारणो धर्मांऽनेकधर्मं इत्यनेन समासपदेनाभिधोयते ? समानासमान— जातीयिवशेषकत्वात्—समानजातीयमसमानजातीयं चानेकम्, तस्माद् विशेषो विशेषको धर्मः, अनेकस्माद् विशेषोऽनेकधर्मं इति । तस्य चानेकस्य धर्मो यथास्यं सोऽयमनेकधर्मं इति ।

एकानेकप्रत्ययहेतुर्वा धर्मोऽनेकर्मः, यत एष प्रत्ययो भवति 'इदमेकमिदमनेकमिति' । तत्रैकप्रत्ययहेतुरभेदः, 'अनेकप्रत्ययहेतुर्वा धर्मो विशेषः, यथा शब्दस्य विभागजत्वम् ।

(वात्तिकमत) तब अनेक धर्म शब्द का क्या अर्थ है ? (१) असाधारण धर्म। (शङ्का) किन्तु असाधारण धर्म (इसका अर्थ) कैसे है—किन्तु अनेक धर्म इस समस्त पद से असाधारण धर्म (अर्थ) कैसे कहा जाता है ? (समाधान) समान जाति वालों से भेद कराने के कारण—समान जाति वाला और असमानजातिवाला अनेक है, उससे विशेष अर्थांत् भेदक धर्म अनेकों से भेदक अनेकधर्म है। और, उसका अनेक का धर्म, एक-एक का धर्म (यथास्वम्) वह यह अनेक धर्म है।

(अनेकधर्म शब्द की अन्य व्याख्या) अथवा एक तथा अनेक प्रतीति का निमित्त जो धर्म है वह अनेक धर्म जिससे यह प्रतीति होती है ''यह एक है, यह अनेक है'। उनमें 'एक है' इस प्रतीति का निमित्त अभेद है 'अनेक है' इस प्रतीति का निमित्त विशेष है; जैसे शब्द का विभाग से उत्पन्न होना (विभागजत्व), सत्ता वाला होना

अनेकधर्मशब्दस्य — अनेक धर्म शब्द का अर्थ है असाधारण धर्म। टीका ४७८ के अनुसार यह भाष्य की व्याख्या के आधार पर कहा गया है—भाष्यकृदव्याख्ययोत्तरम्—असाधारण इति।

समासपदेन — यहाँ 'अनेक धर्म' समस्त पद के एकदेश 'अनेक' शब्द को लक्ष्य करके प्रश्न किया गया है, समास में स्थित 'अनेक' शब्द से, यह अभिप्राय है।

समानजातीयविश्रोधकत्यात्—भाष्य के अनुसार समानजातीय तथा असमानजातीय अनेक है, अनेकस्माद विश्रेष: (= विश्रेषक:) अनेक धर्मः, अनेक से व्यावृत्त धर्म को लक्षणा से अनेक धर्म कहा गया है। इस व्याख्या में विश्रेषकर अध्याहार करना होता है (मि० टी० ४७६)। यहाँ लक्षणा में 'अवधि—अवधिमद भाव' सम्बन्ध है (परि० ४८६)।

तस्य चानेकस्य—लक्षणा का दूसरा आधार दिखलाते हुए कहा गया है। निवर्श्व-गिवर्तक भाव सम्बन्ध से 'अनेक' शब्द की धर्म में लक्षणा है। इस व्याख्या में विशेष' शब्द का अध्याहार नहीं करना होता। इस प्रकार दो लक्षणा बीज दिखलाकर 'अनेकधर्मा—असाधारण धर्म' बतलाया गया है। यह लक्षणा का बीजान्तर है, ऐसा वाक्तिक से प्रकट नहीं होता, अतः अग्रिम अनुसन्धान का बिषय है।

यथास्त्रम् — स्व (व्यक्ति) के अनुरूप, प्रत्येक का अपना-अपना धर्म।

एकानेक० — एकं चानेकं च तदुभयमनेकं तस्यानेकस्य प्रत्ययहेतुर्धमीं अनेकधमीः, भेदाभेदप्रत्ययहेतुरित्यथंः, टी० ४७६ । यह अनेक शब्द की अन्य व्याख्या है जो वात्तिककार की अपनी ब्याख्या है
प्रकारान्तरेणानेकधर्मापदं व्याचप्टे — एकानेकेति ''तदिदमुद्भाष्यं व्याख्यानम्, टी० ४७६ ।

विभागजत्वम्—विभागज होना विभागज ज्ञब्दों से अभेद का हेतु है, किन्तु इतर द्रव्य गुण कर्मी से भेद का हेतु है। 2.2.23]

355

न्य।यवात्तिकम

सामान्यविशेषसमवायेभ्यः शब्दस्य सदादिना विशेषेण निर्भवतस्य, तिस्मिस्तु द्रव्यं गुणः कर्म वेति विभाग गत्वात् संशयः। न हि द्रव्ययुणकर्मणामन्यतमं विभागाद् जायमानं दृष्टं सर्वत्रासंभवात्। विभागजत्वं संशयं करोति सर्वतो व्यावृत्ते रिति। ननु च विभागजो विभागो विद्यते, गुणश्च ? सत्यम्, अनभ्युगतिवभागजिक्षभागस्यंतदेवं भवति। यः पुनरभ्यु-पगतिवभागजिक्षभागः, तस्याय निश्चयहेतुः, गुणः शब्दो विभागजत्वात् विभागजिक्षभामः— विदित्त । अस्तु वा तत्यापि विभागजिक्षभागासमवायिकारणकत्वात्, विभागजिक्षभागास— मवायिकारणकः शब्दो नान्नः पदार्थं इति । तदेवं विभागजत्वं विभागजिक्षभागासमवा-पिकारणकत्वं वा नर्ते शब्दं संभवति' इति सर्वतो व्यावृत्तेः संशयहेतुः। तुल्यजातीये-ष्वर्थान्तरभूतेषु च विशेषस्थोभयथा दृष्टत्वादिति ।

(सत्) आदि विशेष धर्म से सामान्य, विशेष तथा समदाय से पथक विथे गये (निर्मक्तस्य) शब्द में (तिस्मन्) विभागजन्य होने से यह संजय होता है कि वह द्रव्य है, गुण है या कर्म है। वस्तुत: द्रव्य, गुण या कर्म में से कोई एक (पुण रूप से) विभागजन्य नहीं देखा गया; क्योंकि सव (द्रव्य आदि) में (विभागजन्यता) संग्व नहीं है। यह विभागजन्यत्व संशय उत्पन्न करता है; क्योंकि सभी (द्रव्य, गुण तथा कर्म) से त्यावृत्त है। शङ्का है (ननु च) विभागज विभाग होता है और वह गुण है। [समाधान] ठीक है, जो विभागज विभाग को नहीं मानता उसके मत में यह ऐसा होता है; किन्तु जो विभागज विभाग को स्वीकारता है उसके लिये तो यह निश्चय का निमित्त है, शब्द गुण है, विभागजन्य होने से विभागजिवभाग के स्मान। अथवा उसके (मत में) भी विभागज विभाग रूप असमवायिकारण वाला होनेसे (शब्द सर्वतो व्यावृत्त है) विभागज विभाग असमवायिकारण वाला शब्द (ही) है अन्य पदार्थ नहीं। तब इस प्रकार विभाग-जन्यत्व अथवा विभागज विभाग के असमवायिकारण वाला होने से वारण संशय का हेतु है। वह समान जाति वालों में तथा भिन्न अर्थों में विशेष धर्म के दोनों प्रकार से (सजतीय तथा असजातीय में) देखा जाने से होता है।

सदादिना निर्भक्तस्य—सत् = सत्तादान्, सत् सत्तावत् (परि० ४६०), निर्भन्तस्य = पृथक्कृतस्य (टी०) । सत्तावाला होना इत्यादि के कारण शब्द को सामान्य, विशेष, समवाय से पृथक् किया जाता है, क्योंकि सामान्य आदि में सत्ता नहीं रहती ।

सर्वत्रासंभवात्—द्रव्य आदि का विभाग से जन्म नहीं होता, नयोंकि द्रव्य आदि विभाग के अन्यय-व्यतिरेक का अनुसरण नहीं करता (टी० ४७६)।

तस्यापि —अभ्युपगतिवभागजविभागस्य, उसके मत में विभागजत्व असाधारण धर्म होता है।
तुल्यजातीयेषु ० — यद्यपि वात्तिककार के अनुसार त्यतिरेक द्वारा भी असाधारण धर्म संशय का
निमित्त हो जाता है तथापि यहां भाष्योक्त संशय का हेतु दिखलाया है — सद् आदि रूप से युक्त
शब्द विभागज होने के कारण समानजातीय तथा असमानजातीय से व्यावृत्त है, अतः संशय वा
जनक है।

[संशय:

न्यायवात्तिकम्

समानधर्मीपयोगाद् वाऽसमानोऽनेकधर्मी भवति—यद् वा द्वयस्यापि संशयकारणत्वे॰
नोपनीतस्य समानधर्मस्यासमानस्य च समानधर्मस्योपयोगाद् अनुपयुक्तोऽसमानः सोऽने॰
कशब्दस्थ विषयविशेष इति । कस्मात् पुनरेवमेव नोच्यते समानासमानधर्मीपपत्ते रिति ?
नैवं शक्यं भवितुम्, अनेकस्माद् व्यावृत्तो यो धर्मः सोऽनेकधर्म इति, अयं विग्रहो न लभ्यते । लाघवं च प्रयोजनम्—एकाक्षरापचयात् लाघवं प्रयोजनमाश्चित्यैवमिभधानं वा ।
यद्यनेकधर्मार्थौऽसाधारणार्थः, असाधारणश्च धर्मः संशयकारणिमिति, नेवं निरात्मकं जीवच्छरोरम्, अप्राणादिमत्त्वप्रसङ्गाद् इत्ययमध्यसाधारणत्वात् संशयहेतुः प्राप्तः ।
नैष दोषः । यथैव साधारणो धर्मः संशयहेतुरिति नान्वियनः साधारणत्वे सित संगय-हेतुत्वं भवति अन्वयाव्यभिचारात् । एवं व्यतिरेकिणोऽपि सत्यप्यसाधारणत्वे विपर्ययसं-वन्धस्याव्यभिचाराद् हेतुभाव इति । तस्मात् नैकवृत्तित्वमनेकवृत्तित्वं वा संशयकारणत्वे निर्णयकारणत्वे वा हेतुः । कि तीहं ? साधारणासाधारणत्वे सित व्यभिचाराव्य-

[अनेक शब्द की अन्य व्याख्या] अथवा समान धर्म का (पहले) उपयोग किया जा चुकने से असमान (असावारण) ही अनेक धर्म है--अथवा (समान तथा असमान) दोनों (धर्मों) को संशय के कारणरूप में लिया गया है (उनमें से) समान धर्म का उपयोग किया जा चुकने से जिसका उपयोग नहीं किया गया (अनुपयुक्त) वह असमान असाधारण है, वह अनेक शब्द का विशेष अर्थ है। (प्रश्न) किन्तु समानासमानधर्मी-पपत्ते: ऐसा ही क्यों नहीं कह दिया जाता ? (उत्तर) ऐसा नहीं हो सकता (ऐसा कहने से) (१) अनेकों से व्यावृत्त जो धर्म वह अनेक घर्म है, यह विग्रह नहीं प्राप्त होता। और (२) लाघव भी प्रयोजन है-अथवा एक अक्षर के कम होने से (अपचयात्) लाघव-रूप प्रयोजन का आश्रय लेकर इस प्रकार कहा गया है। (आक्षेप) यदि अनेक धर्म शब्द का अर्थ 'असाधारण' है और असाधारण धर्म संशय का कारण होता है तो यह भी असाधारण होने से संशय का कारण प्राप्त होता है--यह जीवित शरीर आत्मारहित नहीं है, प्राण आदि से रहित होने का प्रसङ्ग होने से। [परिहार] यह दोष नहीं है; जिस प्रकार साधारणधर्म संशय का हेतु होता है किन्तु साधारण होने पर भी अन्वयी हेतु संशय का हेतु नहीं होता; क्योंकि उसमें अन्वय का व्यभिचार नहीं हुआ करता (अन्वयाव्यिभिचारात् पाठ शुद्ध प्रतीत होता है, मि० डा०गङ्गानाथ झा) इसी प्रकार व्यतिरेकी हेतु के असाधारण होने पर भी व्यतिरेकसम्बन्ध (विपर्ययसम्बन्ध) में व्यभिचार न होने के कारण हेतुता (सद्हेतु होना) होती है। इसलिये एक में रहना

समानधर्मोपयोगात्— ऊपर की व्याख्या में कहा गया है कि 'अनेक' शब्द से असाधारण धर्म लिशत होता है। अब बतलाते हैं कि समान शब्द की पर्यालोचना से भी अनेक शब्द का अर्थ लक्षणा से असाधारण ही होता है।

नैवं शक्यं भिवतुम् — असाधारण धर्म ही व्यक्तिरेक के द्वारा संशय का हेतु है और वह अनेक शब्द से लक्षणा द्वारा निकलता है (अनेकस्मात् व्यावृत्तः) असमान पद से नहीं।

भिचारी संशयनिणंयहेतू—यो व्यक्षिचारी स संशयहेतुः, योऽव्यभिचारी स निणंयहेतुरिति । यदि तहर्यु भयोव्यंभिचारित्वात् संशयहेतुत्वम् । नतु समानधर्मौ यप्ते रित्यने नैव गतमेतत्, गतार्थत्वात् न संशयकारणत्वेन पृथगुपादेयमिति ? सत्यम्, न व्यभिचारितामन्तरेणान्यत् संशयकारणम् । अपि तु व्यभिचारितायां सत्यां विधीयमानव्यभिचारः प्रतिषिध्यमानव्यभिचारः प्रतिषिध्यमानव्यभिचारव्येति भेदः । समानधर्मौ यप्ते रित्यनेन विधीयमानस्य व्यभिचार उपदिश्यते, अनेकथर्नौष्यत्ते रित्यनेन प्रतिषिध्यमानो व्यभिचार इति । एतावता च भेदेन पृथाभिधानम् ।

नजः पर्यु दासविषयत्वाद् अव्यभिचारिधमंद्वयोपनिपातोऽनेकधर्म इति केचित्— एके त्वनेकधर्मोपपत्ते रित्यन्यथा व्याचक्षते, एकस्मादन्योऽनेकधर्म इति । एवं च विद्वा-

या अनेक में रहना संग्रय का कारण होने अथवा निर्णय का कारण होने में हेतु नहीं होता। तब क्या (कारण) होता है। साधारण तथा असाधारण होने पर व्यभिचार होना अथवा व्यभिचार न होना संग्रय तथा निर्णय के हेतु होते हैं— जो व्यभिचार युक्त है वह संग्रय का हेतु होता है जो व्यभिचार रहित है वह निर्णय का हेतु होता है। (आक्षेप) यदि दोनों व्यभिचार-युक्त होने के कारण (ही) संग्रय के हेतु होते हैं तो 'समानधर्मोपपत्तेः' इस कथन से ही यह (अर्थ आ गया) गतार्थ होने से संग्रय के कारण रूप से (अनेकधर्मोपपत्तेः, का) पृथक् ग्रहण नहीं करना चाहिये। [परिहार] ठीक है, व्यभिचार (व्यभिचारिता व्यभिचारी होना) के अतिरिक्त संग्रय का अन्य कारण नहीं है, अपि तु व्यभिचार होने पर अन्वय (व्यभिचान) व्यभिचार अथवा व्यतिरेक (व्यभिचार कहा जाता है और 'अनेकधर्मोपपत्तेः' इससे व्यतिरेक-व्यभिचार 'और' इसी भेद के कारण पृथक् कहा गया है।

[दूपरे की व्याख्या का दोप] कोई (केचित्) कहते हैं' नञ् (यहाँ) पर्युदास अर्थ में है अतः व्यभिचाररहित दो धर्मों का एकत्र होना (उपनिपात) अनेकधर्म है—

लाधवं च — सूत्र में 'समानासमानधर्मोपपत्तेः के स्थान में 'समानानेकधर्मोपपत्तेः' कहने से एक अक्षर कम करना होता है। इस प्रकार के लाधव का आश्रय लिया गया है अभ्युच्चयमात्रमाह-लाधवं वेति, टी० ४८२। (यहां टींकाकार की दृष्टि में 'वा' पाठ है जो 'च' के अर्थ में है)।

यद्यनेकधर्मार्थ: — असाधारणधर्म व्यावतंक होने से संगय का कारण होता है, यह समझकर आक्षेप किया गया है (टी० ४८२) । निष दोष: — इत्यादि परिहार का आशय है कि व्यभिचार और अव्यभिचार संग्रय तथा निर्णय के निमित्त होते हैं।

सत्यम् — हेतु का व्यभिचार है सपक्ष तथा असपक्ष में समान रूप से रहना । वह व्यभिचार ही संगय का निमित्त है तो भी एक में अन्वय व्यभिचार होता है, दूसरे में व्यतिरेक । इसी लिये 'समानधर्मीपपत्ते:' तया 'अनेकधर्मीपपत्ते:' पृथक् पृथक् कहा गया है।

पर्यु दासविषयत्वात्—नञ्के दो प्रसिद्ध अर्थ हैं प्रसज्यप्रतिषेध और पर्युदास । जहां 'न' का सम्बन्ध किया से होता है वहां यह प्रसज्यप्रतिषेध (प्राप्त के प्रतिषेध) को प्रकट करता है जैसे घट

प्रितारिधर्मद्वयोपितिपातो लभ्यत इति, यं प्रति तर्कमाहुः । स च संशयहेतुः, यथा
 श्रावणत्वकृतकत्वे शब्दस्येति । तदयुक्तम्, असभवात्–न ह्यव्यभिचारिणौ विरद्धावे कस्मिन्नर्थे धर्मौ संभवतः, वस्तुनो द्वैरुप्यासंभवात् । यद्यभावव्यभिचारिणौ स्याताम्,
 एकं वस्तु द्वयत्मकं भवेत् । न चैतदस्ति । तस्मात् नोभावव्यभिचारिणाविति ।

न चायं प्रयोगो युक्तः । कथमिति ? यदि तावदेवं प्रयुद्धिते, यथा प्राक्तनो हेतुः, तथायमधीति । प्रसिद्धे न व्ययदेशा भक्ततीति सिद्धं पूर्वस्य हेतुत्वम्, । विरुद्धार्थप्रति-पत्तिवाधितत्वाद् उत्तरस्यानभिधानम् । अथैवं क्रियते यथेदं द्वितीयमनुमानं न भविति तथा प्राक्तननभीति , एवमिप प्रतिपन्नं द्वितीयस्थानुमानस्यासाधकत्वम् ।

अथ विरुद्धधर्मावेकत संभवत इति संभवान्न विरुद्धौ ? कश्च विरुद्धार्थ: ?

कोई तो 'अनेकधर्मापपत्ती:' इसकी अन्य प्रकार से व्याख्या करते हैं:, एक से भिन्न (अन्य) अनेक धर्म हैं। और, इस प्रकार दो विरुद्ध किन्तु अव्यभिचारी धर्मों का एकत्र होना प्राप्त होता है जिसे प्रतिपक्ष हेतु (प्रतितर्कम्) कहते हैं। और, संशय का हेतु होता है जैसे राज्य के श्रो। का विषय होता (श्रावणत्त्र) और कृतक होना (कृतकत्व) हैं। वह युक्त नहीं असमव होने से = बस्तुतः एक (ही वस्तु में दो अव्यभिचारी धर्म नहीं हो सकते; क्योंकि वस्तु का दो रूप वाली होना असभव है—यदि दोनों (विरुद्ध हेतु) अव्यभिचारी हुआ करें तो एक वस्तु दो स्वरूपों वाली हो जाये। और यह नहीं होता। इसलिये दोनों (विरुद्ध धर्म) अव्यभिचारी नहीं होते।

और 'यह प्रयोग भी युक्त नहीं। कैसे ? यदि (आप) इस प्रकार प्रयोग करते हैं कि जैसा पहला हेतु है बैसा यह भी है; तो 'प्रसिद्ध से व्यवहार होता है इस (न्याय) से पहला हेतु होना सिद्ध होता है, विरुद्ध अर्थ ज्ञान से वाधित होने के कारण दूसरे (अनुमान) का कथन (ही न होगा) और 'यदि ऐसा किया जाता है कि जिस प्रकार यह दिनीय अनुमान नहीं होता उसी प्रकार पहला भी। इस प्रकार भी दितीय अनुमान का साथक न होना मान लिया गया।

नहीं है (घटो नास्ति) किन्तु जहां उसका सम्बन्ध उत्तर पद से होता है वहां यह पर्युदास अर्थ में होता है, सदृश का ग्राहक होता है जैसे अबाह्मणः, इसका अर्थ हे ज्ञाह्मणभिन्न किन्तु ब्राह्मणसदृश क्षत्रिय आदि । इसी प्रकार यहां अनेक शब्द में न एक = अनेक पर्युदास अर्थ में है अतः 'अनेकधर्म शब्द से विरुद्धान्यभिवारी दो सदृश हेतुओं का ग्रहण होता है ।

प्रतितकंमाहु:-प्रतितकं = सत्प्रतिपश, विरुद्धाव्यभिचारी।

तदयुक्तम् —दोनों विरुद्ध हेतु पञ्चरूपोपपन्न नहीं हो सकते । यदि एक वस्तु में दो विरुद्ध हेतु सद्हेतु होंगे तो वस्तु के दो रूप होने लगेंगे ।

न चायं प्रयोगो युक्तः—विरुद्ध शब्द का अर्थ है विरुद्धार्थ । दोनों का स्वरूप ही विरुद्ध है तब विरुद्धाव्यभिचारिधमंत्रयोपनिपातः = विरुद्ध तथा अध्यभिचारी दो धर्मों का एकत्व होना यह प्रयोग ठीक नहीं ।

9. यत् तं, क, पं, ख।

कि सहासंभवः, आहो विरुद्धार्थसाधकत्वम्, अथ स्वरूदिमति ? यदि रहासंभवो विरोधः स नास्ति दर्शनात् । अथ विरुद्धार्थसाधकत्वं विरोधः, तदिष न युत्तम् वरतुनो हुन्तस्-कत्वासंभवात्-यदि विरुद्धार्थसाधकत्वभनयोधसंयोभेदेत्, एकं वरतु हुट्यस्मयभाषदते । अथ स्वरूपम् अनयोविरुद्धिमिति न किञ्चिद् बाधितं भवतिः, यस्मात् कृतकत्वं न श्रावणत्वम्, श्रावणत्वं च न कृतकत्वम्, तस्मात् न संशय इति ।

ज़्भेत्य वा विरोधं यदि विरुद्धार्थाभ्यां कृतकात्वश्रावणस्याभ्यां इग्दे तंज्ञयः क्षित्रते, स विशेषवर्शनादुपजातः कस्य दर्शनात् निवर्ततः? न हि दिशेषदर्शने सित विशेषाकाङ्क्षा अपि यथोपलब्धसामान्यस्य विशेषाकाङ्क्षेति । प्रत्यक्षत्रो निवर्तित्वयत इति चेत् न, योऽनुमानाभ्यांस निम्मितताभ्यामथं सज्ञयः, स प्रत्यक्षदर्शनान्वित्वयदि दो विरुद्ध धर्म एकत्र संभव हैं तो संभव होने से ही (वे) विरुद्ध न होंगे । किञ्च विरुद्ध (शब्द) का क्या अर्थ है? (१) क्या साथ न रह सकना अथवा (२) विरुद्ध अर्थों का साथक होना या (३) विरुद्ध स्वरूप होना ? (१) यदि साथ न रह सकना विरोध है तो वह है नहीं (दोनों के एक साथ) दिखलाई देने से । (२) यदि विरुद्ध अर्थों का साथक होना विरोध है, वह भी युक्त नहीं: न्योंकि वस्तु दो स्वरूप वाली नहीं हो सकती; यदि ये दोनों धर्म विरुद्ध अर्थों के साधक हों तो एक वस्तु दो स्वरूपों वाली होने लगेगी। (३) यदि इन दोनों (हेतुओं) का स्वरूप विरुद्ध है तो कुछ बाधित नहीं होता; क्योंकि कृतक होना श्रोत्र का विषय होना नहीं है और श्रोत्र का विषय होना नहीं है और श्रोत्र का विषय होना कृतक होना नहीं है । इसलिय संशय नहीं होता।

अथवा (तर्क के लिये) विरोध मान लिया जाये तब यदि विरुद्ध होने वाले कृतकत्व और श्रावणत्व के द्वारा शब्द में (नित्यता तथा अनित्यता का) संशय कर लिया जाता है तो विशेष के दर्शन से उत्पन्न होने वाला वह (संशय) किसके दर्शन से निवृत्त होगा? विशेष का दर्शन हो जाने पर विशेष (के ज्ञान) की आकाङ्क्षा भी नहीं होती है। जिस प्रकार सामान्य की उपलब्धि करने वाले को विशेष की आकाङ्क्षा होती है। (शङ्का) (वह संशय) प्रत्यक्ष से निवृत्त हो जायेगा। (समाधान) यह भी नहीं जो एक स्थान पर होने वाले (सन्निपतिताभ्याम्) दो अनुमानों से किसी अर्थ में संशय होता है वह प्रत्यक्ष-दर्शन से निवृत्त हो जायेगा, यह युक्तियुक्त नहीं; प्रत्यक्ष का विषय न होने किञ्चत् वाधितं भवति—यदि दो विरुद्ध हेतुओं का स्वरूप ही विरुद्ध मानते ही तो स्वरूप के भेद से संशय नहीं हो सकता, कृतकत्व और श्रावणत्व दोनों का स्वरूप मिन्न है ही। उपेत्य वा—यदि अभ्युपगमवाद से दो अध्यभिचारी हेतुओं में विरोध भी मान लिया जाये। विशेषदर्शनादुपजातः—वस्तुतः विशेष के अदर्शन से संशय उत्पन्न होता है। यदि विशेषदर्शन से संशय उत्पन्न होता तो उसकी निवृत्ति कैसे होगी।

संशय:

ष्यते इति न युक्तम्, प्रत्यक्षाविषयत्वात्-नायमर्थः प्रत्यक्षस्य विषयः, कि शब्दो नित्यो अथानित्य इति । आगमान्त्रियक्तिष्यते इति चेत् न, आगमस्य च विचार्यमाणत्वात्-आगम एवायं विचार्यते कि शब्दो नित्योऽथानित्य इति । न चायं प्रत्यक्षविषयो नागमः विषयः, अनुभानाभ्यां चायं परिच्छेत् मशक्यः । सोऽयमनिवर्यः संशयः प्राप्तः । भवतु कि नो बाध्यते ? कथं न बाध्यते, यदा वस्त्वन्तरपरिच्छेदकमनुमानं न भवति यथानित्या बुद्धः कृतकत्वादिति ? इदं खलु कृतकत्वं शब्दे दृष्टम् । स चानद्यशितः स्त्रभावो नित्योऽनित्य इति । तथा चोयलभ्यमानं कृतकत्वमन्यत्र बुद्धः यते संशयहेतुरिति-सर्वमनुमानमनित्यत्वसाधनं न स्यात् । सर्वं चानुमानमयं न्यायो बाधते इति । यशच न्यायोऽनुमानमुच्छन्ति नासौ न्यायविदा युक्तोऽभिधातुम ।

नित्यासंभवात् नायमस्मात् न्यायो बाधते-यस्य नित्यं किञ्चिदस्तिः तस्य विरुद्धाच्यभिचारी भवति । अस्माकं तु पक्षे नित्यं किञ्चित् नास्ति । ने बाधापरिज्ञानात्-न भवता बाधविषयोऽवलोकितः' किं तु नित्यमस्माकं नास्तीति

यह अथ प्रत्यक्ष का विषय नहीं है कि शब्द नित्य है अथवा अनित्य। (शङ्का)। यदि आगम (शब्द प्रमाण) से निवृत हो जायेगा। (समाधान) यह भी नहीं, आगम के ही (च) विचार का विषय होने से—आगम का ही यह विवार किया जाता है क्या शब्द नित्यहै या अनित्य' और इसप्रकार न यह प्रत्यक्ष का विषय है न आगम का विषय है और दोनों अनुमानों से यह निश्चित किया नहीं जा सकता अतः वह यह ऐसा संशय प्राप्त होता है जिसकी निवृत्ति नहीं हो सकती। (प्रश्न) निवृत्त न होने वाला (अनिवर्यः) संशय हो जाये हमारा क्या विगड़ता है। (उत्तर) क्यों नहीं विगड़ता जब कि अन्य (किसी एक) वस्तु का निश्चायक अनुमान नहीं होता; जसे बुद्धि (ज्ञान) अनित्य है कृतक होने से। अवश्य ही, यह कृतकता शब्द में देखी गई है; किन्तु (च) उस (शब्द) का स्वरूप निश्चित नहीं किया गया कि वह नित्य है या अनित्य। उसी प्रकार उपलब्ध होने वाली कृतकता अन्य बुद्धि आदि में संशय का निमित्त होती है; अतः अनित्यता को सिद्ध करने वाला सभी अनुमान न होगा। और यह नियम कि विरुद्धाव्यिभचारी संशय का हेतु है। सब अनुमानों का बाधक हो जाता है। वह न्यायविद् को कहना उचित नहीं।

[बौद्ध का आक्षेप] नित्य के सभव न होने से (विश्वाच्यभिचारी संशय का कारण होता है) यह अनुमान (न्याय) वाधित नहीं होता--जिसके मत में कुछ नित्य है उसके अनुसार (ही) यहाँ विश्वाच्यभिचारी होता है। हमारे (बौद्ध के) पक्ष में कुछ भी नित्य नहीं हैं। [पिरहार] नहीं, बाध को सम्यक् न जानने से—आपने बाध का विषय नसीं देखा; किातु हमारे यहाँ नित्य नहीं है केवल इतना निश्चय करके सर्व चानुमानभय न्यायो बाधते—यदि पञ्च इप से युक्त हेतु भी संशय का कारण हो जाये तो सभी अनुमान अप्रमाण होने लगेगे। (टी०४५३)।

बाधापरिकानात्—बाध का विषय भली भाँति न जानने से।

न्यायवासिकम्

एतावन्मात्रमवधार्यं परपक्षे दोषोऽभिधीयते इति भवतामिष पक्षे विरुद्धाव्यभिचारी कृता-वकाशः । कथम् ? सप्रतियं विज्ञानं सत्त्वात्, रूपादिवदित्येकः,अप्रतियं विज्ञानमरूपत्वाद्-वेदना पर्इत्यपरः । तदेवनव्यभिचारिधर्मद्वयोपनिपातनान्न सप्रतियं नाप्रतियं सिध्येत् ।तस्मादपन्यायोऽयं विरुद्धयोश्च धर्मयोः सन्निपातात् शब्दे संशय इति ।

धर्मधोः सातत्यादिभलापानुपपत्तिः । नायमतद्धर्मा कदाचिदिपि शब्द उपलभ्यते, सततं तु तद्धर्भ व भवति । श्रावणः कृतकश्चेति अभिलापो न स्यात्, नित्योऽनित्यो वेति न हि कशिचदयं द्वव्टा एकिस्मित् वस्तुनि स्थागुपुरुषधर्मावुपलसमानः शक्नुष्यात् वक्तुं स्याणुर्वा पुरुषो वेति । नैवं भविष्यतीति चेत्, व्याहतमुच्यते । ननु च भवताभिधीयते नित्य इति, स्याप्यभिधीयते अनित्य इति । कथं नाभिलप्यते ? सोऽयं विरुद्धाव्यभिचारी न्यायो विचार्यसाणः सर्वथानुसानमूलं वाधते, इत्यलमनेन ।

दूतरे के पक्ष में दोप बतला दिया आपके पक्ष में भी विरुद्धाव्यभिचारी का अवसर है। कैसे ? विज्ञान अपने स्थल में अन्य की उत्पत्ति का अतिवन्धक (सप्रतिधम्) है सत् होने से, रूप आदि के समान, यह एक (हेतु) है; विज्ञान अप्रतिध है रूप-रहित होने से वेदना के समान, यह दूसरा (हेतु) है। तब इस प्रकार दो अव्यभिचारी धर्मों के एकत्र होने के कारण (विज्ञान) न सप्रतिध न अप्रतिध सिद्ध हो सकेगा इसलिये यह नियम ठीक नहीं (अपन्यायः) कि दो विरुद्ध धर्मों के एकत्र होने के कारण शब्द में (नित्यता और अनित्यता का) संज्ञय हो जाता है।

किञ्च, दोनों धर्मों के सतत (निरन्तर) रहने के कारण शब्द-प्रयोग (अभिलाप:-अभि-धान) नहीं वन सकता—यस्तुत: यह शब्द कभी भी उन धर्मों से रहित (अतद्धर्मा) उप-लब्ध नहीं होता, निरन्तर उन धर्मों वाला ही होता है; अतः शब्द श्रावण (श्रोत्र का विषय) हैं, शब्द कृतक है, ऐसा कथन न होगा, अथवा शब्द नित्य है, शब्द अनित्य है, ऐसा भी (कथन) न होगा; क्योंकि द्रष्टा कभी भी एक वस्तु में स्थाणु और पुरुष के धर्मों की उपलब्धि करता हुआ स्थाणु या पुरुष नहीं कह सकेगा। (आक्षेप) (ऐसा अभि-लाप) नहीं होगा। [परिहार] यह परस्पर बिरुद्ध कथन है-निश्चय हो (ननु च) आप के द्वारा कहा जाता है 'नित्य है' मेरे द्वारा कहा जाता है 'अनित्य हैं' फिर अभिधान कैसे नहीं होता? अतः यह विरुद्धाव्यभिचारी संशय का हेतु होता है, यह नियम (न्याय) विचार किया जाता हुआ सभी प्रकार अनुमान के मूल का उच्छेद कश्ता है। इस विचार से अधिक क्या?

सप्रतिष्यं शिक्तानस्— 'नित्यासंभवात्' यह बौद्ध-मत हैं (टी० ४८३)। सप्रतिधत्व का अर्थं है अपने प्रदेश में दूसरे की उत्पत्ति का प्रतिबन्धक होना। सौत्रान्तिक बौद्ध के मत में रूप को मूसं तथा सप्रतिच माना गया है। (टी० ४८३)

अभिलापानुपपत्ति:---नित्य ही है या अनित्य ही है, इस प्रकार का कथन न बनेगा ।

सं शय:

२२६]

न्यायवात्तिकम्

अथ कृतकत्वश्रावणत्वे सहिते संश्यहेतू भवत इति; तथापि कृतकत्वश्रावणत्वे सहिते विभागजत्वावद् (शब्दवृत्तित्वात्) अन्यत्रासंभवाच्च संश्यहेतू भवतः । सोऽयम् अस्माद् (न) भिद्यते । यथैव विभागजत्वं सर्वतो व्यावृत्तत्वाद् असाधारणं शब्दे सशय करोति, तथा कृतकत्वश्रावणत्वे अपि शब्दवृत्तित्वाद् अन्यत्रासंभदाच्च सशय हेनू भवतः । सोऽयमसाधारण एव धर्मान्तरम्, अतस्तद्ग्रहणेनैवायं संगृहीत इति । तस्माद् एकस्मादन्यो धर्मोऽनेकधर्म इति न वक्तव्यम् इति ।

यदा पुनरेवम्भूतौ धर्मावेकस्य वस्तुनो भवतः, तदोपलब्धा तस्य वस्तुनः कि
प्रतिपत्तव्यमिति ? तदा तयोरेव धर्मयोः सामर्थ्याधिगतौ यत्नः कर्तव्यः । नोभावत्र
साधनम् । कतरोऽत्र साधनं कतरञ्च न साधनमिति सामर्थ्याधिगमे यत्नः करणाय
इति । यत्नद्रच कियमाणोऽनित्यत्वसाधनेष्वेवातिष्ठते 'इति' । कुतः ? नित्यत्वस्य
प्रमाणबाधितत्वात् । तच्चोपरिष्टात् वक्ष्यामः । तदेवं व्यवस्थितमेतत्, अनेकधर्मोपयत्तेरसाधारणात् धर्मात् संशय इति ।

यदि कृतकत्व और श्रावणत्व मिले हुए (सहिते) संशय के हेतु होते हैं तथापि कृतकत्व और श्रावणत्व मिले हुए विभागजत्व के समान (शब्द में होने के कारण) और अन्यत्र न हो सकने के कारण (ही) संशय के हेतु होते हैं। वह यह इस (असाधारण) से भिन्न नहीं है—जिस प्रकार विभाग से उत्पन्न होना (विभागजत्व) सबसे पृथक् होने के कारण असाधारण है तथा शब्द में संशय उत्पन्न करता है, उसी प्रकार कृतकत्व और श्रावणत्व (दोनों मिले हुए) भी शब्द में रहने के कारण तथा अन्यत्र न हो सकने के कारण संशय के हेतु होते हैं। यह अन्य धर्म (दोनों से मिला हुआ धर्म) असाधारण ही है; इमलिये उसके ग्रहण से ही यह संगृहीत हो गया। इस प्रकार एक से अन्य धर्म अनेक धर्म है, यह नहीं कहना होगा।

(प्रश्न) किन्तु जब ऐसे दो धर्म एक वस्तु के होते हैं तब ज्ञाता को उस बस्तु का कौनसा (किम्) धर्म जानना चाहिये। (उत्तर) तब उन दोनों धर्मों के ही सामध्ये के ज्ञान में प्रयत्न करना होगा—दोनों यहाँ साधन नहीं हैं, इनमें कौनसा साधन है, कौनसा नहीं ? इस सामध्ये के ज्ञान में प्रयत्न करना चाहिये। और किया जाता हुआ प्रयत्न अनित्यत्व के साधनों में ही स्थित होता (ठहरता) है। क्यों ? नित्यत्व के प्रमाण से बाधित हो जाने के कारण, और वह ऊपर बतलायेंगे। तब इस प्रकार यह निश्चित हो गया कि अनेक धर्म के ज्ञान से अर्थान् असाधारण धर्म (के ज्ञान) से संशय होता है।

अथ ''भवत इति — पञ्चरपोपन्त हेतुओं का एकत्त होना उःसंभव है तथा असत्प्रतिपक्षःव भी हेतु के पाँच रूपों में एक रूप हैं। जब दो ऐसे हेतु एकत्त होते हैं जिनमें प्रतिपक्षी हेतु होता है तो वे संशय के जनक होते हैं।

तथापि— प्रत्येक सत्प्रतिपक्ष है किन्तु मिले हुए दोनों असाधारण ही हैं वयोकि वैसा मिला हुआ रूप अन्यत्न नहीं देखा जाता (टी० ४५४)।

न्यायभाष्यम्

वित्रतिपत्ते रिति । व्याहतवेकार्थदर्शनं वित्रतिपत्तिः, व्याघातः विरोधोऽसहभाव इति । अस्त्यात्मै हं दर्शनम्, नात्त्यात्मेत्यपरम् । न च सङ्भावास (भावी सहैकत्र सम्भवतः । न चान्यतरसाधको हेतुरुपलभ्यते । तत्र तत्त्वानबधारणं सञ्चय इति ।

उ । तब्ब्यव्यवस्थातः खत्विष । सच्चोदकमुपलभ्यते तडागादिष्, मरीचिषु चाविद्यमानमुदकमिति । अतः वविद्वतभ्यमाने तस्वव्यव-स्थापकस्य प्रमाणस्यानुपलब्धेः किं सदुपलभ्यते ध्यासदिति संगयो भवति ।

अनुजलब्ध्यवस्थातस्य । सञ्च नोयलभ्यते मूलकीलकोदकादि, असच्यानुःचन्तं निरुद्धं यो । ततः दबिशनुपलभ्यमाने, कि सन्नोपलम्यते, उतासदिति' संगयो भवति । विशेषापेक्षा पूर्ववत् ।

न्यायवात्तिकम्

विप्रतिपत्तेः संशय इति । १ व्याहतार्थे प्रवाहो विप्रतिपत्तिशब्दस्यार्थः, व्याहतार्थ-प्रवादविषयमर्थम् उपलभमानस्योपलब्ब्यनुलब्ब्योरब्यवस्थाने सति तद्गतिवशेषानुस्मृतौ च सत्यां संशयो भविने इति ।

विश्वतिपत्तीरात—एक विषय मे परस्पर विरुद्ध ज्ञान विश्वतिपात्त है, व्याघात = विरोध अथवा साथ न रह सकता। 'आत्मा है' यह एक मत है, आत्मा नहीं है; यह दूसरा। और होना (सद्भाव) तथा न होना (असद्भाव) एक स्थल पर नहीं हो सकते। किन्तु किसी एक (मत) का साधक प्रमाण (हेतु) नहीं मिलता। वहाँ यथार्थता (तत्त्व) का अनिश्चय (ही) संशय है।

उपलब्धि का निरुपय ए होने से भी (संगय होता है)। तालाव आदि में विद्यमान (सत्) जल उपलब्ध होता है और किरणों में अविद्यमान जल। अतः कहीं उपलब्ध होने वाली (वस्तु) में यथार्थता के निरुपायक प्रमाण की उपलब्धिन होने के कारण 'क्या विद्यमान उपलब्ध हो रहा है अथवा अविद्यमान' यह संशय होता है।

और, अनुपत्रिय का निश्चय न होने से भी—मूली, कील और जल आदि विद्यमान होते हुए भी (च) उपलब्ध नहीं होता और अविद्यमान भी जो उत्पन्न नहीं हुआ या होकर नष्ट हो गया। तब कहीं उपलब्ध न होने वाली (वस्तु) में 'क्या विद्यमान होती हुई उपलब्ध नहीं हो रही अथवा अविद्यमान होकर' यह संशय होता है। (यहाँ भी) विशेष (के ज्ञान) की आवाड, क्षा पहले के समान है।

विप्रतिपत्ति से संशय होता है। विश्विपत्ति शब्द का अर्थ है—विरुद्ध अर्थों वाशे मत (प्रवाद)। विरुद्ध अर्थ वाले मतों का विषय जो पदार्थ है उसको जानने वाले को उपलब्धि और अनुपलब्धि की ब्यवस्था न होने पर और उस (पदार्थ) के विषय

में विशेष की समित होने पर संशय होता है।

यहाँ प्रकाशित पाठ यह है-तथापि कृतकृत्वश्रावणत्वे सिहते न विभागजत्वाद्रत्यक्षसंभवाञ्च संजयहेत् भवतः। किन्तु म० गञ्जावाथ झाकृत अग्रेजी अनुवाद तथा अग्रिम व्याख्यात्मक पाठ के अनुसार ऐसा पाठ स्वीकारा गया है—तथापि कृतकृत्वश्रावणत्वे सिहते विभागजत्ववर् (शव्दवृत्तिन्वाद) अन्यवास-भवाच्च संजयहेत् भवतः। सोऽयसस्माद् न मिटते। सोऽर स् = वहयहहेत् अस्माद् = असाधारणात्। तच्च व्याख्यासः—यहाँ वतलाया गया है: परस्पर विष्ठ अर्थ के साधक दो हेतु एकव होने पर प्रयत्नपूर्वक यह जानना होग। कि कीन सद्हेतु है, कीन असद् हेतु है; जैसे यहाँ जव्द का तित्वत्व प्रमाण से वाधित है; कृतक व हेत् ही प्रवहरूपोपपान है। वही सद् हेतु है (प्रविधे ४६४)।

१. य्याहतार्थः प्रवादो, कः, य्याहतार्थप्रवादो, ख

न्यायभाष्यम्

पूर्वः समानोऽनेकश्च धर्मो ज्ञोयस्थः, उपलब्ध्यनुपलब्धी पुनर्ज्ञातृस्थे, एतावता विशेषेण पुनर्वचनम्। समानधर्माधिगमात् समानधर्मोपपत्ते-विशेषस्मृत्यपेक्षो विमर्श इति । १। १। २३॥।

न्यायवात्तिकम्

तत्र समानोऽनेकश्च धर्मो ज्ञेयस्थः, उपलब्ध्यनुपलब्धी पुनर्जातृरथे इति भाष्यम् ।
तत्रोपलब्ध्यनुपलब्ध्योस्तावत् पृथक् संशयकारणत्वं न भवतीति र्वाचतमेतत् ।
समानः अनेकश्च धर्मौ ज्ञेयस्थ इत्येतविप न बुध्यानहे, किमत्र धर्मः संशयकारणमुत
ज्ञानिमिति ? न धर्मः संशयकारणिमत्यनेकधा समिथितम् । समानानेकधर्मज्ञानं तु
संशयकारणम् । तच्च ज्ञातिर वर्तते, इति नास्ति भेदः । समानानेकधर्मयोस्तु पृथगिमधाने उक्तं प्रयोजनम्, विधीयमानप्रतिषिध्यमानधर्मभेदाविति । विप्रतिपल्चेरित्ययं
वस्तुगतः संशयहेतुः; केऽत्र सम्यक् प्रतिपन्नाः के मिथ्येति श्रोतुः संशयो भवति ।
एतावता भेदेन पृथगिनधानम् । समानधर्मः सर्व एवायमिति चेत्; —समानधर्मेपयत्तेरनेकधर्मीयपत्तिविद्यतिपत्तेश्चेति सर्व एवायं समानधर्म एवाभिधीयते । तस्माद्

पहला समान धर्म तथा अनेक धर्म ज्ञेय में रहता है किन्तु उपलब्धि और अनुपलब्धि ज्ञाता में रहते हैं; इस भेद से पृथक् कहा गया है। समान धर्म के ज्ञान से अर्थात् समान धर्म की उपपत्ति से विशेष की स्मृति की अपेक्षा होने पर उभयकोटिक ज्ञान (विमर्शः) होता है, वह संशय है।

उनमें समान और अनेक धर्म ज्ञेय में रहते हैं किन्तु उपलब्धि और अनुपलब्धि ज्ञाता में रहते हैं, यह माध्य है। उनमें उपलब्धि और अनुपलब्धि तो संशय के कारण नहीं होते, यह विचार किया जा चुका है। समान और अनेकअर्म ज्ञेय में रहते हैं यह भी हम नहीं समझते कि क्या यहां धर्म संशय का कारण है अथवा ज्ञान। धर्म तो संशय का कारण है नहीं, यह अनेक बार सिद्ध किया जा चुका है, किन्तु समान और अनेक धर्म का ज्ञान संशय का कारण है और वह ज्ञाता में (ही) है, इस प्रकार कोई भेद नहीं। समान और अनेक धर्म के पृथक् कथन में तो प्रयोजन बतला दिया गया है कि विधीयमान और प्रतिपिध्यमान धर्म के भेद से (दोनों को पृथक् कहा गया है) 'विप्रतिपत्ते:' यह वक्ता में स्थित संशय का हेतु है; कौन यहाँ सम्यग् ज्ञान वाले हैं, कौन मिध्या वाले इस प्रकार श्रोता को संशय हो जाता है। इसी भेद से पृथक् कहा गया है। (आक्षेत्र) यदि यह (कहां) सब समान धर्म ही हैं—समान धर्म के ज्ञान से. अनेक धर्म के ज्ञान से और विरुद्ध ज्ञान से; यह सभी समान धर्म ही कहा

तदेवम्—उपसंहार, अनेकधर्मोपपत्तेः = असाधारणात् धर्मात् । प्रशस्तपाद भाष्य के अनुसार सामान्य ज्ञान से संशय होता है, असाधारण ज्ञान से नहीं । (द्र० प्रशस्तपादभाष्य, अनध्यवसित हेत्वाभास) ।

१.१.२३]

न्यायवात्तिकम्

356]

वैयर्थ्यात् पृथगनेकधर्भोपवतीं बन्नतिपत्ते स्वेति न प्रयोजनमस्ति । अत एवं कर्ते स्वम्, समानधर्मीपवत्तीं विशेषापेक्षो विमर्शः संशय इति । न, सूत्रार्थापरिज्ञानात्—सूत्रार्थम-परिज्ञायैवैतन्त्रचेष्टित इति । यथा च भेदः समानधर्मोपवत्ते रनेकध्मौपवत्ते दिन्नति पत्ते स्वेति तथा च वर्णितम् ।

अपरे पुनः समानवर्मोपपत्यादिभिः पदैः पृथक् पश्चिविषं संज्ञयं वर्णयन्ति । समानवर्मोपपत्ते विज्ञोबापेक्षो विमर्शः संज्ञय इति । एवं शेथेषु पवेषु । तन्त युक्तव्, उपस-दृश्यमुपलब्ध्यवस्थायाः पूर्वपद्विज्ञेबणत्वात्-समानधर्मोपपत्तौ सत्यामुपलब्ध्यनुपलब्ध्य-द्यवस्थायां च सत्यां विज्ञेबापेक्षो विमर्शः संज्ञय इति सूत्राष्टः। एवमनेकधर्मोपपत्ते विप्रतिपत्ते विश्वेति वाष्ट्रयम्। तस्त्रान्नोपलब्ध्यनुपलब्ध्यवस्था पृथक् संज्ञयकारणिनाते। उपलब्ध्यनुज्ञाता है । इसलिए व्यर्थ होने के कारण पृथक् से अनेकधर्मोपपत्तेः 'विप्रतिपत्तः' कहने का कोई प्रयोजन नहीं है, अतः (सूत्र) इस प्रकार करना चाहिये 'समानधर्मोपपत्तेः विश्वेषापेक्षो विमर्शः संज्ञयः', [पिरहार] नहीं, सूत्र के अर्थ का सम्यक् ज्ञान न होने से—सूत्र के अर्थ को भली भाँति न जानकर ही आक्षेप किया जा रहा है । और, समान वर्म के ज्ञान से, अनेक धर्म के ज्ञान से तथा विरुद्ध धर्मों के ज्ञान से इनमें जिस प्रकार भेद है वह विणत किया जा चूका है ।

किन्तु (पुनः) दूसरे (न्यायभाष्यकार, द्र० टी०) समानथर्मीपपत्ति आदि पदों के द्वारा पृथक् पाच प्रकार का संशय बतलाते हैं: समान धर्म की उपलब्धि से विशेष की अपेक्षा करने वाला उभयकोटिक ज्ञान (विमर्शः) संशय है; इसी प्रकार शेष पदों में भी। [निराकरण] वह युक्त नहीं; उपलब्धि तथा अनुपलब्धि की अव्यवस्था के पहले पदों का विशेषण होने से—समान धर्म की उपलब्धि होने पर तथा उपलब्धि और अनुपलब्धि की व्यवस्था न होने पर विशेष की आकाङ्क्षा करने वाला उभयकोटिक ज्ञान संशय है, यह सूब्र का अर्थ है। इसी प्रकार अनेक धर्म की उपलब्धि से तथा विश्वतिपत्ति से भी कहना चाहिये। इसिन्धं 'उपलब्धि तथा अनुपलब्धि की अव्यवस्था' पृथक् संशय का कारण नहीं है। और, उपलब्धि तथा अनुपलब्धि की

विप्रतिपःत्त.—विप्रतिपत्ति का अर्थ है विरुद्ध ज्ञान; किन्तु एक दूसरे का ज्ञान वादी-प्रतिवादों के के लिथे अत्यन्तपरोक्ष है अतः वह अपने कार्य प्रवाद को लक्षित करता है।

उपलब्ध्यवस्थातः—भाष्यकार ने उपलिच की अध्यवस्था तथा अनुपाबिध की अध्यवस्था को

पृथक् संशय का जनक मानकर ऐसी व्याख्या की है।
तत्र समानोऽनेक इच...विजितम्-इस वार्त्तिक में भाष्यकार की व्याख्या का दोष दिखलाते हुए संशय
के जनक तीन हेतुओं का स्पष्टीकरण किया गया है:—(१) समान और अनेक धर्म से नहीं अपि तु
समान और अनेक धर्म के ज्ञान से संशय होता है, (२) उपलब्धि और अनुपलब्धि की अव्यवस्था
संगय का पृथक् कारण नहीं है, (३) यद्यपि साधारण धर्म का विरोधी असाधारण धर्म है तथापि
असाधारणध्विता का ज्ञान संशय का कारण है असाधारण धर्म नहीं। ये तीनों हेतु परस्परभेद के
कारण पृथक्-२ कहे गये हैं।

न्यायवात्तिकम्

पलड्ध्योद्वें विध्याच्च संशयो न युक्तः । कुतः ? लोकविरोषास् — उपलड्ध्यनुपलड्ध्य-व्यवस्थानात् संशयो मवतीति बुवाणो लोकं वाधते । कथिनिति ? पिकिञ्चिदयमुपलभते सर्वत्रास्य संशयेन मियत्व्यम् । कि कारणम् ? उपलभ्यमानं द्वेधा भवतीति । उपलब्धेद्वें विध्याच्च यः संशयो भयित तस्य कुतो निवृक्तिः ? विशेषवर्षानान्त्रवर्तते इति चेत्; विशेषेव्वप्येयम् — य एते विशेषा उपलभ्यन्ते किमेते सन्त उताहोऽसन्त इति ? यावद् यावदुपलभ्यते, तर्वत्रोपलब्धिद्वे विध्यात् संशय इत्यन्तित्यः संशयः । एवमनुपलब्धिद्वै विध्येऽपि वक्तव्यम् । न चास्य क्वचित् समाद्वासः स्यात् । यदायम-पवरकावौ सर्पादीन्नोपलभते तदा तस्य सर्पवदेतद्वेश्म आहोऽसर्पवदिति संशयो भयित । अयमित संशयोऽनिवर्त्यं एवेति सर्वत्राश्वासो न स्यात् । येषां च 'पञ्चिवधः संशयः'

दो प्रकार का होने के कारण संशय होना युक्त नहीं है। वयों ? लोक का विरोध होने से—उपलब्धि तथा अनुपलब्धि की अव्यवस्था में संशय होता है, यह कहने वाला लोक का विरोध करता है। कैसे ? जो कुछ भी उपलब्ध होता है सब में इस (व्यक्ति) को संशय हो जायेगा। वया कारण है ? वयोंकि उपलब्ध होने वाला (विषय) दो प्रकार का होता है। किञ्च, उपलब्धि के दो प्रकार होने से जो संशय होता है उसकी निवृत्ति किससे होगी ? यदि (कहो कि) विशेष के दर्शन से (उसकी) निवृत्ति हो जायेगी तो विशेषों में भी ऐसा ही होगा—जो ये दिशेष उपलब्ध होते हैं, क्या ये विद्यमान हैं अथवा अविद्यमान ? जितना-जितना उपलब्ध होता है, सभी में उपलब्धि के दो प्रकार होने से संशय होगा; इस प्रकार संशय निवृत्ति के योग्य न होगा। इसी प्रकार अनुपलब्धि के दो प्रवार के विषय में भी वहा जा सकता है। और इस (व्यक्ति) को कहीं (भी) विद्यास न होगा। जब यह किसी कक्ष (—अपवर्क) आदि में सर्प आदि को न देखेगा तब (भी) उसको यह घर सर्प वाला है अथवा सर्परहित है, यह संशय होगा। और, यह संशय भी निवृत्ति के योग्य नहीं है; अतः सब जगह विश्वास न होगा। किञ्च, जिनके (सत में) पाँच प्रकार का संशय है, यह सब जगह विश्वास न होगा। किञ्च, जिनके (सत में) पाँच प्रकार का संशय है, यह

अपरे पुत्त:—भाष्यकार आदि, बात्तिककारी भाष्यकारमतमुपन्यस्य दूषयति अपरे पुतरिति, टी० ४६५ ।

पञ्चिवधं संदायं दर्णयन्ति—भाष्यकार की दृष्टि में 'विशेषापेक्षो दिमर्शः संशयः' यह तो संशय का सामान्य लक्षण है। सूत्र के शेष पाँच पदों से पाँच प्रकार का संशय कहा गया है:— (१) समानधर्मोपपत्तेः, (२) अनेक-धर्मोपपत्तेः, (३) विप्रतिपत्तेः, (४) उपलब्ध्यव्यवस्थातः, (४) अनुपलब्ध्यव्यवस्थातः।

द्वै विष्याच्य : न युक्त: — मदि उपलब्धि तथा अनुपलब्धि की अव्यवस्था से संशय होगा तो लोक-विरोध होगा। लोक कहीं भी आश्वस्त न होगा।

यह भी नहीं कहा जा सकता कि अनक्ष्यासदिकापन्न ज्ञान में उपलब्धि तथा अनुपलिध की अव्यवस्था से संगय होता है; क्योंकि अनक्ष्यासदिकापन्न ज्ञान में दूर से 'यह अग्नि है' ऐसी प्रतीति होने पर उपलब्धि की अव्यवस्था से भी 'नाग (हाथी है' या 'नग' (वृक्ष)' ऐसा संजय नहीं होता । किन्तु पु. लभते, कः लक्ष्यते खः.

इति सूत्रार्थः, तैरप्यस्य कारणकृतो भेदः वक्तव्यः स्वभावकृतो वा । तद् यदि तावत् कारणकृतो भेदः, न पञ्चित्रधः, अनेकविधः संशय इति प्राप्तम् । अथ स्वभावभेदात् । स्वभावभेदस्यासंभवादेकरुपः संशयः, संशीतिः संशय इति ।तस्मात् पञ्चित्रधः संशय इति न सूत्रार्थः ।

समानधर्मग्रहणान्न संज्ञयो धमिविषयत्वात्—यदिदमुच्यते समानधर्मौपपत्तेः संग्रय इति, तदयुक्तम्, धाँमविषयत्वात्—न हि समाने धर्मे उपलब्धे धमिणि संग्रयो युक्तः, धमँधमिणोभँदात्। न हि गवि दृष्टेऽद्वे संग्रयो भवति। धमिणश्चा-दृष्टत्वात्, नानुवलद्धे न निर्णीते संग्रयो भवतीति व्याघातः। धमंधमिभावात् संग्रय

सूत्र का अर्थ है उन्हें भी इस (संशय) का 'कारण द्वारा किया गया भेद है अथवा स्वाभाविक भेद है', यह कहना होगा। उनमें यदि कारण द्वारा किया गया भेद है तो पांच प्रकार का ही नहीं 'अनेक प्रकार का संशय होता है' यह प्राप्त हुआ। यदि स्वभाव के भेद से (संशय में भेद होता है) तो स्वभाव का भेद न हो सकने के कारण संशय एक रूप वाला (ही) होगा, उभयकोटिक ज्ञान (संशीतिः) संशय है। इसलिये पांच प्रकार का संशय है, यह सूत्र का अर्थ नहीं।

(आक्षेप) समान धर्म के ग्रहण से संशय नहीं होता, धर्मी (धर्म वाले) के विषय में होने से—जो यह कहा जाता है कि समान धर्म की उपलब्धि से संशय होता है, वह युक्तियुक्त नहीं; क्योंकि (संशय) धर्मी के विषय में होता है, अतः समान धर्म के उपलब्ध होने पर धर्मी में संशय होना युक्त नहीं; क्योंकि धर्म तथा धर्मी में भेद होता है। भी के देखने पर अश्व में संशय नहीं हुआ करता। और, धर्मी को न देखा जाने के कारण 'नानुपलब्धे (न अज्ञात में न निश्चित में संशय होता है) इस (न्याय भाष्य १.११) का विरोध होता है। कोई (एकदेशी) कहते हैं —धर्म-धर्मी-भाव से संशय होता है—कोई तो (इसका) परिहार वतलाते हैं कि धर्म के देख लेने पर धर्मी में संशय होता है; क्योंकि (उनमें) धर्म तथा धर्मी का सम्बन्ध होता है; किन्तु भी को देखने पर अश्व में संशय नहीं होता; क्योंकि (वहां) धर्म तथा धर्मी

भिंगुक के पुर्णों का समूह है या उपर्वुध (सूर्य) है यह संशय होता है जिसमें समानश्रमोंपपित्त ही कारण होती है। इसी प्रकार समान धर्म आदि दर्शन के विना केवल अयोग्यानुपलव्यि से भी संजय नहीं होता (टी० ४८५)।

पहा होता (टा॰ बन्द) ।

येषां च-यहां सशय के पांच भेद मानने में दूसरा दोष कहा गया है, सामग्री के भेद से संशय के तीन ही भेद हैं । यदि सामग्री में स्थित कारणों के भेद से संशय के भेद मानें तो पांच ही नहीं संशय के अनेक भेद हो जायेंगे ।

समानधर्मग्रहणान्न संशयः—समानों का धर्म समानधर्मा, इस प्रकार यहाँ पष्ठी समास मानकर आक्षेप किया गया है।

इत्येके — यह एकदेशी का मत है। इसका आशय है कि धर्मी और धर्म में सम्बन्ध होता है जतः धर्म को देखकर धर्मी में संशय हो सकता है।

इत्येके—एके ताबत् परिहारं बुबते, धर्मेट्ट धर्मिण संशयः, धर्मधर्मि मादात्। नपुनर्गवि इट्टेंऽक्ष्वे संशयो भवति, धर्मधर्मिभावानुपपत्तेः। न, नानात्वानिवृत्तेः—न हि धर्मधर्मि-मादेन नानात्वं निवतंते। अथ धर्मधर्मिभावो नियामकः। इच्छादिसूत्रं (१.१.१०) तिह् च्याहृत्यते। कथिति ? इच्छादयः प्रतिसन्धानाद् आत्मानं गमथन्तीति सूत्रार्थः। तत्र परः प्रत्यवस्थितः कार्यकारणभावात् प्रतिसन्धानमिति न नानात्वस्यावाधनाद् इत्यनेन निवतंते' इति। इह पुनर्भदता धर्मधर्मिभावादिति बुवता नानात्वमेव धर्मधर्मिमावविशिष्टं नियामकपुष्यते' इति श्रृगुयात् परोऽपि वसतुं कार्यकारणभावो नियामक इति। तस्माद् अपन्याख्यानमेतत् 'धर्मधर्मिभावात् संशय' इति।

अथ समानधर्मीपलब्धेरन्यस्मिन् धींमणि संशयो भवतीति कः परिहारः ?
अयं परिहारः । बहुत्रीहिः समासः । अतो धींमणोऽभिधानम् । समानधर्मीपपत्ते रित्यनेत पदेन बहुत्रीहिसमासवान् धर्म्यवापिदश्यते । वथम् ? समानो धर्मी यस्य स
भवति समानधर्मी । समानधर्मेण उपपत्तिः समानधर्मीपपत्तिः । किमुक्तं भवति ?
समानधर्मवतो धींमणो दर्जनादिति ।

का सम्बन्ध नहीं बन सकता। [एकदेशी का निराकरण] यह ठीक नहीं; दोनों की पृथक्ता की निवृत्ति न होने से—धमं तथा धर्मी का सम्बन्ध होने से (भी) पृथक्ता नहीं दूर हो जाती। यदि (कहो कि) धमं तथा धर्मी का सम्बन्ध (संदाय का) निरवायक हो जाता है तो इच्छादि सूत्र (१:१:१०) का विरोध होता है। कैसे? इच्छा आदि प्रतिसन्धान से आत्मा का बोध कराते हैं, यह सूत्र का अर्थ है। उस पर दूसरा (बीड) उत्तर देता है (प्रत्यवस्थित: प्रतिवादी के रूप में उपस्थित होता है), कार्यकारणभाव से प्रतिसन्धान हो जाता है। 'नहीं, इससे (दो विज्ञानों की) पृथक्ता का बाध नहीं होता' इस (कथन) से (इसकी) निवृत्ति करते हैं। किन्तु यहाँ 'धर्म तथा धर्मी के सम्बन्ध से विशिष्ट पृथक्ता को ही (संशय का) नियामक कहा है। इस प्रकार दूसरा (बौद्ध) भी कह सकता है कि कार्यकारणभाव (ही अनुसन्धान का) नियामक है। इसलिये यह असम्मिवीन व्याख्या है कि धर्म तथा धर्मी का सम्बन्ध होने से संशय हो जाता है।

तब (अथ) समान धर्म की उपलब्धि से अन्य अर्थात् धर्मी में संदाय हो जाता है, इस विषय में क्या परिहार है ? [सिद्धान्ती] यह परिहार है, (समानधर्म में) बहुबीहि समास है। अतः इससे धर्मी का कथन होता है—'समानधर्मीपपत्तोः' इस पद से बहुबीहि समास वाला (अन्य पदार्थ) धर्मी ही कहा जाता है (अपदिश्यते) कैंसे ? समान है धर्म जिसका वह है समानधर्मा। समानधर्म की (समानधर्मणः) की उप-

नानात्वानिवृत्तः — धर्म तथा धर्मी में समवाय सम्बन्ध होने पर भी उनकी पृथक्ता बनी ही रहती है अतः आक्षेप भी बना ही रहेगा।

इट्छादि पुत्र तर्हि च्याहन्यते — धर्मधर्मिभाव को नियामक मानने पर यह दोष दिया गया है। इच्छादिसूत्र के भाष्य में कहा गया है कि कार्यकारण भाव से प्रतिसन्धान मानते हुए भी पृथक्ता को दूर नहीं किया जा सकता—कार्यकारणभावात् प्रतिसन्धानं ब्रुवन् न नानात्वं बाधते (१.९.९० भाष्य)।

सं धर्मधर्मिभावात्, कः, अत्र 'खं' इति न युक्त प्रतिभाति ।

१.१.२३]

न्यायवात्तिकम्

विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः' इति । विशेषापेक्षो विशेषस्मृत्यपेक्ष इति । अथ सा विशेषस्मृतिः कि विशेषविषया, कि संशयदिषयिक्षिष्या, उताय-विषयिति?—योऽसौ संशयस्य विषयः यत् तं समान्यमण्युपतः कि तस्यायं विशेषाननुस्मरति, उतान्यस्येति ? यदि तावत् तस्य ? तन्न युक्तम्, तिष्टिशेषाणां व्यव्यवतनुभूतत्वात्—योऽथः पूर्वमुपलव्यविशेषः, तद्गतान् विशेषाननुस्मरतीति युक्तम्, तिष्टिशेषाणामनुभूतत्वात् । यदा पुनरयमनुपलव्यपूर्वविशेषः सामान्यत उपलभ्यमानः सन्दिह्यते तत्र विशेषानुस्मृतिः कथम् ? तिष्टिशेषाणामननुभूतत्वाद् इति । न, लामान्यवचनत्यात्—विशेषापेक्ष इति सामान्यवचनम्, न पुनरनेनाद्यायंते तस्य वा अन्यस्य वेति । यदा तद्गता विशेषाः सुस्मूणिता प्रवितः तदानुभूतेषु विशेषेषु विस्त सामान्यवचनतः विशेषाः विशेषाः स्वस्तिः तदान् त्रिते विशेषाः विशेषाः स्वस्तिः स्वस्तिः तदानुभूतेष् विशेषाः विशेषाः स्वस्तिः स्वस्तिः तदानुभूतेषु विशेषेषु

लब्बि = समान-पर्नोपपत्ति । क्या अभिप्राय है ? समान धर्म बाल धर्भी के दर्शन से यह विशेष की आकाङक्षा करने वाला उभयकोटिक ज्ञान (विमर्शः) संशय है। विशेषापेक्ष का अर्थ है विशेष की स्मृति की अपेक्षा करने वाला । (आक्षेप) वह विशेष की स्मृति किस बिशेष के विषय में होती है, क्या संशय के विषयों में से (किसी) विशेष विषय में होती है अथवा अन्य (किसी) विषय में होती है—जो वह संशय का विषय है जो उस ममान धर्म वाले को (द्रष्टा) देखता है क्या यह (अयम = द्रष्ट) उसके विशेष (धर्नी) का अनुस्तरण करता है अथवा अन्य के ? यदि उसके ही तो वह युक्त नहीं उसके विशे ों (धर्मी) का कहीं अनुभव न होने से—जिस पदार्थ (अर्थः) के विशेषों की पहले उक्त्यब्यि की गई है उनके विशेषों का अनुस्मरण करना (ही) युक्त है; क्यों के उसके विशे में (धर्मों) का अनुभव दिया गया है। किन्तु (पुनः) जब यह (पदार्थ) जिसके विशेषों की पहने उपलब्धि नहीं हुई, सामान्यतः उपलब्ध होते हुए सन्देह का विषय होता है (सन्दि ह्यते) वहां विशेष की अनुस्मृति कैसे होती है ? क्योंकि उसके विशे में का अनुभव नहीं किया गया ? [परिहोर] यह ठीक नहीं, सामान्यवचन होने से—'विशेषापेक्ष' यह सामान्य कथन है किन्तु इससे <mark>यह</mark> नहीं निश्चित बिया जाता कि उसके (विशेष की अनुस्मृति) या अन्य के । जब उसमें स्थित विशेषों की स्मृति अभीष्ट होती है (सुस्मूर्षिता भवन्ति) तव अनुभव विये गये विशेषों की स्मृति होती है किन्तु जब पहले न जाने गये विषय में संशय होता है तब

अयं परिहार: —यह सिद्धान्ती का परिहार है। समानो धर्मीयस्य, इस्ह्रेंविग्रह में बहुन्नीहि समास है जिससे धर्मी को ही कहा गया है अतः कोई दोष नहीं है।

कितिशेषविषया—िकस विशेष के विषय वाली, क्या विशेष है विषय जिसका; 'कश्चासी विशेष श्चेति किविशेषो विषया यस्याः (बहुन्नीहि)।

डयवस्थितं त्रिविधः संशयः—वात्तिकार की दृष्टि में यहाँ तीन प्रकार का ही संशय कहा गया है : (१) समानधर्मोपपत्तोः उपलब्ध्यनुपलब्ध्यब्दबस्थातश्च विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः, (२) अनेकधर्मोपपत्तोः , (३) विप्रतिपत्तोः ।

२३४] [संशय:

न्यायबात्तिकम्

स्मृतिः । यदा त्रतुपलब्धपूर्वेऽर्थे संशयः, तदा सादृश्याद् अन्यगतान् विशेवान् सुस्मूर्यंत इति । एवं तावद् व्यवस्थितं त्रिविधः संशय इति ।

अनेन च संशयलक्षणेन यान्यविषद्धानि संशयलक्षणानि तान्यपि संगृहीतानि,
यथा काश्यवीयम्, 'सामान्यप्रत्यक्षाद् दिशेषाप्रत्यक्षाद् दिशेषस्मृतेश्च संशयः'
(बै० २.२.१६.) इति । अस्यार्थः, सामान्यप्रत्यक्षादिति, सामान्यवतः प्रत्यक्षाद्
धर्मण इति । न पुनरयं पदार्थः सामान्यस्य प्रत्यक्षादिति । विशेषाप्रत्यक्षत्वमच्यवस्थितविशेषत्वम्, नारिमन् दिशेषा व्ययस्थिता इति । विशेषस्मृतेश्च संशय इति
समानम् । कथं पुनरनेन सूत्रेणासाधारणो सभ्यते इति ? सभ्यते, व्यभिचारित्वात्—
व्यभिचारि साधारणम् । सच्वातायारणेऽपि व्यभिचारित्वमस्तीति सभ्यते । अनेकधर्मोग्वस्तिहं पृथङ् न पठितव्या । अन्यवय्यतिरेकभेदिश्वस्या पृथगभिधानं । पुनः

सः इच्य के कारण अन्य में होने वाले विशेषों की स्पृति करने की इच्छा करता है।

इस प्रकार यह निश्चित हो गया कि तीन प्रकार का संशय है।

और इस सशय के लक्षणं द्वारा (अन्य तार्किकों के) संशय-लक्षण जो इसके विपरीत नहीं हैं, उनका भी संग्रह हो गया; जैसे कणाद (कादयप) का लक्षण है सामान्य इत्यादि (वै० सु , २.२.१६) अर्थात् सामान्य वाले का (टी०) प्रत्यक्ष होने से, विशेष का प्रत्यक्ष न होने से तथा विशेष की स्मति होने से संशय होता है। इसका अर्थ है-सामान्य बाले का प्रत्यक्ष होने से अर्थात् धर्नी का; विन्तु यह अर्थ नहीं है कि सामान्य का प्रत्यक्ष होने से । विशोध का प्रत्यक्ष न होता है विशोध का निश्चित (व्यवस्थित) न होता, इसमें विशेष निश्चित नहीं होते। विशेषस्मति से संगय होता है, यह (न्यायोक्त लक्षण में तथा वैशेषिकोक्त लक्षण में) समान है। (प्रका) किन्तू इस सूत्र से 'असाधारण' कैसे प्राप्त होता है। (उत्तर) प्राप्त हो जाता है. व्यक्तिचारी होते से—साधारण व्यभिचारी होता है और वह व्यभिचारी होना (व्यक्तिचारित्वम्) असाधारण में भी है, अतः वह भी प्राप्त हो जाता है; (आक्षेप) तब (यदि समान धर्म शब्द से असाधारण का भी ग्रहण हो जाता है.) यहां 'अनेब-धर्मोपपत्ति' शब्द पृथक् न पढ़ना चाहिये । [परिहार] अन्वय (िन्हीं धर्मों का अनेकों व्यतिरेक अने हों (अभाव, होना, केवल एक में होना, असाधारण) का भेद वतलाने की उच्छा से अर्थात् संशय के कारणों का भेद दिखलाने की इच्छा से पृथक् कथन किया गया है। (वैशेषिक सूत्र पर आक्षेप) किन्तु जो यहां विशेष का प्रत्यक्ष न होने से (विशेषाप्र-त्यक्षाद्) तथा विशेष की स्मृति होने से (विशेषस्मृतेश्च) इन दोनों पदों में पुनरुक्ति दोष बतलाते हैं, सामान्य के प्रत्यक्ष से और विशेष की स्मृति से संशय होता है,

१, डा॰ गङ्गानांथ झा ने यहाँ 'न पुनः' पाठ माना है।

यान्यित्रिरुद्धानि—जो इस संखय लक्षण के विरुद्ध नहीं हैं उनका संग्रह हो जाता है। सामान्यप्रशयक्षात्—सामान्यवतः प्रत्यक्षात् (वा०) यहाँ सामान्यवान् को सामान्य शब्द से कही गया है—'सामान्यश्चासौ प्रत्यक्षण्चेति धर्मी तथोक्तः, टी० ४८५। विशेषाप्रत्यक्षत्यम् —वार्तिककार के अनुसार इसका अर्थ है—अब्यवस्थितविशेषत्वम्—जिसमें

१.१.२३

न्यायवात्तिकम्

[२३५

संशयकारणभेदविषक्षयेति। ये त्त्रव विशेषाप्रत्यक्षाद् विशेषस्मृतेश्चेति पदयोः पौनस्वत्यं वर्णयन्ति; सामान्यप्रत्यक्षाद् विशेषस्मृतेश्च संशय इत्यभिधीयमाने किल गभ्यत एवैतद् विशेषाप्रत्यक्षादिति। तन्त्र, सूद्रार्थाप्रि- ज्ञानात्—नायं सूत्रार्थः विशेषाणां न प्रत्यक्षत्विमित, अपि त्वय्यवस्थितिशेषदत्त्वम्, नास्थित विशेषाप्रत्यक्षवत्त्वमित्ति, विशेषाप्रत्यक्षवत्त्वमित्ति, नास्थित विशेषाप्रत्यक्षवत्त्वमित्ति।

अन्ये तु संशयलक्षणमन्यथा व्याचक्षते । साधम्यंदर्शनाद् विशेषितप्योविमर्शः संशय इति । सैरिय भाधम्यंद्यावधारितत्वात् संशयस्य विषयो वनतव्यः । धर्माति चेत्-नन्तरः संशयस्य विषयो धर्मा । सत्यमुदतो न पुतर्युक्तः । क्षयं न युक्तः ? यदि तावद् धर्मव्यतिरिकः धर्मिणमभ्युपैति, व्याहतं भवति । धर्मविभिणोश्च नाना-त्राभयुवयो धर्मस्यावधुतत्वाद् धर्मिणश्चाद्यदृद्धत्वात् न संशयः । न ह्यन्विस्मिन् व्ह्टेऽन्यत्र

यह कहा जाने पर अरब्ध ही यह प्रतीत हो जाता है कि विशेष का प्रत्यक्ष न होने से (बिशेषाप्रत्यक्षाद्)। बस्तुतः प्रत्यक्ष किये गये विशेषों का कोई स्मरण नहीं करता। [परिहार] यह ठीक नहीं, सूत्र के अर्थ को भनी भांति न जानने से-यह सूत्र का अर्थ नहीं ि विशेषों, का प्रत्यक्ष नहीं होता अपि तु (यह अर्थ है) विशेष का निश्चित (ब्यवस्थित) न होना; इसमें विशेष का प्रत्यक्ष न होता नहीं है, अतः यह दोष नहीं है।

दूसरे (बौद्ध) तो संशय का लक्षण अन्य प्रकार से बतलाते हैं समान धर्म के दर्जन से बिशोप के जानने के इच्छक को उभयकोटिक ज्ञान (बिमर्शः) संशय है। उन्हें भी समान धर्म निश्चित हो जाने के कारण संशय का विषय कहना होगा। यदि धर्मी है कह ही दिया है कि संशय का विषय धर्मी है (धर्मी के विषय में संशय होता है)। ठीक है, कह दिया है किन्तु वह युक्त नहीं। क्यों युक्त नहीं? (उत्तर) यदि आप धर्म से भिन्न धर्मी को मान लेते हैं तो (अपो सिद्धान्त का) विरोध होता है। और धर्म तथा धर्मी को पृथक् मानने पर धर्म के निश्चित होने से तथा धर्मी के देखा गया न होने से संशय न होगा। वस्तुत: अन्य का दर्गन होने पर अन्य में संशय नहीं होता। यदि हमारी रीति (दिशा) से 'साधर्म्य' शब्द के द्वारा धर्मी को ही वहा जाये। वह (भी) युक्त नहीं, सधर्म का भाव साधर्म्य है, इस भावार्थक शब्द से धर्म

विशेष का निश्चय न हुआ हो ऐसा ज्ञान 'अध्यवस्थितविशेष' है उसका भाव । असाध्यारफो लभ्यते—प्रशस्तपादभाष्य में यहाँ असाधारण का संकेत नहीं माना गया (द्र० अन ध्यवसित हेःवाभास) ।

अन्ये तु—दूतरे (बीद) तो, बौद्धाभिमतं संशयलक्षणमुप्त्यस्यित अन्ये रिवित, टी० ४८६। यदि ताबद् ः व्याहतं भवति—वीद्धों के मत में रूपादि धर्मों का आश्रय कोई धर्मी नहीं है,

अतः सिद्धान्त-विरोध है। **धर्मधर्मिणोश्च**—यदि सिद्धान्त के विरोध में भी धर्म तथा धर्मी का भेद मानते हो तो अफ्रिम दोष है।

अस्मिहिशा—हमारी रीति से, समान धर्म = समानधर्म वाला धर्मी आदि । साधर्म्यभ्—यह भावार्यक कर्द है, इससे धर्मी का कथन न हो सकेगा । अर्थान्तरभावभ—धर्म से भिन्न धर्मी का होता ।

न्यायवात्तिकम्

संशय:

संज्ञयो भवति । अथाप्यस्मिह्जा साधर्म्याभिधानेन धर्म्यवोच्येत । तन्न, युक्तम्, सधर्मणो भावः साधर्म्यमिति भावाभिधानेन धर्मोऽभिधीयते, न धर्मीति । न युक्तोऽन्यस्य दर्शनाद् अन्यस्मिन् संज्ञय इति । अथार्थान्तरभावं नाम्युपैति, तथापि साधर्म्यस्यावध्-तत्वात् कव संज्ञय इति । यदि चात्रं धर्मिणं नोजलभते, कस्यायं विशेषागुपलिध्सेत ? न हि साधर्म्यस्य विशेषाः सन्ति । अय सामान्यवतो विशेषा इति; तन्न, तस्या-द्रष्टत्वाद्' इत्युक्तम् । न सामान्यस्य विशेषाः सन्तीति सामान्यदतो दिशेषा भवन्तीत्येवं ब्रुवता सामान्यदिशेषतद्दतां भैदोऽभ्यतृज्ञतो भवति । व्यर्थं चारिधानं न सामान्यस्य विशेषाः कि तु तद्वतो विशेषा इति । उपलब्ध्यन्त्रपलिध्ययद्वत्थाने च साधर्म्यस्य दर्शने सत्यिप दिशेषालिष्सायां च सत्यां न संज्ञयो भदति । उपलब्ध्यनुषलब्ध्यव्यवस्थात इति वदत्वय्यम् । अभेक्ष्यस्वदर्शनािति च ।

को कहा जाता है धर्मी को नहीं और, अन्य के दर्शन से अन्य में संशय होना युक्त नहीं। यदि धर्मी का (धर्म से) पृथक पदार्थ होना (अर्थान्तरभावम) नहीं मानते तो भी साधम्य के निश्चित होने से संशय कहां होगा ? और यदि यह (व्यक्ति) धर्मी को नहीं देखता तो किसके विशेषों को जानने की इच्छा करेगा ? साधम्य के तो विशेष (धर्म) नहीं होते। यदि (कहों कि) सामान्य वाले (धर्मी) के विशेष (धर्म) होते हैं, वह ठीक नहीं; क्योंकि वह देखा नहीं गया, यह कहा जा चुका है। िञ्च, सामान्य के तो विशेष (धर्म) नहीं होते, सामान्य वाले (धर्मी) के विशेष (धर्म) होते हैं, यह कहते हुए आपके द्वारा सामान्य, विशेष तथा सामान्य-विशेष वालों (तद्वताम्) का भेद स्वीकार लिया जाता है और यह कथन ध्यर्थ है कि सामान्य के विशेष (धर्म) नहीं होते, किन्तु सामान्य वाले के विशेष (धर्म) होते हैं। और भी, उपलब्धि और अनुपलब्धि की व्यवस्था होने पर साधम्य वा दर्शन होने पर भी विशेष की उपलब्धि की इच्छा होने पर संशय नहीं होता; अतः उपलब्धि तथा अनुपलब्धि की व्यवस्था होने पर साधम्य वा दर्शन होने पर भी विशेष की उपलब्धि की इच्छा होने पर संशय नहीं होता; अतः उपलब्धि तथा अनुपलब्धि वी अध्यवस्था से यह कहना होगा और अनेक धर्म के दर्शन से यह भी।

ह्यर्थ चामिधानम् — सामान्य, विशेष तथा सामान्य विशेष से युवत, इन तीनों को भिन्न-भिन्न मानते हुए भी 'सामान्य विशेष से युवत' का उत्लेख नहीं किया गया अतः केवल सामान्य (साधम्यं) के विशेष होते हैं, यह प्रतीत होगा किन्तु सामान्य के विशेष होते नहीं। इसलिये कथन व्यर्थ है। (द्र० टी० ४८६)।

उपलब्ब्यनुपलव्धि ''च — यहां बौद्ध के लक्षण की न्यूनता दिखलाई गई है। इस लक्षण में 'उपलब्ब्यनुपलव्ध्यव्यवस्थातः और 'अनेकधर्मोपपत्तेः' यह भी कहना होगा।

समानधर्मोपपत्तोः—'विशेषापेक्षः विमशंः संगयः' यह संगय का सामान्य लक्षण है। अन्य तीन विज्ञेष लक्षण हैं। इन चारों लक्षणों के विषय में यह विचार है। यहां ग्लेका में दो विकल्प दिये गये हैं—यह लक्षण कारणनिर्देश है या स्वरूपनिर्देश।

अस्तु तावद् '''स्वरूपनिर्देशो वा भवतु—यहां दोनों पक्षों में कोई दोष महीं, यह दिखलाया गया है।

न्यायवात्तितम्

समानानेक धर्मापपत्ते रित्येवमादिवाक्यं संशयलक्षणम्। तिव्वायंम्, कि तावदयं कारणोपदेश आहो संशयस्वरूपावधारणिमिति ? यदि कारणिनर्देशः, अत्यत्पियदमुच्यते समानानेकेधर्मादिभ्य इति । अन्यान्यिप संशयकारणानि, तान्युपसंख्येयानि; यथा आत्ममनः संयोग आन्तरस्य, इन्द्रियमनः संयोग इन्द्रियार्थसन्तिकः आत्ममनः संयोगदच बाह्यस्येति । अथ स्वरूपावधारणम्, कारणिनर्देशोऽनथंकः । संशीतिः संशय इति वक्तव्यम् । अस्तु तावत् कारणावधारणम् । नन्द्रशं कारणान्तरमप्युपसंख्येयिमिति । नैष दोषः । नेदं कारणावधारणार्थम्, अपि त्वसाधारणकारणिनर्देशोऽयम् । तस्माद् इन्द्रियार्थसन्तिकर्षादीनामप्रसङ्गः, प्रत्यक्षादिसाधारणत्वात् । स्वरूपनिर्देशो वा भवतु । इदमेवास्य स्वरूपं समानधर्मदर्शनादिभयो जन्मेति । सोऽयभवंभूतः संशयो विचाराङ्गन्तयोपादीयते । संशयकद् विपर्यथोऽपि विचारस्याङ्गम् । सोऽपि पदार्थत्वेन वक्तव्यः । सत्यमसौ पदार्थः, न तु विचाराङ्गिनत्यतो नाभिष्येयः । कथं न विचाराङ्गम् ? यथा

(शङ्काः) 'समानधर्मोपपत्तेः' इत्यादि वाक्य संशय का लक्षण है, उस पर विचार करना है—क्या यह (संशय है) कारण का कथन है, अथवा संशय के स्वरूप का अवधारण (नियत करना) है ? यदि यह कारण का निर्देश है तो यह बहुत थोडा कहा गया है समान तथा अनेक धर्म आदि से; क्योंकि अन्य भी संशय के कारण होते हैं, उन सबकी गणना करनी होगी, जैसे आत्मा और मन का संयोग आन्तरि<mark>क</mark> संशय का कारण है; इन्द्रिय और मन का संयोग इन्द्रिय और अर्थ का संन्निकर्ष तथा आत्मा और मन का संयोग वाह्य संशय का कारण है। यदि (यह) स्वरूप का अवधारण है तो कारणों का कथन अनर्थक है उभयकोटिक ज्ञान (संशीतिः) संशय है, इतना ही कहना चाहिये । प्रथमतः मानलो यह कारण का अवधारण है । (राङ्का) इस पर कहा गया है अन्य कारणों की भी गणना करनी होगी। (समाधान) यह दोप नहीं, यह (सूत्र) कारणों को नियत करने के लिये नहीं है अपितु असाधारण कारणों का निर्देश है। इसलिये इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष आदि को कहने (का) प्रसङ्ग नहीं है, वे तो प्रत्यक्ष आदि के (भी) साधारण कारण हैं । अथवा, यह (संशय के) स्वरूप का निर्देश है। इसका यही स्वरूप है कि समानधर्म के दर्शन आदि से उत्पन्न होने वाला है । उस इस प्रकार के संशय का विचार के अङ्ग के रूप में ग्रहण किया गया है। (आक्षेप) संशय के समान विपर्यय भी विवार का अङ्ग है, उसे भी पदार्थ रूप में कहना चाहिये । [परिहार] ठीक है, यह विपर्यय) पदार्थ है; किन्तु विचार का अङ्ग तहीं इसलिये नहीं यहना है। बचार का अङ्ग कैसे नहीं. ? जैसे सन्देह-युक्त (ब्यक्ति) उसके विशेष ज्ञान के लिये प्रयत्न करता है इस प्रकार विपर्यय-युक्त नहीं।

संशयवद् ः वक्तव्यः — इस आक्षेप का अभिप्राय है। सन्दिग्ध व्यक्ति के समान भ्रान्त को भी समझाना होता है अतः विपर्यय भी विचार का अङ्ग होना चाहिये।

सत्यम् — इत्यादि परिहार का आणय है: — विपर्यय न्यायविद्या का अङ्ग नहीं। जिस प्रकार सन्दिग्ध व्यथित विशेष ज्ञान के लिये प्रयत्न करता है उस प्रकार विपर्यस्त (भ्रान्त) नहीं। वह भी सन्दिग्ध के रूप में होकर ही विशेष का ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करता है।

२३=]

[प्रयोजनम्

न्यायसूत्रं भाष्यं च स्थानवतां लक्षणवचनिमति समानम् । यसर्थमिहकृय प्रवर्तते तत्त्रंयोजनम् १.१.२४

यमर्थमान्तन्यं हातन्यं वा न्यवसाय तदान्तिहानोपायमनुतिह्वित्, प्रयोजनं नद वेदितन्यन् प्रवृत्तिहेतुत्वात् । इममर्थमान्स्यामि हास्यायि वेति व्यवसायोऽर्थस्याधिकारः, एवं न्यवसीयमानोऽर्थोऽधिक्रियत इति ।१।१।२४॥ न्यायवात्तिकम्

सन्दिग्धस्तद्विरोषप्रतिपत्तये, प्रयतते नैयं विपर्यस्त इति । अतो न्यायविद्यानङ्गत्वात् नाभिधीयते इति । १।१।२३॥

यमर्थमधिकृत्य प्रवर्तते तत्प्रयोजनम् ? यमर्थमधिकृत्येति व्यवसायोऽधिकारः। कस्य व्यवसायः ? सुखदुःखसाधनानाम्—इदं सुखसाधनिमिति बुद्ध्वा सुखावाप्तये यतते ? इदं दुःखसाधनिमिति चाधिगम्य दुःखहानायेति। सुखदुःखयोपनाप्तिहानाभ्यामयं लाकः प्रयुत्यते' इति सुखःदुःखाप्तिहानी प्रयोजनिमिति।

त्रम गन्तो (स्थानवतां) का लक्षण कहा गया है, यह समान है। जिस अर्थं का निश्चय करके प्रवृत्त होता है, वह प्रयोजन हैं। १।१।२४॥

जिम प्राप्त करने योग्य या छोड़ने योग्य अर्थ को निश्चित करके (व्यवसाय) उसकी प्राप्ति या त्याग का उपाय करता है- उसे प्रयोजन जानना चाहिये, क्योंकि वह प्रवृत्ति का हेतु होता हे। 'इस वस्तु को प्राप्त करूंगा या छोड़ दूंगा' इस प्रकार का निश्चय (ही) अर्थ का अधिकार है। इस प्रकार निश्चित किया गया अर्थ अधिकृत किया जाता है। १११। २४।।

इस प्रकार न्यायविद्या का अङ्ग न होने के कारण (विपर्यय का) कथन नहीं किया जाता। १.१.२३

जिस अर्थ को निश्चित करके प्रवृत्त होता है वह प्रयोजन है। जिस अर्थ को अधिकृत करके यहां अधिकार = व्ययसाय, निश्चित करना। किसका निश्चय करना? सुख के साधनों का — तथा दुःख के साधनों का यह सुख का साधन है, ऐसा जानकर सुख की प्राप्ति के लिये यत्न करता है, यह दुःख का साधन है, ऐसा जानकर दुःख के त्याग के लिये। सुख की प्राप्ति और दुःख के त्याग के लिये यह लोक प्रवृत्त होता है। अतः सुख की प्राप्ति और दुःख की हानि (नाश) (ही) प्रयोजन है।

अर्थम्—यहां 'अर्थ' शब्द मुख्य तथा गीण दोनों प्रकार के प्रयोजन का संग्रह करता है। मुख्य प्रयोजन है सुख की प्राप्ति और दुःख का परिहार, गीण प्रयोजन है उनके उपाग्र (टी० ४६५)। अधिकृत्य—व्यवसाय _ विनिश्चित्य, निश्गय करके।

तदाष्तिहानोपायम् —साधन सहितं सुख प्राप्ति तथा दुःखपरिहार ही अर्थ है किन्तु सुख प्राप्ति तथा दुःखगरिहार में तो प्रवृत्ति होती नहीं अपि तु इनके उपाय में होती है अतः यहां उपायमनुतिष्ठः ति' यह कहा गया है।

व्यवसा केशिकार:—अधिक्रत्य (५०) _ त्यवसाय (भा०) । इन दोनों में कोई विरोध नहीं. यह दिखलाने के लिये वार्तिककार ने ऐसी व्याद्या की है ।

न्यायवात्तिकम्

अनेन च प्रयोजनेन सर्वे ऽर्थाः संगृहीता भविते इति । एतिस्मिश्च सूत्रार्थे परस्य दोषिविवक्षया चोद्यमानस्य वक्तुभराक्तस्य व्याहारः, लौकिकोऽयमथंः, प्रयुज्यतेऽत्रमर्थः, प्रयुज्यतेऽत्रमर्थः, प्रयुज्यतेऽत्रमर्थः, प्रयुज्यतेऽत्रेनेति प्रयोजनिमिति । न चानेन किञ्चित् परीक्षाविधेः क्रियते इति न्यायाङ्गभावो नास्ति इति । यतावत लौकिकोऽयमर्थ इति । एतत् नर्ते प्रकुष्टतािककादन्यो वक्तुमर्हति, अयमेवैकः पदार्थो लौकिको न प्रमाणादय इति । यदि प्रमाणोयपन्न इत्यर्थः, अतिदोषोऽयम्, प्रमाणोपपन्नं न वक्तव्यमिति । अथान्यो लौकिकशब्दार्थः ? तन्न बुध्यामहे कथमन्य इति । यदिप प्रयोजनं न्यायस्याङ्गित । भवतीति, तदिप न युक्तम् । या खलु निष्प्रयोजना चिन्ता, नासौ न्यायस्याङ्गिनित । परीक्षाविधेस्तु प्रधानाङ्गः प्रयोजनमेव, तन्मूलत्वात् परीक्षाविधेरिति । १।१।२४ ॥

और, इस प्रयोजन से सब अर्थ संगृहीत हो जाते हैं। किञ्च, सूत्र का यह अर्थ होने पर दोप-कथन की इच्छा से प्रवृत्त होने वाले (चोद्यमानस्य) बोलने में असमर्थ दूसरे (परस्य = प्रतिपक्षी) का यह कथन (व्याहारः) है, यह (तो) लौकिक अर्थ है जिससे प्रयुक्त होता है वह प्रयोजन है, इससे न्याय का (परीक्षाविधेः; प्रमाणैरर्थभरीक्षण न्यायः) कुछ (उपकार) नहीं किया जाता, अतः इसमें न्याय की अज्ञता (अज्ञमावः) नहीं है। (परिहार) जो (कहा गया है) यह लौकिक अर्थ है, यह घोर तार्किक के विना दूसरा नहीं कह सकता कि यही एक पदार्थ लौकिक है प्रमाण आदि नहीं (उपहास)। और, यह लौकिक क्या है? यदि प्रमाणों से युक्त होना, यह अर्थ हे तो यह महान् दोप है कि प्रमाणों से युक्त को नहीं कहना चाहिये। यदि लौकिक शब्द का अर्थ अन्य (प्रमाणों से युक्त नहीं, अप्रामाणिक) है उसे हम नहीं समझते 'अन्य कैसे है' जो यह (कहा) है कि प्रयोजन न्याय का अज्ञ नहीं होता, वह भी युक्त नहीं। अवश्य ही जो निष्प्रयोजन विचार (चिन्ता) है वह न्याय का अज्ञ नहीं होता। किन्तु न्याय (परीक्षाकार्य) का तो मुख्य अज्ञ प्रयोजन ही है, क्योंकि न्याय उसी के आधार पर होता है। १११२४।।

सुखदु:खसाधनानाम्—सुख के साधन और दुःख के साधन का निश्चय करके उस साधन में ही प्रवृत्ति होती है अतः प्रतीति और प्रवृत्ति दोनों का विषय एक है। अनेन च—यह प्रयोजन सभी अर्थो में व्यापक है। कहीं मृदय प्रयोजन है कहीं गीण।

चोद्यमानस्य—प्रवर्त्तमानस्य (टी०)। व्याहारः = कथन।
कञ्चासौ लौकिकः — 'लौकिक' शब्द से क्या अभिप्राय है ? (१) प्रमाणों से युक्त या (२) अप्रामाणिकः। अथान्यः, अन्यः = अप्रामाणिकः, जैसे 'यटे वटे वैश्रवणः' इत्यादि लोकप्रसिद्ध कथन हैं।
प्रधानाङ्गम् —प्रयोजन न्याय का मृख्य अंग है, यदि कोई निष्प्रयोजन विचार भी करना होता है
वह भी 'फलवःसन्निधावकलं तदङ्गभ्' इस न्याय से प्रयोजन वाला हो जाता है।

१. यथावत्, क, यत्तावत्, ख.

दिण्टान्तः

न्यायसूत्रं भाष्यं च

लौकिकपरीक्षकाणा यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः १.१.२४॥

लोकसामान्यमनतीताः लौकिकाः; नैसर्गिकं वैनशिकं बुद्धविकायम अप्राप्ताः। तद्विपरीताः परीक्षकाः; तर्केण प्रमाण एथं परीक्षितुमह न्तीति। यथा यमर्थं लौकिका बुद्यन्ते, तथा परीक्षका अपि, सोऽवीं बृष्टान्तः। बृष्टान्तविरोधेन हि प्रतिपक्षाः प्रतिवेद्धव्या भवन्तोति बृष्टान्तसाधिना च स्वपक्षाः स्थापनीया भवन्तीति, अवयवेषु चौदाहरणायसकल्पत इति । १। १। २४ ॥

न्यायवात्तिकम्

लौकिकपरीक्षकाणामिति सूत्रम् । बुद्धिसाम्यविषयोऽर्थो दृष्टान्त इति सूत्रार्थः। एवं चाकाशावरोध इति । यदि पुनरेवमवधार्येत 'लौकिकानां परीक्षकाणां च यो विषयः स दृष्टान्त' इत्यत्रौिककार्थो न दृष्टान्तः स्यादाकाञ्चादिः । उदाहरणत्वेन त लौति इपरी अ इविषयस्याभियानं न पून ताँकि कपरीक्ष हाणामेवेति ।

लोकिक ओर परोक्षकों ी जिल विजय (अथं) स समान प्रतीति

होती है वह दृष्टान्त है। १।१।२५॥ लोकसामान्य का अतिक्रमण न करने वाले लौकिक हैं—स्वामाविक (नैसिंगिकम्) तथा शिक्षण से उत्पन्न (वैनिधिकम्) बुद्धिवैशिष्ट्य को प्राप्त न करने वाले । उनके विपरीत परीक्षक हैं । जो तर्क से तथा प्रमाणों से अर्थ की परीक्षा करने में समर्थ हैं। जिस प्रकार जिस विषय को लौकिक जन समझते हैं उसी प्रकार परी क्षक भी वह विषय (अर्थ) दृष्टान्त है। वस्तुतः दृष्टान्त के विरोध से ही प्रतिवादी के पक्ष प्रतिषेध के योग्य होते हैं और दृष्टान्त की शुद्धता (समाधि) से अपने पक्ष स्था-पना के योग्य होते हैं । यह इष्टान्त (अनुमान के पांच) अवयर्वो में उदाहरण के लिये उपयुक्त हुआ करता है (कल्पते) ।१।१।२५॥

लौजिकपरीक्षकाणाम्' इत्यादि सूत्र है । इस सूत्र का अर्थ है ज्ञान की समा-नता का नित्रय होते वाला दण्टान्त है। और, इस प्रकार आकाश का संग्रह (अवरोध) हो जाता है। यदि इस प्रकार अवधारण किया जाये कि लौकिकों तथा परीक्षकों का जो विषय हो वह रूष्टान्त है', तब अतौकित (जौकिक जनों की बुद्धि का विषय न होने वाते) आकाश आदि पदार्भ दृष्टान्त न हुआ करें। वस्तुत: (तु) उदाहरण रूप में लौकिक तथा परीक्षक के विषय का कथन किया गया है' ऐसा नहीं कि लौकिकों तथा परीजकों की ही (समान बुद्धि का विषय हो, अपि तु वादी-प्रतिवादी की समान बुद्धि का विषय दृष्टान्त होता है)।

हिट्यान्तः — यह लक्ष्य है, शेष लक्षण है। जो साब्य के साधम्ये या वैधम्ये से साब्यधर्म से युक्त माना जाता है वह दण्यान्त है।

नैसर्गिक वैनिधिक च - कुछ जनों में स्वभावतः ही विशिष्ट बृद्धि होती है, कुछ को शिक्षा से प्राप्त हो जाती है ऐसे व्यक्ति परीक्षक (प्रतिपादक) होते हैं। इनके विपरीत लोकिक (सामान्यजन, प्रतिपाद्य) होते हैं।

हब्टान्तविरोधेन - दृष्टान्त में साध्यविकलता आदि दोष होने से।

१.१.२%]

[585

न्यायभाष्यम्

अथ सिद्धान्तः। इदिमित्त्रंभूतञ्चेत्यभ्यनुज्ञायमानमर्थजातं सिद्धम्, सिद्धस्य संस्थितिः सिद्धान्तः। संस्थितिरित्यंभावन्यवस्था, धर्मनियमः। स खत्वयम्,

न्यायवात्तिकम्

सोऽयं दृष्टान्तः सारूष्यव्युत्पत्त्यथां वा स्यात्; असिद्धसाधनाथां वा ? यदि तावत् सारूष्यव्युत्पत्त्यर्थस्तदा नोपमानाद् भिद्यते । अथासिद्धसाधनाथां नोदाहरणाद् भिद्यते । यद्युपमानं प्रमाणेऽन्तर्भावः । अथोदाहरणमवयव इति, न पृथम्दृष्टान्तो-ऽस्तीति । इदं तृत्तरमप्रतिसमाथेयमिति पश्यामः । कस्मात् ? त्रयस्याप्यपरिज्ञानात्— एवं बुवता न दृष्टान्तो नोपमानं नोदाहरणं विज्ञातमिति । सारूप्यव्युत्पत्त्यर्थं तावद् उपमानं न भवतीति वर्णितम् । दृष्टान्तः सारूप्यव्युत्पत्त्यर्थः । असिद्धसाधनाथां वेति दृष्टान्तो न भवति । उदाहरणार्थमुदाहरणं वर्णयिष्यन्तो वक्ष्याम इति । १।१।२१॥

अब सिद्धान्त (कहा जाता) है। यह है और ऐसा है' इस प्रकार स्वीकारा जाता हुआ अर्थ 'सिद्ध' है और सिद्ध की स्थापना (संस्थितिः) सिद्धान्त है। 'संस्थिति का अर्थ है 'यह ऐसा है' इस प्रकार का निश्चय (व्यवस्था), इसका यही धर्म है, यह

नियम । वस्त्तः वह यह,

(आक्षेप) वह यह दृष्टान्त सादृश्य (सारूप्य) का बोध कराने के लिये होगा या असिद्ध की सिद्धि कराने के लिये । यदि साधम्यं का बोध कराने के लिये है तो उपमान से भिन्न नहीं है, यदि असिद्ध की सिद्धि कराने के लिये है तो उदाहरण से भिन्न नहीं है। यदि उपमान है तो प्रमाणों में अन्तर्भाव हो जाता है, यदि उदाहरण है तो अवयव में। इस प्रकार दृष्टान्त पृथक् (पदार्थ) नहीं है। [परिहार] इसका यह उत्तर है जिसका समाधान नहीं किया जा सकता, ऐसा हम समझते हैं। क्यों? तीनों का सम्यक् ज्ञान न होने से—ऐसा कहते हुए (आपने) न दृष्टान्त, न उपमान और न उदाहरण ही समझा है। साधम्यं के ज्ञान के लिये तो उपमान होता नहीं, यह कहा जा वुका है और दृष्टान्त साधम्यं के ज्ञान के लिये होता है। अथवा असिद्ध की सिद्धि कराने के लिये (भी) दृष्टान्त नहीं होता। उदाहरण का प्रयोजन (अर्थ = प्रयोजन) उदाहरण की व्याख्या करते हुए कहेंगे। ११११२५॥

प्रतिपक्षाः—प्रतिपक्ष के हेतु, समाधिः—दोषारोप का प्रतिषेध, अमृतदोषारोपस्य प्रतिषेधः, टी॰ ४६ ।

बुद्धिसाम्यम्—वात्तिककार ने बतलाया है कि लौकिक और परीक्षक गब्द यहां विवक्षित नहीं हैं। उन्होंने अन्वय व्यतिरेक से अविवक्षा का प्रयोजन 'एवं च' इत्यादि ग्रन्य में दिखलाया है। वस्तुतः वादी, प्रतिवादी का जिस विषय में समान ज्ञान होता है वही दृष्टान्त है।

सोऽयम्—दृष्टान्त के विषय में जो दूसरों ने आक्षेप किये हैं उनको प्रस्तुत करके उनका निराकरण किया गया है ।

उदाहरणार्थम् — उदाहरण का अभिप्राय या प्रयोजन । उदाहरण जो अनुमानवाक्य का अवयव है उसका यहां ग्रहण होता है । न्यायसूत्रं भाष्यं च

तन्त्राधिकरणाम्युपगमसं स्थितिः सिद्धान्तः ।१।१।२६ ।।
तन्त्रार्थसंस्थितिः तन्त्रसंस्थितिः । तन्त्रसितरेतराभिसम्बद्धस्यार्थसमूहस्योपदेशः शास्त्रम् । अधिकरणानुषदतार्थसंस्थितिरधिकरणसंस्थितिः ।
अभ्युपगमसंस्थितिरनवधारितार्थपरिग्रहः, तद्विशेषपरीक्षणायाभ्युपगमसिद्धान्तः ।१।१। २६॥

न्यायवात्तिकम्

इदिसत्थंभूतं चेति भाष्यम् । इदिमिति सामान्यतोऽधिगमसाह, इत्यंभूतं चेति विशेषतः । एतदुक्तं भवति, सामान्यविशेषवदर्थाभ्यनुज्ञा सिद्धान्तः इति । अस्यार्थस्य प्रदर्शनार्थं 'तन्त्राधिकरणाभ्युगससंस्थितिः सिद्धान्तः' इति सूत्रम् । कि पुनरिदं सूत्रं लक्षणार्थनाहो विभागार्थमिति ? यदि लक्षणार्थं तन्त्राधिकरणग्रहणं न

शास्त्र या प्रमाण के आधारमूत (अधिकरण) अभिमत अर्थ (अभ्युपगम)

की स्थापना सिद्धान्त है।शशिरधा

तन्त्रार्थसंस्थिति = ज्ञास्त्र के अर्थ की स्थापना। एक दूसरे से सम्बन्ध रखने वाले विषय-समुदाय का उपदेश (ही) तन्त्र अर्थात् शास्त्र है। आधारभूत (अधिकरण) के अविनाभावी (अनुपक्त) अर्थ की स्थापना अधिकरणसंस्थिति है। अभ्युपगम-संस्थिति का अर्थ है निश्चित न किये गये अर्थ को मान लेना, उसकी विशेष परीक्षा के लिये अभ्युपगमसिद्धान्त होता है। १।१।२६।।

इदिमत्थंभूतं च'यह भाष्य है। यहां 'इदम्' (यह) शब्द से (अर्थ की) सामान्यतः स्वीकृति कही गई है, इत्थंभूतम् (ऐसा है) शब्द से विशेष रूप में (स्वीकृति कही गई है)। यह कहा जा सकता है कि सामान्य, विशेष से युक्त अर्थ की स्थापना

(अभ्यनुज्ञा) सिद्धान्त है।

इस अभिप्राय (अर्थ) को प्रकट करने के लिये 'तन्त्राधिकरणाभ्युपगमसंस्थिति: सिद्धान्तः' यह सूत्र है। (आक्षेप) क्या यह सूत्र लक्षण करने के लिये है या विभाग करने के लिये। यदि यह लक्षण करने के लिये है तो यहां तन्त्र तथा अधिकरण (शब्दों) का अथ सिद्धान्त:—यहां भाष्यकार ने सिद्धान्त के लक्षणसूत्र को प्रस्तुत किये विना ही सिद्धान्त सामान्य का लक्षण बतलाया है। वाक्तिककार ने 'इइम्' इत्यादि में इसकी ब्याख्या की है कि सामान्य-

विशेष से युक्त अर्थ की स्वीकृति ही सिद्धान्त है। अस्यार्थस्य-सिद्धान्त के स्वरूप को दिखलाने के लिये यह सूत (१.१.२६) है।

तन्त्राधिकरण० —वात्तिक में प्रक्तोत्तर द्वारा यह दिखलाया गया है कि यह सुत्र (१.१.२६) सिद्धान्त का लक्षण दिखलाने के लिये है और अग्रिम सूत्र (१.१.२७) सिद्धान्त के विभाग दिखलाने

के लिये हैं।
लक्षणार्थम्—अभिप्राय यह है सामान्य लक्षण के विना विभाग नहीं किया जाता, अतः लक्षण
दिखलाने के लिये ही, यह सूत्र होना चाहिये तब इसमें तन्त्र तथा अधिकरण शब्द का ग्रहण करना
व्यर्थ है।

विभागार्थम् —यदि इस सूत्र को विभागार्थं मानें तो अग्रिम सूत्र की आवश्यकता नहीं, सर्वतन्त्र,

न्तायसूत्रं भाष्यं च

तन्त्रभेदात्तु खलु

स चतुर्विधः सर्वतन्त्रप्रतितन्त्राधिकरगाभ्युपगमसंस्थित्यर्थान्तर-भावात् । १।१।२७।।

तत्रैताइचतस्रः संस्थितयोऽथन्तिरभूताः ।१।१।२७।।
न्यायवात्तिकम्

कर्तव्यम्, एतावव् भवत्वभ्युपगमव्यवस्था सिद्धान्त इति । अथ विभागार्थम् ? सर्वतन्त्र प्रतितन्त्रग्रहणं कर्तव्यम्, प्रतिज्ञादिवत्—यथा 'प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः (न्या० सू० १.१.३२) इति समस्ताभिधानम्, एवं सर्वतन्त्रप्रतितन्त्राधिकरणा-भ्युपगमसंस्थितिरिति वक्तव्यम् । स्थणार्थं च सूत्रान्तरं वदतव्यम् । १।१।२६॥

सर्वतन्त्रप्रतितन्त्राधिकरेणाभ्युपगमसंस्थित्यर्थान्तरभावात् । इत्यस्य सूत्र-स्यान्योऽर्थो वक्तव्यः । अथेदं विभागार्थं ? तथापि पूर्वसूत्रं परित्याज्यम् । अथ

तन्त्र के भेद होने से तो-

वह सिद्धान्त चार प्रकार का है सर्वतन्त्र, प्रतितन्त्र, अधिकरण और अभ्युपगम की स्थापना (संस्थिति) के भिन्त-भिन्न अर्थ होने से । १।१।२७॥

उसमें ये चारों स्थापनाएं पृथक्-पृथक् अर्थ हैं। १।१।२७॥
प्रहण न करना चाहिये, इतना ही रक्ता जाये 'अम्युपगमन्यवस्था तिद्धान्तः'। यदि
यह विभाग करने के लिये है तो यहां सर्वतन्त्र तथा प्रतितन्त्र का ग्रहण करना चाहिये,
प्रतिज्ञा आदि के समान—जैसे (यहाँ) प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनानि अवयवाः' इस
प्रकार सभी का कथन किया गया है; इसी प्रकार (यहाँ भी) 'सर्वतन्त्रप्रतितन्त्राधिकरणाभ्युपगमसंस्थितिः' ऐसा कहना चाहिये। और, (सिद्धान्त का) लक्षण करने
के लिये दूसरा सूत्र कहना चाहिये। १।१।२६॥

(यदि पहला सूत्र विभाग करने के लिये है तो) 'सर्वतन्त्र' इत्यादि सूत्र का दूसरा अर्थ कहना होगा। यदि यह (दूसरा सूत्र १। १। २७) विभाग करने के लिये है तो पूर्वसूत्र (१.१.२६) छोड़ देना होगा। यदि विभक्त किये गयों का फिर से प्रतितन्त्र शब्दों का यहीं ग्रहण करना चाहिये और सिद्धान्त का लक्षण करने वाला अन्य सूत्र करना चाहिये।

तन्त्रसंस्थित:—भाष्यकार ने अग्रिम सूत्र (१,१.२७) में किये गये कुछ विभाग की पूर्वसूत्र (१.१.२६) के साथ ही व्याख्या कर दी है। िकन्हीं संस्करणों में (द्र०, विद्याविलासयन्त्र बनारस १६२०) इसे अग्रिम सूत्र (१,२.२७) की अवतरिणका के रूप में ही रक्खा गया है। यह भाष्य तन्त्राधिकरण० इत्यादि (१।१।२६) का अधिक अनुसरण करता है।

अर्थान्तरभावात् — क्योंकि ये चारों सिद्धान्त पृथक्-पृथक् हैं। (वात्तिककार ने दोनों सूतों की एक साथ ही व्याक्या की हे, कुछ संस्करणों में (ट्र० विद्याविलासयन्त, वनारस, १९१६,) दोनों सूत्रों को तथा दोनों के वात्तिक को साथ ही रक्खा गया है)।

1885

सिद्धान्तः

न्यायवात्तिकम्

विभक्तानां प्रनिविभागः ? 'त्रिविधा च।स्य शास्त्रस्य प्रवृत्तिः' इति व्याहतम् । विभागडच नियमार्थः। विभक्तानां पुनिवभागः किमर्थः ? यदि नियमार्थः, आद्येन सुत्रेण कृतत्वात् न प्रयोजनमस्तीति।

तस्मात् पूर्वमुत्तरं वा सूत्रमनार्षमिति । नानार्षम्, आद्यस्य र क्षणार्थत्वाद उत्तरस्य च विभागार्थत्वाद् इति । विभागश्च नियमार्थ इत्युक्तम् । एतेन जनेकथा भिन्नस्य सिद्धान्तस्य चतुर्धा संग्रह इति नियमं दर्शयति । अथार्यं सूत्रं कथं लक्षणार्थं-मिति ? तन्त्राधिकरणानामर्थानामभ्युपगम इति सूत्रार्थः । तन्त्रमधिकरणं येषामर्थानां ते भवन्ति तन्त्राधिकरणाः, तेषामभ्यूपगमसंस्थितः = इत्थंभावव्यवस्था, धर्मनियमः सिद्धान्तो भवतीति । किमुक्तं भवति ? योऽर्थोऽज्ञास्त्रितः तस्याभ्यपगमो न सिद्धान्त इति । १।१।२७॥

विभाग (करने वाला यह दूसरा सूत्र है) तो इस शास्त्र की तीन प्रकार की प्रवृत्ति है। इसका विरोध होता है। विभाग तो (च) नियम के लिये होता है, विभक्तों का फिर विभाग किस लिये है ? यदि (वह भी) नियम के लिये है तो प्रथम सूत्र से वह किया जा चुका है अतः (उसका) कोई प्रयोजन नहीं है। इसलिये (इसमें) पहला या बाद का सूत्र ऋषिकृत न (अनार्ष) होगा । [परिहार] अनार्ष नहीं है, प्रथम सूत्र लक्षण करने के लिये है और द्वितीय (वाद वाला) विभाग करने के लिये। विभाग तो नियम के लिये होता है, यह कहा जा चुका है । इस (सूत्र) से (सूत्रकार) यह नियम दिखलाता है कि अनेक प्रकार से भिन्न होने वाले सिद्धान्त का चार भेदों संग्रह हो जाता है। फिर प्रथम सूत्र कैसे लक्षण करने के लिये है ? तन्त्र (शास्त्र या में प्रमाण) जिन अर्थों का अधिकरण है उन अर्थों की स्वीकृति, यह सूत्र का अर्थ है— तन्त्र अधिकरण है जिन अर्थों का वे हैं, तन्त्राधिकरण (बहुव्रीहि), उनकी स्वीकृति की स्थापना = 'ये ऐसे हैं' इस प्रकार का निश्चय (ब्यवस्था) अथवा किसी वस्तु के किसी धर्म का नियम सिद्धान्त होता है। क्या कहा गया है (क्या भाव है)? जो अर्थ शास्त्र में नहीं कहा गया (अशास्त्रितः) उसकी स्वीकृति सिद्धान्त नहीं । १। १। २७॥ अथेदं विभागार्थम्—सूत्र १.१.२७ के विषय में यह प्रश्त है, यहाँ पूर्वसूत्र है १.१.२६ ।

अनार्षम् - ऋषिकृत नहीं, पीछे की मिलावट है।

नानार्षम् — पूर्वसूत्र (१'१.२६) सिद्धान्त का लक्षण करता है, यह (१.१.२७) विभाग । आद्यं सूत्र कथं लक्षणार्थमिति--सूत्र १.१.२६ सिद्धान्त का लक्षण करने के लिये कैसे हैं ? इससे लक्षण कैसे किया जाता है।

2.2.75]

[SRX

स्यायभाष्यम्

सासाम् —

सर्वतन्त्राविरुद्धस्तन्त्रेऽधिकृतोःर्थः सर्वतन्त्रसिद्धान्तः ११।१।२८॥ यथा घ्राणादोनीन्द्रियाणि, गन्धादय इन्द्रियार्थाः, पृथिन्यादीनि भूतानि, प्रमाणैरर्थस्य ग्रहणमिति ।१।१।२८॥

न्यायवात्तिकम्

सर्वेषां संप्रतिपत्तिविषयः सर्वतन्त्रसिद्धान्तः, यथा प्रमाणानि प्रमेयसाधनानीति । म कृष्टान्तात् सर्वतन्त्रसिद्धान्तो-भिद्यते । तत्राप्यविप्रतिपत्तिरिहापीति ? मिद्यत इत्याह, कृष्टान्तस्तु वादिप्रतिवादिभ्यामेव निश्चितः, न चैवं सर्वतन्त्रसिद्धान्त इति । अनुमाना- उन (संस्थितियों) में.

सब शास्त्रों के विरुद्ध न होने वाला शास्त्र में अधिकृत अर्थं सर्वतन्त्र सिद्धान्त है। ११११२।।

जैसे न्नाण आदि इन्द्रियों हैं, गन्ध आदि इन्द्रियों के विषय हैं पृथिवी आदि भूत हैं। प्रमाणों से वस्तु (अर्थ) का ग्रहण होता है। १। १। २ = 11

सबकी स्वीकृति (संप्रतिपत्ति) का विषय सर्वतन्त्र सिद्धान्त है जैसे प्रमाण प्रमेय (के ज्ञान) के साधन हैं। (आक्षेप) इष्टान्त से सर्वतन्त्रसिद्धान्त भिन्न नहीं है, वहाँ भी मत-भेद (विप्रतिपत्ति — नाना प्रकार का ज्ञान) नहीं होता, यहाँ भी। [परिहार] भिन्न है, यह कहते हैं। (१) दृष्टान्त तो वादी, प्रतिवादी द्वारा ही निश्चित होता है, सर्वतन्त्रसिद्धान्त ऐसा नहीं है। (२) दृष्टान्त अनुमान तथा आगम का आश्रय है (अनुमान तथा आगम दृष्टान्त पर आश्रित होते हैं) सर्वतन्त्रसिद्धान्त नहीं। (आक्षेप) यदि अनुमान तथा आगम का आश्रय दृष्टान्त है तो प्रत्यक्ष में भी

तन्त्राo ''भवतीति—यहाँ दिखलाया गया है कि सूल १ १.२६ में लक्षण कैसे है। (यहाँ तन्त्र णव्द का अर्थ भाष्यकार ने 'झास्त्र' किया है किन्तु वाचस्पति शिश्र ने 'तन्त्र' का अर्थ 'प्रमाण' किया है—तन्त्र्यन्ते व्युःपाद्यन्ते प्रमेयाण्यनेनेति तन्त्रं प्रमाणम् टी० ५०२)। शब्दों से निकलने वाला सूत्र का लक्षणपरक अर्थ यह है—तन्त्र है आश्रय जिन अर्थों का वे तन्त्राधिकरण कहलाते हैं, उनकी अभ्युपगमसंस्थितः = इत्यंभावव्यवस्था, ये ऐसे होते हैं इस प्रकार की स्थापना; ये इस धर्म वाले हैं; इस प्रकार का धर्मनियम सिद्धान्त है।

किमुक्तं अवित ? इसका क्या अभिप्राय है ? इसका उत्तर है—'योऽयं इति । अर्थात् जो

अयं शास्त्र में नहीं कहा गया, प्रामाणिक नहीं उसकी स्थापना सिद्धान्त नहीं।
अद्यास्त्रित:—अप्रासाणिकः, टी० ५०२। यदि 'शास्त्रितः' का अर्थ प्रासाणिक है तो जो अप्रामाणिक हैं वे सिद्धान्त ही न होगे जैसे बौद्धसिद्धान्त। (परि० ५०२)। इस पर टीका में कहा गया
है कि जिनकी प्रामाणिक मान लिया जाता है (आभिमानिकम्) वे यहाँ प्रामाणिक हैं अतः जिन
अर्थों के विष्य में सिद्धान्त का भेर है, वे सभी प्रामाणिक नहीं होते (टी० ५०२)।

[सिद्धान्तः

न्यायसूत्रं भाष्यं च

समानतन्त्रसिद्ध् परतन्त्रासिद्धः प्रतितन्त्रसिद्धान्तः ।१।१।२६॥

यथा नासत अत्मलाभः, न सत् आत्महानम्, निरतिशयाद्येतनाः देहेन्द्रियमनः सु विषयेषु तत्तत्कारणेषु च विशेषः' इति साङ्घ्यानाम् । पृष्ठवकर्मादिनिमत्तो भूतसर्गः, कर्महेतवो दोषाः प्रवृत्तिश्चः स्वगुणविशि-घ्टाञ्चेतनाः, असद् उत्पद्यते, उत्पन्नं निष्ध्यते' इति योगानाम् ।१।१।२६॥ न्यायवात्तिकम्

गमयोराश्रयो दृष्टान्तो न सर्वतन्त्रसिद्धान्त इति । यद्यनुसानागमयोराश्रयो दृष्टान्त इति प्रत्यक्षेऽित प्रसङ्गः । प्रत्यक्षमध्यनुसानागमयोराश्रयः, तत्कारणःवात । अर्थो दृष्टान्तोऽवगम्यसानत्यात—यः प्रत्यक्षम्य विषयः सोऽर्थो दृष्टान्तः, अधिगतोऽर्थः कथ्यते इत्यनुमानागमयोराश्रयः । अधिगमसाधनं च प्रत्यक्षम् । तस्मान्न प्रत्यक्षे प्रसङ्गः । १।१।२८।।

समान शास्त्र में सिद्ध, दूसरे शास्त्र में असिद्ध प्रतितन्त्र सिद्धान्त है। ११११२६॥

जैसे असत् के स्वरूप (आत्म) की प्राप्ति नहीं होती, सत् के स्वरूप का नाश नहीं होता, पुरुष (चेतनाः) निविशेष (निरितशयाः) हैं, देह इन्द्रिय और मन में, (शब्द आदि) विषयों में और उन उनके कारणों (महद् आदि) में विशेष या भेद होता है; यह सांख्य के अनुयायियों का (मत्) है ।

(पृथिवी आदि) भूतों की सृष्टि पृष्ट्य के कर्म आदि के निमित्त से होती है, कर्म के हेतु दीप तथा प्रवृत्ति हैं, आत्मा या पुष्ट्य अपने-अपने गुणों से विशिष्ट होते हैं, असत् की उत्पत्ति होती है उत्पन्न का नाश होता है; यह न्याय वैशेषिक के

अनुयायियों (योगानाम्) का मत है। १। १। २६।।

(दृष्टान्त होने का) प्रसङ्ग होता है; प्रत्यक्ष भी अनुषान तथा आगम का आश्रय है उनका कारण होने से । [पिरहार] विषय (अर्थ) दृष्टान्त है ज्ञान का विषय होने से (अवगम्यमानत्वात्)—जो प्रत्यक्ष का विषय है वह अर्थ दृ टान्त है, जाना गया विषय अनुमान और आगम का विषय कहा जाता है, और ज्ञान का साधन प्रत्यक्ष है। इसलिये प्रत्यक्ष में (दृष्टान्त होने का) प्रसङ्ग नहीं होता। १।१।२८।

इन्द्रियाणि इन्द्रियों की सत्ता में विविध सम्प्रदायों का विवाद नहीं है।

भिद्यते—वात्तिककार ने सर्वतन्त्रसिद्धान्त के दृष्टान्त से दो भेद दिखलाये हैं:—(१) दृष्टाग्त तो वादी— प्रतिवादी द्वारा।ही निश्चित होता है किन्तु सर्वतन्त्र सिद्धान्त सभी के द्वारा निश्चित होता है (;२) अनुमान तथा आगम दृष्टान्त के आश्रय होते हैं; सर्वतन्त्रसिद्धान्त के नहीं । यहाँ टीका में वतलाया गया है, सम्बन्धग्रहणाश्रयौ + अनुमानागमो यहा च सम्बन्धग्रहः स द्ष्टान्तः' इत्यर्थः (४०३)।

समान ० — एक, समत्नशब्दः एकप्रयोगः । नैयायिकानां हि समानं तन्त्रां न्यायशास्त्राम् परतन्त्रं ^च सांख्यादिशास्त्राम् टी० ५०३ । 'समानतन्त्रा' विचारणीय ही है ।

निरतिशयाः—अतिशय = बिशेषता से रहित' निरतिशया अपरिणामिनो न केनिवद् धर्मेणोपजना-पायधर्मेण युज्यन्ते, टी० ५०३। विवयसु = णब्दारिविषयों में।

न्यायसूत्रं भाष्यं च

यित्सद्धावन्यप्रकरणिसिद्धः सोऽधिकरणिसद्धान्तः ।१।१।३०॥ यह्यार्थस्य सिद्धावन्येऽर्था अनुषज्यन्ते, न तैविना सोऽर्थः सिध्यति तेऽर्था यद्धिष्ठानाः, सोऽधिकरणिसद्धान्तः; यथा देहेन्द्रियद्यतिरिक्तो ज्ञाता

यद्धिष्ठानाः, सोऽधिकरणस्द्धान्तः; यथा देहेन्द्रियव्यतिरिक्तो ज्ञाता दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणादिति । अत्रानुषङ्गिणोऽर्था इन्द्रियनानात्वम्, नियत्विषयाणीन्द्रियाणि, स्विषयग्रहणि ङ्गानि ज्ञानुज्ञानसायनानि, गन्धादिगुणव्यतिरिक्तं द्रव्यं गुणाधिकरणम् अनियतविषयाद्यतेना इति । पूर्वार्थसिद्धादेतेः याः सिध्यन्ति । न तैविना सोऽर्थः सम्भवतीति ।१।१।३०॥

न्यायवात्तिकम्

सामान्यविशेषतद्वतां नियमेनाभ्युपगमः प्रतितन्त्रसिद्धान्त इति । यथा भौतिकानि इन्द्रियाणीति योगानाम्, अभौतिकानीति सांख्यानामिति ।१।१।२६॥

वाक्यार्थसिद्धौ, तदनुषङ्गी घोऽर्थः, सोऽधिकरणसिद्धान्त इति । अस्योदाहरणं भाष्यो, इन्द्रियव्यतिरिक्तो ज्ञाता दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणादिति । १।१।३०॥

जिस (अर्थ) की सिद्धि में अन्य प्रकरण की सिद्धि हो जाती है वह अधिकरण सिद्धान्त है। १।१।३०।।

जिस अर्थ की सिद्धि में अन्य अर्थ अनुपक्त (अविनाभावी, संलग्न) होते हैं, उनके विना वह अर्थ सिद्ध नहीं होता। वे अर्थ जिसके आश्रित हैं (यदिविष्ठानाः) वह अधिकरण सिद्धान्त है; जैसे देह तथा इन्द्रिय से भिन्न ज्ञाता है, दर्शन और पर्श न से एक विषय (अर्थ) का ग्रहण होने के कारण। यहां अनुपक्त अर्थ हैं; इन्द्रियों की अनेकता, इन्द्रियों नियत विषय वाली हैं, अपने-अपने विषय का ग्रहण करना ही (प्रत्येक इन्द्रिय का) लिङ्ग है, ये ज्ञाता (आत्मा) के ज्ञान के करण हैं, गन्ध आदि प्रत्येक इन्द्रिय को गुणों का आधार है; आत्मा (चतनाः) अनियतविषय गुणों से भिन्न द्रव्य है जो गुणों का आधार है; आत्मा (चतनाः) अनियतविषय वाले हैं। पूर्व अर्थ (आत्मा भिन्न है देह तथा इन्द्रियों में) की सिद्धि (के प्रसंग) में ये विषय सिद्ध होते हैं उनके बिना वह (पूर्व अर्थ) संभव (ही) नहीं है । ११११३०॥

सामान्य, विशेष तथा सामान्य विशेष वालों की किसी नियम से स्वीकृति प्रतितन्त्रसिद्धान्त है; जैसे इन्द्रियां भूतों से उत्पन्न होती हैं, यह न्याय-वैशेषिक के अनुयायियों का (मत) है, अभौतिक हैं, यह सांख्य के अनुयायियों का । १।१।२।।

वाक्य के अर्थ की सिद्धि में, उसका अनुपक्त जो अर्थ है, वह अधिकरण सिद्धान्त है। इसका उदाहरव भाष्य में है—इन्द्रियों से भिन्न ज्ञाता है दर्शन और स्पर्शन से एक अर्थ (विषय) का ग्रहण होने के कारण। १।१।३०॥

तत्कारणेष्—उनके कारण महद्, अहङ्कर पञ्चतत्मात और भूतसूक्ष्म में विशेष अयित् अतिशय होता है(टी० ५०३)। नियभेनाभ्युषगमः.—सामान्य, विशेष तथा सामान्यविशेष से युवत की किसी नियम से स्वीकृति। जैदाहरणार्थ न्या०-वै० मानते हैं कि इन्द्रियां भौतिक हैं; सांख्य के अनुयायी मानते हैं कि इन्द्रियां अभौतिक (अहङ्कार से प्रादुर्भूता) हैं।

न्यायसूत्रं भाष्यं च

श्रपरोक्षिताभ्युपगमात् तद्विशेषपरी क्षर्णमभ्युपगमसिद्धान्तः। १।१।३१।।

यत्र किञ्चिदर्थजातमपरीक्षितभभ्युपगभ्यते; अश्तु द्रव्यं शब्दः स तु नित्यो-ऽथानित्य इति ? द्रव्यस्य सतो अगित्यता नित्यता वा तद्विशेषः परीक्ष्यते। सोभ्युपगमसिद्धान्तः (अपरीक्षितः शास्त्रानभ्युपगतः) स्वबुद्ध् यतिशय चिख्या-प्रिषया परबुद्ध् यवज्ञानाय च प्रवर्तत इति ।१।१।३१॥ न्यायवात्तिकम

अपरीक्षिताभ्युपगमादिति सूत्रम् । अपरीक्षितोऽसूत्रितः । योऽर्थः सूत्रेषु नोपनिबद्धः शास्त्रे चाभ्युपगतः सोऽभ्युपगमसिद्धान्त इति । यथा नैयायिकानां मन इन्द्रियमिति । वैशेषिकाणां नैयायिकानां च श्रोत्रमाकाशमिति ।

परीक्षण न किये गये (अर्थ) को स्वीकार करना अभ्युपगम सिद्धान्त है। १।१।३१॥

जहां किसी परीक्षण न किये गये (अपरीक्षित) अर्थ को स्वीकार लिया जाता है; जैसे शब्द को द्रव्य मान लिया जाये किन्तु वह नित्य है अथवा अनित्य । द्रव्य होते हुए उसके विशेष धर्म = नित्यता या अनित्यता की परीक्षा की जा रही है । वह अभ्युपगमसिद्धान्त शास्त्र में अस्वीकृत [अपरीक्षितः शास्त्रानभ्युगतः] अपने ज्ञान का उत्कर्ष प्रकट करने की इच्छा से और दूसरे (पर = प्रतिवादी) के ज्ञान का तिरस्कार करने के लिये प्रवृत्त होता है । १।१।३१॥

अपरीक्षिताम्युपगमात्' इत्यादि सूत्र है। अपरीक्षित का अर्थ है असूत्रित स्यूत्र में न कहा गया। जो अर्थ सूत्रों में नहीं कहा गया और शास्त्र में स्वीकारा गया है वह अम्युपगम सिद्धान्त है। जैसे नैयायिकों का 'मन इन्द्रिय है' (यह सिद्धान्त), वैशेषिकों और नैयायिकों का 'श्रोत्र (आकाश) है' (यह)।

अधिकरणसिद्धान्तः—जिस अर्थ के सिद्ध होने के साथ-साथ अन्य अर्थ सिद्ध हो जाते हैं वह अधिकरण सिद्धान्त है। यस्यार्थच्य सिद्धौ = जिस साध्य या हेतु की सिद्धि के विषय में ? यहाँ विषयसप्तमी है, निमित्तसप्रमी नहीं (टी० ५०४)।

अनुषङ्गिणोऽर्थाः-अनुपक्त, सम्बद्ध, अन्तर्गत, अविनाभावी, ।

यथा देहेन्द्रियव्यतिरिक्तो ज्ञाता—यहाँ शरीर और इन्द्रियों से पृथक् आत्मा की सिद्धि करते इए अन्य भाष्योक्त अर्थ भी सिद्ध हो जाते हैं।

वाक्यार्थसिद्धौ — यस्यार्थस्य स = ाध्य या हेतु का (टी० ४०४)। ऐसा हेतु ओर पक्ष वाक्यार्थ है अतः सभी के संग्रह के लिये वात्तिककार ने यह शब्द दिया है। वार्त्तिक में सून के पदों का अर्थ किया गया है; यत्सिद्धौ — वाक्यार्थसिद्धौ, अन्यप्रकरण सिद्धिः — तदनुषङ्गी 2.8.38]

[388

न्यायवात्तिकम्

अपरीक्षितः = शास्त्रानभ्युपगतः, स्वदुद्ध्यितशयिष्व्यापियवया परबुद्धयवन् ज्ञानाय च प्रवर्तते इन्ति । तत्र युक्तम् । कुतः ? परावज्ञानस्यायुक्तत्वात् — पदि तावत् परस्यासामध्ये बुद्ध्वा नायं समर्थं इत्येवं प्रवर्तते, तदानेन न परः प्रतिपादितो भवति, किं तु विप्रतिपादितः । यश्चाज्ञः किं तस्य प्रतिपादियत्य्यम् ? अथ परिज्ञात-सामध्ये पुरुषमवजानाति ? तदिप न, अतिशयबुद्धिमतोऽवज्ञानस्यायुक्तत्वात् । तस्मात् नायं सूत्राथेंऽशास्त्रिताभ्युपगमः सिद्धान्त इति ।

सर्व एवायं पक्षः स्वमुखेनार्थापत्त्या वाभिधीयते इति किमनेनातिविस्तृतेनेति केचित् । १ पक्षपर्याय एव सिद्धान्त इति । पक्षःस्य किलायं पर्यायः सिद्धान्त इति । पक्षःसिद्धान्तपर्याय इति न बुद्व्यायहे । सिद्धान्त इत्युपपन्तप्रमाणकोऽयमथं इति तत् प्रत्ययादभ्युपगमः, पक्ष इत्यन्यत्तरवादिसंप्रतिपन्नस्यान्यतरं प्रति कर्मत्या वस्तुनो यदुपादानं स पक्षः । यक्ष्व कारकशब्दो यक्ष्व वस्तुशब्दो नेतौ पर्यायौ, तद्यथा परज्ञुप्रदेवन

अपरीक्षित अर्थात् शास्त्र में अस्वीकृत, (वह) अपनी बुद्धि का उत्कर्ष प्रकट करने की इच्छा से और दूसरे की बुद्धि का तिरस्कार करने के लिये प्रवृत्त होता है। वह (भाष्य का मत) युक्तियुक्त नहीं। क्यों ?दूसरे का तिरस्कार उचित न होने से-यदि तो दूसरे का असामर्थ्य जानकर, 'यह समर्थ नहीं हैं' ऐसा दिखलाने के लिये प्रवृत्त होता है तब इसके द्वारा दूसरे को बोधित नहीं किया जाता; किन्तु उसे विपरीत बोध कराया जाता है: और, जो अज्ञानी है उसे क्या बोध कराया जा सकेगा? यदि जिसका सामर्थ्य भली भाँति जान लिया गया है ऐसे व्यक्ति को तिरस्कृत करता है, वह भी (ठीक) नहीं, क्योंकि उत्कृष्ट बुद्धि वाले का तिरस्कार करना उचित नहीं। इसलिये सूत्र का यह अर्थ नहीं कि शास्त्र में न कहे गये की स्वीकृति अन्युपगम सिद्धान्त है।

(आक्षेप) (सिद्धान्त के रूप में कहा गया) यह सब पक्ष को ही अपने मुख से (साक्षात्) अथवा अर्थापत्ति से कहा जा रहा है अतः इस अत्यन्त विस्तृत (कथन) से क्या लाभ ! ऐसा कुछ कहते हैं। दूसरे कहते हैं पक्ष का पर्याय (समानार्थक) ही सिद्धान्त है—यह सिद्धान्त पक्ष का समानार्थक ही है। [परिहार] पक्ष सिद्धान्त का समानार्थक (शब्द) है, यह हम नहीं समझते। यह अर्थ प्रमाण से युक्त (प्रामाणिक) है, उस विश्वास (प्रत्ययात्) से स्वीकार करना सिद्धान्त है। पक्ष है, किसी एक वादी द्वारा स्वीकृत वस्तु का दूसरे के प्रति कर्म के रूप में जो ग्रहण है वह पक्ष है। और जो कारक शब्द है तथा जो वस्तुवाचक शब्द है ये दोनों पर्याय नहीं होते; जैसे कि कि परशु और छेदन शब्द हैं। परण यह कब कहा जाता है ? जब व्यक्ति के व्यापार

सोऽधिकरणसिद्धान्तः, वह वावयायं अधिकरणसिद्धान्त है। भाष्योक्त उदाहरण है। (परिवृद्धि) भूषण आदि सूटा की दो प्रकार से व्याख्या करते हैं (१) जिस सर्वज्ञता आदि की सिद्धि में पृथिवी आदि के कर्ता द्वारा रचे जाने की सिद्धि हो जाती है वह सर्वज्ञता आदि की स्थिकृति १. तःपर्याय एव, कः पक्षपर्याय एव, खः

[सिद्धान्तः

न्यायवात्तिकम्

मिति । परजुरिति कद्दाभिधीयते ? यदा पुरुषध्यापारितरपेक्षं वस्तु सिन्धीयमानत्यावित्वते । छेदनिति च यदोद्यम्योद्यम्य दारुणि निपात्यते तदािक्षीयते ।
तावेतौ छेदनपरज्ञुबब्दौ वस्तुनः कियासंबन्धासंबन्धापेक्षौ प्रवर्तेते इति । तथा सवे कारकशब्दा एवं न द्रव्यमात्रे न वा कियासात्रे प्रवर्तन्ते । कि तु कियासाधने कियाविशेषयुक्त इति । कारकशब्दश्च पक्षो न सिद्धान्तः, स कथं पर्यायो भविष्यितं इति ? सर्वतन्त्रसिद्धान्तश्च पक्षपर्याय इति; अहो, पर्यायशब्दे कौशलं भदन्तस्य ।
पक्षो विचारणायामिष्टोऽर्थः इति चाभिधीयते, अविचारणीयश्चार्थः पक्षेऽन्तर्भवतीति चित्रम् ।

की अपेक्षा न करती हुई वस्तु समीप में स्थित होती है। और, जब उठा-उठाकर काष्ठ पर गिराया जाता है तब 'छेदन' यह कहा जाता है। वे ये छेदन और परशु शब्द वस्तु के किया से सम्बन्ध की अपेक्षा से अथवा अनपेक्षा से प्रयुक्त होते हैं। उसी प्रकार सब कारक शब्द ऐसे (ही) न केवल द्रव्यों में अथवा न केवल द्रिया में प्रयुक्त होते हैं; किन्तु (प्रधान) किया के साधन में विशेष किया से युक्त (द्रव्य) में। किञ्च, पक्ष कारक शब्द है, सिद्धान्त नहीं; अतः वह (पक्ष) (सिद्धान्त का) पर्याय कैसे होगा? और, सर्वतन्त्रसिद्धान्त पक्ष का पर्याय है, यह (कहना) बौद्धभिक्षु (दिङ्नाग) की पर्याय शब्दों के ज्ञान में कुशलता (ही) है! विचार के प्रसंग में अभीष्ट अर्थ पक्ष है, ऐसा (आपके द्वारा) कहा जाता है, फिर जो विचार का विषय नहीं वह अर्थ पक्ष में अन्तर्भूत हो जाता है (यह कथन) आश्चर्यजनक है।

अधिकरण सिद्धान्त है (२) जिस पृथिबी आदि की सकतृंकता आदि की सिद्धि में कर्ता की सर्वज्ञता आदि भी अन्तर्भृत हो जाती है, वह पृथिबी आदि की सकतृंकता अधिकरणसिद्धान्त है । इन दोनों का फलतः कोई भेद नहीं अतः भाष्यानुसारी अर्थ ही अभीष्ट है—यस्यार्थस्य = साध्यस्य हेतोवा ।

मन इन्द्रियमिति—वार्तिककार के अनुसार अपरीक्षितः असू व्रितः, जैसे नैयायिकों का मन को इन्द्रिय मानना । इस अर्थ में सूत्र योजना होगी—जो अपरीक्षित (असूब्रित) को स्वीकृत करके उसकी विशेष परीक्षा की गई है उससे प्रतीत होता है कि सूबकार ने असूब्रित को स्वीकारा है (द्व० टी० ५०८)। यही अभ्युपगमसिद्धान्त है।

अपरोक्षितः शास्त्रानभ्युपगतः—भाष्यकार की दृष्टि में अपरोक्षितः = शास्त्रानभ्युपगतः । वार्ति कार ने इसका दोष दिखलाया है — एवं स्वमतेन सूनां व्याख्याय भाष्यकारव्याख्यानं दूषयातं — शास्त्रानभ्युपगत इति, टी० ५०८ । उपलब्ध भाष्य की पुस्तकों में शास्त्रानभ्युपगतः' पाठ नहीं सिलता ।

तन्त युक्तम् —सिद्धान्त के सामान्य लक्षण के अनुसार प्रमाणाधीन अभ्युपगम ही अभ्युपगम सिद्धाः न्त है, यह हृदय में रखकर 'स्वगुद्धितशय इत्यादि भाष्य की अयुक्तता भी वार्त्तिककार ने दिखला दी है। (४० टी० ५०८)।

सर्व एदायं पक्षः कित्ः चे चारों (सिद्धान्त) पक्ष के ही अन्तर्गत हैं । यहां सर्वतन्त्र,

2.8.38]

न्यायवातिकम्

अथ पुनः सर्वतन्त्रसिद्धान्तं न प्रतिपद्यते, तेनापि सर्वतन्त्रसिद्धान्तं निष्ट्नुदारेन तदसत्वप्रतिपादको न्यायोऽभ्युपेयः । यश्यासौ न्यायस्याभ्युपगमः स सर्वतन्त्रसिद्धान्त इति व्याहतं भवति सर्वतन्त्रसिद्धान्तो नास्तीति । अथ न्यायमपि न प्रतिपद्येत, अतिवृतो व्यायातः वचनेऽवचने च—यदि तावत् न्यायो नास्तीति बवीति, प्रतिपादयित च नास्ति चेति व्याहतम् । अथ ववीति न, अवचनेऽस्यार्थो न सिध्यति । तस्मात् सर्वतन्त्रसिद्धान्तो नास्तीति संभ्रमव्याहतम् । इदं च तावद् भवान् प्रध्टव्यो जायते कि पक्षः सिद्धान्तसामान्यं भवति, अथ संग्रहः पक्षश्चव्देन सिद्धान्तस्य, अथ सिद्धान्तस्य पक्षशब्दः पर्याय इति ? तद् यदि सिद्धान्तसामान्यम्, तन्तास्त्यव्यापकत्वात्—न हि

किन्तु यदि (अथ पुनः) कोई सर्वतन्त्रसिद्धान्त को नहीं मानता, तो उसे भी सर्वतन्त्रसिद्धान्त का अपलाप करते हुए (निहनुवानेन) उस (सर्वतन्त्रसिद्धान्त) के अभाव का बोधक प्रमाण (न्याय) मानता होगा, और यह जो किसी प्रमेय के साथक प्रमाण (न्याय) की स्त्रीकृति है वह सर्वतन्त्रसिद्धान्त (ही) है; इस प्रकार यह (परस्पर) विरुद्ध कथन है कि सर्वतन्त्रसिद्धान्त नहीं होता। यदि कोई न्याय (प्रमाण से अर्थ का परीक्षण) को भी न मानें तो कहने या न कहने पर भी विरोध की निवृत्ति नहीं होती—यदि तो प्रमाणों से अर्थ का परीक्षण (न्याय) नहीं होता, यह कहता है तो (प्रमाण से अर्थ का) प्रतिपादन करता है, और (न्याय) नहीं है यह परस्परविरुद्ध है। और (न्याय नहीं है) ऐसा न कहने पर इसका मत (अर्थ) सिद्ध नहीं होता। इसलिये 'सर्वतन्त्रसिद्धान्त नहीं है' यह भानितपूर्ण व्याख्या है। और, प्रथमतः आपसे यह पूछना है (तीन विकल्प) कि क्या पक्ष सामान्य सिद्धान्त है। अथवा पक्ष शब्द से सिद्धान्त का संग्रह हो जाता है या पक्ष ग्रव्द सिद्धान्त का समानार्थक है? [समाधान] तब यदि पक्ष सामान्यसिद्धान्त है, वह नहीं हो सकता,

प्रतितन्हासिद्धान्त तो सूहाकार ने साक्षात् अपने सुष्य से कह दिये हैं, अधिकरण एवं अभ्यूपगम सिद्धान्त साक्षात् नहीं स्वीकारे गये, वे अर्थापत्ति तथा पक्ष के रूप में कह दिये गये हैं। अतः विस्ता-रपूर्वक सिद्धान्त का वर्णन व्यर्थ है। (संभवतः यह वस्तुबन्धु का मत है)।

पक्षपर्यायः सोऽधिकरणसिद्धान्त इति । यहां अपरे (दूसरे) करके दिङ्नाग का मत प्रस्तुत किया

गया है, तदनेन प्रबन्धेन भदन्तिदिग्नागोदितानि दूषणानि गिराकृतानि, टी० ५०६। सिद्धान्तः—प्रमाणों से युगत समझा गया मन्तन्य सिद्धान्त कहलाता है, इसलिये यहां 'तत्प्रत्य-यात्' (प्रमाणों से युगत होने की प्रतीति होने से) यह पद दिया गया है, तत्प्रत्ययात् का अयं है ,तस्य प्रमाणोपपन्नकर्मत्त्रस्य प्रत्ययाद् अभिमानादित्यर्थः, टी० ५०५।

ृतस्य प्रमाणापपत्नकमस्वस्य प्रत्ययाद् — जन्माणाप्यचन्त्र उत्तर्य प्रति कर्मरूप में अथवा कहिये पक्ष इति: — किसी एक वादी द्वारा स्त्रीकृत मत की दूतरे वादी के प्रति कर्मरूप में अथवा कहिये

प्रकट रूप में कहना ही पक्ष है (इ० वातिक)

[सिद्धान्तः

न्यायवात्तिकम्

पक्षः सर्वतन्त्रसिद्धान्तं व्याप्नोति, असाध्यत्यात् । यथा सत्ता द्रव्यगुणक्रमणि व्याप्नोति इति व्याप्नति व्याप्नोति । पर्यायक्षव्योऽित न भवती-त्युत्त.म्—दिव च पक्षः सिद्धान्त इति पर्यायः सर्वतन्त्रसिद्धान्तः साध्यो जायते । सर्वतन्त्रसिद्धान्तः साध्यश्चेति व्याघातः । अर्थापिततोऽधिकरणसिद्धान्तस्याभेद इति चेत्—अथापि मन्येथा अर्थापत्तितोऽधिकरणसिद्धान्तः । सिद्यते । सिद्यते ; दाक्यार्थं-प्रतिपत्तौ तिद्वपरीतवाक्यार्थंप्रतिपत्तिः अर्थापत्तिः, वाक्यानुषङ्गी योऽर्थः सोऽधिकरणसिद्धान्त इति । १।१।३१

अव्यापक होने से—पक्ष शब्द सर्वतन्त्रसिद्धान्त में व्यापक नहीं है; क्योंिक ब्रह् (सर्वतन्त्रसिद्धान्त) साध्य नहीं होता; जैसे सत्ता (नामक सामान्य) द्रव्य, गुण तथा कर्म में व्यापक है, व्यापक होने से सामान्य होती है; इस प्रकार पक्ष नहीं है। यह (सिद्धान्त का) समानार्थक भी नहीं होता, यह कहा जा चुका है—यदि पक्ष और सिद्धान्त दोनों समानार्थक होते तो सर्वतन्त्रसिद्धान्त (भी) साध्य हो जाता और सर्वतन्त्रसिद्धान्त है तथा सिद्ध करने योग्य (साध्य) है, यह परस्पर विश्द्ध है। (शङ्का) यदि मानते हो कि अर्थापत्ति से अधिकरण सिद्धान्त भिन्न नहीं है। (समाधान) भिन्न है; वाक्य के अर्थ का ज्ञान हो जाने पर उससे विपरीत वाक्यार्थ की प्रतीति होना अर्थापत्ति है; किन्तु वाक्य से अनुपक्त होने वाला जो अर्थ है वह अधिकरणसिद्धान्त है। १।१।३१

कियासाधने कियाविशेषपुक्त — जो प्रधान किया का साधन होता है तथा अवान्तर व्यापार से युवत होता है, वह कारक कहलाता है। इसी से प्रधान किया के प्रति कारक भिन्न-भिन्न हो जाते हैं (द्र० टी० ५०८)। 'पक्ष' यह कारक शब्द है, 'सिद्धान्त' कारक शब्द नहीं; अतः पक्ष और मिद्धान्त दोनों पर्याय नहीं हो सकते।

न्यायस्याभ्युपरायः — यदि किसी तथ्य को सिद्ध करने के लिये न्याय (प्रमाणरर्थपरीक्षणम्) को स्वीकार किया जाता है तो सर्वतन्दासिद्धान्त (प्रमेयसाधनं प्रमाणम्) को बिना कहे ही मान लिया जाता है।

संभ्रमब्याह्तम् (संभ्रमब्याकृतम्): प्रान्ति से व्याख्यान किया गया या कहा गया।

मवान् प्रब्टब्यो जायते — यहां पूर्वपक्षी (बीद्ध) से तीन प्रश्न किये जा सकते हैं। इनमें से

प्रथम और ततीय नहीं बनता यह आगे (बात्तिक में) कहा जा रहा है। 'अथ संप्रहः पक्षणव्देन'

इस द्वितीय मत का सर्वतन्दा सिद्धान्त में पक्ष के व्यापक न होने से ही निराकरण हो जाता है।

वाला येत्रतिपत्तौ — 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुड्बते' इस वाक्य का अर्थ है — दिन में न खाने

वाला देवदत्त पुष्ट है। इससे 'रात में खाना लोकसिद्ध है, जो अर्थापत्ति का विषय माना जाता

है। दूसरी ओर वाक्य के अर्थ का अनुपङ्गी (अविनाभावी) जो अर्थ है वह अधिकरण सिद्धान्त

का विषय है। अतः दोनों (अर्थापत्ति तथा अधिकरण सिद्धान्त) में अन्तर है।

न्यायसूत्रं भाष्यं च

अथावयवाः,

प्रतिज्ञाहेत्रुदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः ।१।१।३२॥ दज्ञावयवान् एके नैयायिका वास्ये सञ्चअते, जिज्ञासा, संज्ञयः, ज्ञवयप्राप्तः, प्रयोजनम्, संज्ञयन्युदास इति । ते कस्मान्नोच्यन्त इति ?

न्यायवात्तिकम्

प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयिनगमनान्यवयवाः । अवयवानां विभागोद्देशार्थं सूत्रम् । विभागोद्देशस्तु नियमार्थः । कि नियन्तव्यम् ? न दशावयवं न व्यवयवं च वावयम्— एके तावद् ब्रुवते दशावयवं वाक्यम्, अपरे त्र्यवयविमितिः उभयव्युदासात् पञ्चैवेति नियमज्ञापनार्थं प्रतिज्ञादीनां विभागोद्देश इति । कथं पुर्नाज्ज्ञासादयोऽवयवा न भवन्ति ? पराप्रतिपादकत्वात्—परप्रतिपादका ये ते वाक्यस्याङ्गभूता इतरेतरा-सम्प्रत्यायितेनार्थं नार्थंवन्तो वाक्याङ्गतामुपयान्ति, तेऽवयवाः । वाक्याङ्गत्वमवयवार्थः । कि पुनर्वाक्यम् ? यस्य प्रतिज्ञादिभिष्ठकृतस्य विशेषावस्थापनमर्थः, तद् वाक्यम् । अव अवयव है:—

प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय तथा निगमन, ये अदयव हैं।१।१।३२॥

कुछ नैयायिक कहते हैं कि (न्याय) वाक्य में दस अवयव होते हैं (उक्त अवयवों के अतिरिक्त) जिज्ञासा, संशय, शक्यप्राप्ति, प्रयोजन और संशयव्युदास (भी होते हैं), वे यहाँ क्यों नहीं कहे जाते ?

प्रतिज्ञा इत्यादि सूत्र है। अवयवों के विभाग कथन के लिये यह सूत्र है। विभाग-कथन तो नियम के लिये है। क्या नियम करना है? अनुमान वाक्य न दस अवयवों वाला है और न तीन अवयवों वाला—कोई तो कहते हैं। यह वाक्य दस अवयवों वाला होता है, दूसरे कहते हैं तीन अवयवों वाला; दोनों का निराकरण करके (व्युदासात्) पाँच ही अवयव होते हैं, इस नियम को सूचित करने के लिये प्रतिज्ञा आदि का विभाग किया गया है। (शङ्का) किन्तु जिज्ञासा आदि अवयव क्यों नहीं होते? समाधान (१) दूसरे के बोधक (प्रतिपादक) न होने से—जो दूसरे के बोधक होते हैं, वे (अनुमान) वाक्य के अङ्ग होकर एक दूसरे के द्वारा बोधित न किये गये अर्थ को वतलाकर (अर्थेन) प्रयोजन वाले अर्थंवन्तो होते हुए (अनुमान) वाक्य के अङ्ग हो जाते हैं, वे (ही) अवयव हैं। अवयव शब्द का अर्थ है अनुमान वाक्य के अङ्ग होना, किन्तु वह वाक्य क्या है? प्रतिज्ञा आदि से उपकृत होकर जिसका विशेष अर्थ की स्थापना ही प्रयोजन है, वह वाक्य है।

अवयवानां ''विभागोद्देश इति—यहां वात्तिककार ने सूत्र का आत्पर्य। बतलाया है कुछ तार्किक अनुमान वाक्त के दस अवयव मानते थे, कुछ (मीमांसक आदि) तीन अवयव मानते हैं। यह सूहा नियम करता है कि अनुमान बाक्य के पाँच ही अवयव होते हैं। ज्यवयवस्—तीन अवयवों का, मीमांसक को पहवे तीन या अन्तिम तीन ही अभीष्ट हैं। वाच-स्पति मिश्र का कथन है कि 'त्यवयम्' यह उपलक्षण के लिये है, वाक्य के दो अवयव होते है एसे। भी कोई (धर्मकीर्ति आदि) मानते हैं।

न्यायभाष्यम

तत्राप्रतीयमानेव्यं प्रत्ययायंस्य प्रवित्तका जिज्ञासा । अप्रतीयमानम्थं कस्माज्जिज्ञासते ? तं तत्त्वतो ज्ञातं हास्यामि वोपादास्य उपेक्षिण्ये वेति । ता एता हानोपादानोपेक्षावुद्धयस्तत्वज्ञानस्यार्थः, तद्द्यंसयं जिज्ञासते । सा खिल्ययमसाधनसर्थस्येति । जिज्ञाताधिष्ठानं राज्ययत्य ज्याहतधर्मोपसंघातात् तत्त्वज्ञाने प्रत्यासन्तः—व्याहतयोद्धि धर्मयोरन्यतत्त्तत्त्वं भवितुमहंतीति । स पृथगुपिदिष्टोप्यसाधनगर्थन्येति । प्रमातुः प्रमाणानि प्रमेयाधिगमार्थानि, सा ज्ञाव्यप्राप्तिनं साधकस्य वाष्यस्य भागेन युज्यते प्रतिज्ञादिवदिति । प्रयोजनं तत्त्वावधारणमर्थसाधकस्य वाष्यस्य फलं नैकदेश इति । संज्ञयन्युद्धासः प्रतिपक्षोपवर्णनं तत्प्रतिष्ठेषेन तत्वज्ञानाभ्यनुज्ञानार्थम्, न त्वयं साधकवावयैकदेश इति । प्रकरणे तु जिज्ञासादयः समर्था अवधारणीयार्थोपकारात् । तत्त्वार्थसाधकभावान्तु प्रतिज्ञादयः साधकवावयस्य भागा एकदेशा अवयवा इति ।१।१।३२।।

उनमें अज्ञात या सामान्यतः ज्ञात (अप्रतीयमाने) अर्थ में (विशेष) ज्ञान के लिये प्रवृत्ति कराने वाली (प्रवर्त्तिका = उत्पादिका, टी॰ ५१२) जिज्ञासा है। (व्यक्ति) अज्ञात अर्थ को जानने की इच्छा क्यों करता है ? (इसलिये कि) उस (अर्थ) को सम्यक जानकर छोड़ दूँगा, प्राप्त करूँगा या उपेक्षित कर दूँगा । वे ये त्याग, ग्रहण या उपेक्षा के ज्ञान (ही) तत्त्वज्ञान के प्रयोजन (अर्थ) हैं, उसके लिये यह (व्यक्ति) जानने की इच्छा करता है, निश्चय ही यह अर्थ की (सिद्धि का) साधन नहीं है। जिज्ञासा का आश्रय (अधिष्ठानम्) होने वाला संशय भी विरुद्ध धर्मी के उपस्थित होने के कारण (व्याहतधर्मोपसंघातात्) तत्त्वज्ञान के अत्यन्त समीप (प्रत्यासन्नः) है क्योंकि विरुद्ध धर्मों में से कोई एक तत्त्व हो सकता है। वह संशय पृथक् कहा गया भी अर्थ (की सिद्धि) का (साक्षात्) साधन नहीं। प्रमाण प्रमाता के प्रमेय-ज्ञान के लिए होते हैं, वही शक्यप्राष्ति है, जो प्रतिज्ञा आदि के समान साधक वाक्य (अनुमान वाक्य) का अवयव (भाग) नहीं हो सकती। प्रयोजन है तत्त्व का निश्चय जो अर्थ-साधक वाक्य का फल है अवयव नहीं। संजयव्युदास (संशय का निराकरण) है विरोधी पक्ष का वर्णन जो उसका प्रतिषेध करके तत्त्वज्ञान की स्वीकृति के लिये होता है; किन्तु यह साधक वाक्य का अवयव नहीं है। वस्तुत: जिज्ञासा आदि तो कथा की प्रवृत्ति (प्रकरणं कथाप्रवृत्तिः टी०) में समर्थ हैं; क्योंकि ये निर्णेतव्य (अवधारणीय) अर्थ का उपकार करते हैं; किन्तु निर्णेतव्य (तत्त्व) अर्थ के साधक होने से प्रतिज्ञा आदि साधक वाक्य के भाग, एकदेश अथवा अवयव हैं।

2 1 2 1 3 7 11

परप्रतिपादका ये ... तेऽवयदा:—यह सूबा विभागगरक होकर भी अवयव सामान्यलक्षण को सूचित करता है (सूचनात् सूब्रम्); जो दूसरो को बोध कराते हैं दूसरे अवयवों के द्वारा न कहें गये अर्थ को बतलाकर सार्थक होते हैं तथा अनुमान वाक्य के अङ्ग हो जाते हैं। ये अवयव

न्यायवात्तिकम

वाक्यार्थं च संहत्येते पञ्च निष्पादयन्तीत्यवयवा इत्युच्यन्ते, न पुनर्जिज्ञासादयः प्रप्रतियादका इत्यतो न वाक्यस्यावयवा इति । निश्चितत्वाच्च-निश्चितदच साधिवता भवति । न तस्य जिज्ञासातंशयौ स्तः । प्रयोजनमपि साधनादेव गम्यते, शक्यप्राप्ति-इन्नेति । न ह्यशक्यसप्रयोजनं या कश्चित् साधयतीति । तस्यात् प्रयोजनशक्यप्राप्ती न वाक्यावयवौ ।

प्रकरणे तु जिज्ञासादयः समर्था इति भाष्यम् । प्रकरणमेते उत्थापयन्ति । न हि जिज्ञासादीनन्तरेण प्रकरणस्योत्थापनमस्तीति प्रकरणोत्थापका नावयवा जिज्ञासादयः। परप्रतिपादकत्वात् प्रतिज्ञादीनामयमधिकार इति ते व्यपदिश्यन्ते । त्र्यवयमि वाक्यं यथा न अवति, तथोपनयनिगमनयोरर्थान्तरभावं प्रतिपादयिष्यन्तो वर्णयिष्यामः। शशाइशा

और; (१) ये पाँचों मिलकर वाक्यार्थ को निष्पन्न करते हैं, इसी से अवयव कहलाते हैं; किन्तु जिज्ञासा आदि दूसरे को बोध कराने वाले नहीं अतः वे (अनुमान) वाक्य के अवयव नहीं हैं । (२) निश्चित होने से भी–और (स्वयं) निश्चित कर लेने वाला (ही) (दूसरे के प्रति) सिद्ध करने वाला होता है, उस ो जिज्ञासा तथा संशय नहीं होते । सिद्ध करने से ही प्रयोजन प्रतीत होता है और शक्यप्राप्ति भी, क्योंकि (हि) अज्ञक्य को अथवा प्रयोजनरहित को कोई सिद्ध नहीं करता। इसलिये प्रयोजन तथा शक्यप्राप्ति भी (अनुमान) वाक्य के अवयव नहीं है।

प्रकरण में तो जिज्ञासा आदि समर्थ हैं, यह भाष्य है, ये जिज्ञासा आदि प्रकरण (कथाप्रवृत्ति = वाद जल्पवितण्डा की प्रवृत्ति) को आरम्भ करते हैं (उत्थापयन्ति); क्योंकि जिज्ञासा आदि के विना प्रकरण का आरम्भ नहीं होता अतः ये जिज्ञासा आदि प्रकरण के उत्थापक हैं, (अनुमानवाक्य के) अवयव नहीं । वस्तुतः (तु) दूसरे के बोधक होने के कारण प्रतिज्ञा आदि का यह (अवयव कहलाने का) अधिकार है, अतः वे अवयव कहलाते हैं । तीन अवयव वाला भी कैसे (अनुमान) वाक्य नहीं होता, यह उपनय और निगमन के पृथक् पदार्थ होने का प्रतिपादन करते हुए कहेंगे। १। १। ३२॥

प्रत्ययार्थस्य-प्रच्यय=विशेषज्ञान, तत्त्वज्ञान, अग्निमत्त्वादितत्त्वावधारणं प्रत्ययः; टी० ५११।

अर्थ 🗕 प्रयोजन, विशेषज्ञान का प्रयोजन है हान-उषादान--उपेक्षा वृद्धि ।

प्रत्यासन्त:--संशय के अनन्तर जिज्ञासा होती है तव तत्त्वज्ञान होता है अतः संशय तत्वज्ञान में सहायक तो है किन्तु वह तत्त्वज्ञान का साक्षात् साधन नहीं ।

शक्यप्रात्ति:--शक्य = प्रमेय, प्रमेय का ज्ञान कराने की प्रमाण तथा प्रमाता में सामर्थ्य है; किन्तु

शक्यप्राप्ति साधक वाक्य का अङ्ग नहीं (द्र० टी० ५९२)। संशयब्युदास: — टीकाकार के अनुसार इसका अर्थ है तर्क (संशयब्युवास: = तर्कापरनामा) यह प्रमाणों (तत्ःवं ज्ञायतेऽनेनेति तत्त्वज्ञानं प्रमाणम्, टी०) का सहायक होता है; किन्तु साधन वाक्य

कहलाते हैं।

[अवयवा:

न्याय सूत्रं भाष्यं च

तेषां तु यथा विभन्तानाम्,

लाध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा ।१।१।३३॥

प्रज्ञापनीयेन धर्मेण धीमणो विज्ञिष्टस्य परिग्रहवचनं प्रतिज्ञा साध्यनिर्देशः, अनित्यः शब्द इति ।१।१।३३।।

न्यायवात्तिकम्

तेषां त्ववयवत्वेन सामान्येन संगृहीतानामितरेतरविशेषकं लक्षणमुच्यते। माध्यनिर्देशः प्रतिशेति ॥ तत्र प्रज्ञापनीयधर्मविशिष्टो धर्मी साध्यः । तस्य निर्देशः प्रतिज्ञा परिग्रहवचनम् । उदाहरणम्, अनित्यः शब्द इति ।

सिद्धत्वात् धर्मिणो न साध्यत्विनिति केचित्—धर्मी किल शब्दलक्षणः सिद्ध एव । सिद्धश्च साध्यो न भवतीति । नैव दोवः, प्रज्ञापनीयधर्मितिशब्दस्येति वचनात्— न बूमो धर्मिमावं साध्यम्, अपि तु प्रज्ञापनीयधर्मिविशिष्टो धर्मी लाध्यः । यदि प्रज्ञापनीयो न विशेषणम्; अथ विशेषणम्, न प्रज्ञापनीयः । नासिद्धं विशेषणं भवतीति, सिद्धेनायं विशिष्यते नासिद्धेनेति । सत्यम्, असिद्धमग्रज्ञातं विशेषणं न भवति,

विभाग के अनुसार उनमें,

साध्य का निर्देश प्रतिज्ञा है। १। १। ३३।। साध्य (प्रज्ञापनीय) धर्म से विशिष्ट धर्मी की स्वीकृति (स्थापना = परिग्रह) वतलाने वाला वचन प्रतिज्ञा अथवा साध्यनिर्देश है; जैसे शब्द अनित्य है।

११।३३॥
उन अवयव रूप में सामान्यतः संग्रहीत किये गयों का एक दूसरे से भेद
कराने वाला (विशेषक) लक्षण कहा गया है, साध्यनिर्देश प्रतिज्ञा है, इत्यादि । उसमें
बोधनीय धर्म से विशिष्ट धर्मी साध्य है, उसका निर्देश अथवा स्वीकृति बतलाने वाला
वचन प्रतिज्ञा है। उदाहरण है, शब्द अनित्य है।

(आक्षेप) धर्मी के सिद्ध होने से वह साध्य नहीं होता, ऐसा कोई कहते हैं—
वस्तुतः (किल) शब्द रूप जो धर्मी है वह सिद्ध ही है और जो सिद्ध है वह साध्य
नहीं होता। पिरहार] यह दोप नहीं है, बोधनीय धर्म से विशिष्ट धर्मी का यह
कहने से—हम यह नहीं कहते कि केवल धर्मी साध्य है अपि (तु यह कहते हैं कि)
बोधनीय धर्म से विशिष्ट धर्मी साध्य है। (आक्षेप) यदि बोधनीय है तो विशेषण नहीं
होगा और यदि विशेषण है तो बोधनीय (बोध कराने योग्य) नहीं; जो सिद्ध नहीं
है वह विशेषण नहीं हो सकता—सिद्ध धर्म से ही किसी अर्थ (अयम्) को
विशिष्ट किया जाता है, असिद्ध से नहीं। [परिहार] ठीक है, असिद्ध जो अज्ञात या
अप्रसिद्ध है वह विशेषण नहीं होता; किन्तु यह अनित्यत्व तो घट में प्रसिद्ध है,
शब्द में सिद्ध किया जाता है।

का अङ्ग नहीं।

प्रकरणे तु — जिज्ञासा आदि वाद आदि कया की प्रवृत्ति में (प्रकरणं कथाप्रवृत्तिः, टी०) समर्थ होते हैं। ये स्वरूप से ही अर्थनिर्णय में सहायक हैं, ज्ञात होकर नहीं। प्रतिज्ञा आदि तो अर्थनिर्णय कं साक्षात् साधन होते हैं; अतः प्रतिज्ञा आदि अवयव हैं जिज्ञासा आदि नहीं। जिज्ञासा आदि अवयव क्यो नहीं होते ? इसकी व्याख्या अग्रिम वार्तिक में की गई है। यहां प्रसङ्ग से अवयव का सामान्य स्वरूप दिखाकर 'पराप्रतिपादकत्वात्' यह हेतु दिया गया है और ये जिज्ञासा आदि दूसरे के प्रतिपादक क्यों नहीं होते ? इसमें 'निव्चितत्वाच्च' यह हेतु दिया गयाहै। 2.2.33]

[२४७

न्याय वात्तिकन

प्रज्ञातं त्विवसनित्यत्वं घटे शब्दस्य साध्यभिति । एवं तर्हि शब्दस्यानित्यत्वं साध्यं न शब्द इति ? शब्दस्येति विशेषणात् न दोषः—शब्दस्येति ब्रुवता नानित्यत्वमात्रं साध्यत्वेनाभ्यनुज्ञायते, न धाँममात्रम् । कि तर्हि ? धाँमणः शब्दस्य प्रज्ञातस्य अनित्यत्वस्य चान्यधर्मत्वेन, योऽयं विशेषणिश्रोष्टयभाव इतरेतरिनयामकत्वेन नियमः सः साध्यः । स चोभयाश्रयो भवति । उभयाश्रयत्वे सित किमुक्तं भवति ? धर्मी विशेषणं धर्मौ वा विशेषणमिति; शब्दस्यानित्यत्वम् अनित्यत्वस्य वा शब्द इति ? धर्मी विशिष्यते' इति युक्तम् । सामान्यतोऽधिगतत्वाद् विशेषतोऽनिधगतत्वाच्च विशेषप्रतिपादकत्वाच्चानुमानस्य, न च पुनधंर्यस्य सामान्याधिगमोऽस्ति । न नास्ति । किमयं धर्मः शब्दस्य, अतान्यस्य घटस्येति । एवं तर्हि शब्दस्यानित्यत्वमित्ययमर्थः साध्यः । तस्य च कृतकत्वावियोग इति युक्तम्; प्रज्ञापनीयधर्मविशिष्टो धर्मी साध्यः । तस्य निर्देशः प्रतिज्ञा ।

(शङ्का) तो इस प्रकार शब्द की अनित्यता साध्य है, शब्द नहीं । [समाधान] शब्द की (अनित्यता) ऐसा विशेषण देने से दोप नहीं है-शब्द की अनित्यता यह कहते हुए केवल अनित्यता को साध्यरूप में नहीं माना जाता, न केवल धर्मी (शब्द) को। तब किसे (माना जाता है)? धर्मी शब्द का और अन्य (घट आदि) के धर्म रूप में प्रसिद्ध अनित्यत्व का जो विशेषण-विशेष्य-माब का नियम है, जो एक दूसरे का नियामक है वह साध्य है। और, वह दोनों के आश्रित होता है। (शङ्का) दोनों के आश्रित होने का क्या अभिप्राय है (किमुक्तः भवति) ? धर्मी विशेषण है अयवा धर्म विशेषण है, शब्द का विशेषण अनित्यत्व है अथवा अनित्यत्व का (विशेषण) शब्द है ? [समाधान] धर्मी (शब्द) को विशेषित किया जाता है (धर्मी विशेष्य है), यह युक्तियुक्त है, क्योंकि (धर्मी) सामान्य रूप से ज्ञात है विशेष रूप से (शब्द अनित्य है, इस रूप में) ज्ञात नहीं है और अनुमान विशेष का बोधक होता है । किन्तू धर्म (अनित्यत्व) का सामान्य रूप से ज्ञान नहीं है। (राङ्का) नहीं है, ऐसा नहीं; यह (अनित्यत्व) धर्म शब्द का है अथवा अन्य घट (आदि) का ? (समाधान) तब इस प्रकार जब्द का अनित्यत्व साध्य है। और, उस (जब्द के अनित्यत्व) का कृतकत्व आदि से सम्बन्ध नहीं; अत: (यह मानना) युक्तियुक्त है कि बोधनीय धर्म से विशिष्ट धर्मी साध्य है। उसका निर्देश प्रतिज्ञा है।

उपनयनिगमनयो:—वाचस्पित मिश्र के अनुसार यहां प्रतिज्ञा का भी समावेश होगा।
पिरग्रहवचनम्:—पिरगृ हातेऽनेनेति पिरग्रहः, स च वचनं चेति परिग्रहवचनम्, टी० ५२०।
सिद्धत्वात्...धिमणो न—'अनित्यः शब्दः' में धर्मी शब्द है, जो सिद्ध है साध्य नहीं।
भीष दोष:—पिरहार का आशय है: अग्नि वाला है, अग्नि के अभाव वाला नहीं, यहां अग्नि से पर्वत का अयोग—व्यवच्छेद प्रकट होता है। यह पर्वत को अग्निमान् सिद्ध करने में विशेष्य-विशेषण (पर्वत का अग्निमहत्व) सम्बन्ध ही सिद्ध हो जाता है, सक्षात् रूप से अश्नेगव्यवच्छेद ही साध्य नहीं है। नैयायिक के मत में लिङ्ग अन्यापोह का दोषक नहीं होता (मि० टी० ५२०)।

२४८॥

[अवयवाः

न्यायवात्तिकम्

उमयावधारणप्राप्तौ, अन्यतरावधारणे च दोषः —यदि साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञीत प्रतिज्ञालक्षणम्, ततः पूर्वोत्तरे द्वे अवधारणे न कल्प्येते । कथम् ? साध्यनिर्देश एव प्रतिज्ञीत प्रतिज्ञावधृता, न साध्यनिर्देशः । प्रतिज्ञा अन्यथा नास्ति, साध्यनिर्देशोऽन्यथाप्यस्तीति प्राप्तम् । ततः च साध्यनिर्देशो न प्रतिज्ञा, अतो न साध्यनिर्देशो लक्षणम्, व्यतिरेकित्वादिति । अथ साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञैवेति साध्यनिर्देशोऽवधृतः, न प्रतिज्ञा, साध्यनिर्देशोऽन्यथा नास्ति, प्रतिज्ञा अन्यथाप्यस्तीति । एवमपि साध्यनिर्देशो न प्रतिज्ञालक्षणम्, अव्यापकत्यात् । यदिष व्यतिरेकि तद्यवलक्षणम्, यथा विषाणित्वं गोः । यदप्यव्यापकं तद्य्यलक्षणं यथा गन्धवत्त्वं द्वव्यस्थ । अथ पूर्वोत्तरे अवधारणे न क्रियेते, तथापि किल वाक्यमनर्थकं भवति, न चान्या गतिरस्ति । तस्मात् साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञीत न युक्तम् ।

(बौद्ध का आक्षेप) दोनों का नियमन (अवधारण) प्राप्त होने पर किसी एक का अवधारण करने में दोप है—यदि 'साध्यनिर्देश: प्रतिज्ञा' इस प्रकार प्रतिज्ञा का लक्षण है तब पहला और बाद का दोनों (ही) अवधारण नहीं वनते (कल्प्येते)। कैसे? साध्यनिर्देश ही प्रतिज्ञा है, इस प्रकार प्रतिज्ञा का अवधारण होता है साध्यनिर्देश का नहीं। इससे यह प्राप्त होता है कि अन्य दशा में प्रतिज्ञा नहीं होती, साध्यनिर्देश तो अन्यथा भी होता है। और, तब साध्यनिर्देश प्रतिज्ञा नहीं होता अतः साध्यनिर्देश (प्रतिज्ञा का) लक्षण नहीं होगा, व्याभिचारी होने से फिर यदि साध्य निर्देश प्रतिज्ञा ही है, इस प्रकार साध्यनिर्देश आवधारण होगा प्रतिज्ञा का नहीं, साध्यनिर्देश अन्य दशा में नहीं होता, प्रतिज्ञा तो अन्यथा भी होती है। इस प्रकार भी 'साध्यनिर्देश' प्रतिज्ञा का लक्षण न होगा, व्यापक न होने से। (वस्तुतः) जो ब्यभिचारी होता है वह भी लक्षण नहीं होता, जैसे सींग वाला होना गौ का (लक्षण नहीं) जो भी अव्यापक होता है वह भी लक्षण नहीं होता; जैसे गन्ध वाला होना द्रव्य का (लक्षण नहीं)। अब यदि पहला और वाद का दोनों अवधारण नहीं किये जाते तो भी अवश्य ही वाक्य अनर्थक हो जाता है। और (इसके अतिरिक्त) अन्य गित नहीं है। इस प्रकार 'साध्यनिर्देश: प्रतिज्ञा' यह लक्षण यक्त नहीं।

असिद्धम् = अप्रज्ञातम्, अप्रसिद्ध, अनित्यता ऐसा बमं है जो घट आदि में प्रसिद्ध है। एवं तहिः न शब्द इति शङ्का का आशय है: — धमं साब्य है धर्मी नहीं; श्रव्द की अनित्यता जो शब्द का धमं है, वह साब्य है।

हान्दस्येति... विशिष्टो धर्मी साध्य:--प्रज्ञापनीय धर्म से विशिष्ट धर्मी ही साध्य होता है केवज धर्म नहीं; अतः 'अनित्य. शब्दः' यह साध्य है।

निर्देश:--प्रतिज्ञा बाक्य, निशिष्यतेऽनेनेति निर्देशः, प्रतिज्ञाबावयमुच्यते, टी० ५२० ।

उमयावधारणप्राप्ती — दोनों का अवज्ञारण प्राप्त होने पर ऐसा संशय हो जाता है कि क्या वह अवज्ञारण है अवजा यह । यह बौद्ध का आक्षेप है। वह समझता है कि वाक्य का अर्थ अन्ययोग-अवज्ञेद ही है। (द्र० टी० ५२०)।

प्रतिज्ञावधृता — जिसके पण्चात् 'एक' शब्द का प्रयोग किया जाता है, उससे दूसरे में अववारण होता है—'यत एवकारः सतोऽन्यत्रायद्यारणमिति हि शाब्दाः' यहाँ टीका के पाठ में 'न ततो' है।

न्यायवात्तिकम्

सर्वस्मिन् वाववेऽवधारणिक्षति तु न बुध्यामहे । तद् यथा गोपालकेन मार्गेऽपदिष्टे एष पन्थाः श्रुष्णं गच्छतीति नावधारणस्य विषयं पद्यामः । अद्देशरणस्य तु तिषयः सामान्यश्रुतौ नियमः—येन वावयेन समानश्रुत्या अनेकोऽर्थो गम्यते, तत्रातित्रसक्तावित्रसङ्गितराकरणायं मवधारणिमितः; न पुनः साध्यनिदेशः प्रतिज्ञेत्युवते क्वचित् प्रसङ्गोऽस्ति यन्निराकरणायावधारणि त्रियेत । सर्वत्र चावधारणं कुर्वाणो लोकं वावते । यत्र च विशेषणस्यावकाज्ञः, तत्रावधारणस्यापीति नायं दोषः, पूर्वोत्तरेऽव-धारणे न कल्प्येते इति ।

नतु च साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञेत्युक्ते साध्ययोर्हे तुद्द्दाःतयोरिप प्रसङ्गः, यथा अनित्यः शब्दश्चाक्षुपत्वात्, नित्यः शब्दोऽस्पर्शत्वात् बुद्धिवच्चेति ।

[परिहार] सभी वाक्यों में अवधारण होता है, ऐसा तो हम नहीं समझते (बुध्यामहे) जैसे गोपाल के द्वारा मागं वतलाशे पर कि यह मागं सुध्न (देश) को जाता है, यहाँ अवधारण का विषय हम नहीं देखते। अवधारण का विषय तो यह है कि सामान्यतः सुने गये (शब्द के अर्थ) में नियम करे—जिस वाक्य से समान श्रदण या शब्द (श्रुति) द्वारा अनेक अर्थ प्रतीत होते हैं, वहां अतिप्रसङ्ग होने पर अति प्रसङ्ग के निवारण के लिये अवधारण किया जाता है। किन्तु 'साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा' यह कहने पर कहीं प्रसङ्ग नहीं होता जिसके निराकरण के लिये नियमन किया जाये। किञ्च, सब स्थानों पर निर्धारण करने वाला लोक का विरोध करता है। और, जहां विशेषण का अवसर होता है वहाँ अवधारण मी होता है, इस प्रकार यह दोष नहीं है कि पहला और वाद का दोनों अवधारण नहीं बन्ते।

शङ्का है (ननु च) साध्यनिर्देश प्रतिज्ञा है, यह कहने पर जो हेतु या दृष्टान्त साध्य हैं उनमें भी लक्षण चला जायेगा (प्रसङ्गः), जैसे शब्द अनित्य है चाक्षुप (नेत्र का विषय) होने से [यहां चाक्षुप होना हेतु है जो शब्द में साध्य ही है], और शब्द नित्य है, स्पर्श का विषय न होने से ज्ञान के समान [यहाँ ज्ञान (वृद्धि) जो दृष्टान्त है उसमें नित्यत्व साध्य है]।

व्यतिरेकित्वात्—व्यभिनारादित्यर्थः, टी० ५२१ । व्यतिरेक = व्यभिनार, व्यतिरेकी = व्यभिनारा, व्यभिनारी होने से ।

सर्वात्मन् वाक्ये—सभी वाष्य सावधारण नहीं होते, संसर्गी वाक्यार्थ इत्युत्सर्गः, क्विन्त्

पुनरस्ययोगव्यवच्छेदोऽपि, टी० ४२१। सामान्यश्रुतौ नियसः— सामान्य अर्थ के बोधक शब्द का प्रयोग होने पर ही नियम होता है।

सर्वत्र च-यदि सभी वावयों को सावधारण मानेगे तो लोक का विरोध होगा।

यत्र च-जहाँ विशेषण दिया जा सकता है वही अवधारण भी होता है।

ननु च--- यह पूर्वपक्षी की शङ्का है । साध्य बद्द सिद्ध शद्द का प्रतिपक्ष है, इस अभिन्नाय से शङ्का की गई है (टी॰ ५२१)

२६०

अवववा:

न्यायवात्तिकम्

नहीं, सूत्र के अर्थ का सम्यग् ज्ञान न होने से; साध्यनिर्देश प्रतिज्ञा है, इसका अभिप्राय है बौधनीय धर्म से विशिष्ट धर्मी की स्वीकृति का कथन (प्रतिज्ञा है)। और, चाक्षुप होना बोधनीय धर्म से विशिष्ट धर्मी की स्वीकृति का कथन नहीं है, अपि तु 'चाक्षुप होने से' यह केवल धर्म का निर्देश है, उसी प्रकार ज्ञान की नित्यता भी। (आक्षेप, टी) किन्तु यदि साध्यनिर्देश शब्द के ग्रहण से सिद्ध (असाध्य) के निर्देश की निवृत्ति होती है—वस्तुतः साध्यनिर्देश शब्द के ग्रहण से सिद्ध का निर्देश निवृत्त हो जाता है। [परिहार टी०] और असाध्य दो प्रकार का है एक सिद्ध दूसरा जिसका साधन न बन सके। उनमें साध्यनिर्देश इस शब्द से दोनों की निवृत्ति हो जाती है सिद्ध की तथा जिसका साधन न बन सके, जसकी भी। उनमें शब्द का चाक्षुप होना और जान (बुद्धि) की नित्यता का साधन नहीं बनता। इसलिय उनमें (प्रतिज्ञा का लक्षण जाने का) प्रसङ्ग नहीं है। (आक्षेप) किन्तु यदि किसी एक पक्ष में सिद्ध कृतकत्व (कार्य होना) आदि साधन को साध्य रूप में लिया जाता है तब साध्यनिर्देश रूप जो कृतकत्व आदि है उसमें भी प्रतिज्ञा होने का प्रसङ्ग हागा।

न सूत्रार्था ः जह सन्देह होता है वहां व्याख्या से विशेष का ग्रहण करना चाहिये 'व्याख्यान्तो विशेषप्रतिपत्तिनंहि सन्देहादलक्षणम्' यह व्याकरण की परिभाषा भी है (इ० टी० ५२१)। अध पुन: साध्य० — यहां आक्षेपकर्ता ने अपना अभिप्राय स्पष्ट किया है (टी० ५२१) अभि-प्राय यह है कि साध्यनिर्देश शब्द से असाध्य अर्थात् सिद्ध की निवृत्ति होती है। इससे प्रज्ञापनिय अर्थ का बोध न होगा (टी० ५२१)।

असाध्यं च —यहां आक्षेप का परिहार किया गया है: असाध्य का अर्थ केवल सिद्ध ही नहीं हैं अपि तु जिसकी सिद्धि नहीं हो सकती वह भी असाध्य है, भवेदेतर् यदि सिद्धमात्रमसाध्यं स्यात्। । । ति तु अनुभपद्यमानं साधनं सिद्धियंस्य तदिष असाध्यम् । तथा चा सिद्धस्य चाक्षुवत्वादे निवृत्वितिरुत्थयं:, टी० ५२९ ।

अथ पुन:क्रुतकत्वा० — पुर्वपक्षी का आक्षेप है कि कृतकत्वादि न तो सिद्ध है न अनुपपचमान-साधन है (द्व० टी० ५२१)। १.१.३३] [२६१

न्यायवात्तिकम्

यदि तावदेवं व्रवीति कृतकत्वं साध्यमिति, तदा सूत्रार्थापरिक्रानारिधि परिहारः । अत्र कृ । हः शब्द इःयेत् त् साध्यमित्येवं प्रत्यवित्व्वते, तदाभ्युपगम एव दोवत्वेत दिशा इति न किन्त्रित् वाध्यते । यच्चेदमुच्यते, असाध्यनिर्देशनिवृत्तिद्वारेण साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञेत्युच्यते, इति, तद्विधीयमानप्रतिविध्यमानशब्दार्थाभ्युपगमात् नियमो न युक्तः—क्वचिद् वाक्ये विधीयमानोऽर्थोऽभिधीयते, क्वचित् प्रतिविध्यमान इति । एकान्तवादिनस्तु दोषः । यथा न प्रतिविध्यमान एव पदार्थो मर्वति तथोपरिष्टाद् वक्ष्याम इति । साध्यनिर्देश इति च प्रतिज्ञायां साध्ययोः हेतुदृष्टान्तयोः प्रसङ्ग इति । न प्रसङ्गः, सिद्धान्तिवशेषणात् साध्यशब्दस्य—सिद्धान्तिवशेषणोऽयं साध्यशब्दो न साध्यमात्रम् । तथा च कः प्रसङ्गो हेतुदृष्टान्तयोः ? सिद्धान्तदश्चानत्तरोक्त्या

[परिहार] यह दोप नहीं, विकल्प न बनने से प्रथमतः यदि ऐसा कहते है कि यहां कृतकत्व साध्य है तब यही परिहार है कि सूत्र के अर्थ का सम्यग्ज्ञान न होने से (ठीक नहीं) यदि शब्द कृतक है, यह साध्य है, यह कहते हुए खण्डन करते हैं (प्रत्यव-तिष्ठते) तब तो हमारी स्वीकृति(अभ्युपगमः)। ही दोप रूप में दिखला दी है, अतः कुछ हानि नहीं। और जो यह कहा जाता है कि असाध्यनिदेश की निवृत्ति करते हुए साघ्यनिर्देश प्रतिज्ञा है, यह कहा गया है वह भावरूप (विधीयमान) और अभावरूप (प्रतिषिघ्यमान) (दो प्रकार का) शब्द का अर्थ मानने के कारण नियम (ब्यतच्छेद ही शब्द का अर्थ है) मानना युक्त नहीं—वाक्य में कहीं भावरूप अर्थ कहा जाता है कहीं अभावरूप; किन्तु जो केवल एक प्रकार का ही अर्थ बतलाता है (एकान्तवादी) उसके मत में दोष है, केवल अभाव रूप ही (प्रतिषिध्यमान एव) पदार्थ कैसे नहीं होता, यह आगे कहेंगे। और, साध्यनिर्देश को प्रतिज्ञा मानने पर साध्य जो हेतु और दटान्त हैं उनका भी प्रतिज्ञा होने का प्रसङ्ग होता है। ऐसा प्रसङ्ग नहीं होता, साध्य शब्द का विशेषण सिद्धान्त होने से—यह साध्य शब्द सिद्धान्त से विशेषित है (इसका विशेषण सिद्धान्त है), यहां केवल साघ्य नहीं है, उस प्रकार (साध्य होने वाले) हेतु और दृष्टान्त में प्रतिज्ञा होने का क्या प्रसङ्ग है ? यच्चेदमुच्यते — व्यवच्छेद को शब्दार्थ स्वीकार करके (अभ्युपगम्य) ऊपर की शङ्का का समाधान किया गया है, वस्तुतः न्यायमत में अन्य-च्यवच्छेद वाक्यार्थ नहीं, अनियम हैः कहीं संसर्ग अर्थ है, कहीं व्यवच्छेद (टी० ५२१)।

प्रतिविध्यमान एव केवल प्रतिपेध किया जाता हुआ (अपोह्य) ही शब्द का अर्थ नहीं।
सिद्धान्तिविशेषणात् — प्रमाण के अधीन जो स्वीकृति है, वह सिद्धान्त है। शब्द में नाक्षुपत्व
प्रमाणमूलक नहीं और प्रत्यक्ष के विरोध से उसकी भ्रान्ति भी नहीं होती।

अनन्तरोक्त्या — सिद्धान्त के अनन्तर अवयव (तया प्रतिज्ञा) कहे गये हैं अतः यहां 'सिद्धान्त'

'साध्य' का विशेषण हो जाता है।

२६२

[अवयवाः

न्यायवात्तिकम्

साध्यशब्दस्य विशेषणं भवति सिद्धान्तानन्तरमययवाभिधानात्। यद्यनन्तरोद्दत्या सिद्धान्ती विशेषणं तिनवर्देशः प्रतिज्ञेति कार्यम् ? न सर्वतन्त्रसिद्धान्तिन्राकरणार्थत्वात् विद्वात् तिनवर्देशः प्रतिज्ञेति अभिधीयते सर्वतन्त्रसिद्धान्तोऽपि प्रकृतत्वात् तच्छः ब्देनानुकृष्येतेति तिनवर्देशोऽपि प्रतिज्ञा भवेदिति । अतः साध्यप्रहणेन साध्यसिद्धान्तः सम्बध्यते न सर्व इति । सामर्थ्यात् सर्वतन्त्रसिद्धान्तिन्ति चेत् यद्यप्यं सामान्यशब्दः तिनवर्देशः प्रतिज्ञेति, तथापि सामर्थ्यात् सर्वतन्त्रसिद्धान्तो निराक्षियते, सर्वतन्त्रसिद्धान्तस्यासाध्यत्वात्, इतरस्य च प्रतितन्त्रादेरवस्थायां साध्यत्वादितः; उद्याहरणम्, ब्राह्मणान् भोजयेति। यथा अशेषब्राह्मणभोजनस्याशक्यत्वात् सामर्थ्यान्तियम् इति । यदि सामर्थ्यमाश्रीयते समस्तस्यानिभधानम् तिनवर्देशः प्रतिज्ञो इत्यतदिष न कर्तव्यम्, प्रतिज्ञा प्रतिज्ञोति वक्तव्यम् । सामर्थ्यतो नियमो गस्यत इति । मा वोचः; कि नो बाध्यत इति । कथं न बाध्यते ? यदभ्युपगतं तिनवर्दते, 'तिनवर्देशः प्रतिज्ञोति ?

और, सिद्धान्त के अनन्तर अवयवों के कथन से वह सिद्धान्त साध्य शब्द का विशेषण होता है। (शङ्का) यदि अनन्तर कथन से सिद्धान्त 'साध्य' का विशेषण है तो उसका निर्देश प्रतिज्ञा है (तिन्निर्देश: प्रतिज्ञा) ऐसा सूत्र करना चाहिये। [समाधान] नहीं, सर्वतन्त्रसिद्धान्त का निराकरण करने के लिये होने से —यदि 'तिन्नर्देश: प्रतिज्ञा' ऐसा कहा जाता है तो प्रकरण से प्राप्त होने के कारण (प्रकृत-त्वात्) 'तद् (वह, उस) शब्द से सर्वतन्त्रसिद्धान्त का भी अनुकर्षण हो जायेगा और उसका निर्देश भी प्रतिज्ञा हो जाया वरेगा। इसलिये यहाँ साध्य शब्द के ग्रहण से साध्य होने वाले सिद्धान्त का ही सम्बन्ध होता है, सबका नहीं। (शङ्का) यदि सामर्थ्यं से सर्वतन्त्रसिद्धान्त का निराकरण हो जायेगा—यद्यपि 'तन्निर्देश: प्रतिज्ञा यह सामान्य जब्द है तथापि सामर्थ्य से सर्वतन्त्रसिद्धान्त का निराकरण हो जाता है; क्योंकि सर्वंतन्त्रसिद्धान्त साध्य नहीं होता और दूसरे प्रतितन्त्र आदि की अवस्था में साध्य होते हैं [अथवा दूसरे सिद्धान्त प्रतितन्त्रआदि यैमत्य की अवस्था में साध्य ही जाते हैं, टी०] उदाहरण है—ब्राह्मणों को भोजन कराओ, जैसे यहाँ सभी ब्राह्मणों की भोजन कराना अशक्य होने के कारण सामर्थ्य से नियम हो जाता है। [परिहार] यदि सामर्थ्य का आश्रय लिया जाता है तो समस्त तन्निर्देश: न कहना चाहिये-तिनिर्देशः प्रतिज्ञा' यह भी न कहना होगा 'प्रतिज्ञा प्रतिज्ञा' यह कहना चाहिये। सामर्थ्य से नियम प्रतीत हो जाता है। यह मत कहो कि (ऐसा करने में) हमारी क्या हानि है। हानि क्यों नहीं है ? जो माना गया है, 'तन्निर्देश: प्रतिज्ञा' उसकी निवृत्ति

प्रकृतत्वात् — प्रकरण होने से, ऊपर सिद्धान्तमात्र का कथन होने से ।
सामर्थ्यात् —यहां 'साध्यनिर्देशः' कहा गया है अतः जो सिद्धान्त साध्य हैं उनका ही ग्रहण
होगा । सर्वतन्त्रसिद्धान्त तो कभी साध्य नहीं होता । सामर्थ्य का उदाहरण है ब्राह्मणान् भोजय'।
अवस्थायाम्:—अवस्था णब्द इसलिये कहा गया है कि एकतन्त्र आदि सिद्धान्त विमिति होने
पर साध्य हो जाते हैं, विमत्यवस्थायाम्, सर्वतन्त्रो तु विमतिरणक्येति उक्तम्, टी० ५२९ ।
CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

2.2.33]

रि६३

न्यायवात्तिकम्

जिज्ञासादिविशेषणाद् वा न प्रसङ्गः साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञेति—जिज्ञासादिभिः प्रकरणोत्था-पकावयवैविशेषितिमदं वाक्यं साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञेति । यस्मिन्नर्थे जिज्ञासादयः सोऽथं: साध्य इति, तस्य निर्देशः प्रतिज्ञेति । तथा च हेतुदृष्टान्तयोः कः प्रसङ्गः ? अर्हत्यर्थे वा कृत्याभिधानम्—साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञेत्यर्हत्यर्थे कृत्यः । साधनमर्हतीति साध्यः, तस्य निर्देशः प्रतिज्ञा । न च हेतुदृष्टान्तौ साधनाहिवतोऽपि न प्रसङ्गः ।

कमं हरणयोधं मंभेदाद् वा—अन्यः कर्मधर्मों उन्यश्च करणधर्म इति 'कुर्तु रीष्सिततमं कर्मं' इति कर्मधर्मः, 'साधकतमं करणम्' इति करणधर्मः । न चेतरस्य धर्म इतरधर्भों भिवतुमर्हतीति । कर्मनिर्देशश्चायं साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञति, करणनिर्देश-श्चाक्षणत्वादिति । अतोऽपि न प्रसङ्गः । साध्यासिद्धसिद्धभेदाद् वा—अन्यत्साध्यम्, अन्यत् (सिद्धम्, अन्यच्चासिद्धमिति । साध्यमन्यतरपक्षसप्रतिपन्नमन्यतरं प्रति कर्मतया

हो जाती है। [अन्य परिहार] अथवा जिज्ञासा आदि विशेषण होने से 'साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा' यहां अतिप्रसङ्ग न होगा—प्रकरण के उत्थापक जिज्ञासा आदि अवयवों से विशिष्ट 'साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा' यह वावय है; जिस विषय में जिज्ञासा आदि है वह विषय साध्य है, उसकी स्थापना प्रतिज्ञा है। इस प्रकार हेतु और दृष्टान्त में (प्रतिज्ञा का लक्षण जाने का) क्या प्रसङ्ग है ? [अन्य परिहार] अथवा योग्य है (अर्हति) इस अर्थ में यहां कृत्य प्रत्यय है—साध्य-निर्देश प्रतिज्ञा है, यहां (साध्य शब्द में) 'योग्य है' (अर्हति) इस अर्थ में कृत्य (यत्) है, जो सिद्ध करने योग्य है वह साध्य है, उसका निर्देश प्रतिज्ञा है। और हेतु तथा दृष्टान्त सिद्ध करने योग्य नहीं होते, इसलिये भी उनमें (प्रतिज्ञा का लक्षण जाने का) प्रसङ्ग नहीं है।

[अन्य परिहार] अथवा कर्म और करण के धर्म-भेद से (प्रतिज्ञा का लक्षण हेतु में नहीं जाता)—कर्म का धर्म दूसरा है और करण का धर्म दूसरा है। जो कर्ता को अपनी किया द्वारा सबसे अधिक इष्ट होता है वह कर्म है (कर्तु रीष्सितम कर्म पा० १.४.४६), यह कर्म का धर्म है, और, (क्रिया का) सबसे अधिक साधक करण होता है (साधकतमं करणम्, पा० १.४.४२), यह करण का धर्म है। और, एक का धर्म दूसरे का धर्म नहीं हो सकता। साध्यनिर्देश प्रतिज्ञा है, यह कर्मनिर्देश है, चाक्षप होने से यहाँ करण का निर्देश है। इसलिये भी (साध्य का लक्षण हेतु में जाने का) प्रसङ्ग नहीं है। [अन्य परिहार] अथवा साध्य, असिद्ध तथा सिद्ध का भेद होने से भी—साध्य भिन्न है, सिद्ध भिन्न है और असिद्ध भी मिन्न होता है। साध्य वह है जो किसी एक पक्ष द्वारा स्वीकृत मत अन्य के प्रति कर्म रूप में लिया प्रकरणोत्यापकावयवैः—

ा में प्रकरण के उत्थान के लिये 'जिज्ञासा आदि अनुमान

प्रकरणात्थापकाव्यवः— । म प्रकरण न उत्तार शिवा होगा। बुद्धि में स्थित वाक्य के अवयव नहीं होते' यह सूत्रकार ने मन (बुद्धि) में सोचा होगा। बुद्धि में स्थित जिज्ञासा आदि को 'साघ्यनिर्देशः प्रतिज्ञा' यहां साघ्य का विशेषण कर लिया जायेगा। और प्रमाण से वाधित जो शब्द की चाक्षुपता आदि है उसमें जिज्ञासा आदि नहीं होते; अतः उनमें प्रतिज्ञा १. जिज्ञासादिविशेषणं, क, जिज्ञासादिविशेषणाद्; ख,

न्यायवात्तिकम्

यदुपादीयते । उमयपक्षासंप्रतिपन्नमसिद्धम् । उभयपक्षसंप्रतिपन्नं सिद्धमिति । तेन यथा सिद्धमित्युक्ते न साध्ये नासिद्धे च प्रसङ्गः, तथा साध्यमित्युक्ते नासिद्धे सिद्धे च प्रसङ्ग इति । अथाप्रसक्तमिप चोद्यते सर्वेऽर्थाः सिद्धा अपि प्रतिज्ञात्येन चोदनीया भवन्ति । अथवा 'साध्यनिर्वेशः प्रतिज्ञा' इति प्रतिज्ञाद्यवयविषययो योऽर्थः स साध्यः, यः प्रतिज्ञादीनामवयवानां विषयो धर्मी प्रसिद्धधर्मविशिष्टः स धर्मान्तराधिकरणत्वेन साध्यते । तथा च हेतुद्द्यान्तयोः कः प्रसङ्गः । न चेदयं प्रसङ्गोऽस्ति तस्मादिष्टग्रहणमनर्थकम्, साध्यनिर्वेशः प्रतिज्ञोति किल

साध्यस्येष्टग्रहणेनाविशेषितत्वात् साध्ययोहें नुदृष्टान्तयोः प्रसङ्ग इति मन्यमाने. कैश्चिद् अन्यथा पक्षलक्षणानि क्रियन्ते । तद्यथा 'पक्षो यः साध्यिनुमिष्टः' इति । अत्रेष्टग्रहणं न कर्त्व्यम्, अनुषंकत्वात् । साध्यपदेन हेनुदृष्टान्ताभासोक्तेनिराकृतत्वात् तन्निराकृतार्थम् । कर्मग्रहणाच्च प्राप्तमेतिदिष्टमीप्सितिमिति चानर्थान्तरम् । अथाप्यनिष्टग्रहणमयुक्तम् । कर्मग्रहणाच्च प्राप्तमेतिदिष्टमीप्सितिमिति चानर्थान्तरम् । अथाप्यनिष्टग्रहणं कियेत, अथंतः किलास्य नेष्ट तद् भवित यत् जाता है, दोनों पक्षों द्वारा अस्वीकृत असिद्ध है और दोनों पक्षों द्वारा स्वीकृत सिद्ध है । अतः जैसे सिद्ध यह कहने पर साध्य या असिद्ध में प्रसङ्ग नहीं होता, इसी प्रकार 'साध्य' यह कहने पर असिद्ध तथा सिद्ध में प्रसङ्ग नहीं होता । यदि अप्राप्त का भी आक्षेप किया जाये तो सभी सिद्ध अर्थों में भी प्रतिज्ञा होने का आक्षेप किया जा सकता है । अन्य परिहार । अथवा साध्य का निर्देश प्रतिज्ञा है' इसका अभिप्राय. है प्रतिज्ञा आदि अवयवों का विषय प्रसिद्ध धर्म से विशिष्ट धर्मी है, उसे अन्य धर्म का आश्रय होने के रूप में सिद्ध किया जाता है । और इस प्रकार हेनु तथा दृष्टान्त में (प्रतिज्ञा होने का) क्या प्रसङ्ग है ।

जब यह प्रसङ्ग नहीं है तो (पक्ष के लक्षण में) इष्ट शब्द का ग्रहण अनर्थक हैं। साध्य का निर्देश प्रतिज्ञा है, यहाँ इष्ट शब्द से साध्य को विशेषित न किया जाने के कारण साध्य जो हेतु तथा दृष्टान्त हैं उनमें (प्रतिज्ञा का लक्षण जाने का) प्रसङ्ग होता है; ऐसा मानने वाले किन्हीं (बौद्धों) के द्वारा अन्य प्रकार के पक्ष के लक्षण किये जाते हैं; जैसे जो सिद्ध करना इष्ट होता है वह पक्ष हैं (वसुवन्धु, टी० ५२४)। (समीक्षा) यहां इष्ट शब्द का ग्रहण न करना चाहिये अनर्थक होने से—साध्य शब्द से (ही) हेत्वाभास तथा दृष्टान्ताभास कथन का निराकरण हो जाने के कारण उनके लिये इष्ट शब्द का ग्रहण करना युक्त नहीं। यह तो कर्म (के अर्थ वाले साध्य शब्द) के ग्रहण से ही प्राप्त है; क्योंकि इष्ट तथा ईप्सित में अर्थ-भेद नहीं। यदि अनिष्ट पक्ष की व्यावृत्ति के लिये (ब्युदासार्थम्) इष्ट शब्द का ग्रहण किया जाये तो (भी) का लक्षण न जायेगा (इ०, टी० ५२१)। ऐसा प्रतीत होता है कि भाष्य को देखकर यह कहा गया है, 'जिज्ञासा आदि साध्य के विश्लेषण हैं' यह वात्तिककार की उद्भावना है। अर्हत्यक्ष—यह अन्य परिहार है (टी० ५२१)। 'अर्हे कृत्यतृच्यच ३ ३ १९६६ सुत्र के अनुसार

साध् धातु से यत् होगा। १. किलास्यानिष्टम्, कः

न्यायवात्तिकम्

स्ववचनादिना विरुद्धमिति । यथा अवाचकाः शब्दा इति, अश्वाचकत्वं च शब्दा । प्रतिज्ञायते, शब्दा एवार्थप्रत्यायनायोच्चार्यन्त इति व्याहृतम् । अनुरुषोऽन्तिति प्रत्यक्षविरोधः । अश्वावणः शब्द इति प्रत्यक्षविरोधः केचिद् वर्णयन्ति । तदयुक्तम् । इन्द्रियवृत्तीनामतीन्द्रियत्वात्—इन्द्रियवृत्त्वयोऽतीन्द्रियाः, इदमनेनेन्द्रियेण गृह्यतै, नेदमनेनेति न कस्यचित् प्रत्यक्षप्रस्तिः अपि तु तद्मावाभावानुविधानाद् रूपादिज्ञाने-रिन्द्रियवृत्तयोऽनुमीयन्ते । तस्मात् नेदमुदाहणम् । उदाहरणं त्वनुरुषोऽन्तिरिति युक्तम् ।

आगमविरुद्धभि वैशेषिकस्य नित्यः शब्द इति । इदमि नागमिर्द्रकृतिति पश्यामः । न हि वैशेषिकेण शब्दानित्यत्वमागमतः प्रितिपन्तम्, अपि त्वनुमानात् वस्तुतः (अर्थतः) इसका वह इष्ट नहीं होता जो अपने वचन आदि के विरुद्ध होता है; जैसे दब्श (वाचक) अर्थ के बोधक नहीं होते, यहाँ शब्दों की अवाचकता की स्थापना की जाती है और शब्द ही अर्थ-बोध के लिये उच्चारित किये जाते हैं, यह परस्पर विरुद्ध है (व्याहतम्) । अग्नि उष्ण नहीं, इसमें प्रत्यक्ष का विरोध है । शब्द श्रोत्र का विषय नहीं (अश्रावणः) इसमें कोई प्रत्यक्ष का विरोध बतलाते हैं । वह युक्तियुक्त नहीं; इन्द्रियों की वृत्तियों (व्यापार) के अतीन्द्रिय होने से--इन्द्रियों की वृत्तियां अतीन्द्रिय हैं, यह इस इन्द्रिय से गृहीत होता है इससे नहीं; ऐसा किसी को प्रत्यक्ष नहीं होता; अपि तु इन्द्रियों के होने (अन्वय) और न होने (व्यितरेक) का अनुमरण करने के कारण रूप आदि के ज्ञान से इन्द्रियों की वृत्ति का अनुमान किया जाता है । इसलिये यह उदाहरण नहीं, उदाहरण तो 'अग्नि अनुष्ण है, यही युक्त है।

(उनके अनुसार) आगमविरुद्ध भी है—वैशेषिक का नित्य घटद है, ऐसा वचन । यह भी आगमविरुद्ध नहीं, यह हम देखते हैं; क्योंकि वैशेषिक ने शब्द की नित्यता आगम से स्वीकार नहीं की अपिृतु कारण से विकार होने के कारण शब्द

कर्मनिर्देशक्चारां चाक्षुष्यवादिति— जो सिद्ध किया जाता है, वह साध्य है, साध्य शब्द कर्मार्थक है, जो चक्षुष् द्वारा गृहीत होता है, वह चाक्षुष है. चाक्षुष शब्द करणार्थक है। साध्यासिद्धसिद्धभेदात् — लोक में साध्य, असिद्ध तथा सिद्ध का भेद स्पष्ट है।

अथवा : : साध्यते — यहां अन्य परिहार किया गया है।

न चेत्—न्यायोक्त लक्षण में कोई दोष नहीं, यह दिखलाकर बौद्धों के लक्षणों के दोष दिखलाते हैं (द्र० टी० ५२२)।

कर्मग्रहणाच्च - गङ्का हो सकती है - जहां साध्य पद है, उसके कर्मायंक होने से वहाँ इच्ट पद अनर्थंक हो जाये किन्तु अग्निम लक्षण में तो साध्य पद नहीं अतः यहां इच्ट पद अनर्थंक कैसे हैं? उत्तर है: यहां पक्ष पद है जो पच्यमान या व्यव्यमान है वह पक्ष है, अतः पक्ष भव्द से साध्य ही कहा गया है।

वैशेषिकस्य नित्य: शब्द इति—वौद्ध ने पक्ष का लक्षण करते हुए यह आगमविरुद्ध का उदाहरण दिया हैं। वात्तिककार कहते हैं कि यह अनुमानविरुद्ध है, आगमविरुद्ध नहीं।

अवयवाः

न्यायवात्तिकम्

'कारणतो विकारात्' (वै० सू० २.२.३४) इत्येवभावे: । एतदप्यनुमानविरुद्धमेव । अथ सुत्रकारवचनात् प्रतिपत्नम्' इत्यागमविरोधः ? ननु च नित्यो घट इत्ययमप्यागमविरोधः प्राप्तः। तस्माद ब्राह्मणेन सुरा पेपोत्यागमिवरोधः। प्रसिद्धिविरुद्धं तु न बृध्यामहे कोऽयं प्रसिद्धिवरोध इति । प्रसिद्धिः प्रत्यक्षादीनां प्रमाणानामन्यतमेनाथंप्रतिपत्तिः, तद यथा अचन्द्रः शशीति । तस्मात् पूर्वप्रमाणविरोध एवान्तर्भवतीति न प्रकिद्धिवरोधामि-धानेन पथक प्रयोजनं पश्यामः । शक्यं तु वक्तं सर्व एवायं प्रसिद्धिविरोध इति । एतद-र्थनिराकरणार्थमिष्टग्रहणं पठिलत ।

एतच्च सर्व न युक्तिमिति पश्यामः । कथम् ? स्वार्थापवादादिदोषाणां प्रतिज्ञा-दोषत्वेनाभ्यपगमात-सर्वं एते स्वार्थापवादादिदोषाः प्रतिज्ञादोषत्वेन संभवित, न पक्षदोषत्वेन । कथमिति ? अर्थस्य तादवस्थ्यात् — यथाभूतोऽर्थोऽभिधीयमानः तथाभूत

कार्यहै (वै० सु० २.२.३४) इत्यादि (अनुमान) से; अतः यह भी अनुमान के विरुद्ध है। (शङ्का) यदि सुत्रकार के वचन से स्वीकारा गया है अत: आगमविरोध है? (समाधान) तव तो (नन् च) 'घट नित्य है' यहाँ भी आगमविरोध प्राप्त होता है। इसलिये ब्राह्मण को सुरापान करना चाहिये' यहां आगमविरोध है । प्रसिद्धिविरुद्ध को तो हम नहीं समझते कि प्रसिद्धिविरुद्ध क्या है। वस्तृत: प्रसिद्धि (का अर्थ) है प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों में से किसी एक के द्वारा अर्थ का ज्ञान; यह है जैसे 'चन्द्रमा शशी नहीं है (अवन्द्र: शशी)। इसलिए पूर्व प्रमाणों (प्रत्यक्ष) आदि के विरोध में ही इसका अन्तर्गाव हो जाता है, प्रसिद्धिविरोध नाम (अभिधान) का कोई पृथक् प्रयोजन हम नहीं देखते। यह सभी तो प्रसिद्धिवरोध कहा जा सकता है। इस अर्थ की व्यावृत्ति के लिये (बौद्ध नैयायिक) इष्ट शब्द रखते हैं।

[परिहार] यह सब युक्त नहीं, ऐसा हम देखते हैं। कैसे ? स्ववचनविरोध (स्वार्थापवाद) आदि दोषों को प्रतिज्ञा के दोप रूप में मान लिया जाने से-ये सव स्ववचनविरोध आदि दोप प्रतिज्ञा के दोप हो सकते हैं, पक्ष के दोप नहीं। कैसे ? अर्थ के उसी अवस्था में होने से-- जैसा कोई अर्थ वचन का विषय होकर है वैसा ही वचन का विषय न हो कर (भां)। (शङ्का) यदि कही तब तो वचन भी ऐसा ही है, कारणतो विकारात्— व्यङ्ग्य होने वाली वस्तु व्यञ्जक के अल्पत्व और महत्त्व का अनुसरण नहीं करती; दीपक के अल्प और महतृ होने से घट अल्प या महत् नहीं होता किन्तु समवायी कार^{ण के} अल्प या महत् होने से, इसी प्रकार शब्द भी है। अतः शब्द कार्य है व्यङ्ख्य नहीं।

प्रसिद्धि विरुद्ध म - चन्द्र शशी शब्द का वाच्य है (चन्द्रः शशी), यह प्रसिद्धि है, इसके विरुद्ध प्रसिद्धिविरुद्ध है जैसे 'अचन्द्र:शशी'।

शक्यं तु वदतुम्—वात्तिककार कहते हैं किसी प्रमाण से जो ज्ञान होता है वही प्रसिद्धि है, पृथक् नहीं । अतः प्रमाणविरोध में ही प्रसिद्धिविरोध का अन्तर्भाव हो जाता है । जब चन्द्र शशी शब्द की वाच्य नहीं, यह कहा जाता है तो लोकव्यवहार सिद्ध अनुमान का विरोध होता है। यदि ^{यह} विकल्प का विषय नहीं ऐसा कहा जाता है तो बौद्ध के स्वसंवेदन प्रत्यक्ष का विरोध है और नैयायिक के मानस प्रत्यक्ष का विरोध है।

स्यायवात्तिकम्

एवानिभधीयमान इति । वचनमि तह्य वमेवेति खेत् ? वचनेऽप्येते दोषा मा मूवन् । सत्यं नाभी अर्थदोषाः, न वचनदोषाः, कि तु पुरुषदोषाः । ये हि कर् दोषास्ते कियाद्वारेण उदभाव्यन्ते इति कियायां कर् दोषानुपचर्य दुष्टा क्रियेत्युच्यते । एवं वक्तृदोषान् वचने उपचर्य दुष्टा वचनिसत्युच्यते । १ मुष्यतस्तु नाथं दोषाः, न दचने दोषा इति । अर्थस्य स्वक्रियासु सामर्थ्यात् सर्वार्डियः स्वस्यां स्वस्यां क्षियायां समर्थः । स तु स्वक्रियाच्यतिरेकेण क्रियान्तरे विनियुज्यमानः कर्तु रेवाकोशलं प्रकाशयति । एवं वचनमिष स्वस्मिन् स्वस्थिन्तर्थे समर्थं विषयान्तरेषु प्रयुज्यमानं वक्तुः संमोहं प्रकटयति ।

अथ प्रतिज्ञायाः पक्षविषयत्वात् प्रतिज्ञादोषाः पक्षदोषा इत्युच्यन्ते । नैतद्
युक्तम्, हेत्वादियोषाणःमपि पञ्चदोषत्वप्रसद्.गात्—एवं सति हेत्वादयोऽपि पक्षदिषया
इति कृत्वा हेत्वादिदोषा अपि पक्षदोषा एव । ततश्च दूषणं पक्षदोषा इति वक्तव्यम्,
न पुनर्दूषणानि न्यूनतावयवोत्तरदोषाक्षेपभावोद्भावनानीति । अथ वाच्यवाचकभावेन

वचन में भी ये दोप न हुआ करेंगे। [समाधान] सचमुच. ये न अर्थ के दोप हैं न वचन के दोप हैं किन्तु व्यक्ति के दोप हैं। वस्तुतः (हि) जो कर्ता के दोप हैं वे किया द्वारा प्रकट किये जाते हैं, किया में कर्ता के दोपों का उपचार करके 'किया दोपयुक्त है' यह कहा जाता है। इसी प्रकार वक्ता के दोपों का वचन में उपचार करके 'वचन दोपयुक्त है' ऐसा कह दिया जाता है। मुख्यरूप से तो न अर्थ में दोप हैं न वचन में दोप हैं। अर्थ का अपनी किया में सामर्थ्य होने के कारण— सभी अर्थ अपनी-अपनी किया में समर्थ हैं; किन्तु वह अपनी किया से निन्न अन्य किया में नियुक्त किया गया कर्ता की ही अकुशलता को प्रकट करता है। इसी प्रकार वचन भी अपने-अपने अर्थ (कथन) में समर्थ है, अन्य विषय में प्रयुक्त किया गया वक्ता के अज्ञान (संमोहं— नासमझी) को प्रकट करता है।

(आक्षेप) यदि (कहो कि) प्रतिज्ञा के पक्षविषयक होने से (प्रतिज्ञा का विषय पक्ष होता है इसलिये) प्रतिज्ञा के दोषों को पक्षदोप कह दिया जाता है। पिन्हार यह युक्त नहीं; हेतु आदि के दोषों का भी पक्षदोप होने का प्रसङ्ग होने से—ऐसा होने पर हेडु आदि भी पक्षविषयक होते हैं, इसलिये हेतु आदि के दोष भी पक्षदोप ही होंगे। तब तो पक्ष के दोष दूषण हैं, यह कहना चाहिये। यह नहीं कि एतच्च सर्व न युक्तम्—वस्तु जैसी अपने कारणों से उपन होती है, वैसी ही रहती है। उसके वाचक पद भी दोष रहित ही होते हैं। जो व्यक्ति की क्रिया है स्ववचनिवरोध आदि वह दोषयुक्त वाचक पद भी दोष रहित ही होते हैं। जो व्यक्ति की क्रिया है स्ववचनिवरोध आदि वह दोषयुक्त

वाचक पर भी दीप राहत है। होता है। होती है। होती है। उसके द्वारा व्यक्ति का ही निग्रह होता है। होती है। उसके द्वारा व्यक्ति का ही निग्रह होता है। स्वार्थापवादादि० — अपने वचन का विरोध, स्ववचनिवरोध, कर्तु दोषो भ्रमो वा विप्रलम्भो वा क्यायाम्पचर्यते। न च कियायां भ्रमो वा विप्रलम्भो वा, क्रिया में भ्रम या विप्रलम्भ नहीं होता, क्रियायाम्पचर्यते। न च कियायां भ्रमो वा विप्रलम्भो वा, क्रिया में भ्रम या विप्रलम्भ नहीं होता, क्रियायाम्पचर्यते। न च कियायां भ्रमो वा विप्रलम्भो वा, क्रिया में अस या विप्रलम्भ नहीं होता, क्रियायाम्पचर्यते। न च क्रियायां भ्रमो वा विप्रलम्भो वा, क्रिया में अस या विप्रलम्भो वा विप्रलम्भो वा, क्रिया में अस या विप्रलम्भो वा विप्रलम्भो वा, क्रियायाम्पचर्यते। न च क्रियायां भ्रमो वा विप्रलम्भो वा विप्रलम्भ वा विप्रलम्भ वा विप्रलम्भ वा विप्रलम्भो वा विप्रलम्भ वा वि

जाता ह, अतः पत्रधादारण एसा कहा जुला है। (उस प्राप्त) न्यूनता पद्मावनानि इति यह बौद्ध का वचन है। इसका अर्थ है न्यूनतादोष, अवयवदोष, न्यूनता की स्वीकृति (आक्षेप) अप्रतिभा आदि का उर्भावन (भावोद्भावना), ये दूषण हैं।

१. मुख्यस्तु, कः, मुख्यतस्तु, ख.

[2.2.33

न्यायवात्तिकम्

नियमो मिविष्यति, न साध्यसाधनभावेनेति ? नैतद् युवतम्; प्रमाणाभावात्—साधन-विश्वयत्वेन व्यवतिष्ठते पक्षो वचनिष्यत्वेन च । तत्र वाच्यवाचकभाविनयमाद् वचन-दोषाः पक्षे भवन्तु, मा भूवन् साध्यसाधनभावात् । साधनदोष : पक्षदोषा इति न प्रमाणमस्ति । वचनदोषाश्च पक्ष उपचर्यन्त इति । न हि संभवे सत्युपचारो लभ्यते । तद्यथा मञ्जाः कोजन्तीति कोजनिक्षयाया मञ्चेष्वसंभवात् लौकिकप्रयुक्त-वाक्यान्वाख्यानं कुर्वता मञ्चस्थाः पुष्ठषा इति स्थानिषु पुष्ठषेषु मञ्चन्यद्यसारोष्य प्रमाणासंभवेनोपचारः कियते 'मञ्जाः कोजन्तीति । न पुनः प्रतिज्ञादोषाः प्रतिज्ञायां न संभवन्ति; यतः तत्रासंभवन्तोऽध्यद्यमन्वार्थ्येयत्या व्यवस्थिताः पक्ष उप-चर्यरिक्रिति । आकस्मिकं च मुख्यार्थव्यतिक्रमं कुर्वाणेन यदुक्तं 'नैयायिकहेतु-प्रतिष्ठिताकिस्मको मुख्यार्थव्यतिक्रमो लभ्यते' इति तद् व्याहन्येत ।

न्यूनता, अवयव दोष (प्रतिज्ञा आदि के दोष) उत्तरदोष (जाति आदि) का स्वीकार (आक्षेप) अप्रतिभा आदि (भाव) का प्रकटीकरण (उद्भावन) दोष है। यदि वाच्य-वाचक-भाव से नियम होगा, साध्यसाधनभाव से नहीं ? यह भी युक्तियुक्त नहीं; प्रमाण न होने से-साधन का विषय होने से पक्ष की व्यवस्था होती है तथा बचन का विषय होने से भी। उनमें वाच्यवाचक भाव के नियम से वचन के दोष पक्ष में हो जायें, साध्यसाधन भाव से नहीं; किन्तू साधन के दोष पक्ष के दोष होते हैं इसमें तो (कोई) प्रमाण नहीं। और, वचन के दोषों को उपचार से पक्ष का कह दिया जाता है, यह भी नहीं; क्योंकि संभव होने पर उपचार नहीं होता जैसे कि मचान पुकारते हैं (मञ्चा:कोशन्ति) यहां पुकारने का कार्य मञ्चों में संभव न होने के कारण लोक में प्रयुक्त वाक्य की अनुकूल व्याख्या (अन्बःख्यान) करने वाले के द्वारा 'मञ्च पर बैठे पुरुष' (पुकारते हैं) इस प्रकार बैठे हुए (स्थानिष्) व्यक्तियों में मञ्च शब्द का आरोप करके प्रमाण न हो सकने से 'मञ्चाः क्रोशन्ति' में उपचार किया जाता है। किन्तु प्रतिज्ञा के दोप प्रतिज्ञा में संभव नहीं हैं, ऐसा नहीं; जिससे वहां संभव न होते हुए अवश्य ही अनुकूल व्याख्या से निश्चित किये जाकर उपचार से पक्ष में कह दिये जायें। और, अकस्मात् (बिना कारण के) मुख्यार्थ का व्यतिक्रम करते हुए (आपके) उस कथन का विरोध होगा जो (आपने) कहा है कि 'नैयायिक के हेतु क प्रतिवेध करने से मुख्यार्थ का आकस्मिक व्यतिक्रम प्राप्त होता है'?

त्रै स्प्य से युक्त हेतु ही पूर्ण होता है वह तीनों रूपों में से किसी एक से भी हीन होकर असिंद्ध, विकद्ध तथा अनैकान्तिक हो जाता है। यह हेतु का न्यूनता दोष है। अवयवदोष हैं प्रतिज्ञादिदोष स्ववचनितरोध आदि: इसी प्रकार असिद्धत्व आदि हेतु दोष हैं, साध्य-विकलता आदि उदाहरण दोष है। उत्तर दोष हैं प्राप्तिसम, अप्राप्तिसम आदि जातिदोष उनका आक्षेप (उपादान, स्वीकार)। भाव = अप्रतिभा आदि उसकी उद्भावना-प्रकल्पना।

न हि संभवे सत्युपचार:—प्रतिज्ञा में होने वाले दोष यदि प्रतिज्ञा में स्थित होकर वादी का निग्रह न कर सकें तो उनका पक्ष में उपचार करना युक्त होगा, किन्तु वे तो प्रतिज्ञा में स्थित होकर

स्यायवात्तिकम्

अथेष्टग्रहणेन लौकिकोऽयों जिन्नधीयते 'इष्टमिमन्नेतिमिति' । अयमप्यर्थः साधनादेव गम्यते । न हि कश्चिदनिष्टं साधयित । योष्टनिष्टभयात् साधयिति तस्त्राप्यनिष्टनिवितिष्टिति नानिष्टं साधयित । तस्मादिष्टग्रहणमनर्थकम् ।

एवं विचारणायामिष्टोऽथं: पक्ष इत्यत्रापीष्टग्रहणं न कर्त्तं व्यम् । का चेयं विचारणा ? यदि साधनदूषणप्रयोगः, तत्रानेकाथंसन्तिपाते न ज्ञायते कथिमष्टिमिति । किं साध्यत्वेन, उत साधनत्वेन; दूषणत्वेन, उत दूष्यत्वेन इति ? अथ संशयो विचारणा ? तद्यथा आत्मनोऽस्तित्वास्तित्विचाःणायामिति— आत्मनोऽस्तित्व- नास्तित्वसंशय इति याग्रदुक्तं भवति, ताग्वदिदमुक्तं भवति; आत्मनोऽस्तित्वनास्तित्व- विचारणायामिति । संशयो विचारणायदस्य नार्थः नापि विचारणा संशयपदस्य । विचारणा हि नाम संशयोत्तरकालभाविती साधनदूषणप्रयोगरूपा अन्यतराधिकरण-

(शद्दा) यदि इष्ट शब्द से लौकिक अर्थ कहा जाता है, इष्ट अर्थात् अभिप्रेत [समाधान] यह अर्थ भी साधने से (ही) प्रतीत हो जाता है; क्योंकि कोई अनिष्ट को सिद्ध नहीं करता। जो भी अनिष्ट के भय से सिद्ध करता है उसको भी अनिष्ट की निवृत्ति इष्ट होती है अतः (वह भी) अनिष्ट को सिद्ध नहीं करता। इसलिये इष्ट शब्द निष्प्रयोजन है।

इसी प्रकार विचारणा (विचार करना) में इष्ट अर्थ पक्ष है। यहां भी इष्ट शब्द न रखना चाहिये। और, यह विचारणा क्या है? यदि सिद्ध करने (साधन) और दूषित करने का प्रयोग (विचारणा) है, तो वहां अनेक अर्थों के एकत्र होने पर (संग्निपाते) ज्ञात नहीं होता कि किस प्रकार इष्ट है ? क्या साध्य रूप से अथवा साधन रूप से, दूषित करने के साधन रूप से या दूषित करने योग्य होने से ? (पूर्वपक्ष) यदि विचारणा संशय है; जैसे आत्मा की सत्ता तथा अभाव की विचारणा (संशय) में; आत्मा के होने अथवा न होने के संशय में इससे जितना (अर्थ) कहा जाता है, उतना ही आत्मा की सत्ता और अभाव की विचारणा में इससे कहा जाता है। (सिद्धान्त) विचारणा शब्द का अर्थ संशय नहीं, न ही संशय शब्द का अर्थ विचारणा है। वस्तुतः (हि) संशय के उत्तर काल में होने वाली, साधन और दूपण

भी बाढी का निग्रह कर सकते हैं। लौकिक्पप्रयुक्त — लोक के प्रयोग तो अनादि हैं, उनकी उपचार से मी संगति लगानी होती है लौकिक्पप्रयुक्त — लोक के प्रयोग तो अनादि हैं, उनकी उपचार से मी संगति लगानी होती है

न, अनादिलों कप्रयोगो नियोज्यः पर्यनुयोज्यो वेत्यर्थः, टी० ५२४ । अथेष्टग्रहणेन — आशय यह है : इष्ट ग्रहण का प्रयोजन है कि जो शब्दों में न कहा गया हो किन्तु अभिप्रेत हो वह भी साध्य है जैसे सांख्य ने 'संघातपरार्थत्वात्' यह कहा है किन्तु इसका अभिप्राय है कि संघात पुरुष के लिये है (द्र० टी० ५२४)।

साधनादेव गम्यते—प्रतिज्ञा के प्रयोग से ही जान लिया जाता है (टी० ५२४)
साध्यत्वेनिष्मित:—यह दिङ्नाग का लक्षण है। यहां किस ग्रन्य से लिया गया है ? यह निश्चित
नहीं, स्थानान्तरीयं च भदन्तस्य लक्षणम्, टी० ५२४। दिङ्नाग के पक्षलक्षण के आधार पर धर्मकीर्ति ने पक्ष का यह लक्षण किया है—स्वरूपेणैव स्वयम् इष्टोऽनिराकृतः पक्षः (न्या० वि० ३:३७)।

[अवयवाः

न्यायवात्तिकम्

निणंयावसाना सा न संशय इति । संशयः पुनरनवधारणात्मकः प्रत्यय इति न बादे संशयो भवति, उभयोनिश्चितत्वात्— निश्चितौ हि बादं कुरुत इति ।

एतेन 'साध्यत्वेनेष्सितः पक्ष': इत्यिष प्रत्युक्तम् । ईष्मितग्रहणस्य चानिष्ट-निराकरणार्थत्वाद् 'विरुद्धार्थानिराकृतः' इति न वक्तव्यम् । 'पक्षो यः साध्यितुमिष्टः' इत्यत्रेष्टस्यहणेनानिष्टपक्षनिराक्षरणिमिति इहापि ईष्मितग्रहणाद् अनिष्टपक्षिनराक्ष इत्यत्रेष्टस्यहणेनानिष्टपक्षिनराक्ष्त इत्यत्रेरकार्द्धि न कर्तव्यम्, विरुद्धार्थानिराकृत इति । अथ विरुद्धार्थानिराकृत इत्यनेनानिष्टाः पक्षदोषा निराक्रियन्ते, ईष्मितग्रहणं तिह व्यर्थम् । अथोभयमीष्मित-ग्रहणं विरुद्धार्थानिराकृत इति च पक्षदोषाणां निराकर्त्वं, तथापि पक्षो यः साधियतुमिष्ट इत्यत्रापि विरुद्धार्थानिराकृत इति कर्तव्यम् । सर्वर्थंते पक्षलक्षणे विचार्यमाणे, एकस्य न्यूनत्वमन्यस्याधिक्यं ख्यापयत इति ।

स्वयं साध्यत्वेनेष्मित इति च स्वयंग्रहणं न कर्तव्यम् । किं कारणम् ? कर्मणः के प्रयोग रूप, दो में से किसी एक पदार्थ (अधिकरण) का निर्णय कराने में समाप्त होने वाली विचारणा है, वह संशय नहीं । संशय तो अनिश्चयात्मक (उभयकोटिक) ज्ञान है । वाद में संशय नहीं होता; दोनों (वादी-प्रतिवादी) को (अपना मत) निश्चितं होने से—क्योंकि निश्चित कर लेने वाले ही वाद करते हैं ।

इस कथन से (दिङ्नाग के इस लक्षण) 'साध्य रूप से ईप्सित पक्ष है' (साध्यत्वेनोप्सितः पक्षः) का भी निराकरण कर दिया गया। और, यहां 'ईप्सित शब्द के अनिष्ट का निराकरण करने के लिये होने से विरुद्धार्थानिराकृतः' (=विरुद्ध अर्थ के द्वारा निराकृत न किया गया) यह नहीं कहना चाहिये। जैसे 'पक्षो यः साध्यितुमिष्टः' = पक्ष वह है जो सिद्ध करना इष्ट है, यहां (वसुवन्धु के लक्षण में) इष्ट शब्द से अनिष्ट पक्ष का निराकरण हो जाता है, उसी प्रकार यहां भी 'ईप्सित' शब्द से अनिष्ट पक्ष का निराकरण हो जायेगा, अतः अग्रिम कारिका का अर्घ भाग 'विरुद्धार्थानिराकृतः' न करना चाहिये। यदि 'विरुद्धार्थानिराकृतः' इस कथन से इष्ट न होने वाले पक्ष-दोषों का निराकरण किया जाता है तो 'ईप्सित' शब्द व्यर्थ है। यदि दोनों 'ईप्सित' शब्द और विरुद्धार्थानिराकृत पद पक्ष के दोषों का निराकरण करते हैं, तो भी 'पक्षो यः साध्यितुमिष्टः' (इस वसुवन्धु के लक्षण) में भी 'विरुद्धार्थानिराकृतः' यह (पद) रखना चाहिये। सब प्रकार से ये दोनों पक्ष के लक्षण विचार किये जाने पर एक की न्यूनता और दूसरे की अधिकता को प्रकट करते हैं।

स्वयं साध्यत्वेनेष्मितः = स्वयं साध्यरूप में इष्ट (?) यहां स्वयं शब्द न रखना चाहिये। क्या कारण है ? कर्म को कर्ता की अपेक्षा होने से; जैसे 'कर्ता वृक्ष

विरुद्धार्थानिराकृतः इति कर्तंव्यम् — पक्षो यः' इत्यादि वसुबन्धु का पक्ष-लक्षण है, इत्यवापि वसुबन्धुलक्षणे, टी० ५२४। यहां 'विरुद्धार्थानिराकृतः 'शब्द का ग्रहण नहीं किया गया, इससे प्रतीत होता है कि केवल नैयायिकों को ही यहां यह पद निरर्थक नहीं लगता, अपि तु बौद्ध आचार्यों को भी निरर्थक लगता रहा। (द्र विरोध ५२४)। १.१.३३]

न्यायवात्तिकम्

कर्त्र पेक्षत्वात्, यथा कर्ता वृक्षं छिनत्तीत्पुक्ते स्वयमिति गम्यते, न ह्यन्यस्यच्छेद्यो वृक्षोऽःयश्छिनत्तीतिः; एवं यस्य साध्यः स एव साधियतेति स्वयमिति गम्यते । सोऽयं परस्याक्षराधिक्यदोषान् विचिन्वानः स्वचन प्रयोगेसंमूढ इति ।

यदिष वादिवधानटीकायां साधयतीति शब्दस्य स्वयं परेण च तुल्यक्षपत्वात् स्वयमिति विशेषणम्; साधयतीति किलायं शब्दः प्रयोज्ये प्रयोक्तरि च तुल्यक्षपो भवतीति । सत्यम्, तृल्यक्षप एष शब्दो न पुनः साधारणप्रयोगे प्रयोजनं पश्यामः । अत एवं वक्तव्यम्, पक्षो यः साध्यित्विष्ट इति । तत्त्वभावतयोश्च तत्त्वसंप्रतिपित्तः प्रयोक्तर्यसंप्रतिपित्तः—यद्यप्ययं तुल्यक्षपः शब्दस्तथापि प्रयोज्य एव संभवित साधय-तीति, न प्रयोक्तिरि भाक्तत्वात्, प्रयोजये चाञ्जसत्वात् । तुमुनश्च स्मानकर्तृ केष्वेय नियमात्—साधियतुमिति तुमुनः प्रयोगोऽयम् । स चायं सभानकर्तृ केष्वेव दृष्टः; तद्यथा स्नातुं गच्छामीति । न पुनरनुम्मत्त एवं ब्रूयात् स्वयं यामीति । तथेहापीति । यद्यपि

को काटता है' यह कहने पर स्वयं यह प्रतीत हो जाता है; क्योंकि अन्य के काटने योग्य (छेद्यः) वृक्ष को अन्य नही काटता, इसी प्रकार जिसका साध्य है वह सिद्ध करता है, अतः 'स्वयम्' यह प्रतीत हो जाता है। वह यह (दिङ्नाग) दूसरे (न्यायसूत्रकार) के अक्षरों की अधिकता के दोपों को खोजता हुआ अपने वचन के प्रयोग में मृह हो गया।

(आक्षेप) जो वादविधान-टीका (?) में कहा गया है कि 'साधयित' (सिद्ध करता है) यह शब्द स्वयं सिद्ध करने में या दूसरे के द्वारा सिद्ध कराने में समान होने के कारण 'स्वयं' यह विशेषण दिया गया है; प्रसिद्ध है (किल) कि 'साधयित' (सिद्ध करता है) यह शब्द प्रयोज्य कर्ता तथा प्रयोजक कर्ता में समान रूप वाला होता है [परिहार] ठीक है, यह शब्द तुल्य रूप बाला है; किन्तु (यहां) साधारण प्रयोग में कोई प्रयोजन हम नहीं देखते; इसिलये इस प्रकार कहना चाहिये 'पक्षो यः साधिततु-मिण्टः। और, मुख्य (तत्त्व) तथा गौण में मुख्य का (ही) ज्ञान होगा, प्रयोक्ता का ज्ञान नहीं (प्रयोक्तर्य संप्रतिपत्तिः)—यद्यपि यह समान रूप वाला शब्द है तथापि 'साधयित' (सिद्ध करता है) यह (प्रयोज्य कर्ता में ही हो सकता है, प्रयोजक में नहीं; क्योंकि उसमें गौण होता है और प्रयोज्य कर्ता में मुख्य है (आञ्जसत्वं मुख्यत्वम्; टी० ५२५)। किञ्च, तुमुन् का नियम है कि समानकर्नु क (क्रियाओं) में ही होता है 'साधयितुम्' यह 'तुमुन्' प्रत्यय का प्रयोग है; और, वह यह (तुमुन् प्रत्यय) समान-, कर्नु क कियाओं में ही देखा गया है; जैसे स्नान के लिये जाता हूं। किन्तु जो जन्मत्त स्वयं साध्यत्वेनेप्सितः—वह बादविधान (?) टीका में व्याख्या की गई है। यहां वात्तिक में स्वयं साध्यत्वेनेप्सितः—वह बादविधान (?) टीका में व्याख्या की गई है। यहां वात्तिक में

'स्वयम्' पद की निरथंकता दिखलाई गई है। तुमुगश्च समानकर्तृ केष्टेव नियमात् — तुमुन् प्रत्यय का समानकर्तृ क कियाओं में होने का नियम होने से। सामान्यतः 'तुमुन्ष्वुलौ कियायां कियार्थायाम् ३.३,९०। सूत्र से तुमुन् प्रत्यय होता है। किन्तु इच्छायंक एककर्तृ क उपपद होने पर भी धातु से मृतुन्

[अवयवा

न्यायवास्तिकम्

यदि 'स्वयं' शब्देन साधयित शब्दस्तुल्यरूपः, तथापि तुमुना विशेषितत्वात् प्रयोक्तर्यनितप्रसङ्गः — यदिप स्वयशब्देन च शस्त्रानपेक्षमभ्युपगम् दर्शयतीति, अत्रोक्तम् । किमुक्तम् ?परावशानस्यायुक्तत्वाद् इत्येवमादि । कि पुनः शास्त्रं यदनदेक्षा गम्युपगमं दर्शयति ननु चशास्त्रं प्रत्यक्षानुमानाम्यामिदिरद्ध आगमः तदनपेक्षमभ्युपगमंद श्यती
ब्रुवता अप्रमाणकर्थमभ्युपैतीत्युक्त अवित । यदचाप्रसाणकोभ्युपगमो नासावभ्युपगानु
स्थातमना युद्दतः, नापि प्रतिपाद्यितुं शक्यइति ।

यद्यपि (यदपि) वादविधौ 'साव्याभिधान' प्रतिज्ञा' इति प्रतिज्ञालक्षणमुक्त' तदप्यभयथादोबात् न युवतम् । कथिमति ? यदि तावत् पूर्वप्रकृतपक्षमपेक्ष-मार्गनेदमुख्यते 'साध्याभिधानं प्रतिज्ञा' इति, तदा साध्यग्रहणं व्यर्थस् । प्रकृतः पक्षस्तच्छ्रब्देनाभिसंभन्स्यत इति 'तदभिधानं प्रतिज्ञा' इति वक्तवव्यम नहीं है वह इस प्रकार न कहेगा कि 'स्वयं यामि' (स्वयं जाता हूँ), उसी यहाँ भी है। यद्यपि 'साधयति' शब्द (प्रयोज्य तथा प्रयोजक कर्ता में) समान रूप वाला है तथापि 'तुमृन्' (प्रत्यय) से विशेषित करने के कारण प्रयोजक इसका प्रसङ्ग नहीं होता। जो भी (यह कहा गया है) स्वयं शब्द से (आचार्य) णास्त्र की अपेक्षा न करने वाली स्वीकृति दिखलाते हैं, इस विषय में कहा जा चुका है। क्या कहा जा चुका है ? दूसरों का तिरस्कार करना युक्त नहीं, इत्यादि । और (पुनः) वह क्या शास्त्र है जिसकी अपेक्षा न करने वाली स्वीकृति को दिखलाते हैं।? राङ्का हो सकती है (नत् च), प्रत्यक्ष तथा अतुमान से विरुद्ध तहोते वाला आगम ही शास्त्र है, उमकी उपेक्षा न करने वाली स्वीकृति दिखलाते हैं। [समाधान] यह कहते हुए (आप) प्रमाण रहित (अप्रामाणिक) अर्थ को स्वीकारते हैं, यह लहा जा सकता है। और, जो अप्रामाणिक स्वीकृति है वह स्वस्थ मन (आत्मा) वाले को माननी युक्त नहीं और न ही प्रतिपादित की जा सकती है।

जो भी बादविधि (?) में प्रतिज्ञा का यह लक्षण कहा गया है, साध्य का कथन प्रतिज्ञा है (साध्याभिधानं प्रतिज्ञा), वह भी दोनों प्रवार से दोष होने के कारण युक्त नहीं। कंसे ? यदि प्रथमतः पूर्व, प्रकरण से प्राप्त पक्ष (शब्द) की अपेक्षा करते हुए यह कहा जाता है 'साध्याभिधानं प्रतिज्ञा' तो साध्य (शब्द) का ग्रहण ब्यथं है, प्रकरण से प्राप्त पक्ष (शब्द) 'तत्' (उस) शब्द से सम्बद्ध हो जायेगा अतः तदिभिधानं 'प्रतिज्ञा' ऐसा कहना चाहिये। यदि पक्ष की अपेक्षा न करते

प्रत्यय होता है, जैसे इच्छिति भोक्तुम् (समानकतकेषु तुमुन ३.३ १४८) साधियतुमिष्टः में इमी के अनुसार तुमुन् प्रत्यय होगा जिसमें समान कर्त् क होना आवण्यक है। यद्यपि प्रयोज्य तथा प्रयोजक कर्ता के साथ तृत्य रूप से 'साधियतुम्' प्रयोग होता है तथापि 'इष्ट' णब्द से यह विदित होता है कि जो वाशी साधियता है वही 'एियता' (इच्छा करने वाला) भी है।

शास्त्रानपक्षम्—'स्वयम्' गब्द से प्रकट होता है कि वादी या प्रतिवादी द्वारा वह स्वीकृत है, शास्त

में उसका स्वीकृत होना आवश्यक नहीं (?)।

2.2.33]

[२७३

न्यायवात्तिकम्

अथ पक्षानपेक्षं स्वतन्त्रमेतत् लक्षणम्, तथापि यो नैयायिकप्रतिज्ञायां दोष उकतः, स इह प्रसकतः । यस्तु तत्रभवता परिहारः क्रियते, ममापि स एव परिहारो भविष्यतीति न युक्तम्, तस्य मयानभ्युपगमात्, भवता चाभ्युपगतत्वात् । यथा नाम किश्चत् परं ब्रूयात् 'माता ते बन्धकी स्त्रीत्वादिति' स तस्योत्तरं ब्रूयात् 'न बन्धकीत्वे स्त्रीत्वं हेतुः कितु स्वपुष्यव्यतिरेकेण पुष्यान्तरसम्बन्ध इति । स्त्रीत्वाद् वन्धकीत्वं ब्रुवाणस्य स्वस्या मातुर्वन्धकीत्वमपरिहार्यम् । अथ परपुष्य सम्बन्धं हेतुमभ्युपेयात् स्त्रीत्वाद् वन्धकीत्वं व्याहतं भवति । तथा भवतोऽपि व्याघातः, साध्ययोहेतुद्वद्यान्तयोनिदेशः प्रतिज्ञा प्राप्नोति । तस्मादपेतसर्वदोषमिवं वावयं 'साध्यनिदेशः प्रतिज्ञा' इति । १।१।३३॥

हुए यह स्वतन्त्र लक्षण है तथािष जो नैयाियक के प्रतिज्ञा-लक्षण में दोष कहा गया है, वह यहाँ भी प्राप्त होता है। किन्तु आप (नैयाियक) के द्वारा जो परिहार किया जाता है, मेरा (बौद्ध का) भी वही परिहार होगा, इस प्रकार (कहना) युक्त नहीं क्यों कि मेरे द्वारा उसे स्वीकारा नहीं जाता और आपके द्वारा स्वीकारा गया है। उदा-हरणार्थ, कोई दूसरे से कहे 'तेरी माता वन्धकी (द्विनाल) है, स्त्री होने से वह (दूसरा) उसको उत्तर दे 'वन्धकी होने में स्त्री होना हेतु नहीं, किन्तु अपने पुरुष से भिन्न अन्य पुरुष से सम्बन्ध होना (हेतु) है। स्त्री होने से बन्धकी कहने वाले के द्वारा अपनी माता के अन्धकी होने का परिहार नहीं किया जा सवता। यदि दूसरे पुरुष से सम्बन्ध होना हेतु माना जाये तो स्त्री होने से बन्धकी होना, यह कथन (परस्पर) विरुद्ध होता है, उसी प्रकार आपके (कथन) में विरोध है; (इस लक्षण के अनुसार) साध्य जो हेतु तथा दृष्टान्त हैं उनका निर्देष (भी) प्रतिज्ञा होने लगता है। इसलिये सब, दोषों से रहित यह वचन है 'साध्य का निर्देश प्रतिज्ञा है' (साध्यनिर्देश:प्रतिज्ञा) १।११३३॥

यदिष (यद्यपि) — यद्यपि प्रकाशित पुस्तकों में 'यद्यपि पाठ' है तयापि यहां 'यदिषि' पाठ उपयुक्त प्रतीत होता है, अग्रिम 'तदिष' पाठ से भी यही ठीक है। वादिविधी — वादिविधि नामक ग्रन्थ में (?)

तदिभिर्मानं प्रतिज्ञां— 'सार्ध्यं' शब्द की अपेक्षा तत्' शब्द के ग्रहण में लाघव हैं)टी० ५२४)

तत्र भवता- नैयायिकेन, टी० ५२४)

तस्य मयानभ्युपगमात्— उस परिहार को मेरे द्वारा स्वीकृत न किया जाने से (द्र० न्याय के प्रतिज्ञालक्षण पर बौद्ध का आक्षेप तथा वार्तिक द्वारा किया गया परिहार)।

तस्मादपेत0 — यह वात्तिककार ने अपने कथन का उपमंहार किया है । अतः न्याय का

। मिना को हुई कि का का नाम । उनके देखान के स्टालिक का का

708

[अवयवाः

न्यायसूत्रं भाष्यं च

उदाहरणसाध्म्यति साध्यसाधनं हेतुः ।१।१।३४।।

उदाहरणेन सामान्यात् साध्यस्य धर्जस्य साधनं प्रज्ञापनं हेतुः । साध्ये प्रतिसन्धाय धर्ममुदाहरणे च प्रतिसन्धाय तस्य साधनतावचनं हेतुः । उत्पत्तियर्मकमितयं दृष्टिमिति ।१।१।३४॥ उत्पत्तियर्मकमितयं दृष्टिमिति ।१।१।३४॥ न्यायवात्तिकम्

हेतीरत्रतरप्राप्तस्य लक्षणायदेशाशरेण सूत्रम्, उदाहरणसायम्पीदिति उदाहरणेत सायम्यम् अदाहरणसायम्यीय । किं पुनरुदाहरणम् ? वक्ष्यमाणकम्। तेन साधम्यं समातधर्मता । यो धर्मः साध्ये भवति तथाभूतः एवोदाहरणेऽपीतिः; न पुनः स एव, अन्ययमंस्पान्यत्रावृत्तेः —न हि अन्यस्य धर्मो ऽन्यत्र व तंते, किन्तु तत्तुल्यः स एवेत्युच्यते ।

उदाहरण के साथ सादृश्य होने के कारण साध्य धर्म (की सिद्धि) का साधन या प्रकटीकरण (प्रज्ञापन) हेतु है; साध्य में (किसी) धर्म का प्रतिसन्धान करके और उदाहरण में उसका प्रतिसन्धान करके उसे साधन रूप में कहना हेतु है; जैसे (शब्द िन् त्य है)उत्पत्ति धर्म वाला होने से,उत्पत्तिधर्म वाले को अनित्य देखा गया है।१११।३४॥

कम से प्राप्त हेतु के लक्षण-कथन (अपदेश) द्वारा सूत्र है, उदाहरणसाधर्म्यात् इत्यादि । उदाहरण के समान धर्म वाला होना उदाहरणसाधर्म्य है। किन्तु उदाहरण क्या है? जो आगे कहा जायेगा। उससे साधर्म्य अर्थात् समान धर्म वाला होना जो धर्म साध्य में होता है, उसी प्रकार का उदाहरण में भी होता है, किन्तु वही नही क्योंकि दूसरे का धर्म दूसरे में नही रहता—वस्तुतः अन्य का धर्म अन्य में नही रहा करता, किन्तु उसके समान (धर्म रहना है) उसे ही 'वही' कह दिया जाता है। हेतोरवसरप्राप्तस्य — वातिककार ने अवाकार सङ्गति दिखलाते हुए यह वतलाया है कि

प्रतिज्ञा के अनन्तर हेतु का अवसर है।

उदाहरणसाधम्प्रीत्— यहाँ 'हेतु' यह लक्ष्य है। 'साध्यसाधनम्' यह हेतु का सामान्य लक्षण
हेतु दो प्रकार का है साधम्प्रीन् और वैद्यम्प्रीत् । प्रस्तुत सूत्र में साधम्प्रै हेतु का लक्षण दिया

गया है, अग्रिम में वैधम्यं हेतु का ।
साधम्यात् = सामान्यात्, साध्यसाधनम् = साध्यस्य धर्मस्य साधनम् अर्थात् धर्म सहित

धर्मी की सिद्धि करना, धर्मसहितस्य धर्मिण इत्यर्थः, टी०५३१।
तत्तुल्यःस एवेत्युच्यते— अन्य का धर्म अन्य में नहीं रहता अतः यहाँ उस जैसे को वह कह
दिया गया है जैसे लोक में कोई जिन चावलों को कुरुक्षेत्र में खाता या यदि उसी प्रकार के
चावलों को कलकत्ता में खाता है वहकह देता है उन्हीं चावलों को खाते हैं जिन्हें कुरुक्षेत्र में खाते
थे। वार्त्तिककार की इस व्याख्या में 'सामान्यात्' को स्पष्ट किया गया है (द्र० टी० ५३१)

थ । पार्तकार के प्रहणम् —यदि यहाँ 'उदाहरण' शब्द न रक्खा जाये तो विरुद्ध, असाधारण उदाहरणसाधम्य ग्रहणम् —यदि यहाँ 'उदाहरण' शब्द न रक्खा जाये तो विरुद्ध, असाधारण तथा अनैकान्तिक में भी साधम्यं होता है उनका कथन भी हेतु हो जायेगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

8.2.38

[२७%

न्यायवात्तिकम्

यदि पुनः साधम्यं हेतुरित्येतावन्मात्रमुच्येत, भवत्वेवं विविक्षितार्थसिद्धः, अनिष्टप्रतिषेधस्तु न स्यात्—साधम्यंमात्रं हेतुरित्येतावता अनिष्टप्रतिषेधो न स्वादित्यतोऽनिष्टप्रतिषेधां मुदाहरणसाधम्यंप्रहणम्; उदाहरणसाधम्यंप्रहणात् अनु-दाहरणसाधम्यंपर्मात् निराकृत भवति । अवधारणेन वा निराक्रियते—उदार-हरणेनैय साधम्यंम् = उदाहरणसाधम्यंम् , न पुनरनुदाहरणेनापि; साधम्यंमेव उदाहरणेन न पुतर्वंधम्यंमपीति कस्य पुनरुदाहरणेन साधम्यंम् ?कस्यान्यस्य पुनः स्वात्, साध्यस्य; प्रकृतत्वात् प्रत्यासत्तेश्च—प्रकृतं प्रत्यासत्त्रं च साध्यम् तस्माद् उदाहरणसाधम्यं साध्यस्य। अत्रापि च साध्येन साधम्यंमिति साधम्यं—मेवेत्यवधार्यते , न पुनः साध्यस्य । कि पुनरनेनावधारणेन लभ्यते ? साध्यक—देशवृत्तिरहेतुरिति , एतत् लभ्यते ।

(शङ्का) किन्तू यदि 'साधर्म्य हेतु है' केवल इतना कहा जाये । [समाधान] इस प्रकार विवक्षित अर्थ की सिद्धि हो जायेगी, किन्तु अतिष्ट का प्रतिषेध नही हुआ करेगा—साधर्म्य हेतु है, केवल इतना कहने से अनिष्ट का प्रतिषेध न हुआ करेगा इसलिये अनिप्ट का प्रतिपेध करने के लिये 'उदाहरणसाधर्म्य' शहद दिया गया है; (१) उदाहरण साधम्यं शब्द से अनुदाहरण के साथ साघम्यं का अर्थतः निराकरण हो जाता है। (२) अथवा अवधारण से इसका निराकरण कर दिया जाता है—उदाहरण के साथ ही साधर्म्य उदाहरणसाधर्म्य है; किन्तु अनुदाहरण के साथ भी (साधर्म्य) नहीं तथा उदाहरण के साथ साधम्यं ही किन्तु वैधम्यं भी नही । (प्रश्न) किन्तु उदाहरण के साथ किसका साध्यम्यं होता है ? (उत्तर) दूसरे किसका होगा ? साध्य का; क्योंकि उसका प्रकरण है और उसका सान्निष्य (प्रत्यासत्ति) भी है-प्रकरण से प्राप्त तथा समीप में स्थित साध्य (ही) है, इसलिये साध्य का उदाहरण से साधम्य है । और यहां भी साध्य से साधर्म्य इससे 'साधर्म्य ही' यह अवधारण किया जाता है, यह नहीं कि 'साध्य का ही' फिर इस अवधारण से क्या प्राप्त होता है? साघ्य के एकदेश में रहने वाला (धर्म) हेतु नहीं होता, यह प्राप्त होता है ॥ उदाहरणसाधम्यंग्रहणात् यद्यपि सव्यभिचार में उदाहरणसाधम्यं है तथापि उदाहरणसा-धर्म्य शब्द से अनुदाहरणसाधर्म्य की ज्यावृत्ति हो जाने के कारण वहाँ लक्षण नहीं जाता; विशिष्टिवि-

धानस्य शिविनिषेधोऽर्थसिद्ध इत्यर्थः टी० ५३९ । अवधारणेन वा—यहाँ दोनों पदों में अवधारण है : उदाहरणेनैव साधम्यम् । इस अवधारण से अनुदाहरण के साथ साधम्यं होने पर हेतु नहीं होता । साधम्यंमेव , इस अवधारण से किसी अंश में

वैधम्यं होने पर हेतु नहीं होता। साध्यस्य—यह साधम्यं साध्य का उदाहरण के साथ होता है; इस विषय में दो हेतु दिये गये हैं प्रकृतत्वात्, प्रत्यासत्तेण्च,। 'प्रकृत का अर्थ है प्रकरण से प्राप्त , वाचस्पित मिश्र यहां इसका अर्थ 'प्रधान' करते हैं, यहां साध्य ही प्रधान है, उसकी सिद्धि के लिये प्रतिज्ञा आदि अवयव प्रवृत्त होते हैं और 'साध्यसाधनम्' इस पद से भी साध्य ही उपस्थित होता है (द्र० टी० ५३१)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

त

स न

र

री। ति एण ना

ही हा

भ ण देया

हित कह

के खाते

ारण

[अवयवा:

न्यायवात्तिकम्

सोऽयं हेतुः साध्योदाहरणाभ्यां प्रतिसंहितः । कि पुनरस्य प्रतिसन्धानम्?
साध्ये व्यापकत्वम् , उदाहरणे च संभवः । एवं द्विलक्षणस्त्रिलक्षणश्च
हेतुर्गभ्यते । उदाहरणेनैव साधम्यंमित्येवं बुवताऽनभ्युपगतिवपक्षस्याप्युदाहरणेनैव
साधम्यंनिति द्विलक्षणोऽपि हेतुर्भवतीत्युक्तम् । यदा पुनिवपक्षमभ्युपैति तदाप्युदाहरणेनैव
साधम्यं नानुदाहरणेनेति त्रिलक्षणो हेतुरित्युक्तं भवति । तत्र द्वावन्वयव्यतिरेकिणो,यथा
वैशेषिकस्य अनित्यः शब्दः कृतकत्वात् सामान्यविशेषवतः अस्मदादिवाह्यकरणप्रत्यक्षदिषयत्वाच्चेति । द्वावन्वयिनौ, यथा सर्वानित्यतावादिनः 'अनित्यः शब्दः प्रमेयत्वात्
अमूर्तत्वाच्चेति । तदेवमन्वयतिरेकभेदवान् अन्वयभेदवांश्चतुः प्रकारो हेतुरित्युक्
भवति, इति ।

वह यह हेतु साघ्य तथा उदाहरण में प्रतिसंघान से होता है (प्रतिसंहितः)।
(प्रक्न) किन्तु इसका प्रतिसन्धान क्या है? (उत्तर) साघ्य में व्यापक होना और उदाहरण में हो सकना । इस प्रकार दो लक्षणों वाला और तीन लक्षण वाला हेतु प्राप्त होता है। 'उदाहरण से ही साधम्यं, इस प्रकार कहते हुए जिसका विपक्ष नहीं माना गया (केवलान्वयी) उसका भी उदाहरण के साथ ही साधम्यं, इस प्रकार दो लक्षणों का भी हेतु होता है, यह कह दिया गया। किन्तु जब विपक्ष को स्वीकारता तब भी उदाहरण से ही साधम्यं अनुदाहरण से नहीं, इस प्रकार तीन लक्षणों वाला हेतु होता है, यह कह दिया गया है। उनमें दो अन्वयव्यतिरेकी हैं; जैसे वैशेषिक के मत में 'शब्द अनित्य है, कृतक होने से' और 'सामान्य विशेष वाले (शब्द) का हमारी बाह्य इन्द्रिय (श्रोत्र) के प्रत्यक्ष का विषय होने से; दो अन्वयी (हेतु) हैं जैसे 'सर्वमनित्यम्' ऐसा मानने वाले के मतानुसार 'शब्द अनित्य है प्रमेय होने से' और (शब्द अनित्य है) अमूर्त्त होने से' (?)। तब इस प्रकार कहा जा सकता है अन्वय-व्यतिरेकी भेदो वाला और अन्वय के भेदों वाला चार प्रकार का हेतु होता है।

अत्रापि च — 'साध्येन साधम्यात्' यहां भी साधम्यमिव इस प्रकार का अवधारण होता है जिससे साध्येकदेण के साथ साधम्य होने पर हेतु नहीं हुआ करता।

साध्योदाहरणाभ्याम्—साध्ये प्रतिसन्धाय धर्मम् उदाहरणे च प्रतिसन्धाय , इस भाष्य का

तत्र द्वाववय० — १ सपक्ष में व्यापक २ सप्क्ष में अव्यापक (टी० १३१)। अतित्यः शब्दः कृत-कत्वात् ' यहां कृतकत्व हेतु है जो सभी सपक्षों (अनित्यों) में रहता है किन्तु दूसरा हेतु सपक्षों में यापक नहीं। वशिषकमत में वायु भी अनित्यः है किन्तु वह हमारे वाह्य करण से प्रत्यक्ष नहीं। अमूर्तत्वाच्च — यहां 'मूर्तत्वात् 'पाठ चूप्युक्त प्रतीत होता है जो मूर्त (परिच्छिन्न परिमाण वाले हैं वे अनित्य होते हैं, यह व्यास्ति है। किञ्च , सर्वानित्यतावादी शब्द को मूर्त मानता है (द्व०टी० १३३)।

8.2.38]

[२७७

न्यायवात्तिकम्

तदेवं हेतुस्वरूपावधारणाद् हेत्वाभासा निराकृता भवन्ति । तत्रोदाहरणेनैव साधम्यंमिति विपर्ययहेतोरनैकान्तिकस्य च निराकरणम् । साधम्यंमेवोदाहरणेने-त्यनेनावधारणेन साध्यावृत्तिः साध्यंकदेशवृत्तिश्च निराक्रियत इति । तत्र ताव विपर्ययहेतुः 'अश्वोऽयं विषाणित्वात्' । 'गौदिषाणित्वाद्' इत्यनैकान्तिकः । साध्यावृत्ति 'चाक्षुषत्वाद् अनित्यः शद्दः' इति । साध्येकदेशावृत्तिः 'अनित्याः परमाणवो गन्धवत्त्वाद्' इति । स्वरूपतस्ति अनैकान्तिकादिग्रहणं न कर्तव्यम्—यद्यनेन हेतु-लक्षणेन एवं भाव्यमानेनार्थादनैकान्तिकादयो निराक्रियन्ते, नन्वनैकान्तिकः सव्यभिचारः' इत्येवसादिसूत्रान।रम्भः । न, अतिप्रसक्तस्य नियमार्थत्वात्—अनेकधा हेत्वाभासा भिन्ना इति तेषां नियमज्ञापनार्थमनैकान्तिकादिग्रहणमिति ।

तब इस प्रकार हेतु के स्वरूप का अवधारण करने से हेत्वाभासों का निरा करण हो जाता है। उनमें 'उदाहरण से ही साधर्म्य' इसके द्वारा विपरीत हेतु (विरुद्ध हेत्वाभास) और अनैकान्तिक (हेत्वाभास) का निराकरण होता है। 'साधर्म्य ही उदाहरण के साथ (वैधर्म्य नहीं)' इस अवधारण से साध्य में न रहने वाले और साध्य के एकदेश में रहने वाले का निराकरण हो जाता है। उनमें तो विपरीत हेतु है; 'यह अश्व है सींग वाला होने से'। 'यह गौ है सींग वाली होने से' यह अनैकान्तिक है। साध्य में न रहने वाला है; 'चाक्षुप होने से शब्द अनित्य है'। साध्य के एकदेश में न रहने वाला है; 'चाक्षुप होने से शब्द अनित्य है'। साध्य के एकदेश में न रहने वाला है; 'परमाणु अनित्य हैं गन्ध वाले होने से'। (आक्षेप) तव तो अनैकान्तिक आदि का स्वरूप से ग्रहण न करना होगा—यदि इस प्रकार व्याख्या किये गये (भाव्यमानेन) इस हेतु-लक्षण के द्वारा अर्थतः अनैकान्तिक आदि (हेत्वाभासों) का निराकरण कर दिया जाता है तो (नतु) 'अनैकान्तिकः सब्य भिचारः' (१ २ २ ५) इत्यादि सूत्र न करने होगे। [परिहार) नहीं, अति प्रसक्त होने वालों के नियम के लिये होने से—अनेक प्रकार से हेत्वाभास भिन्त-भिन्न हैं, अतः उनका नियम करने के लिये अनैकान्तिक आदि का ग्रहण किया गया है।

निपयंयहेतो:-विपरीत हेतु का, विरुद्ध नामक हेरवाभास का।

साध्येकदेशवृत्तिश्च — यहाँ तथा दो पंक्तियां आगे भी समान पाठ होना उचित है ।

अनैकान्तिकस्य च — साधारण तथा असाधारण नामक अनैकान्तिक का, साधारणस्य असाधारणस्य चेत्यर्थाः, टी० ५३१।

भाष्यमानेन-भावना करते हुए, व्याख्या करते हुए, अथवा निराकृत करते हुए परिभाव्यमानेन, टी० ३१।

अतिप्रसस्तस्य नियमार्थत्वात्—हिःवाभास अनेक प्रकार का होता है। सब हेत्वाभास पाँच वर्गी में विभक्त किये जा सकते हैं, यह नियम है। इसलिये 'अनैकान्तिक: सब्यभिचारः' आदि लक्षण दिख-चाये गये हैं, परिसंख्यायकं हेत्वाभासलक्षणं न विधायकमित्यर्थः, टी० ४३१।

[अवयवा:

न्यायवात्तिकम्

उदाहरणसाधम्याच्च किमन्यत् साध्यसाधनम् ? इत्येके—न किलोदाहरणसाधम्यंव्यतिरेकेण अन्यत् साध्यसाधनमस्तीत्यत एवं सूत्रं कर्त्तं व्यम्, उदाहरणसाधम्यं
हेतुरिति । अथ पुनः साध्यसाधनशब्दोपादानम् उदाहरणसाधम्यंविशेषणार्थम्, एवमपि
पञ्चम्यपदेशो निरर्थकं इति, न हि भवति नीलादुत्पलमिति ।अन्ये तु पञ्चम्यपदेशानर्थंक्यमन्यथा वर्णयन्ति ; अर्थान्तरे दृष्टत्वाद् इहानर्थक इति—अर्थान्तरे किल पञ्चमी
दृष्टा, यथा ग्रामादागच्छिति; न पुनक्दाहरणसाधम्यंव्यातरेकेणान्यत् साध्यस्य
साधनमस्तीत्यतः पञ्चम्यपदेशोऽनर्थक इति । साध्यसाधनविशिष्टं चोदाहरणसाधम्यं
हेतुरिति बुवाणेनाभिधेयो हेतुरित्युवल भवति । तथा च साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञोति
व्याहतं भवति । न चाभिधानाभिधेयात्मकः समुदायो दृष्ट इति नोभयेषामवयवत्वम् । तत्र त्वेष दोषो न परिहार-वावयं प्रयोजयति, तेनैवापाकृतत्वात्—उदाहरणसाधम्यित् साध्यसाधनवचनं हेतुरित्येवं व्याचक्षाणेन समस्त एव दोषोऽपाकृतो भवति'
इति । अतो न परिहारवाक्यं प्रयोजयति ।

(आक्षेप) उदाहरण के साधम्यं से अन्य साध्य (की सिद्धि) का साधन क्या है ? यह कोई (दिङ्नाग) कहते हैं — वस्तुत: उदाहरण के साधर्म्य से भिन्न अन्य साध्य (की सिद्धि) का साधन नहीं है; इसलिये सूत्र इस प्रकार करना चाहिये 'उदाहरणसाधम्य' हेतु:' (उदाहरण का साधभ्यं हेतु है) । किन्तु यदि 'साध्यसाधन' शब्द का ग्रहण उदाहरणसाधम्यं का विशेषण देने के लिये है; इस प्रकार भी पञ्चमी का प्रयोग निरर्थक है; क्योंकि 'नीलाद् उत्पलम्' ऐसा प्रयोग नहीं होता। दूसरे (?) तो पञ्चमी के प्रयोग की निरर्थकता का अन्य प्रकार से वर्णन करते हैं:-अन्य अर्थ में देखा जाने से यहां (पञ्चभी का प्रयोग) अनर्थक है—अन्य अर्थ में ही (किल) पञ्चमी देखी गई है; जैसे 'ग्राम से आता है'; किन्तु उदाहरण के साधर्म्य से भिन्न अन्य साध्य का साधन नहीं है अतः पञ्चमी विभक्ति का प्रयोग निरर्थक है। अन्य दोय] और, साध्यसाधन विशिष्ट उदाहरण का साधर्म्य हेत् है, यह कहने वाले के द्वारा अभिधेय (अर्थ) हेतु है, यह कह दिया गया । और, उस प्रकार 'साध्यनिर्देश: प्रतिज्ञा' इससे विरोध होता है। किञ्च, अभिधान (शब्द) और अभिधेय (अर्थ) से बना हुआ समुदाय देखा नहीं गया अत: दोनों (शब्दात्मक प्रतिज्ञा तथा अर्थात्मक हेतु)। (वाक्य के) अवयव नहीं होंगे। [परिहार] उसमें यह दोप तो परिहार वाक्य का प्रयोजन नहीं रखता (इस दोष का परिहार करने का प्रयोजन नहीं) उसी के द्वारा इस दोप का निराकरण कर दिये जाने से—उदाहरणसाधम्यं से साध्य का साधन बतलाना हेतु है, इस प्रकार व्याख्या करते हुए सब दोष ही दूर कर दिया गया है; इसलिये परिहार वाक्य का प्रयोजन नहीं है।

इत्येके—दिङ्,नाग इत्यादि । हतु क इस लक्षण में दोष दिखलाते हुए दिङ्नाग ने कहा था— साधनं यदि साधम्यं न वावयांशः न पञ्चमी । वावयं चेत् तिह्योष्यं स्यात् साधनत्वादसभवः ॥ न तत्नापि दिधा दोषात् प्रकृते त्वन्यसंभवः । स्वलक्षणेन वाधा चेन्न विकल्पादिसंभवात् ॥

तस्मात् पष्ठ्यस्तु

तत्रापि विशेषणमनर्थकम्। टी० ५३१-५३२

न्यायवात्तिकम्

सायम्ब्रंह्य व्यक्तिवार्यव्यक्ति चारित्वाद् विशेषणयोगो न तद्वचनस्याप्रकारकत्वात्-यत् तत्प्रकारवत् तद् विशेष्यते, साथम्ब्रें चैतदस्ति न वचसीति । वचसः प्रकारवत्त्वं न संभवतीति न बुद्ध्यामहे — यथैवार्थः प्रकारवान् तथा वचोऽपीति । अर्थः कथं प्रकारवान् ? उभव्यथाभावात् — यस्मादसावर्थः उभव्यथा भवति नित्योऽनित्यः, मूर्तोऽ मूर्भव्छ । वचनमपि तह्युं भव्यथा भवति ' इति तुल्यं नित्यानित्यमूर्तामूर्त्तं शब्दामिष्यम् इति । दृष्टरच्च शब्दे विशेषणप्रयोगः, यथा किमयमाह ? गौरित्ययमाह इति । इति-परत्या शब्दः शब्दान्तराद् व्यवच्छिद्यते'। स्वयं वचनविशेषकाणि बहूनि वाक्यानि प्रयुक्तानिः; तद्यथा स्वपरपक्षयोः तिद्ध्यसिद्ध्यर्थं वचनं वाद इति । अथ वचनं नैव विशिष्यते, सिद्ध्यसिद्धयर्थं वचनं वाद इत्येवमादि व्याह्तम् । सोऽयं सूक्ष्मेक्षिकया परस्य दोषानिसद्धानो लोकादप्यपभ्रष्ट इति ।

(आक्षेप) साथम्यं (अर्थात्मक) के व्यभिचारी तथा अव्यभिचारी होने से उससे विशेषण का सम्बन्ध होता है उसके बचन (साथम्यंबचन) का नहीं, प्रकाररहित (भेद-रहित) होने से—जो प्रकार (भेद) बाला है उसको विशेषित किया जाता है और साधम्य में यह (प्रकार, भेद) है, बचन में नहीं। [पिरहार] बचन में प्रकारवत्ता नहीं हो सकती, यह हम नहीं समझते (बुद्ध्यामहे), जिस प्रकार अर्थ प्रकार वाला है उसी प्रकार बचन भी। (प्रश्त) अर्थ कैसे प्रकार वाला है। (उत्तर) दोनों प्रकार का होने से—क्योंकि यह अर्थ दोनों प्रकार का होता है नित्य या अनित्य, और मूर्त या अमूर्त। तब तो बचन भी दो प्रकार का होता है नित्य-अनित्य और मूर्त तथा अमूर्त शब्द से कहने योग्य, यह समान (ही) है। और, शब्द में विशेषण का प्रयोग देखा गया है; जैसे इसने क्या कहा? इसने कहा 'गी' यह (इति)। इतिपरक होने से एक जब्द दूसरे शब्द से भिन्न हो जाता है। (दिङ्गाण आदि ने) स्वयं बचन को विशेषित करने वाले बहुत से वाक्यों का प्रयोग किया है; जैसे अपने और दूसरे के पक्ष की सिद्धि तथा अतिद्धि के लिये जो बचन होता है वह बाद है। यदि बचन का विशेषण नहीं होता तो सिद्धि और असिद्धि के लिये होने बाला बचन बाद है, इत्यादि (कथन) विश्व है। वह यह (प्रतिपक्षी बौद्ध) मुक्ष इंटिट से दूसरे (नैयायिक) के दोपों को

कहना हुआ लोक (व्यवहार) से भी भ्रष्ट हो गया।
यदि साधम्धं ही साधन है तो वह अर्थात्मक है अतः पञ्चावयव आवय ना अवयव नहीं
यदि साधम्धं ही साधन है तो वह अर्थात्मक है अतः पञ्चावयव आवय का अवयव नहीं
यदि साधन और साधम्यं का अत्यन्त अभेद है अथवा दोनों में किसी प्रकार भेद है दोनों रूप में
ही पञ्चमी न होगी क्योंकि साधन के समानाधिकरण होने से प्रथमा विभवित प्राप्त होती है और
अत्यन्त अभेद होने पर एक पद का अप्रयोग प्राप्त होता है। यदि कहो कि साधम्यं से उत्पन्न होने
वाला साधन वाक्य रूप ही है अतः पञ्चमी होगी, तो यह विशेष्य हो जायेगा; क्योंकि वाल्य ही अर्थ
से नहीं होता अपि तु विवक्षा आदि भी होते हैं। यदि कहो कि विवक्षा आदि साधन है या परम्परा से
उनकी प्राप्ति न होगी (साधनत्वादसंभवः)। प्रश्न यह है कि हेतु साक्षात् साधन है या परम्परा से
दोनों प्रकार दोष है। (न तन्नापि द्विया दोषात्)। यदि कहो कि पञ्चावयव वाक्य का प्रकरण ह
अतः ज्ञान आदि की व्यावृत्ति हो जायेगी तब तो उपनय भी साधम्यं से उत्पन्न होता है उसका भी
प्रहण हो जायेगा यदि कहो अपने लक्षण से वाधा होगी वह भी नहीं विकल्प आदि हो सकने से

न्यायवात्तिकम्

यदण्यर्थान्तरे दृष्टत्वादिहानर्थंकः पञ्चम्यपदेश इति. एवं ब्रुवाणः स्वसिद्धान्तं बाधते । न हि भवन्तः सेनावनादीन्यर्थान्तरभूतानि प्रतिपद्यन्ते । अथ च पञ्चम्यपदेशो भवति 'वनादयं वृक्षआनीतः'सेनातोऽश्वः' इति । दृष्टश्च तन्त्रान्तरे पञ्चम्यपदेशः अनर्थान्तरे 'सन्धिविग्रहाभ्यां षाङ्गुण्यं सम्पद्यते' इति । अनभ्युगतार्थान्तरविपक्षस्य च'हेतुविपक्षाद् विशेषः' इति पञ्चम्या अर्थान्तरवाचकत्वं कुतः ? यदप्युदाहरणसाधम्यंस्येति वक्तव्यम् नोदाहरणसाधम्यंदिति । तदिष न, विवक्षातः कारकशब्दप्रयोगात्—यदा साधम्यमिभिधीयमानतया विवक्षितं भवति, तदा 'उदाहरणसाधम्यंस्य' इति युक्तम्; यदा तूदाहरणसाधम्यंस्य निमित्तभावो वचनेऽपि विवक्षितः, तदोदाहरणसाधम्यंदिति

जो (यह कहा है) अन्य अर्थ में देखा गया होने से पञ्चमी का प्रयोग अनर्थक है, ऐसा कहने वाला (बौद्ध) अपने सिद्धान्त का विरोध करता है। आप सेना वन आदि को अन्य अर्थ नहीं मानते और (उनमें) पञ्चमी का प्रयोग होता हैं; जैसे वन से यह वृक्ष लाया गया, सेना से अश्व। दूसरे शास्त्र में भी भिन्न अर्थ नहोंते हुए पञ्चमी का प्रयोग देखा गया है; जैसे सिन्ध और विग्रह से पाड्गुण्य (छह गुण होना) हो जाता है। और, जिस (हेतु) का विपक्ष (नित्य) भिन्न अर्थ नहीं माना गया (अनभ्युपगतोऽर्थान्तरं विपक्षो यस्य) वहां 'हेतुविपक्षाद् विशेषः' पञ्चमी विभक्ति (विपक्षाद्) अन्य अर्थ की वाचक कैसे है ? जो (दिङ्नाग ने कहा है) 'उदाहरण-साधम्यंस्य' ऐसा कहना चाहिये, 'उदाहरणसाधम्यंत्' नहीं; वह भी ठीक नहीं; विवक्षा (वक्तुमिच्छा = कहने की इच्छा) से कारक शब्दों का प्रयोग होने से—जब साधम्यं वाच्य (अभिशीयमान) रूप से कहना अभीष्ट होता है तब 'उदाहरण-साधम्यंस्य' ऐसा कहना युक्त है किन्तु जब वचन में भी उदाहरणसाधम्यं को इसिलये यहां पछी होनी चाहिये और उस में भी (उदाहरण) विशेषण अनर्थक है; (द्र० टी० ४३१, ४३२)।

अन्ये तु—यह किनका मत है निश्चित नहीं। वे कहते है विशेष से भिन्न सामान्य नहीं वह तो कल्पनामान्न है और भेद बस्तुनिष्ठ होता है (टी० ५२)।

साध्यसाधनविशिष्टम् — इस प्रकारअर्थ (अभिधेय) को हेतु कहा जायेगा किन्तु साध्यनिर्देश प्रतिज्ञा, में अवयव को शब्दात्मक दिखलाया गया है अतः विरोध है, ।

नो भयेषामवयवत्वम् अभिधान और अभिधेय का समुदाय नहीं होता अत. शब्दात्मक और अर्थात्मक होकर अवयव न होगा (द्र० टी०४३३)

वचसः...इति—वचन का भी विणेषण होता है जैसे अर्थ में वैसे ही वचन में।

मूर्त्त शब्द:—िकि हीके मत में शब्द अमूर्त है किन्ही के मत में मूर्त हैं' वेकहते हैंवायुरापद्यते शब्दाम इड्टइच—शब्दों के साथ 'इति शब्द का प्रयोग प्रकट करता है कि सभी शब्द भिन्न-भिन्न व्यक्तियाँ हैं

न्यायवात्तिकम

निमित्तपञ्चमी युक्ता । कथं पुनरुदाहरणसाधम्यस्य निमित्तभावः ? सित भावात्— यस्माद् उदाहरणताधम्यं बुद्ध्वा विवक्षाप्रयत्तवायूदीरणतात्वाद्यमिद्यातादयः शब्दस्य निम्तं भवन्ति । अतः पारम्पर्योणोदाहरणसाधम्यमिपि निमित्तमिति । तस्मात् पञ्चम्यभिधानमेव ज्यायः ।

उदाहरणम्, अनित्यः शब्दः, उत्पत्तिधर्मकत्वादिति । उत्पत्तिधर्मकमित्यं स्थात्यादि दृष्टमिति । कि पुनिरदमितित्यं नाम ? यस्यान्तियत्वमित्त, तदिन्दम् । अथानित्यत्वं किम् ? उभयान्तपरिच्छित्रवस्तुसत्तासम्बन्धः, सत्ता वा तिद्वशेषणा । अयोत्पत्तिधर्मक किम् ? उत्पत्तिर्धनीं यस्य स उत्पत्तिधर्मा, उत्पत्तिधर्मवोत्पत्तिधर्मकः । का पुनिरयमुत्यत्तिः ? असिद्वशेषणस्य सतोऽत्यन्तमभावभावप्रतिषेधः—यदसिद्वशेषणं सद्भवति तत् पूर्वं नासीत् पश्चाद् भवतीति गम्दते, तस्य नात्यन्तमभावो नात्यन्तं च भाव इति प्रतिषेधो यः स उत्पत्तिशब्दार्थः । सत्ता चैशंविशेषणा । वावयार्थाम्यनुज्ञानाच्व पदार्थाभ्यनुज्ञानम्—यो वाक्यस्यार्थोऽभूत्वा भवतीति स पदरयार्थं उत्पद्दते' इति सा उत्पत्तिर्धमौ यस्य स भवत्युत्पत्तिधर्मक इति । १।१।३४॥

निमित्तरूप में कहना अभीष्ट होता है तब 'उदाहरणसाध्म्यांत्' यह निमित्त प्रविभी उचित है। (प्रश्न) उदाहरणसाधम्यं निमित्त रूप में की होता है? (उत्तर) उसके होने पर होने के कारण—क्योंकि उदाहरण के साधम्यं को जानकर कहने की इच्छा, प्रयत्न, वायु को ऊपर उठाना (वायूदीरण) और तालु आदि (स्थानों) में वायु का अभिधात आदि शब्द (की उत्पत्ति) के निमित्त होते हैं, इसलिये परम्परा से उदाहरणसाधम्यं भी निमित्त होता है। इस प्रकार पञ्चमी का कथन ही अधिक प्रशस्त है

उदाहरण है; शब्द अनित्य है, उत्पत्ति धर्म बाला होने से, उत्पत्ति धर्म वाली स्थाली आदि अनित्य देखी गई है। (प्रश्न) किन्तु यह अनित्य क्या है? (उत्तर) जिसमें अनित्यता है वह अनित्य है। और, अनित्यता क्या है? दोनों अन्तों अथवा छोरों (आदि तथा अन्त) से युक्त वस्तु का सत्ता से सम्बन्ध होना (अनित्यता है) अथवा उस विशेषण वाली (आदि तथा अन्त से युक्त) (किसी वस्तु की) सत्ता (अनित्यता है)। और, उत्पत्ति धर्म बाला होना क्या है? उत्पत्ति है धर्म जिसका वह उत्पत्तिधर्मा है, उत्पत्तिधर्मा ही उत्पत्तिधर्मा है। किन्तु यह उत्पत्ति क्या है? असद् विशेषण से युक्त सत् के अत्यन्त अभाव एवं (अत्यन्त) भाव का प्रतिषेय—जो ऐसा सत् (भाव) होता है जिसका विशेषण असत् हुआ करता है, वह पहले नहीं था पश्चात् होता है, यह जाना जाता है, उसका न अत्यन्त अभाव है न अत्यन्त भाव है, इस प्रकार का जो प्रतिषेध होता है वह उत्पत्ति शब्द का अर्थ है और इस प्रकार के विशेषण बाली सत्ता भी। वाक्य के अर्थ की स्वीकृति से पद के अर्थ की स्वीकृति होती है—जो,न होकर होता है' इस वाक्य का अर्थ है वह 'उत्पत्त हैं। शारें। इस प्रकार के विशेषण बाली सत्ता भी। वाक्य के अर्थ की स्वीकृति से पद के अर्थ की स्वीकृति होती है—जो,न होकर होता है' इस वाक्य का अर्थ है वह 'उत्पत्त धर्मक हैं। शारें।

स्वयम् — बौद्ध आचार्यों ने भी एसे अनेक वाक्यों का प्रयोग किया है जिनमें वचनों का विशेषण दिया गया है।

अनभ्य प्रगत -- अनभ्युपगतमर्थान्तरं विपक्षो यस्य हेतोः, अनित्यत्वे साध्ये कृत्करवादे स तथोवतः

अवयवाः

न्यायसूत्रं भाष्यं च

किमेतावद् हेतुलक्षणमिति ? नेत्युच्यते । कि तर्हि ? तथा वैधम्यत् ।१।१।३४।।

उदाहरणवैधम्यांच्च साध्यसाधनं हेतुः । कथम् ? अनित्यः शब्दः उत्पत्तिधर्मकत्वात् । अनुत्पत्तिधर्मकं नित्यं दृष्टम्, आत्मादय इति । १।१।३५॥ न्यायवात्तिकम्

किमेतावद् हेतुलक्षणिमिति ? नेत्युच्यते । कि तर्हि ? तथा वैधम्यत् । अत्रापि उदाहरणवैधम्यितिरयुदाहरणेनैव वैधम्य नानुदाहरणेनेति, वैधम्यभेव चोदाहरणेन ,न साधम्यमिपीति । उदाहरणम्, अनित्यः शब्दः उत्पत्तिधर्मकत्वात्, अनुत्पत्तिधर्मकं नित्यं दृष्टम् आत्मादय इति भाष्यम् ।

क्या इतना ही हेतु का लक्षण है ? नहीं, यह कहा जाता है। तब दया है ? जसी प्रकार वैधर्म्य से । १।१।३५।।

और, उदाहरण के बैधर्म्य से साध्य की सिद्धि का साधन (की) हेतु होता है। कैसे ? शब्द अनित्य है, उत्पत्ति धर्म वाला होने से जो उत्पत्ति धर्म वाला (उत्पन्न होने वाला) नहीं होता वह नित्य देखा गया है जैसे आत्मा आदि । ।१।१।३४॥

क्या इतना ही हेतु का लक्षण है ? नहीं, यह कहा जाता है। तब वया है ? उसी प्रकार वैवर्म्य से (यह भाष्य तथा सूत्र है)। यहाँ भी उदाहरण से ही वैधर्म्य होने के कारण (इसका भाव है) उदाहरण से ही वैधर्म्य (धर्म भेद) अनुदाहरण से नहीं, और, उदाहरण से वैधर्म्य ही साधर्म्य भी नहीं। उदाहरण है—शब्द अनित्य है, उत्पत्ति धर्म वाला होने से, जो उत्पत्ति धर्म वाला नहीं होता वह नित्य देखा गया है; जैसे आत्मा आदि, यह भाष्य है।

सत्र शोक्तः टी०५२३।यहाँ 'अनित्यत्व' साध्य है, विपञ्च 'नित्यत्व' होगा.सर्वम् अनित्यम् हहेने व ले के मत में नित्यत्व विपक्ष है जो होता होत्रही

विवक्षातः—'विवक्षातः कारकाणि भवन्ति' यह मत प्रसिद्ध है। कारकत्व=सम्बन्धित्व, जा किया का-रक्षमाव की अपेक्षा रखता है यह कियाकारकभाव पष्टी या हेतुपञ्चमी में नही है, न तु पष्टी वा

हेतुप ज्यमी वा कारकविभिवतिरिति टी,०५३३ । सिधितिग्रहाभ्यां पाउगुष्यं सम्पद्यते,—कौटिलीयअर्थणास्त्र ७.१.३ । वहाँ कुछ पाठ भेद है

पाड् गुज्य पृथक्- अर्थ नहीं हैं तो भी सिन्धिविग्रहाभ्याम्।इसमें पञ्चमी का प्रयोग हुआ है।
उदाहरणम्—भाष्यकार ने केवल हेतु वचन दिखलाया है, वार्तिककार ने उसे पूरा कर दिया हैं
उभयान्तपरिछिन्न०— उभयान्त = पूर्व तथा अपरछोर परिछिन्न, उपलक्षित;। यदि दूसरा छोर
बुद्धि में भी स्थित होता हैं तो वह वस्तु उभयान्तपरिछिन्न कही जाती है। ऐसी वस्तु का सत्ता से
सम्बन्ध होना अनित्यता है अथवा ऐसी सत्ता ही अनित्यता है।

का पुन:...चैवंविशेषणा—असत्विशेषणस्य =असत् है विशेषण जिसका , यह असत् है, इस रूप में उपलक्षित, यहां विशेषण = उपलक्षण । यद्यपि जिस घट आदि को प्रागभाव कहा जाता है वह असत् नहीं तथापि वृद्धि में उसका असत् रूप निश्चित होने से वह असत् से उपलक्षित है। जो घट आदि उत्पन्त होता है उसे आकाश आदि के समान अत्यन्त भाव रूप में नहीं कहा जा सकता, आकाश कुसुम आदि के समान

२५३

न्यायव। त्तिकम

एतत्त न समञ्जसमिति पश्यामः, प्रयोगमात्रभेदात्-प्रयोगमात्रं हि भिद्यते नार्थं इति । न च प्रयोगमात्रभेदाद् वस्त्वन्तरं भवितुसहंति । उदाहरणमात्रभेदाच्च-उदाहरणमात्रं केवलं भिद्यते आत्मा घट इति । यदि चादाहरणभेदाद् भेदो भवति तथा वैधर्म्यादिति न पठितव्यम् । किं कारणम् ? उदाहरणभेदादेव भेदो गम्यते । उदाहरणसूत्रं च भेदकमस्ति 'तद्विपर्ययाद् वा विषरीतिमिति । तस्मात् नेदमुदाहरणं न्याय्यांमति । उदाहरणं तु 'नेदं निरात्मकं जीवच्छरीरम् अप्राणादिमत्त्वप्रसङ्गादिति । यदुभयपक्षसंप्रतिपन्नमप्राणादिमत्, तत् सर्वं निरात्मकं दृष्टम्। न चेदमप्राणादिमद् भवति तस्मान्ने दं निरात्मकसिति ।

यह तो सगत (समञ्जसम्) नहीं, एसा हम समझत हे : (१) प्रयोग मात्र का भेद होने से—वस्तुत: (यहाँ) केवल (अनुमान के) प्रयोग का भेद हैं अर्थ का नहीं और केवल प्रयोग के भेद से वस्तु भिन्न नहीं हो सकती। (२) उदाहरण मा र का भेद होने से—यहाँ केवल उदाहरण का भेद है आत्मा और घट आदि । यदि केवल उ<mark>दाहरण</mark> के भेद से भेद होता है तो 'तथा वैधर्म्यान्' यह (सूत्र) न करना चाहिये । क्या कारण हैं ? उदाहरण के भेद से ही भेद प्रतीत होता है और उदाहरण सूत्र भेदक है (ही) 'तद्विपर्ययाद् वा विपरीतम्' (त्या० सू० १।१।३७) । इस लिये यह उदाहरण युक्तियुक्त (न्याय्यम्) नहीं । उदाहरण तो यह है. यह जीवित शरीर आत्मारहित नहीं, प्राण आदि से रहित होने का प्रसंग हो जाने से। जो दोनों पक्षों (बादी तथा प्रतिबादी) द्वारा स्वीकृत प्राण आदि से रहित है वह सब (ही) आत्मारहित देखा गया है और यह (जीवित शरीर) प्राण आदि से रहित नहीं होता, इसलिये यह आत्मा से रहित (निरात्मकम) नहीं है।

अत्यन्त अभाव रूप में भी नहीं यही उसकी उत्पत्ति है यो वाक्यस्यार्थः — न होकर होता है (अभूत्वा भवति) जो इस वाक्य का अर्थ है वही 'उत्पद्यते'

इस पद का अर्थ है। इस प्रकार न्या० थै० को असदुःपित इल्ट है। ज्वाहरणवैधर्म्याच्च—मूत्र में जो 'वैधर्म्यात्' कहा गया हैं, यहां उदाहरण का वैधर्म्य लिया जाता है पक्षका नहीं । भाव यह है कि विपक्ष के उदाहरण के वैधम्य से भी हेतु होता है, उदाहरजे नवैधर्म्थामिति विपक्षेणेत्यर्थः टी०५४६ । वात्तिककार ने इसमें दो अवघारण दिखलाये हें :— उदाहरणेनैव वैद्यम्यं नानुदाहरणेनेति और वैद्यम्यं मेव न साधम्यं मशीति

उदाहरणम् — यह भाष्य का उदाहरण है।

अनुत्पतिः धर्मकम् —अनुपत्तिः।मंक दृष्टमिति योजना,टो०५४६ यहाँ अनि यत्वसः ध्य है नित्यविषज्ञ है, जैसे आत्मा आदि उदाहरण है। आत्मा आदि की उत्पत्ति नहीं होती, वे अनुत्पत्तिधर्मक हैं । अतः शब्द में विपक्ष के उदाहरण से वैधर्म्य हैं। इस वैधर्म्य से साध्य(शब्द) में अनित्यत्व की सिद्धि का साधन उत्परितधर्मकःव हेत् है

इति भाष्यम् — यहाँ तक भाष्यकार; का मत दिखलाया गया है।

एतत्तु . न्याय्यमिति—टीका के अनुसार यह एतच्च पाठ है। इसके द्वारा वॉतिककार से भाष्य कार के उदाहरण का दोष दिखलाया है (टी०४४७) एतर्थ दो हेतु दिये गये हैं प्रयो म त्रभेदात और उदाहरणमालभेदात्।

[अवयवाः

·यायवार्तितकम्

सोऽयभवीतः परपक्षप्रतिषेधाय भवतीति । तावेतौ वीतावीतहेत् लक्षणाभ्यां पृथगिमिहिताविति । तत्र स्वरूपेणार्थपरिच्छेदकत्वं वीतधर्मः । अवीतधर्मः पुनः पर-पक्षप्रतिवेधेतैव प्रवर्तत इति । एकस्य विधीयमानोऽर्थः, इतरस्य प्रतिषिध्यमानः । कथं पुनरयमवीतोऽर्थपरिच्छेदक इति ? अथं योऽभ्यनुज्ञातो वीतोऽर्थपरिच्छेदकः स कथम् ? वीतोऽन्वयादिति चेत्—बीतो हेतुरन्वयेन प्रतिपादयति । अथं प्रमेयत्वं कस्मान्न हेतुः, यद्यन्वयस्यैतत् सामर्थ्यम् ? व्यभिचारात् प्रभेयत्वं न हेतुः । न तर्द्यं न्वयः प्रतिपादकः अपि त्वव्यभिचारः । यदि चाव्यभिचाराद् हेतुर्थं प्रतिपादयति, तदा अचोद्यमेतत् कथमवीतः प्रतिपादक इति, अवीतस्यापि व्यतिरेकाव्यभिचारित्वात् प्रतिपादकत्वामिति । कथम् ? यावदप्राणादिमत् तत्सर्वं निरात्मकं दृष्टिमिति, अप्राणादिमत्वं च

वह यह 'अवीत' (अनुमान) है जो दूसरे के पक्ष का प्रतिपेध करने के लिये होता है। वे दोनों वीत (अन्वयी) और अवीत (ब्यितरेकी) हेतु लक्षणों द्वारा पृथक बतलाये गये हैं। उनमें स्वरूप से अर्थ का बोध कराना वीत का धर्म है; िकन्तु 'अवीत' का धर्म है कि वह दूसरे के पक्ष का प्रतिपेध करता हुआ ही प्रवृत्त होता है। एक का विषय (अर्थ) विथि (भाव) रूप है, दूसरे का प्रतिपेध रूप। (प्रश्न) िकन्तु यह अवीत अर्थ का बोधक (प्रतिपादक) केंसे होता है? इस पर प्रश्न है कि (अथ) जो 'वीत' को अर्थ का बोधक स्थिकारा गया है. वह कैसे? यदि वीत अन्वय से बोधक है—वीत हेतु अन्वय से अर्थ का प्रतिपादन करता है, यदि अन्वय का यह सामर्थ्य है तो 'प्रमेयत्व' हेतु क्यों नहीं होता? यदि कहो कि ब्यिभचार होने से प्रमेयत्व हेतु नहीं होता। [सिद्धान्ती का उत्तर] तब त्तो अन्वय (किसी) अर्थ का बोधक नहीं होता अपि तु व्यिभचार न होनो है और यदि व्यिभचार न होने से हेतु (किसी) अर्थ का बोध कराता है तब यह आक्षेप के योग्य नहीं है (अत्रोद्यम्) िक अवीन कैसे बोधक होता है; क्योंकि अवीत भी अभाव (व्यितरेक) का व्यिभचारी न होने से बोधक होता है; क्योंकि अवीत भी अभाव (व्यितरेक) का व्यिभचार नहीं होता) जो भी प्राण आदि से रहित है, वह सब उदाहरणतु—यहाँ वात्तिककार ने अपना अभिमत दिखलाया हैं नेदं, निरात्मकम् इत्यादि।

उभयपक्षसंप्रतिपन्नम् आत्मवादी और अनात्मवादी दोनो द्वारा स्वीकृत निरात्मक जो घट आदि है वह सभी प्राणादि से रहिन देखा गया है ऐसा प्रतीत होता है कि अनात्मवादी के प्रति आत्मा की सिद्धि में व्यतिरेकी हेतु दिखलाने के लिये वात्तिककार ने सूत्र का यह उदाहरण दिया है। इस पर वाचस्पति मिश्र लिखते हैं: —यश्चासी इच्छादिसमवायिकरणं पृथिव्यादिविलक्षणो द्रव्याणां नवमःस आत्मे त्युच्यते सोयमवीतः — अन्व थी तथा व्यतिरेकी का अन्य शास्त (?) में प्रसिद्ध नाम है दीत एवं अवीत । जो पक्ष में व्यापक होता है सपक्ष में व्यापक या अव्यापक होता है वह अन्वयी है, उससे भिन्न व्यतिरेकी है, विशिधन प्रकारण इतः वीतः पक्षव्यापकत्वे सित सपक्षव्यापत्या अव्याप्त्या च। तस्मादऽन्योऽवीतः, शेउ५४७। अथ्यप्रमेंयत्वात् — यहाँ उत्तर वादी (सिद्धान्ती) पूछने वाले से ही प्रश्न करता है (टी०५४७ व्यतिरेकाव्य मिचारात — अन्वयी तथा व्यतिरेकी दोनों ही हेतु साध्य के अव्यभिचारी होने से साध्य की सिद्धि करते हैं: अन्वयी तो भाव का अव्यभिचारी होता है और व्यतिरेकी अभाव (व्यतिरेक) का

[२५४

न्यायवात्तिकम्

जीवच्छरीरात् निवर्तते । तस्मात् तद्याभिचारि निरात्मकत्वमिष निवर्त्स्यतीति । अथ पुनरप्राणादिमस्वनिवृत्तिभेव प्रतिपद्यते न पुनर्निरात्मकत्वस्य, न युक्तभेवं भवितुम् । कि कारणम् ? पक्ष एवं सित व्यभिचारो दिश्तिः स्यात् । पक्षव्यभिचारदर्शने च सित शक्यं वक्तुम् 'अन्वयिनि तु हेतौ शब्दे नित्यत्वमस्तु सित कृतकत्वे' इति । तस्माद् यथाऽन्वयिनोऽन्वयसंबन्धाव्यभिचारः प्रतिपादकः, तथा व्यतिरेकिणोऽिष विपर्ययसं-बन्धाव्यभिचार इति । एतेन यथा वीतहेतोरव्यभिचारिण एकस्य धर्मस्य वर्शनाद् इतरधर्मानुमानम्, एवमवीतहेताविष एकधर्मनिवृत्तिदर्शनाद् इतरधर्मनिवृत्त्यनुमानम्' इति ।

निरात्मक (आत्मा से रहित) देखा गया है अतः (च) प्राण आदि से रहित होना जीवित शरीर में नहीं होता (निवर्तते); इसिलये यह (अप्राणादिमत्त्व) अपने साथ नियम से रहने वाले (अध्योगवादि) निरात्नकत्व की भी निवृत्ति कर देगा। (आक्षेप) किन्तु यदि अप्राणादिमत्त्व की ही निवृत्ति मानी जाये निरात्मकत्व की नहीं? [परिहार] ऐसा होना युक्तियुक्त नहीं। क्या कारण है? ऐसा होने पर पक्ष में व्यभिचार दिखलाना संभव होगा और पक्ष में व्यभिचार दिखलाने पर यह कहा जा सकता है कि कृतकत्व नामक अन्वयी हेतु होने पर (भी) शब्द में नित्यत्व हुआ करे। इस जिये जिस प्रकार अन्वयसम्बन्ध का व्यभिचार न होना अन्वयी (हेतु) की बोधकता है उती प्रकार विपरीत सम्बन्ध का व्यभिचार न होना व्यतिरेकी की बोधकता है। इस कथन से (सिद्ध है), जिस प्रकार वीत हेतु के द्वारा एक धर्म के दर्शन से दूसरे धर्म का अनुमान किया जाता है उसी प्रकार अवीत हेतु में भी एक धर्म की निवृत्ति देखने से दूसरे धर्म की निवृत्ति का अनुमान कर लिया जाता है।

इस प्रकार अन्वयी या बीत तो विधि रूप (विधीयमान ,भावरूप) अर्थ की सिद्धिकरता है और व्यतिरेकी या अबीत अभावरूप(प्रतिषिध्यमान) अर्थ की ।

यावव् यहाँ व्यतिरोकी की अव्यभिचारिता दिखलाई गई है, जो भी आत्मारहित होता है वह प्राणादिरहित देखा गया हे, अलापि याविनरात्मक तत्सर्वम् अप्राणादिमद्दृष्टिमिति व्यत्यासेन योजना टी० १४७।

अथ पुनः -- आक्षेप का आशय है : जीवित शरीर में प्राणादिमेंदरव न रहे क्योंकि वह प्रमाण से उप-लब्ध होने वाला है, नैरात्म्य की निवृत्ति कैसे होगी(टी०५ ४७)।

न युक्तमेवम् यहाँ पूर्वपक्ष के आक्षेप का परिहार किया गया है कि इस प्रकार जीवित शरीर (साध्य) में नैरात्म्य का निश्चय होने से व्यभिचार होगा या सन्देह ? यदि निश्चय तो बाधितविषय होने से ही हेतू न होगा। यदि सन्देह तो सभी अनुमान का उच्छेद होने लगेगा (द्र०टी० ४४७,४८) एतेन — उपसंहार है: अवीत हेतु से भी एक धर्म की निवृत्ति देखकर दूसरे धर्म की निवृत्ति का अनु मान कर लिया जाता है, अप्राणादिमत्त्व की निवृत्ति से नैरात्म्य कीनिवृत्ति को अनुमान होता है।

8 1 7 10 8 mar 25 6 4 5 2 2 2 2

[अवयवाः

न्यायवादितकम्

सर्वात्मकत्वप्रसङ्ग इति चेत्, न विकल्पानुपपत्तेः— यद्येकधर्मनिवृत्तिदर्शनादितरधर्मनिवृत्तिरनुमीयते, तिनवृत्त्या च सात्मकत्वं सिध्यतीति मन्यसे, एवं सित
सर्वात्मकं शरीरं प्राप्नोति । किं कारणम् ? अप्राणादिनिवृत्ते रिहत्थादिनिवृत्तिप्रतिपादकत्वात्—नेदमिहत्थयच्छरीरमप्राणादिमत्त्वप्रसङ्गात् । एदम् इदित्थादि प्रतिषेधोऽपि वक्तव्य इति । तच्च नैदम्, विकल्पानुपपत्तेः— इदं तादद् भदान् पृष्टो
व्याचव्दाम्, किमवधारितकार्यस्वभावः पदार्थो डित्थशयद्वाच्यः, आहोरिदत् हिति ।
यद्यवधारितकार्यस्वभावः, संज्ञाभेदमात्रमात्मा स इति । अथानवधारितकार्यरदनावः,
तस्य व्यावृत्तिरशक्या प्रतिपादयितुम् । य्यावृत्तिप्रधानं चेदं वाददम् । तरमादवीतहेतोरर्थमबुद्ध्वा सर्वात्मकता चोद्यत इति ।

[शङ्का-समाधान | इस प्रकार (जीवित शरीर) सर्वात्मक होने लगेगा यदि (यह कहा जाये)तो ठीक नहीं; विकल्प न वन सकने से - (शङ्का की व्याख्या)यदि एक धर्म का अभाव देखने से दूसरे धर्म के अभाव का अनुमान किया जाता है और उसकी निवत्त (अभाव) से (जीवित शरीर का) आत्मायुक्त होना सिद्ध हो जाता है: ऐसा मानते हो तो ऐसा होने पर (जीवित) शरीर सर्वात्मक होने लगता है; क्या कारण है? प्राण-रहित होने की निवृत्ति से 'डित्थ' आदि न होने की निवृत्ति का बोध कराने से—यह शरीर डित्थ (संज्ञा) से रहित नहीं है प्राण आदि रहित होने का प्रसङ्ग होने से। इसी प्रकार डवित्थ आदि न होने का प्रतिपेध भी कहा जा सकता है। (समाधान की व्याख्या) और, वह ऐसा नहीं है, विकल्प न वन सकने से-प्रथमतः आप इस प्रश्न का उत्तर दीजिए; क्या निश्चित किये गये (इच्छा आदि) कार्यों के स्वभाव वाला पदार्थ डित्थ शब्द का वाच्य (अर्थ) है, अथवा नहीं। यदि निश्चित किये गवे (इच्छा आदि) कार्यों के स्वभाव वाला पदार्थ ('डित्थ' शब्द का वाच्य है) तो संज्ञा (नाम) का भेद मात्र है वह आत्मा (ही) नहै । और; यदि निश्चित न किये गये कार्य के स्वभाव वाला (पदार्थ डित्थ' शब्द का वाच्य) है तो उसकी व्यावृत्ति का बोध नहीं कराया जा सकता । और, इस वाक्य में व्यावृत्ति की प्रधानता है । इसलिये 'अवीत' हेत का अर्थ न जानकर यह सर्वात्मक होने का आक्षेप किया जा रहा है।

सर्वात्मकत्वप्रसङ्गः—भाव यह है आत्मा प्रमाण से उपलब्ध नहीं होता, अतः आत्मा की कल्पना करके अप्राणादिमत्त्व के साथ नैरात्म्य की व्याप्ति बनाकर जीवित शरीर में अप्राणादिमत्त्व की निवृति से नैरात्म्य की निवृत्ति करते हुए अत्मा की सिद्धि की गई है। िकन्तु कल्पना कोष तो असीमित है कोई भी कल्पना कर के घट आदि में उसके अभाव को देखकर घट डिस्थ नहीं हैं आदि भी सिद्ध हो जायेगा तथा जीवित शरीर सभी डित्थ, डवित्थ आदि होने लगेगा (मि०टी ०५४८)।

तच्च नंवम् विकल्पानुपपत्ते: --- यहाँ वात्तिककार ने दो विकल्प दिखलाये हैं किमवधारितका। र्यस्वमावः पदार्थोडित्यगब्दवाच्यः २ आहोस्विन्त ।

अवधारितकार्यस्वभावः—अवधारित कार्य है स्वभाव जिसका वह यहाँ प्राणादि से उपलक्षित इच्छा दि हैं वे इच्छादि कार्य (ही) जिसके स्वभाव हैं वह पदार्थ,आत्मा ही है, अतः डित्थादि नाम से प्री अत्मा में कोई भेद नहीं पडता ,संजा माल का भेद है।यह कहा जा सकता हैं कि इच्छादि कार्य हैं अ^त न्यायवास्तिकम्

यदि तर्हि 'असाधारणो धर्मी हेतुः' 'नित्या पृथिवी गन्धवत्त्वाद्' इत्येवमाद-योऽिप हेतवः प्राप्नुवन्ति । न, हेत्वर्थापरिज्ञानात्—सत्यम्, असाधारणो वैधर्म्यहेतुः, न पुनर्वेधम्यं व्यभिचारि । गन्धवत्त्वं च नित्यानित्यव्यभिचारि । तस्मादन्वियनो व्यतिरे-किणश्च नान्वयव्यतिरेकौ हेतुभावे निमित्तम्, किन्त्वन्वयव्यतिरेकयोरव्यभिचार इति । यः पुनरसाधारणो धर्मः पक्ष एव केवलं यस्य तत्तुल्यविपक्षौ न स्तः, स कस्मात् न हेतुः, यथा सर्वं नित्य सत्वात् ? सत्यनयमसाधारणो न तु व्यावृत्तः । अव्यावृत्तेनं हेतुरिति । एतेन यः पक्षकदेशवृत्तिरविद्यमानस्वश्विषक्षः स न हेनुरित्युक्तं भवति,

(आक्षेप) यदि असाधारण धर्म (भी) हेतु होता है तो 'पृथिवी नित्य है गन्ध वाली होने से' इत्यादि भी हेतु हो जाते हैं। [पिरहार] यह ठीक नहीं; हेतु के अर्थ का सम्यक् ज्ञान न होने से—ठीक है कि असाधारण (धर्म) वैधम्यं हेतु होता है; किन्तु व्यभिचारी तो वैधम्यं (हेतु) नहीं होता। और, गन्ध वाला होना' का नित्य तथा अनित्य (दोनों से) व्यभिचार है। इस प्रकार अन्वयी तथा व्यतिरेकी का हेतु होने में अन्वय और व्यतिरेक निमित्त नहीं होता; किन्तु अन्वय-व्यतिरेक का व्यभिचार न होना (निमित्त होता है)। (आक्षेप) किन्तु जो असाधारण धर्म केवल पक्ष में ही होता है जिसके सपक्ष (तुल्य) और विपक्ष नहीं होते; वह हेतु क्यों नहीं होता; जैसे 'सब नित्य है सत् होने से। [परिहार] ठीक है, यह असाधारण है किन्तु (तु) यह व्यावृत्त नहीं है, व्यावृत्त न होने से हेतु नहीं है। इससे यह भी कह दिया गया कि

अन्वय-व्यितरेक से इनके समवायी कारण का अनुमान किया जाता है वट आदि इच्छा आदि के सम-वायी नहीं होते, यह उभयसिद्ध है जो नैरात्म्यवादी विज्ञान को (बौद्ध) अथवा भूतपरिणामिवणेष को (चार्वाक) इच्छा आदि का कारण कहते हैं वे भी घट जादि को इच्छा आदि का समवायी कारण नहीं मानते। उन घट आदि में इच्छा आदि कार्य के अभाव से नैरात्म्य व्याप्त है अतः जीवित शरीर में इच्छा आदि की व्यावृत्ति होने से (कार्य के अभाव से) नेरात्म्य की व्यावृत्ति (कारण का अभाव) हो जाती है, (द्र० टी० १४६)।

II

र्य

ηſ

11

हा

हा जाता ह, (प्रण्डाच रेजर) यदि तहि— विपक्ष में न होने मात्र से व्यतिरेकी बोधक होता है 'यह मानकर शङ्का की गई है इसका ससाधान है हेत्वया परिज्ञानाद केवल विपक्ष में न होने से व्यतिरेकी बोधक नहीं होता अपि प्र

अव्यभिचारी होने से बोधक होता है। गन्धवत्त्वंच-- गन्धवत्त्व हेतु नित्यों तथा अनित्यों में वियम से नहीं रहता यह जल आदि के पर-

्माणुओं में नहीं रहता इसी प्रकार अनित्य जल आदि में भी ।अतः व्यभिचारी है । य:पुन: — भाव यह है : जिसके सपक्ष, विपक्ष नहीं होते उसका व्यतिरेक व्यभिचार भी नहीं होता फिर वह हेतु क्यों नहीं हो जाता ? 3==]

[अवयवाः

न्यायवात्तिकम्

यथा सर्वं नित्यममूर्तत्वादिति । यः पक्षैकदेशे वर्तते अविद्यमानसपक्षो विपक्षाच्च निवर्तते, यथानभ्युपेतिनत्यपक्षस्य 'नित्ये वाडः मनसे श्रावणत्वाद्' इति । स कस्मान्न हेतुः? अयमपि न हेतुः; सूत्रार्थेनापोदितत्वात्—सूत्रार्थस्तथा वंधम्याद्' इति, अत्र च वैद्यम्पेमुदाहरणेनैव, वैधम्यमेव चोदाहरणेन, न पुदिरदं वैधम्यमेव । तस्मात् न प्रसङ्ग इति । एवमनयोत्रीतावीतहेत्वोः पृथगर्थप्रतिपादकत्वस्य आकुमारं प्रसिद्धेः, यदुक्तं वीतावीतौ न पृथक् प्रतिपत्तिहेतू इति तत् संमूढेनोक्तम् ।

जो पक्ष के एकदेश में रहता है, जिसका सपक्ष और विपक्ष नहीं होता, वह हेतु नहीं होता; जैसे 'सब नित्य है अमूर्त होने से। (प्रश्न) जो पक्ष के एकदेश में है, जिस का सपक्ष नहीं है और विपक्ष से निवृत्त हो जाता है; जैसे नित्य पक्ष को न मानने वाले का 'वाक् और मन नित्य हैं श्रोत्र का विषय होने से' वह हेतु क्यों नहीं है। [उत्तर] यह भी हेतु नहीं, सूत्र के अर्थ द्वारा हटा दिया जाने से (अपोदितत्वात् = अपवाद कर दिये जाने से); सूत्रार्थ है; उसी प्रकार वैधम्यं से (तथा वैधम्यीत्) और, भहाँ वैधम्यं उदाहरण से ही एवं वैधम्यं ही उदाहरण से (यह अर्थ होता है); किन्तु यहां वैधम्यं ही नहीं है। इस लिये (इसके हेतु होने का) प्रसंग नहीं है। इस प्रकार इन (दोनों) वीत तथा अवीत हेतुओं की पृथक्-पृथक् अर्थप्रतिपादकता के कुमार पर्यन्त प्रसिद्ध होने के कारण जो कहा है कि वीत और अवीत पृथक्-पृथक् ज्ञान के हेतु नहीं होते, वह भ्रान्त होकर कहा है।

भव्यावृत्ते : अञ्यक्षिचार व्यतिरेक का धर्म है,जो व्यतिरेक के बिना नहीं रह सकता । जो नहीं है वह आधार कैसे होगा। जब विपक्ष है ही नहीं तो विपक्ष-व्यावृत्ति भी न होगी।

सर्व नित्यममूत्त त्वात् — विह भी व्यति रेकी का उदाहरण नहीं , प्रत्युदाहरणान्तरं दर्शयित-एतेन, टी०४५०

एतेन विपक्ष न होने के कारण उससे व्यावृत्ति न होने से यहाँ सब (सर्वम्) ही पक्ष है अतः सपक्ष — विपक्ष कुछ नहीं असूर्तत्वात् यह हेतुं विपक्ष से व्यावृत्त कैसे होगा ।

नित्येवाड् मनसे — वाक् च मनः च वाङ्मनसे (वाक् मनस..., समासान्त अच् ५.४.७७)। यहाँ 'श्रावणत्व' हेतु है जो ,वाङ्मनसे' के एक अंश (वाक्) में रहता है, यहां साध्य है नित्यत्व ्जो नित्यपक्ष को नहीं मानता उसके मत में सपक्ष नहीं है। अनित्य वस्तु विपक्ष है, उससे श्रावणत्व हैं निवृत्त ही जाता है घट अंदि अनित्य तो हैं किन्तु श्रोत के विषय नहीं।

अपोदितत्वात् — दूर कर दिया जाने से , अपवाद कर दिया जाने से । कार्य १०००

अत्र च — यहाँ उदाहरणेनैव वैधम्यम् 'यह अवधारण किया गया है जिसका भाव है कि अनुदाह-रण से वैधम्यं नहीं; किन्तु पक्षकदेशवृत्तिका पक्ष (अनुदाहरण) से भी वैधम्यं होता है। ₹.१-३¥]

न्यायवास्तिकम् 🎮

हेतुिंविनक्षाद् विशेष इत्यन्ये — अन्ये त्वन्यया हेतुलक्षणं व्याचक्षते, 'हेतुिंविपक्षाद् विशेष इति । यदि पुनरेतावन्मात्रमुच्यते 'हेतुिंवशेष' इति, कि स्यात् ? विशेषमात्रं हेतुः स्यात् । साधम्यंनात्रनिराकरणं च स्यात् । साधम्यंमात्रनिराकरणं विशेषमात्र- परिग्रहे च इष्टानिष्टसंग्रह इति । अतोऽनिष्टहेतुिनरािक्रयाये विपक्षग्रहणम् । विपक्षाद् यो विशेषः स हेतुः । विपक्षाद् विशेषो हेतुरित्येतावति चोच्यमाने विपक्षाद् विशेषमात्रस्य हेतुत्वम् । स चानेकभेदः । तिन्नवृत्त्यर्थं विपक्षादेवेत्यवधार्यते । अवधारणे चैतिस्मन् विपक्षक्षदेशवृत्तिरेकोऽनुषज्यते 'गौविषाणित्वाद्' इति । स हि विपक्षादेव विशेष इति । नायसनेनावधारणेन निराक्रियते इति । तिन्नवृत्त्यर्थं द्वितीयमवधारणं विपक्षाद् विशेष एव । न त्वयं विशेष एव , विपक्षकदेशवृत्तित्वात् सामान्यमिष । तदेव-माम्यामवधारणाभ्यामन्वयव्यतिरेकी त्रिलक्षणो हेतुर्लम्यते इति ।

दूसरे (वसुबन्धु) कहते हैं कि विपक्ष से मिन्न (विशेष, व्यावृत्त) होने वाला हेतु है—इसरे तो अन्य प्रकार से हेतुलक्षण की व्याख्या करते हैं—'हेर्तुविपक्षाद् विशेषः' अर्थात् विपक्ष में न होने वाला धर्म हेतु है। यदि यहां 'हेर्तुविशेषः' इतना मात्र कहा जाता है तो क्या हो जाये ? तब केवल भिन्न (विशेष) होने वाला हेतु हो जाया करे और केवल समानवर्मता का निराकरण होवे। किञ्च, केवल समानवर्मता का निराकरण होने पर तथा भिन्न (विशेष) मात्र का ग्रहण होने पर इष्ट और अनिष्ट दोनों को संग्रह हो जाये। इसलिये अनिष्ट हेतु के निराकरण के लिये दिप शब्द दिया गया है 'विपक्ष से जो न्यावृत्त होता है वह हेतु है। 'विपक्षाद विशेषो हेतु इतना कहने पर बिपक्ष से जो (भी) भिन्न (विशेष) है वह हेतु होगा और वहीँ (विपक्ष से विशेष) अनेक प्रकार का है, उसकी निवृत्ति के लिये विपक्ष से ही' यह अव-धारण(नियम) किया जाता है ।और इस अवधारण के होने पर विपक्ष के एकदेश में रहने वाला एक 'सींग वाला होने से गौ है' हेतु होने लगता है (अनुपज्यते)। वस्तुतः वह विपक्ष से ही विशेष है । अतः इसका (उपर्युक्त) अवधारण से निराकरण नहीं होता। इसलिये उसकी निवृत्ति के लिये द्वितीय अवधारण किया जाता हे 'विपक्ष से विशेष ही'। किन्तु यह तो विशेष ही नहीं, विपक्ष के एक देश में रहने के कारण समान (सामान्य) भी है। तब इस प्रकार इन दो अवधारणों के द्वारा तीन लक्षणों वाला अन्वयं व्यतिरेकी हेतु उपलब्ध होता है।

न पुनर्वेंधम्य मेव - सूत का अर्थ केवल वैधम्य होना ही नहीं, ऐसा होने पर तो केवल सन्यभिचार की निवृत्ति होगी पक्षकदेशवृत्ति की नहीं (द्र० टी०)५५०।

हेर्नुविपक्षाद् विशेष:— यह वसुबन्धु का हेतुलक्षण है (टी० ५५०)।
इटटानिष्टसंग्रह:— उपलक्षणं चैतत्... इष्टपिरत्याग इत्यपि द्रष्टस्यम् , टी०६५०।
इतिहर्मग्रह:— उपलक्षणं चैतत्... इष्टपिरत्याग इत्यपि द्रष्टस्यम् , टी०६५०।
अनिष्टहेतुनिराक्रियाय- यिदहेतुविशेषः यह लक्षण किया जाये तो विषद्ध आदि हेत्वामास में लक्षण
अनिष्टहेतुनिराक्रियाय- यिदहेतुविशेषः यह लक्षण किया जाये तो विषद्ध आदि हेत्वामास में लक्षण
अनिष्टहेतुनिराक्रियाय- यिदहेतुविशेषः यह लक्षण किया जाये तो विषद्ध आदि हेत्वामास में लक्षण
अनिष्टहेतुनिराक्रियाय- स्वाधा- विषक्षेष से विशेष होकर विषक्ष से विशेष पक्ष से भी विशेष होकर
विषक्ष से विशेष, विषक्षमात्र से विशेष, ये अनेक प्रकार हैं। पहले दोनों प्रकारों में कमशः असाधा-

[039

[अवयवा

न्यायवात्तिकम्

सत्यमेकस्त्रिजक्षणो हेतुर्लभ्यते । सपक्षैकदेशवृत्तिश्च एकः त्रिलक्षण एव निराकि
यते । कथम् ? आद्योनावधारणेन विपक्षादेव यो विशेषः स हेतुरिति ब्रुवता यस्तुत्यैकदेशवृत्तिः

स निर्वाततो भवति । न ह्ययं विपक्षादेव विशेषः, किन्तु सपक्षैकदेशादिष । विपक्षैकदेशवृत्तिप्रतिषेधात् समानादिष पक्षात् यो विशेष एव स न हेतुरित्युक्तं भवति' यथा

अश्वोऽयं विषाणित्वाद्' इति । न पुनरयं प्रयत्नानन्तरीयकत्वादिविशेष एव म भवति

अषि तु पक्षै कदेशवृत्तिःवात् सामान्यमिष । यद्ये वं विपक्षादेव यो विशेषः स हेतुरित्येतदव
धारणं बाधितं भवति । न ताबदयं प्रयत्नानन्तरीयकत्वादिविषक्षादेव विशेषः, किन्तु

ततुत्यैकदेशादिष । अथाश्रूपमाणेनाप्यर्थेनावधारणेऽर्थवती ? एवं च तत्तुल्यैकदेशवृत्तिवत् साथ्यैकदेशवृत्तेरिष हेतुत्वप्रसङ्गः । येनैव सामर्थ्येन तत्त्त्व्यैकदेशवृत्तिःर्लभ्यते

(सिद्धान्ती) ठीक है कि एक तीन लक्षणों वाला (पक्षस्य धर्मः, सपक्षे सिद्धः विषक्षे नास्ति) हेतु प्राप्त हो जाता है और सपक्ष के एकदेश में रहने वाला एक तीन लक्षणों वाला ही निराकृत हो जाता है। कैसे ? पहले अवधारण से विषक्ष से ही जो भिन्न है वह हेतु है, ऐसा कहते हुए (आपके द्वारा) जो उसके समान (सपक्ष) के एकदेश में रहना है उसकी निवृत्ति हो जाती है, क्योंकि वह विपक्ष से ही भिन्न (विशेष) नहीं है अपि तु सपक्ष के एकदेश से मी। (शङ्का) विपक्ष के एकदेश में रहने वाले का प्रतिषेव करने के कारण समान पक्ष (सपक्ष) से भी जो भिन्न (विशेष) ही है वह हेतु नहीं होता, यह कह दिया गया जैसे यह अश्व है सींग वाला होने से। किन्तु यह प्रयत्नानन्तरीयकत्व आदि विशेष ही नहीं होता, अपि तु (स) पक्ष के एकदेश में रहने के कारण सामान्य भी (होता है)। [समाधान] यदि ऐसा है तो विषक्ष से ही जो विशेष है वह हेतु है। यह अवधारण वाधित हो जाता है; क्योंकि यह प्रयत्नानन्तरीयकत्व आदि तो विषक्ष से ही विशेष नहीं किन्तु सपक्ष (ततुल्य) के एकदेश से भी। (गङ्का) यदि (शब्दों द्वारा) न सुने गये अर्थ से भी ये दो अवधारण सार्थंक होते हैं। (समाधान) इस प्रकार तो सपक्ष के एकदेश में रहने वाले के समान पक्ष (साध्य) के एकदेश में रहने वाला भी हेतु होने लगेगा। जिस सामर्थ्य से सपक्ष के एकदेश में रहने वाला

रण और असित्व भी हेतु होने लगेगें अतः विपक्षादेव' यह अवधारण किया गया है (टी० ५५०)। विपक्षाद् विशेष एव — यह द्वितीय अवधारण है यदि यह न हो तो विपक्षेकदेशवृत्ति जो पक्षतवा सपक्ष में साधारण है वह भी हेतु हो जायेगा (टी० ५५०)।

विपक्ष कदेशवृत्तिप्रतिषेधात् अक्षेप का भाव है विशेष एवं इस अवधारण से यिपक्ष कदेशवृति 'गौरयं विषाणित्वात् यह हतु नहीं होता इस अवधारण के साथ ही 'विपक्षादेव पिशेषः' यह अवधारण है अतः जो विषक्ष ते ही विशेष है वह हेतु है, सपक्ष से जो विशेष है वह हेतु नहीं जैसे अश्वोध्यं विषाणित्वात्'। किन्तु सपक्षेकदेशवृत्ति 'प्रयत्नानन्तरीयकत्वात्' आदि तो सपक्ष से विशेष ही नहीं अपितु सामान्य भी है। अतः उसका हेतु न होना अवधारित नहीं किया गया। वह हेतु है ही।

यद्ये वं वाधितं भवति-यदि सपक्ष से भी जो विशेष है, सपक्ष के एकदेश में रहता है ऐसा 'प्रयत्नान्त रीयकत्व' आदि हेतु होगा तो विपक्षादेव विशेष:' इस अवधारण का बाध होगा (द्र०टी० ४४१)। [2.2.34]

[387]

न्यायवात्तिकम

तेतैत्र सामध्येतात् ने मैक हेत्र कृतिरिव हेतुः प्राप्तः, येथा 'अनित्या: परमाणव: गन्धवत्वा-दिति । ते एतेऽवधारणे यदि तावद् यथाश्रुते भवतः, तत इच्टः प्रयत्नानन्तरीयकत्वादिनं हेतुः । अयान्यया (१) भूगते, अन्यया इब्टः प्रकल्प्यते अभिन्नेतार्थसिद्ध यर्थमः तथाष्प्रभित्रेनगाष्त्रवहनिष्टोऽपि गन्धवत्त्वादिलंभ्यते इति, उभयं च लक्षणदोषः, अभिन्नेतहानिरनिष्टनसङ्गरच । नैय दोष:, वृत्तौ विज्ञेषितत्वात् —अनिष्टस्य गत्वतस्त्रादेः प्राप्तिरिति न दोषः , यस्माद् वृत्तावाह, 'यो धर्मः पक्षस्य' इति । इत्यनेन चाञ्च बत्यादिः पञ्चासंभवी निराक्तियते । पक्षैकदेशवृत्तिस्तु कथम् ? न ह्मतो पञ्चवर्षी न भवति । यथा' (२) विपक्षैकदेशवत्तिर्न विपक्षस्य न धर्मः इति तस्मादन्यथा निराकरणे यत्न: कर्तव्य इति । न कर्तव्यो ऽवधारणान्निवत्ते:-अवधारणा-देकदेशवित्तिनिवित्ववते। 'किं पुनरत्रावधार्यते, किंधर्म एव पक्षस्य, उत पक्षस्यैव हेत हो जाता है उसी सामर्थ्य से पक्ष के एकदेश में रहने वाला भी हेत हो जायेगा (प्राप्त:); जैसे परमाण अनित्य हैं गन्ध वाले होने से वे ये दोनों अवधारण यदि जैसे सूने जा रहे हैं बसे ही होते हैं तब इष्ट जो प्रयत्नानन्तरीयकत्व आदि है वह हेत् नहीं होता। यदि अन्य प्रकार से सूना जाता है (शब्दों से कहा जाता है) अभिप्रेत अर्थ की सिद्धि के लिये अन्य प्रकार से इष्ट की कल्पना कर ली जाती है तब भी अभिप्रत की प्राप्ति के समान अनिष्ट 'गन्धवत्त्व' आदि का भी 'हेतत्व' प्राप्त होता है। और दोनों लक्षण के दोप हैं अभीष्ट की हानि और अनिष्ट की प्राप्ति (अव्याप्ति तथा अतिव्याप्ति)। (पूर्वपक्षी का आक्षेप) यह दोष नहीं है, वृत्ति (?) में विशेषित किया जाने से-अनिष्ट गन्धवत्त्व आदि (के हेत होने) की प्राप्ति होती है, यह दोप नहीं है, क्योंकि वृत्ति में कहा है जो पक्ष का धर्म है। [परिहार] 'जो पक्ष का धर्म है'। इससे पक्ष में न हो सकने वाले चाल पत्व आदि का निराकरण हो जाता है; किन्त् मा के एकदेश में रहने वाला कैसे (निराकृत होगा) ? वस्तुत: यह पक्ष का धर्म नहीं, ऐसा नहीं; जिस प्रकार विपक्ष के एकदेश में रहने वाला विपक्ष का धर्म नहीं होता, ऐसा नहीं। इसलिये उसके (हेत्त्व के) निराकरण के लिये अन्य प्रकार से प्रयत्न करना होगा। (पूर्वपक्षी) न करना होगा, अवधारण से निवृत्त हो जाने के कारण-अवधारण से एकदेश में रहने वाले की निवृत्ति हो जायेगी। [दूपण] फिर यहां क्या अथ...अर्थवती-शङ्का का आशय है: उपर्युक्त कथन के अनुसार सपक्षकदेशवृत्ति प्रयत्नानन्तरीय-कत्व आदि हेतु है ही । यह शब्दों से नहीं कहा गया तो भी 'विपक्षादेव विशेष: इस अवधारण से उसका निषेध नहीं होता अतः वह अनुमित ही है । इस प्रकार अश्रुत अर्थ से दो अवधारण सप्रयोजन हैं ।

एवंच—परिहार का आशव है: जैसे सपक्ष के एक श्वि में रहने वाले का अविहित हेतुत्व भी निषेध न करने से अनुमत हो जाता है उसी प्रकार पक्ष के एक देश में रहने वाले का भी हेतुत्व हो जायेगा,—

जैसे परमाणु अनित्य हैं गन्धवाले होने से (टी० ५५१)।

नैष दोष:—पूर्वपक्षी का अभिप्राय है: पक्ष का धर्म होकर जो विशेष ही है, विपक्ष से ही ऐसा नियम होने पर पक्ष के एकदेश में रहने वाला हेंतु न होगा, क्योंकि वह पक्ष का सर्वेत धर्म नहीं, पुनः प्रत्यवित्रते नैष दोष: इति, टी० ४४९।

प्रो धर्म: पक्षस्य इत्यनेन-यह परिहार है, परिहरित यो धर्म: पक्षस्येत्यनेन, टी॰ ५५९। टीका से ऐसा प्रतीत होता है कि वार्तिक में 'यो धर्म: पक्षस्य के पश्चात् 'यो धर्म: पक्षस्य इत्यनेन' यह पाठ था समें से 'यो धर्म: पक्षस्य दत्यनेन' यह पाठ था समें से 'यो धर्म: पक्षस्य' यह छोड़ दिया गया।

१. श्रूयते ... प्रकल्प्येते, क, श्रूयते ... प्रकल्प्यते , ख. २. तथा , क; यथा , ख;

[अवयवाः

न्यायवात्तिकम्

धर्मः ? अस्तु तावद् धर्मं एव पक्षत्येति किं पुनरस्यावधारणस्य सामर्थ्यम्, किमनेन समयो ज्ञान्त्रते, उतासंभवो निवर्त्यते ? उमयथापि नावधारणस्य सामर्थ्यमस्ति, संभव-ज्ञान्तेरसंभवनिवृत्ते क्वावधारणमन्तरेणामप्यधिगतेः । न चैकदेशवृत्तिनिराक्रियते इति व्यर्थमवथारणम् । अथ पुनव्यिष्तिरस्यावधारणस्यार्थः 'धर्म एव पक्षस्य' इति, न पुनरधमौऽपिः, यः पुनः पक्षकदेशवृत्तिरसावधर्मोऽपि । सत्यम्, अनेनैकदेशवृत्तिनिराक्रियते इति । एतस्मिन्नपि एकं सन्धित्सतोऽन्यत् प्रच्यवते । भवत्वेकदेशवृत्ते-निराकरणं 'सपक्षे सिद्ध एतत् पदं किमर्थमारभ्यते ? कथं पुनरिद-मनारभ्यम् ? यस्माद् व्याप्त्यथेनावधारणेन चरितार्थमेतत् । 'धर्मं एव पक्षस्य' इति

अवधारण किया जाता है ? क्या पक्ष का धर्म ही है, अथवा पक्ष का ही धर्म है ? प्रथमतः (तावत्) मान लिया जाये 'पक्ष का धर्म ही है'। किन्तु इस अवधारण का सामर्थ्य क्या है क्या इससे संभव होने का बोध कराया जाता है (अयोगव्यवच्छेद) अथवा असंभव होने की निवृत्ति की जाती है (अत्यन्तायोगव्यवच्छेद)। दोनों प्रकार से ही अवधारण का प्रयोजन (सामर्थ्य) नहीं है; क्योंकि संभव होने का बोध और असंभव होने की निवृत्ति अवधारण के विना भी जान ली जाती है और पक्ष के एकदेश में होने वाले का निराकरण नहीं किया जाता अतः अवधारण व्यर्थ है। (शङ्का) और, यदि इस अवधारण का प्रयोजन (अर्थः) व्याप्ति है, अर्थात् पक्ष का धर्म ही किन्तु अधर्म भी नहीं; और जो पक्ष के एकदेश में रहता है वह (पक्ष का) अधर्म भी है। [समाधान] ठीक है, इससे (पक्ष के) एकदेश में रहने वाले का निराकरण हो जाता है, परन्तु इसमें भी एक को संभालने के इच्छुक का (सन्धित्सोः) दूसरा खिसक (गिर) जाता है। इस प्रकार (पक्ष के) एकदेश में रहने वाले का निराकरण हो जाये किन्तु 'सपक्षे सिद्धः' यह पद किस लिये किया जाता है ? (प्रश्न) यह पद कैसे अनावश्यक (अनारम्यम् आरम्भ न करने योग्य) है ? (उत्तर) क्योंकि व्याप्ति के लिये किये गये अवधारण से यह गतार्थ है—'पक्ष का धर्म ही' इससे पक्ष नियत हो गया, धर्म नियत नहीं हुआ। उस अनियत (धर्म) की व्याप्त रूप से तथा अवधार्त रूप

नह्यसौ—पक्ष के एकदेश में रहने वाला भी पक्ष का धर्म ही, है यह सिद्धान्ती का कथन है। किम पुन:—सिद्धन्ती पूर्वपक्ष को दूषित करने के लिये विकल्प प्रस्तुत करता है। अस्तु तावत्—प्रथम विकल्प को लेकर दूषित किया गया है।

सामर्थ्यम् प्रयोजन से सम्बन्ध , प्रयोजनाभिसिम्बन्धः , टी० ५५९ , । संभवज्ञापन पक्ष में अज्ञा पन की निवृत्ति (अयोगव्यक्वछे) प्रयोजन है, विशेषणसंगतोतोद्घोवकारोऽयोगं व्यवच्छिनत्ति; यूषा चैत्रो धनुष्ठ र एव,हेतुविशेषणं चेदं पक्षधर्म एवेति, टी० ५५९ । असंभवनिवृति पक्ष में अत्यन्तायोग-व्यवच्छेद प्रयोजन है जैसे कमल नील होता ही है (नीलं सरोजं भवत्येव, ५५९) ।

न च -- यह दूसरी युक्ति दी गई है।

अथ - पूर्वपक्षी का आशय है: यहां एवकार अवोग की निशृत्ति करता है। 'पक्षधमें' एव यह हेतु

स्यायवात्तिकम्

बक्षो नियतः, धर्मोऽनियतः। तस्यानियतस्य (१) व्याप्त्याप्तिभ्यां तत्तुल्यविपक्षगितः तत्न विपक्षे नास्तोति प्रसन्तस्य प्रतिश्रेधो भवतु, 'सपक्षे सिद्धः' इत्येतत् पदं मा भूत्। अथ पुनिरदमवधारणमन्यथा क्रियते 'पक्षस्यैव' इति ? एवमप्युत्तरे द्वेऽिष पदे 'सपक्षे सिद्धो विपक्षे नास्ति' इति च वाधिते भवतः। कथम् ? सपक्षे सिद्ध इत्येतदवधारणार्थवाधितं 'पक्षस्यैव धर्मः सपक्षे च सिद्धः' इति। न हि लोके एवंप्रकाराणि वाक्यानि प्रवतंत्ते 'देवदत्तमेव भोजय यज्ञदत्तं च' इति। उत्तरं च पदं 'विपक्षे नास्तिमीति गम्यमानत्वात् न कार्यंम् । केन गम्यमानत्वादिति ? अवधारणेन, 'पक्षस्यैव धर्मः' स नान्यस्येति गम्यते (२) एवेति 'विपक्षे नास्ति' इति, एतन्न कर्तव्यमिति। न च पक्षेकदेशवृत्तिनिराक्रियत इति, यद्यंमवधारणं स एवाथों होयते इति। अथ पुनः सपक्षे सिद्ध इत्येतदिष, पदमवधारणार्थमेवारभ्यते 'सपक्ष एव सिद्धः', सिद्ध एव च सपक्षे

से सपक्ष (तत्तुल्य) तथा विपक्ष में गित होगी, वहां 'विपक्ष में नहीं होता' इस से प्राप्त हुए अनिष्ट का (प्रसक्तस्य) प्रतिपेध हो जायेगा अतः 'सपक्षे सिद्धः' यह पद न रक्खा जाये (निष्प्रयोजन है)। (प्रश्न) किन्तु यि यह अवधारण अन्य प्रकार से किया जाता है 'पक्ष का ही (धर्म)' इस प्रकार ? (उत्तर) इस प्रकार भी अग्रिम दोनों पद (१) 'सपक्षे सिद्धः, (२) विपक्षे नास्ति' वाधित हो जाते हैं। कैसे ? 'सपक्षे सिद्धः' यह अवधारण के अर्थ से वाधित होता है, पक्ष का ही धर्म है और सपक्ष में निश्चित है। लोक में इस प्रकार के वाक्य प्रवृत्त नहीं होते कि देवदत्त को ही भोजन कराओ और यज्ञदत्त को भी। और अग्रिम पद 'विपक्षे नास्ति' प्रतीत हो जाने के कारण न किया जाना चाहिये। (प्रश्न) किससे प्रतीत होने के कारण ? (उत्तर) अवधारण से, पक्ष का ही धर्म इससे यह प्रतीत हो ही जाता है वह अन्य का (धर्म) नहीं; अतः 'विपक्षे नास्ति' यह न करता चाहिये। किञ्च, पक्ष के एकदेश में रहने वाले का निराकरण नहीं होता जिसके लिये अवधारण किया गया है वही अर्थ नष्ट हो जाता है (शियने)। (शङ्का) यदि फिर 'सपन्ने सिद्धः' यह मी पद अवधारण के लिये ही किया जाता है अर्थात् सपक्ष में ही निश्चित तथा सपक्ष में निश्चित हो।

का विशेषण है अत: पक्ष के एकदेश में रहने वाले की म्यावृत्ति हो जाती है।

सत्यम - यहाँ पूर्वपक्ष का निराकरण किया गया है।

व्यप्त्यतिहराष्तिभ्याम् — यहाँ 'व्याप्त्यव्याप्तिभ्याम्' पाठ युवत प्रतीत होता है। व्याप्ति का अर्थ है सभी सपक्षों में रहना, सभी विपक्षों में न रहना तथा सपक्ष के एकदेश में रहना, विपक्ष के एकदेश में रहना 'अव्याप्ति' है।

प्रसक्तस्य---प्रसक्त होने वाले का 'प्रसृतस्य' पाठान्तर है जो युवत नहीं प्रतीत होता ।

उत्तरेऽपि हे पदे—हेतु के लक्षण में तीन पद हैं:—पक्षस्य धर्मः; सपक्षे सिद्धः, विपक्षे नास्ति' अवथारणार्थ... उत्तरमिष्—यहाँ यह स्पष्ट किया गया है कि पूर्व तथा उत्तर पद क्यों न करने वाक्रिये।

१. व्याप्त्यतिव्याप्तिक्याम्, इति प्रकाशितः पाठः। २. एतदिति, कः एवेति, ख

[839

[अवयवाः

न्यायवास्तिकम्

इति । कं पुनरस्मिन् पदेऽवधारणेन लभ्यते ? यदि संभवः, सोऽनवधारितोऽपि गम्यते स्था हित । अथ व्याप्तः, तज्जातीयस्पैकदेशवृत्तिरहेतुरिति प्राप्तम् । अथ सपक्ष विद्व इति । अथ व्याप्तः, तज्जातीयस्पैकदेशवृत्तिरहेतुरिति प्राप्तम् । अथ सपक्ष विद्व इति, तथापि पूर्वोत्तरे पदे व्याहते भवतः, पक्षस्य धर्मो विपक्षे नास्तीति अव-व्याप्यंबाधितत्वात् पूर्वमनारभ्यं गम्यमानत्वादुत्तरमि । अथ 'विपक्षे नास्ति' इत्येत-वृत्यवधारणार्थमेवेति ? अत्रापि किमवधार्यते विपक्ष एव नास्ति' इति, 'नास्त्येव विपक्षे इति ? यदि विपक्ष एव नास्ति तदा 'गौविषाणित्वाद्' इति हेतुः प्राप्तः एव हि विपक्ष एव नास्ति । अथ 'विपक्षे नास्त्येव' इति; न, पुनर्मध्यमस्य पदस्यानारम्भः । कथं पुनर्मध्यमस्य पदस्यानारम्भः । कथं पुनर्मध्यमस्य पदस्यानारम्भ इति ? तत्र पूर्वपदं व्याप्त्यर्थमुत्तरं पदं विपक्षेकदेशवृत्ति-प्रतिवेधार्थम् । अथ 'सपक्षे सिद्धः' इत्येतत् पदं किमर्थमारभ्यते इति ? यदि संभवार्थं व्याप्त्यर्थेनाद्येनावधारणेन संभवो लभ्यते इति व्यर्थम् । तदेतस्मिन् लक्षणे वृत्त्या सह विचार्यमाणेऽनिष्टहेतूपनिपातो वा, इष्टहेतुपरित्यागो वाभिन्नत्रस्तिहानिविति दोषाः ।

[समाधान] तो इस पद में अववारण से क्या प्राप्त होता है ? यदि संभव होना (आयोगव्यवच्छेद) ('सपक्ष में निश्चित') वह यहां अवधारण किये विना भी प्रतीत हो जाता है। यदि 'सभी सपक्षों में रहना' (व्याप्ति) तो उसके समान जातीय (सपक्ष) के एकदेश में रहने वाला हेतु नहीं, यह प्राप्त होता है। यदि सपक्ष में ही निश्चित' यह (अवधारण) होता है। तो भी पूर्व तथा अन्तिम (उत्तर) पदों का विरोध होता है, पक्ष का धर्म और विपक्ष में नहीं। इस अवधारण के अर्थ से वाधित होने के कारण पूर्वपद (पक्षस्य धर्मः) न करना चाहिये तथा प्रतीत हो जाने के कारण उत्तर पद (विपक्षे नास्ति) भी। यदि 'विपक्ष में नहीं है' यह भी अवधारण के लिये ही है यहां भी क्या अवधारण किया जाता है, विपक्ष में ही नहीं है अथवा विपक्ष में कहीं भी नहीं है ? यदि 'विपक्ष में ही नहीं है । (यह अवधारण है) तो 'यह गौ है सींग वाली होने से' यह हेतु हो जाता है; क्यों कि यह विपक्ष में ही नहीं है । यदि 'कहीं भी विपक्ष में नहीं है' (यह अवधारण है) तो (भी) ठीक नहीं, तब मध्यम पद (सपक्षे सिद्धः) न करना होगा। (प्रश्न) मध्यम पद क्यों न करना होगा? (उत्तर) उनमें पहला पद (पक्षस्य धर्मः) व्याप्ति (सभी पक्षों में हेत् का होना) के लिये है, उत्तरपद (विपक्षे नास्ति) विपक्ष के एकदेश में रहने का प्रतिपेध करने के लिये है, तब सपक्ष में निश्चित (सपक्षे सिद्धः) यह पद किस लिये किया जाता है। यदि संभव (आयोगव्यवच्छेद) के लिये तो व्याप्ति के लिये किये गये प्रथम अवधारण से संभव होना प्राप्त हो जाता है, अतः यह व्यर्थ है। इस प्रकार इस लक्षण में वृत्ति के साथ विचार किया जाने पर अनिष्ट हेतुओं की प्राप्ति (उपनिपातः), इष्ट हेतुओं का त्याग अथवा अभीष्ट की सीमा में आने वाले (अभिप्रेतग्रस्त) की हानि, ये दोष होते हैं।

अथ विपक्षे नास्ति-उत्तर पद भी अवधारण के लिये है, इसकीं समीक्षा की गई है।
मध्यमस्य पदस्यानारम्भ:-यहाँ मध्यम पद (सपक्षे सिद्धः) के प्रयोग का दीप दिखलाया गया है।

18.8.37

REX.

न्यायवात्तिकम्

हेतुर्विपक्षाद् विशेष इति च पदा सौत्रान्तिकपक्षमाश्रित्य लक्षणं विचायंते, तदा विपक्षासंभवात् हेर्तुविपक्षाद् विशेष इति च विपक्षार्थो चक्तव्यः । न ह्यसित विपक्षे विपक्षार्थं पश्योमः इति न चासिति पञ्चम्याः प्रयोगः संभवति । विपक्षादिति पञ्चमीविषयो वक्तव्यः । असित च विपक्षे नाधिकरणार्थः संभवतीति 'विपक्षे नास्ति' इति सप्तम्यर्थो वक्तव्यः । विपक्षासंभवे च सित पक्षतज्जातीयव्यापकत्वात् कृतकत्वादेः विशेषोऽर्थिश्चन्त्यः, कृतकत्वादिति तदा साधारणत्वात् सामान्यं न विशेष इति । तदेतन्तक्षणं स्वसिद्धान्तेनासङ्गतत्वादलक्षणमिति ।

यदिष हेतुर्वात्तकं बुवाणेनोक्तं सम्तिकासंभवे षट्प्रतिष्वेधाद् एकद्विपदपर्यं दासेन त्रिलक्षणो हेतुरिति। तदण्ययुक्तम् द्विपदलञ्जणयुक्तयोर्हेतुत्वात्। तत्र किल सम्तिका संभवति,

हेर्तुविपक्षाद्विशेषः' जब इस लक्षण पर सौत्रान्तिक के मत से विचार किया जाता है तब विपक्ष न हो सकने के कारण 'हेर्तुविपक्षाद् विशेषः' यहां विपक्ष का अर्थ (पदार्थ) कहना होगा, वयों कि (हि) विपक्ष के न होने पर (या विपक्ष के निरुपास्य अथवा अभावरूप होने पर) विपक्ष का अर्थ (पदार्थ) हम नहीं देखते। और तुच्छ या अभाव में पञ्चमी का प्रयोग नहीं हो सकता फिर 'विपक्षाद्' इस पञ्चमी का विषय कहना होगा। और, अभाव रूप विपक्ष में आधार अर्थ नहीं हो सकता अतः 'विपक्ष में नहीं' इस सप्तमी का अर्थ कहना होगा। किञ्च विपक्ष के न हो सकने पर पक्ष और उसके जाति वाले (सपक्ष) में व्यापक होने से कृतकत्व आदि का विशेष होना (विपक्षाद् विशेषः) चिन्तनीय है। तब 'कृतकत्वात्' इत्यादि साधारण होने से सामान्य होंगे विशेष नहीं। अतः यह लक्षण अपने सिद्धान्त (सौत्रान्तिक मत) से असंगत होने के कारण लक्षण नहीं।

(पूर्वपक्ष) जो हेतुवाक्तिक (?) की व्याख्या करते हुए (?) कहा गया है— सात रूप संभव होने पर छह का प्रतिषेध करके एक या दो पदों का पर्युदा स करने (हटाने) से तीन लक्षणों वाला (सद्) हेतु होता है। वह भी युक्त नहीं, दो पद के लक्षण से युक्तों (दो) के हेतु होने से। उनमें सात रूप ये सम्भव हैं

सौत्रान्तिकपक्षम्— सौतान्तिक किसी वश्तु को भी पित्य नहीं मानता तव 'शब्दौऽनित्यः इतक-वात्' यहां विषश्च नित्य कैसे होना, इस मत में सभी निश्चाख्य है तुच्छ है । न चासिति— निश्चाख्य जो विषश्च है उममें पञ्चमी तथा सप्तमी विभिन्त न हो सकेगी। विशेषोऽर्थिद्यन्त्य— जब विषश्च (नित्य) नहीं है तो 'कृतकत्वातृ' हेतु में विपक्षाद् विजेषः' का विया अर्थ होगा ? पक्ष तथा मपक्ष में होने से 'कृतकत्वात्, समान्य होगा विशेष नहीं यहाँ तो दो अवधारण किये गये हैं विशेष एव , विपक्षादेव । हेतुवात्तिकम्—यह प्रत्य का नाम है या हेतु विषयक वार्तिक ही हेतुवार्तिक है, यह विवाद होतुवार्त्तिकम्—यह प्रत्य का नाम है या हेतु विषयक वार्तिक ही हेतुवार्तिक है, यह विवाद का धिषय है (विशेष द्रष्ट्रिय , प्रस्तुत लेखक का शोषप्रत्य—वीद्वदर्शन का विवेनद ्रष्ट्रिय । सिप्तकासंभवे—हेतु तथा हेत्वाभास के सात रूप हो सकने पर। तद्यप्रतुत्तम्—विलक्षण ही सद्हेतु नहीं होता अपि तु द्विलक्षण भी सद् हेतु होता है।

न्यायवात्तिकम्

पक्षस्येव धर्मः, समान एव पक्षे सिद्धः, विपक्षे (एव)मास्ति पक्षस्य धर्मः समाने व सिद्धः, पक्षस्य धर्मां विपक्षे नास्तिः, समाने एव च सिद्धो विपक्षे नास्ति, पक्षस्य धर्मः समाने च सिद्धो विपक्षे नास्ति इति । तदेवं सि्तकासंभवे सित् पट्प्रतिषेधमुक्त् वा यद्यं विपद्धो विपक्षे नास्ति इति । तदेवं सि्तकासंभवे सित् पट्प्रतिषेधमुक्त् वा यद्यं विपदपर्दिष्ठेण त्रिलक्षणस्य हेतुतां शास्ति, तेनैक द्विपद्यं वासं ज्ञापयतीति । तच्च मैवम्, द्विपदलक्षणपुक्तयोहत्वाद् 'इति । अनभ्यु पगतिनत्यपक्षस्य कृतकत्वाद् 'इत्यव द्वाभ्यां लक्षणाभ्यामुपयुज्यते, 'प्रयत्नानन्तरीयकत्वाद् 'इति चानयोहत्वभावो न स्यात् । यश्चायं व्यतिरेकी हेतुः, 'नेदं निरात्मकं जीवच्छरीरमप्राणादिमस्वप्रसङ्गाद्' इत्येवमादिः स न हेतुः स्यात्, पदद्वयोपयोगादिति । तस्मात् 'हेतुविपक्षाद् विशेषः इत्येल्लक्षणं विचार्यं माणमनभिमतस्य वा हेतुत्वमापादयित, इष्टं वा बाधते, प्रन्थं वा निराकरोति, शास्त्रं वा बाधते इति ।

(एक पद) (१) पक्ष का ही धर्म, (२) सपक्ष में ही निश्चित (सिद्ध), (३) विपक्ष में (ही) नहीं, (दो पद) (४) पक्ष का धर्म और सपक्ष में निश्चित, (५) पक्ष का धर्म और सपक्ष में निश्चित, (५) पक्ष का धर्म विपक्ष में नहीं, (७) (तीन पद) पक्ष का धर्म और सपक्ष में निश्चित विपक्ष में नहीं। तब, इस प्रकार सात रूप संभव होने पर छह का प्रतिषेध बतलाकर जो यह (आचार्य) तीन पदों का ग्रहण करके तीन लक्षणों से युक्त के हेतु होने का उपदेश करता है (शास्ति) उससे एक या दो पदों का पर्यु दास सूचित करता है। [निराकरण] और वह ऐसा नहीं है, दो पद के लक्षण से युक्तों (दो) के हेतु होने से—जो (किसी की नित्यता) नित्यपक्ष को नहीं स्वीकारता उसके (मत में) 'कृतकत्वात्' यह हेतु दो लक्षणों से युक्त है और 'प्रयत्नानन्तरीयकत्व' मी; ये दोनों हेतु न होंगे। और जो यह व्यतिरेकी हेतु है 'यह जीवित शरीर आत्मारहित नहीं, प्राण आदि से रहित होने का प्रसंग होने से' इत्यादि, वह हेतु न होगा; क्योंकि इसमें दो पदों का (ही) उपयोग होता है। इस लिये 'हेतुविपक्षाद विशेष:' यह लक्षण विचार किया जाता हुआ अनिष्ट की हेतुता प्राप्त कराता है अथवा इष्ट का बाध करता है या ग्रन्थ का निराकरण करता है अथवा शास्त्र का वाध करता है

त्व किल सिन्तका संभवित—१ पक्षस्यव धर्मः इस लक्षण में असाधारण ही हेतृ होगा, जैसे पृथिवी नित्या गन्धवत्वात् । २. समान एवं सिद्धः में अश्वः विषाणी पणुत्वात् । यह हेतृ होगा (यहाँ टीका में गोत्वादिः हेतुःस्यात् 'ऐसा कहा गया है) । ३. विषक्षे एव नास्ति' में अनिस्त्यः शब्दः प्रमय-त्वात् यह हेतु होगा । इन तीनों में एवकार यह सूचित करता है कि ये स्वतन्त्व लक्षण हें । ये तीनों ही हेतु नहीं होते (टी० १५२) । ४. पक्षस्य धर्मः समाने च सिद्धः । इस लक्षण में सन्यभिचार भी हेतु होगा । १- पक्षस्य धर्मः विषक्षे नास्ति । इस लक्षण में असाधारण भी हेतु होगा । १- पक्षस्य धर्मः विषक्षे नास्ति । इस लक्षण में असाधारण भी हेतु होगा । एक द्विपद के पर्यं दास से ये छह हेतु नहीं होते सातवां विषदयुक्त हेतु होता है ।

द्रिपदलज्ञणयुक्तयोहेनुत्वात् —कृतकत्वात्, प्रयत्नानन्तरीयकत्वात् दो हेतु होते हैं। इसी प्रकार

दो पदों से युक्त लक्षण वाला व्यतिरेकी भी हेतु होता है।

१. अनभ्युगतनित्यपक्षस्य-प्रकाशित पुस्तकों में अनम्युगतानित्यपक्षस्य' यह पाठ है।

१.१.३५]

ः न्यायवास्तिकम्

'तत्र यः सन् सजातीये द्वेषा चासंस्तदत्यये' इत्यन्ये । अनेन सन् सजातीये द्वेषा चेति
= सन् सपक्षे द्वेषा च, 'असन् तदत्यये' इति = असपक्षे नास्तीति एतावता च किल लक्षणेन
त्रिलक्षणो हेनुर्जभ्यते, इति । यथाश्रुति न लभ्यते – यदि तावदेतल्लक्षणं यथाश्रुति मवित
'पक्षे विद्यते इति केनेतत् लभ्यते? ननु चोक्तं हेतुः तदाभासो वा प्रायः पक्षधमं एवेति ।
उक्तमेतत्, न पुनरनेन 'पक्षधमों हेनुरिति लभ्यते कि स्वरक्षधमों न हेतु, न हेत्वाभास
इति । अथाष्यर्थतो लभ्येत – अपक्षधमों न हेतुर्नहेत्वाभास इत्ययं यदि वाक्यार्थो मवित,
अर्थाद् गम्यते हेनुर्हेत्वाभासक्च पक्षधमं इति । सत्यम्, अर्थात् पक्षधमं गम्यते, न तु
व्यापको नियतो लभ्यते इति । अपक्षधमंनिवृत्तिमात्रत्वेन च संभवमात्र लभ्यते इति ।
तच्च देषा, व्यापकमव्यापकं च । तत्राव्यापकोऽनिष्टो हेनुः प्राप्तः । न प्राप्तः, पक्षधमं

(दिङ्नाग का हेतू लक्षण) उनमें जो सपक्ष (सजातीय) में होता है तथा द्वेधा (कहीं होता है कहीं नहीं) होता है और विपक्ष में नहीं होता (वह हेत है), यह अन्य (दिङ्नाग) कहते हैं। इस : सन्सजातीय द्वोधा च' = सपक्ष होने वाला और दो प्रकार होने वाला; 'असन् तदत्यये' = विपक्ष में न होने वाली इतने लक्षण से वस्तुतः तीन लक्षणों वाला हेतु प्राप्त हो जाता है। (समीक्षा) शब्दों के अनुसार (यथाश्रुति) नहीं प्राप्त होता है - यदि यह लक्षण जैसा सुना जाता है वैसा ही (यथाश्रति) होता है तो 'पक्ष में है' ('पक्षवर्मः) यह कैसे प्राप्त होता है। (आक्षेप) [दिङ्नाग ने] कहा (ही) हैं कि हेतु या हेत्वाभास प्रायः पक्ष का वर्म ही होता है। [परिहार] यह कहा गया है किन्तु इससे पक्ष का वर्म (ही) हेतु होता है, यह नहीं प्राप्त होता; किन्तु (यह प्राप्त होता है कि) अपक्ष का धर्म न हेतु होता है न हेत्वा-भास ही। (शङ्का) यदि अर्थतः प्राप्त हो जार्य-यदि पक्ष का धर्म न होने वाला (अपक्ष-धर्मः) हेत तथा हेत्वाभास नहीं होता, यह वाक्यार्थ होता है तो अर्थत: यह जात हो जाता है कि हेतु और हेत्वाभास पक्ष का धर्म होता है । [समाधान∥ ठीक है, अथंत: पक्ष-धर्म ज्ञात हो जाता है किन्तु सभी पक्षों में व्यापक है, नियत है (पक्षधर्म, एव = पक्ष का धर्म ही) यह नहीं प्राप्त होता । वस्तुतः अपक्ष-धर्म की निवृत्ति मात्र से (पक्ष में) संभावना मात्र प्राप्त होती है और वह दो प्रकार से होती है व्यापक रूप से तथा अब्यापक रूप से (सभी पक्षों मे अथवा किसी पक्ष में) उसमें जो ब्यापक नहीं ऐसा

अन्ये—दिङ्नाग इत्यादि (द्र० टी०) दिङ्नाग ने पक्ष में रहने वाले धर्म के नौ (१) हेनु तथा

हैःवाभासों का वर्णन किया (टी० ४.५२)। तत्र यः सन्—उन नौ प्रकारों में से दो हेतु हैं ग्रेष सात हैःवाभास । जो पक्ष का घर्म है, १. सपक्ष में विद्यमान है अथवा २ द्वोधा (कहीं है कहीं नहीं) किन्तु विपक्ष में नहीं वह हेतु है उससे विपरीत विरुद्ध है और अन्य सन्विग्ध (अनिश्चित) है। द्व० टी० ४.५२— ४.५३ वौद्धदर्शन का

विवेचन पृ० १६८—१७०)।
यथाश्रुति——जैसा सुना जाता है, शब्दों के अनुसार। इस कारिका में पक्षवर्ग शब्द नहीं है अतः
यह दोष दिया गया है।

नन् चोक्तम् — दिङ्नाग ने कहा है — साव्यधमीं यती हेतुस्तदाभासाश्च भूयसा (टी॰ ४४३)।

[अवयवाः

न्यायवात्तिकम्

एवेत्यिभिधानाद्—यः पक्षस्य धर्म एव स हेतुः, नत्वयं पक्षधर्म एव एकदेशवृत्तित्वात् । न, अवधारणस्यान्यार्थत्वात्—अन्यार्थमवधारणं भवन्तः कल्पयन्ति । किर्मर्थम् ? हेतुहेत्वाभासनियमज्ञापनार्थम् । तदवधारणमन्यार्थं सन् कथमव्यापकं निवर्तिद्यति ?
अथोभयकारि भवति, अव्यापकनिवृत्यर्थं च हेतुहेत्वाभास्ति र कापनार्थं च,
तथापि 'सन् सजातीये द्वेधा च' इत्यकरणीयम् । कथम् ? व्याप्त्यर्थं नावधारणेन पक्षो
नियतो धर्मस्त्वनियतः' इति । अनियतस्य व्याप्त्यव्याप्तिभ्यां धर्मस्य द्वौ राज्ञी शिष्यभाणौ
सजातीयः, तदत्ययव्च । तवातिप्रसन्तरसंस्तवत्यय इति युक्तम् । 'सन् सजातीये' इति
किमर्थम् ? यदि संभवार्थम्, तन्न, अनियमात्—व्याप्त्यव्याप्त्योः संभवो गम्यते इति,
किमनेन 'सन् सजावीये' इति ? द्वेधा चेति सर्वधा न वक्तयम् । इदं तावद् गम्यमान-

अनिष्ट (धर्म) हेत् होने लगता है। (आक्षेप) नहीं होता, पक्ष का धर्म ही, यह कहने से-जो पक्ष का धर्म ही है वह हेतु होता है, यह (अव्यापक, पक्ष में कहीं रहने वाला) तो 'पक्ष का धर्म ही' नहीं; क्योंकि (पक्ष के) एकदेश में रहता है। [परिहार] नहीं, अववारण (नियमन, एव अर्थ) के अन्य प्रयोजन के लिये होने से-आप (इसी अवधारण का अन्य प्रयोजन मानते हैं। क्या ? हेत् तथा हेत्वाभास का नियम वतलाने के लिये (अवधारण) है। वह अवधारण अन्य प्रयोजन के लिये होता हुआ अव्यापक की निद्रत्ति कैसे करेगा ? (शङ्का) यदि (अवधारण) दोनों कार्य करने वाला है, अव्यापक की निवृत्ति के लिये और हेतु तथा हेत्वाभास का नियम वतलाने के लिये भी। (समाधान) तो भी 'सन् सजातीये द्वेधा च' यह नहीं करना चाहिये। कैसे ? सभी सपक्षों में होने (व्याप्ति) के लिये किये गये अवधारण से पक्ष नियत हो गया, धर्म तो नियत नहीं हुआ। नियत न होने वाले धर्म के व्यापक रूप से रहने तथा व्यापक रूप से न रहने से दो वर्ग शेप रहते हैं सपक्ष तथा विपक्ष । उनमें अतिप्रसङ्ग होने से 'विपक्ष में न होना' (तदत्यये) वह कहना युक्त है किन्तु सपक्ष में होना (सन् सजातीये) यह किसलिये है ? यदि संभावना के लिये है तो ठीक नहीं, नियम न होने से — व्यापक रूप से या अव्यापक रूप से होना (संभव) जाना जाता है अतः 'सन् स गातीये' इस से क्या लाभ है ? 'हे घा च' यह विल्कुल नहीं कहना चाहिये। 'सन् सजातीये' यह तो ज्ञात हो जाने से न कहना चाहिये (गम्यमानत्वात) और 'सत्'

उद्यतमेतत्—परिहार का आशय है-इस कथन से यह नहीं प्रकट होता कि पक्ष का धम ही होता हैं। अथापि—शङ्का का अभिप्राय है कि अर्थतः यह प्रकट हो जाता है।

सत्यम्...प्राप्त:-अर्थतः केवल इतना प्रकट होता है कि जो पक्ष का धर्म नहीं वह हेतु तथा हेत्वाः भास नहीं होता पक्ष में सर्वव रहने वाला (व्यापक) हेतु होता है यह नहीं प्रकट होता अतः जो पक्ष में अव्यापक है वह भी हेतु हो जायेगा।

अपक्षधर्मिनिवृत्तिमात्रत्वेन अत्यन्त निवृत्ति का निषेध करने से पक्ष में धर्म का होना मात्र जानी जाता है नियत रूप से होना नहीं (टी० ४५३)।

अवधारणस्य — हेतु तथा हैत्वाभास ही पक्ष के धर्म होते है अन्य नहीं, इस वियम का बोध करावें के लिये अवधारण माना गया है (टी० ५५३)।

तथापि...इति - यहाँ 'सन् सजातीये देखा च' इसकी निरथंकता दिखलाई गई है।

न्यायवात्तिकम्

त्वात सन सजातीये इति न वनतन्यम् । सच्छव्देन न्याप्त्यव्याप्त्योः सामान्येनाभिधानात्, देधा चेति प्रमत्तवाक्यम । अथ मन्येत 'सन सजातीये' इत्यदधारणार्थमआरभ्यते' इति । अववारणार्थो युक्त आरम्भः, अवधारणं तु न युक्तम् । कथनिति ? यदि ताबदेवमव-धार्यते 'सन्तेव सजातीये' इति, प्रयत्नानन्तरीयकत्वं ते न हेतः । यस्मात प्रयत्ना-नन्तरीयकत्वं सदसदिष द्विधा चेति एतदवधारणार्थवाधितम । न हि भवति 'ब्राह्मणमेव भोजय क्षत्रियं चेति'। अथ 'सजातीये एव सन' इत्यवधार्यते, तथापि पूर्वोत्तरे बाधिते भवतः । कथम ? एकमवचारणार्थवाधितम्, एकं गम्यमानत्वात । अथ पुनर्हेधा चेत्यव-धारणार्थम् ? अद्यापि किमवयार्यते' कि सजातीये एव द्विया' द्विधैव सजातीये' इति । यदि तावत 'सजातीये एव द्विधा' नान्यत्र पक्षे न तदत्यये तद द्विथेत्युक्तं भवति । यद्वेवं 'सन् सजातीये' इति न करतं व्यम । प्राप्त्यये नावधारणेनाद्ये पदे सजातीये संभवस्योक्तत्वात, (होना) शब्द से ब्यापक रूप से होना तथा व्यापक रूप से न होने का, सामान्यत: कथन होने के कारण 'द्वेषा च' (और दो प्रकार से—कहीं होना कहीं नहीं) यह प्रमत्त का वात्रय होगा। यदि माना जाये कि 'सन् सजातीये' यह अवधारण के लिये किया जा रहा है तो अवधारण के लिये करना युक्तियुक्त है किन्तु अवधारण तो युक्त नहीं। (शङ्का) कैसे ? [समाधान] यदि तो ऐसा अवधारण किया जाता है 'सपक्ष में विद्यमान ही' (सन्तेव सजातीये) तव तुन्हारे मत में (ते) प्रयत्नानन्तरीयकत्व हेतु न होगा; क्योंकि प्रयत्नानन्तीयकत्व (घट आदि में) सत् और (विद्युत् आदि में) असत् होते हुए भी 'द्विधा च' से हेतु है (इति) किन्तु इस अवधारण (सन्नेव सजातीये) के अर्थ से बाबित है। ऐसा नहीं होता कि ब्राह्मण को ही भोजन कराओ और क्षत्रिय को भी। यदि 'सपक्ष में ही विद्यमान' यह अवधारण किया जाता है तो भी पूर्व पद (पक्षधर्मः) तथा उत्तर पद (विपक्षे नास्ति) बाधित हो जाते हैं। कैसे ? एक (पक्षधर्मः) अवधारण अर्थ से वाधित होता है और एक प्रतीत हो जाने के कारण (गम्यमानत्वात्) । (शङ्का) यदि फिर 'द्वेघा च' यह अवधारण के लिये है ? (समाधान) यहां भी क्या अवधारण किया जाता है, क्या 'सपक्ष में ही द्विधा' (कहीं सत् कहीं असत्) अथवा 'सपक्ष में द्विघा ही' । प्रथमतः यदि सपक्ष में ही द्विधा' तो अन्यत्र पक्ष में तथा विपक्ष में (तदत्यये) वह द्विघा नहीं होता, यह अर्थ होगा (उक्तं भवति) । यदि ऐसा है तो सपक्ष में होता है (सन् सर्वथा---'सन् सजातीये' इसका ग्रहण करने या न करने पर, 'सन् सजातीये' इत्यस्य उपादानेऽनुपादाने चेत्यर्थः, टी० ५५३। अथ मन्येत...न युक्तम् — यदि सन् सजातीये' यह अवधारण के लिये है तो यह अवधारण युक्त

नहीं है, इसकी व्याख्या है कथमिति...क्षित्रय चित । पूर्वोत्तरे—पक्ष धर्मः यह पूर्वपद है, विपक्षे नास्ति यह उत्तरपद है।

नान्यत पक्षे न तदत्यये — यदि 'सजातीये एव द्विषा' ऐसा अवधारण किया जाये तो 'सन् कजातीये' कहने की आवश्यकता नहीं, यद्यं वम् ... इत्ययुवतम्' तक इसकी व्यारया की गई है।

्रवायवात्तिकम् -

हिथा चेत्यन्यवदे हिथा निवृत्तिपरत्वात् । हिथा चेत्यभिधानात् संभवी गम्यत इति 'सन सजातीये इति सर्वया न वक्तत्यम् । सजातीय एव द्विधा चेत्यनेन वावधारणेन पक्ष व्याप्तिर्लभ्यत इति धर्म एव पक्षस्येति व्याप्त्यर्थमवधारणमित्ययुक्तम् । अथ मा मूत् सर्वपदावधारणव्याधात इति नावधारणम्, तथापि मध्यमे हे पदे अपि न कर्तव्ये । सोऽयं (१) गृहप्रवेशाक्षितारकाविनिर्गमन्याय इति । अथ पुनिर्विव सजातीय इति, तथापि कृतकत्वं न हेतु:, नह्यसौ सजातीये द्विधैव इति। त्रिलक्षणं च हेंतु बुवाणेन स्वसिद्धान्तो-पात्तवीद्विपदयुक्तयोः हेत्वोरहेतुत्वमुक्तं भवति । व्यतिरेकी च न हेतुरिति प्राप्तम् । नैव हेत्ररिति चेत, (२)कुतस्तस्य हेतुत्वे यत्न इत्यनुत्तरम् । अथ पुनरवधारणानि नैव क्रियन्ते, तथापि पक्षकदेशवृत्तिरनेकान्तिकश्चानुषक्तः इति । एतेन 'ग्राह्यधर्मस्तदंशेन व्याप्तो सजातीये) यह न करना चाहिये: क्योंकि आद्य पद (पक्षधमं) में प्राप्ति के लिये होने वाले अवधारण से सपक्ष में सम्भव (होना) कह दिया गया है, द्विधा च इसके द्वारा अन्य पद (पक्ष तथा विपक्ष) में दो प्रकार से होने की निवृत्ति कर दी गई है। द्विधा च' इस कथन से (सपक्ष में) होना प्रतीत हो जाता है, अत: 'सन सजातीगे' यह किसी भी दशा में (सर्वथा) नहीं कहना चाहिये। सपक्ष में ही दो प्रकार से (सजातीय एव द्विधा च) इस अवधारण से पक्ष में (हेत्) की व्यापक रूप से विद्यमानता (व्याप्तिः) प्राप्त हो जाती है अत: पक्ष का धर्म ही यह व्याप्ति के लिये अवधारणा है, यह कथन भी अयुक्त हे । (शङ्का) यदि सब पदों के अवधारण का विरोध न हो इसलिये (सजातीये एवं द्विधा — यह) अवधारण नहीं किया जाता। [सनात्रान] तथापि मध्य के दो पद (सन् सजातीये, द्वेघा) भी न करने चाहिये। वह घर में प्रवेश करते आँख के तारे का निकलना यह लोकोक्ति लागू होती है। (गृह प्रवेशाक्षितारकाविनिर्गमन्यायः)। फिर यदि सपक्ष में हिधा ही (हिधैव सजातीये) (यह द्वितीय विकल्प स्वीकार है) तो भी कृतकत्व हेतू न होगा; क्योंकि यह सपक्ष में दो प्रकार से ही नहीं होता। विञ्च, तीन लक्षणों वाला हेतु होता है, यह कहने वाले के द्वारा अपने सिद्धान्त में गृहीत दो पदों से युक्त दो हेतुओं की अहेतुता कह दी जाती है, और व्यतिरेकी हेतू नहीं ऐसा प्राप्त होता है। यदि (कहो) वह (व्यितरेकी) हेतु नहीं है तो उसके हेतु होने का यत्न क्यों किया गया है, अतः यह उत्तर नहीं। (शङ्का) फिर यदि अवधारण नहीं किये जाते (समाधान) तो भी पक्ष के एकदेश में रहने वाला और अनैकान्तिक हेतु हो जायेंगे (अनुपक्तः)।

आद्ये पढे-पक्षधर्म इस पद में।

अन्ये पदे — पक्ष तथा विषक्ष में 'द्विघा' की निवृत्ति करा देने से, अन्ये पदे ययोः पक्षधर्मः विषक्षास-त्वयोस्ते तथोक्ते । तत्र द्वैविघ्यं निराक्रियत इति 'टी० ४५३।

सन् सजातीये' इति सर्वया—सजातीये द्वेधा च' इति पदोपादाने चानुपादाने चेत्यर्थः, (टी०४४३)। अथ मा भूत्—सब पदों के अवधारण का विरोध होने से 'सजातीय एव द्वेधा' यह अवधारण छोड़ दिया जाये ।

तथापि मध्यमे हे पदे—सन् सजातीये द्विधेति मध्यमपद इत्यर्थः, टी० ११४। द्विधैव सजातीये—यहाँ द्वितीय अवधारण को दिखलाकर उसका निराकरण किया गया है। १. गडप्रवेश, क; गृहप्रवेश, ख. २. कतः, क; कतः. ख.

8.2.37

1308

वायवात्तिकम

हेतू:' इति प्रत्युक्तम् । अनेन चाव्यापकादिहें तुलँश्यते इति उक्तोत्तरमेतदपीति । असंस्त-दत्यय इत्येतदपि विपक्षे नास्तीत्यनेन समानिमिति ।

तादगविनाभाविधर्मोपदर्शनं हेतुरित्यपरे—तादशा विना न भवतीत्यनेन किल द्वयं लभ्यते, विपक्षासत्त्वं तादक्सत्त्वं च । उपदर्शनग्रहणेन किल पक्षे सत्त्वं लभ्यते । इत्येवं किल विलक्षणप्रविभावितात्मा पक्षो लभ्यते, इति । यत् तावत् तादगविनाभावि-ग्रहणाद विवक्ष अस्त्वं तादक्षर्वं च लभ्यत इति, तम्न युक्तम्। तादशा विना न भावीति एतस्माद् वचनाद् विपक्षे उसत्त्वं गम्यते, तादशे तु संभव इत्येतत् कृतः ? न ह्मयं नियमो यो विपक्षे नास्ति सोऽवश्यं सजातीयेऽस्तीति एवं च सित श्रावणत्वाद्यपि हेतुः प्राप्तः । श्रावणत्वाद्यपि तादशा विना न भवतीति । भवत् तावत् तादगविना-भाव्यभिधानात् तत्तज्जातीये संभवः, स पुनः पक्षे संभवतीत्येतत् कृतः ? नन्पदर्शन-

इससे 'पक्ष (ग्राह्म) का धर्म उसके अंश से व्याप्त होता हुआ हेत होता है' (प्रदेशान्तर में दिङ्नाग का हेतु लक्षण), इसका भी निराकरण हो गया । इससे (पक्ष में) अव्यापक होने वाला भी (च) हेतु हो जाता है, अतः इसका भी उत्तर कह दिया गया है। असन् तदत्यये (उसके अभाव में न होने वाला) यह भी विपक्ष में नहीं

होता, इसके समान ही है।

दूसरे (?) कहते हैं 'वैसे के अविनाभावी धर्म का उपदर्शन हेतु है-उस जैसे के विना जो नहीं होता, इससे निश्चय ही दो की प्राप्ति हो जाती है विपक्ष में न होना और उस जैसे (सपक्ष) में होना । उपदर्शन शब्द से पक्ष का धर्म प्राप्त होता है। इस प्रकार निश्चय ही तीन लक्षणों से बने स्वरूप वाला हेतु प्राप्त हो जाता है। [समीक्षा] प्रथमतः जो 'तादगविनाभावि' शब्द से विपक्ष में न होना तथा सपक्ष में होना प्राप्त होते हैं, वह युक्तियुक्त नहीं; क्योंकि उस जैसे के विना नहीं होता, इस कथन से विपक्ष में न होना जान लिया जाता है; किन्तु उस जैसे (सपक्ष) में होना यह किससे जाना जायेगा, वस्तुतः यह नियम नहीं कि जो विपक्ष में नहीं होता वह अवश्य सपक्ष में होता है। ऐसा होने पर तो 'श्रावणत्व आदि भी हेतु हो जायेगा श्रावणत्व आदि भी उस जैसे के (शब्द) विना नहीं होता। मान भी लिया जाये (भवतु तावद्) 'तादृगविनाभावि' कथन से सपक्ष में होना; किन्तु वह पक्ष में होता है, यह कैसे होगा ?

ग्राह्यधर्मः —िदग्नागस्यैव प्रदेशान्तरहेतुलक्षणम् । ग्राह्यधर्मः = पक्षधर्मः, तदंशेन = तस्यैव पक्ष-स्यांशेन साध्यधर्मसामान्येन व्याप्तो हेतुरिति ।.....तदंशेन व्याप्तः' इत्यस्य विवरणालोचनेन सपक्ष

सत्वं विपक्षाच्च व्यावृत्तिरित्यर्थः, टी॰ ५५४।

असस्तदत्यये इसका स्रोतं अज्ञात है, सिहावलोकितन्यायेन दूषयति, टी॰ ५५४। अपरे—इस लक्षण का स्रोत भी अज्ञात है, टीका से विदित होता है कि यह किसी बौद्ध आचार्य का ेलक्षण है (द्र० टी० ५५४)। तादृशा इत्यादि इसकी व्याख्या है।

त्रिलक्षणप्रविभावितात्मा—विलक्षणप्रविभागात्मा पाठान्तर है (ची० १९१६)। ंयत् तावत्.ा.प्रसङ्गः—यहाँ इसका दोष दिखलाया गया है (टी॰ ५५४)। श्रावणत्वात्—यह असाघारण हेत्वाभास है, तदुक्तोऽ साघारण इत्यर्थः, टी० ५५४ ।

[अवयवाः

न्यायवात्तिकम

ग्रहणादेतत् लभ्यते' इति ? न लभ्यते, उपदर्शनग्रहणस्याभिधानार्थत्वात्-उपदर्शनग्रहण-मिस्रधानार्थम्, उपदर्श्यतेऽनेनेति, न पुनरस्यैततत् सामर्थ्यमस्तीति पक्षे उन्यत्र चेति । क्य पुनरन्यत्र स्यात् ? यत्र संभवः । वत्र चास्य संभवः ? तज्जातीये । तस्मादेतदुक्तं भवित तज्जातीयाविनामाविनः तज्जातीय एवाभिधानं हेतुरिति । एवं च ते चाक्षुषत्वं हेतु-र्भवति । न हि चाक्षुषत्त्रमनित्यत्वेन विना भवतीति । उथेत्य वा भवतु ताद्गिवना-माविनो धर्मस्य पक्ष उपर्शनमिति, तथापि पक्षै कदेशवृत्तिं केन निराकरोषि ? उपदर्शन-ग्रहणेनेति चेत्, न, तस्य संभवमावज्ञापनार्थत्वात्-अथ मन्येत उपदर्शनग्रहणेन व्याप्ति-र्लभ्यते' इति, न युक्तन्, उपदर्शन्त्रहणस्य संभवमात्रज्ञापनार्थस्वात् - उपदर्शन-ग्रहणेन संभवमात्रं गम्यते, पक्षे स पुनर्व्यापक इति न युक्तम् । अथात्रापि केनचित न्याये-नावधारणानि कियेरन, तान्यव्यापकहेतुनिराकरणे ऽसमर्थानीति पूर्ववत् प्रसङ्गः।

(शङ्का) उपदर्शन शब्द से यह प्राप्त होता है। [समाधान] नहीं प्राप्त होता, उपदर्शन' शब्द के कथन अर्थ में होने से - उपदर्शन शब्द कथन (अभिधान) के अर्थ में है (इसकी ब्युत्पत्ति है) इससे दिखलाया जाता है, इसका यह सामर्थ्यं नहीं कि पक्ष में और अन्य स्थल में (होना दिखलाये)। (प्रश्त) किन्तु अन्य स्थल पर कहां हो सकता है ? (उत्तर) जहां होना सम्भव है। (प्रश्न) और, इसका कहां होना संभव है ? (उत्तर) सपक्ष में, इसलिये यह कहा जा सकता है 'सपक्ष के अविनाभावी का सपक्ष में ही कथन हेतु है'। और, इस प्रकार तुम्हारे मत में चाक्ष्यत्व हेतु हो जाता है; क्योंकि चाक्षपत्व अनित्यत्व के विना नहीं होता। अथवा यह स्वीकार करके (उपेत्य) भी कि उस जैसे अविनाभावी धर्म का पक्ष में उपदर्शन हेतु होता है, पक्ष के एकदेश में रहने वाले का किससे निराकरण करोगे ? यदि (कहो) उपदर्शन शब्द से तो (ठीक) नहीं, उसके (पक्ष में) होना मात्र का बोधक होने से — यदि माना जाये कि उपदर्शन शब्द से (हेतु का पक्ष में) व्यापक होना प्राप्त हो जाता है, यह युक्त नहीं; क्योंकि उपदर्शन शब्द (पक्ष में) होने मात्र का बोधक है-उपदर्शन शब्द से पक्ष में होना मात्र (संभवमात्र) जाना जाता है। और, वह पक्ष में व्यापक है, यह कहना युक्त नहीं। यदि यहां भी किसी न्याय से अवधारण किये जायें। तो वे (भी) (पक्ष में) अव्यापक के हेतु होने का निराकरण करने में असमर्थ होंगे, अतः पहले के समान ही प्रसङ्ग होगा।

भवतु तावत् — पूर्वपक्षका आशय है यदि यह मान लिया जाये की ताद्गविनाभावि' इस शब्द से विपक्ष में हेतु की सत्ता का निषेध होकर सपक्ष में सत्ता का बोध होता है; बयों कि विशेषनिषेधः शेषाभ्यनुज्ञानविषयः, टी० ५५४।

पक्षे संभवति - विशेष के निषेध से सभी शेषों की स्वीकृति होगी, इसमें प्रमाण नहीं (टी॰ ५४)। नं नू रदर्श राष्ट्रहणात - इसमे शङ्का करके 'न तल्ल म्यते' से परिहार किया गया है ं (टी० ४४४)।

न हि चाक्षुषत्वम् — बौद्धों के मत में नित्य रूपत्व आदि जाति का अभाव है' अतः चाक्षुपत्व' अनित्यत्व का अविनाभावी नहीं है (टी० ५५४)। उपेत्य - उपदर्शन' पद से पक्ष में हेतु की सत्ता का कथन है, यह मानकर भी पक्षकदेशवृत्ति में

दोष होगा।

2.8.3 %

1303

न्यायवात्तिकम्

यत् त्विदमुदाहरणमेतस्यन् प्रयत्नानन्तरीयकत्वादिरनित्यस्याग्नेधूम इति ।
तत्र यूमस्तावदग्नेतं त्रतिपादक इत्पुक्तम् । प्रयत्नानन्तरीयकत्वमप्यहेतुः । कृतः प्रयत्नानन्तरीयकत्वस्य पक्षावृत्तित्वात्—न हि प्रयत्नानन्तरीयकत्वं ज्ञब्दधमः । न किञ्चचछ्वदः
प्रयत्नानन्तरीयकोऽस्ति, संयोगविभागज्ञब्दयोनित्वात् ज्ञब्दस्य । अथ पारम्पर्येण प्रयत्नः
ज्ञब्दकारणम् ? पारम्पर्येण सर्वेऽर्थाः ज्ञब्दकारणमिति विज्ञोषणमयुक्तम् प्रयत्नानन्तरीयकत्वादिति । अभित्यः ज्ञब्दो यतस्यदुद्यते रिति वन्तव्यम् । यच्चेदं प्रयत्नानन्तरीयकत्वं ज्ञब्दस्यानित्यत्वे कारणं भावाभियानेनोच्यते, कि पुनन्तत्, कि जन्म उतोपलव्धरिति ? यदि तावत् जन्म, तन्नैव समर्थमिति प्रयत्नानन्तरीयकग्रहणं व्यर्थम्, न हि
भवत्यनित्यः ज्ञब्दो देवदतकृतकत्वादिति । अत एवं वन्नत्व्यं जन्मवस्यादिति । यदि

(बौद्ध) जो इसमें यह उदाहरण है कि प्रयत्नानन्तरीयकत्व आदि अनित्य का तथा अग्नि का धूम (हेतु होता) है। (समीक्षा) उनमें धूम तो अग्नि का बोधक नहीं, यह कहा जा चुका है। प्रयत्नानन्तरीयकत्व भी हेतु नहीं। क्यों ? प्रयत्नानन्तरीयकत्व के पक्ष में नहोंने से—वस्तुतः प्रयत्नानन्तरीयकत्व शब्द का धर्म नहीं, कोई भी शब्द प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होने वाला नहीं होता; क्योंकि शब्द के कारण (योनि) संयोग, विभाग और शब्द होते हैं। यदि परम्परा से प्रयत्न शब्द का कारण है तो परम्परा से सभी अर्थ (पदार्थ) शब्द के कारण होते हैं, अतः प्रय-त्नानन्तरीयकत्वाद्ं यह विशेषण अयुक्त है, क्योंकि शब्द अनित्य है उसकी उत्पत्ति होने से, यह कहना चाहिये। (शङ्का) और जो यह (कहा गया) है भावार्थक प्रत्यय (त्व) से प्रयत्नानन्तरीयकत्व को शब्द की अनित्यता में कारण कहा जाता है। (समाधान) तो वह (तत् = जो भाव प्रत्यय से हा जाता है) क्या है उत्पत्ति (जन्म) अथवा उपलब्धि ? यदि उत्पत्ति (जन्म) है तो वह (प्रयत्नानन्तरीयकत्व) जन्म को कहने में समर्थ नहीं; अतः प्रयत्नानन्तरीयक शब्द निरर्थक है; ऐसा तो (प्रयोग) होता नहीं 'शब्द अनित्य है देवदत्त द्वारा किया गया होने से'। इसलिये इस प्रकार कहना चाहिये 'जन्म वाला होने से' (जन्मवत्त्वात्)। यदि यह उत्पत्ति

यत् त्विदम् — लक्षण का दोप दिखाकर उदारहण का दोष दिखलाते हैं। एतस्मिन् = इस हेतु-लक्षण में।

प्रयत्नानन्तरीयकत्वस्य —िविकल्प यह है कि प्रयत्न से उत्पत्ति जो होती है वह साक्षात् या परम्परा से ? यदि साक्षात् तो प्रयत्न भव्द का साक्षात् कारण नहीं (पक्ष = भव्द)।

अथ पारम्पर्येण-यहां दूसरे विकल्प का दोष दिखलाया गया ।

यच्चेदम् — यहाँ भावप्रत्यय (त्व) से भावद की अनित्यता का कारण दिखलाया गया है। इसमें दो विकल्प हैं, प्रयत्न के अनन्तर भावद की उत्पत्ति होती है या उपलब्धि।

नैव समर्थम् प्रथम विकल्प का दोष दिखाया गया है कि प्रयत्नानन्तरीयकत्व ज्ञन्य पा उत्पत्ति का कथन करने में समर्थ नहीं। उत्पत्ति पक्ष में ऊपर दोष दिखलाया जा चुका है।

[अवयवाः

न्यायवास्तिकम्

चेदं जन्म व्यभिचारि भवेत्, ततः प्रयत्नानन्तरीयकत्वग्रहणमथंवत्,। किं कारणम् ? व्यभि-चारिणि विशेषणान्यर्थवन्ति भवन्तीति । अथोपलिब्धः प्रयत्नानन्तरीयकत्वादित्यनेन भावाभिधानेनोच्यते, एवमप्युपलब्धेरेव सामर्थ्यमस्तीति व्यर्थं विशेषणम् । न ह्युपलभ्य-मानं द्वेथा भवित नित्यमनित्यं च, प्रयत्नानन्तरमन्यथा चेति । अथ बूषे प्रयत्नानन्तरमु-पलभ्यमानं युष्माकं घटत्वं नित्यमिति, त्वयैवैतद् व्यभिचारितमिति, शब्दानित्यत्वानुमितौ प्रयत्नानन्तरीयकत्वं न हेतुः । अव्यापकं च प्रयत्नानन्तरीयकत्वम्, शब्दराशः पक्षी-कृतत्वात् । अथ शब्दविशेषं पत्रीकृत्योच्यते, तत्राप्याद्य एव प्रयत्नानन्तरीकत्वं सभवित, न द्वितीयादिष्विति अव्यापशत्वमनिवृत्तम् । अथ यः प्रयत्नानन्तरीयकः शब्दः सोऽनित्य इति ? तथाप्यन्यो हेतुर्वक्तव्यः । हेतोः पक्षविशेषणत्वेनोपात्तत्वात् ।

(अनित्यत्व की) व्यभिचारी हो ही, तब प्रयत्नानन्तरीयक शब्द सप्रयोजन होगा। क्या कारण है ? व्यभिचार होने पर विशेषण सार्थंक होते हैं। (दूसरा विकल्प) यदि प्रयत्नान्तरीयकत्व इस भावप्रत्ययान्त शब्द से उपलब्धि कहीं जाती है। इस प्रकार भी उपलब्धि का ही (अनित्यत्व को सिद्ध करने में) सामर्थ्य है, विशेषण व्यर्थ है; क्योंकि उपलब्ध होने वाली वस्तु दो प्रकार की नहीं होती नित्य तथा अनित्य; प्रयत्न के अनुत्तर (उपलब्ध) होने वाला तुम्हारा (नैयायिक का) घटत्व नित्य होता है [समाधान] तब तो तुम (बौद्ध) ने ही इसे व्यभिचारी दिखला दिया; अतः शब्द की अनित्यता के अनुमान में प्रयत्नान्तरीकत्व हेतु नहीं। किञ्च, प्रयत्नान्तरीयकत्व अव्यापक भी है; क्योंकि शब्दराशि को पक्ष बनाया गया है (सभी शब्द तो प्रयत्न से उत्पन्न नहीं होते)। यदि शब्दिवशेष (वर्णात्मक शब्द) को पक्ष बनाकर यह कहा जाता है, वहां भी प्रथम (वर्ण) में ही प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होना बन सकता है द्वितीय (शब्दाज वर्ण) आदि में नहीं; अतः (हेतु की) अव्यापकता निवृत्त नहीं होती। (शङ्का) यदि कहो जो शब्द प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होता है वह अनित्य का पक्ष (शब्द) के विशेषण के रूप में ग्रहण कर लिया गया है।

उपलब्धरेव सामर्थ्यम्-बौद्ध के मत में कोई उपलक्ष्यमान वस्तु नित्य नहीं होती; अतः उपलब्धि का विश्वेषण (प्रयत्नानन्तरीयकत्व' देना अनर्थक है (टी० ५५५)।

अथ ब्रूषे — यदि तैयायिक के मत में प्रयत्न के अनन्तर उपलम्यमान 'घटत्व' नित्य होता है। त्वरीवैतत् — समाधान का आशय है कि तुमने ही प्रयत्नानन्तरीयकत्व को व्यक्षिचारी दिखला दिया है फिर यह सद् हेतु कैसे होगा।

अव्यापकं च-यह हेतु अव्यापकं भी है क्योंकि अग्नि आदि से जो शब्द उत्पन्न होता है वह ती हमारे प्रयत्न से नहीं उत्पन्न हुआ करता।

2.2.34]

130%

न्यायवात्तिकम्

यदण्युक्तम् 'अप्रयत्नानन्तरीयकस्य त्रयो गितिरिति, किञ्चिन्नित्यमाकाशिद् एकेवाम्, किञ्चिदित्यं विद्युदादि, किञ्चिदसदेवाकाशकुमुमादि । इदं तन्महा-नैयायिकत्वं महावादित्वं च यत् तावद् असद् अप्रयत्नानन्तरीयकं च किञ्चिद्यचेति चित्रम् । नित्यं तु किञ्चिद् भवति, न पुनरप्रयत्नानन्तरीयकम्। न ह्याकाशम-प्रयत्नानन्तरीयकमिति शक्यं वक्तुम् । अप्रयत्नानन्तरीयकस्य जन्मिवशेषणार्थत्वात् । न चाकाशस्य जन्मास्ति । तस्मात् न प्रयत्नानन्तरीयकं नाष्यप्रयत्नानन्तरीयकमाकाश-मिति । एतेनाभावो व्याख्यातः अभावेऽप्येवमेवेति । तदेवमेतानि न हेतुलक्षणानि संभवन्तीति इदमेवार्षं हेतुलक्षणं न्याय्यमिति । ११११३ ॥

(दूसरों का उदाहरण विचार) जो यह कहा है: अप्रयत्नानन्तरीयक (प्रयत्न के बिना उत्पन्न होने वाले) की तीन गतियाँ होती हैं—कुछ नित्य हैं; जैसे किन्हीं के (मत में) आकाश आदि, कुछ अनित्य हैं विद्युत् आदि और कुछ असत् ही होता है आकाशपुष्प आदि । [समीक्षा] यह तो (आपका) महान् तार्किक होना तथा महान् वादी होना है (उपहास); जो असत् है वह प्रयत्न के बिना उत्पन्न होने वाला (अप्रयत्नानन्तरीयक) है और वह कुछ है, यह तो विचित्र है। नित्य तो कुछ होता है किन्तु अप्रयत्नानन्तरीयक नहीं। वस्तुतः (हि) आकाश अप्रयत्नानन्तरीयक है, यह नहीं कहा जा सकता अप्रयत्नानन्तरीयक (शब्द) तो जन्म के विशेषण के लिये है और आकाश का जन्म नहीं होता। इसलिये आकाश न प्रयत्नानन्तरीयक है, न अप्रयत्नानन्तरीयक है। इससे अभाव (जो नैयायिकों का अभिमत है, टी०) की भी व्याख्या कर दी गई। अभाव भी ऐसा ही होता है। तब इस प्रकार ये हेतु के लक्षण नहीं हो सकते अतः यह ऋषिकृत (आर्षम्) हेतु का लक्षण ही युक्तियुक्त है।१।१।३५॥

राब्दिविशोषम् — वर्णात्मक शब्द, तत्रापि — यह ृिनिराकरण है, ृिउनमें भी प्रथम वर्ण ही प्रयत्नानन्तरीयक हो सकता है, दितीय आदि वर्ण नहीं (टी० ५५५)।

अथ य:—शङ्का का भाव है कि विशेष जो प्रयत्नानन्तरीयकत्व है वह धर्मी का विशेषण है और सामान्य जो प्रयत्नानन्तरीयकत्व है वह हेत् है (टी० ५५५)।

तथाप्यन्य:—समाधान का भाव है कि बौद्धभत में हमारे समान विशेष से भिन्न कोई परमार्थसत् सामान्य नहीं होता और किल्पत सामान्य को विशेष से भिन्न नहीं किया जा सकता।

यदप्युक्तम् — यहाँ बौद्धों के उदाहरण-सम्बन्धी विचार को प्रस्तुत किया गया है।

इदं तत् इति-यहां इस विचार का दोष दिखलाया गया है।

नित्यं तु किञ्चिद् भविति—ित्रय में धर्म का सम्बन्ध हो सकता है किन्तु आकाश में अप्रयत्नानन्त-रीयकत्व नहीं हो सकता । यहाँ 'त्व' प्रत्यय द्वारा जन्म को प्रकट किया गया है। जिसका जन्म ही नहीं होता उसको प्रयत्नानन्तरीयक था अप्रयत्नानन्तरीयक कैसे कहा जा सकता है।

एतेनाभावः---अभाव का भी अपने कारण में समवाय या जन्म नहीं होता अतः उसमें भी विशेषण का सम्बन्ध न होगा।

तदेवम् - थहाँ हेतुलज्ञण का उपसंहार किया गया है।

[अवयवाः

न्यायसूत्रं भाष्यं च

साध्यसाधम्यतिद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहरणम् १।१।३६॥

साध्येन साधम्यं समानधर्मता । साध्यसाधम्यात् कारणात् तद्धमंभावी हिटान्त इति । तस्य धर्मस्तद्धमः, तस्येति साध्यस्य । साध्यं च द्विविधम्, धर्मिविश्व वा धर्मः 'शब्दस्यानित्यत्वम्,' धर्मिविशिष्टो वा धर्मो 'अनित्यः शब्द इति । इहोत्तरं तद्ग्रहणेन गृह्यते इति । कस्मात् ? पृथग्धमंवचनात्। तस्य धर्मस्तद्धमः, तद्धमंस्य भावः—तद्धमंभावः । स यस्मिन् हष्टान्ते वर्तते स हष्टान्तः, तद्धमंभावो । यस्मिन् दृष्टान्ते साध्यसाधम्यादुत्पत्ति-धर्मकत्वात् साध्यस्य धर्मोऽनित्यत्वं भवित स दृष्टान्तः, साध्यसाधम्याद् उत्पत्तिधमंकत्वात् तद्धमंभावो भवितः स चोदाहरणमिष्यते । स्थाल्यादि दृष्यमुत्पत्तिधमंकम्मनित्यं दृष्टमिति । तत्र यदुत्पद्यते तदुत्पत्तिधमंकम्

साध्य के साधम्यं से उस (साध्य) के धर्म वाला दृष्टान्त उदाहरण है। १।१।३६

साध्य के साथ साधम्यं अर्थात् समान धर्मवाला होना । साध्यसाधम्यं के कारण उसके धर्म वाला इष्टान्त है । उसका धर्म = तद्धमं, उसका अर्थात् साध्य का । और साध्य दो प्रकार का है, धर्मी से विशिष्ट धर्म; जैसे शब्द की अनित्यता अथवा धर्म से विशिष्ट धर्मी; जैसे शब्द की अनित्यता अथवा धर्म से विशिष्ट धर्मी; जैसे शब्द अनित्य है । (यहाँ धर्मी है शब्द और धर्म है अनित्य होना) । यहाँ तद् (उस) शब्द से दूसरा (उत्तरम्) गृहीत होता है । क्यों ? धर्म शब्द के पृथक् कथन से । उसका धर्म = तद्धमं, उसके धर्म का होना = तद्धमंमाव, यह जिस द्वान्त में विद्यमान होता है वह द्वान्त तद्धमंभावी है; अर्थात् जिस द्वान्त में साध्य के धर्म वाला = उत्पत्ति धर्म वाला होने से साध्य के धर्म वाला (अनित्य) होता है । और वह (द्वान्त) उदाहरण माना जाता है । स्थाली (पतीली, बटलोही) आदि द्वा उत्पत्ति धर्म वाला है, उसे अनित्य देखा गया है । वहाँ (तत्र) जो उत्पन्न होता है वह उत्पत्ति धर्म वाला है और वह विद्यमान होकर

उदाहरणम् - यहाँ कमप्राप्त उदाहरण का लक्षण दिया गया है।

साध्यसाधर्म्यात्—साध्य है घर्मी शब्द । शब्द अनित्य है, यह सिद्ध करना है । शब्द का समान धर्म कृतकत्व — उत्पत्तिधर्म वाला होना स्थाली आदि में है यही साध्य का साधर्म्य है । यह अनित्य रूप से साध्य शब्द में तथा स्थाली आदि में समान ही है । इसके कारण से या निमित्त से स्थाली आदि भी—

तद्धर्मं भावी — उस साध्य (धर्मी शब्द) का जो अन्य धर्म है अनित्यत्व, जिससे विशिष्ट शब्द को सिद्ध करना अभीष्ट है वह अनित्यत्व तद्धर्म है। वह जिस स्थाली आदि में विद्यमान है वह स्थाली आदि तद्धर्मभावी है (भावः = तद्भावः) उस धर्म वाला है। ऐसे दृष्टान्त से उपलक्षित वचन = उसके विषय में कहा गया वचन ही उदाहरण है (द्व० टी० ४६२)।

१.१.३६]

न्यायभाष्यम्

तच्च भूत्वा न भवति, आत्मानं जहाति निरुध्यत इत्यनित्यम् । एवमुत्पत्ति-धर्मकत्वं साधनम्, अनित्यत्वं साध्यम् । सोऽयमेकस्मिन् द्वयोधंर्मयोः साध्यसाधनभावः साधर्म्याद् व्यवस्थित उपलभ्यते । तं दृष्टान्त उपलभमानः शब्देऽप्नुमिनोति, 'शब्दोप्युत्पत्तिधर्मकत्वादनित्यः स्थाल्यादिवदिति । उदा-हियतेऽनेन धर्मयोः साध्यसाधनभाव इत्युदाहरणम् । १।१।३६ ॥

न्यायवात्तिकम्

साध्यसाधर्म्यात् तद्धमंभावी दृष्टान्त उदाहरणिमित सूत्रम् । अस्योदाहरणोपलक्षणमर्थः । साध्यस्य साध्यम्यं साध्येन समानधर्म ता । अत्रापि साध्येनंव साधर्म्यमेव न
पुनरसाध्येनापि, साधर्म्यमेव साध्येन न पुनवधर्म्यमिप । यस्मात् साध्यसाधर्म्यात्
तद्धमंभावी भवति । कि कुतिश्चत् साध्यसाधर्म्यात् तद्धमंभादी न भवति ?

फिर नहीं रहता अपने रूप (आत्मानम् स्वरूपम्) को छोड़ देता है, नष्ट हो जाता
है इसलिये अनित्य है । इस प्रकार उत्पत्ति धर्म वाला होना साधन (हेतु) है, अनित्य
होना साध्य है । बह यह एक (धर्मी) में दो धर्मों का साध्य-साधन-सम्बन्ध नियत रूप
से (व्यवस्थितः) उपलब्ध होता है । उस (सम्बन्ध) को दृष्टान्त में देखता हुआ
(व्यक्ति) शब्द में अनुमित करता है कि शब्द भी उत्पत्ति धर्म वाला होने से अनित्य
है, स्थाली आदि के समान । इससे दो धर्मों के साध्य-साधन-भाव का उदाहरण
दिया जाता है, अतः यह उदाहरण है । १।१।३६॥

साध्यसाधर्म्यात् इत्यादि सूत्र है। इसका प्रयोजन है उदाहरण को उपलक्षित करना। साध्य का साधर्म्य है साध्य के समान धर्म वाला होना, यहाँ भी (अवधारण है) साध्य से ही, साधर्म्य ही—िकन्तु जो साध्य न हो (असाध्य) उससे नहीं, साध्य के साथ साधर्म्य ही किन्तु वैधर्म्य भी नहीं; क्योकि साध्य के साधर्म्य से उसके धर्म वाला होता है। (प्रक्त) क्या किसी (भी) साध्य के साधर्म्य से (द्यान्त) तद्धमंभावी नहीं होता? (उत्तर) नहीं भी होता; जैसे अमूर्तत्व आदि से कर्म की

वृत्ति होती है; साधर्म्बमेव, इससे भागासिद्ध की व्यावृत्ति होती है (टी • १६२)।

अनित्यम्—तच्च... इत्यनित्यम्, यहाँ अनित्य का स्वरूप दिखलाया गया है, जो होकर नहीं रहता, नष्ट हो जाता है वह अनित्य है। अनित्य का यह स्वरूप बौद्धदर्शन की अनित्यता से भिन्न है। एकस्मिन्—स्थाली (या घट आदि) में उत्पत्तिधर्मकत्व रूप साधन और आनेत्यत्व रूप साध्य धर्म

को देखकर शब्द में भी अनित्यत्व का अनुमान कर लेता है।

सूत्रम्—यह उदाहरणसामान्य के लक्षण को भी सूचित करता है—सूचनात् सूत्रम्।

उपलक्षणमर्थ:—अर्थ:—प्रयोजन। दृष्टान्त अर्थे ह्प है, उदाहरण वचन हप है। स्वरूप से दृष्टान्त अर्थे ह्प है, उदाहरण वचन हप है। स्वरूप से दृष्टान्त अर्थे ह्प है, उदाहरण वचन हप है। स्वरूप से दृष्टान्त अर्थे हप अपने बोधक वचन का उपलक्षण है जिससे यह उदाहरण का लक्षण हो जाता है, समानजातीय प्रतिज्ञा आदि से और भिन्नजातीय प्रमाण आदि से उदाहरण की पृथक्ता दिखला देता है तथा उदाहरण का समानाधिकरण भी हो जाता है।

अत्रापि—यहाँ भी दो अवधारण हैं: साध्ये नैव साध्यम्यम्, इससे सव्यभिचार हेत्वाभास की व्या-

[अवयवाः

न्यायवार्तितकम्

न भवत्यपि, यथा अमूर्तत्वादेः कर्मणः । तस्मात् साध्यसाधर्म्यात् यस्तद्धमा भवति स भवति तद्धर्मभावी । सोऽयं दृष्टान्तः साध्यसाधर्म्यात् तद्धर्मभावित्वेन विशेषणेन युज्यमान उदाहरणं भवति, उदाहि यतेऽनेन धर्मयोः साध्यसाधनभावः, इत्युदाहरणम् ।

ननु च करणकारकपरिग्राहत् क्चनमुदाहरणम्, वृष्टान्तश्चार्थः, न चानयोः सामानाधिकरण्यं युज्यते, न हि विषाणादिमद् इत्यिशिधानं गवा समानाधिकरणं भविति । नैष दोषः, वचनिवशेषणःवेन वृष्टान्तस्योगा दानात्, न स्वतन्त्रो, वृष्टान्त उदाहणम् किं तु साध्यसाधम्यात् तद्धर्मभादिः वे स्ति, उभिधीरमः इति । तद्धर्मभाविति, तस्य धर्मः = तद्धर्मः, तस्येति साध्यस्य । साध्यं द्वेषा

(नित्यता) नहीं होती । इसिलये जो साध्य के साधम्यं से उस (साध्य) के धर्म वाला होता है, वह तद्धर्मभावी होता है। वह यह दृष्टान्त साध्य के समान धर्म वाला होने से उसके धर्म वाला होने के विशेषण से युक्त होकर उदाहरण होता है; इससे दो धर्मों का साध्य—साधन—भाव उदाहरण रूप में दिया जाता है अत: यह उदाहरण है।

(आक्षेप) (ननु च) यहाँ करण कारक (उदाहि यतेऽनेन) का ग्रहण करने से वचन उदाहरण है और दृष्टान्त (एक) अर्थ है। किन्तु इन दोनों (वचन और अर्थ) का समानाधिकरण होना युक्त नहीं; क्योंकि सींगो वाला है, यह वचन (अभिधानम्) गौ का समानाधिकरण नहीं होता। [परिहार] यह दोष नहीं है वस्तुतः (यहाँ) वचन के विशेषण (उपलक्षण) रूप में दृष्टान्त का ग्रहण किया गया है; स्वतन्त्र दृष्टान्त उदाहरण नहीं होता किन्तु साध्य के साधम्यं के कारण उस (साध्य) के धर्म वाला है, इस रूप में कहा गया ही। उसके धर्म वाला होने (तद्धमंभावी) का अर्थ है: उसका धर्म तद्धमं है उस का अर्थात् साध्य का। साध्य दो प्रकार का होता है एक धर्म और दूसरा धर्मी। कभी धर्म विशेषण रूप होता है कभी धर्मी विशेषण

कि कुतिश्चित्—प्रश्न का आशय है: दोनों अवधारणों से दृष्टान्त अवश्य ही तद्धर्मभावी होगा किर इस (तद्धमभावी) शब्द की क्या आवश्यकतो है ?

न भवत्यि — उत्तर का भाव है: नित्यः शब्दः अमूर्तत्वात् कर्मवत्' यहाँ अमूर्तत्व धर्म से साधम्यं होने पर भी कर्म नित्य नहीं होता। अतः साध्यसाधम्यं शब्द से प्रकट होता है कि साधन-विकल उदाहरण महीं होता; 'तद्धमं मावी' शब्द से दिखलाया गया है साध्यविकल भी उदाहरण नहीं होता। फलतः दोनों विशेषणों से उभयविकल उदाहरण नहीं होता, यह दिखलाया गया है। (द्र० टी० १६२-१६३)। उदाहियते — भाष्यकार ने जो उदाहरण शब्द की निरुक्ति दिखलाई है वही वार्तिककार ने दी है। ननु च — आक्षेप का आशय है कि 'उदाहियतेऽनेन' यहाँ करण कारक का ग्रहण होने से उदाहरण वचन रूप में है और दृष्टान्त अर्थ रूप में है अतः दोनों का सामानाधिकरण्य न होगा।

2.2.3 4]

308

न्यायवात्तिकम्

भवित धर्मी धर्मी च । एकदा धर्मी विशेषणत्वेन, अन्यदा धर्मी विशेषणत्वेनेति। तस्येति धर्मग्रहणं युक्तम्, पृथग् धर्म स्य ग्रहणात् । यस्माच्च धर्मिणो धर्मा उत्पत्तिधर्मकत्वा-दयो न धर्म स्य । धर्म च साध्ये उदाहरणसाधर्म्णदिति व्याघातः । न हि धर्म स्योदाहर ण न किञ्चित् साधन्य म् कि तु धर्मिणः । साध्यसाधर्म्यं चोदाहरणस्य धर्मिणः एव साध्ये चोपसंहारो धर्मिण्येव । तस्माद धर्मी साध्य इति । तस्य धर्मिणः साध्यस्य यो धर्मः स यस्मिन् इष्टान्ते भवित विद्यते, स इष्टान्त उदाहरणम् । उदाहरणं स्थाल्यादि द्रव्यमिति तदुत्पत्तिवर्मकं च चानित्यं इष्टमिति । १। १। ३६।।

होता है। उसका (तस्य) शब्द से धर्मी का ग्रहण करना युक्त है; क्योंकि धर्म का पृथक् ग्रहण किया गया है और क्योंकि उत्पत्ति धर्म वाला होना आदि धर्मी के धर्म हैं, धर्म के नहीं। (वाक्तिककार की युक्ति) किञ्च, धर्म के साध्य होने पर उदाहरण के समान धर्म वाला होने से (उदाहरणसाधम्यात्) इसका विरोध होता है। वस्तुतः (हि) धर्म का उदाहरण के साथ कुछ साधम्यं नहीं है किन्तु धर्मी का है उदाहरण का साध्य के साथ जो साधम्यं है वह धर्मी का ही है और साध्य में धर्मी का ही उपसंहार होता है। इसलिये धर्मी साध्य है। उस धर्मी अर्थात् साध्य का जो धर्म है वह जिस इच्टान्त में विद्यमान होता है (भवित = विद्यते) वह इच्टान्त उदाहण है। जैसे (यहाँ) उदाहरण है स्थाली आदि द्रव्य, वह उत्पत्ति धर्म वाला तथा अनित्य देखा गया है। १११।३६॥

नैष दोष:— परिहार का भाव है: दृष्टान्त यहाँ वचन का विशेषण है, वह केवल उपलक्षण है, दृष्टान्त से उपलक्षित वचन उद।हरण होता है।

तम्धेतिधर्मिग्रहणम्...न धर्मस्य यहाँ भाष्यकार का मत दिखलाया गया है। भाष्यकार ने तद्धमंभावीं इस सूत्रस्थ पद की व्यास्या के लिये जो 'तस्य धर्म' आदि कहा है उसी की यह व्याख्या है।

धर्मे च साध्ये — यहाँ वार्तिककार ने अपने मत से यह दिखलाया है कि 'तस्य' शब्द द्वारा धर्मी का ग्रहण होता है धर्म का नहीं।

तस्मात् धर्मी साध्यः - यह सिद्धान्त का उपसंहार किया गथा है।

भवित विद्यते—यहाँ 'भवित' किया 'जायते' (उत्पन्न होता है) के अर्थ में नहीं अपि तु 'विद्यते' (विद्यमान है) के अर्थ में है । जिस प्रकार बीज से अङ्कर्र होता है (जायते) इस प्रकार कृतकरव से स्थाली आदि की अनित्यता नहीं होती अपि तु कृतकरव धर्म होने के कारण स्थाली आदि में अनित्यता होती है, अतः भवित = विद्यते (द्र० टी० ५६३)।

तद्विपर्ययाद्वा विपरीतम् ।१।१।३७॥

दृष्टान्त उदाहरणिमिति प्रकृतम् । साध्यवैधर्म्याद्तद्धर्मभावो च हृष्टान्त उदाहरणिमिति । अनित्यः शब्द उत्पत्तिधर्मकत्वातः अनुत्पत्तिधर्मकं नित्यमात्मादि । सोध्यमात्मादिवृष्टान्तः साध्यवैधर्म्याद् अनुत्पत्तिधर्मकत्वाद् अतद्भंभावी-योऽसौ साध्यस्य धर्मोऽनित्यत्वं स तिस्मन् न भवतीति । 'अत्रात्मादौ दृष्टान्त उत्पत्तिधर्मकत्वस्याभावाद अनित्यत्वं न भवतीति । उपलभमानः शब्दे विपर्ययमनुमिनोति, उत्पत्तिधर्मकत्वस्य भावाद अनित्यः शब्दः' इति ।

साधम्योक्तस्य हेतोः साध्यसाधम्यात् तद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहरणम्। वैधम्यां क्तस्य हेतोः साध्यवैधम्याद् अतद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहरणम्। पूर्वस्मिन् दृष्टान्ते यौ तौ धमौं साध्यसाधनभूतौ पश्यात,
साध्येऽपि तयोः साध्यसाधनभावम् अनुमिनोति । उत्तरिसम्
दृष्टान्ते ययोर्धर्मयारेकस्याभावाद् इतरस्याभावं पश्यति

(अथवा उस साध्य) के वैधम्यं से वैधम्यं (विपरीत) उदाहरण होता है। १।१।३७॥ हिष्टान्त उदाहरण है, यह प्रकरण से आ रहा है। साध्य के वैधम्यं से उस (साध्य) के धमं वाला न होता हुआ (अतद्धमंभावी) हष्टान्त उदाहरण है। शब्द अनित्य है, उत्पत्तिधमंवाला होने से, जो उत्पत्ति धमं वाला नहीं होता वह नित्य होता है जैसे आत्मा आदि। वह यह आत्मा आदि हष्टान्त साध्य के वैधम्यं से अर्थात् अनुत्पत्ति धमं वाला होने के कारण उस (साध्य) के धमं वाला नहीं होता-—जो यह साध्य का धमं है अनित्यता वह उस (आत्मा आदि) में नहीं होता। यहाँ आत्मा आदि हष्टान्त में उत्पत्ति धमं वाला होने का अभाव होने से अनित्यता नहीं होती।, यह जानने वाला शब्द में उसके विपरीत (अनित्यता) होने का अनुमान कर लेता है कि उत्पत्ति धमं वाला होने के कारण शब्द अनित्यता है।

साधम्यं से उक्त हेतु का साध्य के साधम्यं से उस (साध्य) के धर्म वाला हिंदान्त उदाहरण है, वैधम्यं से उक्त हेतु का साध्य के वैधम्यं से उस (साध्य) के धर्म वाला न होता हुआ हथ्टान्त उदाहरण है। पहले हप्टान्त में जिन दो धर्मों को साध्य और साधन के रूप में देखता है साध्य में भी उनके साध्य तथा साधन होने का अनुमान कर लेता है। दूसरे हथ्टान्त में जिन दो धर्मों में से एक के अभाव के कारण दूपरे का अभाव देखता है उनमें से एक के न होने के कारण दूसरे का न होन 'तहिपर्ययाद्—यह वैधम्योंदाहरण का लक्षण है। यहां ऊपर के सूत्र से उदाहरणम्' शब्द की

'तिह्रपर्ययाद्—यह वैधम्योंदाहरण का लक्षण है। यहां ऊपर के सूत्र से उदाहरणम्' शब्द की अनवृत्ति होती है। भाष्यकार ने पदों की परिवर्तित करके (परि०) व्याख्यान सहित सूत्र की साँध्यवैद्यम्यात्' इत्यादि भाष्य में दिया है।

अनित्यः शब्दः...नित्यमात्मादि—यहाँ भाष्यकार ने पूर्वसूत्र में दिया गया अन्वयव्यितरेकी हेतु का उदाहरण ही दिया है और साधन धर्म के अभाव में साध्य धर्म का अभाव दिखलाया है। बातिककार तथा टीकाकार की दृष्टि में वह युक्त नहीं, अन्वय-व्यितरेकी हेतु में वैधम्यं होने पर भी स धम्यौदाहरण दिखलाना ही उचित है:—(१) वैधम्यं प्रतीति साधम्यं-प्रतीति पूर्वक ही होती है (२) जो कार्य सीधे मार्ग से सिद्ध हो जाये उसे वक मार्ग से सिद्ध करना युक्त नहीं (ऋजुसार्गण सिध्यतोऽयंस्य वक्रेण साधनायोगात्)। किञ्च, भाव पदार्थों का जिस प्रकार का व्याप्यव्यापकभाव दिखलाया जाता है, उनके अभावों का उससे विपरीत होना चाहिये (द्व० टी० ५६७)।

न्यायभाष्यम्

तयोरेकतरस्याभावाद् इतरस्याभावं (१) साध्ये जुमिनोतीति । तदेतद् हेत्वाभासेषु न समवति, इत्यहेतवो हेत्वाभासाः। तदिदं हेतू-दाहरणयोः सामर्थ्यं परमसूक्ष्मं दुःखबोधं पण्डितरूपवेदनीयम् इति । १।१।३७॥ न्यायवार्त्तिकम्

तिद्विपर्ययाद् वा विपरीतम् । साध्यवैधर्म्यावृ अतद्धमं भावी च दृष्टान्त उदा-

हरणिमति । उदाहरणमवीतहेतौ द्रष्टव्यम्, इति ।

अन्ये तु साध्यसाधर्म्यात् तद्धमं भावित्वं इष्टान्तस्येति सूत्रं पठिन्तः । तेषां स्वय-मित्रायः, दृष्टान्तोदाहरणयोर्मा भूदैक्यम्' इति । किं पुनस्तद्धमंभावित्वम् ? साध्यसाधनाम्यां योगः-साध्यसाधनयोयोंगे सित तद्धमं भावी भवति । अतो भावाभिधानेन साध्यसाधनाम्यां योगोऽभिधीयते इति । एतच्च सूत्रम् अपरे दूषयन्ति । अस्माकं तु नायं सूत्रपाठः । तस्मान्नायं दोष इति ।

साध्य में अनुमान कर लेता है। वह यह हेत्वाभासों सम्भव मेनहीं है अतः हेत्वाभास हेतु नहीं होते। वह यह हेतु तथा उदाहरण का सामर्थ्य अत्यन्त सूक्ष्म है, दुर्बोघ है, विद्वानों के (ही) जानने योग्य है। १।१।३६॥

तद्विपर्ययाद् वा विपरीतम्, और साध्य के वैधर्म्य के कारण उस (साध्य) के धर्म वाला न होता हुआ बष्टान्त उदाहरण है। इसका उदाहरण अवीत (व्यतिरेकी)

हेतु में देखना होगा।
 दूसरे (एकदेशी) तो 'साघ्य के साधम्यं से दण्टान्त का उस (साघ्य) के धर्म दूसरे (एकदेशी) तो 'साघ्य के साधम्यं से दण्टान्त का उस (साघ्य) के धर्म वाला होना (साघ्यसाधम्यीत् तद्धर्मभावित्व दण्टान्त और उदाहरण की एकता न उनका तो यह अभिप्राय है कि (इस प्रकार) दण्टान्त और उदाहरण की एकता न होगी। (प्रक्रन) किन्तु उस (साघ्य) के धर्म वाला होना (तद्धर्मभावित्वम्) क्या है ? (उत्तर) साध्य तथा साधन का सम्बन्ध—साध्य तथा साधन का सम्बन्ध होने पर (उत्तर) साध्य तथा साधन का सम्बन्ध तथा साधन का सम्बन्ध होने पर (उत्तर) उसके धर्म वाला (तद्धर्मभावी) होता है। इसलिये वहाँ भाव शब्द (अभि-(रण्टान्त) उसके धर्म वाला (तद्धर्मभावी) होता है। इसलिये वहाँ भाव शब्द (अभि-(रण्टान्त) इसरा (रण्टान्त का) साध्य तथा साधन (धर्म) से सम्बन्ध कहा जाता है। ध्यान) द्वारा (रण्टान्त का दोष] इस (एकदेशी के) सूत्र पाठ को अन्य विद्वान् दोषयुक्त [एकदेशी के भत का दोष] इस (एकदेशी के) इसलिये यह दोष नहीं। (शङ्का)

पिडतरूपवेदनीयम-प्रशस्तपिडतवेदनीयम्' इत्यर्थः, टी० १६६ । अवीतहेतौ — वात्तिककार आदि के अनुसार व्यतिरेकी हेतु (अवीतहेतौ) में इसका उदाहरण होगा । अनितहेतौ — वार्तिककार आदि के अनुसार व्यतिरेकी हेतु (अवीतहेतौ) में इसका उदाहरण होगा । अन्ये तु — आचार्यदेशीय, एकदेशी नैयायिक । उनका भाव यह है कि यथाश्रुत पाठ में तो अर्थ रूप अन्ये तु अर्थाक वहाँ दोनों का सामानाधिकरण्य दृष्टान्त और वचनरूप उदाहरण दोनों का 'एकत्व' होगा; वर्थीक यहाँ दोनों का सामानाधिकरण्य

विखलाया गया है। 'दृष्टान्तस्य' ऐसा पाठ रखने पर यह दोष न होगा।
अपरे दूषयन्ति—उनका भाव यह है: जिस प्रकार अयं रूप दृष्टान्त का उदाहरण के साथ
अपरे दूषयन्ति—उनका भाव यह है: जिस प्रकार अयं रूप दृष्टान्त का उदाहरण के साथ
सामानाधिकरण्य नहीं होता उसी प्रकार 'तद्ध मंभावित्व' का भी न होगा, यह भी अयंरूप
सामानाधिकरण्य नहीं होता उसी प्रकार भाना जाये तो दृष्टान्त को भी उपलक्षण माना
ही है। यदि स्वविषयक वचन का इसे उपलक्षण माना जाये तो दृष्टान्त को भी उपलक्षण माना
जा सकता है।

१. अभावं, क भावं ख,

न्यायवात्तिकम

एतस्मिन्नपि पाठे किल भाविग्रहणमनथ कम्। कस्मात् ? सर्वावयवानां साध्यधम भावित्वात् - यस्मात् किल सर्वं एवावयवाः साध्यधम भाविनो भवन्ति भावयन्ति गमयन्ति इति । अयं च न (नायं) सूत्रार्थं इति ।

अन्ये तु तद्वर्मभावीत्येतत् पदमन्यथा निराकुर्वन्ति । तद्धर्मभावी भवन उष्णभोजिन्यायेन वा भवेत् दण्डिन्यायेन वा भवेत् ? तद्यदि तावद् उष्णभोजिन्यायेन उष्णं भोक्तुं शोलमस्येत्युष्णभोजी, एवं तद्धमं भावियतुं शीलमस्येति तद्धमंभावी। अत्रापि भाविषतुं गमिषतुमिति यावदुक्तं स्यादिति नायं सूत्रार्थं इति न किञ्चिद एतत् । दण्डिन्यायस्तु दण्डो यस्यास्ति स दण्पी, तद्धमंभावो यस्यास्ति स भवति तद्धमंभावी । तत्र भाविग्रहणमनर्थकं तद्धमंभावीति । कथमिति ? तद्धर्मश्चासौ भावश्चेति तद्धर्मभावः। स यस्यास्ति स भवति तद्धर्मभावी इति। एवं सित विशेष्यविशेषणभावानुपपतेः तद्धर्मीति युक्तम्। न हि तद्धर्मश्च स्याद्

इस (आर्ष) पाठ में भी तो 'भावि' शब्द अनर्थंक है। कैसे ? सभी (प्रतिज्ञा आदि) अवयवों के साघ्यधर्मभावी होने से-क्यों कि अवश्य ही (किल) सभी अवयव साव्यधर्मभावी होते हैं (साव्य धर्म को) भावित करते हैं उसका बोध कराते हैं (भावयन्ति, गमयन्ति इति) । [समाधान] और यह सूत्र का अर्थ नहीं।

(आक्षेप) दूसरे (?) तो 'तद्धमं मावि' इस पद को अन्य प्रकार से खण्डित करते हैं : उसके थर्म वाला (तद्धर्म भावी) होता हुआ 'उष्णभोजिन्' न्याय से होगा अथवा 'दण्डिन्' न्याय से ।(आक्षेप की व्याख्या) प्रथमतः यदि 'उष्णभोजिन्' न्याय से है उष्ण खाने का है स्वभाव (शील) इसका वह उष्णभोजी होता है, इसी प्रकार उस (साध्य) के धर्म वाला होने का है स्वभाव इसका वह तद्धर्मभावी है। [परिहार] यहाँ भावियतुम् अर्थात् गमियतुम् (बोध कराना) यह कहना होता है, किन्तु यह सूत्र का अर्थ नहीं अतः यह (आक्षेप) कुछ नहीं हैं। (दण्डिन्याय की समीक्षा) दण्डिन् न्याय तो यह है; दण्ड जिसके (पास) है वह दण्डी है (इसी प्रकार) उसका धर्म जिसके है वह 'तद्धर्मभावी' है वहाँ (तद्धर्भभावि शब्द में) भावि' शब्द निरर्थंक है। कैसे ? यह उसका धर्म हैं तथा भाव है अतः तद्-धर्म-भाव' है । वह जिसके है वह 'तद्धर्मभावी' होगा। ऐसा होने पर विशेष्य-विशेषण-भाव नहीं बनता अतः 'तद्धर्मी' यह कहना उचित है। वस्तुत: उसका धर्म हो और भाव हो, ऐसा नहीं होता जिससे विशेषण-

एतिस्मन्नि (प्रविक्त क्षेत्र पाठ में भी 'भावी' शब्द निष्प्रयोजन है। भू धातु से ताच्छील्य अर्थ में 'णिनि' प्रत्यय करके 'भावी' शब्द बनता है । इसका अर्थ होगा 'उसके धर्म को करने का है स्वभाव जिसका'। यह स्वभाव 'ज्ञापन' ही हो सकता है अतः वह उस धर्मका गमक (ज्ञापक) होगा। ऐसा तो सभी प्रतिज्ञा आदि अवयवों में होता है।

अयं च न--- 'नायम्' यह टीका सम्मत पाठ है। उपर्युक्त, मत को न स्वीकार करके ही दोष का परिहार कर दिया है—तदेतदनम्युपगमेनैव परिहरति—नायमिति ।

अन्ये तु — संभवतः ये भी एकदेशी हैं। इन्होंने 'तद्धर्मभावी' में दो विकल्प किये हैं। यदि 'उष्ण-भोजिन्याय' माना जाये तो उसका निराकरण ऊपर किया जा चुका है। फिर यदि 'दण्डिन्याय' माना जाये तो जिस प्रकार 'दण्ड' शब्द से मत्वर्थीय इनिप्रत्यय (अत इनिठनौ ४.२.११४) होकर 'दण्डी' (दिण्डिन्) शब्द बनता है जसीप्रकार 'तद्धमंभावोऽस्यास्ति' इस अर्थ में 'इनि' होगा तथा 'तद्धमंभावो'

न्यायवार्तिकम

भावश्च यतो विशेषणविशेष्यभावः समर्थः स्यादिति । अतस्तद्धर्मीति किल वक्तव्यम् । न वक्तव्यम् । तद्धर्माणानामुभयथा भावात्-उभयथा भवन्ति तद्धर्माः, विधीयमानाः प्रतिषिध्यमानाश्च । तत्रान्वयिनि वाक्ये विधीयमानधर्मवान् दृष्टान्त उदाहरणम्, (१) यथा स्थाल्यामुत्पत्तिधर्मकत्वं चानित्यत्वं च भावौ विद्यमानौ धर्मीदिति । तस्मात् तद्धर्मश्चासौ भावश्चेति युक्तं सामानाधिकरण्यम् । यत् पुनरेतत् तद्धर्मीति वक्तव्यम्; एतदिष न परिज्ञातम् । न हि बहुत्रीहौ पुनर्मत्वर्थीयो लभ्यते इाँत । अथावश्यं वयं शिक्षयितव्याः, तत एव च तद्धर्मित वक्तव्यम् । सन्ति चैवं वादिनो येषां कृतकत्वानित्यत्वेऽभाव इति । तिन्नराकरणार्थं चेदमुक्तम्, तद्धर्मञ्चासौ भावश्चेति युक्तं सामानाधिकरण्यम् ।

तदेतस्मिन्नवयवत्रये एवं लक्षणेनोपपादिते 'तेषां च त्रयो दुविहिताः' इत्यनेन वाक्येन सहानैयायिकत्वसात्मनः ख्यापितं भवति ।

बिशेष्य-भाव संगत हो जाये इसलिये तद्धर्मी यही कहना होगा । [परिहार] नहीं कहना होगा, उपके धर्मी के दो प्रकार के होने से—दो प्रकार के होते हैं उसके धर्म, विधिरूप और निषेधरूप; उनमें अन्वयी वाक्य में विधिरूप धर्म वाला स्टान्त उदाहरण होता है; जैसे स्थाली में उत्पत्तिधर्मवाला होना तथा अनित्य होना दोनों भावरूप (विधिरूप) अर्थात् विद्यमान धर्म हैं। इसलिये उस (साघ्य) का धर्म हैं और वह भावरूप है, इस प्रकार (दोनों का) सामानाधिकरण्य युक्तियुक्त है। किन्तु जो यह (कहा गया) है कि 'तद्धर्मी' ऐसा कहना चाहिये, वह भी सम्यग् ज्ञान पूर्वक नहीं (परिज्ञातम्), क्योंकि बहुन्नीहि करने पर फिर मतुव् अर्थ वाला प्रत्यय प्राप्त नहीं हुआ करता। यदि अवश्य ही हमें शिक्षा देनी है तव तो 'तद्धर्मी' यह कहना चाहिये। ('भावि' जब्द का अन्य प्रयोजन) और, ऐसा कहने वाले (वादी) भी हैं जिनके मत में कृतकत्व तथा अनित्यत्व अमाव हैं। उसका निराकरण करने के लिये भी (च) यह कहा गया है। अतः उसका धर्म है (तद्धर्मः) और यह भाव भी है, इस प्रकार सामानाधिकरण्य युक्त है।

तब इस अवयवत्रय (प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण) के इस प्रकार लक्षण द्वारा प्रतिपादित कर देने पर 'उन (नैयायिकों) के तीनों ठीक नहीं कहे गये (दुर्विहिताः) इस वाक्य से अपना (वसुबन्धु आदि का) महानैयायिक होना प्रकट कर दिया गया है (उपहास)।

न वक्त व्यम् संभव तथा व्यभिचार से विशेषण सार्थक होता है (संभवे व्यभिचारे च स्याद् विशेषणमर्थवत्) अतः यहाँ भावं यह विशेषण सत्रयोजन है। इससे भावरूप (विधिरूप) धर्मों का हीं ग्रहण होता है। तद्धर्मश्व भावश्वं यह कर्मद्यार्थ समास करके मस्वर्थीय इनिंप्रत्यय उचित ही है। न हि बहुत्रीहों — अन्यपदार्थ की विवक्षा में ही 'इनिंप्रत्यय होता है वह विवक्षा बहुत्रीहि समास से ही पूर्ण हो जाती है अतः 'इनिं अनावश्यक है।

अथावश्यम्—तब तो 'तद्धर्मा' यह बहुवीहि समास का पद होगा।
सन्ति च—यहाँ 'भावी' शब्द के प्रयोग का अन्य प्रयोजन बतलाया गया है।

१. तथा, क; यथा, ख.

अबयवा:

न्यायवात्तिकम्

तथा सिद्धो दृष्टान्तः, इति अन्ये। कः पुनरस्यार्थः ? यथा साध्यः साध्यितुमिष्टः, तथा यः सिद्धोऽनित्यत्वेन, (१) यथा च स एवं साध्यो विशिष्टः प्रत्ययमेदमेदित्वेन तथा च यः सिद्धः सः दृष्टान्तः साध्यसाधनवानिति । अत्र विस्फूर्जतापि
स्विद्धान्तम् अपरित्यज्ञता कृतकत्वानित्यत्वयोनं शक्यः सम्बन्धो दर्शयितुम्, कृतकत्वानित्यत्वयोः कालभेदाद् वस्तुव्यवधानाच्च—अन्यदा कृतकत्वमन्यदा चानित्यत्विमिति ।
यदा च वस्तु न तदा प्राकप्रध्वंसाभावौ स्त इति । एतेन तथोः सम्बन्धनिदर्शनं दृष्टान्त
इति प्रत्युक्तम् । 'साध्येनानुगमो हेतोः साध्याभावे च नास्तिसा' इति च । १।१।३७॥

(बौद्ध का लक्षण) दूसरे कहते है कि उस प्रकार से निश्चित किया गया हिंदानत है (तथा सिद्धो हिंदान्त,)। किन्तु इसका अर्थ क्या है ? जिस प्रकार साध्य को सिद्ध करना अभीष्ट है उस प्रकार जो अनित्यरूप से निश्चित है और जिस प्रकार वह इस प्रकार 'कारण के भेद से भिन्न होता हुआ' (विशिष्टः) सिद्ध करना है उसी प्रकार जो सिद्ध हो चुका है वह हष्टान्त है अर्थात् साध्य तथा साधन वाला। (समीक्षा) यहाँ विशेष उत्साह वाला (विस्कूर्जता) होकर भी अपने सिद्धान्त को न छोड़ते हुए कृतकत्व और अनित्यत्व का सम्बन्ध नहीं दिखलाया जा सकता, कृतकत्व और अनित्यत्व दोनों में काल का भेद होने से तथा वस्तु (घट आदि) का व्यवधान होने से—कृतकत्व अन्य काल में होता है और अनित्यत्व दूसरे काल में और जब वस्तु होती है तब प्रमानव तथा प्रध्वंसाभाव नहीं होते। इस (कथन) से उन दोनों (साध्य और साधन) का सम्बन्ध दिखलाना हष्टान्त हैं, इसका निराकरण कर दिया गया। और, साध्य के द्वारा हेतु का अनुसरण करना तथा साध्य के अभाव में हेतु का न होना, इस (लक्षण) का भी। १.१.३७॥

त्रयो दुर्विहिताः—वसुबन्धु ने कहा या कि प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण तीनों का ही अक्षपाद के लक्षणों द्वारा ठीक विधान नहीं (केया गया ।

ख्यापितं भवति—प्रतिज्ञा आदि के लक्षणों की वात्तिककार ने युवितयुक्त व्याख्या दिखला दी है अतः वस्रबन्ध का उपहास किया गया है।

तथा सिद्धो दृष्टान्तः —यह बोद्ध आचायों का लक्षण है, परन्तु किसका यह स्पष्ट नहीं।
प्रत्ययमेदमेदित्वम् —प्रत्ययः कारणम् (टी० ४६८)। दृष्टान्तः साध्यसाधनम् —दृष्टान्त

वह है जो साध्य तथा साधन दोनों से विशिष्ट है, ऐसा सिद्ध होता है।

न शक्यते सम्बन्धः दर्शायतुम् — साध्य (अनित्यत्व) और साधन (कृतकत्व) का सम्बन्ध नहीं दिखलाया जा सकता । बौदमत में स्थाली आदि के कृतक होने का तात्पर्य है उनका प्रागमाव और अनित्य होने का भाव है उनका प्रध्वंसामाव । इन दोनों का सम्बन्ध नहीं हो सकता :— (१) उनका प्रागमाव तथा प्रध्वंसाभाव एक साथ नहीं रहता (२) जब स्थाली आदि वस्तु होती है तो प्रागमाव तथा प्रध्वंसाभाव नी होते (द्व० टी० ४६८) एते न—अन्यापकत्वेन (टी० ४६८) ।

१. नित्येत्वेन, क, अनित्यत्वेन, ख.

१.१.३८] [३१४

न्यायसूत्रं भाष्यम् च

उदाहरणापेक्षस्तथेत्युपसंहारो न तथेति वा साध्यस्योपन्य । १।१।३६।

उदाहरणापेक्ष उदाहरणतन्त्र उदाहरणवशः । वशः सामर्थ्यम् । साध्यसाधम्यंयुक्ते उदाहरणे स्थाल्यादिद्रव्यमुत्पत्तिधमंकमित्यं दृष्टम् तथा च शब्द उस्पत्तिधमंक इति साध्यस्य शब्दस्योत्पत्तिधमंकत्वमुपसंहि,यते । साध्यवैधम्यंयुक्ते पुनरुदाहरणे आत्मादिद्रव्यमनुत्पत्तिधमंकं नित्यं दृष्टम्, न च तथानुत्पत्तिधमंकः शब्द इति । अनुत्पत्तिधमंकत्वस्योपसंहारप्रति- षेथेनोत्पत्तिधमंकत्वमुपसंहियते । तदिदमुपसंहारद्वेतमुदाहरणद्वेताद् भवति । उपसंहि, यतेऽनेनेति चोपसंहारो वेदितव्य इति । १।१।३०।।

उदाहरण के आधार पर 'यह वैसा है' अथवा 'यह वैसा नहीं है' इस प्र<mark>कार</mark> साध्य का उपसंहार उपनय है । १।१।३८।।

उदाहरणापेक्ष का अर्थं है उदाहरण के अधीन, उदाहरण के वश में। वश अर्थात् सामर्थ्यं। साध्य के साधम्यं से युक्त उदाहरण में, स्थाली आदि द्रव्य जो उत्पत्ति धर्म वाला है वह अनित्य देखा गया है और उसी प्रकार शब्द (भी) उत्पत्ति धर्म वाला है; इस प्रकार साध्य जो शब्द है उसके उत्पत्ति धर्म वाला होने का उपसंहार किया जाता है। किन्तु (पुनः), साध्य के वैधर्म्य से युक्त उदाहरण में, आत्मा आदि द्रव्य अनुत्पत्ति धर्म वाला नहीं है। इस प्रकार अनुत्पत्ति धर्म वाला होने के उसहार का प्रतिपेध करके (शब्द के) उत्पत्ति धर्म वाला होने का उपसंहार किया जाता है। व मह दो प्रकार का उपसंहार दो प्रकार के उदाहरणों से होता है। किञ्च; इससे उपसंहार विया जाता है अतः इसे उपसंहार जानना चाहिये। १.१.३८॥

उपनय: - उदाहरणपूर्वक ही उपनय होता है; अतः इदाहरण के पश्चात् उपनय का लक्षण किया

जा रहा है।

उदाहरणापेक्ष:— 'उदाहरणापेक्षः उपसंहार उपनयः' यह उपनय का सामान्य लक्षण है 'तथा न

तथा' ये सामान्यलक्षण की अपेक्षा करते हुये विशेष लक्षण है। व्येक्षा का वर्ष है तन्त्र = अधी

था वश में, आद्यार पर। उदाहरण वशी (तश में रखने वाला) है और उपनय उसके वश में (वश्य)

है (द्र० टी० ५७१)।
साध्यस्य शब्दस्योत्पत्तिधर्मकत्वमुपसंहियते— यद्यपि उपनय में हेतु का उपसंहार होता है
तथापि उदाहरण में हेतु की व्याप्ति दिखलाकर साध्य में उसका उपसंहार किया जाता है, अतः साध्य
'शब्द' में उत्पत्तिधर्मकता का उपसंहार होता है, यह कहा जाता है।

उपसंहारद्वेतम् —साधम्यं और वैंधम्यं से दो प्रकार का उदाहरण होता है अतः 'वैसा ही शब्द है अथवा शब्द वैसा नहीं है' यह दो प्रकार का उपसंहार (उपनय) होता है। 3847

[अवयवाः

न्यायवात्तिकम्

उदाहरणापेक्षस्तथेत्युपसंहारो न तथेति वा साध्यस्योपनयः । एवं वायं कृतक इति । तथा न तथेति प्रतिविम्बनार्थम् । कि पुनरत्र प्रतिविम्बनम् ? दृष्टान्त-गतस्य धर्मस्याव्यभिचारित्वे सिद्धे तेन साध्यगतस्य तुल्यधर्मतोपदर्शनम् । तथा चायं कृतक इति । साध्ये वा संभव उपनयार्थः । ननु च कृतकत्वादित्यनेन संभव उक्तः ? नोक्तः ; साध्यसाधनभावमात्रनिर्देशात् —साध्यसाधनभावमात्रनिर्देशः कृतः, कृतकत्वाद् अनित्यः शब्दो भवति । तत् पुनः शब्दे कृतकत्वमस्ति नास्तीत्युपनयेन संभवो गम्यते । अस्ति च शब्दे कृतकत्वम् इति । स यदा साधम्येणोदाहरणं तदा तथेति, यदा वैधम्येण तदा न तथेति । १।१।३८॥

उदाहरणापेक्ष:... उपनयः, (यह सूत्र है); और इसी प्रकार यह (शब्द) कृतक है। (सूत्र में) 'तथा न तथा' ये शब्द प्रतिविम्बित करने (प्रतिविम्बन) के लिये हैं। (प्रश्न) इसमें क्या प्रतिविम्बत करना है ? (उत्तर) दृष्टान्त में स्थित धर्म के अविनाभावी (अव्यभिचारी) सिद्ध हो जाने पर उससे साध्य में स्थित धर्म की समानता दिखलाना कि उसी प्रकार यह भी कृतक है। अथवा साध्य में (साधन धर्म का) होना (संभव) दिखलाना उपनय का प्रयोजन है। शङ्का है (ननु च) कृतक होने से (शब्दोऽनित्यः कृतकत्वात्) इसके द्वारा (साध्य में हेतु का) होना कह दिया गया है। [समाधान] नहीं कहा गया; केवल साध्य-साधन-भाव का निर्देश होने से-केवल साध्य-साधन भाव का निर्देश किया गया है कि कृतक होने से शब्द अनित्य होता है। फिर शब्द में वह कृतकत्व (कार्य होना) है या नहीं, इस प्रकार उपनय से (साध्य में हेतु का) होना जाना जाता है। और शब्द में कृतकत्व है। यह (संभवः) जब साधम्यं से उदाहरण होता है तब 'वैसा है' (तथेति) जब वैधम्यं से उदाहरण होता है तब 'वैसा नहीं है' (न तथेति।) [इस प्रकार कहा जाता है] १।११३६।।

तथा न तथेति — यह पाठ एक पुरतक में ही है, 'यथा तथेति' पाठा० हैं। किन्हीं का कथन है कि उदाहरणसहित हेतूबचन से ही साध्य की सिद्धि हो जाती है। फिर उपनय की क्या आवश्यकता है। वास्तिककार ने बतलाय। है कि जिस प्रकार उत्पत्तिधर्मकत्व आदि दृष्टान्त में अनित्यत्व का अव्यक्तिचारी साधन हैं उसी प्रकार साध्य (शब्द) में भी। यह प्रतिबिम्बन ही 'तथा न तथा' द्वारा दिखलाया गया है।

साध्ये वा संभव-यह उपनय का द्वितीय प्रयोजन है।

ननु च-शङ्का का आशय है : यद्यपि 'कृतकत्वात्' (कृतक होने से) यह साधन रूप में कहा यया है तथापि वह असिद्ध होकर तो साधन होता नहीं अतः अपना सिद्ध होना (सिद्धि) भी प्रकट कर देता है (आक्षिपित), अर्थात् साध्य में हेतु के होने (संभव) को प्रकट कर देता है।

नोक्त:—समाधान का भाव है: 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' यह नियम है। यहां कृतकःव साधन रूप में कहा गया है, अर्थतः यह साधन को ही कहता है साध्य में कृतकःव का होना (संभव) नहीं प्रकट करता। जिस प्रकार व्याप्ति के प्रदर्शन के लिये उदाहरण का प्रयोग किया जाता है उसी प्रकार हेर्द्र की साध्य में सिद्धि का प्रतिपादन करने के लिये उपनय का प्रयोग आवश्यक है।

अवयवाः

न्याय सूत्रंभाष्यं च

द्विविधस्य पुनर्हेतोद्विविधस्य चोदाहरणस्योपसंहारद्वैते च समानम् हेत्वपदेशात्रितज्ञायाः पुनर्त्रवनम् निगमनम् १।१।३६ ॥

साधस्योंक्ते वा वैधस्योंक्ते वा यथोदाहरणमुपसंहियते तस्मात्दुपति-धर्मकत्वाद् अनित्यः शब्द इति निगमनम् । निगम्यन्ते क्षेत्रनेति प्रतिज्ञाहेतूदा-हरणोपनया एकत्रेति निगमनम् । निगम्यन्ते समर्थंन्ते संबध्यन्ते । तत्र साधस्योंक्ते तावदहेतौ वाक्यमः अनित्यः शब्दः इति प्रतिज्ञा, उत्पत्तिधर्म-कत्वाद् इति हेतुः, उत्पत्तिधर्मकं स्थाल्यादि द्रव्यमनित्यम् इत्युदाहरणम्, तथा चोत्पत्तिधर्मकः शब्द इत्युपनयः, तस्माद् उत्पत्तिधर्मकत्वाद्वाद्वादः शब्द इति निगमनम् । वैधम्यक्तेऽपि, अनित्यः शब्दः, उत्पत्तिधर्मकत्वात्। अनुत्पत्तिधर्मकमात्मादि द्रव्यं नित्यं दृष्टम्, न च तथाऽनुत्पत्तिधमंकः शब्दः कि तहि ? उत्पत्तिधर्मकः । तस्माद् उत्पत्तिधर्मकत्वाद्, अनित्यः शब्द इति ।

किन्तु दो प्रकार के हेतु तथा दो प्रकार के उदाहरण एवं उपसंहार (उपनय) के दो प्रकार होने पर (भी) (निगमन) समान (ही) होता है--

हेतु का कथन करके (अपदेशात्) प्रतिज्ञा का पुनः कथन निगमन है १।१।३६॥

साध्यम्यं से कहे गये अथवा वैधम्यं से कहे गये (हेतु) में उदाहरण के अनुसार उपसंहार (उपनय) किया जाता है (तथा अन्त में कहा जाता है) 'इसलिये उत्पत्ति धर्म वाला होनं से शब्द अनित्य है, यह निगमन है। इससे प्रतिज्ञा हेतु, उदाहरण, उपनय एक स्थान पर निगमित किये जाते हैं (निगम्यन्ते) वह निगमन है निगम्यन्ते का अर्थ है सम्धित किये जाते हैं, सम्बद्ध किये जाते हैं। उनमें प्रथमतः साधम्यं से कहे गये हेतु में वाक्य होता है शब्द अनित्य है, यह प्रतिज्ञा, उत्पत्ति धर्म वाला होने से. यह हेतु; उत्पत्ति धर्म वाला स्थाली आदि तब्य अनित्य होता है, यह उदाहरण, उसी प्रकार शब्द उत्पत्ति धर्म वाला है, उपनय; इसलिये उत्पत्ति धर्म वाला होने से शब्द अनित्य है, यह निगमन है। वैधम्यं से कहे गये (हेतु) में भी शब्द अनित्य है, उत्पत्ति धर्म वाला होने से शब्द नहीं है। तो कैता है? उत्पत्ति धर्म वाला है। इसलिये उत्पत्ति धर्म वाला होने से शब्द अनित्य है। इसलिये उत्पत्ति धर्म वाला होने से शब्द अनित्य है।

समानम्—साधम्यं और वैधम्यं से हेतु, उदाहरण एवं उपनय तीनों दो-दो प्रकार के होते हैं किन्तु 'निगमन' समान ही होता है।

पुतर्जचनम् — यद्यपि प्रतिज्ञा में साध्य का निर्देश होता है, निगमन में सिद्ध का निदश होता है तथापि भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में भी विषय एक होने से एक मानकर यहां ऐसा कह दिया गया है। निगम्यन्ते — यहां भाष्यकार ने निगमन शब्द की ब्युस्पत्ति दिखलाई है।

तत्र साधभ्योंक्ते ... अनित्यः शब्दः —यहां प्रतिज्ञा से लेकर निगमन तक साधम्यं तथा वैधभ्यं से होने वाले प्रयोग दिखलाये हैं।

[अषयवाः

न्यायभाष्यम्

अवयवसमुदाये च वाक्ये संभूयेतरेतराभिसंबन्धात् प्रमाणान्यथं साधयन्तीति । संभवस्तावत् , शब्दिविषया प्रतिज्ञा, आप्तोपदेशस्य प्रत्यक्षानुमानाभ्यां प्रतिसन्धानाद् अनृषेश्च स्वातन्त्रयानुपपत्ते । अनुमानं हेतुः, उदाहरणे संदृश्य प्रतिपत्ते । तन्चोदाहरणभाष्ये न्याख्यातम् । प्रत्यक्षविषय-मुदाहरणम् , दृष्टेभादृष्टसिद्धे । उपमानमुपनयः, तथेत्युपसंहारात् , न च तथेति चोपमानधर्मप्रतिषधे विपरीतधर्मोपसंहारसिद्धे । सर्वेषामकार्थप्रतिपत्ती सामर्थ्यप्रदर्शतं निगमनिति । इतरेतराभिसंबन्धोऽपि, असत्यां प्रतिज्ञाया-मनाश्रया हेत्वादयो न प्रवर्तेरन् । असति हेतौ कस्य साधनभावः प्रदश्येत उदाहरणे ? साध्ये च कस्योपसंहारः स्यात् ? कस्य चापदेशात् । प्रतिक्षायाः पुनर्वचनं निगमनं स्याद् इति ? असत्युदाहरणे केन साधम्यं वधम्यं वा साध्यसाधनमुगदोयेत ? कस्य वा साधम्यंवशाद् उपसंहारः प्रवर्तेत ? उपनयं चान्तरेण साध्येऽनुपसंहतः साधको धर्मो नार्थं साध्येत् । निगमनाभावे चानभिव्यक्तसम्बन्धानां प्रतिज्ञादीनाम् एकार्थेन प्रवर्तेनं तथेति प्रतिपादनं कस्येति ?

अवयवों के समुदाय रूप (न्याय) बाक्य में प्रमाण एक साथ मिलकर (संभूय) एक दूसरे के सम्बन्ध से अर्थं को सिद्ध करते हैं। साथ मिलना (संभव) तो इस प्रकार है—प्रतिज्ञा शब्द (प्रमाण) विषयक है; क्योंकि आप्त के उपदेश का प्रत्यक्ष और अनुमान से पुनः ज्ञान (प्रतिसन्धान) किया जाता है और ऋषि-भिन्न की (प्रामाण्य में) स्वतन्त्रता नहीं होती। हेतु अनुमान है; क्योंकि उदाहरण में सम्यक् देखकर उसका निश्चय होता है, और उसकी उदाहरण के भाष्य में व्याख्या कर दी गई है। उदाहरण प्रत्यक्ष विषयक है (प्रत्यक्षं विषयः यस्य), क्योंकि वहाँ देखे गये से न देखे गये की सिद्धि होती है। उपनय उपमान है; क्योंकि 'तथा' इस प्रकार उपसंहार होता है और 'न तथा' इस प्रकार उपमान के धर्म का प्रतिषेध करके विपरीत धर्म का उपसंहार सिद्ध होता है।

एक दूसरे से सम्बन्ध भी है: प्रतिज्ञा के न होने पर हेतु आदि विना आश्रय के प्रवृत्त न होंगे। हेतु के न होने पर उदाहरण में किसका साधन होना दिखलाया जायेगा? और, साध्य में किसका उपसंहार किया जायेगा तथा किसके कथन से प्रतिज्ञा का पुनर्वचन निगमन होगा। उदाहरण के न होने पर किसके साथ साधम्यं या वैधम्यं को साध्य की सिद्धि के लिये दिया जायेगा अथवा किसके साधम्यं के आधार पर उपसंहार होगा? और उपनय के विना साध्य में उपसंहार न किया गया साधक धर्म अर्थ की सिद्धि न करेगा। उसी प्रकार निगमन के अभाव में जिनका सम्बन्ध नहीं प्रकट किया गया ऐसे प्रतिज्ञा आदि (अवयवों) की एक प्रयोजन (अर्थ) से प्रवृत्ति और 'वैसा ही यह है' (तथेति) यह प्रतिपादन किसका होगा?

अवयवसमुदाये च—यहां यह दिखलाया है कि प्रतिज्ञा आदि अवयवों के रूप में चारों प्रमाण होते हैं, अतः यह अवयवसमदाय परमन्याय है।

संमूय — साथ मिलकर, इतरेतराभिसंबन्धात् — एक दूसरे के सम्बन्ध से।

शब्दविषया प्रतिज्ञा — शब्द का विषय है विषय जिसका ऐसा विग्रह उचित प्रतीत होता है।

शब्द दो प्रकार का है आप्तों का उपदेश तथा जनसाधारण का शब्द । आप्तोपदेश का प्रत्यक्ष तथा
अनुमान से प्रतिसन्धान किया जाता है। जो जनसाधारण का वचन है वह तो स्वतन्त्र प्रमाण होता

395] [35.5.9

न्यायभाष्यम

अथावयवार्थः । साध्यस्य धर्मस्य धर्मिणा सम्बन्धोपपादनं प्रतिज्ञार्थः । उदाहरणेन समानस्य विपरीतस्य वा साध्यस्य धर्मस्य ताधकभाववचनं हेत्वर्थः । धर्मयोः साध्यसाधनभावप्रदर्शनमेकत्रोदाहरणार्थः । साधनभूतस्य धर्मस्य साध्येन धर्मेण सामानाधिकरण्योपपादनम् उपनयार्थः । उदाहरणस्थयोधंमयोः साध्यसाधनभावोपपत्तौ साध्ये विपरीतप्रसङ्गप्रतिषेधार्थं निगमनम्

न चैतस्यां हेतूदाहरणपरिशुद्धौ सत्यां साधम्यवैधम्याभ्यां प्रत्यव-स्थानस्य विकल्पाजजातिनिग्रहस्थानबहुत्वं प्रक्रमते । अव्यवस्थाप्य खलु धर्मयोः साध्यसाधनभावमुदारणे जातिवादी प्रत्यवतिष्ठते । व्यवस्थिते हि खलु धर्मयोः साध्यसाधनभावे दृष्टान्तस्थे गृह्यमाणे साधाभूतस्य धर्मस्य हेतु-त्वेन उपादानं न साधम्यसात्रस्य, न वधम्यमात्रस्य वेति ।१।१।३६॥

अब (प्रतिज्ञा आदि) अवयवों का प्रयोजन (अर्थः) कहा जाता है। साध्य धर्म का ५ मीं के साथ सम्बन्ध दिखलाना (उपपादनम्) प्रतिज्ञा का प्रयोजन है। उदाहरण के समान अथवा विपरीत साध्य धर्म की साधकता कहना हेतु का प्रयोजन है। दोनों धर्मों का एक स्थल में साध्य-साधन-भाव दिखलाना उदाहरण का प्रयोजन है। साधन होने वाले धर्म का साध्य होने वाले धर्म के साथ सामानाधिकरण्य दिखलाना उपनय का प्रयोजन है। उदाहरण में स्थित (दोनों) धर्मों का साध्य-साधन-भाव बन जाने पर साध्य में विपरीत प्रसङ्घ का प्रतिषेध करने के लिये निगहन होता है।

और, इस हेतु तथा उदाहरण की परिणुढि हो जाने पर साधाम्यं और वैधम्यं (मात्र) के द्वारा निराकरण करने के भेद से (विकल्पात्) नाना जाति तथा निग्रहस्थान पद नहीं रखते (प्रक्रमते)। जातिवादी दो धर्मों का उदाहरण में साध्य-साधन-भाव निश्चित न करके ही (खलु) विरोध के लिये सामने आता है (प्रत्यविष्ठिते)। वस्तुतः (हि) दृष्टान्त में (दोनों) धर्मों का साध्य-साधन-भाव निश्चित रूप से जानने पर साधन होने वाले धर्म का हेतु रूप से ग्रहण होता है, केवल साधम्यं का नहीं, अथवा केवल वैधम्यं का नहीं। ११११३६॥

नहीं अतः उसका अनुमान से संवाद किया जाता है। इसी से यह<mark>ां कहा गया</mark> है अनुषेश्च । वाचस्पति मिश्र ने इसकी योजना इस प्रकार की है मनु कस्मात् प्रतिज्ञ वाप्तो<mark>वदेशी</mark> न भवति, कृतमस्या आगमान्तरविषयत्वेनेत्यत आह—अनृषेश्चेति, टी० १७६।

न नवात, अतमस्या जानानात त्यवस्य कार्यस्य विषयक है क्यों कि उदाहरण में साध्य-साधन का अन्यभिवारी सम्बन्ध देखकर साध्य में उसकी सिद्धि की जाती है।

एर्ग्थंप्रतिपत्तौ—सर्वेषाम् सब (प्रतिज्ञा से लेकर उपनय तक) का। सब अवयव एका बंक होते हैं। वह एक अर्थ दो प्रकार का है (१) अवान्तर प्रयोजन = स्वभावप्रतिवद्ध लिङ्ग की प्रतीति, (२) साध्य की प्रतीति जो परम प्रयोजन है। इतरेतराभिसंबन्धोऽपि—प्रतिज्ञा आदि अवयव एक दूसरे से सम्बद्ध होते हैं अतः अवयविभाग

पर साकांक्ष है।

अ अवयवार्य: —यहां प्रत्येक अवयव का प्रयोजन दिखलाया गया है। (टी॰ ५७७)।
अत्यवस्थाप्य —िनिष्वत न करके; यदि प्रतिवादी दोनों धर्मों का साध्यसाधनभाव निष्वित कर केता है तो जाति के प्रयोग का अवसर कहीं आता।

अवयवाः

न्यायवात्तिकम

हेत्वपदेशात् प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनम् । प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनिमिति प्रतिज्ञाविषयस्यार्थंस्याशेषप्रमाणोपपत्तौ साघ्यविपरीतप्रसङ्गप्रतिषेधार्थं यत् पुन र-भिधानं तत् ानगमनिमिति । न पुनः प्रतिज्ञायाः एव पुनर्वंचनिमिति । किं कारणम् ? प्रतिज्ञा साध्यनिर्देशः, सिद्धनिर्देशो निगमनिमति । एतस्मिन् सूत्रार्थे परस्यावकाशो नास्तीति ।

अभ्युपेत्य तद्दोषनिराचिकीर्षया वाक्यमुपक्षिप्यते, 'उपनयनिगमने तु नावय-बान्तरे अर्थाविशेषात्' इति । इदं तावद् वाक्यं यथाश्रुति न केनचिद् अर्थेन संबध्यते । हेतूपनयावेकत्वेन पक्षीकृत्यार्थाविशेषादिति हेतुः ? स विपक्षवृत्तित्वाद् विपयंयहेत्:, अर्थाविशेषस्यं करवे ६ र्शनादिति नानारवे दर्शनारिति ।

हेत्वपदेशात्, इत्यादि (सूत्र है) । प्रतिज्ञा का पुनर्वचन अर्थात् प्रतिज्ञा का विषय होने वाले अर्थ का सब प्रमाण बन जाने पर साध्य के विपरीत प्रसङ्गों के प्रतिपेध के लिये जो फिर से कथन है वह निगमन है। किन्तु केवल प्रतिज्ञा का ही फिर कथन नहीं होता । क्या कारण है ? साध्य का निर्देश प्रतिज्ञा है, किन्तु सिद्ध का निर्देश निगमन है। सूत्र का यह अर्थ करने पर विरोधियों (के विरोध) का अवकाश नहीं।

स्वीकार करके उसके दोषों का निराकरण करने की इच्छा से (दूसरे के) वाक्य को प्रस्तुत किया जाता है (उपिक्षिप्यते),(शङ्का) उपनय और निगमन तो पृथक् अवयव नहीं प्रयोजन (अर्थ) का भेद न होने से । (निराकरण) यह वाक्य जैसा सुना जाता है वैसा तो किसी अर्थ से सम्बन्ध नहीं रखता। यदि हेतु और उपनय को एक रूप में (एक मानकर तथा) पक्ष बनाकर 'प्रयोजन का भेद न होने से' (अर्थाविशेषात्) यह हेतु है तो विपक्ष में रहने के कारण वह भान्त (विपर्यय) हेतु है; क्योंकि अर्थ का अभेद (अविशेषत्व) एक होने पर नहीं देखा जाता और नाना होने पर देखा जाता है।

प्रतिज्ञाविषयस्यार्थंस्य — किन्हीं का मत है कि प्रतिज्ञा से गतार्थ हो जाने के कारण निगमना अनुमान वाक्य का अङ्ग नहीं, इस पर वात्तिककार कहते हैं कि पांच या चार रूपों में जो हेतु का अविन भाव सिद्ध हीता है उनमें अवाधितविषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्व ये दो रूप निगमन में हीं सूचित होते है।

साध्यविपरीतप्रसङ्गप्रतिषेधार्थम् — दाध या सत्प्रतिपक्ष होने पर साध्य के विपरीत की प्राप्ति हो सकती है जिसका प्रतिज्ञाविषयक अर्थ को प्रमाणमूलक सिद्ध करके निगमन द्वारा प्रतिषेध कर

दिया आता है (टो॰ ५७८)।

प्रतिका साध्यनिदेश:-प्रतिका में विषय का साध्य रूप में निर्देश होता है, निगमन में सिद्ध रूप में। अभ्युपे-य — यदि निगमन से हेतु की सिद्धि मानी जाये तो निगमन सिद्धनिर्देश कहां रहा? इसे स्वीकार करके उसके दोषों का निराकरण करने की इच्छा से (बौद्धों का?) वाक्य प्रस्तुत किया

यथाश्रुति - शब्दों से भासित होने वाला ! यहां शब्दों से उपनय तथा निगमन का अभेद प्रकट होता है जिसमें 'अर्थां विशेषात्' हेतु है (द्र० टी० ५७८)।

अथ हेतूपनया० - शङ्का का आशय है : हेतु तथा उपनय एक हैं । इस प्रकार प्रतिज्ञा तथा निगमन भी । इसमें हेतु है अर्थाविशेषात् = अविशिष्टार्थत्वात् । अतः सम्बन्ध है ही (टी०)।

[35.9.9

[378

ध्यायवारितकम्

बहूनां घटानामे होऽयंः अब्धारणादिनं चैहत्विमिति । अयैकप्रयोजनकत्वेन पक्षीकृत्य ब्रूयाद् 'एकत्वमेकप्रयोजनत्वम् इति, तथापि हेतुर्नास्ति, प्रतिज्ञार्थेनाक्षिप्तत्वात्-हेतूपनययोरेकोऽर्थे इति प्रतिज्ञार्थः, 'अर्थाविशेषाद्' इति हेत्वर्थोऽपि स एव । अन्यश्च हेत्वर्थः, अन्यश्चोपनयार्थे इति असिद्धोप्ययं हेतुः । तद् विणतम् । 'पक्षधमंत्वसम्बन्ध-साध्योक्ते रन्यवर्जनम्, इत्येतदनेनैव प्रत्युक्तम् ।

यदिष, यथा तथेत्युपसंहारे कृते तथेत्यनेन शब्देन सर्वसामान्यं वा, कृतकत्वसामान्यं वाभिभीयते, कृतकत्विविशेषो वा? सर्वसामान्यं तावत् न युक्तम् । तथेति व्यपदेशाशक्यत्वाद् इति । कृतकत्विविशेषोऽपि न युक्तः, अन्यथा शब्दस्य कृतकत्वात् । परिशेषात् कृतकत्वसामान्यम् । तच्च हेतुनैवोक्तमिति, तदप्ययुक्तम्,

जैसे बहुत से घटों का एक जलघारण आदि अर्थ होता है किन्तु (उनमें) अभेद नहीं होता। यदि एक प्रयोजन वाला होने को पक्ष वनाकर कहा जाये, एकत्व अर्थात् एक प्रयोजन वाला तो भी [यहाँ] हेतु नहीं है प्रतिज्ञा के अर्थ से प्रतीत [आक्षिप्त] हो जाने से—हेतु और उपनय का एक अर्थ है, यह प्रतिज्ञा का अर्थ [अभिप्राय] है, 'अर्थ का भेद न होने से' इस हेतु का अर्थ भी वही है। और [च] हेतु का अर्थ अन्य होता है, उपनय का अर्थ अन्य होता है, अतः यह हेतु असिद्ध भी है। यह कहा जा चुका है। पक्षधर्मता, द्याप्ति [सम्बन्ध] तथा साध्य के कथन से [ही सिद्धि हो जाती है] अन्य [अवयवों] को छोड देना है। इसका भी इस [उपनय तथा निगमन के प्रयोज्जन कथन] से निराकरण हो जाता है।

जो यह (कहा गया है:) 'यथा तथा' ऐसा उपसंहार किया जाने पर 'तथा' इस शब्द से सर्वसामान्य या कृतकत्वसामान्य अथवा कृतकत्वविशेष कहा जाता है ? सर्वसामान्य [कहा जाता है यह] तो युक्त नहीं, क्योंकि 'तथा' ऐसा व्यवहार [व्यपदेश] नहीं किया जा सकता। कृतकत्वविशेष (कहा जाता है. यह) भी युक्त नहीं, क्योंकि शब्द की कृतकता [घट आदि की कृतकता से] अन्य प्रकार की होती है। परिशेष होने से [तथा शब्द द्वारा] कृतकत्वसामान्य [ही] कहा जायेगा। और वह हेतु के द्वारा ही

अथैकप्रयोजनकत्वेन —हेतु तथा उपनय का एक प्रयोजन होने से। तथापि—ऐसा मानने पर
हेतु का विरोध तो नहीं रहता किन्तु हेतु जो है वह प्रतिज्ञार्थ से भिन्न नहीं रहता (टी० ५७६)।
तद्विणतम् —हेतु का प्रयोजन भिन्न है तथा उपनय का प्रयोजन भिन्न है, यह कहा जा चुका है।
पक्षधमैंत्व० —पक्षधमैंता, न्याप्ति (सम्बन्ध) तथा साध्य। अनेनैव = उपनयिनगमनप्रयोजनाः
भिष्ठानेन (टी० ५७६)। जो अनुमानवाक्य के तीन अवयव मानते हैं, उनका निराकरण हो गया।
यदिष —यह दूसरों (बौद्ध) ने तीन विकल्प करके उपनय में दोष दिखलाया है (टी० ५७६)।
तथिति व्यपदेशाशक्यत्वात् —प्रथम विकल्प में यह दोष है कि तथ वही (तदेव) कहा जायेस
वैसा (तथा) नहीं: सबंसामान्ये हि तदेव स्थात्, न तु तथेति, टी० ५७६।

न्यायवात्तिकम्

उपनयस्योपमानार्थत्वात्—उपमानार्थ उपनय इति । तच्चोपमानं न सर्वथा साध्यसाधनभावमाश्रित्य प्रवर्तते, इति यत्किञ्चिदेतत् । कृतकत्वसामान्यं तु ज्ञाब्दसन्निः धावभिधीयते, इति चित्रमिदम्, कृतकत्व शब्दसन्निधावभिधीयते इति, शब्देन च विज्ञिष्यमाणं कथं साभान्यं भविष्यति तस्मात् सामान्यविशेषवान् हेतुरिति । गतार्थत्दाच्च नोपनय इत्येतदनेन प्रत्युक्तम् । यदण्युक्तं यथाशब्दो घटशब्दसहितो। इट्टान्त एवेति, तदभ्ययुक्तम् यथा तथेत्युपमानमेतत् उपमानं चोपनयो न दृष्टान्त इति

एतेन निगमनं प्रत्युक्तम् । ते एते वीताबीतवाक्ये स्वतन्त्रे पञ्चावयवे न पुनरेकम् अन्वयिव्यतिरेकि चेति । १।१।३६।।

कह दिया गया है [पिरहार] वह भी युक्तियुक्त नहीं, उपनय के उपमानार्थक होने से— उपनय तो समानता दिखाने के लिये [उपमानार्थ] है। और, वह उपमान पूर्णत: [सर्वथा] साध्य-साधन-भाव का आश्रय लेकर ही प्रवृत्त नहीं होता, अत: यह [आक्षेप] व्यर्थ [यित्कि वित्] है। और कृतकत्व-सामान्य को शब्द की सिन्निधि में कहा जाता है, और शब्द के द्वारा विशेषित हुआ वह सामान्य कैसे रहेगा [वह सामान्य विशेष हो जायेगा]। इस लिये सामान्य विशेष वाला हेतु है। किञ्च [दृष्टान्त से] गतार्थ होने के कारण उपनय नहीं होता, यह भी इससे खण्डित हो गया। जो यह कहा गया है 'यथाशब्द घटशब्द सहित दृष्टान्त ही है [उपनय नहीं] वह भी युक्त नहीं, क्योंकि 'यथा तथा' यह उपमान है और उपमान उपनय है वह दृष्टान्त नहीं।

इस [प्रयोजन का भेद होने] से 'निगमन पृथक,' नहीं इसका निराकरण कर दिया गया है। वे ये दोनों पांच अवयवों वाले अन्वयी तथा व्यतिरेकी [दो] स्वतन्त्र वाक्य हैं. किन्तु अन्वय-व्यतिरेकी एक ही वाक्य नहीं है। १।१।३६।

अन्यथा शब्दस्य कृतकत्वात् — तृतीय विकल्प में यह दोप है कि घट की कृतकता और शब्द को कृतकता में भेद है अन्यथा घट और शब्द दोनों में अभेद होने लगेगा।

परिशेषात्--सर्वसामान्य या कृतकविशेष का प्रतिषेध करने पर कृतकत्वसामान्य ही परिशेष है, वह हेसु से ही कह दिया जाता है अतः हेतु से भिन्न उपनय न होगा।

तद्यस्य तुक्तम् — यथा तथा इसको उपचार से उपमान कह दिया गया है; क्योंकि यह उपमान का एकदेश है। यहां उपनय उपमान के लिये होता है: उपमानमर्थों यस्य सोऽयमुपमानार्थः उपनयः, तस्य भावः, तस्मात्, टी० ५७८। यह उपमान पूणेतः (सर्वया) साध्यसाधनभाव पर आश्वित नहीं होता; अतः स्याली में होने वाले अन्य धर्मों की व्यावृत्ति करके कृतकत्व सामान्य मान्न के आधार पर 'यथा तथा' यह उपमान वन जाता है।

कृतकरवसामान्यं तु—यह आश्चयं है कि शब्द की सिन्निधि में जो 'कृतकरव' कहा जाता है वह भी केवल सामान्य रह जाता है जिस प्रकार शावलेय आदि की सिन्निधि में जो गोरव होता है वह सामान्यविशेष हो जाता है, इसी प्रकार शब्द की सिन्निधि में कृतकरव भी। अतः स्थाली की सिन्निधि में तथा शब्द की सिन्निधि में कहा गया कृतकरव भिन्न-भिन्न है जिससे यथा तथा भाव बन ही सकता है।

8.8.80]

[३२३

न्यायसूत्रं भाष्यं च

अत ऊर्ध्वं तर्को लक्षणीय इति अथेदमुच्यते,

अविज्ञाततस्ये ऽर्थे कारणोपत्तितस्तस्यज्ञानार्थम् हस्तकः। १।१।४०।।

अविज्ञायसानतत्त्वेऽथं जिज्ञासा तावज्जायते जानीयेममर्थामित । अथ जिज्ञासितस्य वस्तुनो व्याहतौ धर्मौ विभागेन विमृश्चित, कि स्विद् इत्थम् आहोस्विन्नेत्थिमित । विमृश्यमानयोधंर्मयोरेकतरं कारणोपपत्त्या अनुजानाति, संभवत्यस्मिन् कारणं प्रमाणं हेतुरिति । कारणोपपत्त्या स्यादेवमेतत् नेतर्रिति । तत्र निदर्शनम् 'योऽयं जाता ज्ञातव्यमर्थं जानीते, तं तत्त्वतो जानीयेति

जिज्ञासा । स किम्त्यत्तियमंकोऽनुत्पत्तियमंक इति विमर्शः । विमृश्यमानेऽवि-

इसके आगे तर्क का लक्षण करना है, अतः यह कहा जाता है। जिसका यथार्थ स्वरूप [तत्त्व] न जाना गया हो ऐसे विषय [अर्थ] में प्रमाण [कारण] के संभव होने से यथार्थ ज्ञान के लिथे विचार करना [ऊहः) तर्क है। १।१।४०॥

जिसका यथार्थ स्वरूप [तत्त्व] नहीं जाना जाता ऐसे विषय में प्रथमतः जिज्ञासा होती है कि मैं इस विषय को जान जूँ। किर (अय) जिसके विषय में जिज्ञासा होती है उस वस्तु के परस्पर विरुद्ध (व्याहती) धर्मों को विभागशः विचार करता है क्या इस प्रकार है अथवा इस प्रकार है । विचार करते हुये दोनों धर्मों में से एक को प्रमाण के संभव होने से स्वीकारता है कि इसमें कारण, प्रमाण या हेतु संभव है। प्रमाण के होने से यह इस प्रकार से हो सकता है दूसरे प्रकार से नहीं।

उसमें उदाहरण (निदर्शन) है: जो यह जाता ज्ञेय अर्थ को जानता है, 'उसे मैं यथावत् जान लूँ', यह जिज्ञासा होती है। क्या वह उत्पत्ति धर्म वाला है अथवा

गतार्थं द्वात् — अनेन = उपमान की समानता वतलाने से, उपमानसमानत्ववर्णनेन, उनका निराकरण हो गया है जो उपनय को दंग्टान्त से अभिन्न मानते हैं (टी॰ ४७६)।

यदप्युक्तम् — यहां उपनय को दृष्टान्त कहने लालों के मत को स्पष्ट किया गया है (टी॰ ४७६)। तद्यययुक्तम् — यहां उसका निराकरण किया गया है : व्याप्तिप्रदर्शन का विषय दृष्टान्त है और जिस हेतु की व्याप्ति देखली जाती है उसका साध्यधर्मी में उपसंहार करना उपनय है, अतः दृष्टान्त और

उपनय में भेद हैं (टी॰ ५७६) । एतेन — प्रयोजन का भेद होने से (टी॰ ५७६)। त एते...चेति — भाष्यकार ने एक ही अन्वयव्यतिरेकी में पांच अवयद वाले बीत तथा अवीत दोनों वाक्यों का उदाहरण दे दिया है। अतः भ्रान्ति हो सकती है कि एक उदाहरण होने से दोनों वाक्य

परस्पर-साकांक्ष ही होते हैं, उसके निराकरण के लिये ऐसा कहा गया है

अविज्ञातत्त्वेऽथे—यहां तकं की प्रवृत्ति का क्रम दिखलाया गया है। सामान्यतः संग्रय के पश्चात् जिज्ञासा होती है किन्तु कभी जिज्ञासा के पश्चात् भी संशय होता है। वही यहां विवक्षित है, बह तक की प्रवित्त का अज़ है।

कारणोपपत्या—यहां कारण = प्रमाण, उपपित=संभव होना, प्रसाण हो सकने से ।
स्वकृतस्य कर्मणः...कारणम्—यहां संसार (जन्मसरण चक्र) दिखलाया गया है तथा तत्त्वज्ञान
से लेकर अपवर्ग तक अपवर्ग को दिखलाया गया है।

तिकं:

न्यायभाष्यम्

ज्ञाततत्त्वेऽथं यस्य धर्मस्याभ्यनुज्ञाकारणमुपपद्यते, तमनुजानाति । यद्ययमनुत्पित्तधर्मकः ततः स्वकृतस्य कर्मणः फलमनुभवित ज्ञाता । दुःखजन्म-प्रवृत्तिदोषिभिश्याज्ञानानामृत्तरमुत्तरं पूर्वस्य पूर्वस्य कारणम्, उत्तरोत्तरा-पाये च तदनन्तराभावाद् अपवर्गः इति स्यातां संसारापवगौः । उत्पत्तिधमंके ज्ञातिर पुननं स्यातामः उत्पन्नः खलु ज्ञाता देहेन्द्रियविषयबुद्धिवेदनाभिः संबध्यते इति नास्येदं स्वकृतस्य कर्मणः फलम् । उत्पन्नश्च भूत्वा न भवतीति, तस्याविद्यमानस्य निरुद्धस्य वा स्वकृतकर्णणः फलोपभोगो नास्ति, तदेवमेकस्यानेकशरीरयोगः शरीरवियोगश्चात्यन्तं न स्यादिति । यत्र कारणमनुपपद्यमानं पश्यति, तन्नानुजानाति । सोऽयममेवलक्षणः ऊहस्तकं इत्युच्यते ।

उत्पत्ति धमं वाला नहीं (अनुत्पत्तिधर्मकः) है, यह विचार होता है। यथार्थतः न जाने गये विषय का विचार करने पर जिस धर्म की स्वीकृति का प्रमाण (कारण) संभव होता है उसे स्वीकार लेता है:—यदि यह झाता उत्पत्ति धर्म वाला नहीं तब (ही) अपने किये कर्म का फल भोगता है। दुःख जन्म, प्रवृत्ति, दोष, मिथ्या ज्ञान में अग्निम—अग्निम (ही) पूर्व पूर्व का कारण होता है' और अग्निम—अग्निम का नाश होने पर उसके पूर्व-पूर्व (अनन्तर) का नाश हो जाने के कारण अपवर्ग (मोक्ष) हो जाता है। इस प्रकार संसार और मोक्ष हो सकते हैं।

किन्तु ज्ञाता के उत्पत्ति धर्म वाला होने पर (संसार तथा अपवर्ग) नहीं हो सकते तब उत्पन्न होकर ही ज्ञाता (आत्मा) शरीर, इन्द्रियाँ, विषय, ज्ञान (बुद्धि) और अनुभव (बेदना) (आदि) से सम्बद्ध होता है, अतः यह इसके अपने किये कर्म का फल नहीं और उत्पन्न होकर (बहु) नहीं रहता, अतः उस (ज्ञाता) के न रहते (नष्ट हो जाने) पर अपने किये कर्म का फलोपभोग नहीं होता; तब इस प्रकार एक (ज्ञाता) का अनेक ज्ञरीरों से सम्बन्ध (प्रेत्यभाव) और अत्यन्त वियोग (अपवर्ग) न हो सकेगा। जिसमें प्रमाण (कारण) को संभव न होते देखता है, उसे नहीं स्वीकारता। धह यह इस प्रकार का विचार (ऊहः) तर्क कहलाता है।

यत्र कारणमनुपपद्यमानं पश्यति अनिष्ट की प्रसिवत से विषयंय की निवृत्ति हो जाती है, प्रमाण के विषय से विषयित की अस्वीकृति से प्रमाण के विषय की स्वीकृति होती है, क्यं पुन: —आशय है यदि 'यह ऐसाहै, इससे भिन्न नहीं' यह तर्क का स्वरूप है तो तर्क को तत्त्वज्ञानार्थ क्यों माना जाता है तर्राज्ञान ही क्यों नहीं मान लिया जाता। न त्ववधारयित —यहां अनेक पर्यायों द्वारा तर्क का निश्चय (तत्त्वज्ञान) से अत्यन्त भेद दिखलाया है प्रमाणसामध्यीत् — तत्त्वज्ञान तो प्रमाण से होता है अतः तर्क तत्त्वज्ञान का स्वतन्त्र कारण नहीं। सोऽयं तर्क: —यदि तर्क तत्त्व निश्चय का साधन नहीं, उसका साधन प्रमाण ही है तो वाद को प्रमाण तकंसाधनोपालम्भः क्यों कहा गया ह? इसके उत्तर में कहा गया है कि तर्क प्रमाणों के विषय को स्पष्ट करके उसमें प्रमाण की प्रवृत्ति कराता है। CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

न्यायसूत्रं भाष्यं च

कथं पुनरयं तत्त्वज्ञानार्थी न तत्त्वज्ञानमेवेति ? अनवधारणात् अनुजा-नत्ययमेकतरं धर्मं कारणोपपत्या न त्ववधारयित न व्यवस्यति न निश्चिनोति, ए। बमेवेदमिति । कथं तत्त्वज्ञानार्थं इति ? तत्त्वज्ञानविषयाभ्यनुज्ञालक्षणाद् अहाद् भावितात्प्रसन्नादनन्तरं प्रमाणसामर्थ्यात् तत्त्वज्ञानम् उत्पद्यत इत्येवं तत्त्वज्ञानार्थं इति ।

सोऽयं तर्कः प्रमाणानि प्रतिसन्दधानः प्रमाणाभ्यनुज्ञानात् प्रमाणसहितो वादेऽपिष्ठिट इति । अविज्ञाततत्त्वेऽथे इति यथा सोऽथीं भविति तस्य तथा-भावस्तत्त्वमिषयययो याथातथ्यम् । १।१।४०॥

न्यायवास्तिकम्

अविज्ञाततस्वेऽथॅ कारणोपपित्ततस्तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः इति सूत्रम् । अस्यार्थः पूर्ववतः । अविज्ञाततस्वेऽथें इति । यथा सोऽर्थों भवति तथाभावस्तत्त्वम् । एतिस्मत् अविज्ञाते सामान्यतोअधिगते । कुतः पुनरेतत् सामान्यतोऽधिगतिमिति ? अविज्ञात-

(प्रक्त) यह (तर्क) तत्त्वज्ञान के लिये होता है, यह कैसे ? तत्त्वज्ञान ही क्यों नहीं होता ? (उत्तर) निक्चय न करने से—यह (विचारक) किसी एक धर्म को प्रमाण के संभव होने से स्वीकार लेता है, अवधारण नहीं करता—व्यवसाय नहीं करता, निक्चय नहीं करता। (प्रक्त) फिर यह तत्त्वज्ञान के लिये कैसे हैं? (उत्तर) विचार किये गये (भावितात्—चिन्तितात् टीं) अतएव स्पष्ट हुए (प्रसन्नात्—निर्मलात्) तत्त्वज्ञान के विषय की स्वीकृति रूप तर्क (उत्हे) के पक्चात् प्रमाण के वल से तत्त्वज्ञान उत्पन्न हो जाता है, इस प्रकार यह (तर्क) तत्त्वज्ञान के लिये हैं।

वह यह तर्क प्रमाणों का समर्थन करता हुआ (प्रतिसन्दधानः) प्रमाणों की स्वीकृति कराने के कारण प्रमाण सहित वाद में कहा गया है। अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे इति जैसा वह अर्थ (विषय) होता है उसका उसी रूप में होना, विपरात न होना, जैसा का तैसा होना, तत्त्व है। १।१।४०॥

अविज्ञाततत्त्वे, इत्यादि सूत्र है। इसका प्रयोजन (अर्थः) पहले के समान है। अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे—जैसा वह अर्थ होता है उसका उसी प्रकार होना तत्त्व हैं, इसके भली भांति ज्ञात न होने पर सामान्यतः ज्ञात होने पर। (प्रक्न) किन्तु यह कैसे (जाना जाता है) कि वह सामान्यतः ज्ञात होता है ? (उत्तर) अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे इसके सम्यक् ज्ञान से—क्योंकि यह (आचार्य) कहता है 'अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे' अर्थात् पूर्ववत्—समानजातीय संशय आदि- से तथा असमानजातीय इच्छा आदि से तकं की व्यावृत्ति करना इस सूत्र का प्रयोजन है। यद्यपि संशय तथा जिज्ञासा भी अविज्ञात तत्त्व अथं में होते हैं वथापि करना इस सूत्र का प्रयोजन है। यद्यपि संशय तथा जिज्ञासा भी अविज्ञात तत्त्व अथं में होते हैं वथापि के कारणीपपत्ति से तत्त्व ज्ञान के लिये नहीं होते (द्र० टी • १८५—१८६)। के कारणीपपत्ति से तत्त्व ज्ञान के लिये नहीं होते (द्र० टी • १८५—१८६)। तत्त्वम्—समानजातीय तथा असमानजातीय से व्यावृत्त अविपरीत हव ही किसी बदायं का तत्त्व है, वात्तिक में 'यथा सोऽर्थः...तत्त्वम्' यह कहा गया है।

न्यायवात्तिकम

तस्वेऽथें इत्यभिज्ञानात्—यस्मादयमाह, अविज्ञाततत्त्वेऽथें इति, तेम ज्ञापयाति, सामान्यमवगतमिति । यदि पुनः लामान्यमपि नाधिगतं स्यात्, न ज्ञूयात् अविज्ञात-तस्त्वे इति, अविज्ञात इत्येवं ज्ञूयात् ।

अविज्ञाततस्वे इति समासोऽयम् । न चावगम्यते किमदिज्ञातं तस्वं येन, उताविज्ञातं तस्वं यस्येति ? कद्रचात्र विशेषः ? यद्यविज्ञातं तस्वं येनं सोऽयमविज्ञात-तस्वः परिच्छेत्ता, तस्मिन्नविज्ञाततस्वे परिच्छेत्तरि तद्यगमार्थभूहरु कं इति प्राप्नोति अथाप्यविज्ञातं तस्वं यस्य तद्यस्त्वविज्ञाततस्वम्, तिस्मन्नविज्ञाततस्वे इति। षष्ठीविग्रहेणातियुक्तमेतत् । विशेषहेत्वभावात् — नात्र विशेषहेतुरिति किमयं तृतीया-विग्रहेण समास उत षष्ठीविग्रहेणेति ? षष्ठीविग्रहेणेति युक्तम्, अर्थग्रहणसामर्थ्यात् — यस्मादयमाह अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे इति । अर्थश्चायंभाणत्वात् कर्मं तेन ज्ञापयिति जिसका यथार्थं स्वरूप न जाना गया हो उस अर्थं में, उससे ज्ञापित करता है कि वह (अर्थ) सामान्यतः जाना गया होता है। किन्तु यदि सामान्यतः भी जाना गया न होता, (आचार्य) अविज्ञाततत्त्वे (नहीं जाना गया है यथार्थं स्वरूप जिसका) न कहता अपि तु 'अविज्ञाते' इतना ही कहता।

(अक्षिप) 'अविज्ञाततत्त्वे' यहां समास है और यह नहीं जाना जाता कि (यहां क्या विग्रह है) क्या नहीं जाना है तत्त्व जिसने (तृतीया) अथवा नहीं जाना गया है तत्त्व जिसना (पण्ठी) ? और, इसमें क्या भेद है ? यदि नहीं जाना है तत्त्व जिसने वह यह अविज्ञाततत्त्व ज्ञाता (परिष्छेत्ता) है तो उस ज्ञाता के तत्त्व को न जानने वाला होने पर उमके ज्ञान के लिये किया गया विमर्श ही तर्क है, यह अर्थ प्राप्त होता है। और यदि नहीं जाना गया है तत्त्व जिसका वह वस्तु अविज्ञाततत्त्व है, उस अविज्ञाततत्त्व में इस प्रकार पण्ठी (विभिवत) के विग्रह से यह अविक युक्त है। (शङ्का) नहीं, विशेष हेतु न होने से—इसमें विशेष हेतु नहीं, क्या यह तृतीया (विभिक्ति) के विग्रह से समास है अथवा पण्ठी के विग्रह से ? [समाधान] पण्ठी के विग्रह से (समास है) यह युक्त है; अर्थ शब्द के सामर्थ्य से —क्योंकि यह (आचायं) कहता है जिसका यथार्थ स्वरूप न जाना गया हो ऐसे अर्थ में (अविज्ञाततत्त्येऽर्थे), और अर्थ तो प्राप्त करने योग्य होने से कर्म है; उससे (आचार्य) सूचित करता है कि यह पण्ठी समास है, तृतीया (विभिक्ति) से विग्रह नहीं। 'अर्थ' शब्द के विना भी सामर्थ्य से ('अर्थ' की) प्रतीति हो जाने से—न जाना

अविज्ञातः सूचत मुलकार ने अविज्ञात न कहकर 'अविज्ञातत्त्व' कहा है इससे सूचित होता है सामान्यतः जाने गये में ही तर्क होता है। परिशृद्धि में बतलाया गया है कि तर्क का विषय अविज्ञाततत्त्व अर्थे है, फल 'फलवत्सिन्नधावफलं तदङ्गम्' इस न्याय से तत्त्वनिर्णय है और स्वरूप अनिष्ट्रप्रसङ्ग है। वह पांव प्रकार का होता है—आत्माश्रय् हतरेतराश्रय, चक्रक, अनवस्था और प्रमाण-वाधित अर्थ का प्रसङ्ग। उदयनावार्य यह भी कहते हैं—विवरणकाराणां मंद्रालानीव ववांसीति तदत्र निरुणेन प्रतिराज्ञा भिवतः वम्, परि० ४८८।

2.2.80]

[३२७

न्यायवात्तिकम्

षष्ठीसमासोऽयं न तृतीयाविग्रह इति । अर्थग्रहणमन्तरेणापि सामर्थ्यंतोऽधिगतेः—
अविज्ञातं तत्त्वं यस्येत्यतुक्तेऽप्यर्थे गम्यत एवैतदर्थ इति । एवमपि समासे सन्देहतादवस्थ्यम् । मा भूत समासो वाक्यमेवास्तु 'अविज्ञातं तत्त्वं यस्येति । भवत्येवमभीघटार्थप्राप्तिः, लाघवार्थं तु समासकरणम् । अनुवतेऽप्यर्थज्ञब्दे सामर्थ्यतो गम्यते
अिज्ञातं तत्त्वं यस्येति । अत्रोक्तं सन्देह एव स्यादिति, समस्तानभिधानप्रसङ्गाच्य—
यदि च सामर्थ्यम् अध्यत्यार्थग्रहण प्रतिषिध्यते, तदैवं युक्तमूहस्तकं इति ।
सामर्थ्यतः क्षेत्रं गम्यत इति । तस्मादर्थग्रहणं ज्ञातृनिराकरणार्थमिति ।

अविज्ञाततत्त्व इति न वक्तव्यम्, गम्यमानत्वात्—कारणोपपत्तितस्तत्त्व-ज्ञानार्थम् ऊहस्तकं इत्युवते गम्यते एतत्, अविज्ञातं तत्त्वं यस्येति । अत्र तावद्वदतं

गया है तत्त्व जिसका इस (विग्रह) में अर्थ शब्द के न कहने पर भी 'अर्थ' में इसकी प्रतीति हो ही जाती है। (शङ्का) इस प्रकार भी समास में सन्देह उसी अवस्था में रहता है? [समाधान] समास न हो, वाक्य ही रहे 'अविज्ञातं तत्त्वं यस्य' (भली भांति नहीं जाना गया है तत्त्व जिसका)। इस प्रकार अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति हो जाती है फिर भी लाघव के लिये समास किया गया है। अर्थ जब्द के न कहने पर भी सामर्थ्य से जात हो जाता है 'अविज्ञात है तत्त्व जिसका' (वह अर्थ)। इस विग्य में (अत्र) कहा गया है कि संदेह ही रहेगा और समस्त (समासयुक्त) पद न कहने का प्राप्त होगा। और, यदि सामर्थ्य का आश्रय लेकर अर्थग्रहण का प्रतियेत्र जिया जाता है त्र तो यह (हहा) युक्त है 'उत्त्रस्तर्कः' भेष की सामर्थ्य से प्रतीति हो जाती है। इसलिये अर्थ (शब्द) का ग्रहण ज्ञाता के निराकरण के लिये है

(आक्षेप)'अविज्ञाततत्त्वे' यह न कहना चाहिये, प्रतीत हो जाने से—प्रमाण के संभय होने से तत्त्रकान के लिए विचार (ऊहः) तर्क है, यह कहने पर यह प्रतीत हो जा ।। है कि जिस (अर्थ) का भिती भांति तत्त्व नहीं जाना गया। [परिहार]

'अबि ा हो इति सनासोऽयम् —यहां तृतीया समास है अथवा पाछी समास, यह विकल्प है पण्ठी समास है, यह निर्णय है।

विशे षहेत्वभावात् -- यह संशयवादी का आक्षेप है।

अर्थं ग्रहण सामर्थ्यात् — पण्ठी समास ही युक्त है, यहाँ अर्थ शब्द दिया गया है, ज्ञेय से ही ज्ञान का व्यपदेश होता है, जैसे घटज्ञान, रूपज्ञान, ज्ञाता से नहीं वह तो सभी ज्ञानों में समान है। यहां अर्थ शब्द का प्रयोग किये विना भी अर्थ शब्द प्रतीत हो ही जाता।

अस्रोक्तं...प्रसङ्गाच्य — यहाँ वात्तिककार ने अपना अभिप्राय बतलाया है। भाव यह है कि सामर्थ्यं अस्रोक्तं...प्रसङ्गाच्य — यहाँ वात्तिककार ने अपना अभिप्राय बतलाया है। भाव यह है कि सामर्थ्यं का से प्राप्त का कथन न करने पर अतिप्रसङ्ग होगा (जो सागे कहा जा रहा है) और सामर्थ्यं का आश्रय लेकर लक्षण में संशय का निराकरण नहीं करना चाहिये। अर्थ शब्द का प्रयोग ज्ञाता की व्यावृत्ति के लिये है। यहाँ लाघव के लिये समास किया गया है जिसे घष्ठी समास मानना हो युक्त है। (यहाँ का वार्त्तिक ग्रन्थ विचारणीय है)।

तर्कः;

न्यायवात्तिकम्

समस्तानभिधानप्रसङ्गादिति । मा भूत् समस्ताभिधानम्, कि नो बाध्यते ? न, बुद्धिधर्मनिराकरणार्थत्वात् । उभयथा खल्वर्थेषूहो भवति विज्ञाततत्त्वे चाविज्ञाततत्त्वे चेति । तत्र तावद् विज्ञाततत्त्वे ऊहः शुश्रूषाश्रवणग्रहणधारणविज्ञानोहाणोहतत्त्वाभिनिवेशा बुद्धिधर्मा इति तत्त्वमवधृतं विज्ञानाति, विज्ञातमूहते इति । किमुक्तं भवति ? योऽसावर्थः पूर्वम् अनेन विज्ञातस्तमेवोहत इति पूर्वानुभूतार्थपरिच्छेद ऊह इत्युच्यते, न त्वयं तकः । यः पुनरविज्ञाततत्त्वेऽर्थे भवति 'ऊहः', स तर्क इति ।

षष्ठ्यभिधानम् अधिकरणार्थासंभवाद् —अविज्ञाततत्त्वस्यार्थस्येति वक्तब्यम् । अविज्ञाततत्त्वोऽर्थो ज्ञायमानः कर्म भवति । कर्मणि च षष्ठ्येव ज्यायतीः; यथा घटस्य विज्ञानमिति । न, विभक्तिन्यत्ययात् —षष्ठीस्थल एबैषा सप्तमी द्रष्टन्याः;

इस विषय में तो कह दिया गया है कि समस्त का कथन न करने का प्रसङ्ग होता है। (आक्षेप) समस्त का कथन न किया जाये, हमारी क्या हानि है। [परिहार] नहीं, बुद्धि (आत्मा) के धर्मों के निराकरण के लिये होने से—अवश्य ही (खलू) अर्थों के विषय में दोनों प्रकार से विचार (ऊह:,मनन) किया जाता है, तत्त्व का ज्ञान होने पर और तत्त्व का ज्ञान न होने पर (भी)। उनमें से तत्त्व का ज्ञान होने पर तो ऊहापोह है श्रवण (सुनने) की इच्छा, श्रवण, ग्रहण, धारण, विज्ञान, ऊहापोह और तत्त्व के आग्रह [अभिनिवेश] होते हैं, इस प्रकार निश्चित (अवयृतम्) तत्त्व को जान लेता है, जाने हुये पर विचार करता है (ऊहते)। क्या भाव है ? जो यह अर्थ इस (ज्ञाता) ने पहल जाना है, उसी का विचार करता है; अतः पहले अनुभव किये (अर्थ) का विवेचन (परिच्छेद) ऊह कहलाता है; किन्तु यह तर्क नहीं है। परन्तु जो भली भांति न जाने गये अर्थ में ऊह होता है वह तर्क है।

(आक्षेप) षष्ठी विभक्ति में कहना चाहिये, अधिकरण अर्थ संभव न होने से—'न जाने गये तत्त्व वाले अर्थ का' (अज्ञाततत्त्वस्य अर्थस्य) ऐसा कहना चाहिये जिसका तत्त्व नहीं जाना गया है वह ज्ञान का विषय होता हुआ (ज्ञायमानः) कर्म हो जाता है, और कर्म में पष्ठी ही अधिक ठीक (ज्यायसी) है; जैसे घंट का विज्ञान । [परिहार] नहीं, विभक्ति का व्यत्यय हो जाने से—षष्ठी के स्थान में ही यह सप्तमी देखनी चाहिये; जैसे अन्य स्थल पर 'इपौ अयुगपत् संयोगिवञ्चेषाः हेतुःकर्मान्यत्त्वे (वै० सू॰

'अविज्ञाततत्त्वे' इति न वक्तव्यस्—तत्त्व को जान लेने पर तत्त्वज्ञान की जिज्ञासा नहीं होती, अतः विना कहे भी 'अविज्ञाततत्त्वे' यह प्रतीत हो जाता है।

अत्र तावदुक्तम् — 'अविज्ञाततत्त्वे' इस समस्तपद को न कहने का प्रसङ्ग होगा ।

मा भूत् --- आक्षेत्ता का कथन है कि समस्तपद का कथन न किया जाये।

न बुद्धिधर्म • — उत्तरवादी का अभिप्राय है, यदि 'ऊहस्तकं; अथवा 'तत्त्वज्ञानार्थम् अहस्तकं:' केवल इतना कहा जाये तो तत्त्व के जान लेने पर भी जो 'ऊह' होता है जिसमें पूर्वानुभूत विज्ञान का विवेक (परिच्छेद) किया जाता है और जो पुनः तत्त्वज्ञान के लिये होता है वह भी तकं हो जायेगा; इसलिये अविज्ञाततत्त्वे यह कहना होगा। न्यायवात्तिकम

यया अन्यत्र, इबावयुगपत् संयोगिवशेषाः कर्मान्यत्वे हेतुः (वै० सृ० ५-१-१६) इति विभिवत्व्यत्ययः। कस्मात् ? यदि व्यत्ययेन किश्चवर्यौ लभ्यते, युक्तो व्यत्ययः, यथा तिस्मन्तेव इबावयुगपत् संयोगिविशेषा इति अधिकरणार्थः। इषोरिपि येऽत्रयवाः, तेषामिष ये संयोगिवशेषास्तेऽिष कर्मान्यत्वे हेतुरिति । न पुनिरह विभिवत्व्यत्ययेन फलं पश्यामः। तस्मात् न युक्तो विभिवत्य्यत्यय इति। न, न युक्तः, सामान्याधिगतस्य विशेषज्ञापनार्थम् यस्यैव सामान्यमधिगतः तद्वितनो विशेषा अप्यवगन्तव्या इति। ते च विशेषाः संयोगिनः समवायिनश्च भवन्तीति । कारणोपत्तितइति प्रमाणोपत्तितः। उपपत्तिः संभवः। संभवित एतिसम्बर्थे प्रमाणिमिति, भवेदयमर्थं इति। उदाहरणम्, योऽयं ज्ञाता ज्ञातव्यमर्थं जानीते तं

४.१.१६) में विभक्ति का व्यत्यय देखा जाता है। (आक्षेप) क्यों ? यदि व्यत्यय में कोई फल (अर्थः)प्राप्त होता है तो व्यत्यय युक्तियुक्त है; जैसे उसी (प्रयोग) में इपु (बाण) में एक साथ न होने वाले संयोगिवशेष, यह सप्तमी (अधिकरण) का अर्थ है। इपु के जो अवयव हैं, उनके भी जो संयोगिवशेष हैं वे भी कर्म के अन्य होने में हेतु होते हैं। किन्तु यहां विभक्ति के व्यत्यय से कोई फल हम नहीं देखते। इसलिये विभक्ति—व्यत्यय ठीक नहीं। [परिहार] ऐसा नहीं कि ठीक नहीं; क्योंकि सामान्यतः जाने गये का विशेष ज्ञान कराने के लिये यह है—जिसका सामान्य ही जाना गया है उस में होने वाले विशेष भी जानने चाहियें। और, वे विशेष संयोग सम्बन्ध से युक्त (जैसे धूम के संयोगी अग्नि आदि) तथा समवाय सम्बन्ध से युक्त (जैसे नित्यत्व आदि के समवायी आत्मा आदि) होते हैं।

कारणोपपत्तितः = प्रमाणोपपत्तितः, प्रमाणों के संभव होने से । उपपत्ति = संभव । इस विषय (अर्थ) में प्रमाण संभव है; यह अर्थ हो सकता है इत्यादि । उदाहरण है जो यह ज्ञाता जैय अर्थ को जानता है उसे यथार्थ रूप से जान लूं कि वया यह उत्पत्ति धर्म बाला है अथवा उत्पत्ति धर्म बाला नहीं है (अनुत्पत्तिधर्मकः)?

शुश्रूषा — जिसका तत्त्व जान निया जाता है उस पदार्थ में भी शुश्रूषा — सुनने की इच्छा आदि अहापोह — पूर्वानुभूत अर्थ के विवेचन के लिये विचार होते हैं। उनमें तर्क का लक्षण न जाये इस उन्हों अबिहाततत्त्वे कहना होगा। यद्यपि न्या॰ — वै॰ में ये शुश्रूषा आदि आत्मा के धमें हैं, लिये यहां अविज्ञाततत्त्वे कहना होगा। यद्यपि न्या॰ — वै॰ में ये शुश्रूषा आदि आत्मा के धमें हैं,

तथापि यहाँ सांख्य की दृष्टि से बृद्धि के गुण कह दिये गये हैं (द्र०, टी० ५८६)।
न विभिक्तव्यत्ययात् — पब्टी विभिक्त में कहना चाहिये, इस आक्षेप का परिहार करने के

लिये यह कहा गया है। वष्ठी विभक्ति के स्थान में सप्तमी का प्रयोग ही विभक्तिक्यत्यय है। कस्मात् ?यदि...विभक्तिक्यत्यय:—आक्षेप का भाव यह है कि जहाँ कोई फल होता है

वहीं विभिन्ति—स्यत्यय मानता ठीक है। अन्यत्न नहीं।
न, न युक्त:—परिहार का भाव यह है: यहाँ भी विभिन्तिस्यत्य का फल है ही। सामान्यतः
नात का विशेष ज्ञान कराने के लिये ही त्रिभन्तिस्यत्यय है। वे विशेष कहीं संयोग सम्बन्ध से रहते
हैं जैसे अग्नि आदि धूम के साथ संयोग से रहते हैं, कहीं तो समवाय सम्बन्ध से रहते हैं नित्यत्व
आदि आत्मा में समबाय से रहते हैं।

तिर्कः

न्यायवात्तिकम्

तत्त्वतो जानीयेति, किमयमुत्यत्तिधर्मकोऽथानुपत्तिधर्मक इति । यावद्एकतरमनुजाना-तीति माध्यम् । अनुत्यत्तिथर्मकेनानेत अवितव्यमिति य ऊहः स तर्क इति । नन्वेतत् तत्त्वज्ञानमेव, किमुच्यते तत्त्वज्ञानार्थमिति ? नेवं तत्त्वज्ञानमनवधारणात्—न ह्ययमबधारयित 'एवमेवेति' । कि त्वनुत्यत्तिधर्मकेण ज्ञात्रा भवितव्यिमिति प्रमाणविषय-मभ्यनुजानाति । कथं पुनरयं तत्त्वज्ञानार्थों भवति ? प्रमाणविषयविवेचनात्—प्रमाण-विषयमनेन विविनक्ति, अयमर्थो युक्त इति । प्रनाणानि पुनः प्रवर्तयानानि तर्कविविक्तमर्थं तथाभूतमिष्यामयन्तीति ।

उन्हः संशयनिर्ण प्राथ्यां न भिछते' इति के चित् — अयं किलोहः संशयां वा स्यात् निर्णयो वा। यदि संशयस्तदा तेन संगृहीत इति पृथक् न पित्रच्यः। अथ निर्णयः, तदा तेन संगृहीत इति। अपरे तु 'अनुमानं तर्कः' इत्याहुः — हेतुस्तर्को न्यायोऽज्वीक्षा' जब तक इनमें से एक को स्वीकार लेता है यह माष्य है। इस (जाता) को अनुत्यित्त धर्म वाला हो । चाहिये, इस विशय में जो ऊह हो । है वह तर्क है। शङ्का है (ननुच) यह तत्त्वज्ञान ही है किर क्यों कहा जाता है कि यह तत्त्वज्ञान के लिये होता है। [समाधान] यह तत्त्वज्ञान नहीं, निश्चय न करने से — यह (प्रमाता) निश्चत नहीं करता कि ऐसा ही है' किन्तु जा। अनुतादित धर्म वाला हो ना चाहिये, इस प्रकार प्रमाण के विषय को स्वीकार कर लेता है। (प्रश्न) किन्तु यह (तर्क) तत्त्वज्ञान के लिये कैसे होता है? (उत्तर) (इपके द्वारा) प्रमाण के विषय का विवेचन करने से — प्रमाण के विषय का इससे विवेचन करता है कि यह अर्थ युक्तियुक्त है। किर प्रमाण प्रवृत्त होकर तर्क द्वारा विवेचित अर्थ का 'यह ऐसा है' इस प्रकार ज्ञान करा देते हैं।

(आक्षेप) कोई कहते हैं कि तर्क (ऊह) संशय और निर्णय से भिन्न नहीं है—यह विमर्श (ऊह) अवश्य ही (बिल) संश्य होगा अथवा निर्णय। यदि संशय है तो उससे ही इसका सग्रह हो गया, पृथक नहीं पहना चाहिये। यदि निर्णय है तो उससे इस गसंग्रह हो गया। दूसरे (सिद्धान्तैव देशी) तो वहते हैं कि तर्क एकतरमनुजानातीति माध्यम् —भाष्य में 'तमतुजानाति' अनुजानात्ययमेकतरं धर्मम् यह पाठ है, एकतरमनुजानाति ऐसा नहीं । किञ्च, वार्तिक के (चौ० संस्करण १६१६) बनारस सं० में एकतरमनुजानाति ऐसा पाठ है, यादद एकतरमनुजानाति यह, नहीं।

नतु शक्कः का भाव है; तर्क को तत्त्वज्ञान ही मानना चाहिये, तत्त्वज्ञान का सहायक नहीं। कियं कियं तत्त्वज्ञानार्थों अवित- तर्क तत्त्वज्ञान के लिये कैसे है ? इस प्रथन के उत्तर में बतलावा गया है कि यह प्रमाण के विषय का विवेचन करता है, यह बतला देता है कि ऐसा मानना ही युक्त है, ऐसा न मानने में यह दोष है। फिर प्रमाणों द्वारा तत्त्व का निश्चय ही जाता है।

अत्वधारणात्—समाधान का भाव है; तत्त्वज्ञान अवधारणात्मक ज्ञान होता है, तर्क अवधारवात्मक या निश्चयात्मक नहीं होता; अतः यह तत्त्वज्ञान नहीं। न्यायवात्तिकम

इत्यनुमानमाख्यायते इति । अपरे (अन्ये) त्वनुपानभेव तक युक्तयपेक्षं वर्णयन्ति ।

यत्तावत् निर्णयसंग्रयाभ्यां नोहो निज्ञते इति, तस्न प्रत्ययस्वरूपानववाधात्—अविज्ञाततत्त्वेऽश्वे भवतीति सामान्येनाक्षिप्तो भवान्, सत्यमविज्ञाततत्त्वे भवतीति, न पुनः प्रत्ययस्वरूपं व्यज्ञायि भवता । अनवधारणात्मकः प्रत्ययः संज्ञयः 'कि स्विद्' इति; अवधारणात्मकः प्रत्ययः 'एविषयम्' इति निर्णयः । अयं तु संश्यात् प्रच्युतः कारणोगपत्तित्तरस्ति । निर्णयं चाप्राप्तो विज्ञेषा वर्शनात्—विज्ञेषवर्शनात् निर्णयो भवति, न चास्मिन् विज्ञेषवर्शनात् । एतेनानुमानं तर्कं इत्येतविष प्रत्युक्तः विश्वेयावर्शतार्दिति । कि पुनरस्य स्वरूपम् ? भवेदित्येप प्रत्यय इत्येतवस्य स्वरूपमिति ।

अनुमान है—हेतु, तर्क, न्याय, अन्वीक्षा इन शब्दों द्वारा अनुमान कहा जाता है। अन्य (एकादेशी) तो यह कहते हैं कि युक्ति की अपेक्षा रखने वाला अनुमान ही तर्क है।

[परिहार]: प्रथमत: जो यह (कहा गया) है कि निर्णय और संशय से तर्क भिन्न वहीं है। वह ठी कि नहीं, ज्ञान का स्वरूप न समझने से—आपने सामान्यत: यह समझ लिया (आक्षिप्तः) कि जिसका भली भांति ज्ञान न हुआ हो उस अर्थ में तर्क होता है। यह सत्य है कि जिसका तत्त्व ज्ञात नहीं हुआ तर्क उसमें होता है किन्तु ज्ञान (प्रत्यय) का स्वरूप आपने भली भांति नहीं जाना। यह क्या हैं। इस प्रकार का अनिश्चयात्मक ज्ञान संशय है और 'ण्ह इस प्रकार का हैं ऐसा निश्चयात्मक ज्ञान निर्णय है। यह (तर्क) सौ संशय से पृथक् है, प्रमाण (कारण) संभव होने के सामर्थ्य से—क्योंकि संशय में प्रमाण संभव नहीं है। और, यह निर्णय (क्षा) को प्राप्त नहीं होता, विशेष का दर्शन न होने से—विशेष के दर्शन से निर्णय होता है और इस (तर्क) में विशेष का दर्शन नहीं होता।

इससे 'तर्क अुमान है' इसका भी निराकरण कर दिया गया; क्योंकि (तर्क में) विशेष का दर्शन नहीं होता। फिर इसका स्वरूप क्या है? ऐसा हो सकता है' (भवेदिति) यह प्रतीति इसका स्वरूप है।

अपरे तु — ये सिद्धान्त के एकदेशी है, केचित् सिद्धान्तैकदेशितः अनुमानं तर्क इत्याहुः, टी० ५८०। अन्ये — यहां भी वात्तिक की प्रकाशित पुस्तकों में अपरे पाठ है। टीका के अनुमार 'अन्ये, पाठ संगत। ये भी ,एकदेशी हैं टीका में आगे कहा है, द्वितीयमेकदेशिनं निराकरोति-यैरपीति। यत्तावत् — प्रथम आक्षेप का परिहार किया गया है। (टी०५८०)।

विशेषादर्शनात् –विशेष के दर्शन से प्रमाण द्वारा निश्वय होता है,।तर्क द्वारा नहीं, तर्क तो प्रमाण का मार्ग उद्घाटित करता है। एतेन —विशेषादश्नितत्' इस कथन से, चोदकं निराकृत्य सिद्धान्तेकदेशिनं निराकरोति 'टी०५८७

कि पुनरस्य—पहांतर्भका स्वरूप पूछने के लिये प्रश्न किया नया है।

न्यायवात्तिकम्

यैरप्यनुमानं युक्त्यपेक्षं तर्कं इत्युच्यते, तरेप्यनुमानात् तर्कंभेदः स्वयमेवोक्तः।
युक्तिः प्रमाणो पित्तः, तामपेक्षमाणो यः प्रत्ययः स तर्कः इति केवलं संज्ञाभेदभादमः
अय न प्रमाणोपपित् युंक्तः, अनुमानं युक्तयपेक्षमि युक्त्यपेक्षासामर्थ्यं वक्तव्यम् । स्विवप्या
धिगमे चानुमानं किमपेक्षते ? अथेतरप्रमाणापेक्षा युक्तिरित्युच्यते ? एवमप्यनुप्रहाथौं
वक्तव्यः, कथं प्रत्यक्ष्मगमाभ्यामनुमानमनुगृह्यते इति ? अथानुमानस्य प्रत्यक्षागमकविषयत्वम् । तत्रापि कः तर्कः ? त्रीण्येतानि प्रमाणान्येकविषयत्या प्रतिसहितानीति
भवेदवथारणप्रत्ययौ भिन्निनित्तौ विशेषवन्त्वात् प्रत्यक्षानुमानप्रत्ययवत् ।

जो (अन्य एकादेशी) कहते हैं कि युक्ति की अपेक्षा करता हुआ अनुमान (ही) तर्क है, उन्होंने भी अनुमान से तर्क का भेद स्वयं ही कह दिया। यक्ति का अर्थ है प्रमाणों का संमव होना, उसकी अपेक्षा करता हुआ जो ज्ञान (प्रत्यय) है वह तर्क है, इस प्रकार (आपके कथन और हमारे कथन में) केवल नाममात्र का भेद है। (शक्का) यदि प्रमाण का संभव होना युक्ति नहीं तो (समाधान) युक्ति की अपेक्षा करता हुआ अपूरान तर्क है, यहां अपेक्षा का अभिप्राय (सामर्थ्य) कहना होगा और अपने वित्रय के ज्ञान में अनुमान किसकी अपेक्षा करता है यह भी। यदि कहा जाता है कि अन्य (अनुमान से निन्न) प्रमाण की अपेक्षा करना (ही) युक्ति है (जब अनुमान अन्य प्रमाण की अपेक्षा करेगा तो वह अन्य प्रमाण इसका अनुग्राहक होगा। इस प्रकार भी अनुग्रह का अर्थ कहना होगा कि प्रत्यक्ष और आगम के द्वारा अनुमान का कैसे अरुपह किया जाता है ? (शङ्का) यदि अनुमान का प्रत्यक्ष और आगम के समान (एक) विषय में होना (अनुग्रह) है। [समाधान] उसमें भी तर्क वया हैं ? ये तीन प्रमाण (प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम) एक विषय के साथ सम्बद्ध हैं। (वस्तुतः) 'ऐसा हो सकता है (भनेत् अर्थात् तर्क) तथा 'निश्चयात्मक ज्ञान' दोनों भित्र निमित व ते हैं, भेर (विशेष) वाले होने से, प्रत्यक्ष और अनुमान ज्ञान (प्रत्यय) के समान।

भवेदिति प्रत्यय: — ऐसा होवे , ऐसा हो सकता है, प्रमाण के विषय की स्वीकृति तर्क का स्वरूप है, प्रमाणविषयाभ्यनुक्तेत्यय:, टी० ५८७ ।

यैरि प्विचयि युव यपेक्ष अनुमान को तर्क कहते हो तो अनुमान और तर्क का भेद स्वयं मान लिया। यहाँ द्वित्तीय एकदेशीं का निराकरण किया गया है (टी०५८७)

सं जाभेदमात्म — आप उसे युक्त्यपेक्ष अनुमान कहते हैं हम तर्क कहते है यह नाममात्र का भेद है। एवमिय — यद्युत्पत्ती प्रत्यक्षागमापेक्षमनुमानम, न वक्तव्यं युक्त्यपेक्षमिति, सर्वस्यानुमानस्य तथा भावेनाव्यभि वारेण विशेषणायोगादिति भावः. टी॰ ४५७।

भिन्नेदवधारणप्रत्ययौ—भवेत् = तर्क, अवधारण प्रत्यय = निश्चित ज्ञान, ये दींनों भिन्न निमित्त बाले होते हैं, भवेदिति प्रत्ययोऽवधारणप्रत्ययश्चेत्यर्थः, टी० ५८७ । तर्क की सत्ता में प्रमाण दिया षया है। 2.8.887

न्यायवास्तिकम

[333

अनुमानं तर्कः, लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धस्मत्यपेक्षत्वात्, अनुमानवस् इति । न, तर्कस्वरूपानकोधात्। नैव लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धस्मृत्यपेक्षस्तर्कः। कथमिति ? द्वयस्या-निधगतेः—यत्र खलु उपमधिगम्यते धर्मी साधनधर्मश्च, तत्रानुमानं प्रवर्तते । यत्र पुनः र्योमनात्राधिगतिः, न लिङ्गाबिगतिरस्ति स तर्कविषयः, तस्मात् लिङ्गलि-ङ्गिसम्बन्धस्म्स्यपेक्षत्वमयुक्तम् । अतुमानं च र्घामगतध मोंपलब्ध्या प्रदर्तते, न पुनस्तर्कः [।] तर्कस्त्वन्यगतधर्मदर्कानेनापि प्रवर्तते; यथा भवितव्यमनेन पुरुषेण यथा अस्मिन् देशे अक्वा बाह्य ते इति, अक्वाहनं न पुरुववर्मः । सोऽयमन्यगतधर्मी पत्या स्याणुब्यवछेद-मात्रमृह इति ।

सोऽयं तर्कः प्रमाणानि संघत्त इति प्रमाणसिहतो वादेऽपदिष्टः, न पुनर्यं

प्रमाणपपरिच्छेदकत्वाद इति । १।१।४०।।

(आक्षेप) तर्क अनुमान है लिङ्ग तथा लिङ्गी के सम्बन्ध की स्मति की अपेक्षा करने से, अनुमान के समान । [परिहार] नहीं; तर्क का स्वरूप न समझने से लिङ्ग तथा लिङ्गी के सम्बन्ध की स्मृति की अनेक्षा से तर्क नहीं होता । कैसे ? दोनों का ज्ञान न होने से--निश्चय ही (खलु) जहां घर्मी तथा साधन धर्म दोनों जाने जाते हैं, वहां अनुमान की प्रवृत्ति होती है; किन्तु जहां केवल धर्मी का ज्ञान होता है, लिङ्ग का ज्ञान नहीं होता वह नक का विषय है। इसलिये तक लिङ्ग लिङ्गी के सम्बन्ध की स्मृति की अपेक्षा करता है, यह युक्तियुक्त नहीं। किञ्च अनुमान धर्मी में स्थित धर्म की उपलब्धि से प्रवृत्त होता है; किन्तु तर्क नहीं, तर्क तो अन्य में स्थित धर्म के दर्शन से भी प्रवृत्त हो जाता है; जैसे 'यह पुरुष 'होना चाहिय; क्योंकि इस देश में अश्व जोते (बाहे) जाते हैं, 'अश्ववाहन' पुरुष का धर्न नहीं, वह अन्यगत (देश में स्थित) धर्म के संभव होने से स्थाणु की व्यावृत्ति मात्र कराने वाला तर्क है।

वह यह तर्क प्रमाणों का सहायक होता है (संघत्ते), इसलिये प्रमाण सहित वाद में बतलाया गया है, किन्तु यह प्रमाण नहीं है; क्योंकि अर्थ का निश्चायक

नहीं होता (अपरिच्छेदकत्वात्) । १।१।४०॥

अनुमानं तर्क: -- आक्षेप का भाव है: जिस प्रकार घुम आदि लिङ्ग और अग्नि आदि लिङ्गी के सम्बन्ध या व्याप्ति की स्मृति होने पर अनुमान होता है उसी प्रकार तक भी।

नैव-तक लिङ्ग और लिङ्गी के सम्बन्ध की समृति की अपेक्षा नहीं रखता। धर्मी मात्र के ज्ञान से

ही तर्क हो जाया करता है। यहाँ अनुमान और तर्क का भेद दिखलाया गया हैं। अनुमानं च-यहाँ अनुमान तथा तर्क का अन्य भेंद दिखलाया गया है। वर्मी में स्थित धर्म की उपलब्धि से अनुमान प्रवृत्त होता है किन्तु अन्यगत धर्म के दर्शन से भी तर्क प्रवृत्त हो जाता है। इसका उदाहरण दिया गया है यथा इत्यादि यहाँ दूसरा 'यथा' यतः के अर्थ में प्रतीत होता है। सोऽयं तर्क:--यह भाष्य (सोयं तर्कः प्रमाणीनि इत्यादि) की व्याख्या है' भाष्य-

व्याख्यानं सोऽयमिति, टी० ५८८।

न्यायसूत्रं भाष्यं च

एतिस्मिश्च तर्कविषये, विस्वृद्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णायः । १।१।४१॥ न्यायवास्तिकम्

एतिस्मञ्च तर्कविषये विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णय इति सूत्रम्। सम्बन्धोऽर्थश्च पूर्ववद् इति । 'विमृश्येति निमशं कृत्वा । पक्षात् प्रतिपक्षाच्च पक्ष-प्रतिपक्षाभ्याम् । पक्षशब्देन पक्षविषयं साधनमुच्यते । प्रतिपक्षशब्देन प्रतिपक्षविष-यस्य साधनस्यो यदर्थावधारणं स निर्णय इति ।

क्व पुनरयं नियमः ? किं तावन्निर्णये ? आहोस्वित् पक्षप्रतिपक्षाभ्याम् ? अथ विम्इयेवेति ? यदि विमृइय पक्षप्रतिपक्षाभ्यामेव निर्णय इति निर्णये नियमः, इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानिमत्यस्य व्याघातः । एतेन विमृइयैवेति प्रत्युक्तम् ।

इस तर्क के विषय में—

विमर्श (संशय) करके पक्ष तथा प्रतिपक्ष के द्वारा अर्थ का निश्चय करना निर्णय है १।१।४१।।

इस तर्क के विषय में, विमृत्य इत्यादि सूत्र है। इसका सन्वन्ध और प्रयोजन (अर्थ) पहले के समान है। विमृत्य का अर्थ है संशय (या विचार) करके पक्ष से और प्रतिपक्ष (से — पक्षप्रतिपक्षाम्याम्, पक्ष तथा प्रतिपक्ष से)। पक्ष शब्द से पक्षविषयक साथन कहा गया है, प्रतिपक्ष शब्द से प्रतिपक्षविषयक साधन का खण्डन (उपालम्भ) उन साधन तथा उपालम्भ से जो अर्थ का निश्चय करना है वह निर्णय है।

(आक्षेप) किन्तु यह नियम कहाँ है ? क्या निर्णय में है ? अथवा पक्ष प्रति-पक्ष से ? या संशय करके ही (निर्णय होता है) ? यदि संशय करके पक्ष प्रतिपक्ष से ही निर्णय होता है, इस प्रकार निर्णय में निमय है तो इन्द्रिय और अर्थ के सिन्नकर्ष से उत्पन्न होने वाला ज्ञान (प्रत्यक्ष नामक निर्णय होता है) इसका विरोध होगा। (वहां न पक्ष-प्रतिपक्ष हैं, न विमर्ण हो)। इस (विरोध) से संशय करके ही (विभृश्येव) इसका निराकरण हो गया।

सम्बन्धोऽर्थरच पूर्ववत् — उद्देश के कम से तकं के अनन्तर निर्णय है, यह सम्बन्ध है। अर्थ = प्रयोजन, समानजातीय और असमानजातीय की व्यावति ।

पक्षप्रतिपक्षाभ्याम् — सूल में पक्ष शब्द से साधन लक्षित होता है और प्रतिपक्ष शब्द से दूषण (उपालम्भ)। साधन तथा दूषण से ही अर्थ का निर्णय होता है।

क्व पुनरयं नियम:—यहाँ तीन विकल्य हैं। जिससे एवकार होता है उससे अन्यत्न अवधारण हुआ करता है (यतः एवकारः ततोऽन्यत्नावधारणम्)।:—(१) यदि 'पक्षप्रतिपक्षाभ्यामेव' ऐसा नियम किया जाता है तो निर्णय में नियम होगा, (२) निर्णय एव' इसमें पक्ष तथा प्रतिपक्ष से यहाँ नियम होगा और (३) विमृष्यंव, इससे भी निर्णय में ही नियम होगा।

यदि विमृश्य — यदि प्रथम विकल्प माने तो प्रत्यक्ष प्रमाण निर्णय का फल न होगा, बहाँ न पक्ष प्रतिपक्ष हैं, न विमर्श ही।

एतेन-इस व्याघात दोष के कारण ही तृतीय विकल्प का निराकरण हो गया।

(\$\$x.9.9

न्यायवात्तिकम्

अथ पक्षत्रतिपक्षाभ्यां निर्णय एव ? उभयाश्रयो निर्णयः प्राप्नोति । तर्कविषये नियमे नान्यत्र—पोऽयं तर्कस्य विषयः, एतिसमंद्रच तर्कविषये विमृद्ययेवेति सामान्यनिर्णय लक्षणभेतत् । कुतोऽयं नियमस्तर्कविषय इति ? तर्कस्यानन्तरोहे ज्ञात् तर्कविषये नियमः । अन्यथापि च निर्णयस्य भावान्न निर्णय (१) इति । अथ निर्णयस्य कि लक्षणम् ? अर्थपरिच्छेदः, अवधारणं निर्णय इति । सोऽयं निर्णयः प्रमाणविषये भवन्नेकज्ञस्य प्रमाणैः कियते संहत्य च । तर्कविषये सहत्य, अन्यवैकज्ञस्चिति । ज्ञास्त्रो वादे च विमशंबर्जम् । वादे पञ्चप्रतिपक्षाभ्यामेव । न ज्ञास्त्रो वादे च विमशंक्ति, उभयोनिश्चितत्वात्, ज्ञास्त्रास्प्रप्रमान्यदार्थस्य निश्चितत्वाच्च ।

यदि पक्ष और प्रतिपक्ष से निर्णय ही होता है तो दोनों (पक्ष-प्रतिपक्ष और इनके अगाव) के आश्रित निर्णय है, यह प्राप्त होता है। [परिहार] तर्क के विषय में नियम है, अन्य स्थल पर नहीं—जो यह तर्क का विषय है, इस तर्क के विषय में संगय करके पक्ष और प्रतिपक्ष से ही निर्णय होता है, । पक्ष और प्रतिपक्ष से ही संगय करके ही निर्णय होता है यह सामान्य निर्णय का लक्षण नहीं है। (प्रश्त) यह तर्क के विषय में ही नियम क्यों है? (उत्तर) ठीक पहले (अनन्तर) तर्क का कथन करने से तर्क के विषय में (ही) नियम है। अन्य प्रकार से भी निर्णय हो जाने के कारण निर्णय में यह नियम नहीं। तब निर्णय का क्या लक्षण है? अर्थ का निश्चय (परिच्छेदः) = अवधारण निर्णय है। वह यह निर्णय यदि प्रमाण के विषय में होता है तो प्रमाणों के द्वारा एक एक से किया जाता है अथवा मिलकर (संहत्य) तर्क के विषय में मिलकर और अन्य स्थलों में एक-एक के द्वारा। ज्ञास्त्र में और वाद में संगय के विना होता है। वाद में पक्ष और प्रतिपक्ष से ही होता है। शास्त्र में और वाद में संगय के विना होता है। वाद में पक्ष और प्रतिपक्ष से ही होता है। शास्त्र में और ज्ञास्त्र में संगय नहीं होता; क्योंकि दोनों (वादी-प्रतिवादी) निश्चिय होते हैं और ज्ञास्त्र में संगय नहीं होता; विश्वत होता है।

उभयाश्रयो निर्णयः — इस द्वितीय विकल्प में निर्णय का नियम न <mark>होगा। पक्ष-प्रतिपक्ष और</mark> इनका अभाव ये दोनों (उभय) निर्णय के आश्रय होंगे तथा निर्णय का लक्षण अब्यापक होगा (टी० ५६३-५६४)। तर्कविषये: —यह निर्णयमात्र का लक्षण नहीं अपितु निर्णयविशेष का जो तर्क के विषय में हुआ

करता ह । न पक्षप्रतिपक्षाभ्यामेद—यहाँ न्यायचतुर्प्यं न्यिका में 'न पक्षप्रतिपक्षाभ्यां नियमो न निर्णये विमृष्यं वैति सामान्यनिर्णयलक्षणमेतत्' यह पाठ है । चौ० संस्करण का पाठ स्पष्ट प्रतीत होता है अतः रवखा गया है ।

न निर्णय इति—न निर्णयमाल इत्यर्थः, टी॰ ५६४ । यह नियम निर्णयमाल में नहीं अपि तु तक

विषयक निर्णय में ही है। अथ निर्णस्य—सामान्य निर्णय का, निर्णयस्य = निर्णयमात्रस्य, निर्णयसामान्यस्य। एकदाश्च प्रमाणै:—प्रत्यक्षादि प्रमाणौं में से एक-एक के द्वारा, संहत्य = मिलकर, साधन दूषण-समाधानैरित्यर्थः, टी० ४६४।

उभयो:--वादी और प्रतिवादी के निश्चययुक्त होने से।

१. निर्णयभाव इति, क; निर्णय इति, ख.

[निणंय:

न्याय भाष्यम्

स्थापना साधनम् , प्रतिषेध उपालम्भः । तौ साधनोपालम्भौ पक्ष-प्रतिपक्षाश्रयौ व्यतिषक्तावनुबन्धेन प्रवर्तमानौ पक्षप्रतिपक्षावित्युच्येते । तयोन्यतरस्य निवृत्तिः एक्तरस्यावस्थानम् अवर्जनीयम् अवश्यम्भावित्वात् । यस्यावस्थानं तस्यार्थीवधारणं निर्णयः ।

न्यायवास्तिकम्

पक्षप्रतिपक्षशब्देन साधनोपालम्भयोर्ग्रहणम्, इत्ययुक्तं प्रामाणाभावात्—पक्ष-प्रतिपक्षशब्देन साधनोपलम्भावुच्येते इति कि प्रमाणम्? कस्मात् पुनयंथाश्रुति न भवति? पक्षप्रतिपक्षयोः कर्मत्वात्; न च कर्म अर्थपरिच्छेदकं परिच्छेद्यत्वात्। तस्मात् पक्षप्रतिपक्षशब्देन परिच्छेदक्योः साधनोपालम्भयोर्ग्रहणम्, तयोरकर्मकत्वात्।

किसी (अर्थ) की स्थापना करना साधन है और प्रतिषेध करना उपालम्भ। पक्ष और प्रतिषक्ष के आश्रित होने वाले, परस्पर सम्बद्ध (व्यतिषक्तों)। एक दूसरे के पीछे (अनुबन्धेन) प्रवृत्त होने वाले वे साधन और उपालम्भ ही पक्ष-प्रतिपक्ष कहे गये हैं। उनमें से किसी एक की निवृत्ति और किसी एक का ठहरना (अवस्थान) अनिवार्य है; क्योंकि वह अवस्यम्भावी है। जिसका अवस्थान होता है उसके अर्थ का निश्चय (अवधारण) ही निर्णय है।

(आक्षेप यहां पक्ष-प्रतिपक्ष शब्द से साधन और उपालम्म का ग्रहण होता है, यह कहना अगुक्त है, प्रमाण न होने से—पक्ष, प्रतिपक्ष शब्द से साधन और उपालम्भ कहे जाते हैं, इसमें क्या प्रमाण है ? किन्तु शब्द के अनुसार (यथाश्रुति) ही (अर्थ) क्यों नहीं हो जाता ? [परिहार] पक्ष ओर प्रतिपक्ष के कर्म होने से; और कर्म अर्थ का बोधक या निश्चायक (पिन्रिछेदक) नहीं होता; क्योंकि वह बोध का विषय (परिच्छेद्य) होता है। इसलिये पक्ष, प्रतिपक्ष शब्द से निश्चायक जो साधन और उपालम्म हैं उनका ग्रहण होता है; वे कर्म नहीं हैं।

स्थापना साधनम् — यहाँ पक्ष-प्रतिपक्ष कर्म है अतः निर्णय के साधन नहीं होते। इसी से वादसूत (१.२.१) में स्थित साधन और उपालम्भ ही पक्ष-प्रतिपक्ष भाव्य के लक्ष्यार्थ है। तो साधनोपालम्भो — यहाँ लक्षण का निमित्त होने वाला सम्बन्ध दिखलाया गया है। यद्यपि उपालम्भ प्रतिपक्ष में आश्रित नहीं होता तथापि प्रतिपक्ष को उद्देश करके कहा जाता है अतः उसके आश्रित कह दिया गया है।

•यतिषक्तौ:—मुह्यपदोपादानोलङ्घनेन लाक्षणिकपदोपादानलभ्यं प्रयोजनमाह—व्यतिषक्ती, टौ॰ ४६२ । सम्भवतः यह भी लक्षण का निमित्त ही दिखलाया गया है (?) प्रयोजन =िनित्त अनुबन्धेन प्रवर्तमानौ:—यहाँ दिखलाया गया है कि साधन तथा उपलाम्भ एक दूसरे के पीछे प्रवृत्त होते हैं, किसी एक के निर्णय से साधन और उपालम्भ समाप्त हो जाते हैं, इसका अर्थ वार्तिक में स्पष्ट हआ है। 8.8.85]

1330

स्वायवादितकम्

त्योरेव कस्मात् न ग्रहणम् ? एवमेय च वत्तव्यम् विमृश्य साधनीयावस्थाभ्याम् अथिवधारण निर्णय इति । एवं सित विस्पद्धीऽथीं भवित । न च लायवहृतः किव्वद् विशेष इति । न, एकविषयज्ञापनार्थत्वात—पितृषयौ साधनीपालस्थी तिविषयो निर्णयः । अन्यथा हि साधनीपालस्थाम्यां निर्णय इत्युवते न ज्ञायते तत् वय निर्णय इति । पञ्जप्रतिपञ्चावद्याम्यां च साधनीपालस्थाम्यां हर्णं तिविषयस्य चेति । अर्थग्रहणम् तीहि न कर्तव्यम्, गम्यमानत्वात् । केन ? विमृश्य पञ्चप्रतिपञ्चाम् अवधारणम् इत्युवते गम्यतेऽर्थस्येति । तस्मादर्थग्रहणं न कर्तव्यम् । न, न कर्तव्यम्, श्रुतिसामध्यद् अन्यतर-विर्णयशापनार्थम् —गम्यमानस्या अर्थग्रहणं यत् करोति, तेन ज्ञापयत्यन्यतरस्मिन् पञ्चे निर्णय इति ।

(आक्षेप) [फिर सूत्र में] उन [सायन और उपालम्भ] का ही क्यों नहीं ग्रहण किया गया? इस प्रकार कहना चाहिये 'विसृध्य साधनोपालम्भाभ्याम् अर्थावधारणं निर्णयः। ऐसा होने पर स्पन्ट अर्थ होता है और लाघत्र [की दृष्टि से] होने वाला भी कोई भेद नहीं। [परिहार] यह [ठीक] नहीं, एक विषय का बोध कराने के निये होते से-जिस विषय में साधन और उपालम्भ होते हैं, उस विषय में ही निर्णय होता है, नहीं तो साधन और उपालम्भ से निर्णय होता है, यह कहने पर ज्ञात नहीं होता कि निर्णय कहां होता है। पक्ष और प्रतिपक्ष शब्दों से साधन और उपालम्भ का ग्रहण होता है । पक्ष और प्रतिपक्ष शब्दों से साधन और उपालम्भ का ग्रहण होता है और उनके विषय का भी। [आक्षेप] तब [तिह] अर्थ शब्द का ग्रहण न करना चाहिय, प्रतीत हो जाने से। किससे? संशय करके पक्ष और प्रतिपक्ष से निश्चय करना इतना कहने पर प्रतीत हो जाता है भर्य का' [अर्थस्य] इस लिये [यहाँ] 'अर्थ' का ग्रहण न करना चाहिये। [परिहार] महीं करना चाहिये, ऐसा नहीं, शब्द [श्रुति[के सामर्थ्य से [पक्ष, प्रतिपक्ष में से] किसी एक का निर्णय होता है, इस ज्ञापन के लिये है—जो प्रतीत हो जाने वाले भी अर्थ [शब्द] का ग्रहण [आचार्य] करता है, उससे सूचित करता है कि दोनों में से किसी एक पक्ष में निर्णय होता है।

तयोरन्यतरस्य — जो साधन अयवा उपालम्म ठहरता है उस साधन या उपालम्म का जो अर्थ है पक्ष या प्रतिपक्ष, उसका ही निर्णय कर किया जाता) है । लाघवकृत: — साधनोपालम्भाभ्याम् और पक्षप्रतिपक्षायभम् दोनों में समान ही शब्दों का ग्रहण करना होता है। हां, यदि मालाओं की गणना की जाये तो 'पक्षप्रतिपक्षाभ्याम्' में लाघव है। न, एकविषयज्ञापनार्थंत्वात् — जिस ।वषय में साधव और उपालम्भ होते हैं उसमें ही निर्णय हुआ करता है, यह सूचित करने के लिये पक्ष-प्रांत पक्ष मन्द का ग्रहण किया गया है। इन शब्दों से लाधन और उपालम्भ का ही ग्रहण नहीं होता अपि तु उनके हिवषय का भी ग्रहण होता है। अर्तिता है। अर्तिता व्यात् — 'अर्थ' शब्द प्रतीत हो जाता फिर भी इसका ग्रहण किया गया है, यह सूचिव करता है कि पक्ष अथवा प्रतिपक्ष किसी के विषय में भी निर्णय हो जाया करता है।

न्यायभाष्यम्

नेदं पक्षप्रतिपक्षाभ्याम् अर्थावधारणं सम्भवतीति, एको हि प्रतिज्ञातमध् तं हेतुतः स्थापयति, प्रतिषिद्धं चोद्धरति द्वितीयस्य । द्वितीयेन स्थापनाहेतु-एक प्रतिषिध्यते तस्यैव प्रतिषेधहेतुरचोद्वियते । स निवर्तते । तस्य निवृत्तौ यो ऽवितिष्ठते तेनार्थावधारणं निर्णयः । उभाभ्यामेवार्थावधारणम्' इत्याहा क्या युक्त्या ? एकस्य सम्भवो द्वितीयस्यासम्भवः । तावेतौ सम्भवासम्भवौ विसशं सह निवर्तयतः उभयसम्भवे उभयासम्भवे व्यनिवृत्तो विमर्शं इति । न्यायवात्तिकम्

पक्षप्रतिपक्षाभ्याम् अर्थावधारणम् इत्ययुक्तम्, एक्रमाद्धिगते — नेदं पक्षप्रतिपक्षाभ्यां संहताभ्यामवद्यारणम् । कि तिहि? एकस्माद्, योऽवितिष्ठते इति । उभाभ्यामेवेत्याहः कथमिति ? उभविवृताविवृतौ विमर्जाः, उभयावस्थाने चानिवृत्त इति ।
यदा त्वेकोऽवितिष्ठते, एको निवर्तते, तदा निर्णय इति । अतः संहत्योभौ पक्षप्रतिपक्षौ
निर्णयहेतु इति ।

[आक्षेप] यह पक्ष और प्रतिषक्ष द्वारा अर्थ का निश्चय नहीं हो सकता। वस्तुतः [हि] वादी [एकः] प्रतिक्षा द्वारा प्रकट किये गये [प्रतिज्ञातम्] अर्थ को हेतु से स्थापित करता है और दूसरे [प्रतिवादी] द्वारा प्रतिषिद्ध [अर्थ] का उद्धार करता है। दूसरे के द्वारा (वादी) के स्थापना के हेतु का प्रतिषेध किया जाता है और उसके ही प्रतिषेध के हेतु का उद्धार किया जाता है। बह निवृत्त हो जाता है। उसकी निवृत्ति हो जाने पर जो स्थित रहता है [अविष्ठिते) उसके द्वारा अर्थ का निश्चय ही निर्णय है। [परिहार] दोनों से अर्थ का निश्चय होता है, यह कहते हैं। किस यि हो पिर का होना (सम्भवः) और दूसरे का न होना [असम्भवः] ये दोनों सम्भव और असम्भव साथ मिलकर संशय को दूर करते हैं। दोनो (पक्ष,प्रति-पक्ष) के (संभव) होने पर अथवा न होने पर तो संशय दूर नहीं होता।

(आक्षेप) पक्ष और प्रतिपक्ष से अर्थ का निश्चय नहीं होता। तब किससे होता है ? एक से जो स्थित रहता है। [पिहार] दोनों से ही होता है, यह कहते हैं। कैसे ? दोनों की निवृत्ति और दोनों के स्थित रहने पर (भी सशय) निवृत्त नहीं होता। किन्तु जघ एक स्थित रहता है, एक निवृत्त हो जाता है तब निणय होता है। इसिलिये

्दोनों पक्ष तथा प्रतिपक्ष मिलकर ही निर्णय के हेतु होते हैं।

नेदं...निर्णय:—शङ्का का आशय है—पक्ष-प्रतिपक्ष से निर्णय नहीं हीता अपि तुएक से ही निर्णय

होता है। एक: =वादी द्वितोप्रस्य =प्रतिवादी के प्रतिषिद्धम् — (प्रतिषेधम्, वाद्युक्तस्य
हेतोद्र्रिषणम् = वादी द्वारा दिये गये हेतु के दूण द्वितीयेन =प्रतिवादी के द्वारा, वादी द्वारा

दिये मये हेतु का प्रतिषेध करके उसके प्रतिषेध का उद्धार किया जाता है। सः =वादी या

प्रतिवादी का हेतु या उपालम्म निवृत्त हो जाता है उसके निवृत्त होने पर जो ठहरता है उसके
द्वारा अर्थ का निर्णय होता है।

उभाम्यामेव — परिहार का आशय है — वादी का साधन सम्भव हो तथा प्रतिवादी का उपालम्भ । भतम्भव हो अथवा प्रतिवादी का सम्भव हो तथा वादी का उपालम्भ असम्भव हो तभी निर्णय होता है, अतः दोनों से ही निर्णय हुआ करता है । 2.2.83

[३३ ट

स्यायवात्तिकम्

एतिस्मन् विषये कदा निर्णयो भवित ? कि प्रथमे. उत द्वितीये उत मृतीये इति ? सर्वत्रं भवित, अर्थस्य तथाभावात्। अथ वा तृतीय इति युक्तम्। कथिमिति ? एकस्तावस् साधनेच पक्षमवस्थापयित, द्वितीयः साधनं बुद्ध्वा निवर्तते, साधनाभासं वा बुद्ध्वा साधनदोषोद्विभश्वविषणा प्रवर्तते । तं निवर्त्य साधनं द्रवीति । प्रथम इदानीं निव्चितं साधनमिति यदा बुध्यते, न प्रवर्तते । अथ दूषणाभासिमिति बुद्ध्यते, तस्वोद्वावनार्थं प्रवर्तते । तिन्वतंते । कि कारणम् ? प्रथमपक्ष- साधनस्य निर्दोषत्वात्, निर्दोषे च प्रथमपक्षसाधने न द्वितीयस्थावकाद्य इति निवर्तते । द्वितीयस्थावकादा इति निवर्तते द्वितीयः पक्ष इति । योऽत्रावित्वते तस्मिन्निर्णयः । सं च निर्णयः संभवासंभवाभ्यां पक्षप्रतिपक्षयोः संहत्य क्रियते' इति ।

इस निषय में कब निर्णय होता है ? क्या प्रथम [साधन] में अथवा द्विताय [दूपण] में, या तृतीय [समाधान] में ? [उत्तर] सब में हो जाता है [कभी प्रथम में, कभी द्वितीय में, कभी तृतीय में]; क्योंकि अर्थ इस प्रकार का होता है। अथवा लृतीय में होता है, यह युक्त है। कैसे ? प्रथमतः पहला साधन के द्वारा पक्ष की स्थापना करता है। दूसरा उसे साधन जानकर [विरोध से] निवृत्त हो जाता है अथवा उसे साधनाभास जानकर साधनदोप उद्मावित करने की इच्छा से प्रवृत्त होता है। उस (प्रथम) को निवृत्त करके साधन कहता है। अब पहला यदि समझता है कि (यह) निश्चित साधन है तो प्रवृत्त नहीं होता, यदि यह दूषणाभास है, ऐसा समझता है तो उसकी दूषणाभासला (तत्त्व) प्रकट करने के लिये प्रवृत्त होता है। और उसकी निवृत्ति से द्वितीय पक्ष का साधन भी निवृत्त हो जाता है। क्या कारण है ? प्रथम पक्ष के साधन के दोष रहित होने से और प्रथम पक्ष के साधन के निर्दोष होने पर द्वितीय को अवकाश नहीं है अतः द्वितीय पक्ष निवृत्त हो जाता है। जो यहाँ ठहरता है उसमें निर्णय हो जाता है। और, वह निर्णय पक्ष तथा प्रतिपक्ष के (साधन के) संभव होने अथवा न होने से मिलकर किया जाता है।

पक्षप्रतिपक्षाभ्याम्...अयुक्तम् (वा०)—वहां 'नेरम्' इत्यादि आक्षेप कौ व्याख्या की गई है। उभाभ्यामेवेत्याह—यहां परिहार भाष्य की व्याख्या की गई है।

एतस्मिन्-प्रथमे = साधन में, दितीये = दूषण में, तृतीये = समाधान में (द्र॰ टी॰ १९४)। सर्वत्र भवति—भाष यह है कि कभी प्रथम में कभी दितीय में कभी तृतीय में निणंशा हो जाता है।

अथवा तृतीये — तृतीय में तो अवश्य निर्णय हो जाता है।

कथिमिति — प्रश्न यह है कि कहीं कथा (वाद, अल्प, बितण्डा) चतुर्थ और पञ्चम कक्षा में चलती

रहती है फिर तृतीय कक्षा में अवश्य ही निर्णय कसे हो सकता है (परि॰ ५६६)। इसका उत्तर है—

एकस्तावल् " निर्णय: — यदि सहस्रों कक्षा तक भी कथा चलती रहे तो इन तीनों में ही उनका

अन्तभिव हो जाता है, यदि कहीं अन्तभिव न होगा तो वह अर्थान्तर होगा; क्योंकि तीन हो कक्षाण्

कथा को उपयोगी हैं साधन, दूषण और दूषण का उद्धार। इनते पृथक् जो है उसका कथा में कोई

उपयोग नहीं (परि॰ ५६६)।

न्यायभाज्यम्

विस्त्यं इति विसर्शं कृत्वा । सोऽयं विसर्शः पक्षप्रतिपक्षाववद्योत्य न्यायं प्रवर्तेपति इत्युपादीयत इति । एतच्च विषद्धभोरेकयांमस्थयो विद्युष्णया । यत्र तु धानिसामान्यगतौ विषद्धौ धर्मौ हेतुतः सम्भवतः, तत्र समुच्चयः, हेतुतोऽर्यस्य तथायावोपपत्तेः ; यथा कियाचद् इञ्चमिति लक्ष्मपुच्चयः, हेतुतोऽर्यस्य तथायावोपपत्तेः ; यथा कियाचद् इञ्चमिति लक्ष्मपुच्चये यस्य द्वज्यस्य क्रियायोगो हेतुतः सम्भवति तत् क्रियावत्, यस्य न सम्भवति तदिक्रप्यति । एक्ष्यमिन्ययोश्च विषद्धयोः धायोरपूगपद्भाविनोः कालविकल्पः; यथा तदेव द्रव्यं क्रियाय्वतं क्रियावत्, अनुत्पन्ना-परतिक्रयं पुनरिक्रपिति ।

न चार्य निर्णये नियमः, विष्यदेव पक्षप्रतिपक्षाण्यामथीवधारणं निर्णय इति । कि तिह ? भवति खिल्विन्द्रियार्थसिक्षकर्षाद उत्पन्नप्रत्यक्षे-ऽर्थावधारणं निर्णय इति । परीक्षाविधये तु विष्यस्य पक्षप्रतिपक्ष भ्यामर्था-वधारणं निर्णयः । शास्त्रे वादे च विमञ्जवर्जम् ।१।१।४१॥

इति वात्स्यायनीये न्यायभाष्ये प्रथमाध्यायस्य प्रथमाहिनकम् ॥

विमृश्य का अर्थ है संशय करक । वह पह सशय (जिनकी) पक्ष तथा प्रतिण का आश्रय ले कर (अवद्योत्य—जियमेन विषयीकृत्य टी.) अनुमान बाक्य (ग्य.य) को प्रवृत्त करता है। इसलिये इस विमर्श क. प्रहण किया गया है। और यह (संशय) एक धर्मी में दो विरुद्ध धर्मों के स्थित होने पर होता है, यह जानना चाहिये। किन्तु जहाँ हेतु से दो विरुद्ध धर्म एक (सामान्य) धर्मी में संभव हैं वहाँ दोनों का समुच्चय हो जाता है (दोनों का सह अस्तित्व होता है,) क्योंकि हेतु से अर्थ का नैसा होना का जाता है,जैसे 'किया वाला द्रव्य होता है' इस लक्षण-कथन में जिस द्रव्य का किया के साथ सम्बन्ध संगव नहीं है वह कियारहित है । और एक धर्मी में निथतं विरुद्ध धर्मों. का जो एक साथ नहीं हुआ करते काल भेद होता है; जैसे वही द्रव्य विधान्त (उपरत) हो कि कियावत् होता है, किन्तु जिसमें किया उत्पन्न नहीं हुई तथा विधान्त (उपरत) हो कि है, यह कियारहित है।

ह, यह कियाराहत है। आर, यह निर्णय में नियम नहीं कि संशय करके ही, पक्ष तथा प्रतिपक्ष है अपे का निश्चय होता है। तब का है? इन्द्रिय और अर्थ के सिन्नकर्ष से भी अर्थ के सिन्नकर्ष से भी अर्थ के निश्चय होता है। तब का है? इन्द्रिय और अर्थ के सिन्नकर्ष से भी अर्थ के निश्चय होता है (जहाँ संशय नहीं हुआ करता)। हां (तु) परीक्षा के विषय में संश् करके पक्ष और प्रतिपक्ष से अर्थ का निर्णय होता है। और शास्त्र तथा बाद में संश्

विमृद्ध — यद्यपि संशय किसी का उपादेय नहीं तथापि कार्य होने से वह कृतिव्याप्य है, न्यायम् मं कृति — प्रयत्न । विमर्श कृत्वा में विमर्श कार्य है, वह प्रयत्नजन्य है । यथा कियावद् ''अकियिकि — अभी ऊपर 'एकधिमस्थयोः' कहा था, उममें कार्तभैद है भेद दिखलाया गया है । एक ही द्रव्य कालभेद से कियावत् तथा किया रहित हो जाया करता है। बहां दो धर्मों का समुच्चय होता है (द्र० टी० ५६३) । न चार्य ... नियम: — प्रत्येक निर्णय संशय करके पश-प्रतिपक्ष से ही किया जाता है, ऐसा विम् नहीं, के बल परीक्षा विवय में हो ऐसी होती है (Angri Collection, Haridwar हो

प)

न्तु

74

वन

साष भव

ग्य

कर 重

ें से

ना

श्चि

न्ग्र

1यमन

द से

ता है।

नियम

न्यायवात्तिकम

नि गंत्रोऽनुमानम् इति केचिद् —केचित् वर्णयन्ति निर्णयोऽनुमानमेव, न पदार्यान्तरम्-इति । न, लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धस्मृत्यपेक्षत्वाद् अनुमानस्य । निर्णये च तदभावः । प्रमाण फलत्वात्—प्रमाणमनुमानम्, प्रमाणफलं तु निर्णयः । निर्णयः स्दिविषय एव । अनुसानं तु स्विवषयेऽन्यत्र च; यथा धूमदर्शनं धूमपिरच्छेदे नानुमानमि तु निर्णयः। यदा च परिच्छिनति धूमेन तदाऽनुमीयतेऽनेनेत्यनुमानम्। अग्निपरिच्छेदः फलम् । यदि भावसाधनमाश्रित्योच्यते 'अनुमानं निर्णयः' इति तदाभ्यनुज्ञया र्वाततस्वम् । यदा तु करणसाधनमाश्चित्योच्यते 'अनुमानं निर्णयः' इति, तदा प्रतिषेधो वचनीयः, कार्य-कारणयोर्भेदात्-कारणमनुभानं कायों निर्णयः । तस्मात् नानुमानं निर्णय इति ।१।१।४ ।। इति औद्योतकरे न्यायवार्त्तिके प्रथमाध्यायस्य प्रथमाह्निकम् ॥,

(आक्षेप) निर्णय अनुमान है, यह कोई [?] कहते हैं - कोई कहते हैं कि निर्णय अनुमान ही है, अन्य पदार्थ नहीं। [परिहार] यह (ठीक) नहीं, क्योंकि अनु-मान को लिङ्ग (धूमादि)लिङ्गी (अग्नि आदि) के सम्बन्ध स्वाभाविक सम्बन्ध व्याप्ति स्मृति की अपेक्षा होती है और निर्णय में उसका अभाव होता है। (॥) प्रमाण का फल होने से-अनुमान प्रमाण है किन्तु निर्णय प्रमाण कर फल है। [111] निर्णय अपन विषय में ही होता है अनुमान तो अपने विषय में तथा अन्य विषय में भी [होता है], जैसे घूम का ज्ञान घूम के निश्चय में अनुमान नहीं अपि तु निर्णय है, और जब घूम से [अग्नि का] निरुचय करता है तब **इ**ससे अनुमान किया जाता है अत: यह अनुमान है । अग्नि का निश्चय फल है। यदि (अनुमान शब्द को) भावार्थक मानकर यह कहा जाता है कि निर्णय अनुमान है तब हमें स्वीकार [अभ्यनुजा] करना होगा। किन्तु जब करणार्थक [अनुमीयतेऽनेनेति] मानकर कहा जाता है कि निर्णय अनुमान है तब प्रति-पेथ कहना होगा, कारण और कार्य का चेद होते से-अनुमान कारण है किन्तु निर्णय कार्य है इसलिये निर्णय अनुमान नहीं !

'शास्त्रे वादे च- उपोतिष्टोम अर्धि स्वमं के साधन हैं, इस शाम्त्र-कथन में विमर्श नहीं होता। वाद अर्थात् वाद जल्प वित्तण्डा भें (वादेति कद्रोपलक्षणम्, परि॰ ५६५) भी सम्राय नसीं होता क्योंकि

निश्चित वादी-प्रतिवादी ही उनमें प्रवृत्त होते हैं (टी० ५६३)। निर्ण बोडनुमानमेव--भाव यह है; तृतीय लिङ्गदर्शन हप प्रत्यक्ष का फल निर्णय है, वही अनुभान

न् लिङ्गिलिङ्गिसम्बन्ध० —आक्षेप के परिहार में तीन हेतु दिये गये हैं, प्रथम में कहा गया है सभी निर्णय लिङ्गलिङ्की के सम्बन्ध को स्मृति की अपेक्षा नहीं रखते। अतः निर्णय को अनुमान

नहीं माना जा सकता, उदाहरणार्थ प्रत्यक्ष से होने वाला निर्णय ऐसा नहीं होता,।

प्रमाणफलत्वात् —हिलीय हेतु का भाव है कि निर्णय प्रमाण का फल है, फल प्रमाण नहीं होता । निर्णय: स्विविषय एव — वृतीय हेतु का भाव है कि निर्णय तथा अनुमान का विषय-भेद है तदाभ्यनुज्ञया वर्तितव्यम् — एदि अनुमानं , भव्द भावार्थक है तो अनुमान निर्णय हो सकता है किन्तु सभी निर्णय अनुमान नहीं होता ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

\$85]

[बाद:

स्यायसूत्र भाष्यं च प्रथमाध्याये द्वितीयमाह्निकम् तिस्रः कथा भवन्तिः वादो जलो वितण्डा चेति । तासाम्, प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावययोपपन्नः पक्षप्रतियक्षपरिग्रहो वादः ।१।२।१।

एकाधिकरणस्थौ विरुद्धौ अमौ पक्षप्रतिपक्षौ प्रत्यनीकभावात, अस्त्यातमा नास्त्यात्मेति । नानाधिकरणस्थौ विरुद्धावि न पक्षप्रतिपक्षौ, यथा नित्य आत्मा, अनित्या गुद्धिरिति । परिग्रहोऽभ्युपगमन्यवस्था । सोऽयं पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः । तस्य विशेषणं प्रणाणतकंसाधनोपाल-स्भः—प्रमाणतकंसाधनः प्रमाणतकोपालम्भश्च, प्रमाणैत्तकेण च साधन-मुपालम्भश्चािस्मन् क्रियत इति । साधनं स्थापना । उपालस्भः प्रतिष्धः । तौ साधनोपालम्भौ उभयोरिष पक्षयोद्धितिषकतावनुबद्धौ च तावद् या वदेको निवृत्त एकतरो व्यवस्थित इति । निवृत्तस्योपालम्भो व्यवस्थितस्य साधनमिति ।

तीन कथाएं है बाद जल्प और विंतण्डा ।उनमें,

जिसमें प्रमाण तथा तक से (स्वपक्ष की) स्थापना एवं (परपक्ष का) प्रतिबंध किया जाता है, जो सिद्धान्त के विरुद्ध नहीं होता, पांच अवयवों से युक्त होता है ऐसा पक्ष, प्रतिपक्ष

का परिग्रह (स्वींकृति) वाद है।१।२।१॥

एक आयार में स्थित दो विरुद्ध धर्म एक तथा प्रतिपक्ष हैं! जैसे आत्मा है, आत्मा नहीं है इयादि । भिन्न-भिन्न आधारों में होने वाले विरुद्ध-धर्म भी एक एव प्रतिपक्ष तहीं होतें; जैसे आत्मा नित्य है, बृद्धि (ज्ञान) अनित्य है। परिग्रह का अर्थ - स्वीकृति की व्यवस्था । वह यह पक्ष एवं प्रतिपक्ष की स्वीकृति की व्यवस्था । वह यह पक्ष एवं प्रतिपक्ष की स्वीकृति की व्यवस्था वाद है । उसहैं (वाद) का विश्वेषण हैं, प्रमाणतर्कसाधनौपालम्म: अर्थाद् जिसमें प्रमाण और तर्क से स्थापना (साधन) की जाती है तथा प्रमाण और तर्क से प्रतिप ध (उपालभ्भ) किया जाता हैं; प्रमाणों तथा तर्क से स्थापना और प्रतिप घ इसमें किये जातों हैं, यह भाव है । साधन (का अर्थ) हैं, स्थापना और उपालम्भ — प्रतिप घ, के दोनों साधन तथा प्रतिप घ दौनों पक्षों में एक दूसरे से सम्बद्ध (व्यतिषक्ती) हैं और एक दूसरे का अनुसरण करतें (अनुबद्धों) हैं; जब तक एक निवृत्त अथवा कोई एकनिश्चित नहीं हो जाता है । निवृत्त का प्रतिपेध किया जाता है और निश्चित की स्थापना ।

तिसः कथाः उर्देश के क्रम से 'वाद' का लक्षण करने वाले सून्न की यह अवतर्शिका है । एकाधि करणस्थी एक अधिकरण (आधार, द्रव्य) में स्थित विरुद्ध धर्म ही पक्ष, प्रतिपक्ष हैं। पित्रहः यह एक पक्ष है, यह प्रतिपक्ष हैं, इस प्रकार की स्वीकृति की व्यवस्था। पलव स्त्रोण म — उस वाद के विशेषण = व्यवच्छेदक या भेदक धर्म हैं: प्रमाणतर्कसाधनी पद्म प्रतिपक्ष प्रतिपक्ष होता है तथापि वहां प्रतिपक्ष

19.5.8

1383

न्यायवात्तिकम्

तिस्रः कथा भवन्ति, वादो जल्पो वितण्डेति । नायं कथानियमः, कि तु विचार-वस्तुनियमः— यद् वस्तु विचार्यते तत् त्रेद्या विचार्यते । तत्र विचारः— वादो जल्पो वितण्डा च । तत्र गुर्वादिभिः सह वादः । विजिगोषुणा जल्पवितण्डे , तत्र यथोद्देशं लक्षणापदेश इति वादस्य लक्षणमुच्यते । तत्र प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भो वाद इत्यादि सूत्रम् ।

तत्र वादः पक्षप्रतिपक्षपिर्महः । कौ पुनरेतौ पक्षप्रतिपक्षौ ? वस्तुवर्माकाधि-करणौ विरुद्धावेककालावनवसितौ वस्तुधर्माविति = वस्तुदिशेषौ वस्तुवः सामान् ग्येनाधिगतत्वात् विशेषतोऽनधिगतत्वाच्च दिशेषावगमनिमित्तोविचारः, तस्माद् वस्तुवर्मी धर्मौतद्विशेषौ एकाधिकरणाविति । नानाधिकरणौ तु विचारं न प्रयोजयतः, उभयोः अमाणेनोपपत्तेः, तद् यथा अनित्या बुद्धिनित्य आत्मेति ।

तीन कथाएँ होती है वाद, जल्प और वितण्डा। यह कथा का नियम नहीं कि तीन ही कथाएँ होती है; किन्तु विचारणीय विषय (वस्तु) का नियम है। जिस विषय का विचार किया जाता है। उसमें होने खाल विचार किया जाता है। उसमें होने खाल विचार वाद, जल्प और वितण्डा होता है। उनमें गुरु आदि के साथ विचार बाद है, विजय की इच्छा बाले के साथ जल्प तथा वितण्डा है। उनका उद्देश के कम से लक्षण कथन है, अतः वाद का लक्षण कहा जाता है। उस विषय में प्रमाण तक इत्यादि सूत्र है

उनमें वाद है, पक्ष तथा प्रतिपक्ष की स्वीकृति की ध्यवस्था (प्रश्न) किन्तु ये पक्ष तथा प्रतिपक्ष क्या है? (उत्तर) वस्तु के धमं जो एक (ही) आधार में होते हैं; परस्पर विरुद्ध होते हैं; एक काल में होने वाले तथा अनिश्चित (अनवसितौ) हैं वस्तु के धर्म अर्थात् वस्तु के विशेष रूप; सामान्यतः वस्तु का ज्ञान होने से और धिशोपरूप से ज्ञान न होने के कारण विशेष ज्ञान के लिये (निमित्त) किया गया विचार, इसलिये वस्तु के (दो)धर्म अर्थात् बन्तु के विशेष रूप जो एक ही आधार में होते हैं (पक्ष तथा प्रतिपक्ष है)। भिन्त-भिन्त आधारों में होने वाले तो बिजार के प्रयोजक (निमित्त) नहीं होते; वर्थो के दौनों प्रमाण से बन सकते हैं; जैस ज्ञान (बुद्धि) अनित्य है तथा आत्मा नित्य है।

सिद्धि नहीं की जाती, वहाँ प्रतिपक्ष को स्थापना ही नहीं होती । यद्यपि जल्प में पक्ष तबा प्रतिपक्ष की सिद्धि की जाती है तथापि वहां प्रभाणमूलक अवयवों तथा तक से साधन और उवालम्भ नहीं होते । अहा अब याद का दोनों से भेद हो जाता है!

तिस्रः कथाः भवन्ति—यह कयामान का निवम नहीं, अतः बृहत्कया बादि अक्षण नहीं हो जाती आँप तु नाना बक्ताओं के विचार में जो विषय वस्तु है बह कथा है—बिचार विषया वाक्यसंदृष्टिः कथिति याबत्, टी॰ ६०६। उस कथा का हो यह नियम है, प्रौड गोड नैयायिको के मठ में को 'बार कथाएं' मानीं गई हैं, वे युक्त नहीं (परि॰ ६२०)।

यद् वस्तु विचार्यते—यह विचार वस्तु का अर्थ है, विवरण नहीं। सूत्रम्—'सूचनात् सूत्रम्' होता है, अतः इससे कमा का सामान्यलक्षण भी स्वित हो जाता है।

वाद:

न्यायवात्तिकम्

अविरुद्धावप्येवभेव। यौ विरुद्धौ तौ विचारं प्रयोजयतो नाविरुद्धाविति। तद् यथा क्रियावद् द्रव्यं गुणवच्चेति। एककालाविति भिन्नकालयोर्न विचारप्रयोजकत्वं प्रमाणेतोपपत्तेः। यथा क्रियावद् द्रव्यं निष्क्रियं चैति कालभेदेनेति। अनविस्ता विति अनिश्चितौ विचारं प्रयोजयतो नावसिताविति, निर्णयोत्तरकालं विचारामावात्। तावेतौ विरुद्धाचेवंविशेषणौ धर्मौ पक्षप्रतिपक्षौ । तयोः परिग्रहः इत्यं भावनियमः एवंधमियं धर्मी नैवंधमेति। सोऽअं पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः। अस्य च कथामार्गव्रयेऽपि समानत्वात् विशेषणार्थं प्रमाणतर्कसाधनोपलम्भ इति। प्रमाणैस्तर्केण च साधनमुपालम्भश्चास्मिन् क्रियत इति । अस्मिन् भवतीति । अस्मिन्नित सप्तमीनिर्देशो विषयज्ञापनार्थः, अस्मिन विचारे।

जो विरुद्ध नहीं होते वे भी इसी प्रकार के हैं। जो विरुद्ध (धर्म) होते हैं वे विचार के प्रयोजक होते हैं, विरुद्ध न होने वाले नहीं; जैसे द्रव्य क्रियावाला एवं मुणवाला है, एक काल वाले अर्थात् भिन्न काल में होने वाले (धर्म) विचार के प्रयोजक नहीं होते, क्योंकि प्रमाण से युक्तियुक्त हो जाते हैं (उपपत्तेः)। जैसे द्रव्य किया वाला है और क्रियारहित भी, यह काल के भेद से युक्त है। अनवसितौ अर्थात् अनिश्चित, दो अनिश्चित धर्म विचार के प्रयोजक होते हें, निश्चित नहीं, क्योंकि निर्णय के पश्चात् (उत्तरकालम्) विचार नहीं हुआ करता। वे ये विरुद्ध इन विशेषणों से युक्त दो धर्म पक्ष तथा प्रतिपक्ष हैं। उन दोनों का परिग्रह; अर्थात् ऐसा है, इस प्रकार का नियम—यह धर्मी इस प्रकार के धर्म वाला है, इस प्रकार के धर्म वाला नहीं। वह यह पक्ष तथा प्रतिपक्ष की स्वीकृति की व्यवत्त्था (परिग्रह) ही वाद है। और, इसके कथा के तीनों मार्जी में समान होने से भेद करने के लिये (विशेषणार्थम्) प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भ शब्द है। प्रमाणों से तथा तर्क से स्थापता एवं प्रतिवेध इसमें किया जाता है। (अथवा) इसमें होता है। इसमें (अस्मिन्) यहाँ सप्तिभी विमित्त का प्रयोग विगय का वोध कराने के लिये है। अस्मिन् इस विवार में।

वस्तुधर्मी—धर्मं चिशेष, विशेष का निश्वय न होने पर वस्तु का सामान्य ज्ञान होने पर । एकाधिकरणी—पर्दि भिन्न भिन्न अधिकरणों में विरुद्ध धर्म होते हैं तो वे विचार के निमित नहीं हैं होते ।

अनिरुद्धाव धेवनेव — ऊपर (मृ० ३४२) 'पत्रमति। ती' के कार विशेषण दिये गये हैं एकाधिकरणी विरुद्धी, एकामती, अनवसिती। 'एकाधिकरणी' का पदकृत्य दिखलाने के पश्चात् अ विरुद्धी' आदि का पदकृत्य कमणः दिखलाया जाता है।

परिग्रह:...नैवंधर्मेति -यहाँ 'परिग्रह' शब्द की ब्याख्या की गई है।

एवध रित्रम्:--यह 'इन्यभावितयम' का अभिनय दिखलाया गया है ।

कथामार्गत्रवेऽिष--जैसा कि कहा गया है, कथा के तीन मार्ग है, कथा के मार्ग है बाद, जल्प बताडा । तोनों में ही पक्ष-प्रतिपक्ष-परिग्रह होता है, हाँ, वितण्डा में प्रतिपक्ष की स्थापना नहीं की जि.ती ।

2.2.8]

[38x.

न्यायवास्तिकम्

कथं पुनस्तर्केण साधनमुपालम्भश्च अप्रमाणात्नकत्वात् ? प्रभाणानुग्राहकत्वात् । न प्रमाणसंगृहीतस्तर्को न प्रमाणान्तरम्' इत्युक्तम् ; सोऽयमप्रमाणात्मकः सन् कथं सिद्ध् युपालब्ध्योः कारणं भविष्यति । न बूमः, तर्कः सिद्ध् युपालब्ध्योः कारणम्, अपि तु प्रमाणिविषयिविचेचनात् तर्कः प्रमाणान्यनुगृहणाति । तर्कविविक्तं विषयं प्रमाणानि प्रवर्तभानानि परिचिद्धन्दिन्त । सोऽयं प्रमाणानामनुग्राहकत्वात् प्रमाणसहितो वादेऽपदि-

साधनमुपालम्भरचास्मिन् भवतीति कि तावत् सिद्धिः साधनमुपालम्भनमुपालम्भः ? अथ साध्यते उनेनेति साधनम्, उपालभ्यते अनेनेति उपालभ्भः ? यदि तावद् भावसावनौ ाधनोपालभ्भशब्दौ तदा प्रमाणस्तर्केण च न युक्तौ, प्रमाणानां तर्कस्य च पराप्रतिपादकत्व स प्रमाणा-यात्मप्रतिपत्तिसाधनानि, परप्रतिपादनार्थश्वायं विचारः । तस्मात् न प्रमाणे

[आक्षेप-परिहार) किन्तु तर्क से स्थापना और प्रतिपंध कैसे होता है, (तर्क के तप्रमाण-रूप न होने से, [परिहार] प्रमाणों का अनुपाहक होने से। (आक्षेप की व्याख्या) के न तो (स्वीकृत) प्रमाणों के अन्तर्गत है, न अन्य प्रमाण, यह कहा जा चुका हैं वह यह प्रमाण स्वरूप न होता हुआ स्थापना और प्रतिपंध का कारण कैसे होगा। [परिहार की व्याख्या] हम यह नहीं कहते कि तर्क साथन और प्रतिपंध का कारण हैं अपि तु (यह कहते हैं) प्रमाणों के विषय का विवेचन करने के कारण तर्क प्रमाणों का अनुग्राहक होता है, प्रवृत्त हुए प्रमाण तर्क द्वारा विवेचित विषय का ज्ञान करा देते हैं। वह यह (तर्क) प्रमाणों का अनुग्राहक होने से वाद में प्रमाणों का सहायक कहा गया है।

साधन और उपालम्भ इसमें होता है। (आक्षेप) क्या सिद्धि ही साधन है और इप्रतिपेध करना उपालम्भ है अथवा (अथ) इससे सिद्ध किया जाता है यह साधन है, ससे प्रतिग्रेथ (उपालम्भनम्) किया जाता है यह उपालम्भ है। यदि तो साधन और उपालम्भ शब्द मावार्थक हैं तब प्रमाणों से तथा तर्क से (ऐसा कथन) युक्त नहीं; क्योंकि प्रमाण और तर्क दूसरों को बोध कराने वाले नहीं होते; प्रमाण अपने ज्ञान के साधन हैं और यह तिचार (बाद) दूपरों को बोध कराने के लिये हैं। इसलिये प्रमाण और तर्क से सिद्धि और उपालम्भ नहीं होते। यदि (साधन तथा उपालम्भ शब्द) कथ पुन:—आक्षेप का भाव है कि तर्क प्रमाणात्मक नहीं। फिर इससे पक्ष और प्रतिपक्ष की सिद्धि कथ पुन:—आक्षेप का भाव है कि तर्क प्रमाणात्मक नहीं। फिर इससे पक्ष और प्रतिपक्ष की सिद्धि

और प्रतिषेध कैसे होंगे। न.....भविष्यति' में आक्षेप की व्याख्या की गई है।
और प्रतिषेध कैसे होंगे। न.....भविष्यति' में अक्षिप की व्याख्या की गई है।
प्रमाणानुप्राहकत्वात — आक्षेप का संक्षेप में परिहार है, न ग्रूमः.....परिच्छिन्दिन्तें में परिहार
प्रमाणानुप्राहकत्वात — आक्षेप का संक्षेप में परिहार है, न ग्रूमः.....परिच्छिन्दिन्तें में परिहार
की व्याख्या की गई है। भाव यह है: जब प्रमाणों से माधन और उपालम्भ होते हैं तब तक से भी:
की व्याख्या की गई है। भाव यह है: प्रमाणों के विषय का विवेचन करता है, इसलिय प्रमाणमूलक
क्यों कि वह प्रमाणों का अनुप्राहक है, प्रमाणों के विषय तक भी साजन और प्रतिषेध का हेतु होता है
जो अवयव हैं वे तक मूलक भी हो जाते हैं तथा तक भी साजन और प्रतिषय करणायक

(टी॰६९॰)। कि तावतअनेतेति उपालम्भ: — यहाँ साधन आदि शब्द भावार्थक हैं अधवा करणार्थक,

यह विकल्प करके आक्षेप किया गया है ! यदि तावद्…भवत:—ये भावार्थक नहीं, साधन और प्रतिषंध दूसरों के प्रति करने होते हैं किस्तु

प्रमाण तथा तक अपने ज्ञान के लिये होते हैं।

386]

वाद:

न्यायवातिकम्

स्तर्केण च सिद्ध्युपालक्यी भवतः । अथ करणसाधनौ, तथापि पञ्चावयबोप-पन्न इति पृथग् न पठितब्यम् । किं कारणम् ? प्रमाणतर्कसायनोपालम्म इति करण-साधनेन ।देनावयबार्थस्योक्तत्वात् । न, अन्यार्थत्यात् —पञ्चावयवोपपन्न इत्यस्यान्योऽर्थः तथा च वक्ष्यामः ।

अथैतौ साधनोपालस्मशन्दौ भावसाधनौ किविषयौ प्रभाणस्तर्कण च कियेते।
नत्तः पक्षप्रतिपक्षविषयाविति — पक्षविषयं साधनम्, प्रतिपक्षविषयं उपालस्म इति
सत्यमुक्तन्। न पुनर्युक्तम्। का पुनर्युक्तिहानिरत्र ? उपालस्मस्य प्रतिपक्षाविषयत्वात्
— प्रमाणतर्कताबना सिद्धिः पक्षस्य भवतु, न पुनरुपालस्मस्य प्रतिपक्षो विषयः। न ब्रूमः प्रतिपक्षविषयं उपालस्भ इति; कि तु साधनविषयः — प्रतिपक्षस्य यत् साधन विद्विषयं उपालस्भ इति। कथं पुनः प्रतिपक्षस्तिधावपदिश्यमानः उपालस्भशन्दः प्रतिपक्षव्यतिरेकेण साधनेन संबद्धते ? सामर्थ्यात् असामर्थ्याच्च — यदुपालस्थयोग्यं तदुपालस्यते च विषक्ष उपालस्भयोग्यः। कथमिति? उपालस्यमानस्यानुपालस्यमानस्य म

करणार्थक हैं तो भी 'पञ्चावयवोपपन्नः यह पृथक् नहीं कहना चाहिये। क्या कारण है ? 'प्रमाणतर्कसाघनोपालम्भः' इस करणार्थक पद से अवयव (शब्द) का अर्थ कह दिया जाता है। [परिहार] यह ठीक नहीं, अन्य अर्थ होने से—-'पञ्चावयवोपपन्नः' इस (पद) का अन्य प्रयोजन (अर्थ) है, जैसा कि आगे कहेंगे।

(प्रक्त) यदि ये साधन और उपालम्म शब्द भावार्थक हैं तो प्रमाणों और तर्क के हारा किस विषय में (साधन और उपालम्भ) किये जाते हैं। (उत्तर) अभी कहा गया है कि पक्ष और प्रतिपक्ष के विषय में—पक्ष के विषय में साधन होता है और प्रतिपक्ष के विषय में उपालम्म होता है। ठीक है, कहा है, किन्तु वह युक्त नहीं है। किन्तु यहाँ युक्ति की हानि क्या है ? प्रतिपक्ष के प्रतिपेध का विषय न होने से—प्रमाण और तर्क के साधन से पक्ष की सिद्धि हो जायेगी किन्तु प्रतिपेध का तो प्रतिपक्ष विषय नहीं है। [उत्तर] हम यह नहीं कहते कि प्रतिपक्ष के विषय में प्रतिपेध होता है किन्तु (प्रतिपक्ष के) साधन के विषय में होता है—गतिपक्ष का जो साधन है उसके विषय में प्रतिपेध होता है। (प्रक्ष्त) किन्तु प्रतिपक्ष के समीप कहा गया उपालम्स (प्रतिपेध) शब्द प्रतिपक्ष को छोडकर (व्यतिरिक्रण) (साधन से) की सम्बद्ध हो जाता है ? (उत्तर) योग्यता होने से और घोग्यता न होने से—जो प्रतिपेध के योग्य है उसका प्रतिपेध किया जाता है और प्रतिपक्ष तो प्रतिपेध के योग्य है उसका प्रतिपेध किया जाता है और प्रतिपक्ष तो प्रतिपेध के योग्य है उसका प्रतिपेध किया जाता है और प्रतिपक्ष तो प्रतिपेध के योग्य है उसका प्रतिपेध किया जाता है और प्रतिपक्ष तो प्रतिपेध के योग्य है उसका प्रतिपेध किया जाता है और प्रतिपक्ष तो प्रतिपेध के योग्य है उसका प्रतिपेध किया जाता है और प्रतिपक्ष तो प्रतिपेध के योग्य

अवयवार्थस्य—अवसव ज्ञब्द के अर्थ का, अवयवभव्दार्थस्येत्यर्थः,टी०६१०)।
अन्यार्थत्तात्— 'पञ्चावयवोपपतः' पद का अन्य प्रयोजम है (इ०टी०६१०।
अर्थतौ — जब साधन और उपालम्भ शब्द भावार्थक हैं तब यह प्रश्न है। प्रश्न का भाव है: उपालम्भस तो प्रतिपक्ष वा हो सकता है न उसके साधन का ; क्योंकि वे तो वस्तुरूप हैं। अपने कारण से
उत्पन्न होकर सदा उसी रूप में रहते हैं, अतुः पुरुष का धर्म जो उपालम्भ है वह उनमें नहीं हो
सकता (इ०टी० ६१०)।

2.2.9]

[380

न्यायवात्तिकम्

बस्तुनस्तथाभावात् — यथाभूतं च बस्तूपालभ्यमानं श्याभूतमेवानुपालभ्यमानम् । साधनेऽपि तर्हि तुरुरम् — साधनमपि करणम्, तदपि स्वरूपं न कदाविद् जहाति । तस्मात् साधनस्याष्युपालम्मो न युक्तः ।

एवमेतत्, नोपालभ्भः करणे कर्मणि च; कर्मकरणयोः स्वविवये सामध्यत्- सर्वं कर्म म्विवये समर्थम्, करणमप्येवम् । तस्य तु विवयान्तरे न सामध्यमस्ति । यच्च विपान्तरेऽ समर्थं न तेन कर्मणः करणस्य च वैगुण्यम् । कस्य तह् यंयमुपालम्भः ? योऽयं निगृह्यते ।कश्च निगृह्यते ? पुरुषः—अत्रतिपत्तिवित्रतिपत्ती पुरुषस्य, न कर्मणो न करणस्य । सोऽ यं प्रतिपादयिता असमर्थयोः कर्मकरणयोश्पादानात् निगृह्यते । प्रतिपन्तापि यथाभिहितयदार्थाप्रतिपत्त्या चेति । सो ऽयं पुरुषधर्मो वचनद्वारेणोव्भाव्यत इति वचन उप वर्ष पुरुषधर्मे वचनमुपालभ्यत इति ।

नहीं। कैसे ? प्रतिथिद्ध की जाती हुई और प्रतिथिद्ध न की जाती हुई वस्तु के एकरूप होने से (तथाभावात्) प्रतिथेय किया जाने पर या न किया जाने पर वस्तु वैसी रहती है)—जैसी प्रतिथिद्ध की जाती हुई वस्तु होती है वैसी ही प्रतिथिद्ध न की जाती हुई। (आक्षेप) तब साधन में भी वह समान (ही) है'—साधन भी करण हैं वह भी अपने रूप को कभी नहीं छोड़ता; इसलिये साधन का भी प्रतिपेध युक्त नहीं।

[परिहार] यह ऐसा ही है, कर्म और करण में प्रतिवेध नहीं होता; कर्म और करण के अपने विषय में समर्थ होने से—सभी कर्म अपने विषय में समर्थ हैं, करण भी इसी प्रकार है; किन्तु उस (कर्म तथा करण) का अन्य विषय में समर्थ हैं, करण भी इसी प्रकार है; किन्तु उस (कर्म तथा करण) का अन्य विषय में समर्थ नहीं हैं। और जो (वह) अन्य िषय में समर्थ नहीं उससे कर्म और करण का दोष (वैगुण्य = किमी) नहीं होता। (प्रका) तब यह प्रतिषेध किसका किया जाता है ? (उत्तर) जिसका निग्रह किया जाता है । और किसका निग्रह किया जाता है ? पुरुष का—पुरुष को (ही) ज्ञान नहीं होता या विषरीत ज्ञान (विरुद्ध ज्ञान) होता है, न कर्म को, न करण को। वह यह (किसी विषय का) प्रतिपादन करने वाला अयोग्य कर्म तथा करण का ग्रहण करने के कारण निग्रहीत ही जाता है और ज्ञान होने पर भी रक्त पद के अनुसार अर्थ न जानने से अग्रवा विषरीत जानने से (निग्रहीत हो जाता है)। वह यह पुरुष का धर्म व वन के द्वारा प्रकट होता है (उद्माव्यते) अतः वचन में उपचार करके पुरुष के धर्म ववन का प्रतिबंध किया जाता है।

एवमेतत् उत्तर का आशय है धर्मविशिष्ट धर्मी पक्ष या प्रतिपक्ष है, यह कर्म है। कर्म का विष है उस धर्मी का वैसा होना अथवा वैसा न होगा। करण का विषय कर्म ही है। अपने अपने विषय में। कर्म तथा करण समर्थ ही हैं, असमर्थ नहीं। अन्य विषय में नियुक्त करने वाला पुरुष (न्यक्ति) उन्हें असमर्थ कर देता है। वह यह पुरुष का अपराध है कर्म तथा करण का नहीं। अत: मुख्यतः पुरुष का ही उपालम्भ होता है औपचारिक रूप से साधन का उपालम्भ कह दिया जाता है ववन द्वारा पुरुष व का उपालम्भ कह दिया जाता है। वचन द्वारा पुरुष का उपालम्भ प्रकट होता है अतः वचन का साधन का उपालम्भ कर लिया जाता है। द्व टी०६१०-६१९)। अपराध्यतिपादनं ह्यूपालम्भः, न चाचेतनो अपराध्यति, नापि प्रतिपायते, कि तु पुरुषः, परि० ६२९।

वाद:

न्यायवात्तिकम्

कथं पुनरयमथंः सूत्रपदेषु लभ्यते ? लभ्यत इत्याह । कथम् ? प्रमाणतर्कः साधनः पक्षः, प्रमाणैस्तर्केण च साधनस्योपालम्भः, प्रमाणतर्कसाधनश्च प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः ।एकस्य साधनशब्दस्य गम्यमानत्वात् लोपः, यथोष्ट्रमुखी कन्येति ।

अथ प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भ इत्यनेन पदेन जल्पवितण्डाम्यां कथं वादो विकि ह्यते, निवदं पक्षप्रतिपक्षपिरग्रहदत् त्रयाणायिषसमानं भवति ? न समानम्' वादे प्रमा-णतर्कसाधनोपालम्भस्य नियभात्—प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भ एव वादः, छलजातिनग्रहं-स्थानसाधनोपालम्भे जल्पवितण्डे ; यथा विषाणित्वं गवि गवये च समानमिष संवृतक-ण्ठतया सास्नादिमत्तया च विशिष्यभाणसुभौ गोगवयौ विशिनिष्ट, तथा प्रमाणतर्कसा-धनोपालम्भ इति ।

(प्रश्न) किन्तु यह अर्थ सूत्र के शब्दों से कैसे प्राप्त होता है ? (उत्तर) प्राप्त हो जाता है, यह कहते हैं। कैसे ? प्रमाण तथा तर्क से जिसकी स्थापना की जाती है वह पक्ष (प्रमाणतर्कसाधनः) है तथा प्रमाण और तक से जिसके साधन का प्रतिषेध (उपालम्भ) किया जाता है वह (प्रतिपक्ष, प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भ है) प्रमाणतर्कसाधन और प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भ (द्वन्द्व समास होकर प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भ) यहाँ एक 'साधन' शब्द का लोप होता है क्योंकि वह विना कहे ही प्रतीत हो रहा है (गम्यमानत्वात्) जैसे उष्ट्रमुखी कन्या यहाँ पर (उष्ट्रस्य मुखमिव मुख-यस्याः सा उष्ट्रमुखी)।

(प्रश्न) प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भ इस पद से वाद को जल्प और वितण्डा से भिन्न (व्यावृत्त) कैसे किया जाता है, यह तो (निवदम्) पक्ष - प्रतिपक्ष - परिग्रह के समान तीनों का ही समान धर्म है ? (उत्तर्) समान नहीं; वाद में प्रमाण और तर्क से साधन तथा उपालम्भ होने का नियम हिने से—वाद में प्रमाण और तर्क के द्वार ही साधन और प्रतिपेध किये जाते है, जल्प और वितण्डा में छल जाति और निग्रहस्था द्वारा भी साधन और प्रतिपेध किये जाते हैं; जैसे सींग वाला होना भी तथा गव्य में समान होते हुये भी संकुचित कण्ठ युक्त होने से (संवृत्तवण्ठतया) और गलकम्बलादि प्रयुक्त होने से भिन्न होने के कारण गी और गवय दोनों में भेद करा देता है उसी प्रकार

माणतर्कसाधनोपालम्भ पद भी

प्रभागतर्क एव वाद: — यहाँ एव (ही) ब्रब्द से यह नियम कर दिया गया है कि दाद में छल। आदि से साधन और उपालम्भ नहीं होते। इसीसे जल्प और वितण्डा से वाद का भेद हो जात टीका में इसे विश्वद किया गया है (द्र०टी० ६१९)।

कथं पुनः कन्येति यह अयं मूत्र के शब्दों से कैसे निकलता है, यह प्रश्न पूर्वक दिखलाया गया है उद्य — इत्यादि प्रश्न का भाव है: 'प्रमाणतकंसाधनोपालस्भ' यह पद बाद को जत्प तथा वितण्डा से कैसे पृथक् करता है; वयोंकि यह भी पक्ष-प्रतिपक्ष पद के समान तीनों के लिये समान है (वितण्डा- भें भी प्रतिपक्ष होता है किन्तु उसकी स्थापना नहीं की जातो, यह कहा जा चुका है) 'ननु' इत्यादि भी प्रश्नकर्ता का ही बचन है।

2.2.2]

388

न्यायभाष्यम्

जल्पे निग्रहस्थानिविनियोगाद् वादे तत्प्रतिषेधः । तत्प्रतिपेधे च कस्यचिद् अभ्यदु-ज्ञानार्थे रिद्धारताविरद्धं इति वचनम् । सिद्धान्तन्मयुष्टेरयः तद्विरोधी विरद्धः (न्या० सू० १.२.६) इति विरुद्धस्य हेत्वाभासस्य निग्रहस्थानस्याम्यनुज्ञा वादे। पञ्चावयवोपयन्न इति' होनसन्यतमेनाप्यवद्वेतः ग्यून्त्य' (ग्या० सू० ५.२.-१२), 'हेतूदाहरणाधिकमधिकम् (न्या० सू० ५.२.१६) इति चंतयोरम्यनुज्ञार्थ-मिति ।

छलजातिनिग्रहस्थानोपालभ्मो जत्म (१.२.) इतः भिधानाद् वादे निग्रहर-थानप्रतिषेधो विशेषविधानात् ततक्च अनुपालम्भो वाद इति । प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भ इत्यभिधानाद् वादेऽपि निग्रहस्थानानीत्यदोषः । उपालम्भश्रवणात् समस्तनिग्रहस्थान प्रवक्तो संज्ञाभेदमात्रम् – रद्युपालन्भग्रहणात् वादेऽपि निग्रहस्थानानि विद्यन्त इति भन्यसे ननु संज्ञाभेदमात्रम्, जलपाद् वादस्य न दिशेषः । तश्रपि निग्रहस्थानानीहापीति ।

जल्प में निग्रह स्थान का सम्बन्ध दिखलाने से (विनियोगात्)वाद में उस (निग्रहस्थान) का प्रतिपेध हो जाता है। और, उसका प्रतिपेध होने पर किसी निग्रह—स्थान की स्त्रीकृति के लिये 'सिद्धान्ताविरुद्धः' यह कथन है। अतः सिद्धान्त को स्वीकार करके उस (सिद्धान्त) का विरोधी कथन विरुद्ध होता है (१.१.६) याद में इस विरुद्ध हेत्वाभास नामक निग्रहस्थान की स्वीकृति की गई है। 'पञ्चावयवोपपन्नः' यह पद 'एक अवयव से हीन होने वाले (४.२.१२) न्यून' (नामक निग्रहस्थान) तथा 'हेतु एवं उदाहरण के अधिक होने से अधिक' (५.२.१३) [नामक निग्रहस्थान] इन दोनों की स्वीकृति के लिये है।

(आक्षेप) छल, जाति, निग्रहस्थान के द्वारा साधन और प्रतिपेध जिसमें किया जाता है वह जल्प है (१.२.२.) इस कथन से बाद में निग्रहस्थान का निपेध हो जाता है; क्योंकि यहां (निग्रहस्थान का) विशेष विधान किया गया है। इसलिये वाद में उपालम्भ (निग्रह) न होगा। [परिहार] प्रमाणतर्कताधनोपालम्भ इस कथन से बाद में भी निग्रहस्थान होते हैं, अतः कोई दोष नहीं। (आक्षेप) उपालम्भ शब्द से सभी निग्रहास्थान (बाद में) प्राप्त होने से (बाद और जल्प का) नाम मात्र का भेद होगा—यदि (बाद के लक्षण में) उपालम्भ शब्द के प्रयोग से बाद में निग्रहस्थान होते हैं, यह मानते हो तो (ननु) नाम मात्र का भेद है, जल्प से बाद का वस्तुतः भेद नहीं, वहाँ (बाद में) भी निग्रहस्थान होते हैं यहाँ (बाद में) भी।

ततरच अनुपालम्भो वाद:—यहाँ न्याय चतुर्प्रन्थिका में ततम्च नोपालम्भो वादः यह पाठ है। अनुपालम्भ; = जिसमें उपालम्भ (निग्रह) नहीं होता। छलजातिo—यदि प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः यहां उपालम्भ शब्द का ग्रहण न किया जावे, असत्यु

पालम्भग्रहणे इत्यभिप्रायः, टी०६१९। इत्यभिधानात्—उपालम्भ शब्द का वाद के लक्षण में ग्रहण करने से ।

समत्तo—यदि उपालम्भ शब्द से निग्रहस्थानों का विद्यान हो जाता है तो सभी निग्रहस्थान वाव

में होंगे फिर बाद और जल्प में कोई भेद न होगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

वाद

न्यायवात्तिकम्

न, उत्तर्योः पदयोनियमार्थत्वात्—यरमादेवोपालम्भश्चदेन समस्तानि निगृह-स्थानानि लम्यन्ते, अत एव नियमार्थे उत्तरे पदे आरम्येते सिद्धान्तादिरुद्धः पञ्चावयवो-पपन्नश्च । सिद्धान्ताविरुद्ध इत्यनेन किल पदेन विरुद्धो हेत्वाभासो लभ्यते । तन्न, अन्यतो-ऽधिगतेः—अन्यत एवायं लम्यते । पञ्चावयवोपपन्न इति पञ्चग्रहणात् न्यूनाधिके लभ्यते अवयवग्रहणात् तदाभासा लभ्यन् इति लभ्यमानस्यार्थस्य पुनरभिधानेन सूत्रकारेण पिष्टं पिष्टं स्यात् । तस्मान्नायमर्थः । अथ किमिदं पदं सिद्धान्ताविरुद्ध इत्यनर्थकमेव ? नानर्थकम्, अपसिद्धान्तावरोधात् । सिद्धान्तक्षभ्यपेत्यानियमात् कथाप्रस-ङ्गो ऽपसिद्धान्तः' (न्या० सू० ५.२.२३) इति, सोऽनेनावरुध्यते । नस्मात् नानर्थकम् ।

(परिहार) न, अग्रिम दो पदों के नियम करने के लिये होने से—क्योंकि उपालम्भ शब्द से सब निग्रहस्थान प्राप्त होते हैं इसलिये अग्रिम दो पद 'सिद्धान्ताविरुद्धः तथा पाञ्चावयवोपपन्नः' नियम के लिये किये जाते हैं। सिद्धान्ताविरुद्ध इस (पद) से तो विरुद्ध हेत्वाभास (निग्रहस्थान) प्राप्त हो जाता है। वह (भाष्य का कथन) ठीक नहों, अन्य से जात हो जाने के कारण-इसरे से ही यह प्राप्त हो जाता है। 'पञ्चावयवोपपन्त यहाँ पञ्च शब्द के ग्रहण से न्यून और अधिक (निग्रहस्थान) प्राप्त हो जाते हैं, अवयव शब्द से अवयवाभास (तदाभासाः) प्राप्त हो जाते हैं (पाँच अवयवों में हेतु भी है अतः हेत्वाभास भी प्राप्त हो जाता है) इस प्रकार प्राप्त होने वाले अर्थ का फिर कथन करने से सूत्रकार के द्वारा पिष्ट-पेषण होगा अतःयह अर्थ नहीं। (प्रक्न) तब (अथ) क्या यह सिद्धान्ताविरुद्ध पद अनर्थक ही है। (उत्तर) अनर्थक नहीं, अपसिद्धान्त का संग्रह करने (अवरोध) के लिये होने से—सिद्धान्त को स्वीकार करके विना (वाद आदि) नियम के कथां चलाना (प्रसङ्ग) अपसिद्धान्त है (५.२.२३.), वह इससे संगृहीत हो जाता है। अतः यह अनर्थंक नहीं है।

उत्तरयोः पदयोः नियमार्थत्वात्—सिद्धान्ताविरुद्धः, पञ्चावयवोपन्नः' ये दानों पद नियम के लिये हैं। नियम चिप्तसंख्या (टी० ६११), (विशेष द्रष्टन्य परि० ६२२)।

सिद्धान्ताबिरुद्धः—भाष्यकार के अनुसार यहाँ ' सिद्धान्ताविरुद्धः' इस कथन से सिद्धान्त विरुद्ध (१.२.६) का ग्रहण होता है; किन्तु वार्तिककार इसे नहीं मानते सिद्धान्ताविरुद्ध इत्यव भाष्यव्याख्यानमुपन्यस्य दूषयति, टी० ६११।

तदाभासा लभ्यन्ते—यहाँ 'पञ्चयवोपयन्तः' इस पद के अवयव अंश से सूचित होता है कि वाद अवयवों से युक्ग होता है, वे अवयब अवयवाभास भी हो सकते हैं। पांच अवयवों में एक हेतु है अतः बाद में हेत्वाभासों का भी स्थान है, यह प्राप्त हो जाता है।

सूत्रकारेण पिष्टं पिष्टं स्यात्—जब विषद्धं हेत्वाभासं की अन्य पद से प्रतीति हो जाती है तो 'सिद्धान्ताविषद्धः' पद से विषद्धं हेत्वाभासं का कथन पुनरुक्तिमात्र होगा।

सोऽनेनावरुद्ध्यते — वात्तिककार के मत में यहां 'अपसिद्धान्त' नामक निग्रहस्थान का संग्रह होताहै

न्यायवात्तिकम्

करमात् पुनरयं नियमो वादेऽ वयवामासा अपिसद्धान्तश्च निग्रहस्थानमिति ? गुर्वादिभिः सह वादोपदेशात् नियमः—यस्मादयं तरहदुभुःसुन् द्विदिभः सह विदिधं फलमाकांक्षन् वादं करोति ततोऽस्य तत्त्वबुभुत्सावतस्तावत् साधनं वत्तव्यम्, यावदनेनज्ञातिमिति । अप्रतिद्वनद्वित्वात्-प्रतिद्वन्दिना च सह न वादः, कि तु जल्पः तत्र समस्तिनग्रह् स्थानप्रयोग इति युक्तम् । प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भ इत्यभिधानात् उमयोः सिद्ध् यसिद्धिप्र सङ्गः—यदि प्रमाणतर्कसाधोपालम्भो वाद उभयोद्धिप्रतिव्यदिनोः प्रमाणत् कंसाधनो पालम्भामिधाने अधिकार इत्युभयमतिसद्ध् यसिद्धिप्रसङ्गः—नीय दोषः, अप्रतिज्ञानात्नेदं प्रतिज्ञावते उभयोर्वादिनो प्रमाणानि सन्तीति अपि तु ताभ्यां साधनं वक्तव्यम्, इत्येतनिव्यम्यते । न पुनः साधननेवतद् भवतीति दूषणमप्येवम् ।

(प्रश्न) किन्तु यह नियम कैसे है ? कि वाद में अवयवाभास और अपसिद्धान्त (ही) निग्रहस्थान होते हैं। (उत्तर) गुरु आदि के साथ बाद का उपदेश होने से यह नियम है—(१)क्योंकि तत्त्व को जानने का इच्छुक तीन प्रकार के फल (अज्ञाततत्त्व का ज्ञान, संशयनियुत्ति, निश्चित की स्वीकृति) चाहता हुआ वाद करता है इसलिये इस तत्त्वज्ञान के इच्छुक के लिये उतना ही साधन कहना चाहिये जितना उस जाना है। (२) प्रतिद्वन्द्वी न होने से—और, प्रतिद्वन्द्वी के साथ वाद नहीं होता; किन्तु जल्प होता है, वहां सभी निग्रहस्थानों का प्रयोग होता है, यह युक्तियुक्त है। (अक्ष्मेप) जहाँ प्रमाण और तर्क से (पक्ष की) स्थापना और (प्रतिपक्ष का) निपेध किया जाता है यह वाद है इस कथन से दोनों मतों की सिद्धि तथा असिद्धि की प्राप्ति होती है—यदि वाद में प्रमाण तथा तर्क से स्थापना एवं प्रतिषेध होता है तो दोनों वादी तथा प्रतिवादी का प्रमाण तौर तर्क से स्थापना एवं प्रतिषेध करने का अधिकार है, अतः दोनों मतों की सिद्धि तथा असिद्धि प्राप्त होती है। (परिहार) यह दोष नहीं, प्रतिज्ञा न करा से—यह स्थापना नहीं की गई है कि दोनों वादियों के प्रमाण होते हैं, अपि तु यह नियम किया जाता कि उन दोनों को (प्रमाण तथा तर्क से) स्थापना करनी है। केवल स्थापना ही नहीं दूषण भी इसी प्रकार करना होता है।

कस्मात् पुनर्यं नियमः—इसके उत्तर में 'गुर्वादिभिः सह वादोपदेशात्' तथा अप्रतिद्वन्दिः वा कहा गया है।
गुर्वादिभिः सह—अप्रतिभादि निग्रहस्थानों की उद्भावना का तत्त्वज्ञान में उपयोग नहीं। यद्यदितें गुर्वादिभिः सह—अप्रतिभादि निग्रहस्थानों की उद्भावना का तत्त्वज्ञान में जाता की वृद्धि अधिक भी तत्त्वज्ञान का साक्षात् वाध नहीं करता तथापि उसका प्रभोजन खोजने में जाता की वृद्धि व्यस्त हो जाती है अतः वह तत्त्व को नहीं जान पाता तथा अधिक को तत्त्वज्ञान के बाधकों में गिना जाता है। (विशेष द्व० परि० ६२२)।
त्रिविधं फलम्—अनिधगततत्त्वावबोधः, संशवनिवृत्तः, अध्यवसिताभ्यनुज्ञान म्, इति फलानि वीणि दी०६ १९।
प्रतिद्वानें सह न वादः—प्रतिद्वन्दी तो विजय का इच्छ्क होता है, उसके साथ जल्म और

न्याय भाष्म

अवयवेषु प्रमाणतकान्तभिवे पृथक् प्रभाणतकंग्रहणं साथनोपालम्भव्य-तिबङ्गज्ञापनार्थम् । अन्यथोभाविष पक्षो प्थापनाहेतुना प्रवृत्तौ वाद इति स्यात् । अन्तरेणापि चाव उत्तसम्बन्ध प्रमाणान्यथं साधयन्तीति दृष्टम्, तेनापि कल्पेन साधनोपालमभौ वादे भवत इति ज्ञापयित । 'छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोः पामभो जल्यः (न्याव्यूव्श्-२.२) इति वचनाद् विनिग्रहो जलप इति मा विज्ञावि, छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भ एव जल्पः, प्रमाणतर्कसाधनोपाल्भभो वाद एवेति सा विज्ञायोत्येवमर्थं पृथक प्रमाणतर्कग्रहणिमिति ।१।२।१।।

अवयवों में प्रमाण तथा तर्क का अन्तर्भाव है। जाने पर जो पृथक् प्रमाण तथा तर्क शब्द का ग्रहण किया गया है वह (1) साधन और उपालम्भ का परस्पर सम्बन्ध (व्यतिपङ्ग) बतलाने के लिये हैं। नहीं तो दोनों पक्ष स्थापना के निम्त्त से प्रवृत्त होते हुए (भी) बाद हो जायें। (अन्य प्रयोजन) (11) और अवयवों के सम्बन्ध के बिना भी प्रमाण अर्थ की सिद्ध करते हैं, यह देखा गया है, उस प्रकार से (कल्पेन) भी स्थापना और प्रतियेध बाद में होते हैं, यह भी (आचार्य) ज्ञापित करता है। (अन्य प्रयोजन) (111) छलजातिनिग्रहस्थानस्थानस्थानिम्भो उत्पः (१२२)इस कथन से जल्प बादगत निग्रहस्थान से रहित (बिनिग्रहः, टी०) होता है, यह न जान लिया जाये, और जिसमें प्रछल ज ति निग्रहस्थान से स्थापना और प्रतियेध होता है वह जल्प ही है तथा जिसमें माण एवं तर्क से स्थापना और प्रतियेध होता है वह वाद ही है, ऐसा न जान लिया जाये इसके लिये ही पृथक प्रभाण और तर्क शब्द का ग्रहण विया गया है। १।२।१ ॥

यदि प्रमाणतर्क० — तर्कसहित प्रमाण से एक ही विषय में साधन तथा उपालम्भ हो सकता तो एक ही वस्तु विरुद्धदर्भों से युवन होने लगेगी (द्र० टी० ६१२)।
नैष दोष:—वाद में अभिप्राय नियत किया जाता है कि वादी प्रतिवादी को प्रामाणिक जानकर ही स्थापना तथा उपालम्म करने चाहिये, जल्प और बिनण्डा के समान नहीं। यहाँ वस्तु का नियम नहीं किया जाता कि जिस वस्तु के लिये प्रमाण तथा तर्क दिरे जाये वह सत्द ही हो। इसीलिये यहां विना समझे छल आदि का प्रयोग होने पर उसकी उद्भावना की जाती है। हां, दोष की उद्भावना

तभी तक की जातों है जब तक तत्त्वज्ञान का व्याघात न हो (द्र० टी० ६९२)।

हपतिषङ्गज्ञापनार्थम्—। भाष्यवार ने यह 'प्रमाणतर्क' शब्द के ग्रहण का अन्य प्रयोजन दिखलायी

है। साधन और उपालम्भ का परस्पर संबन्ध हुआ करता है। यह नहीं कि एक अपने स्थान पर
ही शब्द की अनित्यता सिद्ध करने के लिये पञ्चावयय बाक्य का प्रयोग करे और दूसरा शब्द की
नित्यता के विषय में। अनः साधन और उपालम्भ के विशेषण के लिये प्रमाण तर्क शब्द का ग्रहण किया गया है।

अन्तरेणापि—यह अन्य प्रयोजन है। याद दो प्रकार से हो सकता है, प्रमाणत अस्ति स्वाधनोपाल स्थाय यह एक प्रकार है, 'पञ्चावययोपपन्नः' यह द्वितीय प्रकार है।

छुलजाति०—यह अन्य प्रयोजन है। वादगत निग्रहस्थान से रहित जल्प होता है (विनिग्रहो जल्प) ऐसा न समझ लिया जाये। ऐसा समझने से आगें कहा गया अर्थ हो जायेगा (वस्तुत: वादगत निग्रहस्थान भी जल्प में होता है, यही इष्ट अर्थ है जो प्रमाण तर्क ग्रहण से उपलब्ध हीतहैं। (द्र०टी० ६१२)।

१.२.१]

न्यायवात्तिकम्

अपरे तु स्वपरपक्षयोः सिद्धचिसिद्धचर्यं वचनं वाद इति वादलक्षणं वर्णयिति । अत्र च पक्षविशेषणार्थमुपात्तयोः स्वपरशब्दयोरनुपपत्तिविकत्पानुपपत्तेः समासासं-भवाच्च । एतौ खलु स्वपरशब्दौ परिग्रहवर्जनार्थौ वा स्याताम्, साधनीयदूषणीयार्थौ वा, पूर्वोत्तरपक्षार्थव्यवस्थापकौ वा, पक्षप्रतिपक्षावद्योतकौ वा, प्रथमद्वितीयपक्षा भिद्यायकौ वा ? एकस्य वानेकविशेषणाभिसंविध्योऽनेकशब्दाभिद्यानमिति ।

तत्र परिग्रहपरिवर्जनार्थता तावदनुपपन्ना, किमोऽयसिंमवात्-न हि परिग्रहा-थंतायां किमोऽयं: संमवति, कस्यायं स्वो भविष्यति, कश्च स्वार्थ इति, स्वीकरणं परिग्रहार्थः। यः स्वीकरोति तस्य स्व इति । एतदेव चिन्त्यते कि तत् स्वीकरणमिति । ममेति प्रत्ययोत्पत्तिकारणभावाभावौ स्वपरशब्दार्थः। निविष्टः स्वार्थो न पुनरस्य स्वम् । न हि शास्त्रकारस्य स्वः परो वा संभवति यदर्थमिदं स्यात् । यष्ट्य यस्य स्वं मवित तत् तस्य सिद्धचर्थं किञ्चिदुपकारं करोति, न पुतः स्वामिनः पक्षेण किष्चिदुपकारः कियते । तस्मात् परिग्रहवर्जनार्थो तावत् स्वपरशब्दौ न भवतः ।

दूसरे (वसुबन्धु आदि बौद्ध) तो यह बाद का लक्षण बतलाते हैं कि अपने पक्ष तथा परपक्ष की सिद्धि और असिद्धि के लिये होने वाला वचन बाद है। [समीक्षा] और, यहाँ पक्ष के विशेषण के लिये दिये गये स्व और पर शब्द युक्तियुक्त नहीं क्योंकि (क) विकल्प नहीं बनता और (ख) समास संभव नहीं है:—(विकल्प है:) निश्चय ही ये स्व और पर शब्द (१) स्वीकार और प्रतिपेध अर्थ में हो सकते हैं अयवा (२) साध्य और दूपणीय अर्थ में अथवा (३) पूर्व पक्ष और उत्तर पक्ष की व्यवस्था करने वाले अथवा (४) पक्ष और प्रतिपक्ष के द्योतक अथवा (५) प्रथम और द्वितीय-पक्ष का कथन करने वाले अथवा (६) अनेक विशेषणों से सम्बन्ध रखने वाले एक का अनेक शब्दों से कथन किया जा सकता है।

त्र

ï

7

4.

[प्रथम विकल्प] स्वीकार और प्रतिषेध अर्थ तो बन्ता नहीं, किम् (क्या, कौन) का अर्थ संभव न होने से— वस्तुतः स्वीकार अर्थ में 'किम्' का अर्थ संभव नहीं, किसका यह स्व (अपना) होगा और 'स्व' का वया अर्थ होगा? स्वीकार करना (ही) परिग्रह का अर्थ है, जो स्वीकार करना है उसका 'स्व' होता है। यही विचार किया जाता है कि स्वीकरण क्या है? (पूर्व पक्ष) मेरा है (ममेति) इस प्रतीति का कारण होना तथा कारण न होना स्व और पर शब्द का अर्थ है। [सिद्धान्त] 'स्व' का अर्थ कह दिया गया (निर्दिष्टः) किन्तु इस (शास्त्रकार) का 'स्व' क्या है? यह नहीं। शास्त्रकार का स्वकीय या परकीय नहीं हो सकता, जिसके लिये यह (स्व पर शब्द) होवे। और जो जिसका स्व होता है वह उसकी सिद्धि के लिये कुछ उपकार करता है किन्तु स्वामी का पक्ष के द्वारा कुछ उपकार नहीं किया जाता। इस लिये स्वीकार और निषेध वाले तो स्व और पर शब्द नहीं हैं।

अपरे तु --टीकाकार ने इसे सुबन्धु या वसुबन्धु लक्षण कहा है (टी० ६१२)। वसुबन्धु की कृति वादविधि है। स्वपद्मक्ष्य सिद्धिः, परपक्षस्य चासिद्धः, तदर्थं वचनं वादः, टी० ६१२।

348]

[वादः

ग्यायवात्तिकम्

साधनीयदूषणीयाथौँ स्वपरणब्दाविति चेत् — अथापीवं स्यात् साधनीयः स्वपक्षो दूषणीयः परपक्ष इति ; अहो शब्दार्थं कौशलम् ! साधनीयः साध्यः स्यात् । साधनीयः स्वपक्ष इति कृत एतत् ? लक्षणं चैतत् पक्षस्य, 'साधियतुमिष्टः पक्षः' इति । साधनीयशब्देनापि तदेवोच्यते । व्यवच्छेदार्थं चेदमुच्यते स्वपक्षः परपक्ष इति । परपक्षाच्वायं स्वशब्देन व्यवच्छिद्यायां चे समानमर्थं शक्तोति वक्तुम् । व्यर्थं वा विशेषणम् । सामान्यशब्दा अपि विशेषे वर्तन्ते इति वृष्टमेतत् । न ते सामान्यशब्दा ये विशेषेषु वर्तन्त इति । कि तु प्रकरणादिभेदानुविद्यायिनो विशेषशब्दा एव ते । अपि च साधनीयः पक्षः स्वपक्षः, दूषणीयः पक्षः परपक्षः, इस्येतदिष न बृष्यामहे । साधनस्य पक्षविषयत्वात् साधनीयः पक्षः स्वो भवतु, दूषणं तु न किञ्चित् परपक्षेण संबध्यते, परपक्षस्य तादवस्थ्याद् । अय दूषणस्य को विषयः?

(हितीय विकल्प) यदि स्व और पर शब्द साधनीय और दूपणीय अर्थ में हैं—यदि यह माना जाये जिसे सिद्ध करना है वह स्वपक्ष है, जिसका दोण दिखलाना है वह परपक्ष है। [समीका] तो (आपकी) शब्द और अर्थ की निपुणता आश्चर्यजनक है। साधनीय का अर्थ होगा साध्य, फिर जिसे सिद्ध करना है वह स्वपक्ष है, यह कैसे? और, पक्ष का लक्षण यह है जो सिद्ध करना अभीष्ट है वह पक्ष है, 'साधनीय' शब्द से भी वही कहा जा रहा है। भेद दिखलाने के लिये यह कहा जा रहा है स्वपक्ष और परपक्ष। और परपक्ष से यह 'स्व' शब्द के द्वारा भिन्न किया गया समान अर्थ को नहीं कह सकता। अथवा विशेषण व्यर्थ है। (आक्षेप) सामान्य शब्द भी विशेष (अर्थ) में होते हैं, यह देखा गया है। [परिहार] वे सामान्य शब्द नहीं होते जो विशेष एब्द ही होते हैं। और भी, जिसे सिद्ध करना है वह पक्ष स्वपक्ष है, जिसे दूषित करना है वह पक्ष परपक्ष है, यह भी हम नहीं समझते। साधन पक्ष के विषय में होता है अतः जिसे सिद्ध करना है वह स्वपक्ष हो जाये किन्तु दूषित करने का परपक्ष से कुछ संबन्ध नहीं है। (दूषण देने पर भी) परपक्ष तो वैसा का वैसा ही रहता है (तादवस्थ्यात्)। (प्रश्न) तब दूषण का विषय स्या है? (उत्तर) किसी (दूषण) का

विकल्पानुषपत्तेः — यहाँ ६ विकल्प किये गये हैं जिनमें क्रमणः दोष दिखलाया गया है।

ममेति — 'यह मेरा है' इस प्रतीति का कारण 'स्वत्व' है, इसका कारण न होना अस्वत्व है
(टी० ६१३)।

शास्त्रकारस्य — 'यह मेरा है' इस ज्ञान की उत्पत्ति का कारण है यथेष्ट नियुक्ति की योग्यता। शब्द के नित्यत्व आदि की स्थापना में यह नहीं होता।

यच्च यस्य — जो घट बादि किसी का 'स्व' होता है, वह स्वामी का उपकार करता है किन्तु पर्ध तो प्रयोक्ता का कोई उपकार करता नहीं अतः वह स्व नहीं हो सकता (द्र० टी० ६१३)! अही शब्दार्थकीशलम् — यहाँ द्वितीय विकल्प का निराकरण किया जा रहा है। भाव यह है कि इस प्रकार पक्ष और स्वपक्ष मन्द से को ईक्षन्वर म होगा। 2.7.8]

ि ३४४

म्यायवातिकम्

स्यापना विषय है — कोई दूषण स्थापना से सम्बन्ध रखता है कोई स्वपक्ष या परपक्ष से असम्बद्ध ही रहता है। (प्रश्न) कीनसा दूषण स्थापना से सम्बन्ध रखता है? खौर यह स्थापना क्या है? (उत्तर) स्थापना है पाँच अवयवों वाला पक्ष का साधक वाक्य और वाक्य का दोष दूषण है; वह वाक्य न्यून या अधिक होता है तथा अवयवाभास से युक्त भी। उस (दोष) का प्रकट करना दूषण है। यह (दूषण) स्थापना से सम्बन्ध रखता है, क्योंकि उसके विषय में होता है। किन्तु ग्रेप दूषण न स्थापना से न ही स्वपक्ष या परपक्ष से सम्बन्ध रखते हैं, जैसे उत्तर के दोष (जात्युक्तर) और अप्रतिभा आदि निग्रहस्थान (आक्षेपभावाः)। (आक्षेप) ठीक है, पक्ष का दूषण के साथ साक्षात् सम्बन्ध नहीं, स्थापना की निवृत्ति करके प्रवृत्त होता हुआ दूषण पक्ष की निवृत्ति नहीं करता, स्थापना की निवृत्ति से (वह) परपक्ष को दूषित करता है, यह कहा जाता है। [परिहार] उपचारयुक्त शब्द का प्रयोग लक्षण में युक्त नहीं, लक्षण के तत्वविषय क होने से — लक्षण तत्त्व का निश्चायक होता है किन्तु उपचार

ह्यवच्छेदार्थं च — विशेषण पद समान अयं वाले विशेष्य में कुछ भेद करता है या नहीं ? यदि करता है तो स्वपक्ष शब्द का अयं पक्ष शब्द से भिन्न होगा, यदि नहीं करता तो विशेषण व्ययं है ! सामान्यशब्दा अपि — विशेष्य शब्द विशेषण से विशिष्ट होकर भी सामान्य शब्द ही है अतः स्वपक्ष सब्द पक्ष के अयं में ही है ।

अथ वूषणस्य -- प्रश्न का भाव है कि यदि पक्ष से दूषण का सम्बन्ध नहीं तो दूषण का विषय क्या

है ? इसका उत्तर 'कस्यचित्' आदि है। उत्तरदोष: — जाति की उद्भावना, आक्षेपभावाः =अप्रतिभा विक्षेप आदि। ये न तो स्व-पर पक्ष

से सम्बन्ध रखते हैं न स्थापना से ही (द्र० टी० ६१३)।
सत्यम् **** उन्यते — आक्षेप का आश्रय है: दूपण साक्षात् रूप से परपक्ष को दूपित नहीं करता

किन्तु उसकी स्थापना की निवृत्ति करता है और परम्परा से ऐसा कह दिया जाता है।
उपचरित्रशब्द प्रयोग:— लक्षण में उपचरित शब्द का प्रयोग इष्ट नहीं बौदों का भी कयन
—नतें प्रयोजनादिष्टं मुख्यशब्दार्यं लङ्कनम् (?)।

३५६]

वाद:

न्यायवात्तिकम्

यिव च पारम्पर्येण प्रवृह्या प्रवर्त्तमानं दूषणं परपक्षं निवर्तयित, तर्देवं युक्तं कर्तुं परपक्षाितद्वयं वचनं वाद इति । एवमिश्रीयमाने कि मिविष्यित ? लघु च सूत्रं मवतीत्युषयोश्च साधनदूषणयो। पारम्पर्येण परपक्षाितद्वययंतेति । अथ मा भूदु-मयत्र पारम्पर्येमिति, स्वरूपत एवं सूत्रं वक्तस्यम्, पक्षास्थापनयोः सिद्धचितद्वययं वचनं वाद इति । एवं हि विस्म्ब्टता लक्षणस्य, यथाविषयं चापि संबन्ध इति । स्थापनयािप न सर्वं दूषणं संबन्ध्यत इति वोषतादवस्थ्यम् । न वोषतादवस्थ्यम्, कस्यिचत् संभवात् — किञ्चिद् दूषणं स्थापनया संबन्ध्यत इत्युक्तम् । सामान्यािमञ्जने उपि सामर्थात् नियमः । तस्माद् इदमप्यनुपपन्नं साधनीयदूषणीयार्थौ स्वपरशब्दाविति।

शब्द के प्रयोग से (तत्त्व की) व्यवस्था नहीं होती। और, यदि परम्परया प्रवृत्ति (?) से प्रवृत्त होता हुआ दूषण परपक्ष की निवृत्ति करता है तब इस प्रकार (सूत्र) करता युक्त है 'परपक्ष।सिद्धचर्थ वचनं वाद:' (दूसरे पक्ष की असिद्धि के लिये कहा गया वचन वाद है)। (प्रश्न) इस प्रकार कहने पर क्या होगा? (उत्तर)सूत्र लघु हो जायेगा और साधन तथा दूषण दोनों परम्परा से परपक्ष की असिद्धि के लिये होंगे। (शङ्का) यदि दोनों में परम्परा से होना (अभीष्ट) न हो [समाधान] तो मुख्यतः (अभीष्ट होने में) इस प्रकार सूत्र कहना चाहिये 'पक्ष-स्थापनयोः सिद्धचसिद्धचर्थं वचनं वादः' (दोनों पक्षों की स्थापना की सिद्धि तथा असिद्धि के लिये कहा गया वचन वाद है), क्योंकि इस प्रकार लक्षण की स्पष्टता होगी और विषय के अनुसार सम्बन्ध भी होगा। (आक्षेप) स्थापना से भी सव दूषणों का सम्बन्ध नहीं अतः दोष वैसा ही है। [परिहार] वैसा ही दोष नहीं, किसी (दोष) का (स्थापना से) सम्बन्ध होने से—कोई दूषण स्थापना से सम्बद्ध होता (ही) है, यह कहा जा चुका है, अतः सामान्यतः कहने पर भी सामध्यं से नियम हो जायेगा। इसलिये यह भी युक्तियुक्त नहीं कि स्व और पर शब्द का अर्थ साधनीय और दूषणीय है।

यदि च — यदि लक्षण में उपचार अभिमत है तो यह लक्षण करना ठीक होगा (खक्षण आगे दिया गया है)।

अय-- प्रकृत का भाव यह है कि दोनों में परम्परा मानना अभीष्ट नहीं, इसके समाधान के सिये कहा गया है स्वरूपतः आदि, स्वरूपतः मुख्यतः, टी० ६१३।

सामान्याभिधानेन — प्रश्न यह हो सकता है कि स्थापना से दूषण मात्र का ही सम्बन्ध है किर विशेष दूषण कैसे जाना जायेगा। इसका उत्तर है सामर्थ्यात् नियम: इत्यादि अर्थात् जहाँ जो दूषण संभव होगा उसका प्रयोग किया जायेगा।

तस्माद् - यहाँ द्वितीय विकल्प के निराकरण का उपसंहार किया गया हैं।

१. च 'नास्ति' क; २. अल, क; अथ, ख ..

8 2 8]

1 840

न्यायवात्तिकम्

स्वपरशब्दौ पूर्धोत्तरपक्षाथौं सविष्यत इति, यदुवतं भवति पूर्वोत्तरपक्षाविति तदुवतं भवति स्वपरणक्षाविति । न युक्तमेतदपीति, साधनदूषणयोनियमाभ्युपगमात् --'ते साधन-दूषणैः, इत्येतिस्मन् सूत्रे साधनदूषणयोनियमाभिधानम्, स्वपक्षे साधनं परपक्षे दूषणमिति । एतिस्मिश्च नियमे उत्तरपक्षविषयं दूषणं प्राप्नोति । तेनोत्तरपक्ष-वादी स्वमेव पक्षं दूषपतीति प्राप्तम् । स्वपक्षश्चोत्तरपक्षवादिनः पूर्वपक्षादन्य इति, स्वपरणब्दाभ्यां च पूर्वोत्तरपक्षयोरिषधानमिति न पदार्थो न परिभाषा न च कृष्ठिः ।

एतेन पक्षप्रतिपक्षार्थता प्रथमद्वितीयपक्षार्थता च व्याख्याता ।

एक एवायं यक्ष इति, विशेषणयधीगान्साध्यतयाद्वष्यतया च विशेष्यमाणः स्वपरपक्षशब्दवाच्य इति, युक्तमेत्त्, द्विवचनं तु न युक्तम्—एकस्यानेकविशेषणयोगो न प्रतिषिध्यते, द्विवचनं तु न भवतीति बूयः, न ह्ये कस्यानेकविशेषणाभिसंबन्धे सित द्विवचनबहुवचने भवतः । न हि देवदत्तं छत्रदण्डाभ्यां संबद्धं समुपलम्य वस्तारो भवित छत्रिदण्डिनावागत।विति । तदेवं विकल्पानुपपत्तेः स्वपरशब्दानुपपत्तिः ।

(तृतीय विकल्प) स्व तथा पर शब्द पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष के अर्थ में होंगे, अर्थात् जो कहना है पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष वह कह दिया है स्वपक्ष तथा परपक्ष। [समीक्षा] यह भी युक्त नहीं; साधन और दूषण के नियम को स्वीकारने से—वै (स्वपक्ष तथा परपक्ष) साधन और दूषणों के द्वारा, इस सूत्र में साधन और दूषण का नियम कहा गया है कि अपने पक्ष की स्थापना करना और परपक्ष को दूषित करना। और इस नियम के होने पर उत्तरपक्ष को दूषित करना प्राप्त होता है, जिससे उत्तरपक्ष वादी अपने ही पक्ष को दूषित करता है, यह (अर्थ) निकलता है। और, उत्तरपक्ष वादी का अपना पक्ष पूर्वपक्ष से मिन्न है। इस प्रकार स्व, पर शब्दों से पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष का कथन है, यह न पदों का अर्थ है, न परिभाषा है तथा न रूढि है।

[चतुर्थ, पञ्चम विकल्प का दूषण] इससे (स्वपर का) अर्थ पक्ष और प्रतिपक्ष है और प्रथम, द्वितीय पक्ष है, इनकी भी (निराकरण रूप में) व्याख्या कर दी गई।

(षष्ठ विकल्प) एक ही यह पक्ष है जो दो विशेषणों के सम्बन्ध से साध्य रूप में और दूष्य रूप में विशेषित होकर स्वपक्ष तथा परपक्ष शब्द का वाच्य हो जाता है। [समीक्षा] यह ठीक है; किन्तु द्विवचन तो युक्त नहीं—एक का अनेक विशेषणों से सम्बन्ध होता है, इसका प्रतिषेध नहीं किया जाता; किन्तु (यहाँ) द्विवचन न होगा, यह हम कहते हैं; वस्तुत: एक का अनेक विशेषणों से सम्बन्ध होने पर द्विवचन और बहुवचन नहीं होते। (एक) देवदत्त को दण्ड और छत्र से सम्बद्ध पाकर ऐसा कहने वाले नहीं होते कि छत्री और दण्डी आये हैं। तो इस प्रकार विकल्प न बन सकने से (इस लक्षण में) स्व और पर शब्द युक्त नहीं।

न युक्तमेतदि — यदि स्वपक्ष का अर्थ है पूर्वपक्ष और परपक्ष का अर्थ है उत्तरपक्ष तो अग्रिम सूत्र का विरोध होगा। अग्रिम सूत्र है 'ते साधनदूपणैः' जिसका भाव है कि 'स्व' का साधन से सम्बन्ध है और पर का दूषण से। इस नियम से उत्तरपक्ष दूषणीय ही होता है। उत्तरपक्षवादी को भी उसे दूषित करना होगा। इस प्रकार पूर्वपक्ष साधनीय है, उत्तरपक्षवादी को भी उसे सिद्ध करना होगा।

३५५]

[वादः

न्यायवात्तिकम्

समासासंभवाच्च; स्वपरपक्ष इति सवासपदस्तित्। तत्र तायत् विशेषण्-विशेष्य-स्वरूपानवधृतेनं षष्ठीसमासः यत्र खलु षष्ठी समस्यते तत्र विशेषणं णिशेष्यात् पृथगवधार्यते, यथा राजपुष्ठष इति । भेराच्च —यत्र च विशेषणविद्धोष्य-षावो भवति, तत्र भेदो दृष्टो राजपुष्ठषवदेव । असत्यिप भेदे दृष्टद इति चेत् — असत्यिषि भेदे दृष्टः षष्ठीसमासः, तद् यथा सेनापितः, पानकाङ्गमिति । तच्च न, अनम्युपा-मात् —को हि स्वस्थात्मा पानकमङ्गिभयो नार्थन्तरं प्रतिपद्यते, सेनां च सैनिकेम्य इति । यथा च सेनादीन्यर्थान्तरभूतानि तथोक्तं गुणगुणिवाद इति । अथ मन्यसे स्वार्थः स्वशब्दस्यार्थः, साधनीयार्थस्च पक्षशब्दस्यति । तन्न, अपोदितत्वात् —यथा स्वार्थवाचकः स्वशब्दो न भवति तथोवतम् । तस्मात् न षष्ठीसमःसः । एतेन कर्म-धारयः प्रत्युक्तः । स्वश्वासी पक्षश्वीत विशेषणस्व क्वासिद्धे भेदाभावाच्च ।

(दूसरे हेत् की व्याख्या) यहाँ समास भी संभव नहीं । स्वपरपक्ष यह समस्त पद है। वहाँ प्रथमतः षष्ठी समास नहीं; (i) विशेषण तथा विशेष्य का स्वरूप अति-रिचत होने से -- जहाँ पड्डी समास होता है, वहाँ विशेषण का विशेष्य से प्यक निश्चय हुआ करता है; जैसे राजपूर्ण आदि । (ii) और भेद होने से - और जहाँ विशेषण-विशेष्य-भाव होता है, वहाँ भेद देखा गया है; राजपूरुष के समान ही। (आक्षेप) यदि (कहो कि) भेद न होने पर भी देखा गया है — भेद न होने पर भी पष्ठो समास देखा गया है जैसे कि सेनापित, पानकाङ्ग । [परिहार] वह ठीक नहीं, त मानने से -- कीन स्वस्थ मन वाला (स्वस्थातमा) पानक की अङ्गी से पृथक नहीं स्वीकारता और सेना को सैनिकों से । और, जिस प्रकार सेना आदि भिन्न अर्थ हैं उस प्रकार गुण-गुणी के विचार (के प्रकरण) में कहा गया है। यदि मानते हो कि अपना अर्थ 'स्व' शब्द का अर्थ है और साधने योग्य अर्थ 'पक्ष' शब्द का, वह (भी) नहीं, निराकरण कर दिया जाने से (अपोदितत्वात्) - जैसे 'स्व' शब्द अपने अर्थ (स्वार्थ) का वाचक नहीं होता वैसे कहा जा चुका है। इसलिये पष्ठी समास नहीं। इससे 'यह 'स्व' है और पक्ष भी', इस प्रकार के कर्मधारय (समास) का भी निरा-करण हो गया, क्यों कि विशेषण का स्वरूप निश्चित नहीं और (विशेषण तथा विशेष्य में) स्वपक्षण्च ... अन्य: - और अयुक्त होते हुए भी पूर्वपक्ष की सिद्धि होगी तथा युक्त होने वाले उत्तरपक्ष को दूषित किया जायेगा, पूर्वपक्षात् - अयुक्तपक्षाद् अन्यः, युक्तः इत्यर्थः, टी० ६१४। न पदार्थः -- वाक्य के अवयव जो पद हैं उनका अर्थ नहीं, नावययार्थः, टी० ६१४। एतेन व्याख्याता - एतेन - अन्य सूत्रोक्त नियम के विरोध से, व्याख्याता = निराकार्यत्वेन। **ऐक एवायम्** ---पष्ठ विकल्प को प्रस्तुत करके उसका निराकरण किया गया है। युक्तमेतत् — एक (पक्षा) के ही अनेक (स्व, पर) विशेषण हैं, यह तो ठीक है। स्वरूपानवधृते: - विशेष्य (पक्षा) से पृथक् स्व, पर विशेषण का अर्थ निश्चित न होने से। 'मेदाच्च' यह दूसरा कारण है, अपि त्वन्यस्माद्पि न भिद्यते, टी० ६१४। असत्यि - बाक्षेप का भाव है: - सेनापित में पब्छी समास होता है, यहाँ पित विशेष्य है और सेना विशेषण है। विशेष्य पति से सेना भिन्न नहीं तथा उससे अन्य हास्तिक आदि से भी। इसी प्रकार 'पानकाङ्गम्', पानक जो रस है जीरा आदि उसके अङ्ग हैं, पानक जीरा आदि से भिन्न नहीं और (अन्य) फल तथा जल आदि से भी। अन्द्रयुप्रमात -- सेना का सैनिकों से और पानक का अङ्गों से अमेद नहीं माना जाता।

2.2.2

346

न्यायवात्तिकम्

एतेन बहुवोहिरिप प्रत्युक्तः । साधियतृ विषयं च साधनं प्राप्नोति । अतो न बहुवोहिः ।
ननु च साधनीयार्थता स्वार्थः पक्षविशेषणत्वेन संभवति । न संभवति, पर्यायत्वात्साधनीयः पक्ष इति पर्याय एव, न च पर्यायशब्दैः समानाधिकरणो बहुवीहिवि
संभवति । न हि भवति वृक्षतरुं छिनत्तीति । विरोधाष्टव—यवि तावदयं पक्षशब्दः
स्वपक्षाव् भिद्यते (पर) 'पक्षवचनं प्रतिज्ञा' इति व्याघातः । कि कारणम् ? प्रतिज्ञायाः
स्वपक्षविषयत्वात् । अथाभिन्नः, तथापीदं न प्राप्नोति 'स्वपरपक्षयोः सिद्धचिद्धचर्यं
वचनं वादः, इति, न चान्यः समासः संभवति । न चेदं वाक्यम् । तस्मान् स्वपरपक्षयोरिति असारमेतत् ।

आस्तां तावत् स्वपरशब्दार्थो विशेषणविशेष्यभावश्च स्वपरशब्दयो: । अय समासः कस्मात् न क्रियते । 'स्वपरपक्षसिद्धचिसद्धचर्यं वचनं वाद इति ? किमेवं कृते भविष्यति ? स एवार्थो लाघवं च ।

भेद नहीं। इससे (स्वपक्षो यस्य) बहुन्नीहि भी खण्डित हो गया। और, (बहुन्नीहि में) साधियता के विषय में साधन प्राप्त होता है, अतः बहुन्नीहि नहीं। शब्द्धा है (न नु च) स्व का अर्थ (स्व + अर्थ) जो साधनीय अर्थ है वह पक्ष के विशेषण रूप में संभव है। [समाधान] नहीं संभव है; (i) समानार्थंक (पर्याय) होने से — साधनीय तथा पक्ष ये शब्द पर्याय ही हैं और पर्याय शब्दों से कर्मधारय (समानाधिकरणः) या बहुन्नीहि संभव नहीं होता। ऐसा नहीं होता कि 'वृक्षतरु' को काटता है। (ii) और विरोध होने से — यदि तो यह 'पक्ष' शब्द 'स्वपक्ष' शब्द से भिन्न है तो 'पक्षवचन प्रतिज्ञा है' इससे विरोध होता है। क्या कारण है ? क्योंकि प्रतिज्ञा अपने पक्ष के विषय में होती है। यदि (पक्ष शब्द 'स्वपक्ष' शब्द से) भिन्न नहीं है तो भी यह नहीं प्राप्त होता कि स्वपक्ष तथा परपक्ष की सिद्धि तथा असिद्धि के लिये होने वाला वचन वाद होता है। और इन (तीनों से) अन्य समास (यहाँ) संभव नहीं है। और, यह वाक्य (भी) नहीं है। इसलिये 'स्वपरपक्षयोः' यह (कथन) सारहीन है।

अच्छा, छोड़ दिया जाये (आस्ताम्) स्व और पर शब्द का अर्थ तथा (इनका) विशेषण-विशेष्य-भाव । किन्तु समास क्यों नहीं किया जाता ? 'स्वपरपक्षसिद्धच-सिद्धचर्थं वचनं वादः' इस प्रकार । (प्रश्न) ऐसा करने पर क्या होगा ? (उत्तर) वही अर्थ और लाघव (भी)।

एतेन — विशेषण स्वरूपासिद्धेः, भेदाभावाच्च । बहुब्रीहि — स्वः पक्षो यस्य साधियतुः स सथोक्तः । साधियत्विषयं च — बहुब्रीहि में साधन का विषय साधियता मी होगा । न न च — शङ्का का भाव है — 'स्व' शब्द का अर्थ यथेष्ट विनियोग योग्यता न माना जाये, किन्तु साधनीय (साधने योग्य) माना जाये तो पण्ठी समास हो जायेगा । स्वायं: — स्व शब्द का वाच्य अर्थ ।

विरोधाच्च — यदि 'पक्षा' और 'स्वपक्षा', में भेद माना जाये तो अन्य सूत्र 'पक्षावचनं प्रतिष्ठा' का विरोध होगा, यदि अभेद माना जाये तो 'स्वपर' इत्यादि सूत्र का विरोध होगा (द्र० टी० ६१४)। आस्ता तावत् — समास करने में लाघव है, अतः समास करना चाहिये।

3 40]

वाद:

न्यायवात्तिकम्

अत्र केचित् परिहारं बुवते, यदि किल समासः क्रियते, उमयाश्रिते सिद्ध्यसिद्धो प्राप्तुतः । न, दोषताव्यस्थ्यात्—नायं दोषोऽसमासकरणेन परिह्नियते । कथिमति ?स्व-पक्षसिद्ध्यर्थं वचनम्, परपक्षस्य च तिद्ध्यसिद्ध्यर्थं स्वपरपत्रयोः सिद्ध्यसिद्ध्यर्थं स्वपरपत्रयोः सिद्ध्यसिद्ध्यर्थं मिति । न, असामर्थ्यात्—न ह्ययं समासः समर्थः स्वपक्षस्य परपक्षस्य च सिद्ध्यः सिद्ध्यर्थमिति । कस्मात् ? व्याहतत्वात्—यदि तिद्ध्यर्थं यतते, अतिद्ध्यर्थमिति व्याघातः, यद्यसिद्ध्यर्थं यतते सिद्ध्यर्थमिति व्याघातः । यद्यसामर्थ्यात् न समासः । समासेऽपि तर्ह्यसामर्थ्यात् नोभयपक्षतिद्ध्यसिद्धि प्रसङ्गः ।

एकवचनबहुवचन प्रसङ्गः इत्यन्ये — यदि किल समासः क्रियेत, समासोः ऽनिभव्यवस्तवचनभेदः, तस्माव् वचनभेदव्यक्तिनिमित्तम् असमासः। कथ नाम स्थ-परपक्षयोरेव सिद्धचिसद्धचर्थं वचनं वाद स्यात्, न स्वप्रपक्षाणां न स्वप्रपक्षत्वेति। न, असंभवात् — एकस्य तावत् सिद्धचिसद्धचर्यं वचनं नैवास्ति, वपरपक्षाणां साधनम् अनुमानमेकिनित कथाप्येषा नास्ति। अतोऽस्याने आशङ्का।

(प्रथम परिहार) इस विषय में कोई ? परिहार करते हैं, यदि समास किया जाता है तो सिद्धि और असिद्धि दोनों (पक्ष तथा प्रतिपक्ष) में प्राप्त होती हैं। [सिद्धान्ती] यह नहीं (समास न करने पर भी) वैसा ही दोष रहने से—यह दोष समास न करने से दूर नहीं किया जाता। कैसे ? अपने पक्ष की सिद्धि और असिद्धि के लिये वचन और परपक्ष की सिद्धि और असिद्धि के लिये वचन और परपक्ष की सिद्धि और असिद्धि के लिये (ऐसा वचन होगा) स्वपर पक्षों की सिद्धि तथा असिद्धि के लिये (स्वपरपक्षयो: सिद्ध्यसिद्ध्यर्थम्)। (समास) नहीं, सामर्थ्य न होने से—यह समर्थ समास नहीं स्वपक्ष की और परपक्ष की सिद्धि तथा असिद्धि के लिये । (परस्पर) विरुद्ध होने से—यदि सिद्धि के लिये यत्न करता है तब असिद्धि के लिये यह विरोध है और यदि असिद्धि के लिये यत्न करता है तब असिद्धि के लिये यह विरोध है। (प्रतिबन्दी) यदि सामर्थ्य न होने से समास नहीं तो समास करने पर भी सामर्थ्य न होने से दोनों पक्षों की सिद्धि और असिद्धि का प्रसङ्ग न होगा।

(द्वितीय परिहार) दूसरे (?) कहते हैं — (समास करने पर) एक-वचन बहुवचन का प्रसङ्ग होता है — यदि समास किया जाये तो समास में वचन का भेद अभिन्यक्त न होगा, इसलिये वचन-भेद को प्रकट करने के लिये समास नहीं किया गया। स्व तथा पर पक्ष की सिद्धि और असिद्धि के लिये किया गया वचन ही बाद क्यों होगा ? स्व और पर पक्षों की (बहुवचन) और स्व और पर पक्ष की (एकवचन) [सिद्धि तथा असिद्धि के लिये होने वाला वचन वाद क्यों नहीं]। [सिद्धान्ती] यह ठीक नहीं, संभव न होने ते — एक की तो सिद्धि और असिद्धि के लिये वचन होता नहीं तथा अपने और दूसरों के (बहुत से) पक्षों की सिद्ध करने वाला एक अनुमान होगा, इसकी तो कथा (चर्चा, बात) भी नहीं। इसलिये अवसर के बिना (अस्थाने) ही यह शङ्का है।

कि बित्—यहाँ सिद्धान्ती का प्रश्न है 'स्वपरपक्ष सिद्धचिसद्धचर्यम्' इस प्रकार समास क्यों नहीं किया गया। इसके पूर्वपक्ष की ओर से तीन उत्तर (परिहार) दिये गये हैं के चित्, अन्ये, अपरे शब्दों से । इन शब्दों से किनका मत बतलाया गया है, यह नहीं कहा जा सकता। वात्तिककार ने तीनों की निराकरण किया है।

2 7.8]

8 8 8

न्यायवात्तिकम

अनित्यः समासविधिरिति' अपरे -अपरे पुनः समासविधेरिनत्यतां वर्णयन्त एवमाहः, नायमवश्यं विधिः सर्वत्र समास इति । वश्चित् समासो भवति, व्यचिच्य वाक्यम; यथा राज्ञ: पुरुष:, राजपुरुष इति । यदि उमयप्राप्ति:, असमास:। कस्मात ? अनित्यः समासविधिरित्येवं युवतैतदुक्तं भवति प्राप्तमुभयम् । अथोमय ग्राप्तौ कस्माद-समास इति । समासः कस्माद ? इत्यनिवृत्तोऽनूयोगः । नानिवृत्तो लाघवार्थंत्वात -समासे लाघवम असमासे गौरवम् । अर्थगत्यर्थं च शब्दानामुपादानमिति गुर्वामधाने प्रयोजनं वाच्यम । वर्णे गवनायवानम्यूपगम इति चेत्, नायं परिहारोऽन्योगस्य। तिवत्ते:-वर्णे गरुताववानयोगं न प्रतिपद्यामहे इति चेतु; न निवर्ततेऽनुयोगः। कस्मादिति ? शास्त्रस्वेत च वादविधानमध्यपगम्यते, न च वर्णे गुरुलाववमाश्रीयते इति न युक्तम ।

(तृतीय परिहार) दूसरे (कहते हैं) समासविधि अनित्य है-किन्त दूसरे समासविधि की अनित्यता बतलाते हए इस प्रकार कहते हैं, यह (समास) विधि नित्य नहीं है कि सर्वत्र समास होता हो, कहीं समास होता है कहीं वाक्य; जैसे राजा का पुरुष (वाक्य है) राजपुरुष (समास है) । यदि दोनों की प्राप्ति है तो असमास हो जाता है। क्यों ? समास-विधि अनित्य है, यह बतलाते हुए यह कह दिया गया है कि दोनों प्राप्त हैं। तब (अथ) दोनों की प्राप्ति होने पर असमास क्यों ? समास क्यों ? यह प्रश्न (अनुयोग) समाप्त नहीं होता (अनवस्था हो जाती है)। (सिद्धान्ती) ऐसा नहीं कि (प्रथन) निवृत्त नहीं होता; लायव के लिये होने से — समास में लायव है, समास न करने में गौरव है। और, अर्थबोध के लिये शब्दों का प्रयोग (उपादान) होता है अत: गौरव-युक्त कथन में प्रयोजन कहना होगा। यदि (कहो) वर्ण (मौखिक वर्णन) में गौरव तथा लाघव का विचार (अम्यूपगमः = स्वीकारः) नहीं किया जाता तो यह परिहार नहीं, प्रश्न की निवृत्ति न होने से [शङ्का तथा समाधान की व्याख्या] यदि (कहो) मौखिक वर्णन (वर्ण) में गौरव और लाघव के प्रश्न को हम नहीं स्वीकारते तो भी हमारे प्रकृत (यहाँ समास क्यों नहीं ?) की निद्वत्ति नहीं होती। क्यों ? बादविधान को शास्त्र रूप में स्वीकारा जाता है और वर्ण में गौरव तथा लाघव को नहीं माना जाता, यह युक्त नहीं।

मिद्धिधसिद्धधर्यम्' ऐसा समास ।

एकवचन ० -- सामर्थ्य न होने से एकवचन या बहुवचन का प्रसङ्ग भी नहीं है ।

अनित्यः ... प्राप्तमुभयम् - समासिविधि अनित्य है, यह तृतीय पूर्वपन्न है। इसमें समास या असमास दोनों प्राप्त होते हैं।

लाघवार्थंत्वात् -- समास करने में लाघव है, अत: समास करना चाहिए।

शास्त्रत्वेन --- जब 'वादविधान' नामक ग्रत्थ को शास्त्र रूप में स्वीकार करके यह वार का लक्षण किया है तब गुरु लाघव का विधान भी स्वीकारना होगा, वह भी शास्त्रविद्धित 🕯 ।

न, असामध्यति — समर्थः पदविधः (२.२.१) इस प्रकरण में समर्थों का ही समास कहा गया है। सामर्थ्यं का अर्थ है व्यपेक्षा और एकार्थीभाव। एकार्यीभाव होने पर समास होता है। समासेऽपि तर्हि - समास होने पर भी दोनों पक्षों की सिद्धि और असिद्धि का प्रसङ्ग न होगा। इसमें हेतु है 'असामर्थ्यात्'। यहाँ सामध्यं लोकप्रचलित शब्द है। समास का भाव है 'स्वपरपक्ष-

3 6 7]

वाद:

न्यायवात्तिकम्

सिद्धधिसद्धधर्थम्' एतदि न युक्तम् । कस्मात् ? द्वेधानुपपत्तेः — अयं खल् सिद्धिशब्दः कल्प्यमानो द्वेधा कल्प्येत व्यक्तावृत्पत्ती द्वा । तम्न ताववृत्पत्ती युज्यते, प्रतिज्ञादिकस्य साधनस्य साधनभावहानिप्रसङ्गात् — न हि प्रतिज्ञादि-साधनेन वस्तृत्या- खते, किं तु विद्यमानप्रकाशकत्वं साधनार्थः । स होयते, सिद्धावृत्पत्ती कल्पितायाम् इति । व्यक्ताविति चेत्; न, अधिकरणाधारत्वात् — अथ मन्यसे सिद्धिव्यक्तिः नोत्पत्तिः । युक्तमेतत्, उत्तरं तु व्याहतं भवति, अधिकरणप्रत्यायनं सिद्धयसिद्धी इति । ये चैते अधिकरणप्रत्यायन् कथ्यं पक्षस्य भवत इति षव्व्ययायन् त्वभ्यः । नायं वृवंचस्तद्विषयत्वात् तयोः सिद्धचसिद्धयो। पक्षो विषयः, अतः तिद्विषयत्थात् तस्येति । न युक्तमेतत् । ये ते सिद्धचसिद्धी पक्षविषये, ते कि पक्षे सिद्धे उतासिद्धे ? यवि तावत् सिद्धे, नाधिकरणप्रत्यायनं सिद्धिः । कि तिहं ?

[वस्बन्ध के वादलक्षण में द्वितीय पद की समीक्षा] सिद्धि और असिद्धि के लिए यह भी युक्त नहीं । क्यों ? दोनों प्रकार से न बन सकने से - वस्तत: यह सिद्धि शब्द किया जाता हुआ दो प्रकार से कल्पित किया जा सकता है व्यक्ति या उत्पत्ति (के अर्थ) में । उनमें से उत्पत्ति के अर्थ में तो युक्त नहीं, क्योंकि प्रतिज्ञा आदि साधन की साधनता ही नष्ट होने लगेगी - वस्तुतः प्रतिज्ञा आदि साधन से वस्तु उत्पन्न नहीं की जाती किन्तु विद्यमान (वस्तु) का प्रकाशन करना (वहाँ) साधन का अभिप्राय है। सिद्धि का अर्थ उत्पत्ति मानने पर वह नष्ट हो जाता है। यदि (सिद्धि शब्द) व्यक्तिया अभिव्यक्ति अर्थमें है, यह (भी ठीक) नहीं, अधिकरण के आधार होने से — यदि मानते हो सिद्धि का अर्थ है अभिव्यक्ति, उत्पत्ति नहीं। यह ठीक है, किन्तु आगे का कथन (उत्तरम्) विरुद्ध हो जाता है (आगे कहा गया है) प्राध्निक को प्रतीति कराना (अधिकरणप्रत्यायनम् = प्राध्निकप्रत्यायनम्, टी॰ ६१५) सिद्धि और असिद्धि हैं। क्यों कि जो ये प्राश्निक को प्रतीति कराने वाली सिद्धि और असिद्धि हैं वे (दोनों) अधिकरण (प्राहिनक, मध्यस्य) में विद्यमान होती हुई 'पक्ष की' कैसे होंगी, अतः 'पक्ष की' (पक्षस्य) यहाँ पष्ठीं (विभिवत) का अर्थ कहना होगा। (आक्षेप) यह (पष्ठी का अर्थ) कहना कठिन नहीं, उन (सिद्धि अरेर असिद्धि) का विषय होने से — उन (दोनों) सिद्धि और असिद्धि का पक्ष विषय है अतः उस (पक्ष) के विषय में होने से उसकी (तस्येति) कही जाती हैं। [परिहार] यह ठीक नहीं, जो ये सिद्धि और असिद्धि पक्ष के विषय में होती हैं वे क्या (प्रथम विकल्प) पक्ष के सिद्ध होने पर होती है अथवा (द्वितीय विकल्प) सिद्ध हुए विनाही। (प्रथम विकलाका निराकरण) यदि सिद्ध होने पर

सिद्धचिसद्धचर्यम् — यहाँ 'सिद्धयसिद्धयर्थम्' इस शब्द का दोष दिखलाते हैं।

तम् — तद् — तयोर्मेध्ये इत्यर्थः, टी० ६१४ । उत्पत्ति और व्यक्ति में से यहाँ सिद्धि — उत्पत्ति नहीं । उत्तरं तु व्याहतं भवति — अग्रिम कथन में विरोध होता है । अग्रिम कथन है 'अधिकरण-प्रत्यायनम् अधिकरण — प्राश्निक, मध्यस्थ, प्रत्यायन — प्रतीति कराना ।

2.2.2]

ि ३६३

न्यायवात्तिकम्
यतस्तरप्रत्यायनं सा सिद्धिः। कुतद्दच तद्मवित ? अर्थस्य तथामावात् — यस्मात्
सोऽर्थस्तथा भवित । कथं तथा भवित ? यया प्रमाणैरुपसंपन्न इति । यत् तत्
प्रमाणाविसंवादित्वम्, स तथाभावः। अथासिद्धे पक्षेऽधिकरणप्रत्यायनं भवित ?
साधनप्रयोगात् प्रागधिकरणप्रत्यायनं भवित, इति वादवैयर्थ्यं स्यात् । पक्षस्य सिद्धिः
अधिकरणप्रत्यायनं भवतु, असिद्धिस्तु कथम् ? न हि परपक्षासिद्धिद्भृषणेन कियत
इत्युक्तम् । स्यापनानिवृत्तेरुपचार इति चेत् — स्याग्मितः वूषणं प्रयुज्यमानं साक्षात्
स्थापनां निवर्त्तयित, स्यापनानिवृत्तेरुतु परपक्षनिवृत्तिरुपचर्यते इति । न प्रयोजनाभावात् — न हि प्रयोजनमन्तरेण मुख्यार्थव्यितिक्रभो तभ्यते, अपि तु प्रमाणासंमवेनोपचारो मञ्चाः कोशन्तीित यया। लोकप्रयुक्तशब्दिष्यश्चां वचनं वादः।
गावदार्थः, न चेदं लोकिकं वाद्यं स्वपरपक्षयोः सिद्धचिसद्वचर्यं वचनं वादः।

तो प्राहितक (अधिकरण = मध्यस्य) को प्रतीति कराना (प्रत्यायन) सिद्धि नहीं। तब (सिद्धि) क्या है ? जिससे वह प्रत्यायन होता है वह सि। द है। और वह किससे होता है ? अर्थ के वैसा होने से - वयों कि वह अर्थ वैसा होता है। किस प्रकार वैसा होता है ? जब (वह) प्रमाणों से युक्त होता है (उपसंपन्नः) । जो वह (अर्थ का) प्रमाणों के अनुकूल होना है वह तयाभाव है। (द्वितीय विकल्प का निराकरण) यदि पक्ष के सिद्ध हए विना ही प्राप्तिक को प्रतीति हो जाती है ? तब तो साधन के प्रयोग से पहले ही प्राप्तिक का प्रत्यायन हो जाता है अत: 'वाद' व्यर्थ हो जायेगा । (अन्य दोष) किञ्च, पक्ष की सिद्धि से प्राधिनक का प्रत्यायन हो जाये, असिद्धि से कैसे प्रत्यायन होगा ? क्यों कि (हि) दूषित करने (मात्र) से परपक्ष की असिद्धि नहीं की जाती, यह कहा जा चुका है। (आक्षेप) यदि स्थापना की निवृत्ति हो जाने से (असिद्धि शब्द का) उपचार हो जाता है-यह मत हो सकता है कि दूषण का प्रयोग साक्षात् रूप से स्थापना की निवृत्ति कर देता है, स्थापना की निवृत्ति होने से तो परपक्ष की निवत्ति उपचार से कही जाती है। [परिहार] यह (ठीक) नहीं, प्रयोजन न होने से -वस्ततः प्रयोजन के विना मूह्यार्थ का त्याग प्राप्त नहीं होता। प्रमाण के असंभव होने से भी उपचार हो जाता है जैसे 'मचान' पुकारते हैं। किञ्च, लोक में प्रचलित शब्द के विषय में ही उपचार होता है-लोक की गति से ही शब्द का अर्थ होता है और यह लौकिक वाक्य नहीं है 'स्वपरपक्षयो: सिद्ध्यसिद्ध्ययं वचनं वादः'।

ये चेते — उत्तरवाक्य का विरोध यहाँ दिखाया गया है। च = यस्मात् (टी० ६१४)। जब ये सिबि सथा असिबि अधिकरण में हैं तो पक्ष के कैसे ? यह विरोध है।

नायं दुवैच: - भाव यह है कि सिद्धि तो ज्ञान के रूप में होती है, पक्ष उसका विषय है, अधिकरण

आश्रय है।

न युक्तमेतत् — यहाँ सिद्धान्ती विकल्प करके आक्षेप का परिहार करते हैं। नाधिकरणप्रत्यायनम् — ''सिद्धिः — बौद्ध सिद्धान्त में ज्ञान तो किसी का आधार नहीं होता और विषय-विषयी भाव-व्यवस्या भी वस्तुतः नहीं होती अतः प्राश्निक में स्थित तथा पक्षविषयक क्षान नहीं हो सकता। सिद्धि अन्य ही होगी।

यत: तथाभाव: — 'पक्षे सिद्धे' इस विकल्प में दोष दिखलाया गया है : सिद्धि के योग से पक्ष सिद्ध होता है । सिद्धि का अर्थ है प्रमाणों से युक्त होना, वही अर्थ की तयाता है । उससे प्राश्निकों को निश्चय हो जाता है । अतः पक्ष की सिद्धि प्राश्निकों का प्रत्यायन नहीं, यह विरोध है । अयः पक्ष की सिद्धि प्राश्निकों का प्रत्यायन नहीं, यह विरोध है । अयासिद्धे — दितीय विकल्प का परिहार करते हुए कहा गया है; यदि पक्ष विषयक साधन के प्रयोग

से पहले ही प्राप्तिक का प्रत्यायन हो जाता है, तो वाद व्ययं है।

न्यायवात्तिकम्

अपरे तु ¹प्रतिज्ञातार्थाज्ञावनं पक्षस्यासिद्धिं वर्णयन्ति । तद् यद्यधिकरणविषयम्, न निवर्तते प्रसङ्गः । कथम् ? पक्षस्यासिद्धिरिति सिद्धियत् प्रसङ्गः । तस्मात् सिद्धयसिद्धीः पक्षधमिवेव, यत एतद् भविति सिद्धः पक्षोऽसिद्धश्चिति । एवं सिति 'द्रष्ट्रस्थे सिद्धयसिद्धीः' इति व्याघातः — यदि सिद्धयसिद्धी पक्षधमौं द्रष्ट्रस्थे सिद्धयसिद्धी इति व्याहत भवित । अथ मा भूत् व्याघात इति द्रष्ट्रस्थे एव ते ? तथापि पक्षस्य व्यवत्यव्यक्ती सिद्धयसिद्धी इति व्याहत भवित । अथ तथातथाते पदार्थस्य सिद्धयसिद्धी ? तथापि 'अधिकरण-प्रत्यायनं सिद्धयसिद्धी' इति व्याहतं भवित । के पुनरेते व्यवत्यव्यक्ती ? वस्तुधमिधान-प्रत्यायनं सिद्धयसिद्धी' इति व्याहतं भवित । के पुनरेते व्यवत्यव्यक्ती ? वस्तुधमिधान-

दूसरे (?) तो स्यापित (प्रतिज्ञात) अर्थ का प्रकाशन न करना (अज्ञान, टी.) पक्ष की असिद्धि है, ऐसा कहते हैं। [समीक्षा] वह यदि प्राध्निक (अधिकरण) के विषय में है. प्रसङ्ग की निवृत्ति नहीं होती। कैसे ? पक्ष की असिद्धि यहाँ (भी) सिद्धि के समान प्रसङ्ग होगा। इसलिये सिद्धि और असिद्धि पक्ष के धर्म ही हैं जिससे यह होता है कि पक्ष सिद्ध हो गया, सिद्ध नहीं हुआ। ऐसा होने पर 'सिद्धि और असिद्धि प्रक्ष के धर्म हैं तो सिद्धि और असिद्धि प्रक्ष के धर्म हैं तो सिद्धि और असिद्धि प्रक्ष के धर्म हैं तो सिद्धि और असिद्धि द्रष्टा में स्थित हैं, यह (कथन) विरुद्ध है। (बौद्ध की शङ्का) अच्छा, विरोध न होने इसलिये वे (सिद्धि तथा असिद्धि) द्रष्टा में स्थित ही मान ली जायें। [समाधान] तो भी पक्ष की अभिन्यक्ति और अनभिन्यक्ति सिद्धि और असिद्धि हैं, इसमें विरोध होता है। यदि पदार्थ का वैसा होना (तथाता) और वैसा न होना सिद्धि और असिद्धि है तो भी प्राध्निक को प्रतीति कराना सिद्धि तथा असिद्धि है, इसमें विरोध होता है। (अश्न) फिर ये अभिन्यक्ति और अनभिन्यक्ति क्या हैं? (उत्तर) वस्तु के धर्म जो कथन तथा प्रतीति के हेतु होते हैं — जिनसे ये कथन और प्रतीति होते हैं 'प्रकट हो गया', 'प्रकट नहीं हुआ' वे व्यक्ति तथा अव्यक्ति हैं।

पक्षस्य सिद्धि:—प्रयोजन के विना मुख्यार्थ का अतिक्रमण करना उचित नहीं है। अपितु प्रमाणासंभवेन —प्रमाणासंभवेनापि त्विति योजना, टी० ६१४। भाव यह है कि यदि 'मञ्चाः कोशन्ति' में विना प्रयोजन के ही उपचार हो जाता है तो यहाँ भी हो जायेगा। इस पर

कहा गया है प्रमाण के न होने से भी उपचार हो जाता है। लोकप्रयुक्ते — लोक प्रयुक्त शब्दों में ही विना प्रयोजन ही प्रमाण के असंभव होने पर उपचार होता है, किन्तु यह लोकिक वाक्य नहीं।

अपरे तु — अज्ञापन = अज्ञान ही असिद्धि है। वह पक्ष के विषय में ही है। अत: यहां मुख्य अर्थ का अतिक्रमण नहीं होता।

एवं सित — बोद मत में ज्ञान द्रष्टा में आश्रित नहीं और ज्ञान का कोई विषय भी नहीं हो सकता। अथ मा भूत ... एव ते — आलय विज्ञान द्रष्टा है उसी में सिद्धि, असिद्धि होती है। पक्ष उनका विषय होता है अतः वे पक्ष की भी कहलाती हैं। यह नहीं, क्यों कि बौद्ध के यहाँ विषयभाव नहीं वन सकता। ज्ञान के कारण को विषय मानने पर चक्षु आदि भी विषय होंगे। ज्ञान के प्रकाश्य को विषय मानें तो अर्थ में ज्ञान किसी प्रकाश को उत्पन्न नहीं करता। अतः ज्ञान का समवायी या विषय कोई अर्थ नहीं द्रष्टा में ही ज्ञान होता है (द्र० टी० ६१६)। 'तथापि' आदि में इस मत का निराकरण किया गया है।

वस्तुधर्मों — व्यक्ति तथा अव्यक्ति वस्तु के धर्म हैं जो कथन और ज्ञान के हेतु होते हैं। प्रमाण आदि में प्रमेय ही प्रधान है उसका ही कथन तथा प्रतीति होते हैं। अतः ये प्रमेय के धर्म कहे गये हैं। १, प्रतिज्ञातार्यज्ञापनम्, कः, प्रतिज्ञातार्याज्ञापनम्, ख,

2.2.8

न्यायवात्तिकम्

| ३६४

अर्थशब्दानुपपित्ति विकल्पानुपपत्ते: अर्थशब्दः खलु प्रवर्तमानस्त्रेधा प्रवर्तते; उद्देशप्रयोजनाभिधेयविषयरवेन । उद्देशे ताववर्थंशब्दो, यथा ब्राह्मणार्थं मक्तमित । एवं च चतुर्विधयाक्यासंग्रहः । प्रयोजनेऽर्यंशब्दः, किमर्थंमागतोऽसीति ? अभिधेये 'अयं'-शब्दो यथा गौरित्यिषधानस्य कोऽर्यं इति । तस्र तायवृद्देशे संभवति, युक्तायुक्तरवेन विशेषितत्वात्—स्वपक्षस्य युक्तत्वेन परपक्षस्यायुक्तत्वेनत्येवं विशेषितं कृत उद्देशेऽयंशब्दः ? न ह्ययं 'युक्तायुक्तशब्दो वूषणामासे साधनामासे वा संभवति' इति; साधनयोगो युक्तता, वूषणयोगोऽयुक्ततेति । अथ पुनः पदार्थस्य तथात्वातयात्वे युक्तायुक्तत्वे, युक्तत्वं तथाभावोऽयुक्तत्वमतयाभाव इति ? तथापि तयोः कर्मतया उपादानाव् युक्तत्वेन विनाधिकरणप्रत्यायनस्रयुक्तत्वेन चेति व्याधातः। न हि प्रत्याय्यं प्रत्यायनं संभवतीति ।

अर्थ शब्द ठीक नहीं विकल्प न वन सकने से — वस्तुतः अर्थ शब्द प्रवृत्त होता हुआ तीन प्रकार से प्रवृत्त होता है उद्देश, प्रयोजन तथा वाच्य (अभिधेय) <mark>के विषय</mark> (अर्थ) में । उद्देश में तो अर्थ भव्द यह है; जैसे 'ब्राह्मणार्थ भक्तम्' ब्राह्मण के उद्देश्य से भात है। और, इस प्रकार चार प्रकार के वाक्यों (सःधन, साधनाभास, दूषण, दूषणाभास) का संग्रह नहीं होता । प्रयोजन में अर्थ शब्द यह है; जैसे किमर्थमागतोऽसि = किस लिये आये हो ? वाच्य (अर्थ) में अर्थ शब्द यह है; जैसे 'गी' इस शब्द (अभिधान) का क्या अर्थ है। उनमें से (यहाँ अर्थ शब्द) उद्देश अर्थ में तो सम्भव नहीं; युक्त होना और अयुक्त होना से उसे विशेषित किया जाने से — स्वपक्ष को युक्त होने से और परपक्ष को अयुक्त होने से विशेषित करने पर 'अयं' गब्द उद्देश में कैसे होगा ? क्योंकि (हि) यह युक्त और अयुक्त शब्द साधनाभास अयवा दूषणा-भास में संभव नहीं; साधन से सम्बन्ध होना युक्तता है और दूपण से सम्बन्ध होना अयुक्तता है। किन्तु यदि पदार्थका वैसा होना तथा वैसान होना युक्तता और अयुक्तता है अर्थात् वैसा होना युक्तता है, वैसा न होना अयुक्तता है तथापि उन दोनों का वर्म के रूप में ग्रहण करने से युक्त होने से प्राध्निक को प्रतीति कराना तथा अयुक्त रूप से भी, इसमें परस्पर विरोध है, क्यों के जिसकी प्रतीति करानी है (प्रत्याय्यम्) वह प्रतीति का साधन (प्रत्यायनम्) नहीं हो सकता ।

अर्थशब्दानुपपित्तः—'सिद्धचिसद्धपर्थम्' में जो अर्थं शब्द है वह भी ठीक नहीं।
वाष्यासंग्रहः—यहां सभी संस्करणों में यही पाठ है। म॰ गङ्गानाथ झा ने 'वाक्यसंग्रहः' पाठ शुद्ध
माना है; किंग्तु बौद्धों द्वारा स्त्रीकृत चार प्रकार के वाक्यों का उद्देश अर्थ मानने पर संग्रह नहीं होता,
अतः यह अर्थ संगत ही है। चार प्रकार के वाक्य हैं साधन, साधनाभास, दूषण, दूषणाभास। यह अर्थ
इन चारों में कैसे संभव नहीं, यह आगे दिखलाया जा रहा है।

अथ पुन: — शङ्का का आशय यह है कि साध्य धर्म ही युक्तता है साधन से योग नहीं।
कर्मतथा — सिद्धि असिद्धि = युक्तता और अयुक्तता की प्राश्निक को प्रतीति करानी है अतः ये कर्म

१. युक्तायुक्तत्वशब्दः, कः, युक्तायुक्तशब्दः, खः,

वादा

न्यायवात्तिकम्

अथ प्रयोजनेऽर्थशब्दः; तथापि साधनदूषणाष्मासवादिनोऽवादिता प्राप्नोति । कि
कारणम् ? साधनदूषणाष्मासयोः सिद्धधिसद्धधप्रयोजनत्वात् – हि साधनदूषणाष्मासयोः
सिद्धधिसद्धी प्रयोजनम् । एवं च तद्वादी न वादी स्यात् । तथा घावादी निगृह्यत इति
बोषः । अथामिधेयेऽर्थशब्दः, अषिधानस्वधानमध्यतः, न युषतमेतदिपः; न हि प्रत्यकारमाष्ट्यकाराध्यां विशेषितमेवं प्रकारम् अभिधानं सिद्धयसिद्धयोर्थाचकमिति । नन्
च विशेषितम्, येन सिद्धधिसद्धी अभिधीयेते तत् तयोर्वाचक्षमिति । सत्यमुक्तम् । एवं
नु सिद्धधिसद्धी इत्येतेऽभिधाने वादः प्राप्तः । न चान्योऽर्थशब्दस्य विषयः । तस्नावर्थशब्दोऽप्ययुक्तः ।

यदि प्रयोजन (अर्थ) में अर्थ शब्द है तब भी साधनाभास और दूषणाभास को कहने वाला वादी न रहेगा। क्या कारण है ? साधनाभास और दूषणाभास का सिद्धि तथा असिद्धि प्रयोजन न होने से—वस्तुत: साधनाभास और दूषणाभास का प्रयोजन सिद्धि और असिद्धि नहीं, और इस प्रकार उनका प्रयोग करने वाला वादी न होगा, तथा जो वादी नहीं उसका निग्रह हो जाता है, यह दोष है। यदि अर्थ शब्द वाच्य (अभिध्य) अर्थ में है तो यह भी युक्त नहीं क्योंकि ग्रन्थकार और भाष्यकार ने यह विशेषित नहीं किया कि इस प्रकार का शब्द सिद्धि और असिद्धि का वाचक होता है। (शङ्का) विशेषित तो किया है कि जिससे सिद्धि और असिद्धि कही जाती है वह उन (दोनों) का वाचक है। [समाधान] ठीक है, कहा है, किन्तु इस प्रकार तो सिद्धि और असिद्धि ये शब्द वाद होने लगेगे। और, 'अर्थ' शब्द का अन्य विषय नहीं है। इसलिये अर्थ शब्द भी अयुक्त है।

नहि—यदि प्रत्यायनं सिद्धिः प्रतीतिः तथापि सा प्रत्याय्या न संभवति । अथ करणम् ? तथापि कर्मे करणं न संभवतीति व्याघात इत्ययंः, टी० ६१७ ।

अथ प्रयोजने — यहाँ द्वितीय विकल्प की शङ्का करके निराकरण किया गया है। प्रयोजन = कार्य, वह कारणामास से नहीं होता, किसी को ध्रान्ति से कारण समझ लिये जाने से कार्य पूरा नहीं होता। क्योत को अग्नि समझ लिया जाये तो वह दहन, पाचन का कार्य नहीं कर सकता।

अया मिछेये — तृतीय कल्प की शङ्का करके निराकरण किया गया है।

एवं तु -- इस प्रकार सिद्धि शब्द तथा असिद्धि शब्द ही वाद हो जायेंगे।

न चान्योऽयंशब्दस्य विषय:--यद्यपि अर्थं शब्द के धन आदि भी अर्थं होते हैं तथापि यहाँ अन्य अर्थं संभव नहीं। उपर्युक्त तीन अर्थं ही हो सकते हैं। 2.2.2]

विइ७

न्य।यवात्तिकम्

सिद्धचिसिद्धचर्यं वसनं वाद इति स्रुवाणेन न पूर्वोत्तरमवलोकितम् । नैयायिक-हेतुप्रतिषेधेन विशेष्यं वचनित्यभ्युपगतम् । इदं पुनः सूत्रं समस्तं वचनविशेषणार्य-मिति व्याघातः । तदेवमेतानि सूत्रपदानि विचार्यमाणानि स्वतन्त्रव्याघातकानीति लोकं च बाधन्त इति ।

एवं तावत् सौत्राणि पवानि स्वेन न्यायेनासंबद्धानि । यथा च वृत्तिपदानि असंम्बद्धानि तथेवमुच्यते । स्वस्य पक्षस्येति स्वार्थासिद्धे रयुक्तम्, स्वार्थेश्च प्रतिषिद्धः । अतोऽयुक्तं स्वस्य पक्षस्येति । यदिष षष्ठीसप्तमीद्विचनयोस्तुल्यरूपस्वात् षष्ठ्यर्थं- ज्ञापनार्थं स्वस्य पक्षस्येति । तद्ययुक्तम्, अधिकरणार्थासंभवात् — न हि पक्षस्यिति । तेन्ययुक्तः सप्तम्यर्थः । तदप्रसक्तौ विशेषणा- नर्थंश्यमिति ।

सिद्धि और असिद्धि के लिये कहा गया वचन वाद है, यह कहते हुए (वसु-वन्धु) ने वहले और अग्रिम (कथन) को नहीं देखा। नैयायिक के हेतु का प्रतिषेध करते हुए विशेष्य रूप में वचन' को स्वीकार लिया। यह समस्त सूत्र (स्वपर-पक्षयो: सिद्ध्यसिद्ध्यर्थम्) वचन के विशेषण के लिये है, यह (शास्त्र से) विरोध है (विरोध ऊपर दिखलाया गया है)। तव इस प्रकार ये सूत्र के पद विचार किये जाने पर अपने शास्त्र (तन्त्र) के विरोधी हैं और लोक के बाधक हैं।

इस प्रकार प्रथमत: सूत्र के पद अपने (बौद्ध के) न्याय से सम्बद्ध नहीं, किस प्रकार वृत्ति के पद (भी) असम्बद्ध हैं, वह यह कहा जाता है। अपने पक्ष की (स्वस्य पक्षस्य) यह (दृत्ति) अयुक्त है नयों कि 'स्व' का अयं निश्चित नहीं है। और, स्व के अयं का (बौद्ध ने) प्रतिषेध कर दिया है, इस लिये (भी) 'स्वस्य पक्षस्य' यह अयुक्त है। जो (यह कहा है) षष्ठी और सप्तमी के द्विवचन के समान रूप वाला होने से षष्ठी के अयं को स्चित करने के लिये 'स्वस्य पक्षस्य' यह कहा गया है, वह भी अयुक्त है, अधिकरण (आधार) अर्थ के संभव न होने से—वस्तुतः पक्ष से भिन्न पक्ष में कुछ साध्य नहीं हो सकता। इसलिये सप्तमी का अर्थ अयुक्त है। उसके प्राप्त न होने पर (उसको व्यावृत्ति के लिये) विशेषण अन्यंक है।

पूर्वोत्तरम् — नैयायिक के हेतु का दोष दिखलाना पूर्व है यह सूत्र उत्तर है। विशेष्यं वद्यनम् — वचन को विशेष्यं करके 'सिद्धधिसद्ध्ययंम्' को विशेषण बना लिया। तिवेषम् — यह उपसंहार है जिसमें दो हेतु हैं शास्त्रव्याघात और लोकविरोध। लोकं च बाधन्ते — अवाचक शब्द का प्रयोग, साधनाभास और दूषणाभास के वादी को बादी न मानना, सिद्धि और असिद्धि शब्द का वाद होने का प्रसङ्ग — ये लोकं विषद्ध हैं। मानना, सिद्धि और असिद्धि शब्द का वाद होने का प्रसङ्ग — ये लोकं विषद्ध हैं। यथा च — यहां से वृत्ति (सूत्र वृत्ति) में प्रयुक्त पदों का बोष दिखलाया गया है। यथा च — यहां से वृत्ति (सूत्र वृत्ति) में प्रयुक्त पदों का बोष दिखलाया गया है। स्वस्य पक्षस्य — 'स्वपरपक्षयोः' की वृत्ति में यह कहा गया है, वह अयुक्त है क्योंकि 'स्व' क्या है? सह बौद्धनत में अनिश्चित है। स्वायंश्च प्रतिचिद्धः — 'स्व' का अर्थ जो आत्मा है उसका बौद्ध ने प्रतिधेष कर दिया है। स्वायंश्च प्रतिचिद्धः — 'स्व' का अर्थ जो आत्मा है उसका बौद्ध ने प्रतिधेष कर दिया है। स्वायंश्च प्रतिचिद्धः — 'स्व' का अर्थ जो आत्मा है उसका बौद्ध ने प्रतिधेष कर दिया है। स्वायंश्च प्रतिचिद्धः — 'स्व' का अर्थ जो आत्मा है उसका बौद्ध ने प्रतिधेष कर दिया है। स्वायंश्च प्रतिचिद्धः — 'स्व' का अर्थ जो आत्मा है उसका वौद्ध ने प्रतिधेष कर दिया है। स्वायंश्च प्रतिचिद्धः — 'स्व' का अर्थ जो आत्मा है उसका वौद्ध ने प्रतिधेष कर दिया है। स्वायंश्च प्रतिचिद्धः — 'स्व' का अर्थ जो आत्मा है उसका वौद्ध ने प्रतिधेष कर दिया है। स्वायंश्च प्रतिचिद्धः — 'स्व' का अर्थ जो आत्मा है स्वयं नहीं हो सकता अतः सप्तमी का अर्थ जा साह्य हो नहीं है।

न्यायवात्तिकम्

युक्तायुक्तत्वानुपपित्तश्च विकल्पानुपपत्तेः । युक्तायुक्तत्वे खलु साधनवूषणे वा स्याताम्, साधनवूषणाभ्यां वा योगः, पदार्थस्य वा तथालातथाते' इति । तम्न तावत् साधनवूषणे युक्तायुक्तत्वे । कस्मात् ? साधनवूषणयोः पृथगिषधानात्, 'ते साधनवूषणैः । इत्यत्र पृथगुक्ते साधनवूषणे, युक्तायुक्तशब्दाभ्यां च साधनवूषणयोरिषधानिमित । 'ते साधनवूषणैः' इति सूत्रम् अनुच्चार्यं चिरतार्थत्वाविति । अथ मन्यसे तयोरेव युक्ता-युक्तयोविशेषणार्थं 'ते साधनवूषणैः । इति ! न, प्रथमाभिधानप्रसङ्गात् — यि युक्ता-युक्तयोविशेषणार्थं 'ते साधनवूषणैः' इति सूत्रम् । प्रथमेव न्याय्या ते साधनवूषणानीति । न हि विशेषणविशेष्यभावे भवित नीलमुत्पलैरिति । योग इति चेत् —अथ साधनवूषणाभ्यां योगो युक्तायुक्तत्वे, इत्येवं चेन्मन्यसे ; तम्न, अनिर्वेशात् — न साधनवूषणाभ्यां योगो निर्विष्ट एवंविष्य इति । अनिर्वेशावयुक्तमेतत् । साधनेन योग इति च करा

विकल्प न बन सकने से (सिद्धि और असिद्धि में) युक्त होना तथा अयुक्त होना नहीं बन सकता। युक्तता और अयुक्तता (१) साधन और दूषण होंगे अथवा (२) साधन और दूषण से सम्बन्ध (साधन से सम्बन्ध युक्तता तथा दूषण से सम्बन्ध अयुक्तता) या (३) पदार्थ का वैसा होना (तथात्व) और वैसा न होना (अतथात्व)। [निराकरण] (१) प्रथमतः साधन और दूषण युक्तता तथा अयुक्तता नहीं । क्यों ? साधन और दूषण के पृथक् कथन से—'ते साधन दूषणैः' यहाँ साधन और दूषण को पृथक् कहा गया है। यदि युक्त तथा अयुक्त शब्दों से भी साधन और दूषण का कथन है तो 'ते साधनदूषणै.' यह सूत्र न पढ़ना चाहिये; क्योंकि यह (पहले से ही) चरितार्थ होगा। यदि मानते हो कि 'ते साधनदूषणैं:' यह सूत्र उन युक्त और अयुक्त के विशेषण के लिये है, तो (ठीक) नहीं; प्रथमा (विभक्ति) में कथन का प्रसङ्ग होने से - यदि 'ते सःधनदूषणैः' यह सूत्र युक्तता और अयुक्तता के विशेषण के लिये है तो प्रथमा (विभक्ति) करना उचित है 'ते साधनदूषणानि' इस प्रकार। विशेषण-विशेष्य-भाव में तो ऐसा नहीं होता जैसे 'नीलमुत्पलैः' आदि में। (२) यदि योग अर्थं है — यदि मानते हो साधन और दूषण से सम्बन्ध (योग) होना युक्तता तथा अयुक्तता है, वह (ठीक) नहीं, निर्देश न करने से—साधन और दूषण से सम्बन्ध का निर्देश नहीं किया गया कि इस प्रकार का होता है, निर्देश न युक्तायुक्तस्वे खलु — यहां सिद्धि = युक्तता, असिद्धि = अयुक्तता, इस पर तीन विकल्प किये गये हैं। न ताबत् : नीलमुत्पलै: यहाँ प्रथम विकल्प में दोष दिखलाया गया है : (क) 'ते साधन दूषणै:' सूत्र में साधन और दूषण को पृथक् कहा गया है, यदि सिद्धि, असिद्धि का अर्थ साधन और दूषण ह, तो वह सूत्र न करना चाहिये। (ख) यदि कहो कि साधन और दूषण इनके पर्याय नहीं अपितु युक्त तथा अयुक्त सामान्य हैं, साधन और दूषण विशेष हैं, वे विशेषण हैं (द्र० टी० ६१७) तो

'साधनदूषणानि' इस प्रकार प्रथमा होनी चाहिये। योग इति — द्वितीय विकल्प की आशक्का करके निराकरण कते हैं। 2.2.8]

[3 ; &

न्यायवात्ति म्

भवति, यदासौ निर्णोतः पदार्थः, तदा च न साधनस्यार्थः किदचरग्तीति न युक्ता-युक्तःवेनाधिकरणप्रत्यायनिमिति व्याघातः । अतो न युक्तो योगः । अय पदार्थस्य तथास्वातयात्वे युक्तायुक्तत्वे । तदि न करणार्थासंभवात्— ये तथात्वातयात्वस्थणे युक्तायुक्तत्वे, ते व्यवच्छेद्ये न व्यवच्छेदस्य साधने । तस्मात् करणार्थो नास्ति । अतो युक्तायुक्तत्वस्येति युक्तं वक्तुमिति ।

अधिकरणप्रत्यायनमिति च न युक्तम् । शास्त्रसंबन्धासंगतत्वात् — शास्त्र-संबन्धं कुर्वाणेनोक्तं सन्वेहिवपर्ययप्रतिषेधार्थः शास्त्रस्यारम्म इति । एतिप्ररपेक्षेणेवम-मिधीयते अधिकरणप्रत्यायनं सिद्धचिसद्धी इति । न च प्राज्ञिनकेषु संशयविषययौ स्तः परिच्छेदकत्वात् । तस्मान्न प्राज्ञिनकाः प्रत्याय्या इति । यच्चोक्तं प्राह्मिकप्रत्यायनादेव प्रतिवादिप्रत्यायनं कृतं भविष्यतीति, कि कारणम् ? तत्प्रत्यायनात् प्रतिवादि-

करने से यह ठीक नहीं, और, साधन से योग कब होता है, जब वह पदार्थ निर्णीत हो जाता है और तब साधन का कोई प्रयोजन नहीं रहता; अतः युक्त और अयुक्त रूप से प्राध्निक (अधिकरण) को प्रतीति कराई जाती है इस (कथन) में विरोध है। इसलिये 'युक्त' का अर्थ योग (मानना) ठीक नहीं। (३) यदि पदार्थ का वैसा होना तथा वैसा न होना युक्तता और अयुक्तता है वह भी नहीं, करण का अर्थ संभव न होने से—जो वैसा होना (तथात्व) और वैसा न होना (अतथात्व) रूप युक्तता और अयुक्तता हैं, वे तो परिच्छेद (व्यवच्छेद्ये) हैं, वे परिच्छेद (तत्त्वज्ञान) के साधन नहीं। इसलिये करण का अर्थ नहीं है। अतः युक्तत्वस्य यह कहना ठीक है।

प्राहिनक को प्रतीति कराना (प्रत्यायनम्) यह भी ठीक नहीं; शास्त्र के सम्बन्ध के असंगत होने से — शास्त्र का सम्बन्ध करते (दिखलाते) हुए कहा गया है कि सन्देह और भ्रान्ति (विपर्यय) की निवृत्ति के लिये शास्त्र का आरम्भ किया गया है। इसकी अपेक्षा न करते हुए ऐसा कहा जाता है कि प्राश्निक को प्रतीति कराना सिद्धि और असिद्धि हैं। किन्तु प्राश्निकों में संशय तथा भ्रान्ति नहीं होते, वे तो निश्चय कराने वाले होते हैं। इसलिये प्राहिनकों को प्रतीति नहीं करानी होती। अगैर, जो कहा गया है कि प्राहिनक को प्रतीति कराने से ही प्रतिवादी को प्रतीति कराई जायेगी। क्या कारण है ? उस (प्राश्निक) को प्रतीति कराने से प्रतिवादी कराने हो प्रतिवादी कराई जायेगी। क्या कारण है ? उस (प्राश्निक) को प्रतीति कराने से प्रतिवादी

साधनेन योग: —यदि सांवृत योग भी माना जाये तो वह तब होगा जब साध्य का निर्णय हो चुकेगा । फिर साध्य-निर्णय के लिये किये गये साधन योग का कोई प्रयोजन नहीं है (द्र० टी० ६९८) । अथ पदार्थस्य —यहाँ तृतीय विकल्प की आशङ्का करके निराकरण किया गया है ।

करणार्थों नास्ति— युक्तायुक्तत्वेनाधिकरणप्रत्यायनम्, यहाँ वृत्ति में युक्तत्व तथा अयुक्तत्व को करणार्थों नास्ति— युक्तायुक्तत्वेनाधिकरणप्रत्यायनम्, यहाँ वृत्ति में युक्तत्व तथा अयुक्तत्व को करण रूप में कहा गया है किन्तु युक्तायुक्तत्व का अयं तथात्वातयात्व मान लेने पर वह संभव नहीं, क्योंकि तथात्वातयात्व तो कमें हैं।

अधिकरणप्रत्यायनम् — यहाँ इस पद की समीक्षा करते हैं। शास्त्रसंबन्धासंगतत्वात् — प्रयोजन से जो शास्त्र का सम्बन्ध दिखलाया गया है उससे इस

कथन की संगति नहीं होती।

प्राश्निकप्रत्यायनादेव अक्षेप्ता का मात्र यह है कि प्राश्निक को प्रतीति कराने से प्रतिवादी

प्राश्निकप्रत्यायनादेव अक्षेप्ता का भात्र यह है कि प्राश्निक को प्रतीति करा दे अत: वह विद्यमान
को प्रतीति करा दी जाती है। प्रतिवादी को अपने पक्ष के प्रति राग होता है अत: वह विद्यमान
अर्थ को भी स्वीकार नहीं करता।

न्यायवात्तिकम्

प्रत्यायनम् — प्रतिवादी किल स्वपक्षरागात् सन्तमध्यं न प्रतिपद्यते । सन्तमधं न प्रतिपद्यते चेति व्याहतमुच्यते । कथं चान्यया प्रतिपन्नः सिन्तत्यिष्ठियते ? कथं प्रतिपद्यते चेति व्याहतमुच्यते । कथं चान्यया प्रतिपन्नः सिन्तत्यिष्ठियते ? कथं प्रतिपद्यते चेति व्याहतम् ? यच्च प्राध्निकप्रत्यायनात् तत्प्रत्यायनिमिति, तदिष न, प्रतितेः कारणभेवात् प्राध्निकप्रतीतेरन्यानि कारणभिन्न, अन्यानि प्रतिवादिप्रतीतेरिति । न चान्यविषयस्य करणस्यान्यत्र कियेति । नियमाभावाच्च — न चायं नियमः प्राध्निकप्रत्यायनार्थं एव वादः, प्राध्निकान्तरेणापि गुर्वादिभिः सह वादो दृष्ट इति । यदा तु नायं तत्त्ववुभूनः लाभपूजाख्यातिकामो वादमारभते, तदा प्राध्निकः प्रयोजनमस्ति इति । सत्यमस्ति प्रयोजनम् । वादस्तु न भवतीति । न, त्रैविष्यानभ्युपयमात् — एक एवायं कथामार्गः । तस्य प्रयोजनम् । तस्वाववोधो लाभादयश्च । न, प्रतिषेद्यात् । प्रतिषिदः

को प्रतीति करा दी जाती है — अवस्य ही प्रतिवादी अपने पक्ष के प्रति राग के कारण विद्यमान अर्थ को भी स्वीकार नहीं करता। [परिहार] विद्यमान अर्थ को भी नहीं स्वीकारता, यह विरुद्ध उक्ति है, क्योंकि (च) अन्य प्रकार से स्वीकारा गया (अर्थ) विद्यमान है (सन् इति) यह कैसे कहा जा सकता है। यदि स्वीकारते हुए भी दूसरे को अनुमति (कामकाराऽनुज्ञा, टी०) नहीं देता तथापि 'स्वीकारता नहीं यह विरुद्ध कथन है। और, जो यह कहा गया है, प्राश्निक को प्रतीति कराने से प्रतिवादी को प्रतीति करा दी जाती है वह भी (ठीक) नहीं, प्रतीति के कारणों का भेद होने से - प्राश्निक की प्रतीति के अन्य कारण हैं तथा प्रतिवादी की प्रतीति के अन्य, और अन्य विषय के कारण का दूसरे में व्यापार (क्रिया) नहीं होता। नियम न होने से भी - यह नियम भी (च) नहीं है कि प्राश्निक को प्रतीति कराने के लिये ही बाद होता है, प्रादिनक के न होने पर भी गुरु आदि के साथ वाद देखा जाता है। (आक्षेप) किन्तु जब यह (प्रतिवादी) तत्त्वज्ञान का इच्छुक नहीं होता; लाभ, पूजा, ख्याति आदि की कामना से वाद करता है तब प्रादिनकों का प्रयोजन है ही । [परिहार] ठीक है, प्रयोजन है, किन्तु वहाँ वाद नहीं होता । (पूर्वपक्षी, बौद्ध) नहीं, (कथा के) तीन प्रकार न स्वीकारने से—एक ही यह कथा का प्रकार है। उसका प्रयोजन है तत्व का ज्ञान और लाभ आदि । [सिद्धान्ती] नहीं (इस मत का) प्रतिषेध कर देने से - प्रशंसा, मान तथा लाभ को प्राप्त करने के इच्छुक का वाद होता है, इसका प्रतिषेध कर दिया गया है, जो यह कहा गया है कि नहीं,

ह्याहतम् '' उच्यते—यदि आध्यात्मिकशक्तिसम्पन्न व्यक्ति भी सत्य अर्थ को नहीं स्वीकारता, अन्यया स्वीकार लेता है फिर उसे सत् (विद्यमान) कैसे कहा जा सकता है ?

अथ '' व्याहतम् — यदि स्वीकार करता हुआ भी विजय की इच्छा से दूसरे के मत की स्वीकृति नहीं देता तो 'न प्रतिपद्यते' तथा 'प्रतिपद्यमानः' में परस्पर-विरोध है।

यच्य : क्रियेति — अन्य (प्राश्निक) को प्रतीति कराने से प्रतिवादी भी स्वीकार कर लेता है, यह भी युक्त नहीं।

न चायं नियम:— प्राप्तिक को प्रतीति कराने के लिये ही बाद होता है, यह नियम नहीं है। बस्तुत: वाद में कभी अकस्मात् ही प्राप्तिक उपस्थित हो जाता है, अत: वह कारण नहीं। व्यविष्यानभ्युपगमात् - बौद्ध तीन प्रकार की कथा नहीं मानता। 2. 7.8]

[308

न्यायवात्तिकम्

स्तुतिमानलामिलिप्सोर्वादः । यदपीदमुध्यते, न त्रै विध्यानम्युपगमाविति; नानम्युप-गमायत्तः पदार्थसद्भावः, अपि तु सद्भावे सत्यभ्युपगम इति । यथा च त्रै विध्यं कथा-मार्गस्य तथा लक्ष णभेदात् । वावात् जल्बवितण्डयोर्भेदमुपदर्शीयष्यामः । तस्मादनात्वा विशेषमुच्यते त्रै विध्यानभ्युपगमाविति ।

यच्चोक्तं पक्षसिद्धिविषयं प्रत्यायनं पक्षसिद्धिशब्देनोपचिरतम्, यथा शून्यता-विषयः समाधः शून्यतेति । न कामत उपचारो लभ्यते, अपि तु प्रमाणासंमवेन, लोक-प्रयुक्तशब्दान्वाख्यानमुपचारः । उक्तं च नोपचिरितशब्दश्योगो लक्षणे उपपन्न इति । तद्यं चचनित्येतदिष किल चतुविष्ठयाश्यज्ञापनाथमुक्तम्, साधनं साधनामासो दूषणं दूसणाभासश्च संभन्तस्यत इति । तदयुक्तम्, युक्तायुक्तत्वेनेति विशेषितत्वात् । एवं विशेषिते एतस्मिन् कुतश्चतुविधवावयसंग्रह इति ? अधिकरणं पुनर्यो वादिप्रतिवादिभ्याम् तीन प्रकार न स्वीकारने से (यह युक्त नहीं), क्योंकि पदार्थं की सत्ता अस्वीकृति के अधीन नहीं अपि तु (पदार्यं की) सत्ता होने पर स्वीकृति होती है । और, कथा के मार्गं के कैसे तीन प्रकार होते हैं । ऐसा लक्षण के भेद से होता है । वाद से जन्य

और वितण्डा का भेद दिखलायेंगे। इसलिये भेद (विशेष) को न जानकर तीन प्रकार न स्वीकारने के कारण' यह कह दिया जाता है।

(पूर्वपक्ष) और जो कहा है कि पक्ष की सिद्धि के विषय में प्रतिति कराना पक्ष सिद्धि शब्द से उपचार द्वारा कहा गया है जैसे जून्यताविषयक समाधि को जून्य कह दिया जाता है। [निराकरण] इच्छानुसार उपचार नहीं प्राप्त होता, अपि तु प्रमाण के न हो सकने से लोक में प्रयुक्त शब्द की तदनुसार व्याख्या करना उपचार है और यह कह दिया गया है कि उपचार युक्त शब्द का प्रयोग लक्षण में उचित नहीं। (वृत्ति की व्याख्या) सिद्धि-असिद्धि के लिये वचन (तदर्थ वचनम्) यह भी चार प्रकार के वाक्य को सूचित करने के लिये कहा गया है, जिससे साधन, साधना-भास, दूषण और दूषणाभास का सम्बन्ध हो जायेगा। [निराकरण] वह ठीक नहीं; क्योंकि युक्त होना और अयुक्त होना से (सिद्धि और असिद्धि को) विशेषित किया गया है। इस प्रकार विशेषित करने पर यहाँ चार प्रकार के वाक्यों का संग्रह कैसे होगा ?

[अधिकरण शब्द के अर्थ का दूषण] किन्तु जो वादी तथा प्रतिवादी द्वारा अधिकृत है वह अधिकरण है, यहाँ अधिकरण शब्द का अर्थ कहना होगा; क्योंकि वाद में प्राश्निक के आधार पर होने वाला कुछ नहीं होता। (शङ्का) सिद्धि या

यदपीव मुच्यते — यहाँ कथा के तीन प्रकार न मानने का निराकरण किया गया है।
कामत. — इच्छानुसार, विना प्रयोजनिमिति टी०, विनाऽपि प्रयोजनं प्रमाणासंभवेनापि, इति योजना,
टी० ६१८, प्रयोजन न होने पर भी प्रमाण न होने से उपचार हो जाता है।
लोकप्रयुक्तशब्दान्वाख्यानम् — लोक में प्रयुक्त शब्दों में ही उपचार दिखलाया जाता है, यह ऊपर
कहा जा चुका है।
उक्तं च उपपान इति — इस उक्ति का सन्दर्भ अन्वेषणीय है।
तवर्षम् — सिद्ध्यसिद्ध्यर्थमित्यर्थः, टी० ६१८।

वादः
अधिकृत इत्यत्राधिकरणार्थो वश्तव्यः न हि वादे प्राश्चिकायरं किञ्चिवस्ति' इति ।
प्रत्यायनाधारत्वावधिकरणमिति चेत्; नोक्नोल्यरत्वात् — उक्तोत्तरमेतत् पक्षविषयं
प्रत्यायनं न प्राश्चिकविषयमिति । तिस्मन् सित भावादिति चेत्; न, अन्ययाि
दर्शनात् अन्ययाि गुवीदिभिः सह वृष्टो वाद इति । तद् वादे परीक्षा का कस्य
क्वेति वक्तव्यम् । साधनदूषणप्रयोगः पक्षस्थापनाविषयो वादः । तस्य परीक्षा साधनदूषणतदाभासपि ज्ञानम् । तदर्थमधिकारः तिस्म न्नति सप्तम्यर्थो नास्ति ।

प्रतीति (प्रत्यायन) का आधार होने से वह अधि रण है, यदि यह कहों। [समाधान] तो ठीक नहीं, उत्तर कह दिये जाने से— इसका उत्तर कहा जा चुका है कि प्रत्य यन तो पक्ष के विषय में होता है प्राश्निक के विषय में नहीं। (शाङ्का) उम (प्राश्निक) के होने पर होने से यदि यह कहो [समाधान] तो ठीक नहीं, अन्यया भा देखा जाने से—प्राश्निक के न होने पर भी (अन्यथापि) गुरु आदि के साथ वाद देखा गया है। (बाक्षेप) तो वाद में परीक्षा क्या है ? किसकी है ? कहाँ हैं ? यह कहना होगा। [परिहार] पक्ष के विषय में साधन का प्रयोग तथा (परपक्ष की) स्थापना के विषय में दूषण का प्रयोग वाद है। उसकी परीक्षा है, साधन, दूषण, साधनाभास तथा दूषणाभास का भली भाँति ज्ञान, उसके लिये उस (वाद) में अधिकार यह सप्तमी का अर्थ (दूसरे का अभिमत प्राश्निक) यहाँ नहीं है।

अधिकरणम् : सप्तम्यर्थां नास्ति — यहां 'अधिकरणप्रत्यायनम्' की समीक्षा की गई।
प्राहिनकाधारम् — यह 'किञ्चित्' का विशेषण बहुन्नीहि है (प्राश्निकः आकारो यस्य)। वस्तुतः
वाद में प्राश्निक ही नहीं होता, यहाँ वाद में प्राश्निक की सत्ता स्वीकार करके ही ऐसा कह दिया
गया है।

प्रत्यायनाधारत्वात् — प्रत्यायन = सिद्धि, प्रतीति कराना, उसका आधार प्राश्निक है।

परीक्षा का कस्य क्वेति ? — भाव है: प्राश्निक के अभाव में बाद में परीक्षा कैसे होगी ?

तस्य परीक्षा — दो वीतराग ही वादी और प्रतिवादी के रूप में वाद की परीक्षा कर सकते हैं यहाँ

प्राश्निक का उपयोग नहीं। वस्तुत: पक्षविषयक साधन का प्रयोग और स्थापनाविषयक दूषण का

प्रयोग यही वाद का स्वरूप है। साधन दूषण तथा साधनाभास का मली-भांति ज्ञान ही परीक्षा है।

वीतरागियों का ही उसमें अधिकार है।

सप्तम्यथौं न। स्ति — सप्तमी का अर्थ अधिकरण (प्राश्निक) है, वह नहीं होता; क्योंकि दो बीत-रागियों में ही वाद समाप्त हो जाता है।

यदिप असम्बद्धम् — जब 'सिद्धचिसद्धिचर्य' वचनं वादः' यह लक्षण है तब प्राध्निक और प्रति-वादी के प्रिय एवं अप्रिय वचन कहीं राह चलतों में हो रहे हों तो वह भी वाद होगा। यहाँ वृत्ति में यह शब्द्धा उठाकर समाधान किया गया है कि उस प्रिय एवं अप्रिय वचन का सिद्धि तथा असिद्धि है न तो साक्षात्सम्बन्ध है न परम्परया ही, इसी प्रकार युक्त तथा अयुक्त विशोषणों से भी इसका सम्बन्ध नहीं अतः वह बाद नहीं।

उत्तरेण ''इति — यहाँ 'पूर्व' है सिद्धचसिद्धचर्यम् और अपर है 'युक्तायुक्तत्वम्' इन दोनों का आक्षेप से कोई सम्बन्ध नहीं, अतः यह उत्तर के योग्य नहीं। जो इसका उत्तर दिया गया है वह इसे सहारा देना ही है।

यदि त्वसंगतस्य —यदि उत्तर देना अनिवार्य हो तो 'न सूत्रायिपरिज्ञानात्' यह उत्तर देना वाहिये।

2.2.7

न्यायसूत्रं भाष्यं च

[३७३

यथोक्तोपपन्नश्छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भो जल्प

. 2.7 11

यथोक्तोपपन्न इति, प्रमाणतकंसाधनोपालम्मः सिद्धान्ताविष्द्धः पञ्चावयवोपपन्नः, पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहः । छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्म इति, छलजातिनिग्रहस्थानैः साधनमुपालम्मश्चास्मिन् क्रियत इति एवं-विशेषणो जल्पः ।

न्यायवात्ति कम्

यदिष प्राश्निकप्रतिवादिनोः प्रियाप्रियवचिस वादप्रसङ्ग इति चोद्यं कृत्वा प्रतिसमाधानमुक्तम् तत्सिद्धचिसिद्धिभ्यां साक्षात् पारम्पर्येणासबन्धात् युक्तायुक्त-विशेषणाच्चासम्बद्धमुत्तरेण त्वसङ्गतपदार्थाभिधायिनो दत्तः स्वहस्तः, पूर्वापरयोर-संबन्धादिति । यदि त्वसंगतस्याप्युत्तरं बाच्यं तत एवं वक्तव्यम्; न सूत्रार्थापरिज्ञाना-दिति । तदेतद् सूत्रं विचार्यमाणं सहवात्तिकं न युक्त्या संगच्छते इति यथान्यायमे-बास्तु ।१।२।१॥

यथोक्तोतपन्नः छलजातिनिग्रहस्थानसाधनो ालम्मो जल्पः । समस्तं वादलक्षणं छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालस्याच्य जल्प इति । यथोक्तोपपन्न इति न युक्तम्, जल्पे

उपर्युक्त (वाद के लक्षण) से युक्त होने वाला जिसमें छल, जातिओर निप्रह-स्थान से साधन तथा प्रतिबंध किया जाता है वह जल्प है। १.२.२।।

यथोक्तोपपन्नः का अभिप्राय है जिनमें प्रमाणों तथा तक से स्थापना एवं प्रतिषेध किया जाता है, जो सिद्धान्त के विरुद्ध नहीं, पाँच अवयवों से युक्त होता है ऐसा पक्ष तथा प्रतिगक्ष का ग्रहण। छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालस्म का भाव है छल, जाति और निग्रहस्थानों से जिसमें सिद्धि और प्रतिषेध किया जाता है, इस

प्रकार के विशेषणों व ला जल्प होता है।

जो (वृत्ति में) यह आक्षेर (चोद्यम्) करके कि (राह चलते) प्राहिनक और प्रतिवादी के प्रिय तथा अप्रिय वनन में वाद होने का प्रसङ्ग होता है परिहार किया गया है कि वह निद्धि तथा असिद्धि के साथ साक्षात् या परम्थरा से सम्बन्ध न होने के कारण युक्त और अयुक्त विशेषण से असम्बद्ध है; इस उत्तर तो असङ्गत पदार्थ का कथन करने वाले को अपने हाथ का महाण दे दिया गया है, क्योंकि (इस आक्षेप से) पूर्व सिद्धय-सिद्धचर्यम्) और अपर (युक्तायुक्तत्वम्) का सम्बन्ध नहीं है। यदि असंगत का भी उत्तर देना है तो इम पकार होगा नहीं, सूत्र का अथ सम्यक् न जानने से। इस प्रमार यह सूत्र विचार किया जाता हुआ वृत्तिसहित (ही) युक्तिसंगत नहीं अतः न्याय के अनुसार ही रहे। १९७१।

यथोक्तोपपन्नः जल्पः (यह सूत्र है) । सम्पूर्ण बाद के लक्षण से युक्त

जल्य: — उद्देश के कम से जल्प का लक्षण दिखलाया गया है।
समस्तम् — 'यथोक्तोपपन्नः' का अर्थ है समस्त वाद के लक्षण से युक्त ।
यथोक्तोपपन्न इति न युक्तम् — यह क्यों युक्त नहीं, इसकी व्याख्या आगे की गई है, (१) जल्प में
पथोक्तोपपन्न इति न युक्तम् — यह क्यों युक्त नहीं, इसकी व्याख्या आगे की गई है, (१) जल्प में
प्रित्तिक्षान का नियम न होने से, (२) यदि नियम होगा तो वाद तथा जल्प में कोई भेद न रहेगा
भीर वाद का लक्षण जल्प में भी घटित होने से लक्षण में व्यभिचार दोष होगा ।

308 1

[जल्पा

न्यायवात्तिकम्

निग्रहस्थाननियमस्यानभ्युपगमात्—यद्येवपुच्यते प्रमाणतक्तंसाधनीपालम्मः सिद्धान्ताः विद्धः पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहः छलजातिनिग्रहस्थानसाधनीपालम्भो जल्प इति, न युक्तमेवं निवतुम्, सिद्धान्ताविद्धः पञ्चावयवोपपन्न इति च पदयोद्धाः लम्मग्रहणात् समस्तनिग्रहस्थानप्रसक्तौ नियमार्थत्वात्—नियमार्थे एते पदे सिद्धान्ताः विद्युः पञ्चावयवोपपन्न इति । जल्पे च नियन्तव्यं न किञ्चिवस्त । तस्मात् नियमार्थे एते पदे नातिवेद्यव्ये, इत्यतो न वक्तव्यं 'यथोक्तोपमन्नः' इति । नेष दोषः, संमवतोऽतिवेशात्—यदत्र सम्बद्ध्यते तवितिविद्यते । कि च सम्बद्ध्यते ? प्रमाणतर्कः साधनोपालम्म इत्येतत् । तस्माव् यथोक्तोपपन्न इति लक्षणमात्रस्यातिवेशः । यथान्यत्र 'अनेकद्रव्येण द्वव्येण समवायाव् रूपविशेषाच्च रूथोपलव्धिः' (वै० सू० ४.१.६), 'अनेन रसगन्धस्पर्शेषु ज्ञानं व्याख्यातम्' (वै० सू० ४.१.६), इति न रूपविशेषाः बोऽतिविश्यते, अपि त्वनेकद्वव्येण द्वव्येण समवायमात्रं स्वगतो विशेषः

और छल, जाति, निग्रहस्थान के द्वारा जिसमें साधन और प्रतिषेध किया जाता है बह जल्प है। (आक्षेप) 'यथोक्तोपपन्न' यह कहना युक्त नहीं; जल्प में निग्रहस्यानों का नियम न स्वीकारने से —यदि इस प्रकार कहा जाता है, 'प्रमाणतकंसाधनोपालस्यः सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवीपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहः, छलजातिनिग्रहस्यानसाधनी-पालम्भो जल्पः' ऐसा होना युक्ति युक्त नहीं, उपालम्भ (परपक्षप्रतिषेधा) के ग्रहण से समस्त निग्रहस्थान प्राप्त होने पर सिद्धान्ताबिरुद्ध और पञ्चावयोपपन्न इन दोनों पदों के नियम के लिये होने से--ये दोनों पद सिद्धान्ताविरुद्ध और पञ्चावयववीपपन्न नियम के लिये हैं। जल्प में तो नियम करने योग्य कुछ नहीं है। इसलिये नियम के लिये जो ये दो पद हैं इनका निर्देश नहीं करना है, अतः 'यथोक्तोपपन्नः' नहीं कहना चाहिए। [परिहार] यह दोष नहीं, सम्भव का अतिदेश होने से-जिसका यहाँ सम्बन्ध है उसका अतिदेश किया जाता है। (प्रश्न) किन्तु (च) किसका सम्बन्ध है ? (उत्तर) प्रमाण तकं - साधनीपालम्भ इसका । इसलिये 'यथोक्तोपपन्न' शब्द से केवल लक्षण का अतिदेश होता है (नियमार्थ पदों का नहीं), जैसे अन्य स्थल पर अनेक द्रव्यों वाले द्रव्य में समवाय होने से तथा रूपविशेष होने से रूप की उपलब्धि होती है (वैं स्॰ ४.१.८), [अग्रिम सूत्र है] उससे रस, गन्ध तथा स्पर्श में ज्ञान की व्याख्या हो गई (वै० सू० ४.१.६) । इसमें रूपविशेष (उद्भूतरूप अधि) का अतिदेश नहीं होता अपि तु सामर्थ्य से अनेकद्रव्येण द्रव्येण समवायमात्रं का तथा स्वगत विशेष (उद्भूतत्व) का

नैष दोष: — परिहार का भाव यह है: यहाँ सम्भव होने से उक्तमात का ग्रहण होता है अनुकर को अर्थगम्य है उस (नियम) का ग्रहण नहीं होता। अत: 'प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः' इसका ही अतिदेश होता है; अर्थात् उक्तमात का अतिदेश होता है। इसलिये वाद को छोड़कर सभी लक्षण का अतिदेश हो जाता है। नियम तो अर्थगम्य है उसका अतिदेश नहीं होता (द्र० टी० ६२६)।

लक्षणमात्रस्य — केवल शब्दों से कहे गये का, अर्थगम्य और लक्षणा से प्राप्त का नहीं; इसमें दृष्टाल है, यथान्यत, इत्यादि । यहाँ अन्यत्र का अभिप्राय है वैशेषिक शास्त्र में । वहाँ पहले सूत्र से अप्रिम सूत्र में केवल उद्मृतत्व का ही अतिदेश होता है ।

न्यायवात्तिकम्

सामध्यत् तथेहापि यत् समयं तवितिदृश्यते । समयं च लक्षणम् । तस्मात् लक्षणमितिविश्यते । न नियमार्थे पदे, नियन्तव्यप्यामावात् । अथवा ययोक्ते नोपपन्ते नोपपन्ते । यथोक्तोपपन्नोपपन्ते । यथोक्तोपपन्नोपपन्ते । यथोक्तोपपन्नोपपन्ते । यथा गोरयः इति । प्राप्ते गम्यमानत्वादेकस्योपपन्नशब्दस्य स्रोपः; यथा गोरयः इति । केन पुनरयं गम्यत इति । उद्यत सामध्ये नित न हि नियमार्थयो पदयोजंत्ये संसवः, तस्मात् न ते अतिविश्येते इति । भाष्यमिदानीं कथम् ? न, सूत्रपाठानुक्रमन्नापनार्थन्वात् भाष्यस्य – एनस्मिन् सूत्रे यदुपपन्नं लक्षणन्वेन तदितिवश्यत इति ।

ही । उसी प्रकार यहाँ भी जो समर्थ है उसका अतिदेश विया जाता है और समर्थ (केवल) लक्षण है । इसलिए लक्षण का अतिदेश किया जाता है, निथम के लिये रक्खें गये (दोनों) पदों का नहीं क्योंकि यहाँ नियम करने योग्य (कुछ) नहीं हैं।

अथवा 'यथोक्तोपपन्नोन उपपन्न' इस विग्रह में यथोक्तोपपन्नोपपन्नः' यह (समस्त पद) प्राप्त हाने पर प्रतीत हो जाने के कारण (गम्यमानत्वात्) एक 'उपपन्न' शब्द का लोग हो जाता है; जैसे गोरथ शब्द मे । (प्रश्त) किन्तु किससे यह प्रतीत हो जाता है ? (उत्तर) कह दिया है कि सामध्यं से—वस्तुतः नियमार्थक पदों का जल्प में होना संभव नहीं है, इसलिये उनका अतिदेश नहीं किया जाता । (आक्षेप) ऐसा होने पर (इदानीम्) भाष्य कैसे (संगत होगा) ? [परिहार] नहीं; भाष्य के सूत्र के अनुक्रम का बोध कराने के लिये होने से—इस सूत्र में जो लक्षाणरूप में युक्त है, उसका अतिदेश किया जाता है।

न नियमार्थे पर्वे —िन्यमार्थंक पद हैं, सिद्धान्ताविरुद्धः, पञ्चावयवीपपन्नः । यह कथन उपलक्षण है, प्रमाणतर्कसाधनीपालम्भः ? इस पद से जो अभिप्राय निकलता है उसका भी यहाँ ग्रहण नहीं होता (द्व० टी० ६२६)।

अथवा "यथा गोरथ इति — 'गोभि: युक्तो रथ: गोरथ:' यहाँ 'युक्त' पद का लोप होता है, इसी प्रकार प्रकृत में एक 'उपपन्न' शब्द का लोप हो जाता है।

नियमार्थयो : पदयो: नियम के लिए रक्खे गये पदों का, यह भी उपलक्षण है,

⁽इ० टी० ६२६)।

भारयमिदानीम्—माष्यकार ने नियम का भी अतिदेश वतलाया है, ऐसा समझने वाले की ओर से शक्का है।

न सूत्र --- जो जल्प के लक्षण के अनुकूल पाठ कम है उसे सूचित करने के लिए भाष्य है। अतः उक्त अर्थमात्र का अतिदेश है, अर्थगम्य का नहीं।

यदुपयन्नम् - उक्त में से जो संभव है, उसका अतिदेश है, उक्तमात्रमित्ययं:, टी॰ ६२६।

न्यायभाष्यम्

न खलु वे छलजातिनिग्रहस्थानैः साधनं कस्यचिदर्थस्य सम्मवति,
प्रतिषेधार्थतैवैषां सामान्यलक्षणं विशेषलक्षणं च श्रूयते 'वचनविधातोऽर्थ-विकल्पोपपच्या छलम्' (न्या० सू० १.२.१०) इति, 'साधम्यंवैधभ्यांम्यां प्रत्यवस्थानं जातिः (न्या० सू० १.२ १८), विप्रतिपत्तिर शितपत्तिरच निग्रह-स्थानम् (न्या० सू० १.२ १६) इति । विशेषलक्षणेष्वपि यथास्वमिति । न चैतद् विजानीयात् प्रतिषेधार्थतयेवार्थं साधयन्तीति, छलजातिनिग्रह-स्थानोपालम्भो जलप इत्येवमण्युच्यमाने विज्ञायत एतदिति ।

प्रमाणे साधनोपालम्भयोद्धलजातिनिग्रहस्थानानामङ्गभावः स्वपक्ष-रक्षणार्थत्वात्, न स्वतन्त्राणां साधनभावः — यत्तत् प्रमाणेरथस्य साधनं तत्र छलजातिनिग्रहस्थानानामङ्गभावो रक्षणार्थत्वात्, तानि हि प्रयुज्यमानानि परपक्षविधातेन स्वपक्षं रक्षन्ति । तथा चोक्तं 'तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थं जलपवितण्डे बीजप्ररोहसंरक्षणार्थं कण्टकशाखावरणवत् (न्या० सू०४ २.५.।)

(आक्षेप) निष्चय ही छल, जाति और निग्रहस्थान से किसी अर्थ की सिद्धि नहीं हो सकती, इनके सामान्य लक्षण में तथा विशेष लक्षण में इनका प्रतिषेध के लिये होना ही सुना जाता है; जैसे (सामान्यलक्षण है) वचनविवातोऽर्थविकल्पोपपत्या छलम् (छल), साधम्यंवैधम्याभ्यां प्रत्यवस्थानं जाति: (जाति), विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिइच निग्रहस्थानम् (निग्रहस्थान)। इसी प्रकार प्रत्येक के (यथास्वम्) विशेष लक्षणों में भी (इनका प्रतिषेध के लिये होना ही सुना जाता है)। और, यह नहीं समझना चाहिये कि प्रतिषेध के लिये होते हुए ही ये अर्थ की सिद्धि कर देते हैं; क्योंकि छल, जाति, निग्रहस्थान से जिसमें प्रतिषेध होता है, इतना मात्र कहने से ही यह (अर्थ) जान लिया जाता है।

[परिहार] प्रमाणों द्वारा स्थापना तथा प्रतिषेध करने में छल, जाति, निग्रह-स्थान अपने पक्ष की रक्षा के लिये होने से अङ्ग हो जाते हैं, ये स्वतन्त्र रूप से साधन नहीं होते —जो वह प्रमाणों से अर्थ की स्थापना की जाती है उसमें छल, जाति तथा निग्रहस्थान अङ्ग हो जाते हैं; क्योंकि ये (अपने पक्ष की) रक्षा के लिये होते हैं। वस्तुत: वे प्रयुक्त होकर दूसरे पक्ष के प्रहार से (विघातेन) अपने पक्ष की रक्षा करते हैं; जैसा कि कहा है 'तत्त्व-निश्चय की रक्षा के लिये जल्प वितण्डा होते हैं, जिस प्रकार बीज के अङकुर की रक्षा के लिये कांटे वाली शाखा की बाड़ (आवरण) होती हैं (न्याय स्व ४.२.५) और जो यह प्रमाणों से प्रतिपक्ष का खण्डन होता है, ये प्रयुक्त

न खलु वे यथास्वम् भाष्य में अक्षेप किया गया है कि छल आदि के सामान्य लक्षणों तथा विशेष लक्षणों से विदित होता है 'ये प्रतिषेध के लिये होते हैं' अतः किसी की स्थापना के साधन नहीं हो सकते।

न चैत्य - परपक्ष का प्रतिषेध करने से ही किसी अर्थ की सिद्धि नहीं हो सकती। यदि ऐसा होता

तो छल के लक्षण में 'साधन' शब्द का ग्रहण न किया जाता । अङ्गभाव: स्वपक्षरक्षणार्थत्वात् — यद्यपि छल आदि स्वतन्त्र रूप से किसी अर्थ के साधक नहीं होते तथापि ये तत्त्व की रक्षा में सहायक होते ही हैं अतः अर्थ की सिद्धि में अङ्ग हैं।

न्याय भाष्यम्

यश्चासौ प्रमाणे : प्रतिपक्षस्योपालम्भस्तस्य चेतानि प्रयुज्यमानानि प्रतिषेधविधातात् सहकारोणि भवन्ति । तदेवमङ्गीभूतानां छलादीमुपादानं जल्पे, न स्वतन्त्राणां साधनभाव : । उपालम्भे तु स्वातन्त्र्यमप्यस्तीति ।

1.2.7.11

न्यायवात्तिकम्

छलजातिनिग्रहस्थानेनं कस्यचित् साधनम् उपालम्मो वा युक्तः, अयुक्तोतरस्वात्-छलं न साधनाय नोपालम्माय वालम् ? कस्मात् ? अयुक्तोतरस्वात्-अयुक्तमुक्तरं छलेनामि-घीयते, यच्चायुक्तमुक्तरं तन्नालं साधनायोपालम्माय वेति । एवं जातिः । अङ्गभाव इति चेत् — अथापीवं स्यात् यत् तत् प्रमाणतर्कः साधनं यम्बोपालम्मः, तस्यैतानि प्रयुज्यमानानिछलजातिनिग्रहस्थानानि रक्षणार्थस्वादङ्गं भगन्तीति, एतदप्ययुक्तोत्तर-स्वावेवानुपपन्नम् । किमयं तिहं प्रयोगः—यद्येतानि छलजाति निग्रहस्थानानि साधनो-पालम्भयोनं साधनं नाङ्गं वा, किमयंमेषामुपपादनमिति ? साधनविघातार्थम्— साधनं विहनिष्यामीस्यनया धियापहृतः प्रवर्तते । यत्र चैतानि छलजातिनिग्रहस्थानानि

किये गये प्रतिषेध का प्रहार (विवात) करने के कारण उसके सहकारी होते हैं। तब इस प्रकार अङ्ग होने वाले छल आदि का जल्प में ग्रहण होता है, ये स्वतन्त्र रूप से साधन नहीं। प्रतिषेध (उपालम्म) में तो इनकी स्वतन्त्रता भी है। १.२.२॥

छल, जाति, निग्रह स्थानों से किसी की सिद्धि या प्रतिपेध होना युक्त नहीं, अयुक्त उत्तर होने से—प्रथमतः छल न स्थापना के लिये अथवा न प्रतिवेध के लिये समर्थ है। क्यों ? अयुक्त उत्तर होने से; छल अयुक्त उत्तर दिया जाता है और जो अयुक्त उत्तर है वह स्थापना या प्रतिपेध के लिए समर्थ नहीं होता। इसी प्रकार जाति है। (शङ्का) यदि (कहो कि) (छल आदि) अङ्ग रूप होते हैं—यदि यह (मत) हो कि जो वह प्रमाण तथा तर्क से (किसी अर्थ की) स्थापना होती है और जो प्रतिखंध होता है, ये छल, जाति और निग्रहस्थान प्रयुक्त होकर उसकी रक्षा करने के कारण (अङ्ग) हो जाते हैं। [समाधान] यह भी अयुक्त उत्तर होने से ही नहीं बनता। (प्रक्न) तव किसलिये (इनका) प्रयोग होता है—यदि ये छल, जाति और निग्रहस्थान स्थापना तथा प्रतिषेध के साधन अथवा अङ्ग नहीं होते तो इनका ग्रहण क्यों किया जाता है? (उत्तर) साधन का विधात (नाश, प्रहार) करने के लिये—साधन को नष्ट करूँगा' इस विचार से (धिया) प्रभावित हुआ (अपह्रतः) प्रवृत्त होता है। और जहाँ ये छल, जाति और निग्रहस्थान प्रयुक्त होते हैं, वह वाद नहीं होता और

अङ्गभाव इति चेत् --यहाँ वार्तिक में भाष्योक्त समाधान दिखलाया गया है।

एतवय्ययुक्तोत्तरत्वात् — छल आदि अयुक्त उत्तर हैं, वे सिद्धि के अङ्ग नहीं हो सकते । हजारों अन्धे भी पाटच्चरों से घर की रक्षा करने में समर्थ नहीं हैं (टी० ६२६)।

किमयं तीह — समीप में स्थित कोई पूछता है 'फिर इनका प्रयोग किसलिए किया जाता है। साधनं विह्निष्यामीत्यनया धिया — वाद में साधन के विघात के लिये कोई प्रवृत्त नहीं होता अब: वाद में भ्रान्ति से ही छल आदि का प्रयोग कर दिया जाता है।

यत्र चैतानि — जहाँ समझकर छल आदि का प्रयोग किया जाता है वह वाद ही नहीं होता अपितु जल्प है या वितण्डा (इ.० टी० ६२७)। प्रयुज्यन्ते, न स वादः । न पुनरेतव् अभिधीयते छलजातिनिग्रहस्थानानि साधनमङ्गं चेति । साधुसाधनोपादाने च परेणाकुलीकृतबुद्धिः छलादीनि प्रयुङ्क्ते, कदाचिच्छला-दिभिराकुलीकृतस्य परस्य पराजयोऽपि स्वादिति । न पुनरेतानि तत्त्वबुभृत्सुना कक्तव्यानि, किं तु विजिगीषुणेति । सोऽयं पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहः छलजातिनिग्रहस्थान-प्रयोगाप्रयोगाभ्यां भिद्यमानो वादो जल्पो वितण्डा च भवति ।

सत्रापि विरुद्धौ धर्मावेकाधिकरणस्थाविति समानम् — विरुद्धगोधमंयोरेकाधि करणस्थानुपपत्तिरुमयात्मकवस्तुस्वकावासंभवात् – यदि विरुद्धावेकाधिकरणौ धर्मौ भवतः, तवैकं वस्तूभयस्वभावं प्राप्तम् न चैतदस्ति । तस्मात् न विरुद्धौ धमिवेकाधिकरणोविति । न, अध्यारोपितस्वरूपधर्मसप्रतिपत्त्या तद्दुपपत्तेः — एकस्तु धर्मः स्वरूपतः, एकस्त्वध्यारोपितस्वरूपश्रवृत्तिः । तस्माद् उभयधर्मा धर्मीति सिद्धम् । एकधिनस्थौ विरुद्धार्थावित्येतदपि न बुध्यामहे, को विरुद्धार्थं इति । (न) स्वरूपविषयंयोपपत्तेः—स्वरूपमात्रविषयंगे विरोध , न पुत्रविधा वष्यधातकभावो वेति । १।२।२.।।

और, न ही यह कहा गया है कि छल, जाति और निग्रहस्यान साधन अथवा अङ्ग होते हैं। हाँ, सद्हेतु का ग्रहण करने पर (भी) दूसरे (प्रतिपक्षी) के द्वारा अग्रकुलित बुद्धि वाला छल आदि का प्रयोग करता है (यह सोचकर कि) सम्भवत छल आदि से आकुलित दूसरे (प्रतिपक्षी) का पराजय भी हो सकता है। किन्तु इनः (छल आदि) का तत्त्वज्ञान की इच्छा वाले को प्रयोग न करना चाहिए अपि तु विजय की इच्छा वाले को ही। वह यह पक्ष और प्रतिपक्ष का सम्यग् ग्रहण छल, जाति और निग्रहणस्थान के प्रयोग तथा अप्रयोग से भिन्न-भिन्न होता हुआ वाद, जल्प और वितण्डा हो जाता है।

(आक्षेप) यहाँ भी (दो) विरुद्ध धर्म एक आधार में होते हैं अत: समान (दोष) है। दो विरुद्ध धर्मों का एक आधार में होना नहीं वन सकता, वऱ् का उभयात्मक स्वभाव न हो सकने से—यदि दो विरुद्ध धर्म एक ही आधार में स्थित होते हैं, तब एक वस्तु दो स्वभाव वाली होगी। और ऐसा है नहीं। इसलिये दो विरुद्ध धर्म एक आधार में नहीं हो सकते। [पिरहार] ठीक नहीं, आरोपित धर्म और स्वरूप-धर्म के समन्वय से (संप्रतिपत्त्या) उनके वन सकने से—एक तो धर्म स्वरूप से होता है, किन्तु एक अध्यारोपित स्वरूप में होता है। इसलिये धर्मी दो धर्म वाला हो जाता है,

न पुन: — जल्प और वितण्डा में छल आदि का प्रयोग होने से ये साधन या अङ्ग नहीं हो जाते।
साध्साधनोपादाने च — कभी वादी साधु साधन का प्रयोग करता है किन्तु प्रतिवादी के द्वारा
ब्याकुल मित वाला होकर वह तुरन्त ठीक उत्तर नहीं दे पाता तो साधन या अङ्ग न होने पर भी छल
आदि का प्रयोग कर देता है। छल आदि के प्रयोग से दूसरे का पराजय भी सम्भव है अतः तत्त्व की
रक्षा के लिये इनका प्रयोग होता है यह अधिष्ट आचरण नहीं (द्र० टी० ६२७) यहाँ प्रकार में भाष्य
असंगत है, प्रयोजन में नहीं (परि० ६२८)।

अत्रापि ... इति — आक्षेप का भाव है : एक ही विषय में पक्ष और प्रतिपक्ष होने पर भी एक आबार में दो विरुद्ध धम होंगे जो यक्त नहीं।

न अध्यारोपित० —परिहार का भाव है: स्वरूपतः वस्तु में एक ही धर्म होता है किन्तु उसमें अन्य स्वरूप का अध्यारोप करके दूसरा धर्म दिखला विया जाता है, अत: दोष नहीं। 2.2.3

308

न्यायसूत्रं भाष्यं च

स प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा । १।२।३ ।।

स जल्पो वितण्डा मवित । कि विशेषणः ? प्रतिपक्षस्थापनया हीनः-यौ तौ समानाधिकरणौ विरुद्धौ धर्मौ पक्षप्रतिपक्षावित्युक्तौ तयोरेकतरं वैतण्डिको न स्थापयतीति, परपक्षप्रतिषेधनैय प्रवतंत इति । अस्तु तिहं स प्रतिपक्षहीनो वितण्डा । यद् वै खलु तत्परप्रतिषेधलक्षणं वाक्ष्यं स वैतण्डि-कस्य पक्षः । न त्वसौ साध्यं कञ्चिद्यं प्रतिज्ञाय स्थापयतीति । तस्माद् यथान्यासमेवास्त्वित । १।२।३ ।।

वह (जल्प) प्रतिपक्ष की स्थापना से रहित होता हुआ वितण्डा होता है। १.२.३।
वह जल्प वितण्डा हो जाता है। किस विशेषण वाला ? प्रतिपक्ष की स्थापना
के विना—जो वे समान आधार में रहने वाले विरुद्ध धर्म पक्ष और प्रतिपक्ष कहे
गये हैं उनमें से एक को वैतण्डिक स्थापित नहीं करता, तथा दूसरे पक्ष का
प्रतिपेध करता हुआ ही प्रदत्त हो जाता है। (आक्षेप) तब वह प्रतिपक्ष से हीन होने
वाला वितण्डा होता है, ऐसा कहा जाये। [परिहार] निश्चय ही जो दूसरे के पक्ष
का प्रतिपेध करने वाला वाक्य है वह वैतण्डिक का पक्ष है; किन्तु वह किसी साध्य
अर्थ की प्रतिज्ञा करके उसे स्थापित नहीं करता इसलिये जैसा कहा गया है वैसा ही
ठीक है। १.२.३।।

यह सिद्ध होता है। किञ्च, एक धर्मी में स्थित दो विरुद्ध अर्थ (धर्म) होते हैं, यह भी हम नहीं समझते कि यहाँ विरुद्ध का अर्थ क्या है ? स्वरूप के भेद (विपर्यय) से बन जाने के कारण—स्वरूप का बदलना (विपर्यय=भेद) मात्र (ही) विरोध है न कि एक दूसरे के साथ न रहना (सहानवस्थान) अथवा नाष्ट्रयनाशकभाव। १.२.२॥

वितण्डा — उद्देश के कम से जल्प के अनन्तर वितण्डा का लक्षण करते हैं।

प्रतिपक्षस्थापनाहीन: --वादी के पक्ष की अपेक्षा से प्रतिवादी का अपना पक्ष ही प्रतिपक्ष है।

उसकी स्थापना जिसमें नहीं होतो ऐसी कया वितण्डा है।

द्वितीयपक्षस्थापनाहीन: — प्रश्न हो सकता है कि जैसे बादी के पक्ष की अपेक्षा से प्रतिवादी का पक्ष प्रतिपक्ष है, इसी प्रकार वादी का पक्ष भी प्रतिवादी के पक्ष की अपेक्षा से प्रतिपक्ष है फिर तो उभयपक्षस्थापनाहीन: वितण्डा होगा । अतः वाक्तिककार ने 'प्रतिपक्षस्थापनाहीनः' का उक्त अर्थ किया है। भाव यह है: यदि प्रथम पक्षवादी पक्ष की स्थापना न करेगा तो वैतण्डिक किसका खण्डन करेगा? पक्ष का नाश तो हो नहीं सकता अतः द्वितीय पक्ष की स्थापना से रहित जल्प ही वितण्डा है। अस्तु तिह — आक्षेप का भाव है: स्थापना के अभाव में पक्ष भी न होगा, क्योंकि पक्ष में स्थापना

के जिना पक्षत्व ही नहीं है।

परपक्षप्रतिषद्यलक्षणं वाक्यम्—वस्तुतः वैतिण्डिक का पक्ष है कि दूसरे के पक्ष का प्रतिपेध करने
मान्न से पारिश्वेष्यात् मेरा पक्ष सिद्ध हो जायेगा; किन्तु वह दूसरे के पक्ष का निषेध करने अतिरिक्त
किसी पक्ष की स्थापना नहीं करता। किञ्च, पक्ष तो योग्यता मान्न से हो जाता है, स्थापना से नहीं।

350]

न्यायवात्तिकम

[वितण्डा

स प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा । प्रतिपक्षस्थापनाहीन इति द्वितीयपक्ष-स्थापनाहीन इति । यावदुवतं भवति द्वितीयपक्षवादी वैतण्डिको न कञ्चित् पक्षं स्पापयतीति ।

अपरे तु ब्रुवते — दूषणमात्रं वितण्डेति । दूषणमात्रमिति मात्रशब्दप्रयोगात् वैतण्डिकस्य पक्षोऽपि नास्तीति । अयुषतं चैतत्, चतुर्वर्गस्याभ्युपगमात् । दूषणमभ्युपग्ण्यात् । दूषणमभ्युपग्ण्यात् । दूषणमभ्युप्ति, अयथार्थावबोधं प्रतिपद्यते प्रतिपादयितारं प्रतिप्रत्तारं च । दूषणमात्राभयुपगये सित सर्वमेतत् न स्यात् । दूषणमात्राभिधानात् शेषमर्थतोऽवगम्यत् इति चेत्, वितण्डा वितण्डत्येव वक्तव्यम् । यया वितण्डचते सा वितण्डत्यनुगतार्थया संज्ञयैव परस्य पक्षस्य प्रवृत्तिविधातः क्रियत इति । तस्माव् यथान्यासमेवास्तु (इति) न्याय्यम् ।११२।३।।

स प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा (यह सूत्र है)। प्रतिपक्षस्थापनाहीन: का तात्पर्य है जिसमें द्वितीय पक्ष की स्थापना न की गई हो। यह कहा जा सकता है कि द्वितीय पक्ष रखने वाला वैतण्डिक किसी पक्ष की स्थापना नहीं करता।

दूसरे तो कहते हैं 'दूषणमात्र वितण्डा है'। दूषणमात्र में मात्र' शब्द के प्रयोग से (ज्ञात होता है कि) वैतण्डिक का कोई पक्ष नहीं होता। [निराकरण] यह तो ठीक नहीं; चतुर्वगं (दूषण, दूष्य, प्रतिपादियता, प्रतिपत्ता) को स्वीकार करने से दूषण को स्वीकार करने वाला (२) दूषित करने योग्य अर्थ को स्वीकारता है (३) अयथार्थ ज्ञान वाले प्रतिपादक को और (४) प्रतिपत्ता (बोद्धा) को स्वीकारता है। केवल दूषण को स्वीकारने पर यह सब न हो सकेगा। (शङ्का) यदि दूषणमात्र के कथन से शेष अर्थतः जान लिया जाता है। [समाध न] फिर 'वितण्डा वितण्डा' इनना ही कहना चाहिये। जिससे वितण्डा की जाती है वह विगण्डा है, इस अन्वर्थ संज्ञा से दूमरे के पक्ष की प्रवृत्ति को रोकना, यह अर्थ हो जायेगा। इसलिये जैसा सूत्र है (यथान्यासम्) वैसा ही रहे यही न्यायसंगत है। १।२।३।।

अपरे तु (?) — यह 'अस्तु तिंह' इत्यादि भाष्य की व्याख्या है (द्र० टी० ६३०)
दूषणमात्रम् — दूसरों का मत है कि 'प्रतिपक्षहीनो वितण्डा' यह लक्षण पर्याप्त है ।
अयुक्तं चैतत् — परिहार का भाव है : द्वितीय पक्ष की स्थापना न करते हुए भी वैतण्डिक यह तो मानेगा कि स्थापना योग्य कुछ है. वही प्रतिपक्ष है, हां, वह दूषण से भिन्न कोई स्थापना नहीं करता । स्थापना न करने से ही उसे वैतण्डिक कहा जाता है । यदि वह चतुवंगं (दूषण, दूष्य आदि) को भी नहीं मानता तो वह न लौकिक है न परीक्षक अतः उपेक्षा के योग्य है (द्र० टी० ६३०) ।
अयथार्थाववोधम् — अयथार्थ है अववोध जिसका (बहु०), यह 'प्रतिपादियतारम्' का विशेषण है ।
वितण्डा वितण्डा — यदि शेष की अर्थतः प्रतीति हो जाती है तो 'वितण्डा वितण्डा' इतना ही कहना चाहिये । वितण्डा इस संज्ञा के निवंचन के सामर्थ्य से शेष अर्थ जान लिया जायेगा ।
यथान्यासमेव — न्यास के अनुसार ही, जैसा सून है वैसा ही रहे । इस ग्रन्थ से वात्तिककार ने 'यद

वै चलुं इत्यादि भाष्य की व्याख्या कर दी है (टी० ६३०)।

2.2.8]

| ३८१

न्यायसूत्रं भाष्यं च

हेतुलक्षणामावादहेतवो हेतुसामान्याद् हेतुवदाभासमानाः । त इमे— सन्यभिचारविरुद्धप्रकरणसमसाध्यममकालातीताः हेत्वाभासाः

।शशाशा

न्यायवात्तिकम्

हेतुलक्षणामावाव् अहेतवो हेतुसामान्याव् हेतुवदवमासमानाः । त इमे—
सन्यिभिचा विरुद्धप्रकरणसमसाध्यसमकालातीता हेत्वामासाः । कि पुनहेंतुिषः अहेतूनां
सामान्यं येन हेतुवव् आभासन्त इति ? प्रतिज्ञानन्तरं प्रयोगः सामान्यम्—ययंव हेतवः प्रतिज्ञानन्तरं प्रयुज्यन्ते, एवं हेत्वाभासा अपीत्येतत् सामान्यम् । अन्यतम-लिङ्गधर्मानुविधानं वा —यव् वा यत्साधकस्य लिङ्गस्य त्रं लक्षण्य धर्मस् तत्रं कतम-धर्मानुविधानम् द्विलक्षणस्यान्यतरधर्मानुविधानं वा विवक्षितम् । साधकासाधकस्ये तु विशेषः—हेतोः साधकत्वं धर्मः, असाधकत्वं हेत्वामासस्य । कि पुनस्तत् ?

हेतु का लक्षण न होने से अहेतु हैं और हेतु की समानता से हेतु जैसे भासित होते हैं। वे ये—

सम्यभिचार, विरुद्ध, प्रकरणसम, साध्यसम और कालातीत नामक हेत्वामास हैं। १।२।४॥

हेतु का लक्षण न होने से अहेतु है तथा हेतु के समान होने से हेतु जैसे भासित होते हैं। ये वे सन्यभिचार (अनैकान्तिक), विरुद्ध, प्रकरणसम (सत्प्रितपक्ष) साध्यसम (असिद्ध) तथा कालातीत (वाधित) नाम के हेत्वाभास हैं। (प्रक्न) किन्तु हेतु न होने वालों की हेतुओं के साथ क्या समानता है जिससे वे हेतु जैसे भासित होते हैं? (उत्तर) [प्रयोगगत साधम्यं] प्रतिज्ञा के पश्चात् प्रयोग होना समानता है—जिस प्रकार प्रतिज्ञा के पश्चात् हेतु प्रयुक्त होते हैं इसी प्रकार हेत्वाभास भी, यह समानता है। [प्रयोज्यगत साधम्यं] अथवा किसी एक लिङ्ग के धमं का अनुसरण करना—अथवा जो साधक लिङ्ग (हेतु) का तीन लक्षण वाला धमं है उनमें से एक धमं का अनुसरण करना या दा लक्षण वाले लिङ्ग के किसी एक धमं का अनुसरण करना, कहना अभीष्ट है। भित्न] साधक होना तथा साधक न होना तो भेद है—हेतु का धम है साधक होना और हेत्वाभास का साधक न होना तो भेद है—हेतु का धम है साधक होना और सव

हेत्वाभासाः — उद्देश के क्रम का अनुसरण करके हेत्वाभास का निरूपण करते हैं। 'हेत्वाभास' का सामान्यलक्षण हेत्वाभास नाम के अन्वर्थ होने से ही प्रकट हो जाता है। यहाँ विभाग किया गया है। हेतुववाभासन्ते — हेतु से हेत्वाभास में प्रयोगगत और प्रयोज्यगत दो प्रकार की समानता है।

(द्र० टी॰ ६३७)। त्रैलक्षण्यम् — यद्यपि न्यायमत में हेतु की पाँच विशेषताएं हैं तथापि अवाधितविषयत्व और

असत्प्रतिपक्षत्व की विवक्षा न करके ऐसा कहा गया है । विशेष: म्मिने, हेतु और हेत्वाभास में अन्तर यह है कि हेतु तो साधक होता है, हेत्वाभास साधक नहीं होता । सभी लक्षणों से युक्त होना ही हेतु की साधकता है जो हेत्वाभास में नहीं । 3=7]

[हेत्वाभासाः

न्यायवात्तिकम्

समस्तलक्षणोपपत्तिः, असमस्तलक्षणोपपत्तिक्च । कः पुनरस्य सूत्रस्यार्थः ? विभागो-देशो नियमार्थं इत्युक्तम् । कि पुनरनेन विभागोद्देशेन नियन्तव्यम् ? अनेक्ष्या प्रसृतस्य हेतुहे वाभासस्य विस्तरः संक्षेप्तव्य इति ।

कियता पुत्रभेंदेनायं हेतुहेत्वाभासः प्रसृत इति ? कालपुरुषवस्तुभेदानुविधानेन अपित्संख्येयः । सामान्यतः साध्यवस्तूपग्रहेण हेतुहेत्वाभासभेवः प्रपञ्चधमानः षट्सप्तिशतम् । तत्र साध्यव्यापकधर्मभेदः षोडशधा । साध्यैकदेशवृत्तिधर्मोप्येवम् । एवं साध्यावृत्तिधर्मभेदे इति । विशेषणविशेष्यासिद्धिभेदात् चतुःषष्टिः । एवं समर्थासमर्थविशेषणविशेष्यभेदादिति ।

लक्षणों से युक्त न होना। (प्रश्न) फिर इस सूत्र का क्या प्रयोजन (अर्थ) है? (उत्तर) विभागपूर्वक कथन नियम के लिये होता है, यह कहा जा चुका है। (प्रश्न) किन्तु इस विभागपूर्वक कथन से क्या नियम करना है? (उत्तर) अनेक प्रकार से फैले हुए हेतु तथा हैत्वाभास के विस्तार को संक्षिप्त करना है।

(प्रश्न) किन्तु कितने भेदों से यह हेतु तथा हेत्वाभास फैला हुआ है ? (उत्तर) काल, पुरुष और वस्तु के भेदों का अनुसरण करने से यह असंख्य है। सामान्यतः साध्यवस्तु के ग्रहण से हेतु तथा हेत्वाभास का भेद प्रपञ्चित किया जाता हुआ एक सौ छिहत्तर (एक सौ + सत्तर + छह) है। उनमें साध्य में व्यापक धर्म के सोलह भेद हैं। साध्य के एकदेश में रहने वाला धर्म भी इसी प्रकार है और इसी प्रकार साध्य में न रहने वाले धर्म के भेद हैं। विशेषणासिद्धि और विशेषणासिद्धि और विशेषण सिद्धि के भेद से चौंसठ (६४) भेद हैं। इसी प्रकार समर्थ विशेषण असमर्थ विशेषण क्समर्थ विशेषण क्समर्थ विशेषण तथा समर्थ विशेषण असमर्थ विशेषण के भेद से भी (१६+१६+६४+६४)।

नियमार्थ: — हेतु तथा हेत्वाभास के असंस्य प्रकार हो सकते हैं। यहाँ यह नियम दिखलाया पया है कि सभी हेत्वाभास पाँच वर्गों में रक्खे जा सकते हैं।

साध्यवस्तूपग्रहेण — साध्य वस्तु की दृष्टि से हेतु तथा हेत्वाभास के एक सी छिहत्तर (१७६) भेद हैं।

साध्यवयापक धर्मभेद: — साध्य में सर्वत रहने वाला धर्म सोलह (१६) प्रकार का हो सकता है। इसी प्रकार साध्य के एकदेश में रहने वाला धर्म तथा साध्य में न रहने वाला धर्म भी सोलह-सोलह प्रकार के होते हैं।

विशेषणविशेष्यासिद्धिभेदात् — चोंसठ (६४) प्रकार के होते हैं। यहाँ 'असिद्धि' शब्द का प्रत्येक से अन्वय है विशेषणासिद्धि और विशेष्यासिद्धि के भेद से।

समर्थासमर्थं - यहाँ समर्थं और असमर्थं शब्द का विशेषण तथा विशेष्य दोनों शब्दों से अन्वय हैं; समर्थविशेषण - असमर्थविशेषण और समर्थविशेष्य - असमर्थविशेष्य के भेद से भी चौंसठ प्रकार होते हैं। 2.2.8]

[3=3

न्यायवात्तिकम्

तत्र साध्यव्यापकधर्मभेवानां षोडशानामुदाहरणानि । (तत्र)

१. साध्यतज्जातीयान्यस्यापकः, प्रमेयत्वान्नित्योऽनित्यो वेति ।

२. साध्यतज्जातीयव्यापको विपक्षकदेशवृत्तः, गौरयं विवाणित्वात् ।

३. साध्यतज्जातीयव्यापको विपक्षावृत्तिः, अनित्यः शब्द उत्पत्तिधर्मकत्वात् ।

४. साध्यव्यापकस्तज्जातीयावृत्तिविषकव्यापका, नित्यः शब्द उत्पत्तिधर्मकत्वात्।

प्र. साध्यव्यापकस्तज्जातीयावृत्तिविपक्षैकदेशवृत्तिः, नित्यः शब्दः सामान्य-विशेषवतोऽस्मदादिबाह्यकरणप्रत्यक्षत्वाद् द्वचणुकवत् ।

६. साध्यव्यापकस्तज्जातीयविपक्षावृत्तिर्यंथा नित्यः शब्वः सामान्यविशेष-वत्वे सति श्रावणत्वात् घटादिवत् ।

७. साध्यव्यापकस्तज्जातीयकवेशवृत्तिविपक्षव्यापकदच, अगीरयं विषाणित्वात्।

द साध्यव्यापकस्तज्जातीयविषक्षेकवेशवृत्तिः, नित्यः शब्दोऽस्पर्शत्वात् ।

उनमें सोलह (१६) साध्य-व्यापक धर्म के भेदों के उदाहरण हैं :--

- १. साध्य (पक्ष) और उसके जाति वाले (सपक्ष) तथा विपक्ष (अन्य) का व्यापक; जैसे प्रमेय होने से नित्य है या अनित्य है।
- २. पक्ष और सपक्ष में व्यापक तथा विपक्ष के एकदेश में रहने वाला—जरें 'यह गौ है सींगवाली होने से।
- ३. पक्ष, सपक्ष में व्यापक तथा विपक्ष में न रहने वाला; जैसे शब्द अनित्य है, उत्पत्ति धर्म वाला होने से ।
- ४. पक्ष में व्यापक, सपक्ष में न रहने वाला तथा विपक्ष में व्यापक; जैसे शब्द नित्य है उत्पत्ति धर्म वाला होने से।
- प्र. पक्ष में ब्यापक, सपक्ष में न रहने वाला तथा विपक्ष के एकदेश में रहने वाला; जैसे शब्द नित्य है, (शब्दत्व) सामान्य (गत्व आदि) विशेष वाला होकर हमारी बाह्य इन्द्रियों (श्रोत्र) द्वारा प्रत्यक्ष होने से द्वचणुक के समान।
- ६. पक्ष में व्यापक, सपक्ष एवं विपक्ष में न रहने वाला; जैसे शब्द नित्य है, सामान्य विशेष वाला होकर श्रोत्र का विषय होने से घट आदि के समान।
- ७. पक्ष में व्यापक, सपक्ष के एकदेश में रहने वाला और विपक्ष का व्यापक; जैसे यह (महिप आदि) गोभिन्न है, सींग वाला होने से।
- द्र, पक्ष में व्यापक, सपक्ष एवं विपक्ष के एकदेश में रहने वाला, जैसे शब्द नित्य है स्पर्श रहित होने से

तत्र साध्यव्यापकधर्मभेदानाम् — जो धर्म साध्य के व्यापक हैं, साध्य में सर्वेत्र रहते हैं जैसे 'आत्मा नित्यः प्रयेयत्वात्' यहाँ साध्य (पक्ष) है आत्मा, प्रमेयत्व हेतु है जो सभी पक्षों में रहता है सभी आत्मा प्रमेय हैं। आत्मा प्रमेय हैं। आत्मा के सपक्ष हैं आत्मा से भिन्न नित्य पदार्थ आकाश आदि उनमें भी प्रमेयत्व है। विपक्ष हैं अनित्य घट आदि उन सब में भी 'प्रमेयत्व' हेतु व्यापक रूप

इन उदाहरणों में प्रथम, द्वितीय साध।रण हेत्वाभास हैं। प्रथम विपक्ष का व्यापक है द्वितीय विपक्ष का व्यापक नहीं। वहाँ विपक्ष हैं महिषी अश्व आदि उनमें महिषी के सींग होते हैं अश्व के नहीं। तृतीय अन्वयव्यतिरेकी हेतु हैं। चतुर्ष पञ्चम निरुद्ध हेत्वाभास हैं, चतुर्य तो विपक्ष में घ्यापक हैं, पञ्चम विपक्ष के एकदेश में रहता है। यहाँ विपक्ष है अनित्य वस्तु, उनमें घट आदि हमारी बाह्य इन्द्रिय से

[हेत्वाभासाः

न्यायवात्तिकम्

- साध्यव्यापकस्तज्जातीयैकदेशवृत्तिविपक्षावृत्तिः, अनित्यः शब्दः सामान्यविशेषः वतोऽस्मदादिबाह्यकरणप्रत्यक्षत्वात् । सामान्यविशेषवत इति सामान्यविशेषसम्वायानां निराकरणम् । अस्मदादिप्रत्यक्षत्वादिति परमाणूनाम् । बाह्यकरण-प्रत्यक्षत्वादित्यात्मनः ।
- १०. साध्यतज्जातीयव्यापकोऽविद्यमानविषक्षः; सिद्धान्तभेवाश्रयणेन एकान्तवादिनः, अनित्यः शब्द उत्पत्तिधर्मकत्वात् ।
- ११. साध्यव्यापकस्तज्जातीयैकवेशवृत्तिरविद्यमानविपक्षः, अनित्यः शब्दो बाह्येश्विय-प्रत्यक्षत्वात् ।
- १२. साध्यव्यापकस्तज्जातीयावृत्तिरविद्यमानविषक्षः, अनित्यः शब्दः श्रावणत्वात् ।
- १३. साध्यव्यापकोऽविद्यमानसजातीयो विवक्षव्यापकः, नित्यः शब्दः उत्पत्तिधर्मकत्वात्।
 - १. पक्ष में व्यापक, सपक्ष के एकदेश में रहने वाला, विपक्ष में न रहने वाला; जैसे शब्द अनित्य है, सामान्य विशेष से युक्त होने पर हमारी बाह्य इन्द्रिय से प्रत्यक्ष होने से। सामान्य विशेष वाले का, इससे सामान्य, विशेष तथा समवाय का निराकरण होता है। हमारे द्वारा प्रत्यक्ष होने से, इससे परमाणुओं का निराकरण हो जाता है। बाह्य इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष होने से, इस (कथन) से आत्मा की व्यावृत्ति (निराकरण) होती है।
- १०. पक्ष, सपक्ष का व्यापक किन्तु जिसका विपक्ष न हो; जैसे सिद्धान्त-भेद का आश्रय लेकर एकान्तवादी का शब्द अनित्य है उत्पत्ति धर्म वाला होने से।
- ११. पक्ष का व्यापक, सपक्ष के एकदेश में रहने बाला तथा जिसका विपक्ष न हो; जैसे शब्द अनित्य है बाह्य इन्द्रिय से प्रत्यक्ष होने के कारण।
- १२. पक्ष का ब्यापक, सपक्ष में न रहने वाला तथा जिसका विपक्ष न हो; जैसे शब्द अनित्य है श्रोत्र का विषय होने से।
- १३. पक्ष का व्यापक, जिसका सपक्ष न हो तथा विपक्ष का व्यापक; जैसे शब्द नित्य है, उत्पत्ति धर्म वाला होने से।

प्राह्य हैं, किन्तु इयणुक नहीं, विपक्ष में एकदेशवृत्ति दिखलाने के लिये ही 'द्वयणुकवत्' यह कहा गया है। पष्ठ असाधारण हेत्वाभास है जो सपक्ष (नित्यों) में तथा विपक्ष (अनित्यों) में नहीं रहता। सप्तम, अष्टम तो साधारण हेत्वाभास है। इनमें सप्तम विपक्ष का व्यापक है यहाँ किसी 'भैस' इत्यादि को पक्ष किया गया हैअतः यह हेतु पक्ष का व्यापक है। सपक्ष हैं भेड़, बकरी, अथ्व आदि उनके एकदेश में विपाणित्व रहता है, विपक्ष है गी, उसका यह व्यापक है। और अष्टम विपक्ष का अव्यापक है। नवम तो सपक्ष के एकदेश में रहने वाला अन्वय-व्यतिरेकी हेतु है। दशम तथा एकादश अन्वयी हेतु हैं, इनमें दशम सपक्ष का व्यापक है और एकादश सपक्ष के एकदेश में रहता है।

सिद्धान्त भेदाश्ययेण — जो सभी को अनित्य मानता है (सर्वानित्यवादी) उस एकान्तवादी के मत में सिद्धान्त-भेद का आश्रय लेकर ही केवल शब्द की अनित्यता कही जा सकती है। यहाँ विपक्ष नित्य हैं जो उसके मत में है ही नहीं। यही एकादश एवं द्वादश में भी है। इसलिये ये दोनों उसके अनुसार अन्वयी हेत् हैं।

हादश असाधारण हेत्वाभास है। यहां विपक्ष नित्य होगा जो सर्वानित्यवादी के मत में है ही नहीं। वयोदश में विरुद्ध हेत्वाभास है, यहां सपक्ष नहीं, सपक्ष होगा नित्य, जो सर्वानित्यवादी के मत में हंभव नहीं। यहाँ हेतु विपक्ष में व्यापक हैं। सभी अनित्य उत्पत्ति धर्म वाले होते हैं। 2.2.8]

ि इट्र

न्यायवात्तिकम्

- १४. साध्यव्यापकोऽविद्यमानसजातीयो विपक्षंकदेशवृत्तिः, नित्यः शब्दो बाह्ये न्द्रिय-प्रत्यक्षत्वात् ।
- १५. साध्यव्यापकोऽविद्यमानसजातीयो विपक्षावृत्तिः, नेवं निरात्मकं जीवच्छरीरम् अनिन्द्रियाधिष्ठानत्वप्रसङ्गात् ।
- १६. पक्षव्यापकोऽविद्यमानसपक्षविपक्षः, सर्वं नित्यं प्रमेयत्वात् ।

ते एते पक्षव्यापकाः षोडश । एषां पञ्च हेतवः । शेषाः हेत्वाभासाः । तत्रा-न्वयव्यतिरेकिणौ द्वौ विपक्षावृत्ती तृतीयनवभौ । एकान्तवादिनोऽन्वियनावेव दशमे-कादशौ । व्यतिरेकि पञ्चदश इति ।

- १४. पक्ष का व्यापक, जिसका सपक्ष न हो तथा विपक्ष के एकदेश में रहने वाला; जैसे शब्द नित्य है वाह्य इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष होने से।
- १५. पक्ष का ब्यापक, जिसका सपक्ष नहीं तथा विपक्ष में न रहने वाला; जैसे यह जीवित शरीर आत्मा-रिह्त नहीं, इन्द्रियों का अधिष्ठान न होने का प्रसङ्ग होने से।
- १६. पक्ष का व्यापक, जिसका सपक्ष और विषक्ष विद्यमान नहीं, जैसे सब नित्य है प्रमेय होने से ।

ये वे सीलह (१६) पक्ष के व्यापक हैं। इनमें पाँच हेतु हैं, शेष हेत्वाभास हैं। उनमें तृतीय और नवम दो (तो) विषक्ष में न रहने वाले अन्वयव्यतिरेकी हैं। एकान्तवादी के (मत में) दशम तथा एकादश अन्वयी ही हैं। पञ्चदश (पन्द्रहवां) व्यतिरेकी (हेतु) है।

चतुर्दश में भी विरुद्ध हेत्वाभास है यहाँ भी सर्वानित्यवादी के मत में सपक्ष नहीं है। यहाँ विपक्ष होगा अनित्य जिनमें घट आदि का बाह्य इन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है द्वचणुक का नहीं। अतः यह हेतु विपक्ष के एकदेश में रहता है।

प्रज्वदश तो व्यितरिकी हेतु ही है। यहाँ जीवित शरीर की सात्मकता सिद्ध करनी है अत: 'सात्मक' वस्तु सपक्ष होगी, वह जीवित शरीरों के अतिरिक्त हैं नहीं, अत: यह हेतु 'अविद्यमानसपक्षः' है। विपक्ष हैं आत्मा रहित घट आदि जनमें यह हेतु नहीं रहता। पोडश असाधारण हेत्वाभास है जिसमें सपक्ष तथा विपक्ष विद्यमान नहीं। जब सभी (पक्ष) नित्य हैं तो सपक्ष (नित्य) कहाँ होगा और विपक्ष होता अनित्य, जब सभी नित्य हैं तो अनित्य कहाँ। अत: यह हेतु केवल पक्ष में है इसीलिये, असाधारण हेत्वाभास है।

पञ्च हेतव:—इन सोलह पक्ष के व्यापकों में पाँच (३, ६, १०, ११, १५) हेतु हैं।
एकान्तवादिन: — जो 'सर्वमनित्यम्' कहता है उसके मत में (१०, ११)। यह सबको अनित्य
कहने के कारण ही एकान्तवादी है। वस्तुत: कुछ पदार्थ नित्य हैं कुछ बनित्य।

[हेत्वाभासाः

न्यायवात्तिकम्

जय साध्यैकवेशवृत्तयः,

- १. साध्येकवेशवृत्तिस्तज्जातीयविषक्षव्यापकः, पृथिव्यप्तेजीवाव्यवाकाशानि, अनिक त्यानि, अगन्धवत्त्वात् ।
- २. साध्येकदेशवृत्तिस्तज्जातीयव्यापको विपक्षेकदेशवृत्तिश्च, सामान्यविशेषवदस्म-दादिबाह्यकरणप्रत्यक्षे वाङ्मनसे अनित्यत्वात् ।
- ३. साध्यैकवेशवृत्तिस्तज्जातीयव्यापको विषक्षावृत्तिः, अनित्ये वाङ्यनसे उत्पत्ति-धर्मकत्वात्।
- ४ साध्येकवेशवृत्तिस्तज्जातीयावृत्तिविपक्षव्यापकः, नित्ये वाङ्मनसे उत्पत्तिधमं-कत्वात्।
- प्र. साध्येकवेशवृत्तिस्तज्जातीयावृत्तिविपक्षैकवेशवृत्तिः, सामान्यविशेषवव्अस्मदादिः बाह्यकरणप्रत्यक्षे वाङ्मनसे नित्यत्वात् ।

अब साध्य (पक्ष) के एकदेश में रहने वाले हैं-

- १. पक्ष के एकदेश में रहने वाला, उसके सजातीय (सपक्ष) तथा विपक्ष का व्यापक; जैसे पृथिवी, तेज, वायु और आकाश अनित्य हैं, गन्धवाले न होने से।
- २. पक्ष के एकदेश में रहने वाला, सपक्ष का व्यापक तथा विपक्ष के एकदेश में रहने वाला; जैसे वाणी और मन सामान्य विशेषवाले होते हुए हमारी बाह्य इन्द्रियों से प्रत्यक्ष हैं, अनित्य होने से ।
- पक्ष के एकदेश में रहने वाला, सपक्ष का व्यापक तथा विपक्ष में न रहने वाला;
 जैसे वाणी और मन अनित्य हैं, उत्पत्ति धर्म वाले होने से।
- ४. पक्ष के एकदेश में रहने वाला, सपक्ष में न रहने वाला तथा विपक्ष का व्यापक; जैसे वाणी और मन नित्य हैं उत्पत्तिधर्म वाले होने से।
- ५. पक्ष के एकदेश में रहने वाला, सपक्ष में न रहने वाला, विपक्ष के एकदेश में रहने वाला; जैसे वाणी और मन सामान्यविशेष वाले होते हुए हमारी बाह्य इन्द्रियों से प्रत्यक्ष हैं, नित्य होने से।

साध्येकदेशवृत्तय: -- जो सवंत्र पक्ष में नहीं रहते किन्तु पक्ष के एकदेश में रहते हैं ऐसे सोलह हैं।

9 में 'अगन्धवत्त्वात्' हेतु है जो पक्ष (पृथिवी आदि) के एकदेश में रहता है, सपक्ष (अनित्य) में तथा विपक्ष (नित्य) में सर्वत्न रहता है। २ में 'अनित्यत्वात्' हेतु है जो पक्ष के एकदेश (बाक्) में रहता है, सपक्ष (सामान्यविशेष वाले वाह्य न्वियप्रत्यक्ष) का व्यापक है और विपक्ष के एकदेश (घट आदि) में रहता है। यहाँ यदि सामान्यविशेषवत् विशेषण न होता तो यह सपक्ष का व्यापक न होता; क्योंकि न्या वै० के मत में सामान्य भी प्रत्यक्ष है किन्तु वह सामान्यविशेष वाली नहीं। ३ में हेतु है 'उत्पत्तिधमंकत्वात्'। वह पक्ष के एकदेश (वाक्) में रहता है, सपक्ष (अनित्य) में सर्वत्न विद्यमान है, विपक्ष (नित्य) में नहीं रहता। ४ में भी 'उत्पत्तिधमंकत्वात्' हेतु है जो पक्ष के एकदेश (वाक्) में रहता है, सपक्ष (नित्य) में नहीं रहता, विपक्ष (अनित्यों) में सर्वत्न रहता है । ४ में 'नित्यत्वात्' हेतु है जो पक्ष के एकदेश (मन) में रहता है, सपक्ष (सामान्य ...प्रत्यक्षे) में नहीं और विपक्ष के एकदेश (सामान्य) में रहता है।

8.2.8]

1 350

न्यायवात्तिकम

- ६. साध्यैकवेशवृत्तिस्तज्ञातीयविपक्षावृत्तिः, अनित्यः शब्दो विमागजविभागासम-वायिकारणकत्वात् ।
- ७. साध्यतज्ञातीयैकदेशवृत्तिविवक्षव्यापकः, अनित्याः परमाणवोऽगन्धवत्वात् ।
- द. साध्यतज्जातीयविषक्षैकदेशवृत्तिः अनित्ये वाङ्मनसे अमूर्तत्वात् ।
- साध्यतज्जातीयैकदेशवृत्तिविपक्षावृत्तिः, अनित्ये वाङ्मनसे सामान्यविशेषवतो-ऽस्मावादिबाह्यकरणप्रत्यक्षत्वात् ।
- २०. साध्येकदेशवृत्तिस्तज्जातीयव्यापकोऽविद्यमानविपक्षः सिद्धान्तभेदाश्रयणेन, अनित्ये रूपविज्ञाने अमूर्तदवाद् वेदनादिवत् ।
- ११. साध्यतज्जातीर्यंकदेशवृत्तिरविद्यमानविपक्षः, अनित्ये चक्षुविज्ञाने अमूतंत्वात् रूपादिवत् ।
 - ६. पक्ष के एकदेश में रहने वाला, सपक्ष में तथा विपक्ष में न रहने वाला; जैसे शब्द अनित्य है, विभागजविभाग उसका असमवायी कारण होने से।
 - ७. पक्ष एवं सपक्ष के एकदेश में रहने वाला, विपक्ष का व्यापक; जैसे परमाणु अतित्य हैं, गन्ध-रहित होने से ।
 - पक्ष, सपक्ष तथा विपक्ष के एकदेश में रहने वाला; जैसे वाणी और मन अनित्य हैं, अमूर्त होने से ।
 - ९. पक्ष एवं सपक्ष के एकदेश में रहने वाला तथा विपक्ष में न रहने वाला; जैसे वाणी और मन अनित्य है, सामान्यविशेष वालों का हमारी बाह्य इन्द्रिय से प्रत्यक्ष होने के कारण।
- १०. पक्ष के एकदेश में रहने वाला, सपक्ष का व्यापक तथा जिसका विपक्ष विद्यमान न हो; जैसे, सिद्धान्त के भेद का अध्यय लेकर, रूप तथा विज्ञान अनित्य हैं, अमूर्त होने से वेदना आदि के समान।
- ११. पक्ष तथा सपक्ष के एकदेश में रहने वाला तथा जिसका विपक्ष विद्यमान न हो; जैसे नेत्र और विज्ञान अनित्य हैं, अमूर्त होने से, रूप आदि के समान।

६ में जो हेतु है वह पक्ष के एकदेश (कुछ शब्दों) में है, सपक्ष (अनित्यों) में नहीं और विपक्ष (नित्य) में भी नहीं। ७ में 'अगन्धवत्त्वात्' हेतु है जो पक्ष के एकदेश (पार्धिव परमाणु से भिन्न) में रहता है, सपक्ष के एकदेश (अनित्य, जल आदि) में है, सभी विपक्षों (नित्यों) में है। = में अमूर्तत्वात् हेतु है जो पक्ष के एकदेश (वाक्) में है, सपक्ष के एकदेश (वेदना आदि) में है, विपक्ष के एकदेश (नित्य आकाश आदि) में है। ६ में हेतु (सामान्य ... प्रत्यक्षत्वात्) पक्ष के एकदेश (वाक्) में है, सपक्ष (अनित्य) के एकदेश (घट आदि) में है, विपक्ष (नित्य) में नहीं। १० में 'अमूर्तवात्' हेतु पक्ष के एकदेश (विज्ञान) में है, सपक्ष (अनित्य जो वेदना, संज्ञा, संस्कार स्कन्ध) का व्यापक है; किन्तु विपक्ष (नित्य) में विद्यमान नहीं। १९ में 'अमूर्तत्वात्' हेतु है जो पक्ष के एकदेश (विज्ञान) में है, सपक्ष (अनित्य) के एकदेश (शब्द आदि) में है, विपक्ष (नित्य) कुछ है ही नहीं।

सिद्धान्तभेवाश्रयणेन --- सिद्धान्तभेद का आश्रय लेकर जो सभी को अनित्य मानता है वह किसी

एक दो को अनित्य कहे, यही सिद्धान्त-भेद का आश्रयण है।

[हेत्वाभासाः

न्यायवात्तिकम्

- १२. साध्यैकदेशवृत्तिस्तज्जातीयावृत्तिरविद्यमानविपक्षः, अनित्ये वाङ्मनसे श्रावण-त्वात् ।
- १३. साध्यैकदेशवृत्तिरविद्यमानसजातिर्विपक्षव्यापकः, नित्ये वाङ्मनसे उत्पत्तिधर्मक-त्वात्।
- १४. साध्येकवेशवृत्तिरविद्यमानसजातिविपक्षैकवेशवृत्तिः, नित्ये चक्षुविज्ञाने अमूर्तत्वात्।
- १५. साध्येकवेशवृत्तिरविद्यमानसजातिविपक्षावृत्तिः, नेवं निरात्मकं शरीरम् अनिन्द्रि-याधिष्ठानत्वप्रसङ्गात् ।
- १६. साध्येकदेशवृत्तिरविद्यमानसपक्षविपक्षः, सर्वमनित्यं मूर्तत्वाविति । एते च साध्येकदेशवृत्तयः षोष्ठश यथोक्ताः सर्वे हेत्वाभासाः ।
- १२. पक्ष के एकदेश में रहने वाला, सपक्ष में न रहने वाला तथा जिसका विपक्ष विद्यमान नहीं; जैसे वाणी और मन अनित्य हैं, श्रोत्र का विषय होने से।
- १३. पक्ष के एकदेश में रहने वाला, जिसका सपक्ष (सजाति) विद्यमान नहीं, तथा जो विपक्ष में व्यापक है; जैसे वाणी और मन नित्य हैं उत्पत्ति धर्म वाले होने से।
- १४. पक्ष के एकदेश में रहने वाला, जिसका सपक्ष विद्यमान नहीं, तथा जो विपक्ष के एकदेश में रहने वाला है; जैसे नेत्र और विज्ञान नित्य हैं, अमूर्त होने से।
- १५. पक्ष के एक देश में रहने वाला, जिसका सपक्ष विद्यमान नहीं, जो विपक्ष में नहीं रहता; जैसे यह (जीवित) शरीर आत्मा-रहित नहीं, इन्द्रियों का अधिष्ठान न होने का प्रसंग होने से ।
- १६. पक्ष के एकदेश में रहने वाला, जिसके सपक्ष और विषक्ष विद्यमान नहीं; जैसे सब अनित्य है मूर्त होने से।

और ये पक्ष के एकदेश में रहने वाले सोलह (१६) जैसा कि कहा गया है सभी हैत्वाभास हैं।

⁹२ में 'श्रावणत्वात्' हेतु है जो पक्ष के एकदेश (वाक्) में है, सपक्ष (अितत्यों) में नहीं है, इसका विपक्ष (नित्य) अविद्यमान है। यह भी सर्वानित्यवादी का मत है। १३ में 'उत्पत्तिधर्मकत्वात्' हेतु पक्ष के एकदेश (वाक्) में है, सपक्ष (नित्य) विद्यमान नहीं (वयोंकि यह सर्वानित्यवादी है), विपक्ष (अितत्य) का त्र्यापक है। १४ में 'अमूर्तवात्' हेतु पक्ष के एकदेश (विज्ञान) में है, इसका सपक्ष (नित्य) नहीं (यह सर्वानित्यवादी है), विपक्ष (अिनत्य) के एकदेश (विद्या आदि) में है सभी अनित्यों (घट आदि) में नहीं। १६ में हेसु पक्ष के एकदेश (जीवित शरीर) में है, इसका सपक्ष (सौत्मक) नहीं (सभी के पक्ष होने से), विपक्ष (निरात्मक) में यह नहीं रहता। १६ में 'मूर्तवात्' हेतु पक्ष के एकदेश में है । सभी अनित्य हैं तो सपक्ष कहाँ और विपक्ष (नित्य) भी नहीं। ये सोलह हैंत्वाभास ही होते हैं हेतु नहीं।

न्यायवात्तिक म्

अथ साध्यावृत्तयः,

- १. साध्यायृत्तिस्तज्जातीयविषक्षव्यापकः, अनित्या पृथिवी अगन्धवत्त्वात् ।
- २. साध्यावृत्तिस्तज्जातीयव्यापको विवक्षे कदेशवृत्तिश्च, अनित्य: शब्द: अश्रावणस्वात्।
- ३. साध्यावृत्तिस्तज्जातीयव्यापको विपक्षावृत्तिः, अर्थः शब्दः अश्रोत्रग्राह्यसामान्यव-त्त्वात् ।
- ४. साध्यतज्जातीयावृत्तिवियक्षव्यापकः, अयंः शब्दः असामान्यवत्त्वात् ।
- ५. साध्यतज्जातीयावृत्तिविवक्षेकवेशवृत्तिश्च, कारणवान् शब्दोऽनर्यंत्वात् ।

अब पक्ष में न रहने वाले हैं-

- पक्ष में न रहने वाला, सपक्ष और विषक्ष का व्यापक; जैसे पृथिवी अनित्य है, गन्धरहित होने से।
- २. पक्ष में न रहने वाला, सपक्ष का व्यापक, विपक्ष के एकदेश में रहने वाला, जैसे शब्द अनित्य है, श्रोत्र का विषय न होने से ।
- ३. पक्ष में न रहने वाला, सपक्ष का व्यापक, विपक्ष में न रहने वाला, जैसे शब्द अर्थ (द्रव्य, गुण, कर्म में से अन्यतम) है, श्रोत्र से न ग्रहण करने योग्य तथा सामान्य वाला होने से ।
- ४. पक्ष तया सपक्ष में न रहने वाला, विपक्ष का व्यापक; जैसे शब्द अर्थ है, सामान्यरहित होने से
- ५ पक्ष तथा सपक्ष में न रहने वाला, विपक्ष के एकदेश में रहने वाला; जैसे शब्द कारण वाला है, अर्थ न होने से।

१ में अगन्धवत्वात् हेतु पक्ष (पृथिवी) में नहीं है, सपक्ष (अनित्य) जो जल आदि है उनमें सबंत रहता है, विपक्ष (नित्य) जो आकाश आदि है उनका भी व्यापक है। २ में 'अश्रावणत्वात्' हेतु पक्ष (शब्द) में नहीं, सपक्ष (अनित्य) में सबंत रहता है, विपक्ष के एकदेश (नित्य, शब्दत्व) में रहता है। ३ में हेतु है अश्रोत्न इत्यादि, जिसका विग्रह है 'अश्रोत्नग्राह्य च तत् सामान्यवच्च', टी० ६३८, यदि यहाँ 'अश्रोत्नग्राह्यत्वात्' इतना ही कहा जाता तो सामान्य आदि जो विपक्ष हैं उनमें भी हेतु चला जाता (इ० टी० ६३८), अब यह हेतु पक्ष (अयं) में नहीं, सपक्ष (वै० शास्त्र में अयं शब्द के वाच्य द्रव्य, गुण, कर्म, 'हैं; अयं: इति साध्यो धमं:, द्रव्यगुणकर्मणामन्यतमः, टी० ६३८) का व्यापक है, वे सभी श्रोत्नग्राह्य नहीं होते; विपक्ष (अन्यं, सामान्य आदि) में 'सामान्यवत्' नहीं अतः यह हेतु उनमें नहीं रहता। ४ में असामान्यवत्वात् हेतु है, यह पक्ष (शब्द) में नहीं, सपक्ष (अर्थ शब्द के वाच्य द्रव्य, गुण कर्म) में नहीं, द्रव्य आदि सब 'सामान्यवत्' होते हैं, विपक्ष हैं अर्थ-भिन्न सामान्य आदि उनमें यह हेतु सवंत रहता है, व्यापक है। ५ में 'अनयंत्वात्' हेतु है जो पक्ष (शब्द) में नहीं है शब्द तो गुण है अतः अर्थ है, सपक्ष (कारण वाले घट आदि) में अनयंत्वात् नहीं, विपक्ष (कारणरहित) आकाश आदि में नहीं रहता, सामान्य आदि में रहता है अतः एकदेश-वृत्ति है।

[03 €

[हेत्वाभासाः

न्यायवात्तिकम्

- ६. साध्यतज्जातीयविषक्षावृत्तिः, नित्यः शब्दोऽसत्त्वात् ।
- ७. साध्यावृत्तिस्तज्जातीयैकदेशवृत्तिवियक्षव्यापकः, अस्पर्शः शब्दो द्रव्यत्वात् ।
- द. साध्यावृत्तिस्तज्जातीयविपक्षैकवेशवृत्तिः, कारणवान् शब्दो मूर्तत्वात् ।
- ह. साध्यावृत्तिस्तज्जातीयैकवेशवृत्तिविपक्षावृत्तिः, आश्रयवान् शब्दश्चाक्षुषत्वात् औलुक्यपक्षे ।
- १०. साध्यावृत्तिस्तज्जातीयव्यापकोऽविद्यमानविषक्षः सिद्धान्तभेदाश्रयेण अनित्यः शब्दोऽश्रावणत्वात् ।
- ११. साध्यावृत्तिस्तज्जातीयैकदेशवृत्तिरविद्यमानविवक्षः, अनित्यः शब्दो सूर्तत्वात् ।
 - ६. पक्ष, सपक्ष तथा विपक्ष में न रहने वाला; जैसे शब्द नित्य है, सत्तारहित होने से।
 - ७. पक्ष में न रहने वाला, सपक्ष के एकदेश में रहने वाला, विपक्ष का व्यापक; जैसे शब्द स्पर्शरहित है, द्रव्य होने से ।
 - पक्ष में न रहने वाला, सपक्ष तथा विपक्ष के एकदेश में रहने वाला; जैसे शब्द कारण वाला है, मूर्त होने से ।
 - ह. पक्ष में न रहने वाला, सपक्ष के एकदेशा में रहने वाला, विपक्ष में न रहने वाला; जैसे शब्द आश्रय वाला है चाक्षुष होने से, यह औलक्य पक्ष में।
- १०. पक्ष में न रहने वाला, सपक्ष का व्यापक, जिसका विपक्ष नहीं होता, सिद्धान्त-भेद का आश्रय लेकर (सौत्रान्तिक मत में टी०) शब्द अनित्य है श्रोत्र का विषय न होने से।
- ११. पक्ष में न रहने वाला, सपक्ष के एकदेश में रहवे वाला तथा जिसका विपक्ष नहीं होता; जैसे शब्द अनित्य है, मूर्त होने से।

अौलूक्यपक्षे — शङ्का हो सकती है कि चाक्षुषत्व तो समवाय में रहता है जो अनाश्रित है फिर हेतु विपक्षावृत्ति कहाँ रहा ? समाधान है कि वैशेषिक मत में समवाय का प्रत्यक्ष नहीं होता वह अनुमेय है (इ० प्र० पा० समवाय)।

६ में असत्त्वात् हेतु है जो पक्ष (शब्द) में नहीं रहता, सपक्ष (नित्य, आकाश आदि) में नहीं, विपक्ष (अनित्य, घट आदि) में नहीं। ७ में 'द्रव्यत्वात्' हेतु है, जो पक्ष (शब्द) में नहीं, सपक्ष (स्पर्शरहित) के एकदेश (आकाश आदि) में है, विपक्ष (स्पर्शयक्त) में द्रव्यत्वात् हेतु सर्वेत रहता है। ५ में मूर्तेत्वात् हेतु है जो पक्ष (शब्द) में नहीं, सपक्ष (कारणवान्) के एकदेश घट आदि में रहता है, शब्द में नहीं, विपक्ष (कारण रहित) आकाश आदि में नहीं रहता परमाणु में रहता है अतः विपक्षकदेशवृत्ति है। ६ में 'चाक्षुयत्वात्' हेतु है जो पक्ष (शब्द) में नहीं. सपक्ष (आश्रयवान्) के एकदेश घट आदि में है द्वचणुक में नहीं, विपक्ष (आश्रयरहित) समवाय में नहीं।

2.2.8.]

\$3€]

न्यायवात्तिकम्

- १२. साध्यतज्जातीयावृत्तिरविद्यमानविषक्षः, अनित्यः शब्दोऽसत्त्वात् ।
- १३. साध्यावृत्तिरविद्यमानसपक्षी विवक्षव्यापकः, नित्यः शब्दोऽश्रावणस्वात् ।
- १४. साध्यावृत्तिरविद्यमानसजातिर्विपक्षैकदेशवृत्तिः, नित्यः शब्दो मूर्तत्वात् ।
- १५. साध्यावृत्तिरविद्यमानसजातिर्विपक्षावृत्तिः, नित्यः शब्दोऽसत्त्वात् ।
- १६. साध्यावृत्ति रविद्यमानसपक्षविपक्षः, अनित्यं सर्वमसत्त्वात् । त एते षोडश साध्यावृत्तयो हेत्वामासाः ।
- १२. पक्ष तथा सपक्ष में न रहने वाला, जिसका विपक्ष नहीं होता; जैसे (?) शब्द अनित्य है असत् होने से।

 पक्ष में न रहने वाला, जिसका सपक्ष विद्यमान नहीं, विपक्ष का व्यापक; जैसे शब्द नित्य है श्रोत्र का विषय न होने से।

१४. पक्ष में न रहने वाला, जिसका सपक्ष विद्यमान नहीं, विपक्ष के एकदेश में रहने वाला, जैसे शब्द नित्य है मूर्त होने से ।

१५. पक्ष में न रहने वाला, जिसका सपक्ष विद्यमान नहीं, विपक्ष में नहीं रहता; जैसे शब्द नित्य है असत् होने से।

१६. पक्ष में न रहने नाला, जिसका सपक्ष तथा विपक्ष विद्यमान नहीं; जैसे सब अनित्य है असत् होने से।

वे ये सोलह (१६) पक्ष में न रहने वाले हेत्वाभास हैं।

१० में 'अश्रावणत्वात्' हेतु है जो पक्ष (शब्द) में नहीं, सपक्ष (अनित्य) में सर्वत्न है, इसका विपक्ष (नित्य) विद्यमान नहीं; क्योंकि उनके मत में नित्य कुछ नहीं।

सिद्धान्तभेदाश्रयेण — जो सभी को अनित्य मानता है उसके यहाँ किसी एक की अनित्यता सिद्ध करना सिद्धान्तभेद का आश्रयण है यह सौब्रान्तिक का मत है, सिद्धान्तभेद इति सौब्रान्तिकानाम् इत्ययं:, टी॰ ६३८। १० –१६ में यही है। ११ में मूर्त त्वात् हेतु है जो पक्ष (शब्द) में नहीं, सपक्ष (अनित्य) के एकदेश घट आदि में है विज्ञान में नहीं; अतः एकदेशवृत्ति है। विपक्ष (नित्य) में विद्यमान नहीं है।

१२ में हेतु है 'असत्त्वात्' जो पक्ष (शब्द) में नहीं, सपक्ष (अनित्य) घट आहि में नहीं है, विपक्ष (नित्य) विद्यमान नहीं है। १३ में 'अश्रावणत्वात्' हेतु हैं जो पक्ष (शब्द) में नहीं, सपक्ष (नित्य) विद्यमान ही नहीं, विपक्ष (अनित्य) में सर्वेत रहता है। १४ में 'मूतंत्वात्' हेतु है जो पक्ष (शब्द) में नहीं, इसका सपक्ष (नित्य) विद्यमान नहीं, विपक्ष (अनित्य) के एकदेश घट आदि में मूतंत्व है किन्तु विज्ञान में नहीं। १५ में 'असत्त्वात्' हेतु है जो पक्ष (शब्द) में नहीं रहता, सपक्ष (नित्य) विद्यमान ही नहीं है, विपक्ष (अनित्य) घट आदि में असत्व नहीं रहता। १६ में 'असत्त्वात्' हेतु है जो पक्ष (सर्व) में नहीं रहता, सपक्ष (अनित्य) जव 'सर्व' ही पक्ष है तो सपक्ष कहाँ रहा) विद्यमान नहीं, विपक्ष (नित्य) विद्यमान नहीं।

त एते...हेत्वाभासा:- ये सोलह पक्षा में रहते वाले हेत्वाभास होते हैं इतमें कोई हेतु नहीं हो

सकता।

₹ ₹ 3

[हेत्वाभासाः

न्यायवात्तिकम्

विशेषणविशेष्यासिद्धिभेदात् चतुःषिटिर्भेदा भवन्तीत्युक्तम् । तत् कथम् ? व्यापकाच्यापकविशेषणयोगात्—ये साध्यव्यापकाः षोडशः, ये च पक्षेकदेशः वृत्तपस्त एते विशेषणविशेष्यासिद्धिभेदेन चतुःषष्टिर्भवन्तीति ।

तत्र व्यापकानां तावदुदाहरणानि । अनित्यः शब्दोऽनिभिधेयत्वे सित प्रमेयत्वात् इति विशेषणासिद्धः । प्रमेयत्वे सत्यनिभिधेयत्वादिति विशेष्यासिद्धः । एव सर्वेष् साध्यव्यापकेषु विशेषणविशेष्यासिद्धिभेदो वक्तव्यः । तान्येव चोदाहरणानि । साध्येकदेशवृत्तीनां तूदाहरणम्, पृथिव्यप्तेजोबाय्वाकाशान्यनित्यानि अनिभिधेयत्वे सति अगन्धवत्त्वात्, विशेषणासिद्धः । अगन्धवत्त्वे सत्यनिभधेयत्वादिति विशेष्यासिद्धः ।

विशेषण तथा विशेष्य की असिद्धि के भेद से चौंसठ (६४) भेद होते हैं, यह कहा गया है। कह कैसे ? व्यापक तथा अव्यापक विशेषण के सम्बन्ध से—जो साध्य के व्यापक सोलह (१६) हैं और जो पक्ष के एकदेश में रहने वाले हैं, वे ये विशेषण तथा विशेष्य की असिद्धि के भेद से चौंसठ (६४) हो जाते हैं। उनमें व्यापकों के तो उदाहरण ये हैं—शब्द अनित्य है, अभिधेय न होकर प्रमेय होने से; यह विशेषणासिद्ध है, प्रमेय होकर अभिधेय न होने से, यह विशेष्यासिद्ध है। इसी प्रकार सब साध्य-व्यापकों में विशेषण तथा विशेष्य की असिद्धि के भेद कहना चाहिये और वे ही उदाहरण भी। साध्य के एकदेश में रहने वालों के तो उदाहरण हैं; पृथिवी, जल, तेज, वायु तथा आकाश अनित्य हैं अभिधेय न होकर गन्धरहित होने से, यह विशेषणासिद्ध है। गन्ध रहित होकर अभिधेय न होने से यह विशेष्यासिद्ध है। इसी प्रकार सब साध्य के एकदेश में रहने वालों में होता है। इसी प्रकार सब साध्य के एकदेश में रहने वालों में होता है। इसी प्रकार असमर्थ विशेषण तथा असमर्थ विशेष्य भी चौंसठ (६४) ही समझने चाहियें; जैसे शब्द अनित्य है कृतक होकर प्रमेय होने से, प्रमेय होकर कृतक

विशेषण - यहाँ असि दिभेदात् का विशेषण तथा विशेष्य दोनों से पृथक्-पृथक् सम्बन्ध है, विशेषणासि दिभेदात् तथा विशेष्यासि दिभेदात् ।

चतुः षिढिटः — साध्यव्यापक जो सोलह (१६) भेद ऊपर कहे गये हैं उनमें विशेषणासिद्धि के सोलह (१६) होंगे और विशेष्यासिद्धि के सोलह (१६) मिलकर धत्तीस होंगे। इसी प्रकार साध्य के एकदेश में रहने वाले (साध्य के अव्यापक) जो सोलह भेद हैं उनके भी विशेषणासिद्धि और विशेष्या-सिद्धि से सोलह — सोलह भेद होकर बत्तीस होते हैं, इस प्रकार चौंसठ (६४) भेद हो जाते हैं। 'एवं सर्वेषु साध्यैकदेशवृत्तिषु' तक यह धतलाया गया है।

विशेषणासिद्ध: -- यहाँ विशेषण है 'अनिभिधेयत्वे सति, शब्द अभिधेय नहीं, यह असिद्ध है। विशेष्यासिद्ध: -- यहाँ विशेष्य है 'अनिभिधेयत्वात' जो शब्द में असिद्ध है।

एवम् असमर्थं ... द्रष्टिवया: — जहाँ विशेषण अभीष्ट अर्थं-कथन में समर्थं नहीं होता वह असमर्थं विशेषण है इसी प्रकार असमर्थविशेष्य । अतः असिद्ध तथा असमर्थं में अन्तर है । असमर्थविशेषण तथा विशेष्य के भी चौंसठ (६४) भेद हैं जिनका आगे उदाहरण दिया जा रहा है । 8 3.8]

F387

न्यायवात्तिकम्

एवं सर्वेषु साध्येकवेशवृत्तिषु । एवमसमयंविशेषणासमर्यविशेष्याश्चतुः विध्दरेव द्रव्टव्याः, यथा अनित्यः शब्दः कृतकत्वे सित प्रमेयत्वात्, प्रमेयत्वे सित कृतकत्वादिति । एवं सर्वेषु साध्येकवेशवृत्तिषु । एवं सन्विष्विषणिवशिष्यभेदा अपि द्रव्टव्याः, यथा मयूरशब्वोऽयं षड्जादिमत्त्वे सित अवर्णात्मकत्वे सित षड्जादिमत्त्वात् । त एते उभयपक्षसंप्रतिपन्ना विद्यमानसाध्यधर्मा उदाहृता इति ।

एवमन्यतरासिद्धा इति । व्यापकाव्यापकभेदेन द्वात्रिशकं शतम्।ते च पुनव्यंधि-करणविशेषणविशेष्यसंदिग्धासमर्थविशेषणविशेष्यभेदेन द्वानवतं शतं द्रष्टव्याः । एवम-प्रसिद्धाश्रयोभयान्यतरपक्षाप्रसिद्धचा द्वात्रिशकं शतम् । ते च पुनः पूर्ववदेव द्वानवतं शतम् । यथा 'अग्निमान् वेशो धूमवत्त्वात्; अस्ति चात्मा इच्छादिगुणत्वात् । असमर्था-

होने से। इसी प्रकार सब साध्य के एकदेश में रहने वालों में होता है। इस प्रकार ही सिन्दिग्धविशेषण तथा सिन्दिग्धविशेष्य के भेद भी समझने चाहियें; जैसे यह मयूर का शब्द है पड्ज आदि वाला होकर वर्णात्मक न होने से या वर्णात्मक न होकर पड्ज आदि वाला होने से। वे ये दोनों पक्षों (वादी, प्रतिवादी) द्वारा स्वीकृत साध्य-धर्म होने वालों के उदाहरण दिये गये हैं।

इसी प्रकार किसी एक (वादी या प्रतिवादी) के द्वारा असिद्ध होते हैं। व्यापक तथा अव्यापक के भेद से एक सौ अट्ठाइस (१२८) द्वाभ्याम् ऊना त्रिशद् द्वात्रिश्त्, टी०) होते हैं। और वे फिर व्यधिकरणिवशेषण—विशेष्य, व्यधिकरण-सिन्दिश्वविशेषण—विशेष्य तथा व्यधिकरणअसमर्थविशेषण-विशेष्य के भेद से एक सौ बानवे (१६२) समझने चाहियें। इसी प्रकार अप्रसिद्ध आश्रय वाले (विशेषण-विशेष्य से युक्त), दोनों पक्षों तथा किसी एक पक्ष में असिद्ध होने से एक सौ-अट्ठाइस (१२८) होते हैं। और, वे फिर पहले के समान ही एक सौ बानवे (१६२) होते हैं। और, वे फिर पहले के समान ही एक सौ बानवे (१६२) होते हैं; जैसे अग्निवाला देश है धूम वाला होने से और अत्मा है इच्छा आदि गुण वाला होने से। असमर्थ, अव्यापक तथा असिद्ध विशेषण वालों (असमर्थाश्व

कृतकत्वे सित प्रमेयत्वात् - यह असमर्यविशेष्य का उदाहरण है, यहाँ 'कृतकत्वे सित' यह हेतु में विशेषण दिया गया है। प्रमेयत्वात् (हेतु) विशेष्य है जो शब्द की अनित्यता सिद्ध करने में समयं नहीं।

नहा । प्रमेयत्वे सित कृतकत्वात् — यह असमर्यविशेषण का उदाहरण है । यहाँ 'प्रमेयत्वे सित' विशेषण अनयंक है । विना विशेषण के ही 'कृतकत्व' ही अनित्यत्व को सिद्ध कर सकता है ।

एवं सन्दिग्धविशेषणविशेष्यभेदाः — सन्दिग्धविशेषणविशेष्य के भी इसी प्रकार चौंसठ (६४)

भेद होते हैं। इस प्रकार ये ६४ + ६४ + ६४ = १९२ हेत्वाभास होते हैं। त एते उदाहुताः —ये १९२ दोनों पक्षों द्वारा स्वीकृत साध्यधर्म वालों के उदाहरण हैं।

त एत उदाहृताः—य १८५ पाना प्रता करित करित वा उभयान्यतर से सन्दिग्ध एवमन्यतरासिद्धाः—वादी द्वारा असिद्ध या प्रतिवादी द्वारा असिद्ध तथा उभयान्यतर से सन्दिग्ध

६४×२=१२८ (द्वाध्यामूना विशव् द्वाविशत्, टी० ६३८) भेद होते हैं। ते च पुन:...व्रष्टव्या: —वे फिर द्वानवतं शतम् (१६२) भेद होते हैं।

1835

[हेत्वाभासाः

न्यायवात्तिकम्

व्यापकासिद्धविशेषणानामुदाहरणम्, अनित्यः शब्दः प्रयात्नानन्तरीयकृत्वे सित कृतक-त्वात् । अव्यापकासमर्थविशेष्याणामुदाहरणम्, अनित्यः शब्दः प्रत्ययभेदभेदित्वेनो-पलभ्यमानत्वात् । व्यधिकरणविशेष्याणामुदाहरणम्, अस्ति प्रधानं भेदाना-मन्वयदर्शनात् । व्यधिकरणविशेषणानामुदाहरणम्, रूपरसगन्धस्पर्शशव्दाः, चन्दन-शब्दादत्यन्तं विभिन्नार्थाः, समुदायसमुदाय्यसंभवे सित तेन व्यपदिश्यमानत्वात् । एतदेव व्यधिकरणविशेषणविशेष्यस्योदाहरणं विपर्ययेण ।

तेऽज्यापकाश्च व्यधिकरणतया असिद्धाश्चेति विग्रहः, टी० ६३६) का उदाहरण है शब्द अनित्य है प्रयत्न के अनन्तर (उत्पन्न) होकर कृतक होने से। अव्यापक तथा असमर्थं विशेष्य वालों का उदाहरण है; शब्द अनित्य है कारण (प्रत्यय) के भेद से भिन्न-भिन्न उपलब्ध होने के कारण। (केवल) व्यधिकरण विशेष्य वालों का उदाहरण है, प्रकृति (प्रधान) है (घट-पट आदि) भेदों में (सुख आदि का) अन्वय दिखाई देने से। (केवल) व्यधिकरण विशेषण वालों का उदाहरण है; रूप, रस, गन्ध, स्पर्भ और शब्द चन्दन शब्द से अत्यन्त भिन्न अर्थ वाले हैं, समुदाय और समुदायी न हो सकने पर (भी) उस (चन्दन शब्द) के कहे जाने के कारण। यही विपरीत रूप में धकरण विशेषण-विशेष्य का उदाहरण है।

एवमप्रसिद्धाश्रयो०-एक सौ अट्ठाइस (१२८, द्वाभ्यामूना तिंशत्) भेद हैं।

ते च पुनः पूर्ववदेव—एक सौ वानवे (१६२) भेद होते हैं, व्यधिकरणविशेषणविशेष्य, सन्दिग्ध-विशेषणविशेष्य, असमर्यविशेषणविशेष्य के भेद से (६४×३=१६२) एक सौ वानवे भेद होते हैं। अग्निमान् देश:—उभयाप्रसिद्धाश्रयविशेष्य का उदाहरण है। 'अस्ति चात्मा' यह अन्यतरासिद्धाश्रय का उदाहरण है। आश्रयासिद्धविशेषण आदि भी इसी प्रकार होंगे।

असमर्थं - असमर्याश्च तेऽन्यापकाश्च व्यधिकरणतया असिद्धाश्चेति विग्रहः, टी० ।

प्रयत्नानन्तरीयकत्वे सित कृतकत्वात् — यहाँ कृतकत्व ही समयं है अत: असमयं विशेषण है, यह अव्यापक भी है, मेघ के शब्द में न होने से, व्यधिकरण होने से असिद्ध भी है कोष्ठगत थायु प्रयत्नजन्य है शब्द नहीं। कृतकत्वे एति० इत्यादि असमयं व्यापकासिद्धविशेष्य का उदाहरण होगा। व्यधिकरण० — केवल व्यधिकरण०, टी० ६३९। अन्यदर्शन भेदों में होता है प्रधान में नहीं अतः विशेष्य व्यधिकरण है।

क्यधिकरणिवशेषणानाम्—केवलव्यधिकरण० टी० ६३६। विषयंयेण— यहाँ तक आठ सो बत्तीस (५३२) भेद दिखलाये गये हैं (१६२+१२५+१९६२ +१२५+१६२=५३२) तदनेन प्रपञ्चेन द्वादिशदुत्तराष्टशती दिशता, टी० ५३६। १.२.४]

न्यायवात्तिकम्

अन्यथासिद्धोदाहरणम्, अन्येषामभ्यासात् नित्यः शब्दः । सन्दिग्धाप्रसिद्धविशेषणा-नामुदाहरणं यथा संदिह्यमानधूमादिश्रावेऽग्निमान् देशो धूमवत्त्वे सित प्रकाशकत्वात् । विपर्ययेण सन्दिग्धविशेष्या द्रष्टव्याः । एवं सन्दिग्धाप्रसिद्धासिद्धा उभयान्यतरासिद्धा व्यापकाव्यापकभेदेन चतुःषष्टिभंवन्तीति । ते चपुनः पूर्ववद्मेदेन शतत्रयं चतुरशीतम् । एवमन्यथासिद्धभेदो द्रष्टव्यः ।

अन्यथासिद्ध का उदाहरण है, दूसरों (मीमांसकों) के मत में (अन्येषाम्) शब्द नित्य है आदृत्ति (अभ्यास) होने से। सिन्दिग्ध-अप्रसिद्ध विशेषण वालों का उदाहरण है; जैसे धूम आदि भाव के सिन्दिग्ध होने पर, यह देश अग्नि वाला है धूमयुक्त होकर प्रकाशक होने से। इसके विपरीत रूप में सिन्दिग्ध विशेष्य वाले समझने चाहियें। इसी प्रकार सिन्दिग्ध अप्रसिद्ध तथा असिद्ध दोनों या किसी एक के लिये असिद्ध होने वाले व्यापक तथा अव्यापक के भेद से चौंसठ (६४) होते हैं। और फिर वे पहले के समान (व्यधिकरण विशेषण-विशेष्य, सिन्दिग्ध विशेषण-विशेष्य, असमर्थविशेषण-विशेष्य) भेद होने से तीन सौ चौरासी (३८४) होते हैं। इसी प्रकार अन्यथा सिद्ध का भेद जानना चाहिये।

अन्यथासिद्धोदाहरणम् — गब्द के अनित्य होने पर भी अभ्यास बन सकता है, यह आपे (२,२.३०) दिखलाया जायेगा।

सिद्धाप्रसिद्धः — सिंहावलोकितन्यायेन व्यधिकरणविशेष्यं सिन्दिग्धविशेषणमुदाहरित, टी॰ ६३६। यहाँ विशेषण शब्द कर्मकरण अर्थ में होने से विशेषण तया विशेष्य दोनों के लिये है। अतः सिन्दिग्ध है विशेषण जिनका तथा व्यधिकरण होने से अप्रसिद्ध है विशेष्य जिनका उनका उदाहरण है। अग्निमान् इत्यादि में 'धूमवत्त्व' विशेषण सिन्दिग्ध है और प्रकाशकत्व विशेष्य व्यधिकरण है, व्योंकि वह अग्नि का धर्म है देश का नहीं।

विपर्ययेण —अप्रसिद्धविशोषणसन्दिग्ध विशोष्यों का उदाहरण है अग्निमान् देशः प्रकाशकत्वे सित

धूमवत्त्वात् । चतुःषिटर्भवन्ति-—जो सन्दिग्वासिद्ध व्यापक और अव्यापक के भेद से बत्तीस होते हैं वे उभया-सिद्ध तथा अन्यथासिद्ध के भेद से चौंसठ हो जाते हैं ।

पूर्ववद्भेदेन — वे फिर व्यधिकरणविशेषणविशेष्य, सन्दिग्धविशेषणविशेष्य और असमर्यविशेषण-पूर्ववद्भेदेन — वे फिर व्यधिकरणविशेषणविशेष्य, सन्दिग्धविशेषणविशेष्य और असमर्यविशेषण-विशेष्य के भेद से एक सी वानवे (६४×३) होते हैं। इस प्रकार सन्दिग्धासिद्ध के आश्रय से कुल तीन सी चौरासी (३८४) भेद होते हैं।

एवमन्ययासिद्धभेद:-इसी प्रकार अन्यवासिद्ध के तीन सौ चौरासी (३५४) भेद होते हैं।

[हेत्वाभासाः

न्यायवात्तिकम्

एवं विरुद्धविशेषणा विरुद्धविशेष्याद्य सर्वत्र द्रष्टच्या इति । एषां तूदाहरणानि हित्वामासवाक्तिके द्रष्टच्यानि, स्वयं चाभ्यूह्यानि । त एते हेतवो हेत्वाभासाश्चासङ्कीर्ण-विशेषणविशेष्यभेदेन हे सहस्रे हात्रिशको । असिद्धादिसमुच्चयेनानन्तो भेद इति । साध्यावृत्तयस्त्वसत्त्वान्न विशेषणयोगिन इत्यतो नाभिधीयन्त इति । त एते विद्यमान-साध्यव्यापकाच्यापकधमंः प्रपञ्चत उक्ताः । तत्र मुख्यासिद्धभेदाः षोडश । त एते पक्षावृत्तयः । अनैकान्तिकास्त्वसङ्कीर्णा मुख्यतः षडेव । साध्यव्यापकवर्गे विरुद्धाद्य-त्वार एव । तस्मिन् अन्तिमस्तु पक्षयात्रधमंत्वाद् अनुपसंहार्यः । शेषा हेत्वाभासाः । तेऽसिद्धानैकान्तिकविरुद्धा (१) अव्यापकासिद्धभेदेन सङ्कीर्णा उदाहरणेषु स्वयमभ्यूह्या इति ।

इसी प्रकार विरुद्धिविशेषण वाले तथा विरुद्धिविशेष्य वाले सर्वत्र जानने वाहियें। और इनके उदाहरण हेत्वाभासवात्तिक में देखने चाहियें तथा स्वयं सोचने चाहियें। वे ये हेतु तथा हेत्वाभास असङ्कीणं विशेषण तथा विशेष्य के भेद से दो हजार बत्तीस (२०३२) होते हैं। असिद्ध आदि के जोड़ने से असंख्य भेद हैं। साध्य में न रहने वाले तो असत् होने के कारण विशेषण से सम्बद्ध नहीं होते; इसलिए नहीं कहे जा रहे हैं। वे ये साध्य में होने वाले व्यापक तथा अव्यापक धर्म विस्तरणः कहे गये हैं। उनमें मुख्य असिद्ध के भेद सोलह (१६) हैं। वे ये पक्ष में नहीं रहते। अनैकान्तिक (सव्यभिचार) जो असङ्कीणं हैं वे मुख्य रूप से छह (६) ही हैं, साध्य व्यापक वर्ग में विरुद्ध चार (४) ही हैं। उसमें अन्तिम तो केवल पक्ष के धर्म होने का कारण अनु संहार्य (उपसंहार न करने योग्य) होता है। शेष हेत्वाभास है। वे असिद्ध, अनैकान्तिक तथा विरुद्ध (हेत्वाभास) अव्यापक असिद्ध के भेद से उदाहरणों में सङ्कीण होते हुए स्वयं खोज लेने चाहियें।

एवं विरुद्धविशेषणा: — विरुद्धविशेषण तथा विरुद्धविशेष्य भी व्यधिकरण विशेषण आदि के भेद से तीन सो चौरासी (३८४) होते हैं।

हे सहस्रे हात्रिशके — इस प्रकार तीन बार ये तीन सौ चौरासी भेद हैं जो सब एक सहस्र एक सौ बावन (३८४ \times ३= ११५२) होते हैं। ये उपयुंक्त आठ सौ बत्तीस (६३२) तथा प्रकृतिमूत अड़तालीस (४८) भेंदों से जोड़कर कुल दो सहस्र बत्तीस (११५२+६३२+४८=२०३२) भेद हो जाते हैं।

तेऽसिद्धानैकान्तिकविरुद्धाव्यापकासिद्धभेदेन, कः विरुद्धा अन्यापकासिद्धभेदेन, ख० वि० द्र० गङ्गानाथ झा सं० ।

2.2.8]

035

न्यायवात्तिकम्

केचित् विरुद्धाःयभिचारिणमनैकान्तिकं वर्णयन्ति । तन्न, असत्त्वात । नाय-मस्तीत्युक्तम् । उपेत्य तस्य पञ्चिवशितिधा भेद पञ्चानां हेतुनां सरूपासरूपप्रतिबन्धात पञ्च पञ्चका भवन्तीति । तेषां तु सर्वेषां नोदाहरण।नि सन्तीति । तेन नोदाह्वियन्ते ।

त एते हेत्वाभासाः संक्षेपेणेयता भदेन भदवन्तः । तेषां संग्रहार्थं हेत्वाभासानां विभागोहेशार्थं सूत्रम् । लक्षणत एव पञ्चत्वं गम्यत इति चेत्-यान्येतानि पञ्च हेत्वाभासानां लक्षणसूत्राणि तेरैव पञ्चत्वं गम्यत इति नियमार्थं सूत्रमनर्थकम । नानर्थकम्; लक्षणस्येतरेतरव्यवच्छेदकत्वात् — इतरेतरव्यवच्छेदकं लक्षणम्, न पूर्नानय-मार्थम्, न हि नियमो लक्षणेन गम्यते इति । १।२।४॥

कोई (?) तो विरुद्धाव्यभिचारी को अनैकान्तिक कहते हैं। वह (ठीक) नहीं, (इसके) न होने से - यह (विरुद्धान्यभिचारी) नहीं होता, यह कहा जा चुका है। स्वीकार करके उसके पच्चीस भेद कहते हैं कि पाँच हेतुओं के सरूप (अन्वयी का सरूप अन्वयी, व्यतिरेकी का व्यतिरेकी आदि) और असरूप (अन्वयी का असरूप व्यतिरेकी आदि) के विरोध (प्रतिवन्ध) से पांच पञ्चक (पांच का समुदाय, कुल पच्चीस) हो जाते हैं । उन सबके उदाहरण नहीं हैं अतः (यहाँ) उदाहरण नहीं दिये जाते।

वे ये हेत्वाभास संक्षेप से इतने भेद वाले हैं । उनके संग्रह के लिए हेस्वाभासों के विभाग-कथन के लिए सूत्र है। (आक्षेप) यदि (कहो) लक्षण से ही (हेत्वाभासों का) पांच होना प्रतीत होता है - जो ये हेत्वाभासों के (पांच) लक्षणसूत्र हैं उनसे ही (उनका) पाँच होना प्रतीत हो जाता है, अतः नियम के लिए किया गया सूत्र अनर्थक है ? [परिहार] अनर्थक नहीं, लक्षण के एक दूसरे से भेद कराने वाला होने से— लक्षण परस्पर-भेद कराने वाला (ब्यवच्छेदक) होता है, नियम के लिए तो नहीं; वस्तुत: लक्षण से नियम नहीं जाना जाता ।१।२।४।।

असत्त्वात् — पांच या चार रूपों से युक्त होना ही हेतु की संपन्नता है। वह दो विरुद्ध हेतुओं की एक विषय में नहीं हो सकती, तव वहाँ 'असत्प्रतिपक्षता' न होगी।

पञ्चानां हेतूनाम् ---सपक्ष का व्यापक तथा सपक्ष के एकदेश में रहने वाला इस प्रकार अन्वयी हेतु दो प्रकार का है, व्यतिरेकी एक प्रकार का है और अन्वय-व्यतिरेकी भी सपक्ष का व्यापक तथा

सपक्ष का एकदेशवृत्ति दो प्रकार का है।

पञ्च पञ्चका भवन्ति ---अन्वयी का सरूप अन्वयी है, व्यतिरेकी का व्यतिरेकी अन्वयव्यतिरेकी का अन्वयन्यतिरेकी । अम्वयी का असरूप न्यतिरेकी है और न्यतिरेकी का अन्वयी, उससे प्रतिबन्ध । भाव यह है कि अन्वयी आदि एक-एक में सरूप और असरूप पांच हेतु प्रतिबन्धक होते हैं। इस प्रकार पच्चीस प्रतिबन्धक हो जाते हैं।

लक्षणत एव — आक्षेप का भाव है: पांच हेत्वाभासों के लक्षण किये गये हैं जिससे प्रतीत होता है

कि पांच ही हेत्वाभास हैं। नानर्थकम् — यत्पर: शब्द:, स शब्दार्थ, यह न्याय है । ये लक्षणसूत्र हैं, लक्षण का कार्य है इतरेतर-व्यच्छेद, अतः लक्षणसूत्र यह नियम नहीं कर सकते कि पांच ही हेत्वाभास हैं। (द्र० टी० ६४०-६४१)।

[हेत्वाभासाः

न्यायसूत्रं भाष्यं च

तेषाम्,

अनैकान्तिकः सन्यभिचारः । १।२।४।। व्यभिचार एकत्रान्यवस्थितिः । सह व्यभिचारेण वर्तते इति सन्यभिचारः। न्यायवार्तिकम्

तेषाम्, अनैकान्तिकः सन्यमिचारः । एकस्मिचन्ते नियत ऐकान्तिकः, विपर्य-यादनैकान्तिकः । कः पुनरयं न्यभिचारः ? साध्यतञ्जातीयान्यवृत्तित्वम् — यत् खलु साध्यतज्जातीयवृत्तित्वे सति, अन्यत्र वतंते तद् न्यभिचारि । तद्वृत्तित्वं न्यभिचारः । सर्वोऽयं पदार्थभेदोऽन्तद्वयेऽवतिष्ठते, अन्यत्र प्रमेयात् । नित्यक्चानित्यश्च व्यापकश्चा-च्यापकश्च इत्येवमादिः । तत्र यो हेतुरुपात्त उमावन्तावाश्रित्य प्रवर्तते सोऽनैकान्तिकः ।

उन (हेत्वाभासों) में-

जिसमें व्यक्तिचार (नियम का अभाव) होता है वह अनैकान्तिक है। १।२।४॥ व्यक्तिचार का अर्थ है एक (पक्ष) में नियत न होना, व्यक्तिचार सहित होता है अतः वह सव्यक्तिचार है।

उनमें सन्यभिचार (हेत्वाभास) अनैकान्तिक है। एक के भीतर (अन्ते) नियत होने वाला ऐकान्तिक है। उसके विपरीत अनैकान्तिक है। किन्तु (यहाँ) यह व्यभिचार क्या है? पक्ष, सपक्ष तथा विपक्ष (अन्य) में होना—निश्चय ही जो पक्ष तथा उसके समान जाति वाले (सपक्ष) में होता हुआ विपक्ष में (अन्यत्र) होता है, वह व्यभिचारी है, उनमें होना व्यभिचार है। प्रमेय के अतिरिक्त यह सब पदार्थ का विशेषण है (पदार्थभेदः), दोनों पक्षों में रहता है नित्य और अनित्य, व्यापक और अव्यापक आदि। वहाँ जो हेतु दिया जाता है यदि वह दोनों पक्षों (सपक्ष विपक्ष) में आश्रित होकर प्रवृत्त होता है तो वह अनैकान्तिक है।

तेषाम् — उन हेत्वाभासों के मध्य में । हेत्वाभास का सामान्यलक्षण तथा विभाग दिखलाकर विशेष लक्षण दिखलाते हैं अनैकान्तिक इत्यादि ।

अनेकान्तिक — तात्पर्य टीका के अनुसार यहाँ अनेकान्तिक और सन्यभिचार दोनों शब्द पर्याय हैं। पुरुषभेद की अपेक्षा से दोनों ही लक्षण तथा लक्ष्य हो सकते हैं।

एकत्रावस्थिति: — एकत्र नियम से न रहना। यहाँ भाष्यकार ने अनैकान्तिक को लक्ष्य तथा सन्यभिचार को लक्ष्ण माना है। सूत्र तथा पदिनर्वचन के सामर्थ्य से यही युक्त प्रतीत होता है। अनैकान्तिक: — वार्तिककार ने पर्युदास मानकर इसकी न्याख्या की है। यह अनैकान्तिक हेतु नहीं, क्योंकि इससे सभी हेत्वाभासों का संग्रह होने लगेगा तब तो विभागसूत्र का विरोध होगा अतः अनैकान्तिक = अनियत, (द्र० टी० ६४५), जो दोनों पक्षों में जाये ऐसा हेत्वाभास। विरुद्ध आदि तो ऐसे नहीं होते।

कः पुनरयं व्यक्तिचार:- इस प्रश्न का उत्तर है, साव्यतज्जातीय० इत्यादि ।

2.2.4]

न्यायवात्तिकम

335

अनैकान्तिक इति कि पुनरयं पर्युंदास उत प्रसच्यविषय इति । कि चातः । यदि पर्युंदासः, सर्वानैकान्तिकता — ऐकान्तिकादन्योऽनैकान्तिक इति बुवतः सर्वोऽनैकान्तिकः शाप्तः । एवं चेको हेत्वाभास इति प्राप्तम् । अय प्रसच्यविषयः । तथापर्यकान्तिकाभायोऽनैकान्तिक इति प्राप्तम् । तस्य च व्यभिचारोऽयों नास्तीति,
अयुक्तोऽनैकान्तिको हेत्वाभासः । नायं पर्युंदासपक्षः कि तु प्रसच्यप्रतिषयः । प्रसच्यप्रतिषयेऽभाव इति चेत्, नाभायो धर्मक्शिषकत्वात् — धर्मोऽयं विशिष्णविषये। प्रसच्य-

सन्तियतो धर्म इति न भवति, न पुनरयमभावः। अभावे विशेषणविशेष्यासंभवात्, नाभाव एकान्तसन्नियतो नानेकान्तिकः सन्नियत इति । कथम् ? अबाह्मणविति— यथा अबाह्मणशब्दः प्रसज्यप्रतिषेधविषयत्वेन प्रवर्तमानो यदुत्तरं पदं तत् प्रतिषेधित न

पुनरयमभावं प्रतिपादयति, तथेहापीत्यदीवः ।

(बौद्ध का आक्षेप)
किन्तु यह (अनैकान्तिक शब्द) पर्यु दास है अथवा प्रसच्यप्रतिषेध ? इससे क्या ? यदि
पर्यु दास है तो सब में अनैकान्तिकता होगी—ऐकान्तिक से भिन्न अनैकान्तिक है, यह
कहने वाले के मत में सब अनैकान्तिक हैं, यह प्राप्त होता है। इस प्रकार एक हेत्वाभास है, यह प्राप्त होता है। यदि (अथ) प्रसच्यप्रतिषेध है तो भी ऐकान्तिक का
अभाव अनैकान्तिक है, यह (अर्थ) प्राप्त होता है और उसका अर्थ व्यभिचार नहीं
होता। इसलिए अनैकान्तिक हेत्वाभास युक्त नहीं। [परिहार] यह पर्यु दास पक्ष नहीं
अपि तु प्रसच्यप्रतिषेध है। यदि (कहो कि) प्रसच्यप्रतिषेध में अभाव (अर्थ) होता है
तो यहाँ अभाव (अर्थ) नहीं, धर्म का विशेषण होने से—यह धर्म का विशेषण है जो
एक में नियत धर्म नहीं होता; किन्तु यह अभाव (तुच्छ) नहीं है; क्योंकि अभाव में
विशेषण-विशेष्य-भाव नहीं हो सकता; अभाव न एक में नियत होता है न अनेक
में। कैसे ? अज्ञाह्मण शब्द के समान जैसे अत्राह्मणशब्द प्रसच्यप्रतिषेध के विषय में
प्रवृत्त होता हुआ जो उत्तर पद है उसका प्रतिषेध करता है; किन्तु यह अभाव को
बोध नहीं कराता, उत्री प्रकार यहाँ भी है, अतः दोष नहीं।

कि पुनरयम् — बौद्ध ने अनैकान्तिक शब्द में दो विकल्प करके इसे दूषित किया है। दो विकल्प हैं अनैकान्तिक शब्द में पर्युदास है या प्रसज्यप्रतिषेध ।

यदि पर्युदास: -- पर्युदास मानने में ऐकान्तिक-भिन्न सभी अनैकान्तिक होंगे, अत: सभी हेत्वाभासों का अनैकान्तिक में अन्तर्भाव हो जायेगा।

अथ प्रसज्यप्रतिषेध: — जो ऐकान्तिक नहीं, इस अर्थ में अनैकान्तिक का अर्थ अभावमात होगा। अभाव तो व्यभिचारी नहीं होता। व्यभिचार और अव्यभिचार तो भाव के घर्म हैं।

नायं पर्युदासपक्ष: — यद्यपि वार्तिककार को यहाँ पर्युदास पक्ष ही अभिमत है और वही युक्त है तथापि प्रतिवादी के मत का अभ्युपगमवाद से निराकरण करते हैं।

नामावो धर्मविशेषणत्वात् —प्रसज्यप्रतिषेध भी अभावमात्र (तुच्छ) नहीं है, अपि तु किसी अभाव से विशिष्ट कुछ वस्तु ही है (द्र० टी० ६४५)।

अञ्चाह्मणवत् — यहाँ वातिककार को पर्युं यास ही अभिमत है, प्रसज्यप्रतिषेध नहीं; किन्तु अभ्यु-पगमवाद से प्रसज्यप्रतिषेध दिखलाया है (द्र० टी० ६४५)।

[हेत्वाभासाः

*

न्यायभाष्यम्

निदर्शनम्, नित्यः शब्दोऽस्पशंत्वात्, स्पर्शवान् कुम्भः अनित्यो दृष्टः, न च तथा स्पर्शवान् शब्दः, तस्माद् अस्पर्शत्वान्तित्यः शब्द इति । दृष्टान्ते स्पर्शवत्वमित्यत्वं च धमौ न साध्यसाधनभूतौ गृह्ये ते, स्पर्शवांश्चाणुनित्यश्चेति । आत्मादौ च दृष्टान्ते उदाहरणसाधम्यात्साध्यसाधन हेतुः, इति 'अस्पर्शत्वाद्' इति हेतुनित्यत्वं व्यभिचरति, अस्पर्शा च बुद्धिरनित्या चेति । एवं द्विविधेऽपि दृष्टान्ते व्यभिचारात् साध्यसाधनमान्नो नास्तीति लक्षणा-मावादहेतुरिति । नित्यत्वमप्येकोऽन्तः । अनित्यत्वमप्येकोऽन्तः । एकस्मिन्नन्ते विद्यत इति ऐकान्तिको विपर्ययाद् अनेकान्तिकः, उभयान्तव्यापकत्वादिति । १।२।४॥

वात्तिकम्

उदाहरणम् । नित्यः शब्दः अस्पर्शत्वात् । शब्दस्यास्पर्शत्विमिति षष्ठचा भेदः प्रदश्यंते ।

उदाहरण है, शब्द नित्य है स्पर्शरिहत होने से, स्पर्शवाला घट अनित्य देखा गया है और शब्द उस प्रकार स्पर्शवाला नहीं है इसलिये स्पर्शरिहत होने से शब्द नित्य है। यहाँ दृष्टान्त में स्पर्शवाला होना और अनित्य होना ये दोनों धर्म साधन और साध्य के रूप में नहीं गृहीत होते; क्योंकि अणु स्पर्शवाला होता है किन्तु नित्य होता है। और, आत्मा आदि दृष्टान्त में 'उदाहरण के साधर्म्य से साध्य को सिद्ध करने वाला हेतु होता है' इस लक्षण के अनुसार 'अस्पर्शत्वात्' यह हेतु 'नित्यत्व' के साथ नियम से नहीं रहता (व्यिभचरित्र), क्योंकि (च), ज्ञान (बुद्धि) स्पर्शरिहत है और अनित्य है। इस प्रकार से दोनों प्रकार के दृष्टान्त में व्यिभचार होने से यहाँ साध्य-साधन-भाव नहीं अतः लक्षण न जाने से यह (अस्पर्शत्वात्) हेतु नहीं। नित्यत्व भी एक में नियत है अनित्यत्व भी एक में नियत है। जो एक में नियत होता है वह ऐकान्तिक होता है उसके विपरीत अनैकान्तिक है, दोनों (सपक्ष और विपक्ष) में व्यापक होने से। १।२।४।।

उदाहरण है, भव्द नित्य है स्पर्श रिह्नत होने से। शब्द का अस्पर्शत्व (स्पर्शरहित होना), यहाँ पष्ठी से (भव्द और अस्पर्शत्व का) भेद दिखलाया

स्पर्शवान् — यह वैधम्यं से दृष्टान्त है, 'अनित्यः कुम्भः स्पर्शवान् दृष्टः' यह अन्वय है। वृष्टान्ते — वैधम्यं में व्याप्यव्यापकभाव विपरीत हो जाता है अतः 'स्पर्शवत्त्व' साध्य होगा तथा अनित्यत्व साधन । किन्तु जो अनित्य होते हैं वे सभी स्पर्शयुक्त नहीं होते; ज्ञान अनित्य होता है पर स्पर्शवाला नहीं।

स्पर्शवांश्चाणुर्नित्यश्च— यदि 'अस्पर्शत्व' को ही 'नित्यत्व' का साधन मानें तो भी ठीक नहीं, नित्य होते हुए भी अणु स्पर्शवाला है।

अत्मादी — यहाँ साधम्यं में व्यभिचार दिखलाया गया है। यदि स्पर्शरिहत होने से नित्य कहा जाये तो आत्मा में घटित हो जाता है, ज्ञान में नहीं, ज्ञान स्पर्शरिहत होते हुए भी अनित्य है।

न्यायवात्तिकम्

कि पुनस्तत् ? स्पर्शनाधारस्य स्वात्मसत्तानुभवोऽस्पर्शत्वम्, स्पर्शनाघारस्य सत्ता-संबन्धो वा । उभयं च शब्दव्यतिश्किमित्यथंवती षष्ठो । कुतः पुनरेतत् ? तद्भावे भावात् तदभावेऽभावादिति —यत्वलु स्पर्शवत्सत्तामनुभवति न तत्रास्पर्शशब्दः प्रयुज्यते, यच्चासत् तत्रापि न प्रयुज्यत इति । यदस्पर्शवत् सत्तामनुभवति तत्र प्रयुज्यत इति । वाक्यार्थाभ्यनुज्ञानाच्च पदार्थाभ्यनुज्ञा-स्पर्शनाधारस्य वस्तुनः सत्त्वया सम्बन्ध इति यो वाक्यार्थः स एव अस्पर्शत्वभावदस्यार्थः ।

अतिवेशानुपपत्तिरनुक्तत्वादिति चेत्—'अनैकान्तिकः सव्यक्षिचारः' इति । न षवचिदनैकान्तिक उक्तः । यत इहानैकान्तिकप्रहणात् सव्यक्षिचारो गम्यते, अतो न युक्तम् 'अनैकान्तिकः सव्यक्षिचार' इति । नेदमयुक्तम्, लोकतस्तर्दाधगतेः—यद् वस्तु लोकतो न गम्यते तत्र शास्त्रमर्थवत् । यत् पुनर्लोकत एव गम्यते,

गया है। किन्तु वह क्या है? स्पर्श का आधार न होने वाले का अपनी सत्ता का अनुभव (संवेदन) अस्पर्शत्व (स्पर्शरहित होना) है, अथवा स्पर्श का आधार न होने वाले का सत्ता से सम्बन्ध होना (अस्पर्शत्व है)। ये दोनों ही शब्द से भिन्न हैं अतः पष्ठी (विभक्ति) सप्रयोजन है। (प्रश्न) किन्तु यह कैसे हैं? (उत्तर) उसके होने पर होने से, उसके न होने पर न होने से—िनश्चय ही जो स्पर्श वाला सत् है (सत्तामनुभवित) उसमें 'अस्पर्श' शब्द का प्रयोग नहीं होता और जो असत् (जिसकी सत्ता नहीं) है उसमें भी प्रयोग नहीं होता, जो स्पर्शरहित सत् है उसमें (इसका) प्रयोग होता है। किञ्च, वाक्यार्थ की स्वीकृति से पदार्थ की स्वीकृति हो जाती है—स्पर्श का आधार न होने वाली वस्तु का सत्ता से सम्बन्ध है यह जो वाक्यार्थ है वही 'अस्पर्शत्व' शब्द का अर्थ है।

(आक्षेप) मन्यभिचार अनैकान्तिक है, यह अतिदेश नहीं बन सकता, उक्त न होने से, कहीं भी (शास्त्र में) अनैकान्तिक नहीं कहा गया है। क्योंकि यहाँ 'अनैकान्तिक' शब्द से सव्यभिचार जाना जाता है, इसलिये अनैकान्तिक ही सव्यभि-चार है, यह कहना युक्त नहीं। [परिहार] यह अयुक्त नहीं; क्योंकि लोक से यह जान लिया जाता है — जो वस्तु लोक से नहीं जानी जाती उसमें शास्त्र सार्थक

वाक्यार्था - यहाँ वाक्य के अर्थ में पद का प्रयोग है। अस्पर्शत्व का प्रयोग वाक्य के अर्थ में हुआ है जैसे जो 'वेद पढ़ता है' उसके लिये श्रोतिय शब्द का प्रयोग होता है।

कि पुनस्तत् —तत् = अस्पर्णत्व शब्दाद् भिन्नत्विमत्ययं:, टी० ६४५ । वह अस्पर्णत्व क्या है ? सत्ताविशेषणो वा समवाय:, समवायविशेषणा वा सत्ता अन्वयव्यतिरेकाभ्यामित्ययं:, टी० ६४५ — ६४६ । यह अन्वयव्यतिरेक ही 'यत्खलु ... प्रयुज्यते इति' में दिखलाया गया है ।

[हैत्वाभासाः

न्यायवात्तिकम्

तत्रोपदेशोऽनर्थकः । लोकतश्चैनद् गम्यते 'उभयान्तसन्नियतोऽनैकान्तिक इति । यदि च यल्लोकतो गम्यते तदनुक्तमिति मन्यसे, दुःखादीन्यपि वेशयितव्यानि, किमिदं दुःख-मिति । तस्मात् परिपेलवमेतदिति । अव्यापकत्वादलक्षणमेतदिति चेत्--अथापीदं स्याद् अनैकान्तिकलक्षणेन न सर्वोऽनैकान्तिको व्याप्यते यथा असाधारण इति । न, अनैनैव संग्रहात् । कथमिति ? व्यावृत्तिद्वारेणाभिधीयमानोऽयमुभयान्तव्यावृत्तेर-नैकान्तिक इति ।

(अर्थवत्) होता है। किन्तु जो लोक से ही जान ली जाती है, उसके विषय में उपदेश व्यथं है। और, लोक से यह जाना जाता है कि दोनों (सपक्ष और विषक्ष) में नियत होने वाला अनैकान्तिक होता है। और, जो लोक से जान लिया जाता है यदि उसे (भी) अनुक्त मानते हो तो दु:ख आदि का भी उपदेश करना होगा कि यह दु:ख क्या है। इस लिये यह (कथन) अत्यन्त कोमल (परिपेलवम्) है। (शङ्का) यदि (कहो) अव्यापक होने से यह लक्षण ठीक नहीं (अलक्षणम्)—यदि यह (मत) हो कि अनैकान्तिक, इस लक्षण से सभी अनैकान्तिक व्याप्त नहीं होते, जैसे असाधारण (अनैकान्तिक) है। [समाधान] नहीं, इससे ही संग्रह हो जाने से। कैसे ? व्याद्युत्ति के द्वारा कहा गया यह दोनों (सपक्ष, विपक्ष) में होने की व्यावृत्ति होने से अनैकान्तिक होता है।

अतिवेशानुपपितः — सन्यभिचार को जो अनैकान्तिक कहा गया है, यही अतिवेश है, यह ठीक नहीं। यदि कहीं शास्त्र में 'अनैकान्तिक' कहा गया होता तो वहाँ विदित होकर यह सन्यभिचार को लक्षित कर सकता था किन्तु शास्त्र में कहीं भी 'अनैकान्तिक' नहीं वतलाया गया है।

नेदम् अनैकान्तिक शब्द लोकप्रसिद्ध है अतः कहे के समान ही है।

परिपेलवम् — अत्यन्त कोमल; 'जो लोक से जान लिया जाता है, वह अनुक्त है' यह कथन अत्यन्त कोमल है, किसी आलोचना को सहन नहीं कर सकता।

अव्यापकत्वात् शङ्का का भाव है कि अन्वय से जो दोनों (सपक्ष और विपक्ष) में नियत हो वह अनैकान्तिक है।

न, अने नैव संग्रहात् भाव यह है : अनैकान्तिक अन्वय से ही नहीं व्यतिरेक से भी होता है । कहीं तो हेतु अन्वय से उभयान्तिनयत होता है कहीं व्यतिरेक से । असाधारण में व्यतिरेक से है । अतः इसी से असाधारण का संग्रह हो जाता है ।

न्यायवात्तिकम्

अपरे पुनः प्रकरणसममनैकान्तिक एवान्तर्भावयन्ति । कथिनिति ? नित्य आत्मा शरीरादन्यत्वादिति । शरीरात् किलान्यत् नित्यमनित्यं च दृष्टम्, अतोऽनैका-न्तिक इति । तैस्तु न लक्षणव्यमिचारोऽन्यतो नोदाहरणव्यभिचार इति । 'अनैकान्तिकः सव्यभिचारः' इत्येतत् लक्षणं व्यभिचारिणः । यदि चानेन प्रकरणसमसंग्रहो भविति प्राप्तस्तावता लक्षणस्य व्यभिचारः, न पुनरुवाहरणव्यभिचाराद् अनैकान्तिकलक्षण-व्यभिचार इति । लक्षणस्य तूभयं दोषः, लक्ष्याव्याप्तिरलक्ष्यव्याप्तिइचेति । वक्ष्यमाणकं च प्रकरणसमस्य लक्षणमीक्षितव्यम् । १।२।४॥

किन्तु दूसरे (?) प्रकरणसम (सत्प्रतिपक्ष) का अनैकान्तिक में ही अन्तर्भाव करते हैं। कैसे ? आत्मा नित्य है शरीर से अन्य होने के कारण। शरीर से अन्य को नित्य तथा अनित्य देखा गया है, इसलिये यह अनैकान्तिक है। [दूसरे के मत का दूषण] उन्होंने तो न लक्षण का व्यभिचार समझा है, न उदाहरण का व्यभिचार। सव्यभिचार अनैकान्तिक ही है, यह व्यभिचारी (अनैकान्तिक) का लक्षण है। और, यदि इससे प्रकरणसम का संग्रह हो जाता है तब तो लक्षण का व्यभिचार प्राप्त होता है; किन्तु उदाहरण के व्यभिचार से अनैकान्तिक के लक्षण का व्यभिचार नहीं होता। लक्षण का दो प्रकार का दोष है लक्ष्य में व्याप्त न होना (अव्यापकत्व) और अलक्ष्य में व्याप्त हो जाना (अतिव्यापकत्व)। और, आगे कहा जाने वाला प्रकरणसम का लक्षण देखना होगा। १।२।५।।

अपरे पुन:---यहाँ टीका (६४६) में 'अपरे तु' पाठ है, यह किसका मत है ? यह ज्ञात नहीं। टीका में 'एकेवां मतमुपन्यस्यति' इतना ही कहा गया है।

तैस्तु—यहाँ उपयुक्त मत का दोष दिखलाया गया है। भाव यह है कि वस्तुतः उदाहरण में व्यभिचार होने से लक्षण में व्यभिचार नहीं हो जाता, दोनों भिन्न-भिन्न हैं और परीक्षक तो उदाहरण का बादर नहीं करते, किन्तु लक्षण का ही (द्र० टी० ६४६)।

वक्ष्यमाणकम् — आगे प्रकरणसम का लक्षण कहा जायेगा, उस लक्षण को भन्नी भौति परखने से ही 'सन्यभिचार' हेत्वाभास का प्रकरणसम से भेद स्पष्ट होगा।

[हेत्वाभासाः

न्यायसूत्रं भाष्यं च

सिद्धान्तसभ्युपेत्य तद्धिरोधी विरुद्धः ।१।२।६।। तं विरुणद्धोति तद्धिरोधी, अभ्युपेतं सिद्धान्तं व्याहन्तीति । न्यायवात्तिकम्

'सिद्धान्तमभ्युपेत्य तिद्वरोधी विरुद्धः' इति । कोऽस्य सूत्रस्यार्थः ? अभ्युपगतार्थविरोधी विरुद्धः । एवं च सर्वानुक्तविरुद्धसंग्रहः — यावान् कश्चिद् विरुद्धभेदः
सर्वोऽसावनेन संगृहीतः, यस्मादभ्युपगतं बाधते, अभ्युपगतेन वा बाध्यते । नन्वेवमेकी
हेत्वाभासो विरुद्धः प्राप्नोति ? सत्यमेक एव हेत्वाभासो विरुद्धः । तस्य तु सामान्येन
विरुद्धत्वेन संगृहीतस्य पञ्चधोपदेशः; यथा प्रमेयमित्यनेन षोडश पदार्था इति ।
पृथगभिधानं तिह विरुद्धस्य न कर्तव्यम् ? न न कर्तव्यम्; सामान्यतोऽधिगतस्य
विशेषकापनार्थम्; यथा प्रमेयस्यैव ।

सिद्धान्त को स्वीकार करके उसका विरोधी (हेतु) विरुद्ध हेत्वाश्रास है।

उसका विरोध करता है वह 'तद्विरोधी' है; अर्थात् स्वीकृत सिद्धान्त का विरोध करने वाला (हेतु)।

सिद्धान्तमभ्युपेत्य तिद्धरोधी विरुद्धः इति । (प्रश्न) इस सूत्र का क्या अर्थ है। (उत्तर) स्वीकृत अर्थ का विरोधी विरुद्ध (हेत्वाभास) है। और इस प्रकार सब अनुक्त विरुद्धों का संग्रह हो जाता है—जितना कोई विरुद्ध का भेद है वह सब इससे संगृहीत हो जाता है; क्योंकि वह स्वीकृत को बाधित करता है अथवा स्वीकृत के द्वारा उसका बाध होता है। (आक्षेप) इस प्रकार तो विरुद्ध नामक एक हेत्वाभास प्राप्त होता है। [परिहार] ठीक है, एक ही हेत्वाभास है विरुद्ध । विरुद्धत्व नामक सामान्य से संग्रहीत हुए उसका पांच प्रकार से उपदेश किया गया है; जैसे 'प्रमेय' इसके द्वारा सोलह पदार्थों का संग्रह हो जाता है। (आक्षेप) तव विरुद्ध का पृथक् कथन न करना चाहिये। [परिहार] ऐसा नहीं कि (पृथक् कथन) न करना चाहिये। सामान्य रूप से जाने गये का विशेष रूप से बोध कराने के लिये, जैसे प्रमेय का ही।

कोऽस्य प्रश्न का भाव है। अचेतन हेतु तो सिद्धान्त को स्वीकारता नहीं, जो चेतन स्वीकारता है उसमें कोई हेतु का लक्षण नहीं जाता अतः वह हेत्वाभास न होगा और पक्ष भी सिद्धान्त नहीं जिससे उसका विरोधी विरुद्ध हेत्वाभास हो जाये।

अभ्युपगत विरोधी - उत्तर का भाव है : यहाँ हेतु के द्वारा पुरुष में ही उपचार किया गया है और स्वीकृत (अभ्युपगत) को सिद्धान्त कहा गया है। स्वीकृत किया गया पक्ष ही सिद्धान्त है। उसका विरोधी विरुद्ध हेत्वाभास है।

एवं च — इस व्याख्या से अनुक्त विरुद्धों का भी संप्रह हो जाता है । इससे 'तं विरुणद्धि' इस भाष्य की व्याख्या हो गई।

नन्वेवम् भाव यह है कि यदि हेतुत्व के बाध से विषद्ध हेत्वाभास होता है तब तो सव्यभिचार आदि भी विषद्ध हेत्वाभास के अन्तर्गत ही होंगे।

सत्यम् हेतु में विरोध होने से सभी समान हैं किन्तु अवान्तर भेदों की विवक्षा से पाँच भेद होते हैं; जैसे प्रमेय रूप से सब समान हैं किन्तु अवान्तर भेद-विवक्षा से प्रमाण आदि हैं। 2.2.4]

[80%

न्यायभाष्यम

यथा सोऽयं विकारो व्यक्तेरपैति नित्यत्वप्रतिषेधात्, न नित्यो विकार उपपद्यते । अपेतोऽपि विकारोऽस्ति विनाशप्रतिषेधात् । सोऽयं नित्यत्व-प्रतिषेधादिति हेतुव्यंक्ते रपेतोऽपि विकारोऽस्तीत्यनेन स्वसिद्धान्तेन विरुद्धचते । कथम् ? व्यक्तिरात्मलामः । अपायः पच्युत्तः । यद्यात्मलामात् प्रच्युतो विकारोऽस्ति, नित्यत्वप्रतिषेधो नोपपद्यते; यद् व्यक्ते रपेतस्यापि विकारस्यान्त्यास्तत्वम्, तत् खलु नित्यत्वमिति । नित्यत्वप्रतिषेधो नाम विकारस्यान्तमलाभात् प्रच्युतेरुपपत्तः । यदात्मलाभात् प्रच्यवते तदनित्यं दृष्टम् । यदस्ति न तदात्मलाभात् प्रच्यवते । अस्तित्वं चात्मलाभात् प्रच्युतिरिति च विरुद्धावेतौ धमौ, न सह सम्भवत इति । सोऽयं हेतुर्यं सिद्धान्तमाश्रित्य प्रवर्तते तमेव व्याहन्तीति ।१।२।६।।

जैसे वह यह विकार (महद् आदि) व्यक्त रूप से पृथक् हो जाता है (अपैति); क्यों कि (इसकी) नित्यता का प्रतिषेध किया गया है, विकार नित्य नहीं हो सकता'। अपने रूप से पृथक् हुआ भी विकार विद्यमान रहता है; क्यों कि (इसके) नाश का प्रतिषेध किया गया है। वह 'नित्यता का प्रतिषेध करने से' यह हेतु व्यक्त रूप से पृथक् हुआ भी विकार रहता है' इस अपने (सांख्य के) सिद्धान्त के विश्व है। कैसे ? व्यक्ति का अर्थ है स्वरूप की प्राप्ति (प्रकटन), अपाय का अर्थ है अपने रूप से पृथक् हो जाना। यदि अपने रूप से पृथक् हुआ विकार है तो नित्यता का प्रतिषेध नहीं बनता; जो अपने रूप से पृथक् हुए भी विकार की विद्यमानता है वही तो (उसकी) नित्यता है। नित्यता का प्रतिषेध है विकार की अपने रूप से पृथक्ता बन सकना, जो अपने रूप से पृथक् हो जाता है वह अनित्य देखा गया है। जो विद्यमान है वह अपने रूप से पृथक् हो जाता है वह अनित्य देखा गया है। जो विद्यमान है वह अपने रूप से पृथक् हो जाता है वह अनित्य देखा गया है। जो विद्यमान है वह अपने रूप से पृथक् हो लाता है वह यह हेतु जिस सिद्धान्त का आश्रय लेकर प्रवृत्त होता है, उसका ही विरोध करता है। ११२६॥

विकार—सांख्य-मत में महत्, अहङ्कार, पञ्चतन्मात्न, एकादश इन्द्रिय और महामूत ये प्रवृति के विकार (परिणाम) हैं।

डयक्ती:—िविकार में जो धर्म, लक्षण और अवस्था परिणाम होते हैं (द्र० योगसूत्र) वह व्यक्ति है, तस्य व्यक्तिः धर्मेलक्षणावस्थापरिणामः, टी० ६४६ । व्यक्तिः—प्रकटता, इस जगत् की दो अवस्थायें हैं प्रकृति और विकृति अथवा अब्यक्त और व्यक्त । महद् आदि विकार व्यक्त के अन्तर्गंत हैं, वे अव्यक्त से व्यक्त हुए हैं और व्यक्तावस्था से अव्यक्त अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं ।

स्वसिद्धान्तेन-अपने पक्ष से, सिद्धान्त = अभ्युपगत, पक्ष ।

कथम् — सांख्य के कथन में सिद्धान्त-विरोध कैसे है ? यह प्रश्नपूर्वक दिखलाया गया है।

[हेत्वाभासाः

न्यायवात्तिकम

तत्रानैकान्ताविहेंत्वाभासो द्विरूपोऽनैकान्तिकाविविरुद्धश्च । एतिस्मस्तु विरुद्धतैवेत्यसाधारणतया तृणोपलाविन्यायेन निष्कुष्याभिधीयते । तस्मावनैकान्ति-काविसु निमित्तद्वयसमावेशात् संज्ञाद्वयसमावेशः । विविश्वतत्रज्जातीयान्यवृत्तित्वेना-नैकान्तिकत्वम् हेतुविषयस्वरूपबाधारूपेण तु विरुद्धः । एवं सर्वत्र ।

उदाहरणम्, तदेतत् त्रैलोक्यं व्यक्तेरपैति, नित्यत्वप्रतिषेधात् । अपेतमप्यस्ति विनाशप्रतिषेधादिति । विनाशप्रतिषेधादित्यनेन वाक्येन नित्यमभ्यनुज्ञातं नित्यत्वप्रति-षेधादित्यनेन प्रतिषिद्धम् । एते तं वाक्ये परस्परार्थवाधिते, तथोश्च परस्परार्थवाधा विरोधः ।

प्रतिज्ञाहेत्वोर्वा विरोधः —यो वा प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोधः, स विरुद्धहेत्शमासः। ननु प्रतिज्ञाहेत्वोर्विशेधः पृथगुपविष्टो निग्रहस्थाने, पृथक् च हेत्वामासाः। तस्मात् न प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोधो वक्तव्य इति ।

उनमें अनै कान्त आदि हेत्वाभास दो प्रकार का है अनैकान्तिक आदि तथा विरुद्ध । इसमें तो विरुद्धता ही होती है, इस विलक्षणता से तृणोपलादि न्याय से पृथक करके कहा जाता है । इसलिये अनैकान्तिक आदि में दो निमित्तों के समावेश से दो संज्ञाओं का समावेश हो जाता है । पक्ष (विवक्षित), सपक्ष (तज्जातीय) तथा विपक्ष (अन्य) में रहने के कारण वह अनैकान्तिक है, हेतु के विषय एवं स्वरूप की बाधा करने से तो विरुद्ध है । इसी प्रकार सर्वत्र होता है ।

उदाहरण है, यह लोकत्रय अपने प्रकटित रूप से पृथक् हो जाता है; नयों कि इसकी नित्यता का प्रतिषेध किया गया है। अपने रूप से पृथक् हुआ भी 'वद्यमान रहता है नयों कि (इसके) विनाश का प्रतिषेध किया गया है। विनाशप्रतिषेधात् इस व नय से नित्यता स्वीकारी गई है और 'नित्यत्वप्रतिषेधात्' इसके द्वारा उस (नित्यता) का प्रतिषेध कर दिया गया है। ये दोनों व नय एक दूसरे के अर्थ से बाधित हो जाते हैं और उनकी एक दूसरे की अर्थ की बाधा ही विरोध है।

[दूसरी ब्याख्या] अथवा प्रतिज्ञा और हेतु का विरोध है — अथवा जो प्रतिज्ञा और हेतु का विरोध है वह विरुद्ध हेत्वाभास है । शङ्का है (ननु) प्रतिज्ञा और हेतु का विरोध तो निग्रहस्थान में पृथक्शः कहा गया है और (वहाँ) हेत्वाभासों को पृथक् (कहा गया है), इसलिये प्रतिज्ञा और हेतु के

एते ते शङ्का हो सकती है कि 'नित्यत्वप्रतिपेघात्' यह हेतु 'विनाशप्रतिपेघ' रूप सिद्धान्त के विरुद्ध है, इस कथन से शास्त्रविरोध प्रकट होता है; अतः यहाँ वाधित (कालात्ययापदिष्ट) हेत्वाभास होगा। इसके समाधान के लिये कहा गया है कि 'कालात्ययापदिष्ट' वहाँ होता है जहाँ दृढ़तर प्रमाण से हेतु वाधित होता है, यहाँ तो दोनों के परस्परविरुद्ध अर्थ हैं अतः कोई भी दूसरे का बाध नहीं कर सकता।

प्रतिज्ञाहेरवोर्वा विरोध — 'विकारो व्यक्तेरपैति' यह प्रतिज्ञा है, 'नित्यत्वप्रतिषेधात्' यह हेतु है। प्रतिज्ञा का अयं है, व्यक्तावस्था से पृथक् हो जाता है, यह नहीं कि नष्ट हो जाता है अतः इस कथन से विकार की नित्यता प्रकट होती है जो 'नित्यत्वप्रतिषेधात्' इस हेतु से विरुद्ध है (द्र० टी॰ ६५०)।

प्रतिज्ञाहेत्वोिवरोध: — शङ्का का भाव है कि प्रतिज्ञाविरोध नाम का एक निग्रहस्थान कहा गया है, हेत्वाभासों की भी निग्रहस्थानों में गणना की गई है । अतः विरुद्ध हेत्वाभास का अभिप्राय प्रतिज्ञाविरोध मानना ठीक नहीं । न्यायवात्तिकम्

नैष दोषः, उभयाश्रितत्वाद् विरोधस्य विवक्षातः अन्यतरिनर्वेशः—प्रितज्ञाहेत्दोविरोध इति प्रतिज्ञाहेतू आश्रित्य उभयाश्रितो भवति, तत्र यदा प्रतिज्ञया
विरोधो विविश्वतः, तदा प्रतिज्ञाविरोध इत्युच्यते । यदा प्रतिज्ञाया हेतुविरोधो हेतोर्वा
प्रतिज्ञाविरोधकत्वं तदा विरुद्धो हेतुरिति । अतः प्रतिज्ञाविरोधो वा हेतुविरोधो
वेत्यवोषः । हेतुविरोधोदाहरणम् नित्यः शब्द उत्पत्तिधर्मकत्वाद्' इति । प्रतिज्ञाविरोधस्योदाहरणम्, नास्त्यात्मेति । प्रतिज्ञाहंतुविरोधोदाहरणम्, गुणव्यतिरिक्तं द्रव्यप्रयन्तिरस्यानुपलब्धेरिति । हेतुविरोधोदाहरणम्, नास्त्येको भावः समूहे भावशब्दप्रयोगादिति । समूह इति ब्रुवाणेनैकोऽभ्युपगतो भावो भवति, एकत्वसमुच्चयो हि
समूह इति । १।२।६॥

विरोध को (विरुद्ध) न कहना चाहिये। [समाधान] यह दोष नहीं; क्योंकि विरोध उभयाश्रित होता है, विवक्षा के अनुसार किसी एक (विरोधी) का निर्देश कर दिया जाता है—प्रतिज्ञा और हेतु का विरोध, यह प्रतिज्ञा और हेतु दोनों को आश्रित करके उभयाश्रित होता है, उनमें जब प्रतिज्ञा के द्वारा विरोध कहना अभीष्ट होता है तब 'प्रतिज्ञाविरोध' यह कह दिया जाता है। जब प्रतिज्ञा से हेतु का विरोध अथवा हेतु से प्रतिज्ञा का विरोध (कहना इष्ट होता है) तब विरुद्ध हेतु (हेत्वाभास) यह कहा जाता है। इसलिये प्रतिज्ञाविरोध अथवा हेतुविरोध इसमें दोष नहीं। (प्रतिज्ञा से) हेतुविरोध का उदाहरण है, शब्द नित्य है उत्पत्तिच्चमंबाला होने से। प्रतिज्ञाविरोध का उदाहरण है, आत्मा नहीं है। प्रतिज्ञा तथा हेतु के विरोध का उदाहरण है, गुणों से भिन्न द्रव्य है अन्य अर्थ की उपलब्धि न होने से। हेतुविरोध का उदाहरण है, एक आव (पदार्थ) नहीं संघात (समूह) में भाव शब्द का प्रयोग होने से। 'समूह' यह कहने वाले के द्वारा एक भाव स्वीकार कर लिया जाता है; क्योंक (अनेक) एकों का मिलना ही समूह है। ११२।६॥

नैष दोष: — भाव यह है : विरोध उभयाश्रित होता है, जहाँ प्रतिज्ञा के आश्रित कहना इष्ट होता है वहाँ प्रतिज्ञाविरोध नामक निग्रहस्थान है जहाँ वह हेतु के आश्रित होता है वहाँ हेत्वाभास है। 'अतः' इत्यादि से इसका उपसंहार किया गया है (?)।

खतः इत्यादि स इसका उपचहार जिला कि हिए। प्रतिज्ञा से समानता यदा प्रतिज्ञा विरोध: - हेतु के भी अन्यतर के द्वारा असिद्ध होने के कारण प्रतिज्ञा से समानता हो जाती है, इस अभिप्राय से कहा गया है। किन्तु जब हेतु उभयसिद्ध होता है तब हेतु प्रतिज्ञा

का विरोधी होता है। हेतुर्घिरोधोदाहरणम् टीका में 'हेतोविरोधोदाहरणम्' पाठ है। शब्द का उत्पत्ति-धर्मकत्व, प्रमाण

से निश्चित हैं जो गब्द की नित्यता का बाध करता है। प्रतिज्ञावरोधस्य - प्रतिज्ञा के पदों (न- अस्ति) का विरोध है। यह ३.१.१. में स्पष्ट किया

गया है। प्रतिज्ञाहेतुिबरोधोदाहरणम् – हेतु के अन्यतरासिद्ध होने से समान बल वाले प्रतिज्ञा तथा हेतु

का विरोध होता है। हेतुविशोधोदाहरणम् पहले जो 'उत्पत्तिधर्मकत्व' हेतु दिया गया या, वह अन्यतरासिद्ध है। होतुविशोधोदाहरणम् पहले जो 'उत्पत्ति मानता है, उत्पत्ति नहीं। इस उदाहरण में उभयसिद्ध हेतु प्रतिज्ञा का बाधक है।

[हेत्वाभासाः

न्यायसूत्रं भाष्यं च

यस्मात् प्रकरणचिन्ता स निणंयार्थमपदिष्ट प्रकरणसमः।

११२१७॥

विमर्शाधिष्ठानौ पक्षप्रतिपक्षावुभावनवसितौ प्रकरणम् । तस्य चिन्ता विमर्शात् प्रभृति प्राङ्निणयाद् यत् समोक्षणम्, सा जिज्ञासा पत्कृता स निर्णयार्थं प्रयुक्त उभयपक्षसाम्यात् प्रकरणमनातवतंमानः प्रकरणसमो निर्णयाय न प्रकल्पते । प्रज्ञापनं त्वनित्यः शब्दो नित्यधर्मानुपलब्धेरिति, अनुपलभ्यमाननित्यधर्मकमनित्यं दृष्टं स्थाल्यादि । न्यायवात्तिकम

यस्मात् प्रकरणचिन्ता स निर्णयार्थमपदिष्टः प्रकरणसमः । कस्मात् प्रकरण-चिन्ता ? तत्त्वानुषलब्धेः — यस्माव् उपलब्धतत्त्वेऽर्थे निवर्तते चिन्ता, तस्मात् सामान्धे-नाधिगतस्य या विशेषतोऽनुपलब्धिः सा प्रकरणचिन्तां प्रवर्तयतीति । उदाहरणम्, नित्यः शब्दोऽनित्यधर्मानुपलब्धेः, अनित्यः शब्दो नित्यधर्मानुपलब्धेः । अतएव प्रकरण-मित्यतो न हेतुः ।

जिससे प्रकरण का चिन्तन बना रहता है वह निर्णय के लिये कहा गया हेतु प्रकरणसम (सत्प्रतिपक्ष) है। १।२ ७।।

विमर्श (संशय, विचार) के विषय (अधिष्ठान) होने वाले पक्ष और प्रतिपक्ष का समाप्त न होना (ही) प्रकरण है। उसका चिन्तन है विमर्श से लेकर निर्णय होने के पहले तक समालोचन (जिज्ञासा)। वह जिज्ञासा जिसके द्वारा की जाती है, निर्णय के लिये प्रयुक्त वह (हेतु) दोनों पक्षों में समान होने से प्रकरण को समाप्त न करता हुआ प्रकरणसम (सत्प्रतिपक्ष हेत्वामास) है, वह निर्णय में समर्थ नहीं होता। उदाहरण (प्रज्ञापनम्) तो यह है, शब्द अनित्य है, नित्य के धर्म की उपलब्धि न होने से, जिसमें नित्य का धर्म उपलब्ध नहीं होता वह अनित्य देखा गया है; जैसे बटलोही (स्थाली) आदि।

यस्मात् प्रकरणचिन्ता स निर्णयार्थमपदिष्ट: प्रकरणसम: (यह सूत्र है)।
(प्रक्त) प्रकरण का चिन्तन किस कारण से होता है ? (उत्तर) तत्त्व की उपलब्धि
न होने से —क्योंकि तत्त्व की उपलब्धि हो जाने पर किसी अर्थ में चिन्तन निवृत्त

विमर्शाधिष्ठानौ — विमर्शः संशयः, तस्य विषयौ, अनवसितौ =अनिर्णातौ, तादृशयोरेव पक्षप्रतिपक्ष-शब्दवाच्यत्वात्, टी० ६५३।

प्रकरणम् - प्रिक्रयते साध्यत्वेनाधिकियते इत्यनया व्युत्पत्त्या प्रकरणम्, टी० ६५३।
उभय क्षि-प्रम्पात् - लैसे शब्द की नित्यता में अनित्यधर्मानुपलब्धि है वैसे ही अनित्यत्वपक्ष
में नित्यधर्मानुपलब्धि है। तत्त्व की अनुपलब्धिमाल की विवक्षा से यह दोनों पक्षों में समान है।
प्रकरणश्चनति वतंमान: प्रकरणसमः - यह व्युत्पत्तिमाल है, इसका प्रवृत्तिनिमित्त तो सत्प्रति-पक्षता है, समबल प्रतिपक्षी हेतु होता है। अन्यथा अनैकान्तिक भी प्रकरणसम होने लगेगा
(द्र० टी० ६५४)।
तत्त्वानुपलब्धे - यह प्रकरणचिन्तन का कारण है, जिसे व्यतिरेक से 'यस्माद' आदि द्वारा
दिखलाया गया है।

रयायभाष्यम्

यत्र समानो धर्मः संशयकारणं हेतुत्वेनोपादीयते, स संशयसमः सव्य-भिचार एव । या तु विमर्शस्य विशेषापेक्षिता उभयपक्षविशेषानुपलव्धिश्च सा प्रकरणं प्रवतंयति । यथा शब्दे नित्यधर्मो नोपलभ्यते, एवमनित्यधर्मः अपि । सेयमुभयपक्षविशेषानुपलब्धिः प्रकरणचिन्तां प्रवतयति । कथम् ? विपर्यये हि प्रकरणनिवृत्तेः - यदि नित्यधर्मः शब्दे गृह्यते, न स्यात् प्रकरणम् । यदि वा अनित्यधर्मो गृह्यते, एवमपि निवर्त्तेत प्रकरणम् । सोऽयं हेतुरुशौ पक्षौ प्रवर्तयन्नन्यतरस्य निणयाय न प्रकरणते । १।२।७।।

हो जाता है, इसलिये सामान्य रूप से जाने गये (अर्थ) की जो विशेष रूप से अनुप-लिब्ध है वह प्रवरण के चिन्तन को प्रवृत्त करती है। उदाहरण है, शब्द नित्य है, अनित्य के धर्म की अनुपलिब्ध होने से, शब्द अनित्य है नित्य के धर्म की उपलिब्ध न होने से। इससे ही प्रकरण चलता रहता है अतः यह हेतु नहीं।

जहाँ संशय का कारण होने वाले समान धर्म का हेतुरूप में ग्रहण किया जाता है वहाँ संशयसम सव्यभिचार ही होता है। किन्तु जो सशय में विशेष की अपेक्षा होती है और दोनों पक्षों के विशेष की उपलब्धि नहीं होती, वह प्रकरण को चलाती रहती है; जैसे शब्द में नित्य का धर्म नहीं उपलब्ध होता, इसी प्रकार अनित्य का धर्म। वह यह दोनों पक्षों के विशेष की अनुपलब्धि प्रकरण के विचार को चलाती रहती है। कैसे ? इनके विपरीत होने पर ही प्रकरण समाप्त हो जाता है—यदि शब्द में नित्य का धर्म गृहीत हो जाये तो प्रकरण न चले अथवा यदि अनित्य का धर्म गृहीत हो जाये तो प्रकरण न चले अथवा यदि अनित्य का धर्म गृहीत हो जाये, तब भी प्रकरण समाप्त हो जाये। वह यह हेतु दोनों पक्षों को प्रवृक्ष करता हआ किसी एक के निर्णय के लिये समर्थ नहीं होता।

यत्र समात: — यहाँ प्रकरणसम (सत्प्रतिपक्ष) का अनैकान्तिक से भेद दिखलाया गया है। जहाँ समान धमं हेतु रूप में होता है वहाँ अनिश्चायक होने से अनैकान्तिक है; किन्तु जहाँ उभयपक्ष के विशेष की अनुपलिब्ध होने से विशेष की अपेक्षा बनी रहती है वहाँ प्रकरणसम होता है। प्रस्तुत उदाहरण में, उभयसिद्ध नित्य में नित्य धमं की अनुपलिब्ध नहीं जिससे यह सब्यिभचार हो जाये, इसी प्रकार उभयसिद्ध अनित्य में अनित्य धमं की अनुपलिब्ध नहीं, अपि तु दोनों हेतु सत्प्रतिपक्ष रूप से ही हेत्वाभास हैं।

नन्वयम् — यहाँ 'साध्यसम' होने का आक्षेप करके निराकरण किया गया है। आक्षेप का भाव है — पक्षप्रतिपक्ष ही प्रकरण हैं, वे साध्य ही हैं, उनके समान साध्यसम है। अत: साध्यसम से पृथक् प्रकरणसम नहीं कहना चाहिये।

न। विशिष्ट: परिहार का भाव है : यद्यपि प्रकरणसम शब्द ब्युत्पत्ति से सध्याविशिष्ट (साध्यसम) के समानार्थक है, तथापि इसका प्रवृत्तिनिमित्त है सत्प्रतिपक्षत्व (जिसका समबल हेतु प्रतिपक्ष का साधक हो) । साध्यसम में तो हेतु या पक्ष असिद्ध होता है । यहाँ तत्त्वानुपलब्धि स्वयम् असिद्ध नहीं ।

[हेत्वाभासाः

न्यायवात्तिकम्

नन्वयं साध्याविशिष्ट एव, यथा शब्दस्य नित्यत्वं साध्यं तथा अनित्यधमीनु-पलब्धिरपि, इति । नाविशिष्टस्तस्येव प्रकरणप्रवृत्तिहेतोधंमस्य हेतुत्वेनोपादानात्-यत्र साध्येन समानो धर्मो हेतुत्वेनोपादीयते स साध्याविशिष्टः, यत्र पुन. प्रकरणप्रवृत्ति-हेतुरेव स प्रकरणसमः ।

ये तु संशयहेतुत्वात् प्रकरणसमानैकान्तिकयोरभेदं वर्णयन्ति तेषां प्रत्यक्षा-नैकान्तिकप्रकरणसमानामभेदः प्राप्नोति । प्रत्यक्षमिय संशयकारणम् इति । समूहः संशयस्य कारणिम्त्यतो न प्रत्यक्षे प्रसङ्गः — सामान्यदर्शनं विशेषाव्यवस्था विशेष-स्मृतिश्च समूह इति संशयस्य कारणम्, नैकं प्रत्यक्षमतो न प्रत्यक्षे प्रसङ्गः । समूहः कारणिम्त्यिभिधानादप्रतिरोधः — समूहःकारणिमत्येवं बुवता न प्रत्यक्षस्य संशय कारणत्यं प्रतिषद्धं भवति । तस्मात् प्रसङ्गस्तदवस्थ एवेति ।

(आक्षेप) यह साध्यसम ही है, जिस प्रकार शब्द की नित्यता साध्य है, उसी प्रकार अनित्य धर्म की उपलब्धि न होना भी। [परिहार] यह साध्य के समान (अविशिष्ट) नहीं; क्योंकि उसी प्रकरण की प्रवृत्ति कराने वाले धर्म का हेतुरूप में प्रहण किया गया है। जहाँ साध्य के समान धर्म का हेतुरूप ये ग्रहण किया जाता है वह साध्यसम है; किन्तु जहाँ प्रकरण की प्रवृत्ति का हेतु (धर्म) ही (हेतुरूप में) होता है वह प्रकरणसम है।

[परमत का निराकरण] किन्तु जो संशय का निमित्त होने से प्रकरणसम और अनैकान्तिक का अभेद बतलाते हैं, उनके (मत में) प्रत्यक्ष, अनैकान्तिक तथा प्रकरणसम का अभेद प्राप्त होता है; क्योंकि प्रत्यक्ष भी संशय का कारण है। (शङ्का) सशय का कारण तो समूह होता है, अतः प्रत्यक्ष में यह प्रसङ्ग न होगा—समान का दर्शन, विशेष का निश्चय न होगा (अव्यवस्था) और विशेष का स्मरण, इनका समूह संशय का कारण होता है, अकेला प्रत्यक्ष नहीं; अतः प्रत्यक्ष में यह प्रसङ्ग न होगा। [समाधान] समूह (संशय) का कारण है, इस कथन से (प्रत्यक्ष में प्रसङ्ग का) प्रतिषेध नहीं होता—समूह कारण है ऐसा कहते हुए भी प्रत्यक्ष संशय का कारण है। इसका प्रतिषेध नहीं होता। इसलिये प्रसङ्ग उसी अवस्था में है।

ये त - दूसरों के मत को प्रस्तुत करके उसका निराकरण करते हैं। यह मत बौद्धों का है किन्तु किस आचार्य का यहाँ सन्दर्भ है ? यह ज्ञात नहीं टीकाकार ने केवल परमत कहा है (द्र० टी० ६५४)। बौद्धों के मत में तीन ही हेत्व।भास हैं असिद्ध, विरुद्ध तथा अनैकान्तिक (न्या० बि० ३.१०६)।

समूह: शङ्का का भाव है: केवल प्रत्यक्ष संशय का कारण नहीं अपि तु समूह (समुदाय) कारण है, यस्मिन् सित भवत्येव तत्कारणम्, समृहे सित च भवत्येव, नेकैकस्मिन्, तस्मात् नैकैक कारणम् इति भावः, टी० ६५४।

अप्रतिषेध: परिहार का भाव है: जो कारण नहीं होते उनका समूह भी कारण नहीं होता अतः जिनका समूह (समूहिनः) होता है वे ही एक दूसरे के समबद्यान से कारण हुआ करते हैं। अतः प्रत्यक्ष भी संशय का कारण है हो। कारण की परिभाषा है, जिसके होने पर ही (कार्य) होता है, बिना हुए नहीं (अन्वयव्यतिरेक), यस्मिन्सत्येव न त्वसतीति, टी० ६५४।

तदयम्य एव -- उसी प्रकार है। प्रत्यक्ष का जो अनैकान्तिक से अभेद कहा गया है, यह प्रसङ्ग होता ही है।

१. २. ७.]

[885

न्यायवात्तिकम्

उत्तयधर्मानुपलन्धावन्यतरधर्मोवादानं प्रकरणसमस्यार्थः —यत्र खलूमयविशेषानुपलन्धिस्तत्रान्यतरिवशेषस्योपादानं यत्प्रकरणापनोदनाय स प्रकरणसमो हेत्वाभासः;
उप्तयविशेषानुपलन्धेरिभिधानाशक्यत्वात्—न ह्या भयविशेषानुपलन्धिः शक्या प्रदर्शयितुम्। शरीरादन्यत्वं तु न सूत्रार्थः —न ह्ययं शरीरादन्यत्वमुपलभमानोऽपि यदा
तत्त्वमुपलभते तदा प्रवर्तते, इति । यदा तु तत्त्वं नोप लभते शरीरादन्यत्वमुपलभमानोऽपि तदा प्रवर्तते इति । शरीरादन्यत्वं चानंकान्तिकम् । अतश्च न
सूत्रार्थः । १।२।७॥

(शङ्का) दो धर्मों की अनुपलिंध होने पर किसी एक धर्म का ग्रहण करना प्रकरणसम का अर्थ है—निश्चय ही जहाँ दो विशेषों (धर्मों) की अनुपलिंध होती है वहाँ किसी एक विशेष का ग्रहण जो प्रकरण को समाप्त करने के लिये किया जाता है वह प्रकरणसम हेस्वाभास है। (समाधान) दो विशेषों की अनुपलिंध न कही जा सकने से—वस्तुत: दो विशेषों की अनुपलिंध दिखलाई नहीं जा सकती। (प्रकरणसम के अन्य उदाहरण का दोप दिखलाते हैं) शरीर से अन्य होना तो सूत्र का विषय (अर्थः) नहीं; क्योंकि (क) शरीर से अन्य होने की उपलिंध करने वाला भी यह जब तत्त्व की उपलिंध कर लेता है तब नहीं प्रवृत्त होता; किन्तु जब तत्त्व की उपलिंध नहीं करता शरीर से अन्य होने की उपलिंध करता हुआ भी तब प्रवृत्त हो जाता है। (ख) और शरीर से अन्य होना अनैकान्तिक है। अतः वह सूत्र का विषय (अर्थः—विषयः, टी०) नहीं। १।२।७॥

उभधर्म • — शङ्का का भाव है: दो धर्मों की अनुपलिब्ध होने पर उनमें से किसी एक धर्म का ग्रहण करना ही प्रकरणसम है। दो धर्मों की अनुपलिब्ध उभयपक्ष साधारणी है अतः यह सव्यभिचार ही है (द्र • टी • ६५४)।
उभयविशेषानुपलब्धे: — समाधान का भाव है: उभयधर्म की अनुपलिब्ध प्रकरणसम का हेतु नहीं

उभयविशेषानुपलढ्धे:— समाधान का भाव ह : उभयवम का जनुनारान्य प्राप्त है । यहाँ अपि तु एकधर्म की अनुपलब्धि ही हेतु है और यह साधारणी नहीं किन्तु प्रतिपक्ष से युक्त है । यहाँ उभयविशेष की अनुपलब्धि नहीं दिखलाई जा सकती ।

अनिधानसम् जा अपुनताच्य गहा स्वयास्य । शरीरादन्यत्वम् —दूसरों ने प्रकरणसम का उदाहरण दिया है 'नित्य बात्मा शरीरादन्यत्वात्,

आकाशवत्'। वह सूत्र का विषय (अर्थ) नहीं। न ह्यायम्-—आत्मा के शरीर से अन्य होने या न होने का ज्ञान प्रकरण की प्रवृत्ति का कारण नहीं अपि तु 'तत्त्वानुपलब्धि'। अतः शरीरादन्यत्व सूत्र का विषय नहीं।

चानकान्तिकम् -- शरीरादन्यत्व तो अनैकान्तिक है अतः प्रकरणसम नहीं।

[हेत्वाभासाः

न्यायस्त्रं भाष्यं च

साध्याविशिष्टः साध्यत्वात् साध्यसमः । १।२।८।।

द्रव्यं छायेति साध्यम्, गतिमत्त्वादिति हेतुः। साध्येनाविशिष्टः साधनीयत्वात् साध्यसमः—अयमप्यसिद्धत्वात् साध्यवत् प्रज्ञापियत्व्यः। साध्यं तावदेतत्, कि पुरुषवच्छायापि गच्छति. आहोस्विद् आवरकद्रव्ये संसपित आवरणसन्तानाद् असिन्निधिसन्तानोऽयं तेजसो गृह्यत इति । सपिता खलु द्रव्येण यो यस्तेजोमाग आव्रियते तस्य तस्यासिन्निधिरेवाविच्छिन्नो गृह्यत इति । आवरणं तु प्राप्तिप्रतिषेधः । १।२।८।।

न्यायवात्तिकम्

साध्याविशिष्टः साध्यत्वात् साध्यसमः । साध्येनाविशिष्टो यः साधनधर्मः, साध्यवत् प्रज्ञावियत्वयः स साध्यसमो हेत्वाभासः । तस्योदाहरणम्, द्रव्यं छाया गतिमत्त्वादिति । यथैद द्रव्यत्वं छायायाः साध्यं तथा गतिमत्त्वमिष, इति । गतिमत्त्वं देशान्तरे दर्शनादिति चेत्—अथापीदं स्यात् गतिभतीयं छाया देशान्तरे वर्शनादिति । यत्कलु देशान्तरेष्वयलभ्यते तद् गतिभत् यथा कुम्भः । तथा च छाया ।

साध्य के समान ही साधनीय होने से (कोई हेतु) साध्यसम (हेत्वामास) होता है। १।२।६।।

छाया द्रव्य है, यह साध्य है, गितवाली होने से यह हेतु है, जो साध्य के समान ही साधनीय होने से साध्य के समान ही साधनीय होने से साध्य के समान सिद्ध करना है (प्रज्ञापियतव्यः)। यह तो साधनीय ही है कि क्या पुरुष के समान छाया भी चनती है अथवा यह आवरण करने वाले (आवरक) द्रव्य के चलने पर आवरण के सन्तान से तेज की अनुपस्थित (असिन्निध) का निरन्तर होना (सन्तान) गृहीत होता है। निश्चय ही चलते हुए द्रव्य के द्वारा जो जो तेज का भाग आच्छा- दित कर लिया जाता है उस-उस (तेजो भाग) की अनुपस्थित लगातार गृहीत होती है। आवरण तो प्राप्ति का प्रतिषेध है। १।२।॥।

साध्याविशिष्ट: साध्यत्वात् साध्यसमः (यह सूत्र है) जो हेतु (साधन) होने वाला धर्म साध्य के समान है; साध्य की भौति सिद्ध करना है वह साध्यसम हेत्वा-भास है। उसका उदाहरण है छाया द्रव्य है गति वाली होने से। जैसे ही छाया का द्रव्य होना साध्य है उसी प्रकार गिववाला होना भी। (शङ्का) यदि अन्य देश में देखी जाने से (छाया) गित वाली है—यदि यह (मत) हो कि छाया गित वाली है;

साध्यसमः — 'साध्यसमः' यह लक्ष्य है, 'साध्याविणिष्टः' यह लक्षण है। इससे तीनों प्रकार के असिद्ध का ग्रहण होता है। असिद्ध के तीन प्रकार हैं स्वरूपासिद्ध, आश्रयासिद्ध, अन्यथासिद्ध।

साध्याविशिष्ट: — यदि 'असिद्धः साध्यसमः' ऐसा लक्षण करते तो सिद्धि से पहले अन्यतरासिद्ध अहेतु न होता। साध्याविशिष्ट कहने से उसका भी संग्रह हो जाता है।

साधनीयत्वात् — न 'साध्यत्वात्' इत्यस्य व्याख्यानम्, अपि तु गतिमत्त्यस्यासिद्धत्वपरम्, टी॰ ६५८। द्वव्य छाया — यह तीनों प्रकार के असिद्ध का साधारण उदाहरण है। वार्तिककार ने 'ययैव' आदि से इसकी स्वरूपासिद्धता दिखलाई है। 'गतिमत्त्वम्' इत्यादि से पूर्वपक्षी की ओर से पञ्चावयव वाक्य के द्वारा छाया का 'गतिमत्त्व' दिखलाकर आगे आश्रयासिद्धता तथा अन्ययासिद्धता दिखलाई है।

2.2.5

[883]

न्यायवात्तिकम्

तस्माव् गतिमतीति । न, आश्रयासिद्धत्त्वात् — एवमध्ययमाश्रयासिद्धो हेतुः । सित द्रव्यश्रावे छायाया देशान्तरे दर्शनं समर्थं स्यात् । द्रव्यमावद्गचासिद्धः । तस्माव् आश्रयासिद्धे नं हेतुः ।

अभ्युपेत्य वेशान्तरे वर्शनम्, तस्यान्ययासिद्धे रसिद्धः—यवेव देशान्तरे वर्शनं छायायास्तदन्यया संभवति । अन्यया च भवन् नार्थं साध्यतीति । कथमन्यया ? आवरणसन्तानाव् असिन्निधिसन्तानस्तेजस इति—आवरके द्रव्ये सर्पति तेजसोऽसिन्निधि-विशिष्टं द्रव्यं यव् यव् उपलभ्यते तत्तत् छायेत्युच्यते ।

सोऽयमसिद्धस्त्रोधा भवति, प्रज्ञापनीयधर्मसमानः, आश्रयासिद्धः, अन्यया-सिद्धश्च । 'नित्या शब्दोऽस्पर्शत्वाव्' इत्येतत् नोदाहरणम्, नह्यस्पर्शत्वं शब्दस्य ज्ञापनीयम्, नाश्रयासिद्धम्, नान्ययासिद्धम् इति । यथा त्वस्माभिः सूत्रं वर्णितं यथा चोदाहृतम्, तथायमसंबद्धो दोषः । न सूत्रार्थो विज्ञातो नाक्षरार्थो न हेत्वाभासो न वृष्टान्ताभास इति । १।२।६।।

क्यों कि अन्य स्थलों में देखी जाती है। तो (वस्तु) अन्य स्थलों में उपलब्ध होती है वह गितवाली होती है जैसे घट, वैसे ही छाया है, इसिलये गित वाली है। [समाधान] यह ठीक नहीं; आश्रयासिद्ध होने से—इस प्रकार भी यह हेतु आश्रया-सिद्ध है। द्रव्यत्व होने पर अन्य स्यल में दर्शन समर्थ (हेतु) हो सकता है, किन्तु (छाया का) द्रव्य होना असिद्ध है। इसिलये आश्रय के असिद्ध होने से यह हेतु नहीं।

अन्य स्थल में दर्शन को स्वीकार करके उसके अन्ययासिद्ध होने से (वह हेतु) असिद्ध है—छाया का जो अन्य स्थल में दर्शन है वह अन्यथा हो सकता है और अन्यथा होता हुआ इब्ट अर्थ को सिद्ध नहीं करता। (प्रश्न) अन्यथा कीसे? (उत्तर) आवरण के सन्तान से तेज की अनुपस्थिति होने से—आवरक द्रव्य के चलने पर तेज की अनुपस्थिति से युक्त जो-जो द्रव्य उपलब्ध होता है वह-वह छाया कहलाता है।

वह यह असिद्ध तीन प्रकार का है, साध्य धर्म के समान (स्वरूपसिद्ध) आश्रयासिद्ध और अन्यथासिद्ध । (बौद्ध द्वारा किल्पत उदाहरण का दोष) शब्द नित्य है स्पर्शरहित होने से, यह उदाहरण नहीं; वस्तुतः शब्द का स्पर्शरहित होना न तो साध्य है, न आश्रयासिद्ध है, न अन्यथासिद्ध । किञ्च, जैसे हमने सूत्र की व्याख्या की है और जैसे उदाहरण दिया है उस प्रकार यह दोष असम्बद्ध है । (बौद्ध ने) न सूत्र का अर्थ मली भाँति जाना, न अक्षरों का अर्थ, न हेत्वाभास न दृष्टान्ताभास ही । १।२।=।।

न, आश्रयासिद्धत्वात् - जो छाया के देशान्तर में दर्शन से इसके 'गतिमत्त्व' का अनुमान करता है उसके प्रति छाया नामक आश्रय की द्रव्य रूप में असिद्धता कही गई है।

सित द्रव्यभावे — छाया द्रव्य नहीं अपि तु तेज का अभावमात है (द्र० टी० ६५६)।

अभ्युपत्य — तेज के अभाव को देशान्तर दर्शन का आश्रय मान लें तो यहाँ अन्यवासिद्ध है जो

'कयमन्यया ?...छायेत्युच्यते' में तिखलाई गई है।
सोऽयमिसद्धः — 'नित्यः शब्दः चाक्षुपत्वात्' में हेतु स्वरूपासिद्ध है। 'तनुमुबनादीनां न कर्ता ईश्वरोऽशरीरत्वात्' यहां हेतु आश्रयासिद्ध है और 'श्यामो मैत्रीतनयत्वात्' यहां अन्ययासिद्ध है। नित्यः शब्दोऽस्पर्शत्वात् —बौद्ध ने साध्यसम का यह उदाहरण मानकर 'साध्यसम' के लक्षण को दूषित किया है। यह उदाहरण ठीक नहीं।

[हेत्वाभासाः

868]

न्यायसूत्रं भाष्यं च

कालात्ययापदिष्टः कालातीतः ।१।२।६।।

कालात्ययेन युक्तो यस्यार्थं कदेशोऽपिद्यमानस्य स कालात्ययाप-दिच्टः कालातीत इत्युच्यते । निदर्शनम्, नित्यः शब्दः संयोगव्यङ्ग्यत्वाद् रूपवत् । प्रागूर्ध्वं च व्यक्ते रवस्थितं रूपं प्रदीपघटसंयोगेन व्यक्यते, तथा च शब्दोप्यवस्थितो भेरोदण्डसयोगेन व्यक्यते, दारुपरशुसंयोगेन वा । तस्मात् संयोगव्यङ्ग्यत्वान्नित्यः शब्दः' । इत्ययमहेतुः कालात्ययापदेशात्— व्यञ्जकस्य संयोगस्य कालं न व्यङ्ग्यस्य रूपस्य व्यक्तिरत्येतः, सित्त प्रदीपसंयोगे रूपस्य ग्रहणं भवति, न निवृत्ते संयोगे रूपं गृह्यते । निवृत्ते तु दारुपरशुसंयोगे दूरस्थेन शब्दः श्रूयते विभागकाले । सेयं शब्दस्य व्यक्तिः संयोगकालमत्येतीति न संयोगनिमित्ता भवति । कस्मात् ? कारणाभावाद्धि कार्याभाव इति । एवमुदाहणसाधम्यस्याभावाद् असाधनभयं हेतुहेत्वाभास इति ।

काल बीत जाने पर कहा गया (हेतु) कालातीत (हेत्वाभास) हो जाता है। १।२ હ॥

जिस कहे जाते हुए अर्थ का एक अंश काल के अतिक्रमण से युक्त होता है (काल बीत जाने पर कहा जाता है) वह कालात्यय से कहा गया (हेतु) कालातीत (हेत्वाभास) कहलाता है। उदाहरण है, शब्द नित्य है, संयोग द्वारा अभिव्यक्त होने से रूप के समान । अभिन्यक्ति से पहले और बाद में विद्यमान रूप (ही) दीपक और घट के सयोग से अभिव्यक्त होता है, उसी प्रकार विद्यमान होता हुआ शब्द भी भेरी और दण्ड के संयोग से अभिव्यक्त हो जाता है अथवा काष्ठ और परश् के संयोग से; इसलिये संयोग द्वारा व्यङ्ग्य होने के कारण शब्द नित्य है। यह हेतु नहीं कालात्यय से होने (कहा जाने) के कारण—ब्यञ्जक जो (घट और प्रदीप का) संयोग है उसके काल को व्यक्त होने वाले रूप की अभिव्यक्ति अतिक्रान्त नहीं करती; प्रदीप का संयोग होने पर रूप-प्रहण हो जाता है, संयोग के निवृत्त होने पर रूप-ग्रहण नहीं होता। किन्तु काष्ठ और परणु का संयोग निवृत्त हो जाने पर विभाग के समय दूरी पर स्थित (जन) के द्वारा शब्द सुना जाता है। वह यह शब्द की अभिव्यक्ति (दारु और परशुके) संयोग के काल को अतिक्रान्त करती है अत: संयोग के निमित्त से नहीं होती। क्यों ? क्योंकि कारण के अभाव से कार्य का अभाव हो जाता है। इस प्रकार उदाहरण के साधम्यं का अभाव होने से यह हेतु साधन नहीं तथा हेत्वाभास है।

कालातीत: (बाधितः) — यहां कालातीत: यह लक्ष्य है, 'कालात्ययापदिष्टः' यह लक्षण है। हेतु के कथन का समय है साध्यसन्देहिविशिष्टकाल। अत: जहां प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगम का विरोध होने पर हेतुकथन होता है वह सब कालातीत (बाधित) हेत्वाभास होता है (द्र० टी० ६६६)। कालात्ययेन — भाष्यकार: सूत्रं स्वपरमतिश्लष्टं व्याचष्टे ... परमतेनैव निदर्शनमाह, टी० ६६६। यहां नित्यत्व का अभिप्राय है स्थित रहना (अवस्थानमात्रम्) अत: प्रकाश के संयोग से अभिव्यक्त होने वाले घट आदि में व्यभिचार नहीं (द्र० टी० ६६७)।

2.7.8

884

न्यायवात्तिकम्

कालात्ययापदिष्टः कालातीतः । यस्यापदिश्यमानस्य कालात्ययेनैकवेशो युज्यते, स एकवेशात्ययात् कालात्ययापदिष्टः कालानीत इत्युच्यते । उवाहरणम्, नित्यः शब्दः संयोग्वयङ्ग्यत्वाद् इति । उपलब्धिकाले संयोगो नास्ति, सोऽयं संयोगो हेतुविशेषण-त्वेनोपात्तः, उपलब्धिकालमत्येति, यदोपलभ्यते तदा संयोगो नास्ति । दाख्यश्चने दारुपशुसंयोगनिवृत्तौ शब्दोपलब्धिरिति । नन्वयमनैकान्तिक एव संयोगव्यङ्ग्यत्वा-दिति । अनित्यमपि संयोगेन व्यज्यमानं दृष्टम्; यथा घट इति । न, संयोगव्यङ्ग्यत्वेन् नावस्थानस्य साध्यत्वात्—न बूमो नित्य शब्द इति, अपि त्ववतिष्ठते शब्दः इत्ययं प्रतिज्ञार्थः । तथा च संयोगव्यङ्ग्यत्वाद् इत्ययं हेतुनिकान्तिकः । न ह्यनवस्थितं किञ्चत् संयोगेन व्यज्यमानं दृष्टमिति ।

कालात्ययापिदिण्टः कालातीतः (यह सूत्र है) ! जिस कहे जाते हुए (अयं) का एक अग कालातिक्रमण से युक्त होता है, वह एक अंग के अतिक्रमण से काल के बीत जाने पर कहा गया (कालात्ययापिदिण्टः) हेतु कालातीत (हेत्वाभास) कहा जाता है । उदाहरण है शब्द नित्य है संयोग द्वारा व्यङ्ग्य होने से । यहाँ शब्द की उपलब्धि के समय संयोग नहीं होता, हेतु के विशेषण रूप में गृहीत किया गया वह यह सयोग (शब्द की) उपलब्धि के काल का अतिक्रमण करता है, जब (शब्द) उपलब्ध होता है तब संयोग नहीं होता । काष्ठ के छेदन में काष्ठ और परशु का संयोग निवृत्त हो जाने पर शब्द की उपलब्धि होती है । शङ्का है (ननु) वह 'संयोगव्यङ्ग्यत्वात्' (हेतु) अनैकान्तिक (ही) है (उससे पृथक् नहीं); क्योंकि अनित्य को भी संयोग द्वारा अभिव्यक्त होता हुआ देखा गया है; जैसे घट को । [समाधान] शङ्का ठीक नहीं, 'संयोगव्यङ्ग्य' के द्वारा (शब्द की) स्थित (अवस्थान) साध्य होने से—हम नहीं कहते कि शब्द नित्य (सदा स्थित) है अपितु प्रतिज्ञा का अर्थ है कि शब्द (श्रवण से पहले और बाद में) स्थित रहता है । इस प्रकार संयोगव्यङ्ग्यत्वात् यह हेतु अनैकान्तिक नहीं है । वस्तुतः स्थित न होने वाला कुछ (भी) संयोग से अभिव्यक्त होता नहीं देखा गया ।

अयमहेतु: — यहाँ 'संयोगन्यङ्ग्यत्वात्' हेतु दिया गया है जो हेत्वाभास है। इसका एकदेश संयोग है जो हेतु में विशेषण है वह शब्द की अभिन्यक्ति में काल का अतिक्रमण करता है। दार और परशु के संयोग के पश्चात् ही दूरी पर स्थित न्यक्ति को शब्द का श्रवण होता है। यस्यापदिश्यमानस्य "पुनरुच्यते – यह वाक्तिक भाष्य की न्याख्या ही है।

नन्वयमनैकान्तिक एव —भाव यह है: यह अनैकान्तिक ही है प्रकाश और घट आदि के संयोग से व्यङ्ग्य घट आदि भी हैं जो नित्य नहीं होते।

अवितिष्ठते शब्द:--समाधान का भाव है : यहाँ नित्य का अर्थ है स्थित (अवस्थानमात) । जो संयोग से पहले और बाद में अवस्थित है वह संयोगव्यङ्ग्य है यह भाव है । अतः अनैकान्तिक नहीं ।

न्यायभाष्यम्

अवयविषयिमियचनं न सूत्रार्थः । कस्मात् ? यस्य येनार्थसम्बन्धो दूरस्थस्यापि तस्य सः । अर्थतो ह्यसमर्थानामानन्तर्यमकारणम् ॥

इत्येवद्वचनाद् विपयसिनोक्तो हेतुरुदाहरणसाधम्यात् तथा वैधभ्यात् साध्यसाधनं हेतुलक्षणं न जहाति । अजहद्हेतुलक्षणं न हेत्वाभासो भव-तोति । अवयवावपर्यासवचनम् अप्राप्तकालम् (न्या० सू० ५.२.११) इति च निग्रहस्थानमुक्तम् । तदेवेदं पुनरुच्यत इति, अतस्तन्न सूत्रार्थः ।१।२।६।। न्यायवात्तिकम्

अवयविषयिसिवचनम् अपि न सूत्रार्थः सामध्यति – न हि पश्चादिशिधीयमानो हेतुः 'उदाहरणसाधम्यदि' इत्येतत् हेतुलक्षणं जहाति । अजहद्हेतुलक्षणं न हेत्वाभासो भवितुमहंति' इति । अवयवविषयिसिवचनमत्राप्तकालम् (५.२.११) इति निग्रह-स्थानमुक्तम् । तदेव पुनरुच्यते इति ।

विपरीत कम से, अवयवों का कथन (कालातीत है) यह सूत्र का अर्थ नहीं; क्यों ? जिसका जिसके साथ अर्थ का सम्बन्ध है उसका वह दूरी पर स्थित का भी है, जो अर्थ से सम्बद्ध नहीं उनका आनन्तर्य (सम्बन्ध का) कारण नहीं।।

इस वचन के अनुसार विपरीत कम से कहा गया हेतु 'उदाहरण के साधम्यं से तथा वैधम्यं से साध्य का साधन हेतु है' इस हेतु के लक्षण को नहीं छोड़ता । हेतु के लक्षण को न छोड़ता हुआ वह हेत्वाभास नहीं होता । किञ्च, (प्रतिज्ञा आदि) अवयवों को विपरीत कम से कहना अप्राप्तकाल है (५.२.११) यह निग्रहस्थान भी कहा गया है, उसकी ही यह पुनरुक्ति होगी, इसलिये वह सूत्र का अर्थ नहीं। १।२।६॥

अवयवों का विपरीतक्रम से कहना तो सूत्र का अर्थ नहीं, सामर्थ्य से (समर्थ होने से)—वस्तुतः पण्चात् कहा गया हेतु उदाहरणसाधम्यात् (न्या॰ सू॰ १.१.३४) इत्यादि हेतु के लक्षण को नहीं छोड़ देता, हेतु के लक्षण को न छोड़ता हुआ वह हेत्वाभास नहीं हो सकता । किञ्च (तब तो), 'अवयवविपर्यासवचनमप्राप्तकालम् ५.२.११' यह (सूत्रकार ने) निग्रहस्थान कहा है, उसका ही पुनः कथन यह होगा।

अवयविषयां सवचन तु — यह टीकासम्मत पाठ है। यह भी भाष्य की व्याख्या है। बौढ ?
ने व्याख्या की थी कि प्रतिज्ञा के पश्चात् हेतु देना होता है तब न देकर पीछ से दिया गया हेतु
कालातीत हो जाता है जैसे कोई कहे 'शब्द अनित्य है घट आदि के समान' फिर 'कैसें' ?
(कस्मात् ?) यह पूछने पर 'कृतकत्वात्' यह हेतु कहा जाये, यह हेतु कालातीत हेत्वाभास होगा।
ऐसी व्याख्या करके उसने कालातीत के इस लक्षण को दूषित किया है और उपसंहार किया है कि
कालातीत नाम का कोई हेत्वाभास नहीं होता। बौद्ध की व्याख्या को न स्वीकारने से उसके दिये
दोष का निराकरण हो जाता है (द्र० टी० ६६७)।

सामध्यत् — काल के पश्चात् भी हेतु कहे जाने पर वह अर्थकयन में समर्थ होता है।

न्यायवात्तिकम्

समीकृतेऽभिधानात् (न) निग्रहस्थानम् इति चेत्—अथ मन्यसे यस्मात् समीकृते पक्षे पश्चादिभधीयते, ततो न निग्रहस्थानिमिति । केन समीकृते, इति वक्त-व्यम् । हेत्वनिश्चधानेन-यदि हेत्वनिश्चानेन समीकृतः, किमत्र हेतोरसामध्यंम् ? एत-वस्यासामध्यं यदयं पश्चाद् अभिधीयते इति । नैतव् हेतोरसामध्यं यदयं पश्चाद् अभिधीयते इति, अपि तु वक्तृरिति । न हि स्वतन्त्रो हेतुः साधनम्, अपि तु साध-यितृतन्त्रः । तत्तन्त्रत्वात् न हेतुदोषः सामध्यिच्वित्युक्तम् । तस्माद् अवयविषपर्यास-वचनं न सूत्रार्थः, न समीकृताभिधानिमिति । १।२-६॥

(शङ्का) यदि (कहो) समान कर देने पर

(समीकृते) कहने से निग्रह स्थान (नहीं)—यदि मानते हो क्योंकि पक्ष के समान कर देने पर पण्चात् (हेतु) कहा जाता है अतः यह (अप्राप्तकाल) निग्रह स्थान नहीं। [समाधान] किसके द्वारा समान कर देने पर यह कहना होगा। हेतु का कथन न करने से —यदि हेतु का कथन न करने से (पक्ष के) समान कर दिया गया है तो इसमें हेतु का असामध्यं क्या है ? (शङ्का) इसका यह असासध्यं है कि यह पश्चात् कहा जाता है। [समाधान] यह हेतु का असामध्यं नहीं कि यह पश्चात् कहा जाता है अपि तु यह वक्ता का (असामध्यं) है। क्योंक स्वतन्त्र हेतु साधन नहीं है अपि तु साधियता के अधीन हुआ (तन्त्र)। उसके अधीन होने से यह हेतु का दोष नहीं; और सामध्यं से (युक्ति से) ऐसा कहा गया है। इसिलये (प्रतिज्ञा आदि) अवयवों का विपरीत कम से कथन करना सूत्र का अर्थ नहीं, न ही (पक्ष के) समान करके कहना (हीं)। १।२।६।।

समीकृते शिधानात् — यहाँ न 'निग्रहस्थानम्' पाठ यृक्त है। शक्का का भाव है: यह 'अप्रत्वकाल' नामक निग्रहस्थान की पुनरुक्ति नहीं, अपि तु हेत्वाभास है। अवयवविषय सिवचन नामक निग्रहस्थान वह है जहाँ वादी एक साथ प्रतिज्ञा, उदाहरण आदि का प्रयोग करके पश्चात् हेतु का प्रयोग करता है। यहां तो प्रतिज्ञा और उदाहरण का प्रयोग करके वादी विरत हो जाता है, प्रतिवादी के द्वारा प्रथन किया जाने पर पश्चात् हेतु का प्रयोग करता है। अतः न्यूनता दोष से पक्ष को समीकृत करके अर्थात् पक्षमावता को प्राप्त करा देने पर या सिद्धावस्था से गिरा देने पर पश्चात् हेतु का कथन करने से यहां कालातीत हेत्वाभास होता है। किमन्न हेतोरसामध्यंम् — अन्य के दोष को अन्य पर आरोपित नहीं किया जा सकता, यदि हेतु का ही सामर्थ्य है तो कैसे ? यदयं पश्चाद् अभिद्योयते — क्योंकि हेतु पश्चात् कहा जाता है अतः समयं नहीं रहता। इसके समाधान के लिये कहा है 'नैतद् ' वक्त रिति', यह वक्ता का असामर्थ्य है। सामर्थ्याच्चेत्युक्तम् — वाक्तिककार ने इस प्रकरण के आरम्भ में 'अवयवविषय सिवचनं तु न स्वार्थ:, सामर्थ्यात्' ऐसा कहा है। भाव यह है कि हेतु पहले या बाद में कभी भी कहा जाये वह अर्थकथन में समर्थ है। तस्मात् — यहाँ दोनों मतों के निराकरण का उपसंहार किया गया है।

[छलम्

अथ छलम्,

वचनविघातोऽर्थविकत्पोपत्त्या छलम् ।१।२।१०।। न सामान्यलक्षणे छलं शक्यमुदाहर्तुम्, विभागे तूदाहरणानि । १।२।१०॥ विमागञ्च,

तत् त्रिविधं वाक्छलं सामान्यच्छलम् उपचारच्छलं च । १।२।११ ॥ न्यायवात्तिकम्

वचनविद्यातोऽर्थविकल्पोपपत्त्याच्छलम् । वचनविद्यातो यः क्रियते सामान्य-शब्दस्य विशेषानेकसंबन्धिःवे सति अविवक्षिताध्यारोपेण, छलं तद् वेदितव्यम् ।

> १।२।१० ॥ तत् त्रिविधमिति नियमार्थं पूर्वेवद् अनेकधा भिन्नं छलं संगृह्यत इति । १।२।११ ॥

अब छल (का निरूपण) है-

अर्थ का विकल्प हो सकने के कारण बचन का विरोध करना छल है।

११२११ ०।।

सामान्य लक्षण में छल का उदाहरण नहीं दिया जा सकता, किन्तु विभाग करके उदाहरण होते हैं। १।२।१०।।

विभाग यह है-

वह तीन प्रकार का है वाक्छल, सामान्यच्छल और उपचारच्छल।

शिरा११॥

वचनविघातोऽर्थविकल्पोपपस्या छलम् (यह सूत्र है)। सामान्य णब्दका अनेक विशेष अर्थों से सम्बन्ध होने पर अविवक्षित अर्थ का अध्यारोप करके जो वचन का विरोध किया जाता है उसे छत्र जानना चाहिये। १।२।१०॥

वह तीन प्रकार का है (तित्त्रविधम्) यह नियम के लिये है। यहाँ पहले के समान अनेक प्रकार से भिन्त-भिन्न होने वाले छत्र का (तीन प्रकारों में) संग्रह किया गया है। १।२।११॥

छलम् — उद्देशक्षम के अनुसार लक्षणकम है; अतः हेत्वाभास के अनन्तर छल का लक्षण किया गया है। जैसा बक्ता का अभिप्राय होता है उससे विरुद्ध अर्थ की कल्पना जो शब्दों से की जा सकती है वह छल है।

सामान्यलक्षणे -- विशेष रहित सामान्य नहीं होता अतः केवल सामान्य छल का उदाहरण न देकर विमाग करके उदाहरण दिये गये हैं।

विभागे— विभागे = विशेष लक्षण करने पर, विभज्यते इति विभागो विशेषलक्षणम्, तस्मिन् उदाहरणानि, टी० ६६६।

नियम। र्थम् — छल तीन प्रकार का ही है, अधिक या न्यून नहीं, यह नियम करने के लिये।
पूर्ववत् पहले (हेत्वाभास) के समान छल के भी अनेक प्रकार होते हैं; किन्तु सभी का इन तीन
में संग्रह हो जाता है।

न्यायसूत्रं भाष्यं च

तेषाम् अविशेषाभिहितेऽर्थे वक्तुरभिप्रायादर्थान्तरकल्पना वावछलम्। शशाश्य ॥

नव कम्बलोऽयं माणवकः, इति प्रयोगः। अत्र नवः कम्बलोऽस्येति वक्तुरभिप्रायः। विग्रहे तु विशेषो न समासे। तत्रायं छलवादी वक्तुः अमि-प्रायाद् अविवक्षितमन्यमर्थं नव कम्बला अस्येति तावदिमहितं मवतेति कल्पयति । कल्पयित्वा चासम्भवेन प्रतिषेधति, एकोऽस्य कम्बलः कुतो नव कम्बला इति । तदिदं सामान्यशब्दे वाचि निमित्ते छलं वाक्छलमिति ।

न्यायवात्तिकम

अविशेषाभिहितेऽर्थे, इति सूत्रम् । अविशेषाभिहितमिति सामान्यश्रुति वाक्यं पदं वा अविशेषाभिहितमुच्यते । वाष्यं सामान्यश्रुति यया नव कम्बलोऽयमिति । पवं सामान्यश्रुति यथा अश्वोऽश्व इति ।

उनमें

अपवः ।

सामान्य (अदिशेष) रूप से कथित अर्थ में वक्ता के अभिप्राय से भिन्त अर्थ

की कल्पना वाक्छल है। १।२।१२॥

यह बालक नवकम्बल वाला है, यह प्रयोग है। यहां बक्ता का अभिप्राय है, इसका नवीन कम्बल हैं। विग्रह करने पर भेद हो जाता है समास में नहीं। उसमें यह छलवादी वक्ता के अभिप्राय से भिन्न अविवक्षित अन्य अर्थ की कल्पना कर लेता है कि आपने तो कहा है इसके नौ (६) कम्बल हैं। अोर ऐसी कल्पना करके असम्भव होने से (वचन का) प्रतिषेध करता है — 'इसके (पास) तो एक कन्बल है, नी कम्बल कहां हैं। वह यह सामान्य शब्द (के प्रयोग) में बाणी के निमित्त से (किया गया) छल (ही) वाक्छल है।

अविशोपाभिहितेऽर्थे यह सूत्र है। सामान्यतः सुना गया वाक्य या पद ही सामान्य रूप से कहा गया (अविशेषाभिहित) कहा जाता है। सामान्य रूप से सुना गया वाक्य है जैसे 'नवकम्बलोऽयम्। सामान्य रूप से सुना जाने वाला भव्द है अधवः,

अविदोषाभिहिते - सामान्यतः कहे गये में, अविशेषाभिहितम् = सामान्यश्रुतिः (वा०)। वाक्छलम् — उन छलों में से वाक्छल का लक्षण है (गब्द का विग्रह है वाच: छलम्)। भाष्य में जो कहा गया है वाचि निमित्ते छलं वाक्छलम् । यह शब्दार्थ की व्याख्या है, वाक्छलमिति शब्दार्थं व्युत्पादयति, वाचि निमित्ते छलं वाक्छलमिति । नवकम्बल इत्युभयतापि समानायां वाचि निमित्तभूतायामित्यर्थः, टी० ६७२। अभिधावृत्तिसंचारो यत्र छले तद् वाक्छलमिति लक्षणार्थः, वाचीति विषयसप्तमी, परि० ६७३।

नवकम्बल: - वक्ता का अभिप्राय है 'नव: कम्बलोऽस्य' किन्तु वाक्छल से इसका अर्थ किया जाता

है 'नव कम्बलाः अस्य' । यहाँ वाक्य की सामान्यश्रुति है । अडवोऽश्व: -- अश्व जो नाम पद है वह अश्व (प्राणियिशेष, घोड़ा) का वाचक है, जो आख्यातपद है वह । टुओप्वि गतिवृद्धयो: के लुङ् लकार मध्यम पुरुष का एकवचन है जिसका अर्थ है वृद्धि को प्राप्त हुआ (वृद्धिगतोऽसि, टी॰ ६७३)।

820 1

[छलम्

न्यायवात्तिकम्

अविशेषशब्दानिभिधानं प्रयोगाभावात् – ह्यविशेषशब्देन कस्यचिद् अभिधःनं संभवति।

न ःचास्य प्रयोगो युक्त इति। वाषयं च सर्वं पुच्चरद्विशेषमेव प्रत्यायप्रतीति सामान्यप्रत्यायनमयुक्तम्। न प्रकरणादीनन्तरेण श्रुतिमात्रात् तदुपपत्तेः — यदा प्रकारणादिनिरपेक्षं वाष्यम् उच्छार्यते श्वेतो धावतीति, तदा वाष्यश्रुतिसामान्यात् श्रोतुः सन्देहः।
सन्देहे सन्यविविध्वतमर्थं मध्यारोज्य प्रतिषेधति। एवं पदेऽपीति। अर्थप्रहणं शब्दिनराकरणार्थम् — अर्थविषयं छलं न शब्दिवषयमिति। न ह्ययं प्रतिषेद्धुं शक्नोति, नायं
नथकम्बलशब्द इति।

(आक्षेप) सामान्य शब्द का कथन ठीक नहीं, प्रयोग न होने से—सामान्य शब्द से किसी (अर्थ) का कथन नहीं हो सकता और न इसका प्रयोग करना युक्त है। किञ्च, उच्चारण किये गये सभी वाक्य विशेष अर्थ का ही बोध कराते हैं; अतः सामान्य का बोध कराना अयुक्त है। [परिहार] (आक्षेप ठीक) नहीं, प्रकरण आदि के बिना शब्द के सुनने मात्र से वह बन सकता है — जब प्रकरण आदि की अपेक्षा किये बिना 'द्वेतो धावति' इत्यादि वाक्य का उच्चारण किया जाता है तब वाक्य के सामान्य श्रवण (श्रुति) से श्रोता को सन्देह हो जाता है। सन्देह होने पर (वह) अविवक्षित अर्थ का अद्यारोप करके प्रतिषध करता है। इसी प्रकार किसी पद के सुनने पर भी। यहाँ 'अर्थ' शब्द का ग्रहण शब्द के निराकरण के लिये है—अर्थ विषयक छल होता है, शब्दविषयक नहीं। वस्तुतः यह (श्रोता) ऐसा प्रतिषध नहीं कर सकता कि यह 'नवकम्बल' शब्द नहीं है।

अविशेषशब्दा० — आक्षेप का भाव यह है : समान शब्द से तो अर्थ में सन्देह ही होगा, किसी अर्थ का कथन न होगा। वस्तुत: शब्द विशेष अर्थ में ही प्रयुक्त होता है।

त प्रकरणादीन् —परिहार का भाव है: जब प्रकरणादि की अपेक्षा किये बिना वाक्य या णब्द का उच्चारण किया जाता है तो विशेष अर्थ का बोधक नहीं होता; जैसे —

इवेतों घावति — इस वाक्य के दो अर्थ हो सकते हैं (१) कुत्ता यहाँ से दौड़ता है और (२) प्रवेत कुष्ठी घोता है। इस प्रकार सामान्य गब्द के प्रयोग से अर्थ में सन्देह हो सकता है।

अर्थप्रहणम् — यहाँ सूत्र में अर्थ शब्द के ग्रहण का प्रयोजन दिखलाया गया है। भाव यह है कि सामान्यश्रुति वाला शब्द सुनने पर अन्य अर्थ की कल्पना होती है, अन्य शब्द की नहीं।

न्यायभाष्यम्

अस्य प्रत्यवस्थानम्, सामान्यशब्दस्यानेकार्थत्वेऽन्यतराभिधानकत्य-नायां विशेषवचनम् – नवकम्बल इत्यनेकार्थाभिधानम्, नवः वम्बलोऽस्येति, नव कम्बला अस्यति च। एतस्मिन् प्रयुक्ते येयं कत्पना नवकम्बला अस्य-त्येतद् भवताभिहितम्, तच्च न सम्भवतीति। एतस्यामन्यतराभिधानकत्प-नायां विशेषो वक्तव्यः, यस्माद् विशेषोऽर्थविश्षषेषु विज्ञायतेऽयमयोऽनेनाभि हित इति। स च विशेषो नास्ति, तस्मान्मिथ्याभियोगमात्रमेतदिति।

न्यायवात्तिकम्

तस्य प्रत्यवस्थानम्, ज्ञात्वा अज्ञात्वा वा प्रयोगात् प्रतिषेधानुपपत्तिः-यदि तावत् नवकम्बलस्यार्थं बुद्ध्वा नायं नवकम्बल इति प्रत्यवित्ष्ठते, तदार्थान्तरमाह, अन्यद् बुध्यते अन्यत् प्रतिषिध्यते इति । अथ पुनर्नेव नवकम्बलस्यार्थं बुध्यते तथाप्यज्ञान-मिति । १।२।१२।।

हस (वावछल) वा निरावरण है; सामान्य शब्द अनेकाथंक होता है फिर उसके किसी एक अर्थ की कल्पना में विशेष (कारण) कहना होगा—'नवकम्बल' यह अनेक अर्थों को कहता है, 'नवीन कम्बल है इसका' और 'नौ हैं कम्बल इसके'। इसका प्रयोग होने पर जो यह कल्पना है कि 'नौ हैं कम्बल इसके', यह आपने कहा है और वह सम्भव नहीं है। इस किसी एक अर्थ के वाचक होने की कल्पना में विशेष (कारण) कहना होगा; क्योंकि अर्थविशेषों में कोई विशेषता जानी जाती है कि इसने यह अर्थ कहा है। और वह विशेषता (यहाँ) नहीं है, इसलिये यह मिथ्या आरोप (अभियोग) मात्र है।

उसका निराकरण है, जानकर या न जानकर इस प्रयोग से प्रतिषेध नहीं बन सकता — यदि तो नवकम्बल शब्द का अर्थ जानकर 'यह नौ कम्बल वाला नहीं' ऐसा (आप) खण्डन करते हैं तब आप जाने गये से भिन्न अर्थ कहते हैं, अन्य जानते हैं अन्य प्रतिषेध करते हैं। किन्तु यदि 'नवकम्बल' (शब्द) का अर्थ (आप) नहीं

समझते तो भी (आपका) अज्ञान है । १।२।१२॥

प्रत्यवस्थानम् — पराजय की अवस्था में जल्प में छल का प्रयोग किया जाता है, यह कहा गया है और यह भी कि दूसरे के वाक्य में इसका पर्यनुयोग किया जाता है। पर्यनुयोग कैसे किया जाता है? यह भाष्यकार ने यहाँ दिखलाया है। भाव यह है: यदि दोनों अर्थ भाष्ति हो रहे हैं तो संभव अर्थ का त्याग करके असम्भव अर्थ की कल्पना करना युक्त नहीं।

न्यायभाष्यम

[छलम्

प्रसिद्धश्च लोके शब्दार्थसम्बन्धोऽभिधानाभिधेयनियमनियोगः।
अस्याभिधानस्यायमर्थोऽभिधेय इति समानः सामान्यशब्दस्य, विशेषो
विशिष्टशब्दस्य। प्रयुक्तपूर्वाश्चेमे शब्दा अर्थे प्रयुज्यन्ते, नाप्रयुक्तपूर्वाः।
प्रयोगश्चार्थसम्प्रत्ययार्थः। अर्थप्रत्ययाच्च व्यवहार इति । तत्रं वमर्थगत्यथें
शब्दप्रयोगे सामर्थ्यात् सामान्यशब्दस्य प्रयोगनियमः। अजां ग्रामं नय, सीपराहर, ब्राह्मणं भोजयेति सामान्यशब्दः सन्तोऽर्थावयवेषु प्रयुज्यन्ते, सामर्थात्
यत्रार्थक्रियादेशना सम्भवति तत्र प्रवन्तेते नाऽर्थसामान्ये, क्रियादेशनासम्भवात्। एवमयं सामान्यशब्दो नवकम्बल इति, योऽर्थः सम्भवति नवः कम्बलोऽस्येति, तत्र प्रवतंते। यस्तु न सम्भवति नव कम्बला अस्येति तत्र न
प्रवतंते। सोऽयमनुपपद्यमानार्थकत्पनया परवाक्योपालम्भस्ते न कल्पत
इति। १।१।१२।।

किञ्च, लोक में शब्द और अर्थ का सम्बन्ध तथा वाचक (अभिधान) और वाच्य (अभिधेय) के नियम की नियुक्ति (नियोग) प्रसिद्ध है। इस वाचक का यह अर्थ (वाच्य) होता है, इस प्रकार सामान्य शब्द का समान अर्थ होता है, विशिष्ट शब्द का विशेष अर्थ। और, पहले प्रयुक्त हुए (ही) ये शब्द किसी अर्थ में प्रयुक्त होते हैं, पहले अप्रयुक्त हुए नहीं तथा प्रयोग अर्थ-बोधन के लिये होता है। अर्थबोध से ही व्यवहार होता है। इस प्रकार अर्थ-बोध के लिये शब्द का प्रयोग होने पर सामध्यें से सामान्य शब्द के प्रयोग का नियम है, वकरी को गांव ले जाओ, वृत लाओ ब्राह्मण को भोजन कराओ, ये समान शब्द होते हुए ('अजा' आदि सभी वकरियों के लिये सामान्य शब्द हैं) अर्थ के अवयवों में (किसी विशेष वकरी आदि में) प्रयुक्त होते हैं अर्थ की संगति (सामध्यं) से जहाँ अर्थ-क्रिया का कथन (देशना) संभव होता है, वहाँ ये प्रवृत्त होते हैं, सामान्य अर्थ में नहीं, क्योंकि वहाँ क्रिया का कथन अर्थ (यहाँ) सम्भव है, 'नया कम्बल है इसका' उसमें प्रवृत्त होता है। किन्तु जो सम्भव नहीं हैं 'नौ हैं कम्बल इसके' उसमें (यह) प्रवृत्त नहीं होता। वह यह असम्भव अर्थ की कल्पना से दूसरे के वाक्य का खण्डन करना तुम्हें उचित नहीं। १११९।।

प्रसिद्धश्च — प्रश्न यह है कि प्रयोक्ता भी साधारण शब्द से विशेष अर्थ का बोध वयों कराता है और शब्द से अर्थ का बोध न कराता हुआ वह प्रतिपादक कैसे है ? इसके उत्तर में कहा गया है प्रसिद्धश्च। शब्द और अर्थ का जो सम्बन्ध है कि इस शब्द का यह अर्थ होता है या इस अर्थ के लिये इस शब्द का प्रयोग होता है; तथा ब्यक्ति का जो नियोग है कि इस शब्द से यह अर्थ जानता चाहिये; वह लोक में प्रसिद्ध है।

तत्रैवमर्थं । त्यथं — माव यह है : संकेत अवस्था में या वृद्धव्यवहार में कोई शब्द यही इसका अर्थ है, इस प्रकार (शृङ्कप्राहिकया — सींग पकड़कर) संकेतित नहीं होता, अपि तु सामान्यत: संकेतित होता है। फिर प्रकरण आदि के सहकार से वह विशेष अर्थ को कह देता है। अत: इसमें प्रतिपादियता का दोष नहीं कि वह विशेष शब्द से विशेष अर्थ का बोध नहीं कराता (द्राठ टी॰ ६७२)। यत्रार्थं किया वेश का सामर्थं यही है कि जिसमें अर्थं किया का कथन सम्भव है, उसी में वह प्रवक्त होता है।

[823

सम्भवतोऽर्थस्यातिसामान्ययोगादसम्भूतार्थकल्पना सायान्यच्छलम् ।

"अहो खल्वसौ ब्राह्मणो विद्याचरणसम्पन्नः' इत्युक्ते कश्चिदाह सम्मवित ब्राह्मणे विद्याचरणसम्पिदित । अस्य वचनस्य विधातोऽर्थविकल्पोपपत्या असमभूतार्थकल्पनया क्रियते, यदि ब्राह्मणे विद्याचरणसम्पत् सम्भवित, ननु ब्रात्येऽपि सम्भवेत्, ब्रात्योऽपि ब्राह्मणः, सोप्यस्तु विद्याचरणसम्पन्नः । यद् विवक्षितमर्थमाप्नोति चात्येति च तद् अतिसामान्यम् यथा ब्राह्मणत्वं विद्याचरणसम्पदं ववचिद् आनोति क्वचिद् अत्येतीति । सामान्यनिमत्तं छलं सामान्यछलमिति ।

न्यायवात्तिकम्

सम्भवतोऽर्थस्य।तिसामान्ययोगादसम्भूतार्थंकल्पना सामान्यछलम् । सामान्यस्य विवक्षितार्थातिक्रमः अतिसामान्यम् । उदाहरणम्, विद्याचरणसम्पन्नो बाह्मण इति । परस्तु बाह्मणत्वं विद्यचरणसम्पदो हेतूरिति कृत्वा प्रत्यवितष्ठते ।

सम्भव होते हुए अर्थ का अतिसामान्य (विवक्षित अर्थ में कहीं होने वाले कहीं न होने वाले) से सम्बन्ध होने के कारण असम्भव अर्थ की कल्पना सामान्य छल है। १।२।१३।।

अरे यह ब्राह्मण विद्या तथा आचरण से युक्त है, यह कहने पर काई बोला—
ब्राह्मण में विद्या तथा आचरण की सम्पत्ति होती ही है। इस वचन का विरोध अर्थविकल्प (अर्थ-द्वैविध्य) बनने के कारण असम्भव अर्थ की कल्पना से किया जाता है;
'यदि ब्राह्मण में विद्या तथा आचरण की सम्पत्ति सम्भव है तब तो ब्राह्म में भो
होगी, ब्राह्मण में विद्या तथा आचरण की सम्पत्ति सम्भव है तब तो ब्राह्म में भो
होगी, ब्राह्मण में ब्राह्मण है, वह भी विद्या तथा आचरण से युक्त होगा। जो विवक्षित
अर्थ को प्राप्त करता है तथा अतिक्रान्त करता है वह अतिसामान्य है; जैसे ब्राह्मणत्व,
विद्या तथा आचरण की सम्पत्ति को कहीं (प्रशस्त ब्राह्मण में) प्राप्त करता है और
कहीं (कुित्सत ब्राह्मण में) अतिक्रान्त करता है। अतः सामान्य के निमित्त से होने
वाला छल सामान्यछल है।

सम्भवतोऽर्थस्य ' ' सामान्यच्छलम् (यह सूत्र है) सामान्य का विवक्षित अर्थ को अतिक्रान्त करना अतिमामान्य है। उदाहरण है, विद्या तथा आचरण से युक्त ब्राह्मण है। किन्तु विद्या तथा आचरण से युक्त होने का हेतु है यह मानकर (दूसरा) इसका निराकरण करता है।

सम्भवतः : : : सामान्यछलम् – ब्राह्मणविशेष विद्याचरणसम्पत् का विषय है, यह सम्भव अयं है। किन्तु विद्याचरणसम्पत्ति ब्रात्य (विद्याचरणहीन केवल जात्या ब्राह्मण) में नहीं होती, वहाँ ब्राह्मणत्व विद्याचरणसम्पन्न का अतिक्रमण करता है अतः ब्राह्मणत्व अतिसामान्य है। इसके सम्बन्ध से यहाँ असम्भव अर्थ की कल्पना की जाती है (टी॰ ६७५)। असम्भव अर्थ की कल्पना की जाती है (टी॰ ६७५)। सामान्यस्य (वा॰)—विवक्षित अर्थ को प्राप्त सामान्य का (द्रा० टी॰ ६७५)। वार्तिक में यहां इस सामान्यस्य (वा॰)—विवक्षित अर्थ को प्राप्त सामान्य का (द्रा० टी॰ ६७५)। वार्तिक में यहां इस भाष्य की ही व्याख्या है, यद्विविक्षितमर्थमाप्नोति चात्येति च तद् अतिसामान्यम्। अहो खल्वसौ — टीका में 'अहो नु' पाठ है। यह स्तुत्यर्थक वाक्य है। इसका अनुमोदन करते हुए

[छलम्

अस्य च प्रत्यवस्थानम्, अविवक्षितहेतुकस्य विषयानुवादः प्रशंसार्थत्वाद वाक्यस्य । तदत्रासम्भूतार्थकत्पनानुपपत्तिः । यथा सम्भवन्त्यस्मिन्
क्षेत्रेशालय इति । अनिराक्नमतिविवक्षितं च बीजजन्म । प्रवृत्तिविषयस्तु क्षेत्र
प्रशस्यते । सोऽयं क्षेत्रानुवादो नास्मिन् शालयो विधीयन्त इति । बीजान्तु
शालिनिर्वृत्तः सती न विवक्षिता । एवं सम्भवति ब्राह्मणे विद्याचरणसम्पदिति सम्पद्विषयो ब्राह्मणत्वं न सम्पद्धेतुः । न चात्र हेर्तुविविक्षितः विषयानुवादस्त्वयं प्रशंसार्थत्वाद् वाक्यस्य । सति ब्राह्मणत्वे सम्पद्धेतुः समर्थइति ।
विषयं च प्रशंसता वाक्येन यथाहेतुतः फलनिर्वृतिन प्रत्याख्यायते । तदेवं
सति वचनविघातोऽसम्भूतार्थकत्पनया नोपपद्यत इति । १।२।१३।।

न्यायवात्तिकम्

स्तुत्यर्थे वाक्येऽन्ययाकारं प्रत्याख्यानम् । उश्रयथा दोषो बृद्ध्वा अबुब्ध्वा वेति । १।२।१३॥

और इसका निराकरण है: जहाँ हेतु विवक्षित नहीं है, उसके विषय का अनुवाद किया जाता है, क्योंकि (वहां) वाक्य प्रशंसा के लिये होता है। इसलिये यहाँ असम्भव अर्थ की कलाना नहीं बन सकतो। जैसे इस खेत में धान (शालि) हो सकते हैं, यहाँ बोज की उत्पत्ति का न निराकरण किया गया है न विवक्षा की गई है। केवल (तु) (शालि के) प्रवृत्ति के विषय खेत की प्रशंसा की जाती है। वह यह खेत का अनुवाद है, इसमें शालियों का विधान नहीं किया जाता। बीज से ही शालि की उत्पत्ति होती है यह विवक्षित नहीं। इसी प्रकार ब्राह्मण में विद्या तथा आचरण की सम्पत्ति सम्भव है, यहाँ ब्राह्मणत्व सम्पत्ति का विषय है, सम्पत्ति का हेतु नहीं। वम्तुतः यहाँ हेतु की विवक्षा नहीं है, यह तो विषय का अनुवाद है, क्योंकि वाक्य प्रशंसा के लिये है। (भाव यह है) ब्राह्मणत्व होने पर (विद्या तथा आचरण की) सम्पत्ति का हेतु समर्थ है। और, विषय की प्रशंसा करने वाले वाक्य द्वारा हेतु के अनुसार होने वाली फल की उत्पत्ति का खण्डन नहीं किया जाता। अतः ऐसा होने पर असम्भव अर्थ की कलाना से वचन का विरोध नहीं वन सकता। ११२११३॥

स्तुत्यर्थक वाक्य में अन्यथा (अर्थ) करके निराकरण किया गया है। अतः जानकर या बिना जाने दोनों प्रकार दोष है।१।२।१३।।

दूसरा कहता है 'त्राह्मण में' विद्याचरण की सम्पत्ति सम्भव है।

किरिचदाह — छलवादी इस कथन में ब्राह्मणत्व को विद्याचरण सम्पत्ति का निमित्त मानकर इसका दोप दिखलाता है।

विषयानुवाद: - वस्तुतः ब्राह्मण में विद्याचरणसम्पत्ति सम्भव है, इस कथन में ब्राह्मण का अनुवाद-मान्न किया गया हैं लोकसिद्ध बात को फिर से कह दिया गया है, यहाँ ब्राह्मणत्व को विद्याचरसम्पत् का हेतु नहीं कहा गया।

न्यायसूत्रं भाष्यं च

धर्मविकल्पनिर्देशेऽर्थसद्भावप्रतिषेध उपचारच्छलम् ।१।२।१४॥

अभिधानस्य धर्मो यथार्थप्रयोगः। धर्मविकल्पोऽन्यत्र दृष्टस्यान्यत्र
प्रयोगः। तस्य निर्देशे धर्मविकल्पनिर्देशे; यथा मञ्जाः क्रोक्षन्तीति। अर्थसद्भावेन प्रतिषेधः मञ्ज्ञस्याः पुरुषाः क्रोशन्ति न तु मञ्जाः क्रोशन्ति।
का पुनरत्रार्थविकल्पोपपतिः ? अन्यथा प्रयुक्तस्यान्यथार्थकल्पनम्, भक्त्या
प्रयोगे प्राधान्येन कल्पनम्, उपचारविषयं छलमुपचारच्छलम्। उपचारो
नीतार्थः सहचरणादिनिमित्ते न, अतद्भावे तद्वदिभधानमुपचार इति।

न्यायव।त्तिकम्

धर्मितकत्विनर्देश इति सूत्रम् । धर्मितकत्विनर्देशशब्देनाभिधानधर्मो हेधा अभिधोयते, प्रधानो भाक्तश्च । मञ्चा इति काष्ठसंघातेषु प्रधानो मञ्चशब्दः, कोशन-कियाया असंभवमीक्षित्वा स्थानिषु पुरुषेषु भाक्तः । सोऽयमिषधानाभिधेयव्यवहार एवं व्यवस्थितः । य एतस्मिन् अन्यथाकारं प्रतिषेधः तदुवचारच्छलम् ।

धर्म-विकल्प से (का) निर्देश करने पर अर्थ के सब्भाव का प्रतिषेध उपचार-च्छल है। ११२। १४॥

शब्द (अभिधान) का धर्म है अर्थ के अनुसार (यथार्थ) प्रयोग । धर्मविकल्प है अन्य अर्थ में देखे गये (प्रयोग) का अन्य अर्थ में प्रयोग । उसका निर्देश करने पर = धर्म विकल्प का निर्देश करने पर । जैसे 'मचान पुकारते हैं।' अर्थ के सद्भाव से प्रतिषेध है कि मचान पर स्थित मनुष्य पुकार रहे हैं मचान तो नहीं पुकारते । (प्रध्न) किन्तु यहाँ अर्थ विकल्प (अर्थ का दैविष्ट्य) कैसे बन सकता है ? (उत्तर) अन्य प्रकार से प्रयुक्त (शब्द) की । अन्य अर्थ को कल्पना, गौणरूप से (भक्त्या) प्रयोग होने पर प्रधान रूप से (अर्थ की) कल्पना; इस प्रकार उपचार के विषय में छल उपचारच्छल है । उपचार का अर्थ है सहचार आदि के निमित्त से लिया गया (किन्यत) अर्थ; वह न होने पर उसके समान कथन उपचार है ।

धर्मविकल्पनिर्देशे इत्यादि सूत्र है। यहां धर्मविकल्पनिर्देश शब्द से प्रयोग का धर्म दो प्रकार का बतला दिया गया है प्रधान और गौण। मञ्चाः (मचान पुकारते हैं) यहां मञ्च शब्द काष्ठ समुदाय (चौकी, तख्त) में मुख्य है किन्तु (उसमें) पुकारना किया का असम्भव होना देखकर (उस पर) बैठे मनुष्यों में (यह) गौण है। वह यह शब्द और अर्थ का व्यवहार निश्चित (व्यवस्थित) है जो इसमें अन्यथा (कल्पना) करके प्रतिषेध किया जाता है वह उपचारच्छल है।

न्यायभाष्यम

[छलम्

अत्र समाधिः । प्रसिद्धे प्रयोगे वक्तुर्यथाभिप्रायं शब्दार्थयोरभ्यनुज्ञा प्रतिषेधो वा न च्छन्दतः—प्रधानभूतस्य शब्दस्य च गुणभूतस्य प्रयोग उभयोन्लोंके सिद्धः । सिद्धे प्रयोगे यथा वक्तुरभिप्रायस्तथा शब्दार्थावनुज्ञेयौ प्रति-षेध्यौ वा न च्छन्दतः। यदि वक्ता प्रधानशब्दं प्रयुङ्क्ते, यथाभूतास्याभ्यनुज्ञा प्रतिषेधो वा न च्छदतः । अथ गुणभूतम्, तदा गुणभूतस्य । यत्र तु वक्ता गुणभूतं शब्दं प्रयुङ्क्ते प्रधानभूतमभिष्रत्य परः प्रतिषेधति, स्वमनीषया प्रतिषेधोऽसौ भवति न परोपालम्भ इति । १।२।१४।।

न्यायवात्तिकम्

अस्यापि पूर्ववत् प्रतिषेधो, ज्ञात्वा अज्ञात्वा वेति ।१।२।१४॥

इस विषय में समाधान है: प्रासद्ध प्रयोग होने पर वक्ता क अभिप्राय के अनुपार शब्द और अर्थ की स्वीकृति या प्रतिषेध करना होगा, स्वेच्छा से नहीं — मुख्य होने वाले शब्द और औपचारिक या गौण शब्द दोनों का प्रयोग लोक में प्रसिद्ध है। प्रयोग के सिद्ध होने पर जैसा वक्ता का अभिप्राय है उसी प्रकार शब्द और अर्थ स्वीकारने या नकारने चाहिये, स्वेच्छा से नहीं; यदि वक्ता मुख्य शब्द का प्रयोग करता है तो उसकी स्वीकृति या प्रतिषेध (ठीक) है, स्वेच्छा से नहीं। यदि गौण (शब्द) का (प्रयोग करता है) तब गौण (शब्द) की (स्वीकृति या प्रतिषेध)। किन्तु जहां गौण शब्द को प्रयुक्त करता है और दूसरा मुख्य शब्द के अभिप्राय से उसका प्रतिषेध करता है, वह अपनी इच्छा से प्रतिषेध है, दूसरे का खण्डन नहीं। १।२।१४॥

इस (उपचारच्छल) का भी पहले के समान प्रतिषेध किया जा सकता है, जानकर अथवा न जानकर ही (वह उपचारच्छल का प्रयोग करेगा)। १।२।१४॥

अर्थंसव्भावेन — भाष्य के अनुसार इसका अर्थ होगा मुख्य अर्थ के द्वारा, वार्तिक (अर्थंसव्भावस्यैव प्रतिषेद्याः, टी॰ ६७७) के अनुसार, उस प्रयोग के अभिमत अर्थ के द्वारा।

उपचारो नीतार्थः—सहचरण आदि निमित्त से अन्यत दृष्ट का अन्यत प्रयोग उपचार है (अन्यत दृष्टस्यान्यत प्रयोगः, अतद्भावे तद्वदिभधानमुपचारः, भाष्य)। यह उपचार किसी सम्बन्ध से होता है। धर्मविकल्पनिर्वेशशब्देन—सूत्र में निर्दिष्ट धर्मविकल्पनिर्देश शब्द से।

धमों द्वेषा अभिन्नीयते — अभिधानं प्रयोगः शब्दस्य धर्मो भवन् द्विधाभिधीयते, टी० ६७७, यहाँ अभिधान का अयं प्रयोग दिखाई देता है जो शब्द का धर्म है।

सोऽयमभिधा । भिद्येय व्यवहार: — अभिधान = शब्द, अभिधेय = अर्थ अभिधानं शब्दः, अभिधेयो गम्यः, स च क्वचिद् वाच्यः क्वचिद् भाक्तः इत्यर्थः; टी० ६७७ ।

830

2.2 20

वाक्छलमेवोपचारच्छलं तदविशोषात् ।१।२।१५।।

न बाक्छलाद् उपचारच्छलं भिद्यते, तस्याप्यर्थान्तर्कल्पनाया अविशे-षात् । इहापि स्थान्यथीं गुणशब्दः, प्रधानशब्दः स्थानार्थं इति कल्पियत्वा प्रतिषिध्यत इति । १।२।१५॥

न तदर्थान्तरभावात्। १।२।१६॥

न वाक्छलमेवोपचारच्छल तस्यार्थसद्भावप्रतिषेधस्यार्थान्तरभावात् कुतः ? अर्थान्तरकल्पनातः, अन्या ह्यर्थान्तरकल्पना, अन्योऽर्थसद्भावप्रति-षेध इति । १।२।१६॥

न्यायवातिकम्

वाक्छलमेवोपचारच्छलमिति सूत्रम्। एकत्वमविशेषात्। कोऽविशेषः?

इहाप्यर्थान्तरकल्पना तत्रापीति ।१।२।१५।:

न तदर्थान्तरभावात् । अविशेषादित्यस्य हेतोरनेन सूत्रेण असिद्धतामुद्-भावयति । कथमसिद्धिः ? एकत्र वस्तुसद्भावः प्रतिषिध्यते, नैव क्रोब्टारो मञ्चा इति एकत्र वस्त्वभ्यनुज्ञाय कभ्बलयोगमभ्युपगम्य कम्बलस्यानेकता धमं प्रतिविध्यते इति । यत्र धर्मः प्रतिषिध्यते, यत्र च धर्मी, सोऽयमतिमहान् विशेषः ।१।२।१६।।

(आक्षेप) उपचारच्छलम् वाक्छल ही है, उसके समात होने से ।१।२।१४।। वाक्छल से उपचारच्छल भिन्न नहीं, क्योंकि उसमें भी अन्य अर्थ की कल्पना समान (ही) है। यहां (उपचार छल में) भी गौण शब्द जो स्थान वालों (मञ्चस्य पुरुषों) के अर्थ में है उसे यह मुख्य शब्द स्थान (मचान, मञ्च) अर्थ में है, ऐसी कल्पना करके प्रतिषेध किया जाता है। १।२।१५॥

[परिहार] नहीं, उसके विभिन्त अर्थ (अर्थान्तर) होने से ।१।२।१६।। वानछल ही उपचार छल नहीं, उस अर्थात् अर्थमद्भाव प्रतिषेध के अन्य अर्थ होने से। (प्रश्न) किससे ? (उत्तर) अन्य अर्थ की केल्पना से । अन्य अर्थ की कल्पना भिन्न

है और अर्थ के सद्भ व का प्रतिषेध भिन्त है।

वाक्छ लमेव आदि सूत्र है। (वाक्छल और उपचारछल) में एकता है भेद न होने से । (प्रश्न) क्या अभेद है ? यहां भी अन्य अर्थ की कल्पना है वहां भी ।१।२।१५॥ न तदर्थान्तरभावात् । इस सूत्र द्वारा अविशेषात् । इस हेतु की असिद्धताा

प्रकट की गई है। (प्रश्न) असिद्धता कैसे है ? (उत्तर) एक स्थल पर वस्तु की सत्त (सद्भाव) का प्रतिपेध किया जाता है कि पुकारने वाले (क्रोब्टारः) मचान नहीं, अन्य स्थल पर वस्तु (माणवक) को स्वीकृत कर उससे कम्बल का सम्बन्ध (योग) मानकर कम्बल के अनेकता धर्म का प्रतिषेध किया जाता है। जहां धर्म का प्रति-षेध किया जाता है और जहां धर्मी का; वह यह अत्यधिक भेद है। १।१९६॥

वाक्छलमेव - परीक्षा प्रकरण आगे आ रहा है अतः सूत्रकार ने लक्षण प्रकरण में ही परीक्षा आरम्भ कर दी है (द्र० टी० ६७८)।

तस्यापि - वावछल की भी, वक्ता ने जो नव शब्द नवीन अर्थ में प्रयुक्त किया है श्रोता द्वारा उसकी

संख्या (६) अर्थ में कल्पना कर ली जाती है। इहापि — यहाँ भी, उपचार छल में भी जो गीण शब्द है मञ्च पर स्थित मनुष्यों के अर्थ में है उसे

न, तदर्थान्तरभावात्—उपचार छल में अर्थ के सद्भाव अर्थात् धर्मी का प्रतिषेध किया जाता है; वाक्छल में अन्य घर्म (नवीन के स्थान पर नव संख्या) की कल्पना की जाती है अत: 'अविशेषात्' यह हेतु असिद है।

छलम

न्यायसूत्रं भाष्यं च

अविशेषे वा किञ्चित्साधम्यदिकच्छलप्रसङ्गः ।१।२।१७॥

छलस्य द्वित्वमभ्यनुज्ञाय त्रित्वं प्रतिषिध्यते किञ्चित्साधम्यति । यथा चायं हेतुस्त्रित्वं प्रतिषेधति तथा द्वित्वमप्यभ्यनुज्ञातं प्रतिषेधति । विद्यते हि किञ्चित्साधभ्यं द्वयोरपीति । अथ द्वित्वं किञ्चित्साधभ्यां निवर्तते, त्रि-त्वमपि न निवत्स्यंति । १।२।१७॥

न्यायवानिक म्

अय मनुषे कि नोऽनेन विशेषणेन, इहाप्यर्थान्तरकल्पना तत्रापीति । अविशेषे वा किञ्चित्ताधम्यदिकच्छलप्रसङ्गः । कोऽस्य सूत्रस्यार्थः ? विरोधः, द्वित्वमभ्यनुज्ञातं निवतंत इति । कतमेन पुनन्यपिन द्वित्वमभ्यनुज्ञातम् ? वाष्ठलोपचारच्छलयोरेकत्वं बुवता सामान्यच्छलमन्यदित्यभ्यन्ज्ञात भवति । विशेषणानर्थक्यं वा— यदि सर्वं छलम्बेमेकत्वप्रसुप्रगमः, वाष्ठलमेवोपचारच्छलं तदिवशेषात्, इति व्यर्थं विशेषणम् । कथमेकत्वप्रसङ्गः ? किञ्चित्ताधम्याद् यद्यनर्थान्तरकल्पना, अविशेषादेकत्वम्, सर्व-छलमेकं प्राप्नोति किञ्चत्साधम्यादिति । कि पुनस्तत् ? वचनविधातः अर्थविकल्पो-पपत्तिक्च सर्वास्म्यछल इति ।१।२।१७।।

अथवा मेद न होने पर (तीनों मे) कुछ समानता होने के कारण एक छल होने लगेगा।१।१।१७॥

छल के दो भेद (दित्वम्) मानकर कुछ समानता होने के कारण तीन भेदों का प्रतिषेध किया जाता है। और, जैसे यह हेतु तीन भेदों का प्रतिषेध करता है, उसी प्रकार स्वीकृत दो भेदों का भी प्रतिषेध कर देता है; क्योंकि दोनों भेदों, में भी कुछ समानता है ही। और, यदि कुछ समानता से दित्व की निवृति नहीं होती तो त्रित्व (तीन होने) की भी निवृत्ति न होगी। १।२।१७।।

यदि मानते हो कि हमें इस भेद (विशेषणेन) से क्या ? यहां भी अर्थ की कल्पना है वहां भी। (इस पर कहा गया है) अथवा भेद न होने पर कुछ समानता होने के कारण एक छल होने लगेगा। (प्रश्न) इस सूत्र का क्या अर्थ (प्रयोजन) है ? (उत्तर) विरोध दिखलाना स्वीकार किया गया द्वित्व (भी) नहीं रहता, यह। (प्रश्न) किन्तु किस न्याय से द्वित्व स्वीकारा गया है ? (उत्तर) वाक्छल और उपचारच्छल का अभेद बतलाने वाले के द्वारा सामान्य छल भिन्न है, यह स्वीकार लिया जाता है। अयवा विशेषण की निर्थंकता होगी— यदि सब छल एक ही है, यह स्वीकृति है तो उपचारच्छल भी वाक्छल ही है यह विशेषण व्यथं है। (प्रश्न) एक (छल) होने का प्रसङ्ग कैसे है ? (उत्तर) यदि कुछ समानता के कारण अन्य अर्थ न होना माना जाता है कि भेद न होने से एक है। तब तो कुछ समानता होने के कारण (छल का) एक होना प्राप्त होता है। (प्रश्न) किन्तु वह (साधम्यं — समानता) क्या है ? (उत्तर) वचन का विरोध तथा अर्थ के विकल्प का बन सकना सभी छल में है। १।२।१७॥

विरोध-—इस सूत्र का प्रयोजन (अर्था) पूर्वपक्षी के मत का विरोध दिखलाना है। विशेषणानर्थक्यं वा — अथवा यदि सभी छल को एक मान लिया जाता है तो 'वाक्छलमेवोपचार-च्छलम्' इत्यादि विशेषण अनर्थक है।

358

न्यायस्त्रं भाष्यं च

अतः ऊर्ध्वम--

साधम्बंबैधम्यभ्यां प्रत्यवस्थानं जातिः।१।२।१८॥

प्रयुक्ते हि हेतौ यः प्रसङ्गो जायते सा जातिः । स च प्रसङ्गः साधम्यं वैद्यम्यिभ्यां प्रत्यवस्थानमुपालम्भः प्रतिषेध इति । 'उदाहरणसाधम्यति साध्यसाधनं हेतुः, (न्या० सू० १.१.३४) इत्यस्योदाहरणवैधर्म्यंग प्रत्यवस-थानम् । तथा 'उदाहरणवैधर्म्यात् साध्यसाधनं हेतु'ः, (न्या० सू० १.१-३४) इत्यस्योदाहरणसाधर्म्यण प्रत्यवस्थानम् । प्रत्यनीकभावाज्जायमानोऽर्थो जातिरिति । १।२।१८।।

> इससे आगे-साधम्यं और वैधम्यं (मात्र) से खण्डन करना जाति है।१।२।१८॥

हेतुका प्रयोग करने पर जो (अनिष्ट का) प्रसङ्ग होता है वह जाति है। और वह प्रसङ्ग है साधर्म्य तथा वैधर्म्य (मात्र) से खण्डन करना या निराकरण कर ना या प्रतिषेध । उदाहरण के साधर्म्य से साध्य की सिद्धि करने वाला हेतु होता है, इसका उदाहरण के वैधम्यं से खण्डन करना तथा उदाहरण के वैधम्यं से साध्य की सिद्धि करने वाला हेतु द्दोता है, इसका उदाहरण के साधर्म्य से खण्डन करना विरोधी (प्रत्यनीक) भाव से ह्रोने वाला अर्थ जाति है। १।२।१८॥

अडवं म् - उद्देश के कम के अनुसार यहाँ जाति का लक्षण कहा गया है। प्रत्यस्थानम् — विरोध में खड़ा होना, सामने आना, खण्डन, प्रतीपमवस्थानम् (वार्तिक, टी० ६८२)। ऐसा होने पर छल तथा सम्यक् दूषण भी जाति होने लगेंगे अतः कहा गया है साधम्यंवैधम्याभ्याम्; छल में साधर्म्य, वैधर्म्य नहीं होते और सम्यक् दूषण केवल साधर्म्य, वैधर्म्य से नहीं होता अपि तु, प्रयोग से होता है। जाति:-हेतु या हेत्वाभास का प्रयोग किये जाने पर जो प्रसङ्ग (अनिष्टापत्ति) होता है वह जाति कही जाती है (द्र० टी० ६८२) कहीं बुद्धिपूर्वक प्रयुक्त हेतु या हेत्वाभास में जाति का प्रयोग होता है कहीं बिना जाने प्रयुक्त में ही । जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है जल्प आदि में ही जाति का प्रयोग किया जाता है। जल्प में वेदप्रामाण्य को भली-भाँति जानने वाले व्यक्ति के प्रति जब वेदप्रामाण्य न मानने वाले व्यक्ति के द्वारा आक्षेप किया जाता है और वेदप्रामाण्यवादी को सहसा सदुत्तर नहीं सूझता तब वेदप्रामाण्य के समर्थक, जनता के विश्वासों के आधार प्रमुजनों को वेद के अप्रामाण्य का निश्चय न हो जाये इसलिये वेदप्रामाण्यवादी को जाति उत्तर (असदुत्तर) से भी सामना करना होगा (द्र॰ टी॰ ६८२) । जायमानोऽर्थ: - यह जाति शब्द की व्युत्पत्ति का निमित्त दिखलाया गया है, जायते इति जातिः, यह जाति शब्द की व्युत्पत्ति है।

न्यायवातिकम्

[छलम्

साधम्यंवैधम्पियां प्रत्यवस्थानं जातिः । साधम्यंग प्रत्यवस्थानं वैधम्पेंग प्रत्यवस्थानं वैधम्पेंग प्रत्यवस्थानं जातिरिति । प्रथमपक्षानुयोगं वर्शयित, स्थापनायां सत्यां प्रतीपभवस्थानं प्रत्यवस्थानं प्रतिपक्षविदिति । सूत्रार्थस्तु तथाश्रुति, न पुनव्वाहरणसाधम्येंग उदाहरणवैधम्येंग वेति । किमथंमिदमुच्यते ? व्यापनार्थम् । यदि यथाश्रुति सूत्रार्थो भवति, तदा सर्वजातयो व्याप्यन्ते येन केनचित् साधम्यं येन केनचित् वैधम्यंमिति । लक्षणे जातीनामव्यापक्तवं तु दोषः । भाष्ये तूदाहरणसाधम्यंम् उदाहरणबैधम्यं चोदाहरणार्थमिति, यथा चोदाहरणेन एवमनुदाहरणेनापीति । १।२।१८।।

साधम्यंवैधम्याभ्यां प्रत्यवस्थान जातिः (यह सूत्र है) । साधम्यं (मात्र) से खण्डन करना अथवा वैधम्यं (मात्र) से खण्डन करना, (यह भाव है) । प्रथम पक्ष के सम्बन्ध में (अनुयोगम्) दिखलाते हैं, स्थापना हो जाने पर विरोध में खड़ा होना प्रत्यवस्थान है; जैसे (पक्ष के विरोध में) प्रतिपक्ष होता है । सूत्र का अर्थ तो सुने गये (णब्द) के अनुसार होता है किन्तु उदाहरण के साधम्यं या वैधम्यं से नहीं (जैसा भाष्यकार ने दिखलाया है) । (प्रक्रन) यह (सूत्र) किसलिये कहा गया है ? (सूत्र का क्या प्रयोजन है) । (उत्तर) व्यापकता (दिखलाने) के लिये—यदि णब्द के अनुसार सूत्र का अर्थ होता है तब (इस लक्षण से) सभी जातियाँ व्याप्त हो जाती हैं; (सभी में) जिस किसी से साधम्यं होता है जिस किसी से वैधम्यं । जातियों का व्यापक न होना तो लक्षण में दोप होता । भाष्य में उदाहरण का साधम्यं और उदाहरण का वैधम्यं (केवल) उदाहरण के लिये कहा गया है । वस्तुतः जैसे उदाहरण (के साधम्यं, वैधम्यं) से जी (प्रत्य-वस्थान जाति है) । १।२।१ ।।

प्रत्यवस्थानम् — यथा पक्षे सित प्रतिपक्ष: एवं स्थापनायां सत्यां प्रत्यवस्थानम् (टी० ६८२)।
साधम्यें प्रत्यवस्थानम् — व्याप्ति की अपेक्षा न करके केवल साधम्यं तथा वैधम्यं से खण्डन

करना जाति है। वस्तुत: ब्याप्ति निरपेक्ष दूषण का कथन ही जाति है (वृत्ति) नवीनों के अनुसार तो 'असदुत्तर' जाति है।

सूत्रार्थस्तु यथाश्चित — जैसे गब्द सुने जा रहे हैं वैसा ही सूत्र का अर्थ है अर्थात् साधम्यमात्र से वैधम्यमात्र से वैधम्यमात्र से खण्डन करना जाति है। भाष्य में जो दिखलाया गया है वह केवल उदाहरण के लिये है। यथाश्चित न पुनर्ययाभाष्यम्, टी॰ ६८२।

किमर्थम्दोष: —यह सूत्र सभी जातियों का व्यापक लक्षण करता है। भाष्य के अनुसार उदाहरण के साधम्यं और वैधम्यं मात्र से ही यदि जाति होगी तो लक्षण व्यापक न होगा। वस्तुत: उदाहरण या अनुदाहरण किसी के भी साधम्यं या वैधम्यंमात्र से प्रत्यवस्थान जाति है।

1 39.5.9

न्यायस्त्रं भाष्यं च

1 835

विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम् ।१।२।१६॥

विपरीता वा कुत्सिता वा प्रतिवित्तिविप्रतिपतिः विप्रतिवद्यमानः परा-जयं प्राप्नोति । निग्रहस्थानं खलु पराजयप्राप्तिः । अप्रतिपत्तिसत्वारम्भ-विषयेऽप्यनारम्भः । परेण स्थापितं न प्रतिषेधति, प्रतिषेधं वोद्वरति । अस-मासाच्च नैते एव निग्रहस्थाने इति । १।२।१६।।

न्यायवातिकम

विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिक्च निग्रहस्थानम । अन्यवास्थितस्यान्यवामिहितस्य अप्रतिपत्तिविप्रतिपत्तिष्य, स्वपरायौत्तरासंवित्तिरप्रतिपत्तिः । समर्थे साधने निप्रहस्यान-प्राप्ती कथमप्रतिपत्तिः विप्रतिपत्तिः ? यदायं साघियता समर्थेन साधनेनोपत्तेन परेण जात्यावि मिराकुलीकृतः उत्तरं न प्रतिपद्यते, तदा कथमप्रतिपत्तिः कथं वा विप्रतिपत्ति-रिति ? तदापि साधनस्यैव सामर्थ्यापरिज्ञानात् -असमर्थमतत् साधनमिति, अप्रति-पत्तिवित्रतिपत्तिरिति ।१।२।१६॥

विप्रतिपत्ति और अप्रतिपत्ति निप्रहस्यान है ।१।२।१६।।

विपरीत अथवा दोषयुक्त (कुरिसत) ज्ञान विप्रतिपत्ति है । विप्रतिपत्ति करने वाला परा जय को प्राप्त होता है। पराजय की प्राप्ति ही निष्रह्स्थान है। अप्रतिपत्ति का अभि-प्राय है आरम्भ के विषय में भी आरम्भ न करना, दूसरे के द्वारा स्थापित (अर्थ) का प्रतिषेध नहीं करता अथवा प्रतिषेध का निराकरण नहीं करता (नोद्धरित) । (विप्र-तिपत्ति तथा अप्रतिपत्ति शब्दों में) समास न करने से (प्रकट होता है कि) ये ही निग्रहस्यान नहीं। (और भी हैं)।१।२।१६॥

विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिण्च निग्रहस्थानम् (यह सूत्र है) । अन्य रूप में स्थित का अथवा अन्य रूप में कथित का न समझना (अन्यथा ही समझना) विप्रतिपत्ति <mark>है।</mark> अपने तथा दूसरे के प्रयोजन तथा उत्तर को न जानना अप्रतिपत्ति है। (आक्षेप) समर्थ साधन में निग्रहस्थान प्राप्त होने पर अप्रतिपत्ति और विप्रतिपत्ति कैसे ? — जब यह साधियता समर्थ साधन का प्रयोग करते हुए (उपात्तेन) दूसरे के द्वारा जाति आदि से व्याकुल किया गया उत्तर नहीं दे पाता तब अप्रतिपत्ति कैसे अथवा विप्रतिपत्ति कैसे ? [परिहार] तब भी साधन के ही सामर्थ्य के न जानने से—'यह साधन असमर्थ है' इस प्रकार का अज्ञान (अप्रतिपत्ति) या विवरीत ज्ञान (विप्रतिपत्ति) होती है।

शशिशिश

विप्रतिपत्तिरप्रतिपतिइच -- सूक्ष्मविषयक ज्ञान विपरीत हो जाता है और स्यूलविषयक ज्ञान कुत्सित, यह सब विप्रतिपत्ति है; आरम्भ करने योग्य विषय को भी आरम्भ न करना अप्रतिपत्ति है (द्र टी० ६८३)। असमास। चच- 'विप्रतिपत्यप्रतिपत्ती' ऐसा समास करने में लाघव था, फिर अधिक, पुनरक्त आदि निग्रहस्यानों के संग्रह के लिये समास नहीं किया गया (द्र0 टी0 ६८३)। स्वपरार्थो - आरम्भ करने योग्य को आरम्भ न करना दो प्रकार का है। १. दूसरे के दूषित करने योग्य साधन को अथवा प्रतिषेध के हेतु को न समझना (परार्थ + उत्तर + असंवित्तिः) २. दूसरे के साधन और प्रतिषेध के हेतु को समझकर भी उसके प्रतिषेध के लिये अपना उत्तर न समझना (स्वार्थोत्तर +अप्रतिपत्तिः) (द्र० टी० ६५३)।

न्यायसूत्रं भाष्यं च

832]

छलम

्रींक पुनर्दू ब्टान्तवज्जातिनिग्रहस्थानयोरभेदोऽथ सिद्धान्तवद्भेदः ? इत्यत आह—

तद्विकल्पाज्जातिनिग्रहस्थानबहुत्वम् ।१।२।२०।।

तस्य साधम्धंवैधम्याभ्यां प्रत्यवस्थानस्य विकल्पाज्जातिबहुत्वम्, तयोश्च विप्रतिपत्त्यप्रतिपत्त्योविकल्पान्निग्रहस्थानबहुत्वम् । नानाकल्पो विकल्पः विवधो वा कल्पो विकल्पः । तत्राननुभाषणमज्ञानमप्रतिभाविक्षेपोमतानुज्ञा पर्यनुयोज्योपेक्षणम्' इत्यप्रतिपत्तिनिग्रहस्थानम् । शेषस्तु विप्रतिपत्तिरित । न्यायवार्तिकम्

ता एता जातयः कियत्यो भवन्ति, कियन्ति वा निग्रहस्थानानि इति वस्त्व-वधारणार्थमाह, तद्विकल्पाज्जातिनिग्रहस्थानबहुत्वम् इति । साधभ्यंवैधम्यभ्यां प्रत्य-वस्थानस्य विकल्पात् तयोइच विप्रतिपत्त्यप्रतिपत्त्योविकल्पाद् बहवो जातयो बहूनि च निग्रहस्थानानि भवन्तीति ।

किन्तु क्या इष्टान्त के समान जाति और निग्रहस्थान के भेद नहीं होते अथवा सिद्धान्त के समान भेद होते हैं ? इस पर कहते हैं,

उसके विकल्प से जाति और निग्रहस्थान अनेक होते हैं।१।२।२०॥

उसके अर्थात् माधम्यं और वैधम्यं के द्वारा खण्डन के विकल्प से जाति की अनेकता है और उन विप्रतिपत्ति और अप्रतिपत्ति के विकल्प (विविध प्रकार होने) से निग्रह स्थानों की अनेकता है। भिन्न-भिन्न स्वरूप विकल्प हैं अथवा अनेक प्रकार होना विकल्प हैं। उनमें अननुभाषण, अज्ञान, अप्रतिभा, विक्षेप, मतानुज्ञा तथा पर्यनुयोज्योपेक्षण ये अप्रतिपत्ति से होनेवाले निग्रहस्थान हैं। शेप तो विप्रतिपत्ति से होने वाले।

वे ये जातियां कितनी होती हैं अथवा निग्रहस्थान कितने हैं ? इस प्रकार वस्तु का निश्चय करने के लिये कहते हैं, तिद्वकल्पात्जातिनिग्रहस्थानबहुत्वम्। साधर्म्य तथा वैधर्म्य द्वारा खण्डन के विकल्प से और उन दोनों विप्रतिपत्ति एवं अप्रति पत्ति के विकल्प से बहुत सी जातियां और बहुत से निग्रहस्थान हो जाते हैं।

समर्थे साधने — आक्षेप का भाव है कि स्वयं प्रयुक्त समर्थ साधन में अप्रतिपत्ति तथा विप्रतिपत्ति न होगी। तदापि इत्यादि परिहार का आणय है; साधन विषय में ऐसा ज्ञान कि यह समर्थ है ही साधन प्रतिपत्ति है केवल यह ज्ञान नहीं कि यह साधन है (द्र० टी० ६८४)।

नानाकल्य:-स्वरूप से अनेक, विविध: कल्प: = अनेक भेद ।

यथालक्षणम् — उद्देश के कम से लक्षण है यह तो ठीक है किन्सु लक्षण के कम से परीक्षा नहीं: इसमें व्यतिकम है अत: टीकाकार ने यथालक्षणम् — यथास्वरूप कहा है। शशारा

न्यायभाष्यम्

833

त इमे प्रमाणादयः पदार्था उदिष्टा यथोद्देशं च लक्षिता यथालक्षणं च परीक्षिष्यन्त इति त्रिविधा चास्य शास्त्रस्य प्रवृत्तिर्वे-दितब्येति । १।२।।२०।।

> वात्स्यायनीये न्यायभाष्ये प्रथमाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम् । समाप्तश्चायं प्रथमोऽध्यायः ॥ न्यायवार्तिकम

कतया जातयः साधर्म्यप्रत्यवस्थानात्, कतमाश्च वैधर्म्यप्रत्यवस्थानात्, कत-मानि निग्रहस्थानानि विप्रतिपत्तिविकल्पात्, कतमानि वाप्रतिपत्तिविकल्पाद् भवन्तीति प्रतियोगे विशेषलक्षणेषु उत्पेक्षणीयानीति ।

एते प्रमाणादयः पदार्था उद्दिष्टा लक्षिताश्च : यथोहेशं च यथालक्षणं च

परीक्षा वित्रष्यते' इति ।

तन्त्रप्रतिज्ञासंसारस्तिष्ठवृत्तिश्च संविदा । उद्देशो लक्षणं चैव तत्त्वानामिह कीर्तितम् ॥१।२।२०॥ इति औद्द्योतकरै न्यायवार्तिके प्रथमाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम् समाप्तः प्रथमोऽष्टयायः ॥

वे ये प्रमाण आदि पदार्थ नाम से वहे गये (उिह्ब्टा) और उद्देश के अनुसार लक्षित। कर दिये गये तथा लक्षण के अनुसार इनकी परीक्षा की जायेगी। इस प्रकार इस शास्त्र की तीन प्रकार की प्रवृत्ति जाननी चाहिये।१।२।२०।।

इति वात्स्यायन के न्यायभाष्य में प्रथम अध्याय का द्वितीय आह्निकः । यह प्रथम अध्याय भी समान्त ।।

कौनसी जातियां साधर्म्य द्वारा प्रत्यवस्थान से होती हैं, कौनसी वैधर्म्य द्वारा प्रत्यवस्थान से ? कौन से निग्रहस्थान विप्रतिपत्ति के विकल्प से तथा कौन से अप्रतिपत्ति के विकल्प से होते हैं ? यह प्रत्येक के (प्रतियोगे) विशेष लक्षणों में देखना चाहिये।

ये प्रमाण आदि पदार्थ नाम से वह दिये गये, लक्षित कर दिये गये और

उद्देश एवं लक्षण के अनुसार (इनकी) परीक्षा की जायेगी।

शास्त्र (तन्त्र) की प्रतिज्ञा, संसार और तत्त्वज्ञान से उसकी निवृत्ति। इस प्रकार तत्त्वों का नामकीर्तन तथा लक्षण यहाँ कहा गया है। इति । १।२।२०॥

इति उद्योतकर के न्यायवात्तिक में प्रथम अध्याय का द्वितीय आह्तिक। प्रथम अध्याय समाप्त ।

तन्त्रप्रतिज्ञा — इस प्रलोक में वार्त्तिककार ने प्रथम अध्याय का प्रतिपाद्य विषय संक्षेप में कह दिया है : शास्त्र की प्रतिज्ञा है प्रमाण आदि के तत्त्वज्ञान से अपवर्ग की प्राप्ति होना, शास्त्र ही उत्तव-ज्ञान है, संसार है दु:ख, जन्म. प्रवृत्ति, सोष और मिथ्याज्ञान। उसकी निवृत्ति तत्त्वज्ञान (संविद्) से होती है अर्थात् तत्त्वज्ञान से मिथ्याज्ञान आदि का नाश होने पर कम से दोष आदि का नाश होता है और फिर दु:ख पर्यन्त का, देहत्याग के अनन्तर अपवर्ग हो जाता है। इस प्रकार जो प्रमाण आदि प्रथम सूत्र में उद्दिष्ट है उसका विवरण द्वितीय सूत्र में है। अतः दोनों सून्नों में शास्त्र का उद्देश है। (इठ टीठ ६८६)।

[निग्रहस्थानम्

इस प्रकार प्रथम अध्याय के न्यायसूत्र, भाष्य तथा वार्त्तिक आदि में विविध विषयों का विवेचन किया गया है।

यहाँ प्रथम अध्याय के प्रथमाह्निक में ४१ (इकतालीस) सूत्र हैं और ७ (सात) प्रकरण हैं, प्रथम अध्याय के द्वितीय आह्निक में २० (बीस) सूत्र हैं और ४ प्रकरण हैं, अतः प्रथमाध्याय में कुल ६१ (इकसठ) सूत्र तथा ११ (एकादश) प्रकरण हैं। वाचस्पति मिश्र ने अक्षराद के सूत्रों की प्रकरणानुसार सूची का निर्माण किया है जो 'त्यायसूचीनिबन्ध' के नाम से प्रसिद्ध है। उसका यथावसर सम्पादन किया जा सकेगा।

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

y Arya Samaj F ion Chennai and ublic **D**om

